श्रीमद् वल्लभ वेदान्त

(अणु भाष्य)

महाप्रभु जगद्गुरु श्री वल्लभाचार्य

भूमिका

श्रीमद् वल्लभाधीश गोस्वामी दीक्षित जी महाराज

प्रस्तोता

श्रीमन्निम्बार्काचार्य गोस्वामी ललित कृष्ण जी महाराज

प्रकाशक

श्रीनिम्बार्काचार्य पीठ,

१२ महाजनी टोला, प्रयाग

प्रकाशन अधिकारी
श्री मुनिलाल
श्री निम्बार्काचार्य पीठ, प्रयाग

प्रथम संस्करण : सं० २०३६ श्री वल्लभ पंचशताब्दी

न्योछावर २५ रु० मात्र

मुद्रक
धारा प्रेस
६०६, कटरा, इलाहाबाद ।

प्रकाशकीय–

अनन्त श्री जगद्गुरु निम्बार्काचार्य गोस्वामी राधाकृष्ण जी महाराज की छत्रछाया में हमने पूज्य गोस्वामी ललित कृष्ण जी महाराज के ब्रह्मसूत्र भाष्यों के प्रकाशन में अभूतपूर्व सफलता प्राप्त की। भारत में प्रायः सभी विद्वानों वैष्णवाचार्यों और मनीषियों ने हमारे प्रकाशित भाष्यों की सराहना और अभिवंदना की। सभी वैष्णव संप्रदायों के श्रीमन्तों ने भी प्रकाशन में मुक्तहस्त होकर आर्थिक सेवा की, इससे हम अपने को उपकृत अनुभव करते हैं।

महाप्रभु श्री बल्लभाचार्य जी का अणुभाष्य, मुद्रित तो बहुत पहिले ही हो चुका था पर कुछ व्यवधानोंवश प्रकाश में नहीं आ सका। सम्भवतः आचार्य चरण की ही वैसी इच्छा थी, वे उसे अपनी पंचशताब्दी के शुभावसर पर ही भक्तों के समक्ष प्रस्तुत करना चाहते थे। गोलोकवासी सेठ गोविन्द दास जी ने अणुभाष्य प्रकाशन के लिए अपने गोपाल लाल न्यास से सेवा प्रदान कर मुद्रण का श्री गणेश करा दिया था। उसकी पूर्ति स्वनाम धन्य श्री जय दयाल जी डालमिया के द्वारा ही सम्पन्न होनी थी, दोनों ही भक्तों पर महाप्रभु जी कृपा करना चाहते थे, अतः विलम्ब होना स्वाभाविक ही था। आचार्य कृपा प्राप्त इन महानुभावों को हम धन्यवाद देने के अधिकारी नहीं हैं। अभिनन्दन करने में ही इनकी शोभा है।

परमश्रद्धेय गोस्वामी दीक्षित जी का प्रसाद हमारे पास उनके उपस्थित काल से ही सुरक्षित है जिसे हम उनके तिरोभाव के उपरान्त भक्तों को दे पा रहे हैं, इसका हमें हार्दिक कष्ट है, उनके सुयोग्य सुपुत्र जो उनकी ही प्रतिच्छवि है, उन सौम्य आचार्य गोस्वामी श्याम मनोहर जी महाराज के श्री चरणों में हम सश्रद्ध नमन करते हैं।

अन्त में हम परमभक्ता वैष्णवी श्रीमती रत्नाकुमारी जी को धन्यवाद देना नहीं भूल सकते, जिन्होंने अपने सौहार्द से इस अलभ्य निधि को आपके हाथों में समर्पित किया।

पूर्ववत् सभी विद्वान और वैष्णव इसे श्रद्धापूर्वक सोत्साह ग्रहण करेंगे ऐसा हमारा विश्वास है।

विनीत

श्री महाप्रभु पञ्चशताब्दी — मुनिलाल

(भगवानदास मुन्नीलाल, बाँदा)

हमारे ग्रन्थ रत्न

निम्बार्काचार्य ललित कृष्ण जी गोस्वामी द्वारा प्रस्तुत

(१)	श्री निम्बार्क वेदान्त	(वेदान्त पारिजात सौरभ) (वेदान्त कामधेनु)	१५ रु०
(२)	श्री रामानुज वेदान्त	(श्री भाष्य)	३१ रु०
(३)	श्री मध्व वेदान्त	(पूर्णप्रज्ञ भाष्य)	१५ रु०
(४)	श्री वल्लभ वेदान्त	(अणुभाष्य)	२५ रु०
(५)	तत्व संदर्भ	(जीव गोस्वामी)	२० रु०
(६)	भगवत्संदर्भ	"	२० रु०
(७)	कृष्ण संदर्भ	"	२० रु०
(८)	परमात्म संदर्भ	"	२० रु०
(९)	भक्ति संदर्भ	"	२० रु०
(१०)	प्रीति संदर्भ	"	२० रु०
(११)	अथातो ब्रह्मजिज्ञासा	(सेठ गोविन्ददास)	१५ रु०

शुद्धाद्वैत संदर्भ

श्रीमद् वल्लभाधीश गोस्वामी दीक्षित जी महाराज

इस दृश्य भोग्य एवं कार्य रूप जगत में मानवीय चेतना केवल द्रष्टा, भोक्ता एवं कर्त्ता के रूप में ही प्रकट नहीं होती, मानव एक विचारशील प्राणी है अतः उसमें वह यथार्थ की अदम्य जिज्ञासा के रूप में प्रकट होती है।

विज्ञान एव दर्शन दोनों ही यथार्थ अन्वेषण के मानवीय प्रयत्न हैं। वस्तु के यथार्थ की मानवीय अनुभूति या विचार के संदर्भ के बिना भी एक निरपेक्ष यथार्थ के रूप में जानने की महत्वाकांक्षा ही विज्ञान है। दर्शन उसी वस्तुगत यथार्थ को ज्ञान के विभिन्न रूपों के माध्यम से परखने का प्रयास है। दर्शन की इस ज्ञान निर्भरता से स्वाभाविक प्रश्न उठता है कि ज्ञान एवं ज्ञेय का परस्पर सम्बन्ध क्या है? ज्ञान की ऐसी क्या विशेषता है कि वह अपने से अतिरिक्त वाह्य ज्ञेय जगत के यथार्थ निरूपण का दायित्व वहन करे?

इन प्रश्नों से ही दर्शन का 'अथ' होता है दर्शन की 'इति' भी इन्हीं से होती है।

(१) एक वस्तु का प्रभाव अन्य वस्तुओं पर जो अनिवार्य रूप से पड़ती है उसी की जटिल से जटिलतम होती प्रक्रिया ज्ञान है, अतः स्वाभाविक रूप में वह अपने पर्यावरण की वास्तविकता का प्रभाव है, कोई भी कार्य अकारण उत्पन्न नहीं होता, ज्ञान एवं ज्ञेय का कार्यकारण सम्बन्ध ही ज्ञान को, ज्ञेय के यथार्थ निरूपण का अधिकार देता है।

(२) ज्ञान स्वाभाविक रूप में दर्पण की तरह सामने की वस्तु को प्रतिबिम्बित करता है यही उसकी विशेषता है। पुरोवस्तु को प्रतिबिम्बित कर पाने में भी दर्पण की अपनी सीमायें हैं, उसी तरह ज्ञान की भी सीमायें हैं, उसी में वह ज्ञेय को प्रतिबिम्बित कर पाता है। हम ज्ञान की उन सीमाओं को परख कर विषय सम्बन्धी निष्कर्ष पर पहुंचें यही समझदारी है।

(३) ज्ञान, स्वयं प्रकाश है, वह अपनी और अपने अतिरिक्त अपनी

परिधि में स्थित वस्तुओं की साक्षी देना है। इसकी इस विशेषता को स्वीकारे बिना कोई भी बौद्धिक निर्णय सम्भव नहीं है।

(४) ज्ञान के अतिरिक्त या स्वतंत्र ज्ञेय जैसी कोई वस्तु नहीं है वही एक छोर पर ज्ञान जैसा दूसरे छोर पर ज्ञेय जैसा प्रतिभापित होता है। स्वप्नावस्था का ज्ञान और भ्रमात्मक ज्ञान इसके उदाहरण हैं।

ऐसी अनेक प्रकार कीं ज्ञान ज्ञेय सम्बन्धी कल्पनायें प्रस्तुत हुईं। केवल ज्ञान के अस्तित्व की स्वीकृति, ज्ञान एवं ज्ञेय दोनों के अस्तित्व की स्वीकृति या केवल ज्ञेय के अस्तित्व की स्वीकृति, आदि में यदि केवल ज्ञेय है, ज्ञान जैसा स्वतंत्र कोई पदार्थ नहीं है तो अनेक विधज्ञेयों परस्पर द्वैत हैं या अद्वैत? इसी तरह केवल ज्ञान ही की वास्तविक सत्ता हो अर्थात् ज्ञेय केवल कल्पित ही हो तो सर्वत्र ज्ञान, एक ही है या अनेक? यदि ज्ञान ज्ञेय दो तत्व हैं तो उसमें किसी भी प्रकार के द्वैत की सम्भावना है या नहीं? इत्यादि प्रश्नों में ही द्वैत या अद्वैत वाद का उत्तर निहित है।

ज्ञान निरपेक्ष वस्तु के यथार्थ को द्वैत या अद्वैत के रूप में देखने का आग्रह विज्ञान को इतना तीव्र नहीं है, क्योंकि अपने निरीक्षण या परीक्षण में विज्ञान अभी तक किसी मौलिक यथार्थ तक पहुँचने का दावा नहीं कर पाया है। किंतु दर्शन, कभी ज्ञेय के रूप में, कभी ज्ञान के रूप में कभी दोनों के रूप में मौलिक यथार्थ तक पहुँच जाता हैं, अतः उसमें मौलिक यथार्थ के एक या अनेक होने का, द्वैत या अद्वैत होने का प्रश्न भी सहज ही उठ जाता है।

भारतीय दर्शन में द्वैत एवं अद्वैत का विचार औपनिषद् हैं, औपनिषद दर्शन अर्थात् वेदान्त वस्तुतः मौलिक दर्शन न होकर उपनिषद के दार्शनिक विचारों की व्याख्या मात्र है। स्वयं उपनिषद के विधानों में दार्शनिक मौलिकता हो सकती है, किन्तु शंकर, रामानुज वाल्लभ आदि वेदांतों का मौलिक होना उनकी न्यूनता कहलावेगी। उन विचारकों का दावा उपनिषद् की प्रामाणिक व्याख्या होने का है। मौलिक सूझ होने पर नहीं, अतएव द्वैत एवं अद्वैत की चर्चा भी उपनिषद् एवं उनके सहायक ग्रन्थों के आधार पर ही उठती है। उक्त विचारकों की उत्प्रेक्षा का तब तक कोई भी मूल्य नहीं हैं जब तक कि उनका आधार मौलिक रूप से किसी उपनिषद् के वचनों में न दिखाया जा सके। श्री शंकराचार्य जी कहते हैं— "वेदान्त

वाक्यानि सूत्रैरुदाहृत्य विचार्यन्ते तस्माज्जन्मादिसूत्रं नानुमानोपन्यासार्थं, किन्तर्हि वेदान्त वाक्य प्रदर्शनार्थम (शां. भा. १।१।२)

प्रस्तुत प्रसंग में द्वैत या अद्वैत से सम्बन्धित न तो सारे उपनिषद् वाक्यों का विचार सम्भव है और न अभोष्ट ही। यहाँ तो केवल शुद्धाद्वैत और उसकी पृष्ठभूमि के बारे में चर्चा करनी है। शुद्धाद्वैत भी कोई मौलिक दर्शन नहीं है, उपनिषद् के विभिन्न वाक्यों को समन्वित करने का सहज प्रयास मात्र है, इसे सहज कहने का आधार वही है जो श्री शंकराचार्य ने सांख्यदर्शन की आलोचना में प्रस्तुत किया है वे औपनिषद् दर्शनों का आधार बतलाते हुए कहते हैं— "अपिच क्वचिद् गौणः शब्दो दृष्ट इति, न चैतावता शब्दप्रमाण केऽर्थ गौणी कल्पना न्याय्या सर्वत्र अनाश्वास प्रसंगात्।। (शा. भा. १।१।७) अर्थात् जैसे हमारे दैनिक वाक्व्यवहार या काव्य में भाषागत गौण प्रयोग होते हैं (हम किसी वीर को सिंह या किसी डरपोक को गीदड़ कहते हैं) वैसे ही औपनिषद पदार्थ जो कि बिना उपनिषद के सिद्ध नहीं हो सकते उनको उक्त गौणी पद्धति के आधार पर मनचाहा अर्थ करना उचित नहीं है श्री बल्लभाचार्य भी इससे सहमत हैं, वे भी कहते हैं

ये धातु शब्दाःयत्रार्थे उपदेशे प्रकीर्त्तिताः।
तथैवार्थो वेदराशेः कर्त्तव्यः नान्यथा क्वचित्।।

अर्थात्-जिन-धातु क्रियापदों का एवं संज्ञावाचक शब्दों का जो अर्थ निरुक्त व्याकरण आदि द्वारा किया गया है वही अर्थ हमें शास्त्रों की व्याख्या में लेना चाहिए।

लाक्षणिक या गौण प्रयोग मानने एवं तार्किक चातुर्य से स्पष्ट अर्थ को असम्भव कर दिखलाने की रीति से शास्त्रों की व्याख्या मौलिक हो सकती है, प्रामाणिक नहीं। शास्त्र के किन्हीं दो बचनो में संगति नहीं बैठती तो तार्किक चातुर्य प्रदर्शन की आवश्यकता नहीं है, अपितु दोनों का समान महत्व स्वीकारते हुए, यथार्थ को परस्पर विरोधी धर्मों का आधार मानकर संगति बैठानी चाहिए। एक वाक्य को मुख्य या बाधक एवं दूसरे वाक्य को गौण या बाध्य मानकर व्याख्या करना शब्दैकगम्य पदार्थ की शकानुसार संभव व्याख्या का उल्लंघन करना शास्त्रापराध है। स्वयं सूत्रकार "तर्काप्रतिष्ठानात्", कहते हुए विचार्य विषयवस्तु में तर्क के समर्थन या विरोध को नहीं स्वीकारते।

व्याख्याये वचनों में तार्किक विरोध खड़ा कर किसी एक वचन को मुख्य तथा दूसरे को गौण या अर्थवाद मानना वेदान्त के विचार्य विपय में अन्याय करना हैं, क्योंकि इसमें शब्द के अतिरिक्त किसी अन्य प्रमाण का प्रसार ही नहीं है। श्रीं शंकराचार्य जी बहुत ही सुन्दर ढंग से इस कथन की पुष्टि करते हैं— "इतश्च नागम्येर्थे केवलेन तर्केण प्रत्यवस्थातव्यं यस्मान्निरागमाः पुरुषोत्प्रेक्षा निबन्धनाश्तर्का अप्रतिष्ठाः भवन्ति उत्प्रेक्षाया निरङ्कुशत्वात् .... रूपाद्यभावा-दपि नामं प्रत्यक्षस्य गोचरः लिङ्गाद्य भावाच्च नानुमानादीनां (आगममात्र समाधिगम्योयमर्थः धर्मादिवत्) इति चावोचामः। (शा. भा.२।१।११)

अर्थात् जो विषय केवल वेदैक गम्य है, उसमें तार्किक विरोध नहीं उठता, वह हमारी उत्प्रेक्षा के बल पर उठता है अतः वेद्य के प्रतिपाद्य विषय में वह अर्थहीन और संदर्भहीन हो जाता है। हमारी उत्प्रेक्षा निरंकुश होती है, हम किसी भी दिशा की ओर बहक सकते हैं रूप आदि इन्द्रियग्राह्य गुणों से रहित वेद प्रतिपाद्य विषय हमारे प्रत्यक्ष ज्ञान की परिधि में नहीं आता, उसी प्रकार सुनिर्धारित तार्किक हेतु के अभाव में हम उसके विषय में कोई अनुमान भी नहीं कर सकते। वह तो केवल वेद प्रतिपाद्य ही है।

श्री बल्लभाचार्य जी वैसा ही कहते हैं—"तस्मात् प्रमाणमेवानुसर्त्तव्यं न युक्तिः, युक्ति गम्या तु अब्रह्मविद्या—ननु तथापि काचित् बेदानुसारिणी मुक्ति-र्वक्तव्या शास्त्रसाफल्यायेति चेत् विरोध एवं नाशंकनीयः वस्तु स्वभावात्"

अर्थात् वस्तु परिज्ञान के लिए जो साधन निर्धारित हैं, उन्हीं से उन्हें परखना चाहिए, वेद प्रतिपाद्य विषय को वेद द्वारा ही जानना चाहिए, कल्पना या मुक्ति द्वारा नहीं, मुक्ति काल्पनिक होती है, वैदिक नहीं, यदि वेद किसी ऐसे पदार्थ का निरूपण करना चाहता है जिसमें हमारी तार्किक दृष्टि से कुछ अन्तर्विरोध है, इस अन्तर्विरोध के आधार पर एक वचन को प्रमाण मानना दूसरे को अप्रामाणिक या गौणार्थ मानना उचित नहीं है। व्याख्यावादी दर्शनों की समस्या यथार्थ का मौलिक निरूपण नहीं है, किन्तु जिन ग्रन्थों को वे यथार्थ का निरूपण नहीं है, किन्तु जिन ग्रन्थीं को वे यथार्थ का निरूपक मानते हैं, उन ग्रन्थों के विभिन्न विधानों की प्रामाणिक व्याख्या ही उनकी प्रधान समस्या है, अतएव व्याख्यावादी वेदान्त दर्शनों की समस्या द्वैतवाद या अद्वैतवाद भी उपनिषदों के सदर्भ ही में विचारे जा सकते हैं।

उपनिषदों में विचारार्थ प्रस्तुत द्वैत या अद्वैत वचनों को यहाँ उपस्थित करना सम्भव नहीं है, उनके वर्गीकृत तात्पर्य का कुछ भाग उपस्थित किया जा सकता है, वह वर्गीकरण पूर्ण नहीं, दिसासूचक हो सकता है। सर्व प्रथम हमें द्वैत अद्वैत का सुपरिभाषित अर्थ समझना चाहिए। तभी हम उनके समर्थक या विपरीत वचनों का तात्पर्य सरलता से ग्रहण कर सकेंगे।

द्वैत शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत व्याकरण के अनुसार 'द्विधा इतं (ज्ञातं) द्वीतं तस्य भावो द्वैतं' है अर्थात किन्हीं दो या अधिक वस्तुओं के बारे में 'यह एक वस्तु है यह दूसरी वस्तु है' ऐसे बोध को द्वैत कहते हैं, ऐसी किसी हेतु का न होना अद्वैत है।

किन वस्तुओं के द्वैत की चर्चा वेदान्त में की गई इस पर विचारने पर शुद्ध द्वैतवादी मध्वाचार्य जी का विचार सामने आता है वे पाँच प्रकार से द्वैत का विचार प्रस्तुत करते हैं।

(१) एक जड़ वस्तु का दूसरी जड़ वस्तु से भेद
(२) एक जीव (चेतन) का दूसरे जीव से भेद
(३) जड़ वस्तुओं का जीवों से भेद
(४) जड़ वस्तुओं का ईश्वर से भेद
(५) जीवों का ईश्वर से भेद

अद्वैत, द्वैत का विपरीत भाव है, स्वाभाविक रूप में तो उपर्युक्त पांचों भेदों का निषेध अद्वैत में होगा। किसी एक दो को स्वीकारने पर भी अद्वैत चरितार्थ हो सकता है। अन्य प्रकार से भी द्वैत पर विचार किया गया है—

(१) सजातीय भेद (दो गायों के बीच का भेद)
(२) विजातीय भेद (गाय और घोड़े का भेद)
(३) स्वगत भेद (एक ही गाय में सींग पूछ)

इन तीनों का निषेध अद्वैत से हो जाता है "सजातीय विजातीय स्वगत भेद वर्जितम।"

प्रश्न होता है कि जड़-चेतन एवं ईश्वर में परस्पर सजातीय भेद है या विजातीय, इसमें स्वगत भेद है अथवा ब्रह्म में किसी प्रकार की भेद है ही

नहीं ? इन प्रश्नों का उत्तर तभी सम्भव है 'जब कि-उपनिषद वाक्यों का किसी एक अर्थ में ही तात्पर्य निर्धारित किया जाय । अन्यथा सम्भव नहीं है ।

जड़ या ईश्वर में परस्पर द्वैत है या अद्वैत इसके निर्णय में कई प्रकार के उपनिषद् वाक्यों का विचार कर सकते हैं—

(१) जड़ चेतनात्मक जगत के कार्य एवं ब्रह्म के कारण होने का उल्लेख जिन वचनों में आता है उनकी विभिन्न व्याख्याओं का द्वैत अद्वैत सम्बन्ध की आरम्भवादी, परिणामवादी, विवर्त्तवादी, निमित्त कारणवादी, और अभिन्न निमित्तोपादान कारणवादी व्याख्यायें प्रस्तुत की गई हैं ।

(२) उक्त विध जगत और ब्रह्म के बीच व्याप्यव्यापक भाव सम्बन्ध भी दिखलाया जाता है, इसमें द्वैत अद्वैत दोनों हो सकते हैं क्योंकि इस सम्बन्ध में कई आकार माने जा सकते हैं, जैसे कि तादात्म्य के कारण, तदुत्पत्ति के कारण, तत् साहचर्य के कारण व्याप्यव्यापक भाव माना जा सकता है । जहाँ मिट्टी के बने पदार्थ हैं वहाँ मिट्टी है, जहाँ धुआँ है वहाँ अग्नि है । नक्षत्र मण्डल के दो तारे साथ-साथ उदयास्त होते हैं, पति है तो पत्नि निश्चित है, पत्नी है तो पति निश्चित है, अर्थात् बिना पति के कोई पत्नि नहीं कहलाती इनमें परस्पर अन्योन्याश्रयता है, इन सारे उदाहरणों में कहीं द्वैत है तो कहीं अद्वैत इसलिए व्याप्यव्यापक सम्बन्धबोधक उपनिषद् वाक्यों में द्वैत अद्वैत दोनों की सम्भावना बनी रहती है ।

(३) जगत को ईश्वर से नियम्य, लीला या इच्छा के अधीन मानने वाले वचन स्पष्टतया द्वैत का प्रतिपादन करते हैं जो कि द्वैतवादियों के अधिक अनुकूल हैं । अति अद्वैत मानने पर कौन ईश्वर, किसकी नियामकता, कैसी लीला या इच्छा, कैसी अधीनता, ? कुछ भी सिद्ध होना सम्भव नहीं है ।

(४) उपास्य उपासक का सम्बन्ध भी बुद्धजीव के द्वैत का बोध कराता है, इनके प्रतिपादक वचन भी भेदवादियों के अति अनुकूल है किन्तु उपास्य का अधिक संकुचित अर्थ न लेते हुए, ईश्वर या ब्रह्म को पाने या जानने के सभी ज्ञान, कर्म-भक्ति उपासना, योग आदि साधनों के संदर्भ में ज्ञेय, ज्ञातव्य, भजनीय, ध्येय, उपास्य आदि अर्थों का ग्रहण करने पर भक्त, योगी, ज्ञानी, उपासक, साधक आदि के साथ ब्रह्म का सम्बन्ध द्वैत ही हो यह कोई अनिवार्य नहीं है ।

(५) इसी प्रकार ब्रह्म को इस जड़ चेतनात्मक जगत का आधार भी माना गया है, इसकी भी कई प्रकार की व्याख्यायें सम्भव हैं। जैसे कि आत्मा देह का आधार है, अर्थात् आत्मा के बिना देह कुछ भी करने में समर्थ नहीं है। टेबल, पुस्तक का आधार है अर्थात् पुस्तक टेबल पर रक्खी है। व्यक्ति अपने गुण धर्म का आधार है अर्थात् व्यक्ति के बिना गुण धर्म आदि का स्वरूप निरूपण सम्भव नहीं है। अवयव अवयवी के आधार हैं अर्थात् अवयवों के संयोग से ही अवयवी का अस्तित्व है। रस्सी में सर्प की भ्रान्ति में रस्सी ही उस झूठे सर्प का आधार मानी जाती हैं। इन उदाहरणों के अतिरिक्त जड़ में प्रतीयमान सत्ता मूलतः ब्रह्म की ही सत्ता है, जीव में प्रतीयमान चेतना मूलतः ब्रह्म की ही चेतना है,इस प्रकार भी ब्रह्म को दोनों का आधार माना गया है। इनमें कुछ प्रकार द्वैत घटित, कुछ अद्वैत घटित है।

(६) बिना किसी भी प्रकार के संबंध को माने निरपेक्ष रूप में जड़ चेतन एवं ब्रह्म के स्वरूप के निरूपणार्थ भी उपनिषद् के कई वचन प्रवृत्त होते हैं, जिन्हें, द्वैत अद्वैतवादी यथा योग्य अपने अनुकूल अर्थों में विनियुक्त करने की चेष्टा में रत रहते हैं।

इनके अतिरिक्त भी अन्तर्यामी, लोकातीत, या साक्षी आदि कई रूपों में जगत ब्रह्म के संबंधों का निरूपण मिलता है।

इन सभी प्रकार के वचनों को संगति, इनमें सुखवाद या एकार्थता स्थापित करना ही सभी वेदांतियों एवं शुद्धाद्वैत का भी प्रमुख लक्ष्य है। इन सभी प्रकार के वचनों की एक वाक्यता के लिए जो कुछ मूल भूत धारणायें शुद्धाद्वैत में प्रस्तुत की गई हैं उन्हें हमें स्पष्टतया समझना चाहिए। जैसा कि हमने ऊपर विचार किया कि उपनिषद् वाक्य सामान्य रूप से केवल द्वैत या केबल अद्वैत का प्रतिपादन नहीं करते, किसी रूप में द्वैत, किसी रूप में अद्वैत दोनों तरह के प्रतिपादन उपलब्ध होते हैं। अनुभव एवं विचार से भी हमें किसी एक के आश्रय से छुटकारा नहीं मिल सकता। विभिन्न रंगों की गाय हैं तो गाय ही अतः उनका अद्वैतभाव स्वभावतः सिद्ध है, पर जिसे श्यामगौ अभिप्रेत हैं उसकी द्वैत दृष्टि स्वाभाविक है। इसी प्रकार जिसे स्वर्ण चाहिए उसे चाहे वह किसी आकार में मिले वह लेगा, किन्तु यदि वह आकार विशेष कंगन आदि की कांक्षा करता है तो वह उसे ही प्राप्त करेगा, ये दोनों कांक्षायें स्वाभाविक हैं। यदि कहें कि द्वैत रूपगत है, अद्वैत पदार्थगत है, यह निर्णय विवादास्पद ही होगा

कि पदार्थ और रूप का सम्बन्ध द्वैतघटित है या अद्वैत घटित। अतः दोनों को माने बिना हमारा समाधान सम्भव नहीं है यही कारण है कि द्वैतवादी, अद्वैतवादी, विशिष्टाद्वैतवादी. शुद्धाद्वैतवादी, अचिन्त्य भेदाभेदवादी सभी किसी ने किसी रूप में, किसी न किसी विशेषण के साथ द्वैत अद्वैत दोनों को ही मान्यता देते हैं। वह द्वैत व्यावहारिक हो, औपाधिक हो, आत्यन्तिक हो, ऐच्छिक हो, या स्वाभाविक हो है तो द्वैत ही इसी प्रकार अद्वैत भी चाहे स्वाभाबिक हो, पारमार्थिक हो, आत्यन्तिक हो, औपाधिक हो या गौण हो किसी न किसी रूप में सभी को मान्य है। अतः विवाद द्वैत, अद्वैत का नहीं विशेषणों का है।

शुद्धाद्वैत में स्वाभाविक अद्वैत और ऐच्छिक अद्वैत को मानकर श्रुतियों का समन्वय किया गया है जैसे कि शङ्कराचार्य जी ने व्यावहारिक द्वैत और पारमार्थिक अद्वैत में श्रुतियों का समन्वय किया है। जड़ चेतनात्मक जगत को पदार्थ मानते हुए जगत एवं ब्रह्म के बीच अद्वैत मानना ही शुद्धाद्वैत है। जगत को मिथ्या मानते हुए जगत एवं ब्रह्म के बीच अद्वैत मानना केवला द्वैत है। संस्कृत भाषा में इन्हें 'एकस्याभेदः' और 'द्वयोरभेदः' कह सकते हैं। एक अभावात्मक अद्वैत है, दूसरा भावात्मक अभेद है। शुद्धा द्वैत भावात्मक है। ब्रह्मसूत्र के 'तदन्यत्वाधिकरण' में टीका करते हुए शङ्करभाष्य के टीकाकार वाचस्पति कहते हैं कि हमारे अद्वैत का तात्पर्य दो वस्तुओं के बीच तादात्म्य सम्बन्ध का नहीं है, भेद का निषेध मात्र हमारा तात्पर्य। वल्लभाचार्य जी तादात्म्य का अद्वैत ही मानते हैं। उनकी दृष्टि से ब्रह्म के अलावा जगत जैसा कुछ है ही नहीं। यह नहीं कहना चाहिए कि ब्रह्म जगत के रूप में परिणत हुआ अपितु कहना चाहिए कि जगत भी ब्रह्म ही है। ऐसा मानना ही शुद्ध अद्वैत है। आचार्य "सर्व खल्विदं ब्रह्म" (छाँ ३।१४।१) इस औपानिषद् वचन को ही अपने मत का आधार मानते हैं। गणित की दृष्टि से विचारने पर "ब्रह्म—आनन्द=जगत" अथबा "जगत+आनन्द=ब्रह्म" इस समीकरण द्वारा शुद्धाद्वैत सिद्ध होता है। जगत का अर्थ जड़ चेतनात्मक अनन्त ब्रह्माण्ड है इसको निम्नांकित वचनों से निश्चित करते हैं—

(१) "तदैक्षत बहुस्यांप्रजायेय" (छा० उ० ६।२।३) उसने चाहा कि वह अनेक रूप धारण करले।

(२) "स आत्मानं स्वयंमकुरुत" (तै० उ० २।७) उसने स्वयं अपने को जगत के रूप में ढाल दिया।

"(३) "एतद्धि सर्वाणि नामानि रूपाणिविभर्त्ति" (छः १।६।१) वही इन सारे नामों एवं रूपों को धारण करता है।

श्री वल्लभाचार्य जी इन वचनों से समस्त ब्रह्माण्ड की ब्रह्म रूपता निश्चित कर अद्वैतवाद का निर्णय करते हैं और उसे ही शुद्ध (सही) बतलाते हैं। ब्रह्म स्वभावतः एक है मगर अपने विलक्षण सामर्थ्य और इच्छा के बलपर अनेक भी हो सकता है। एक से अनेक होने में यदि कोई तार्किक विसंगत है तो आचार्य उसे दुर्भाग्य मानते हैं वह तर्क यथार्थ को अभिव्यक्त करने में सर्वथा असमर्थ है। वे तर्कभीरु होकर ब्रह्म और माया का द्वैत स्वीकार ने को तैयार नहीं हैं। इस दृश्यमान जगत की व्याख्या ब्रह्म के आधार पर करने में असमर्थ होने पर ही ब्रह्म और माया इन दो तत्वों की कल्पना करनी पड़ती हैं, जिसके फलस्वरूप ब्रह्म शुद्ध अद्वैत नहीं रह जाता।

"माया सम्बन्ध रहितं शुद्धमित्युच्यते बुधैः" (शुद्धाद्वैतमार्तण्ड २८) माया सम्बन्ध रहित ब्रह्म को ही आचार्य शुद्ध मानते हैं। केवल ब्रह्माश्रित अद्वैत की कल्पना तक पहुँचने के लिए वे ब्रह्म और माया को भी अद्वैत मानते हैं। उनकी दृष्टि से माया केवल ब्रह्म का एक असाधारण सामर्थ्य है, भिन्न कोई वस्तु नहीं है। समर्थ्य से ही ब्रह्म एक से अनेक होता है। व्यापक होते हुए भी परमाणु हो सकता है, देश कालातीत होते हुए भी, देश एवं काल में अपने को अभिव्यक्त कर सकता है। वह अनेक विरोधी धर्मों को अपने में आश्रित कर सकता है। वह सकल विरुद्ध धर्माश्रय अचिन्त्य अघटित घटना पटु है' इसलिए बन सकता है यह कहना भी गलत है। उस अचिन्त्य में अनेक अलौकिक धर्म हैं, जिसमें से कुछ को हम उन्हीं के वचन वेदों से जान पाते हैं, सर्वभवन सामर्थ्य उनमें से एक है।

श्री शंकराचार्य माया की धारणा द्वारा जिन-जिन समस्याओं का समाधान करने का प्रयास करते हैं, वल्लभाचार्य जी उनको ब्रह्म के विशिष्ट स्वरूप या सामर्थ्य के आधार पर ही सुलझा देते हैं। वे कहते हैं—"विरुद्ध धर्माश्रयत्वं तु ब्रह्मणो भूषणाय न तु मायायाः"

यहाँ प्रश्न मूलतः कल्पनावादी और यथार्थवादी अद्वैत का है शुद्धाद्वैत यथार्थवादी है, शुद्धाद्वैत के पद पर आरूढ़ होने के लिए ब्रह्म को सच्चिदानन्द के प्रतिपादक उपनिषद् वाक्यों का सहारा है। यहाँ यह लक्ष्य में रखना चाहिए कि 'शुद्धाद्वैत मार्तण्डकार' ने 'शुद्ध' पद से व्यावर्त्य माया को जो बनाया है

उसका 'प्रधान-मल्ल निवर्हण न्याय' के अनुसार अर्थ लेना चाहिए हमने भी माया तथा ब्रह्म के संदर्भ में ऐसी व्याख्या प्रस्तुत की है, प्रतीत होता है कि 'शुद्ध' पद का व्यावर्त्य केवल माया ही है। श्रीवल्लभाचार्य का ऐसा अभिप्राय नहीं होगा, 'शुद्ध' पद से उनका जो अभिप्राय है वह उनकी निम्न पंक्ति में स्पष्ट है—"अयं प्रपञ्चो न प्राकृतः, नापि परमाणु जन्यः नापि विवर्त्तात्मा, नापि अदृष्टादि द्वारा जातः, नाप्यसतः, सत्तारूपः किन्तु भगवत्कार्यः परमकाष्ठापन्नवस्तुकृति-साध्यः, तादृशमेऽपि भगवद्रूपः, अन्यथा असतः सत्तास्यात् सा चाग्रे वैनाम्कि प्रक्रिया निराकरणे निराकरिष्यते वैदिकस्त्वेत्भवानेव सिद्धान्तः (शास्त्रार्थ प्रकरण निबन्ध २३)

अर्थात् प्रकृति परमाणु माया अदृष्ट आदि किसी भी द्वितीय सहायक तत्त्व की अपेक्षा बिना स्वयं केवल शुद्ध ब्रह्म का ही जड़जीवात्मक जगत के साथ अभेद सिद्धान्त वैदिक है, अथवा प्रकृति परमाणु, माया अदृष्ट आदि के द्वैत से रहित शुद्ध अद्वैत ब्रह्म है। अतएव 'शुद्ध' पद की वास्तविक व्याख्या होनी चाहिए "प्रकृति परमाणु मायादृष्टादि रहितं शुद्ध मित्युच्यते बुधैः"

कुछ लोग 'शुद्धाद्वैत' अभिधान श्री वल्लभाचार्य कृत नहीं मानते, किन्तु यह भ्रान्त धारणा है, उपर्युक्त परिभाषित अर्थ में शुद्धाद्वैत शब्द का प्रयोग सुबोधिनी में आचार्य चरण द्वारा किया गया है—"भेदनाशकन्तु भगवद्विज्ञानं···· साक्षात्कारे······शुद्धाद्वैतञ्च स्फुरति" (सु० १०।२।३५) इत्यादि।

जगत के विभिन्न नामों एवं विभिन्न रूपों के अद्वैत की सत्ता के रूप में ही अद्वैतवाद की व्याख्या संभव है। नैय्यायिक भी सत्ता को 'पर सामान्य' कहते हैं, अन्तर केवल इतना ही है कि नैय्यायिकों की दृष्टि में 'सत्ता' द्रव्य गुण एवं कर्म में समान रूप में रहने वाला एक धर्म है। वस्तुतः बात तो वह है कि सत्ता के आधार पर वस्तु को सत् मानने की प्रक्रिया में सत्ता में तो सत्ता होती नहीं इसलिए वह स्वयं असत् न हो जाये इसको ध्यान रखते हुए सत्ता को धर्म मानने के बजाय मूल द्रव्य या तत्त्व मानना ही अधिक सुसंगत है। सत्ता एवं सत् में व्याकरण शास्त्रीय भेद है मगर दार्शनिक भेद नहीं। इस मूल तत्त्व सत् के ही विभिन्न रूप जागतिक पदार्थ हैं, सच्चित के विभिन्न रूप जीव या चेतनायें हैं। सच्चिदानन्द स्वयं मूलतत्त्व का मौलिक रूप है, वस्तुतः आनन्द ही मूलतत्त्व है, आनन्द के प्रत्यय में 'सत्' एवं 'चित्' अन्तर्हित हैं। अतएव कहा गया 'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्' (तै० उ० ३।६)

जिस लेखनी से लिख रहा हूँ वह मात्र लेखिनी है उसे अपने अस्तित्व की कोई प्रतीति नहीं, वह प्रतीत तो हमें ही होती है अतः लेखिनी केवल सत् है। हमें अपने अस्तित्व की प्रतीति है अतः हम सच्चित् हैं, किन्तु हमारे अस्तित्व में देश काल की सीमायें हैं ये सीमायें ही द्वैत भाव लाती हैं अथवा यों कहें कि ये ब्रह्म की द्वैतवादी इच्छा की परिणति हैं, फलतः हमारी चेतना प्रिय-अप्रिय सुख-दुखः, संघर्ष-शान्ति, राग-द्वेष के द्वैतों से आवृत हो जाती है। देशकालातीत चेतना में इन द्वन्द्वों की उपस्थिति का कोई प्रभाव नहीं पड़ता, जैसा कि उपनिषद् में कहते हैं "तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः" (ईशो० ७) वस्तुतः एकत्व दर्शन नहीं 'अनुदर्शन' होता है। "अनुदर्शन" बहुत उचित महत्वपूर्ण प्रयोग है जैसे कि कही हुई बात को किसी दूसरे शब्दों में कहना 'अनुवाद' है।

ऐसे ही श्री मध्वाचार्य द्वारा प्रस्तुत पञ्चद्वैतात्मक वास्तविक दृश्मान जगत में, ब्रह्म की द्वैतवादी इच्छा के परिणाम स्वरूप द्वैतघटित होता है, तथा एक 'सच्चिदानन्द' के प्रत्यय के बलपर 'एकत्व' अनुदर्शन करना शोकमोहातीत चेतना का प्रारम्भ आनन्द है, उसीकी चरम परिणिति, ऐश्वर्य, वीर्य, यश, श्री ज्ञान, वैराग के बोधक भगवान, पदद्वारा अभिहित होती है। यह ब्रह्म की साकारता, सगुणता, एवं सधर्मकता की स्थिति है। जहाँ अव्यक्त व्यक्ति—भावापन्न होता है, इस परमतत्त्व को केवल व्यक्ति भावापन्न समझना मूढ़ता है अथवा केवल अव्यक्त मानना भी अन्यथा प्रतिपत्ति है। किन्तु विरुद्ध धर्माश्रय होने के कारण दोनों ही रूप में स्वीकारना धीरता है—"अजाभमानो बहुधा विजायते तस्य धीराः परिजनान्ति योनिम्" (यजु० सं० ३१।१६)

'तस्मादानन्दांशस्यैवायं धर्मोयत्रस्वाभिव्यक्तिस्तत्र विरुद्ध सर्वधर्माश्रयत्वम्' (अणु० भा० १।२।३२)

अर्थात् चेतना जब आनन्द के अनन्त आयाम में पहुँच जाती है तो तार्किक विरोध, यथा साकार या निराकार होने का, सधर्मक या निर्धर्मक होने का अथवा सगुण या निर्गुण होने का दावा नहीं कर सकता, वह तो व्यापक, अव्यापक, देशकालातीत, देशकालाभिव्यक्त, ज्ञेय, अज्ञेय सभी कुछ है। श्री वल्लभाचार्य जी कहते हैं—"अण्वपि ब्रह्म व्यापकं भवति, यथा कृष्णो यशोदा क्रोडे स्थितोऽपि सर्वजगदाधारो भवति" (शा० नि० ५४)

अर्थात्-ब्रह्म अणु होते हुए भी व्यापक बना रहता है कृष्ण चाहे यशोदा की गोद में ही क्यों नहीं सम्पूर्ण जगत के आधार हैं"

वास्तविकता तो यह है कि वे 'सत्य के भी सत्य' होते हुये भी भावानुसारी हो जाते हैं। यथार्थ का, भावानुसरण मिथ्या या काल्पनिक नहीं' अपितु वास्तविक ही होता है। "यद्भद्धियात उरुगाय विभावयन्ति तत्तद् वपुः प्रणय से सदनुग्रहाय" (भा० ३।९।११) अर्थात्— हम बुद्धि से जैसे तुम्हारा विभावन करते हैं, वैसा तुम्हारा वास्तविक वपु स्वरूप होता है। यही 'ब्रह्म की रसरूपता है, जो कि आनन्द की चरम सीमा परिणित है।"(सो वै सः"(तै० उ० २।१।१)

श्री वल्लाभाचार्य के शुद्धाद्वैत की वास्तविक व्याख्या इसी आनन्दाद्वैत के आधार पर हो सकती है। आनन्द ब्रह्म है, ब्रह्म अनन्द है। आनन्द से ही सारी सृष्टि होती है, आनन्द में ही लीन होती है। 'आनन्दाद्ध्येव खलु इमानिभूतानि जायन्ते" इत्यादि (तै० उ० — ३।६)

अद्वैत की इस विधा तक पहुंचने के लिए जिन दार्शनिक धारणाओं को श्री वल्लभाचार्य उपकरण बनाते हैं या उपयोग में लाते है उनमें से कुछ धारणायें इस तरह हैं :—

(१) ब्रह्मवाद

(२) विरुद्ध धर्माश्रयतावाद

(३) सत्कारणवाद

(४) सत्कार्यवाद

(५) आविर्भावतिरोभाववाद

(६) अविकृत परिणा वाद

(७) कार्यकारणतादात्स्य वाद

(१) ब्रह्मवाद का तात्पर्य है कि जगत की उत्पत्ति स्थिति एवं प्रलय में, ब्रह्म के अतिरिक्त किसी भी अन्य तत्व को माध्यम न मानना। इसे अन्य शब्द में ब्रह्म की "अभिन्न निमित्तो पादानता" भी कह सकते हैं। जगत के लिए अपेक्षित उपादान समवायी तथा निमित्त कारण ब्रह्म ही है। अन्य ईश्वरवादी नैय्यायिक आदि, निमित्त कारण तो मानते हैं मगर उपादान कारण नहीं मानते। कुछ वेदान्ती अपने-अपने ढंग से ब्रह्म को उपादान का कारण तो मानते हैं, उनके मत में ब्रह्म,अपने अत्तिरिक्त अन्य किसी भी तत्व की अपेक्षा रक्खे बिना उपादान कारण नहीं बन सकता अतएव उन्हें विकर्तोपादान, प्रकारोपादान, धर्मोपादान

आदि कल्पनायें करनी पड़ती हैं। आचार्य जी के मत से ब्रह्म स्वयं स्वरूपतः जगदाकार में परिणित होता है। वे कहते हैं—"तद् ब्रह्मैव समवायि कारणं ......समन्वयात् सम्यगनुवृत्तत्वात् अस्तिभाति प्रियत्वेन, सच्चिदानन्द रूपेणान्वयात् नामरूपोकार्यरूपत्वात् प्रकृतेरपि स्वमते तदंशत्वत्, अज्ञानात् परिच्छेदाप्रियत्वे ज्ञानेनबाधदर्शनात्, नानात्वं त्वैच्छिकमेव, जडजीवान्तर्यामिष्वेकैकांशप्राकट्यात्................ न च साधारण्येन् सर्वजगत प्रति परमाण्वादीनामन्वय संभवति, एकस्मिन्ननुस्यूते सभवत्यनेक कल्पनाया अन्याय्यत्वात्........तस्माद् ब्रह्मव एव समवायित्वं............ एतत्सर्वं श्रुतिरेवाह "स आत्मानं स्वयम कूरुत" इति निभितत्वं तु स्पष्टमेव सर्ववादिसम्मतम" (अणु० भा० १।१।३)

अर्थात्—वह ब्रह्म ही जगत का समवायि कारण है, श्रुतियों के समन्वित सारांश से ऐसा ही निश्चित होता है, सच्चितानन्द रूप वही समस्त विश्व में अस्ति, भाति, प्रिय रूप से व्याप्त है, कार्य रूप नामरूपात्मक जगत् वही है, प्रकृति उनका अंश मात्र है, अज्ञानवश ही भगवद्रूप जगत् में भिन्नता की प्रतीति होती है, ज्ञान से उस भिन्नता का बोध हो जाता है, भिन्न नामरूपों में प्रकट होना ब्रह्म का एक-एक अंश अन्तर्यामी रूप से प्रकट रहता है। जगत में परमाणु आदि का समन्वय सम्भव नहीं है, अणुओं की एकत्रीकरण होकर भिन्न-भिन्न रूपों में होना काल्पनिक हास्यास्पद है। इसलिए ब्रह्म ही समवायिकरण है 'उसने स्वयं अपने को जगत रूप किया' ऐसा श्रुति का स्पष्ट वचन भी है। ब्रह्म को निमित्त कारण तो सभी मानते हैं।

अतः स्वेतरवस्तु निरपेक्ष ब्रह्म को जड़ जीवात्मक जगत् की अभिन्न निमित्तोपादान कारण मानना ही ब्रह्मवाद का स्पष्टतम लक्षण आचार्य जी बतलाते हैं—

'आत्मैव तदिदं सर्वं सृज्यते सृजति प्रभुः।
त्रायते त्राति विश्वात्मा ह्रियते हरतीश्वरः॥
आत्मैव तदितं सर्वं ब्रह्मैवं तदिदं तथा।
इति श्रुत्यर्थमादाय साध्यं सर्वैर्यथामति।
अयमेव ब्रह्मवाद-शिष्टं मोहाय कल्पितम्॥"

(सर्व निर्णय निबन्ध श्लो० १८३८४)

ब्रह्मवाद की पोषक श्रुतियां ये है—

(अ) "यतो वा इमानि भूतानिजायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत् प्रयत्य-भिसंविशंति" (तै. उ. ३।१)

(आ) "ब्रह्ममात्रमिदं सर्वं ब्रह्मणोऽन्यन्न किंचन्" (ते. वि. ३।३२)

(इ) "य ईशे अस्य जगतो नित्यमेव, नान्यो हेतुः विद्यते ईशनाय" (श्वेता. ३।१७)

(ई) "ब्रह्म ह्वा इदमग्र आसीत्" (मैत्रा. ६।१०)

(उ) "द्यावापृथिवी जनयन्देव एकः" (महाना. २।२)

(ऊ) "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" (छां. ३।१४।१)

(ए) "एक मेवाद्वितीयं तदैक्षत् बहुस्यां प्रजायेय" (शां. ६।२।३)

इन श्रुतियों पर विचार करते हुए श्री बल्लभाचार्य जी कहते हैं कि—
"आदि मध्यावसानेषु शुद्ध ब्रह्मण एवोपादानात् सर्वेषां वेदान्तानां ब्रह्मण्येव समन्वय उचितः" (अणु. भा. १।१।६१)

अर्थात्—"सृष्टि के आदि मध्य और अवसान में शुद्ध ब्रह्म ही की उपादानता श्रुतियों से परिज्ञात है अतः श्रुतियों का समन्वय ब्रह्म में करना उचित ही है।"

(२) विरुद्ध धर्माश्रयतावाद

शास्त्रों में जैसा ब्रह्म का निरूपण किया गया हो, वैसा का वैसा ही स्वीकारना न्याय्य है, परस्पर विरुद्ध विधानों द्वारा दो या अधिक विरोधी धर्मों का ब्रह्म के संबन्ध में विधान मिलने पर ब्रह्म को विरुद्ध धर्मों का आश्रय मानना ही उचित है। उपनिषद जिस प्रकार के ब्रह्म के प्रतिपादन में प्रवृत्त हैं वह तर्कातीत है। आचार्य कहते हैं कि—

"लौकिकं हि लोकयुक्त्यावगम्यते, ब्रह्म तु वैदिकं, वेदप्रतिपादितार्थबोधो न शब्द साधारण विद्यया भवति" (शा० नि० ६२)

अर्थात् लौकिक वस्तु की प्रतीति लोक युक्ति से होती है किन्तु ब्रह्म तत्त्व

वैदिक है, वेद प्रतिपादित तत्त्व साधारण शाब्द बोध से संभव नहीं है। स्वयं उपनिषद् का भी ऐसा स्पष्ट मत है—

(अ) "आसीनो दूरं व्रजति, शयानों याति सर्वतः।
कस्तं महामदं देव, मदन्योज्ञातुमर्हति॥" (कठ० २।२१)

(आ) "भदेकमव्यक्तमनन्तरूपम्" (भ० ना० १।५)

(इ) "अनन्यप्रोक्ते गतिरत्र नास्ति अणीयान् ह्यतर्कमणु प्रमाणात्" (कठ० १।२।८)

(ई) "नैववाचा न मनसा प्राप्तं शक्यो न चक्षुषा अस्तीति ब्रुवता अन्यत्र-कथं तदुपलभ्यते" (कठ०२।३।१२)

अतएव श्री वल्लभाचार्य जी कहते हैं कि—"न हि स्वबुद्धया वेदार्थं परिकल्प्य तदर्थं विचारः कर्त्तुं शक्यः ब्रह्म पुनः यादृशं वेदान्तेष्ववगतम् तादृशमेव मन्तव्यम् अणुमात्रान्यथाकल्पनेऽपि दोषः स्मात्।

न च विरुद्ध वाक्यानां श्रवणात् तन्निर्धारार्थं विचारः उभयोरपि प्रामाणिकत्वे नैकतरनिर्धारस्या शक्यत्वात्, अचिन्त्यानन्तशक्तिमति सर्वभवन समर्थे ब्रह्मणि विरोधाभावाच्च', (अणु० भा० १।१।१)

अर्थात्-अपनी बुद्धि से वेदार्थ की परिकल्पना करके वैदिक तत्त्व का विचार संभव नहीं है, वेदान्तों से जैसे ब्रह्म स्वरूप की अवगति होती है वैसा ही मानना चाहिए, अणुमात्र भी उसके विपरीत कल्पना करना दोष है।

विरुद्ध वाक्यों के अनुसार स्वरूप निर्धारण करना दोनों ही प्रकार के वाक्य प्रमाणिक हैं अतः किसी एक के अनुसार तत्त्व का निर्धारण शक्य नहीं है, अचिन्त्य अनन्त-शक्तिमान, सब कुछ होने में समर्थ ब्रह्म में विरोधात्मक प्रवृत्तियों का होना संभव है।"

"कर्त्तृत्वमकृतत्त्वञ्च वेदे प्रतीयते "यतो वा इमानिभूतानि जायन्ते-स आत्मानंस्वयमकुरुत-निष्कलं, निष्क्रियं, शान्तं, निरवद्यं निरञ्जनं-असङ्गा ह्ययं-पुरुषः" इत्येवमादिषु तत्र द्वेधा निर्णयः संभवति सर्वभवन समर्थत्वाद्, विरुद्ध-धर्माश्रयत्वेन् अन्यतर बाधाद् वा" (अणु० भा० १।१।४)

अर्थात् ब्रह्म का कर्त्तृत्व अकर्त्तृत्व वेद के इन वाक्यों से निश्चित होता है—"जिससे सब भूत हुए-वह स्वयं जगतरूप हुआ, वह अखण्ड, निष्क्रिय, शान्त,

शुद्ध, है, वह पुरुष अनासक्त है" इत्यादि। इन दोनों प्रकार के वाक्यों का समाधान, ब्रह्म की सर्वभवन सामर्थ्य, विरुद्ध धर्माश्रयता, और किसी अन्य में ऐसा होना संभव नहीं है, इन आधारों पर ही हो सकता है।"

"अस्थूलादि वाक्यान्यपि सन्ति सर्वत्र प्रपञ्च तद्धर्म-वैलक्षण्यप्रतिपादिक्कतनि ततोऽन्योन्यविरोधेनैकस्य मुख्यार्थबाधो वक्तव्यः तत्र स्वरूपापेक्षयां कार्मस्य गौणत्वात्, प्रपञ्चरूपप्रतिपादकानामेव कञ्चित् कल्पयेत्, तन्माभूदिनि, जन्मादि सूत्रवत् समन्वयसूत्र मपि सूत्रतवान्, तथा क्त अस्थूलादिगुणयुक्त एव अतिक्तियमाण एव आत्मानं करोति इति वेदान्तार्थः, संगतो भवति। विरुद्ध सर्वधर्मियत्वंतु ब्रह्मणो भूषणाय" (अणु० भा० १।१।३)

अर्थात्-ब्रह्म के सूक्ष्म आदि निरूपण करने वाले वाक्यों का भी वेदान्त में बाहुल्य है जो कि प्रपञ्च और उसके धर्मों से उसकी विलक्षणता का प्रतिपादन कर रहे हैं, इनके विरुद्ध धर्मों का भी वेदान्त में प्रचुर प्रतिपादन है, दोनों प्रकार के विरुद्ध वाक्यों में उनके स्वरूप को प्रधान तथा कार्य को गौण मानकर प्रपञ्चरूप प्रतिपादक वाक्यों का कल्पित निर्णय करना उचित नहीं है। सूत्रकार ने जन्मादिसूत्र की तरह समन्वयसूत्र का भी विधान किया है जिससे निश्चित होता है कि अस्थूलादि गुणवान, विनाविकृत हुए अपने को जगत् रूप में प्रकट करता है, वेदान्तों का ऐसा समाधान ही संगत है। विरुद्ध धर्माश्रयता ब्रह्म का भूषण ही है।

(३) सत्कारणवाद के अनुसार जगत् सत् के रूप में अद्वैतात्मक हो जाता है, जगत का कारण केवल सत् अर्थात् ब्रह्म ही है उसका स्पष्ट निर्देश निम्नांकित श्रुति में है—

"सन्मूलमन्विच्छ सन्मूलाः सौम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः"

(छां० ६।८।४)

अर्थात् हे सौम्य ! यह सारी प्रजा, सन्मूल, सत् में स्थित, सत् में प्रतिष्ठित है इसे सन्मूल ही समझो।

अतएव "पत्रावलम्वन में श्रीमदाचार्य चरण कहते हैं "कारणीभूतस्य सत् रूपत्वात्"

(४) सत्कार्यवाद की दृष्टि में सत् ब्रह्म में जो अनेक कार्य होते हैं, वे भी सत् रूप ही हैं, यहाँ तक कि होने के पूर्व भी ब्रह्म के रूप में सत् ही थे, होने के

बाद भी सत्ता को नहीं छोड़ते। जैसा कि निम्नांकित श्रुति वचनों से स्पष्ट हो जाता है।

"सदेव सौम्य इदमग्र आसीत्" (छांदो० ६।२।२)

"सदेव इदमग्र आसीदमेक मेवाद्वितीये" (छांदो० ६।२।१)

"कुतस्तुखलु सौम्येवं स्यात् कथमसतः सज्जायेति" (छांदो० ६।२।२)

अर्थात् हे सौम्य! यह सब सृष्टि के पूर्व स्त् ही था, एक मात्र यह सत् ही था, जब यह एक अद्वैत सत् ही था तो असत् से सत् की उत्पत्ति कहना कैसे संभव है।

अतएव श्री वल्लभाचार्य कहते हैं—"अवरस्य प्रपञ्चस्य संबन्धात् त्रैकालिकत्वाद् ब्रह्मत्वम्। "असद्वा इदमग्र आसीत्" इति श्रुत्या प्रागुत्पत्तेः कार्यस्यासत्त्वं बोध्यते इति चेन्न, अव्याकृतत्वेन धर्मान्तेरण तथा व्यपदेशः, कुतः?" तदात्मानं स्वयमकुरुत "इतिस्वस्यैव क्रियमाणत्वात्, इदमासीत् पद प्रयोगाच्च" (अणु० भा० २।१।१६-१७)

अर्थात्-अवरप्रपञ्च का ब्रह्म से त्रैकालिक संबंध है अतः उसका ब्रह्मत्वसिद्ध है। "सृष्टि के पूर्व यह असत् था" इस श्रुति से तो सृष्टि के पूर्व कार्य का असत्व निश्चित होता है ऐसा कहना सुसंगत नहीं है, वस्तुतः यह जगत अव्याकृत है, इसी विशेषता को उक्त श्रुति बतला रही है, "उसने स्वयं को प्रकट किया" इत्यादि श्रुति में ब्रह्म की स्वयं क्रियमाणता कही गई "यह था" इस पद के स्पष्ट प्रयोग से भी हमारे कथन की पुष्टि होती है।

(५) **आविर्भावतिरोभाववाद**—जगत् के उत्पत्ति के पूर्व एवं नष्ट होने के बाद जागतिक वस्तुओं का सत्ता से संबंध ता टूटसा प्रतीत होता है जो कि हमारी भ्रान्ति है, वस्तुतः तो जगत में उत्पत्ति या नाश है ही नहीं, वह था भी और रहेगा भी, वह आविर्भूत या तिरोभूत या अभिव्यक्त एवं अनभिव्यक्त हो सकता है, जगत के सभी पदार्थ अपने आप में द्रव्य या तत्त्व नहीं है, किन्तु मूलतत्त्व सत के अभिव्यक्त एवं अनभिव्यक्त विभिन्न नाम एवं रूप हैं।

"तदैवेदं तर्ह्यव्याकृतमासीतन्नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियतासौ नामायमिदं रूपमिति" (बृह० १।४।७) इत्यादि श्रुति उक्त कथन का ही समर्थन कर रही है।

श्री मदाचार्य चरण सर्वनिर्णय में आविर्भाव तिरोभाव का वर्णन करते हैं— घटादीनामपि ब्रह्मत्वान्नित्यतेति वक्त युक्तिमाह-'आविर्भावतिरोभावौ शक्ती वै मुरवैरिणः ।। सर्वाकार स्वरूपेण भविष्यामीति या हरेः ।। वीक्षा यथा यतोयेन तथा प्रादुर्भवत्यणः ।। मृदादि भगवद्रूपं घटाद्याकारसंयुतम ।। मूलेच्छातस्तथा तस्मिन् प्रादुर्भावो हरेस्तदा ।। तिरोभावस्तथैवस्यात् रूपान्तर विभेदतः ।।"

अर्थात्-घट आदि सब ब्रह्म हैं अतएव नित्य हैं, इसमें युक्ति प्रस्तुत करते हैं— भगवान की आविर्भाव और तिरोभाव ये दो शक्तियाँ हैं जिससे वे समस्त आकारों में प्रकट होते हैं, जिस रूप को धारण करने की उन अज की इच्छा होती है वही रूप धारण कर लेते है। मिट्टी आदि भगवद् रूप घटादि आकारों में अभिव्यक्त होते हैं। उनकी अभिव्यक्ति में हरि की इच्छा ही प्रधान है, तिरोभाव भी उनका दूसरे रूप में हो जाता है।"(अर्थात् मिट्टी का घड़ा टूटकर पुनःकिसी अन्य रूप में प्रादुर्भूति हो जाता है।)

(६) **अविकृत परिणामवाद** :—स्वर्ण से जैसे अनेक आभूषण बनाये जा सकते हैं, और सभी को स्वर्ण कहा जा सकता हैं। ये सभी स्वर्ण के ही विभिन्न नाम एवं रूप हैं। अपने आपमें कोई भी अलग पदार्थ नहीं कहलाता, आभूषणों को गला दिया जावे तो उनका प्रकट नाम रूप पुनः स्वर्ण में अन्तर्हित हो जाता है, हमें केवल स्वर्ण की ही उपलब्धि रह जाती है, उसी प्रकार अनेक नाम रूपों के भेद के होते हुए भी जगत मूलत ब्रह्म का ही परिणाम है, वह दूध से होने वाले दही की तरह विकृत परिणाम नहीं है वह तो स्वर्ण से अविकृत परिणाम है। जगत अपनी सभी अवस्थाओं में ब्रह्म है जैसे कि स्वर्ण हर रूप में सुवर्ण ही है।

"इदं सर्वयदयमात्मा" (बृ० २।४।६)

"सहैतावानास" (बृ० १।४।३)

"यद्भूतंयच्च भव्यं" (ऋ० मं० १०।९।२) इत्यादि श्रुतियाँ यही बतला रही हैं। आचार्य कहते हैं कि "आत्मकृतेः तदात्मानं स्वयमकुरुत इति स्वस्यैव कार्मकर्त्तृ भावात्, सुकृतत्ववचनाच्चालौकिकत्वम्, तथापि ज्ञानार्थमुपपत्तिमाह, परिणामात्, परिणमते कार्यकारणेनि अविकृतमेव परिणमते सुवर्नम्" (अणु० भा० १।४।२६)

अर्थात्—"तदात्मानं स्वयमकुरुत" इत्यादि में स्वयं में कमकुर्त्त भाव बतलाया गया है, यह एक अलौकिक बात है, फिर भी सामान्य ज्ञान के लिए

सूत्रकार 'परिणामात' विशेषण प्रस्तुत करते है, अर्थात् कारण ही कार्य रूप में परिणत होता है जैसे कि सुवर्ण अविकृत रूप से परिणत होता है।"

(७) **कार्यकारणतादात्म्यवाद** :—क्योंकि कारण, कार्य के रूप में विना विकृत हुए ही परिणत होता है इसलिए कार्य, कारणात्मक है एवं कारण कार्यात्मक है, यही कारण का तादात्म्य सम्बन्ध है। इसे ही आचार्य चरण, शुद्धाद्वैत कहते हैं।

"तदेतत् त्रयं सदेकमयमात्मात्मो एकः सन्नेतत् त्रयम्" (बृ० १६) इस श्रुतिको शुद्धाद्वैत वाद में प्रस्तुत किया जाता है। आचार्य चरण ब्रह्मसूत्र के तदनन्यत्वाधिकरण में कहते हैं "कार्यस्य कारणानन्यत्वम्", अर्थात् कार्य की कारण से अनन्यता स्वाभावाविक है (अणु० भा० २।१।१४)

इसके अतिरिक्त जीव का अणु होना या ऐसे अनेक विचारों का शुद्धाद्वैत से उतना सम्बन्ध नहीं है, अतः उनका उल्लेख करना अनावश्यक है निबन्ध का अनपेक्षित विस्तार व्यर्थ है।

शुद्धाद्वैत के प्रतिपादक ग्रन्थ श्रीमद् वल्लभाचार्य विरचित अणुभाष्य को लोक भाषा में अनूदित कर जगद्गुरु श्री निम्बार्काचार्य पीठ प्रयाग के आचार्यत्व को चरितार्थ करने वाले गोस्वामी ललितकृष्ण जी महाराज ने वैष्णवों पर बड़ा उपकार किया है। गोस्वामी जी ने वैष्णवों के सभी भाष्यों को लोकभाषा में समान भाव से आदर देते हुए निष्पक्ष और निरपेक्ष भाव से उपस्थित कर उन आचार्य चरणों की लीला को पुनः प्रकाशित कर भक्तों को प्रकाश दिया है, एतदर्थ सभी संप्रदायों के प्रणम्य श्रद्धेयास्पद हैं।

प्रातः स्मरणीय पूज्य दादाजी महाराज (गोस्वामी दीक्षित जी) के विचारों को संकलित कर ग्रन्थ के उपोदघात के रूप में भक्तों के उपकारार्थ प्रस्तुत कर रहा हूँ, यह समस्त चिन्तन मौलिक रूप से उन्हीं का है. मैं तो आचार्य के अभिन्न निज सचिव माधव भट्ट जी की तरह लेखनी से गुम्फित कर रहा हूं।

निवेदक

बम्बई गोस्वामी श्याम

श्रीमद् गोपीजनवल्लभाय नमः

श्रीमदाचार्य चरण कमलेभ्यो नमः

अणुभाष्य अधिकरण सारावली

(श्री निर्भय राम भट्ट)

प्रथम अध्याय

इस अध्याय में स्वरूप बोधक वाक्यों पर विचार किया है। ऐसे वाक्य संदिग्ध और असंदिग्ध दो प्रकार के हैं। असंदिग्ध वाक्यों का निर्णय अपेक्षित नहीं था अतः उन पर विचार नहीं किया। कार्य प्रतिपादक, आन्तर्यामि प्रति पादक उपस्य प्रतिपादक और प्रकीर्ण इत्यादि चार प्रकार के संदिग्ध वाक्यों पर ही क्रमशः प्रथम अध्याय के चारों पादों में विचार करते हैं।

द्वितीय अध्याय

इस अध्याय के प्रथम पाद में श्रुति स्मृति वाक्यों का अविरोध निर्णय तथा द्वितीय पाद में सांख्य, योग, न्याय, मायावाद, वाह्यार्थानुमेय आदि वादों का स्वतन्त्र रूप से निराकरण किया गया है। तृतीय पाद में श्रुति वाक्यों के परस्पर बिरोध का परिहार तथा चतुर्थ पाद में जीव शरीर के मध्यवर्ती प्राण आदि पर विचार किया है।

तृतीत अध्याय

इस अध्याय के प्रथमपाद में, ब्रह्मज्ञानोपयोगी मानकर जीव के जन्म पर विचार किया है। द्वितीयपाद में जीव की मुक्तियोग्यता और विरोध परिहार पूर्वक ब्रह्मस्वरूप निरूपण किया है। तृतीय चतुर्थ पाद में गुणोपसंहार तथा कर्मांग विचार है।

चतुर्थ अध्याय

इस अध्याय के प्रथमपाद में भगवत्प्राप्ति के श्रवण आदि साधनों का कर्त्तव्य रूप से विचार किया गया है। द्वितीय पाद में म्रियमाण प्राणी के सर्वेन्द्रियलय आदि का विचार है। तृतीय पाद में क्रममुक्ति आदि मार्गों का तथा

चतुर्थ पाद में पुष्टि मर्यादा भेद से फल एवं लीला नित्यता आदि का वर्णन किया गया है।

प्रत्येक पाद में विभिन्न अधिकारयों में विषय, संशय, पूर्वपक्ष, सिद्धान्त और संगति के रूप से विचार किया गया है। संगति सभी स्थानों पर स्पष्ट है पूर्व के चार अवयवों का ही निरुपण है। जहाँ केवल सिद्धान्त मात्र की स्थापना की गई है वहाँ सिद्धान्त विषय के अभाव के रूप में पूर्वपक्ष की कल्पना की गई है।

प्रथम अध्याय-प्रथम पाद

प्रथम अधिकरण

वेदान्त वाक्यों के विचार के विषय में वेदान्त वाक्यों पर विचार करना चाहिये या नहीं ऐसा संशय करते हुए व्याकरण आदि से ही वेदार्थ निर्णय हो जाता है अतः विचार अपेक्षित नहीं है ऐसा पूर्वपक्ष उपस्थित कर सिद्धान्त स्थिर करते हैं कि बिना विचार किये व्याकरण आदि से वेदार्थ संदेह का निरास सम्भव नहीं है, अतः विधिपूर्वक विचार आवश्यक है। जैसे कि—"इस लोक की गति कौन है ? उसने कहा आकाश" इस छान्दोग्य श्रुति में उल्लेख्य आकाश शब्द से भूताकाश अभिप्रेत या परमात्मा, इस संशय का निरास ब्रह्मविचार शास्त्र से ही हो सकता है व्याकरण आदि से नहीं।

अर्थ शब्द, मंगल, अधिकार, आनन्तर्य ओर अर्थान्तरोपक्रम आदि चार अर्थों में प्रयुक्त होता है। इस सूत्र में अर्थान्तरोपक्रम अर्थ तो संभव हो ही नहीं सकता। अधिकारार्थक ही है। अतः शब्दः हेतु अर्थ का द्योतक है।

द्वितीय अधिकरण

ब्रह्म के कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य पर संशय करते हुए अकर्तृत्व को पूर्वपक्ष मानकर सिद्धान्त रुप से कर्त्तव्य को निश्चित करते हैं।' 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म "श्रुति में जो ब्रह्म का सत्य स्वरुप बतलाया गया है उससे तो कर्तृत्व में विरोध होने से संशय होता है किन्तु "यतोवा इमानि" इत्यादि श्रुति स्पष्ट रूप से ब्रह्म के कर्तृत्व का निरूपण करती है दोनों ही बातें सर्वसमर्थ प्रभु में संभव हैं अतः ब्रम्ह का जगत् कर्त्तृत्व सिद्ध हैं।

तृतीय अधिकरण

ब्रह्म जगत का समवायि कारण भी हो या केवल निमित्त कारण ही है। इस संशय पर निमित्त कारण ही है ऐसा पूर्वपक्ष दिखलाते हुये सिद्धान्त प्रस्तुत करते हैं कि ब्रह्म समवायि कारण भी है। लोक में प्रायः समवायि कारण को विकृत देखा जाता है। किन्तु वेद में सर्व समर्थ ब्रह्म के समवायित्व और अविकृतत्व दोनों का वर्णन मिलता है अतः वह दोनों प्रकार का कारण है।

चतुर्थ अधिकरण

"ईक्षतेर्नाशब्दम्" आदि पांच सूत्रों से विचार करते हैं कि सर्व वेदान्त वाक्यों का प्रतिपाद्य ब्रह्म है या नहीं।" यतोवाचो निवर्त्तन्ते" आदि में वेदान्त प्रतिपाद्य तत्त्व व्यवहारतीत बतलाया गया है अतः वह ब्रह्म नहीं हो सकता किन्तु "स ईक्षाञ्चक्रे" इत्यादि श्रुति में जगत्कर्त्ता की सृष्टि द्वारा व्यवहार्य होने की चर्चा है अतः ब्रह्म ही प्रतिपाद्य है। नेत्रादि से वह भले ही अग्राह्य हो किन्तु भगवान के विश्वास रूप वेद ही उसका प्रतिपादन कर रहे हैं।

पंचम अधिकरण

"आनन्दमयोऽभ्यासात्" इत्यादि आठ सूत्रों से विचार करते हैं कि तैत्तरीय में अन्नमय आदि के वर्णन में जो आनन्दमय का वर्णन है वह अन्नमय आदि की तरह कुछ अन्य पदार्थ है अथवा ब्रह्म का वाचक है। इसपर पूर्व पक्ष के रूप में अन्य ही बतलाते हैं किन्तु सिद्धान्ततः निश्चित करते हैं कि अन्नमय आदि परमात्मा के विभूति रूप हैं और आनन्दमय परमात्मा ही है। इसको सिद्ध करने के लिए "ब्रह्मविदा प्नोतिपरम्" सत्यज्ञानअनन्तं ब्रह्म" सोऽश्नुते सर्वान् कामान्" आदि अनेक श्रुतियों पर विस्तृत रूप से विचार किया है।

षष्ठ अधिकरण

छान्दोग्य के प्रथम प्रपाठक में "य एषोन्तरा दित्ये आदि मंत्र से जिस हिरण्मय स्वरूप का चिन्तन किया गया है वह अधिकाष्ठ देवता शरीर का है या ब्रह्म का अथवा परब्रह्म का है? इत्यादि संशय पर देवता शरीर की बात पूर्वपक्ष के रूपों में प्रस्तुत करते हुए सिद्धान्त निश्चित करते हैं कि सूर्यमण्डलस्थ हिरण्मय स्वरूप परमात्मा का ही है।

सप्तम अधिकरण

छान्दोग्य में "अस्यलोकस्य का गतिरित्याकाश इति" इत्यादि मे जिस आकाश की चर्चा है वह भूताकाश की है अथवा परमात्मा की इस संशय पर भूताकाश का पक्ष निर्द्धारित करते हुए सिद्धान्ततः परमात्मपरक ही निर्णय करते है ।

अष्टम अधिकरण

छान्दोग्य के प्रथम प्रपाठक के मन्त्र "कतमासादेवतेति प्राण इति होवाच" इत्यादि में प्राणशब्द मुख्यप्राण वाची है अथवा परमात्मवाची ? इस संशय पर पूर्वपक्ष के रूप से मुख्य प्राण का समर्थन करते हुए, सिद्धान्ततः उसे परमात्म-वाची निश्चित करते हैं ।

नवन अधिकरण

"अथयदतः परो दिवो ज्योतिः" इत्यादि में ज्योति शब्द प्राकृत ज्योति की ओर इंगन किया गया है या परब्रह्म की ओर इस संशय पर प्राकृत ज्योति पर विचार करते हुए परब्रह्म परक सिद्धान्त निर्णय करते हैं ।

दशम अधिकरण

कौषीतक ब्रह्मणोपतिणद् के इन्द्रप्रतर्दन संवाद में परमपुरुषार्थकामी प्रतर्दन को इन्द्र ने "प्राणोवा अहमस्मि" कहकर जिस तत्त्व का उपदेश दिया है वा जीवात्मा के वाचक प्राणवायु के लिए है अथवा परमात्मा के लिए इत्यादि संशय पर शंका समाधान पूर्वक परमात्मावाचक ही निर्णय करते हैं ।

द्वितीय पाद

प्रथम पाद में शब्द सम्बन्धी संदेहों का निवारण कर चुके अब इस पाद में अर्थ सम्बन्धी संदेहों का निराकरण करते हैं—अर्थ जीव जडात्मक दो प्रकार का है । इस वाद में जीव सम्बन्धी संदेह का निवारण करते हैं, तृतीय में जड़ सम्बन्धीं तथा चतुर्थ में उभय सम्बन्धी संदेह का निवारण करेंगे ।

प्रथम अधिकरण

छान्दोग्य में "सर्व खाल्विदं" से लेकर "मनोमयः प्राणशरीरः" इत्यादि में जीव को ही ब्रह्म रूप से उपासना कही गई है अथवा ब्रह्म की इस संशय पर

जीवपक्ष को उपस्थित करते हुए ब्रह्मोपासना की बात सिद्धान्ततः निश्चित करते हैं।

द्वियीय अधिकरण

वाणिशाखा में "ब्रीहिर्वा यवो वा" इत्यादि मंत्र में जो हिरण्मयपुराण की चर्चा है वह हिरण्मय पुरुष जीव है अथवा ब्रह्म इस संशय पर जीव पक्ष का सतर्क निराकरण करते हुए ब्रह्म होने की बात दृढ़ता पूर्वक निश्चित करते हैं।

तृतीय अधिकरण

कठवल्ली की द्वितीयवल्ली में अन्त में "यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवत ओदनः "आदि में जिस भोक्ता का उल्लेख है वह जीव है अथवा ब्रह्म इस संशय पक्ष का निरास करते हुए युक्तिपूर्वक ब्रह्म को ही भोक्ता सिद्ध करते है।

चतुर्थ अधिकरण

काठक में तृतीयवल्ली में "ऋतंपिबन्तौ सुकृतस्य लोके" इत्यादि श्रुति है यह जीव परक है या ब्रह्म परक इस संशय पर पूर्वपक्ष प्रस्तुत करते हैं कि इस श्रुति में द्विवचन का प्रयोग है तथा यह श्रुति जीव प्रकरण की है अतः यह बद्धमुक्त जीव का निरूपण कर रही है। इस पर सिद्धान्त कहते हैं कि इस श्रुति में गुहा में दो की स्थिति बतलाई गई है जो कि हृदयाकाश में स्थित जीव और परमात्मा का उल्लेख है, यह वाक्य ब्रह्म परक ही है।

पंचम अधिकरण

छान्दोग्य के षष्ठ प्रपाठक में "य एषोक्षिणि पुरुषो दृश्येत" इत्यादि में अक्षिप्रतिबिम्बित पुरुष की ब्रह्मत्वेन उपासना बतलाई गई है अथवा ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन है। प्रतिबिम्बित की उपासन की बात पूर्वपक्ष के रूप में उपस्थित कर सिद्धान्त स्थिर करते हैं कि अक्षिपुरुष शब्द से अक्षिप्रतिबिम्ब अर्थ ग्राह्य नहीं हैं किन्तु सर्वव्यापक ब्रह्म के उत्तम अक्षिस्थान में उपस्थित होने का उपदेश मानना चाहिए, उसका दर्शन प्रार्ष ज्ञान से ही संभव है।

षष्ठ अधिकरण

"यः पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद" इत्यादि बृहदारण्यक मंत्र में अधिदैव अधिलोक अधिवेद अधियज्ञ अधिभूत और अध्यात्म के अन्तर्यामी की चर्चा है क्या उन सब का एकमात्र अन्तर्यामी परमात्मा ही है अथवा उन उन संज्ञाओं

वाले भिन्न अन्तर्यामी हैं, इस संशय पर भिन्न के पक्ष को बतलाते हुए एकमात्र परमात्मा के अन्तर्यामित्व का समर्थन करते हैं।

सप्तम अधिकरण

मुण्डक में शौनक ने प्रश्न किया "कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवेत्" इस पर अङ्गिरा ने उत्तर दिया "द्वे विद्येवेदितव्ये" उनमें एक तो नाम रूपात्मक जगत का ज्ञान कराने वाली नामांश वेदादि विद्या रूपांशा अपरा विद्या है दूसरी "अथपरा यथातदक्षरमधिगम्यते" इत्यादि में कही गई विद्या है। वेदादि विद्या के विषय में तो कोई शंसय नहीं होता किन्तु परा विद्या के वियूष में संशय होता है कि इस प्रसंग में जिस परा का उल्लेख हैवह सांख्यमत सम्मत विद्या का है अथवा ब्रह्मविद्या का। "दिव्योह्यमूर्त्तः पुरुष" इत्यादि में जो पुरुष पद का प्रयोग किया गया है उससे तो सांख्य सम्मत विद्या की ही प्रतीति होती है ऐसा पूर्णपक्ष उपस्थित करते हुए सिद्ध करते हैं कि पुरुष के साथ अक्षर शब्द का भी प्रयोग है जो कि ब्रह्म का ही वाचक है अतः यह ब्रह्मविद्या का ही प्रसंग है।

अष्टम अधिकरण

छान्दोग्य के सातवें प्रपाठक में श्रुति है "को न आत्मा किं ब्रह्म" उसी में आगे कहा गया—"यस्त्वेतमेवं प्रादेशमात्रंमभिविद्यमानमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते" इस पर संदेह होता है कि उल्लेख्य वैश्वानर पद सें ब्रह्म का प्रतिपादन संभव है या नहीं। यह वाक्य हिरण्यगर्भ की उपासना का है अतः वैश्वानर शब्द उन्हीं के लिए कहा गया है, यह तो पूर्वपक्ष है। सिद्धान्त निश्चित करते हैं कि भगवान विरुद्ध धर्म संभव है अतः वह विभु होते हुए भी प्रादेशमात्र में हैं इस लिए यह शव्द उन्हीं का वाचक है।

इसी अधिकरण में परिमाणविशेषण पर विचार करते हैं कि यह प्रादेशमात्र स्थल भगवान का स्वाभाविक या कृत्रिम, इसपर वेदार्थ चिन्तक चार ऋषियों के विचार प्रस्तुत करते हैं जिनमें केवल शब्दबल पर विचार करने वाले वेदव्यास हैं, शब्दार्थ पर विचार करने वाले जैमिनि हैं, शब्दोपसर्जन से अर्थ करने वाले आश्मरथ्य हैं तथा केवल अर्थ विचारक कादरि है इनमें से प्रादेशमात्र व्यापक भगवान हैं, अतः वैश्वानर उन्हीं का वाचक है इस व्यास मत को ही सिद्धान्ततः निर्णय करते हैं।

तृतीय पाद प्रथम अधिकरण

द्वितीय पाद में आधेय रूप भगवान का प्रतिपादन किया गया अब आधार रूप से उनका प्रतिपादन करते हैं। इससे निर्णय करेंगे कि सब कुछ ब्रह्म ही है। "यस्मिन् द्यौः पृथिवी चान्तरिक्षः" इत्यादि मुण्डकोपनिषद् में द्युभूआदि के आयतन की चर्चा है, तो यह ब्रह्म की है अथवा सांख्य सम्मत प्रकृति की। पूर्वपक्ष के रूप में प्रकृति का समर्थन करते हुए परमात्मा पक्ष को सिद्धान्त रूप से निश्चित करते हैं।

द्वितीय अधिकरण

छान्दोग्य में "यो वै भूमा तत्सुखम्" से प्रारम्भ करके "यत्र नान्यत् पश्यति" इत्यादि में भूमा तत्त्व के रूप में जिस सुख बाहुल्य का वर्णन किया गया है वह सुषुप्ति रूप है अथवा ब्रह्म रूप इस पर पूर्वपक्ष का उल्लेख करते हुए सुख बाहुल्य ब्रह्म ही है ऐसा सिद्धान्त निश्चित करते हैं।

तृतीय अधिकरण

बृहदारण्यक के गार्गी ब्राह्मण में "सहोवाच" इत्यादि श्रुति में अक्षर तत्त्व का विवेचन है तो वह ब्रह्म वाचक है या किसी अन्य का है इस पर पूर्वपक्ष उल्लेख पूर्वक ब्रह्मपक्ष का समर्थन करते हैं।

चतुर्थ अधिकरण

आथर्वण प्रश्नोपनिषद के "एतद्वै सत्यकाम परंचापरं च यदोङ्कार" इत्यादि पञ्चम प्रश्न में ओंकार की एक मात्रोपासना से मनुष्य लोक की प्राप्ति द्विमात्रोपासना से सोमलोक प्राप्ति तथा त्रिमात्रोपासना से सूर्यलोक प्राप्ति और पुनरागमन का निरूपण करके अर्द्ध चतुर्थमात्रोपासना से "परमपुरुषमभिध्यायीत" इत्यादि में परमपुरुष के ध्यान की विधि कही गयी है, तो यह परमात्मा से सम्बन्धित है या विराट पुरुष या ब्रह्मा को पूर्वपक्ष के रूप में समर्थन कर परमात्मा के पक्ष को सिद्धांततः निश्चित करते हैं।

पञ्चम अधिकरण

छान्दोग्य में "यदस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरंपुण्डरीक वेश्म" इत्यादि में जिस तत्त्व के अन्वेषण की बात कही गयी है वह जीव है या परमात्मा, इस संशय पर जीव पक्ष को उपस्थित करते हुए परमात्मा पक्ष की सिद्धि करते हैं।

षष्ठ अधिकरण

मुण्डक में "न तत्र सूर्यो भाति — सर्वतस्यभामा सर्वमिदं विभाति इत्यादि कहकर जिस तेज विशेष का उल्लेख किया गया हैं वह परमात्मा ही है क्योंकि "यस्मिन् द्यौ इत्यादि" दहर वाक्य में सूर्य आदि का आधार परमात्मा को ही कहा गया है, इद वाक्य में भी उस परम तेज के समक्ष सूर्य आदि में स्वतः प्रकाश का निषेध किया है, सूर्य आदि में स्वतः प्रकाश नहीं होता भगवत् प्रकाश से ही वे प्रकाशित होते हैं।

सप्तम अधिकरण

कठवल्ली में "अंगुष्ठ मात्रः पुरुषो मध्य आत्मनितिष्ठति" कहा गया तथा छान्दोग्य में "यावान् वा आयमाकाशः" कहकर व्यापकता बतलाई गई, इससे ज्ञात होता है कि जो व्यापक है वह अंगुष्ठ मात्र में स्थित नहीं हो सकता ये दोनों भिन्न तत्त्वों के बोधक वाक्य हैं, अङ्गुष्ठ मात्र परिणाम जीव का ही है, व्यापकता ब्रह्म की। इस पर सिद्धान्त बतलाते हैं कि जीव का हृदय अंगुष्ठ परिमाण का है, उसमें ध्यान की दृष्टि से भगवान की स्थिति बतलाई गयी है फिर भगवान में विरुद्ध धर्म संभव भी हैं अतः दोनों ही वर्णन भगबान के हैं।

अष्टम अधिकरण

ब्रह्मविद्या में केवल मनुष्यों का ही अधिकार है या देवताओं आदि का भी है, इस पर पूर्व पक्ष के रूप में केवल मनुष्य के ही अधिकार की चर्चा करके सिद्धान्ततः देवताओं के अधिकार का निर्णय करते हैं। इसी अधिकरण " शब्दः इति चेन्नातः प्रभवात् प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्" इस सूत्र के व्याख्यान में समस्त वैदिक पदार्थ आदि दैविक भिन्न है" ऐसा निर्णय करते हुए "अतएव च नित्यत्वम्" सूत्र के व्याख्यान में वेद की नित्यता का प्रतिपादन करते हैं।

नवम अधिकरण

संवर्ग आदि विद्याओं में शूद्र जाति का अधिकार है या नहीं, इस पर अधिकार है, ऐसा पूर्वपक्ष बतलाते हुए, नहीं है ऐसा सिद्धान्त निश्चित करते हैं।" "स्मृतेश्च" सूत्र के व्याख्यान में शूद्र के लिए वेद श्रवण अध्ययन अर्थ-ज्ञान तीनों का निषेध करते हैं।

दशम अधिकरण

कठवल्ली में "यदि दं किञ्च जगत् सर्वं प्राणएजति" इत्यादि में प्राण की महत्ता बतलाई गई है जिससे यह प्राणोपासना का विषय प्रतीत होता है इस संशय की निवृत्ति कर इसे ब्रह्मोपासना ही सिद्ध करते हैं।

एकादश अधिकरण

छान्दोग्य में 'य एन सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात समुत्थाय पर ज्योतिर-निसंपय्य स्वेन रूपेणा मिनिष्यद्यते" जिस परं ज्योति का वर्णन है वह महाभूत ज्योति का है अथवा परमात्मा का इस संशय पर पूर्वपक्ष का निराकरण करते हुए परमात्म ज्योति की सिद्धि करते हैं।

द्वादश अधिकरण

"आकाशो वै नामरूपयोनिर्विहिता" कह कर छान्दोग्य में आकाश की महत्ता बतलाई गई तो यत भूताकाश की है अथवा परमात्मा की इस, पर पूर्वपक्ष का निराश कर परमात्मा अर्थ की निष्पत्ति करते हैं।

त्र्योदश अधिकरण

वृहदारण्यक के ज्योतिर्ब्राह्मण में " याज्ञवल्क्य कीं ज्योतिरयं पुरुषः" कहते हुये अंतमें कहते हैं "अभयं हवै ब्रह्म भवति व एवं वेद" इस पर स्व-भावतः संशय होता है कि तह वाक्य जीव का वर्णन कर रहा है। इस संदेह की सतर्क निवृति करते हुये इसे ब्रह्म वावय ही निर्णय करते हैं।

चतुर्थ पाद, प्रथम अधिकरण

काठक की श्रुति है --"महतः परमव्यक्रमव्यक्तात्पुरुशः परः" इत्यादि इस पर संशय होता कि इसमें जो महत् अव्यक्त पुरुष आदि शब्दों का उल्लेख है वह सांख्य मत प्रसिद्ध तत्वों का ही है अथवा भिन्न है। इस पर पूर्व मत का निराकरण करते हुये निश्चित करते हैं यह मत श्रुति के अपने तत्व हैं सांख्य मत सम्मत तत्व नहीं है।

द्वितीय अधिकरण

श्वेताश्वतरोपनिशद के चतुर्थ अध्याय के 'अजामेसांलोहित शुक्लकृष्णयम्' इत्यादि मंत्र में संख्यमत सम्मत अजा प्रकृति का उल्लेग है अथवा अग्नि

सूर्य सोम विद्युत आदि रूप ज्योति का है इस संशय पर पूर्व पक्ष का निराकरण कर ज्योति पक्ष को ही सिद्धान्त रूप से निश्चत करते हैं।

तृतीय अधिकरण

बृदारण्यक में "यस्मिन पञ्च पञ्च जनाः" इत्यादि में जिन पञ्च तत्वों का उल्लेख है वह पंच गुने सांख्य सम्मत पच्चीस तत्वों का है अथवा श्रुति सम्मत प्राण चक्षू श्रोत्र अन्न मन का है इस पर सांख्य पक्ष का निराकरण कर "पञ्चवृत्तीर्जनयान्तीति पञ्चजनाः प्राणादयः" ऐसी व्युत्पत्ति करते हुये श्रोत सम्मत प्राण आदि की ही सिद्धि करते हैं।

चतुर्थ अधिकरण

ब्रह्म की जगत् कारणता की प्रतिपादक श्रुतियों में परस्पर विरोध सा प्रतीत होता है अतः कपिल की कही गई प्रकृतिकारणता बोधक सांख्यस्मृति ही कीं बात मानकर श्रौत वाक्यों की संगति करनी चाहिये अथवा विप्रतिषेध परिहार पूर्वक ब्रह्मकारणन्ता बोधक श्रुतियों को स्वीकारना चाहिये इस पर कपिलोक्त स्मृति के पक्ष में प्रमाण प्रस्तुत करते हुये कहते है कि—तैत्तरीय में "एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः" आदि में आकाशादि की सृष्टि का उल्लेख है तथा छान्दोग्य में "तत्तेजोसृजते" इत्यादि में तेज आदि की सृष्टि का उल्लेख है तो कहीं "एतस्मा ज्जायेत प्राणः "इत्यादि में उक्त कथनों से भिन्न है। श्रुतियों में परस्पर विरोध है जो कि अर्थवाद मात्र है अतः कपिलोक्त मत को मानना ही समीचीन है। इस पक्ष का निराकरण करके सिद्धांत प्रस्तुत करते हैं कि भगवान अचिन्त्यअनन्त शक्ति मान हैं सृष्टि सम्बन्धी विरुद्ध बातें सुसंगत है कार्य प्रकार भेद माहात्म्य के ज्ञापक ही है, बाधक नहीं है।

पंचम अधिकरण

"सदेव सौम्येदमग्रआसीत्' 'असद्वा इदमग्र आसीत्' ऐसी परस्पर विरुद्ध श्रुतियाँ हैं। अतः संशय होता है कि ब्रह्म जगत का कारण नहीं हो सकता। इस पर सिद्धान्त निर्णय करते हैं कि ब्रह्म समस्त शब्द वाच्य है, अतः सभी श्रुतियां उनमें संगत हो जावेंगी सृष्टि सम्बन्धी जितने भी वाक्य है उनमें ब्रह्म का ही उल्लेख सही मानना समीचीन है।

षष्ठ अधिकरण

कौषीतकि ब्राह्मण के बालाकि अजातशत्रु संवाद में बालाकि ब्राह्मण ने

आदित्यादि पुरुषों में ब्रह्मत्व का उपदेश दिया तब राजा अजातु शत्रु ने प्रतिवाद करते हुये कहा कि 'यो वै वालाके एतेषां पुरुषाणां कर्त्ता यस्य चैतत्कर्म स वेदितव्यः' इस कथन पर संशय होता है कि राजा ने जिवाधिष्ठिता प्रकृति का उल्लेख किया है, या ब्रह्म का। पूर्वपक्ष तो प्रकृति को उपस्थित करता है किन्तु सिद्धांततः ब्रह्म पक्ष को ही निश्चित करते हैं।

सप्तम् अधिकरण

बृहदारणयक में याज्ञवल्क्य मैत्रेयी संवाद में याज्ञवल्कय मैत्रेयी से कहते हैं—'न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवति आत्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति' इस पर संशय होता है कि यहाँ आत्मा शब्द जीववाची है, या परमात्मवाची जीथवाची का निराकरण करते हुये, परमात्मवाची रूप में ही सिद्धांत निश्चित करते हैं।

अष्टम अधिकरण

इस अधिकरण में विचार करते हैं कि जगत की समवायिकारण प्रकृति तथा निमित्त कारण ब्रह्म हैं अथवा दोनों ही कारण ब्रह्म है, इस पक्ष का निराकरण करते हुये निश्चित करते हैं समस्त कारण ब्रह्म ही है।

द्वितीय अध्याय

प्रथम अध्याय में ब्रह्मपरक विवादास्पद वेदान्त वाक्यों में समन्वय का प्रतिपादन किया गया। अब इस अध्याय में श्रुति स्मृति के अविरोध का प्रतिपादन करेंगे। इस अध्याय में प्रथम और द्वितीय पादों की अधिकरण रचना सुस्पष्ट नहीं है किसी प्रकार उसको संकलन कर यहाँ प्रस्तुत करते हैं।

प्रथम अधिकरण

यहाँ संशय करते हैं कि प्रकृतिकारणता प्रतिपादक कपिल की स्मृति से, शुद्ध ब्रह्म कारणता प्रतिपादक श्रुतियों का समन्वय संभव है या नहीं। पूर्वपक्ष का कथन है कि कपिल स्मृति मनु आदि स्मृतियों की तरह कर्म में उपयोगी नहीं है। केवल मोक्षमार्ग में उपयोगी है अतः सांख्य का वैदिक वाक्यों से समन्वय संभय नहीं है, इस पर स्वमत कहते हैं, कि जैसे 'अहं सर्वस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा, इत्यादि शुद्ध ब्रह्म कारणता की प्रतिपादिका स्मृतियां श्रुति तत्व का ही विश्लेपण करती हैं उसी प्रकार सांख्य स्मृति से वैदिक वाक्यों का समन्वय हो सकता है। कपिलादि महर्षियों ने सांख्य आदि स्मृतियों का निर्माण शुद्ध ब्रह्मवाद के अयोग्य हीन अधिकारियों को आत्म

अनात्म विवेक द्वारा आत्मतुष्टि हो, इसी उद्देश्य से की हैं। निषिद्ध योग और सांख्य तथा अन्य शाक्त आदि मतों का फल तो नरक है अतः उनका समन्वय संभव नहीं है।

द्वितीय अधिकरण

योगस्मृति से वैदिक समन्वय का संकोच तो नहीं हो जाता इस पर पूर्वपक्ष कहता है, कि होता है, किन्तु भाष्यकार का मत है कि नहीं होता।

तृतीय अधिकरण

ब्रह्म चैतन्य है, जगत जड़ है दोनों में विलक्षणता है अतः ब्रह्म की जगत-कारणता बोधक श्रुतियों के समन्वय में बाधा होती है या नहीं इस पर पूर्वपक्ष का कथन है कि अचेतन जगत चेतन ब्रह्म से कदापि उत्पन्न नहीं हो सकता अतः समन्वय में बाधा तो है ही। इसका सतर्क उत्तर देते हुये सिद्धांत बतलाते हैं कि अचेतन गोबर इत्यादि से वृश्चिक की उत्पति तथा चेतन पुरुष से अचेतन केश नख आदि की उत्पत्ति प्रत्यक्ष देखी जाती है अतः ब्रह्म से जगदुत्पत्ति में क्या बाधा है। इसलिए वैदिक वाक्यों का समन्वय है।

चतुर्थ अधिकरण

'असद्वा इदमग्र आसीत्' इत्यादि श्रुति समन्वय में बाधक होती है या नहीं इस संशय पर पूर्वपक्ष कहता है कि उक्त श्रुति में स्पष्टतः असद् को ही जगत का कारण बतलाया गया है ! सत् ब्रह्म को तो कहा नहीं गया है अतः ब्रह्मकारणता बोधक श्रुतियों के समन्वय में बाधा तो है ही। इस पर स्वमत की पुष्टि में 'कथम् सतः सज्जायेत्' इत्यादि श्रुति को प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि पूर्वोक्त श्रुति का निषेध इस श्रुति में है अतः समन्वय में कोई बाधा नहीं है।

पञ्चम अधिकरण

जैसे सांख्यमत, वैदिकमत से अति सन्निकट है वैसे ही अन्यान्य कणाद आदि की स्मृतियाँ भी वैदिकमत से समन्वित हो सकती हैं।

षष्ठ अधिकरण

यदि जगय का समवायिकरण ब्रह्म को ही मानते हैं, तो भोग्य जो माला चन्दन आदि हैं उनमें भोक्तृत्व हो सकता है तथा भोक्ता जीव में भोग्यत्व हो

सकता है क्योंकि सब ब्रह्म ही तो है। इस संशय का समाधान करते हैं कि जैसे सुवर्ण से निर्मित कटक कुण्डल आदि सुवर्ण होते हुए भी प्रकार भिन्न हैं अर्थात् कटक कुण्ड़ल नहीं है कुण्डल कटक नहीं है वैसी ही जगत् में भी भिन्नता है, भोग्य और भोक्ता भिन्न ही हैं दोनों में परस्पर सांकर्य सम्भव नहीं है।

सप्तम अधिकरण

"वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेव सत्यम् छान्दोग्य में श्रुति "कार्य मान को मिथा वतलाया गया है। उसी प्रकरण में "सौम्येकेन मृत्पिण्डेन सर्वं-मृण्मय विज्ञातं भवति "दृष्टान्त देकर ब्रह्म को समवादि कारण रूप से सिद्ध किया गया है। यह तो प्रत्यक्ष श्रुति विरोध है। इस पूर्वपक्ष का निराकरण करते हैं कि "वाचारम्भणं" इत्यादि वाक्य में कार्य कारण की अनन्यता का प्रतिपादन किया गया है, मिथ्यात्व का प्रतिपादन नहीं किया गया है। अतः कोई विरोध नहीं है। जैसे कि संवेष्टित पर की विशेषता विस्तृत होने पर ही ज्ञात होती है वैसे हीं जगत के आविर्भाव अन्यविर्भाव को बात भी है।

अष्टम अधिकरण

ब्रह्म को जगत का कारण मानने पर एक दोष स्पष्टतः सामने आता है कि सृष्टि में अनेकानेक जीव दुखी है ब्रह्म ने ऐसा किस विचार से किया ऐसा अनहित करने पर तो वही दोषी सिद्ध होता है जबकि तुम ब्रह्म को स्वभाव से सर्वथा निर्दोष बतलाते हो। इस मत का निराकरण करते हुए तर्क प्रस्तुत करते हैं कि जैसे हीरा माणिक्य आदि सभी पार्थिव होते हुए भी बहुमूल्य होने से सामान्य पाषाण से श्रेष्ठ हैं तथा पलाश, चम्पक, नीम, चन्दन आदि वृक्षों में गुणानुसार तारतम्य है वेसे ब्रह्मा से लेकर स्थावर पर्यन्त सभी जीवों तारतम्य है, जो कि दोषावह नहीं है।

नवम अधिकरण

अकेले ब्रह्म को जगत के निर्माण में साधनान्तरों की अपेक्षा है इस पूर्णपक्ष का निराकरण कर सिद्धान्ततः ब्रह्म को जगत निर्माण में साधनान्तरों की अपेक्षा नहीं होती, ऐसा निर्णय करते हैं।

दशम अधिकरण

ब्रह्म निरीन्द्रिय है, अतः ब्रह्म का जगत कर्त्तृत्व सम्भव नहीं है इस पूर्वपक्ष

का निराकरण कर, ब्रह्म सर्वशक्तिमान है अतः वह इन्द्रियरहित होकर भी जगत का निर्माण करता है, ऐसा सिद्धान्त प्रस्तुत करते हैं।

द्वितीय अध्याय–द्वितीय पाद

प्रथम अधिकरण

सांख्यसम्मत अचेतन भूर्भुवः आदि लोकों का कारण तो है ही इस मत का निराकरण कर सिद्धान्ततः प्रधान की अक्षमता मानते हुए ब्रह्म को ही इन लोकों का कारण स्वीकारते हैं।

द्वितीय अधिकरण

केवल प्रधान जगत का कारण भले ही न हो किन्तु पुरुष के सचेष्ट होने पर तो वह हो ही सकता है। इस पूर्वपक्ष को निराकृत करते हुए उसकी असमर्थता का निर्णय करते हैं।

तृतीय अधिकरण

नैय्यायिकों के परमाणु द्वयणुक आदि से सम्भव सृष्टिवाद का निराकरण।

चतुर्थ अधिकरण

इस अधिकरण में वाह्यादि मतों का निराकरण करते हैं उनका मत है कि परमाणु समूह और रूपादिस्कन्धपंचक समुदाय ऐसे दो समुदाय हैं। रूप स्कन्ध विज्ञानस्कन्ध, वेदना स्कन्ध, संज्ञा स्कन्ध और संस्कार स्कन्ध ये पांच स्कन्ध हैं। उपर्युक्त दोनों समुदायों के सम्बन्ध से ही जीव को संसार बंधन प्राप्त होता है तथा दोनों के विघटन से मोक्ष होता है। इस मत का सतर्क खण्डन करते हुए कहते हैं कि जब ये सभी को क्षणिक मानते हैं तथा जीवमात्र को क्षणिक मानते है तब दोनों समुदायों का संगठन सम्भव ही कैसे है फिर बन्धन मोक्ष की बात भी अनर्गल है।

पञ्चम अधिकरण

अब विज्ञान वाद सम्मत प्रपञ्चअसत्यत्व मत का निराकरण करते हैं। विज्ञान के अतिरिक्त प्रपञ्च का अस्तित्व है या नहीं इस संशय पर पूर्वपक्ष अतिरिक्त अस्तित्व को नकारता है, सिद्धान्तः उसके अस्तित्व को स्वीकारते हैं।

षष्ठ अधिकरण

अब जैन धर्म का निराकरण करते हैं—उनके मत में जीव और अजीव दो

पदार्थ हैं, जीव चेतन है और अजीव-मही महीधर, आस्रव, संवर, निर्जर, बन्ध और मोक्ष आदि छः प्रकार के हैं। इस प्रकार कुल सात पदार्थ हैं, जो कि स्यादास्ति, स्यान्नास्ति स्यादास्ति च नास्ति च, स्यादवक्तव्यः, स्यादस्ति चावक्तव्यश्च, स्यान्नास्ति-चावक्तव्यश्च, स्यादास्ति च नास्ति चावक्तव्यः इयादि सप्तभङ्गीन्याय से साध्य है। उनके कथनानुसार जीवादि प्रत्येक पदार्थ में यह सप्तभङ्गीन्याय लागू होता है। इस मत का निराकरण करते हैं।

सप्तम अधिकरण

तार्किक मत सिद्ध जीवभिन्न ईश्वरवाद का खण्डन कर अद्वैत मत को सिद्धान्तः निश्चित करते हैं।

अष्टम अधिकरण

पाँचरात्र भागवत मत में जो वासुदेव से संकर्पण नामक जीव, संकर्षण से प्रद्युम्न नामक मन तथा प्रद्युम्न से अनिरुद्ध नामक अहंकार की उत्पत्ति मानी गई है उसको सिद्धान्तः असंगत कहते हैं।

तृतीतपाद

इस पाद में श्रुतिवाक्यों में जो परस्पर विरोध प्रतीत होता है उसका परिहार करते हैं।

प्रथम अधिकरण

आकाश उत्पन्न होता है या नहीं ? पूर्वपक्ष उत्पत्ति नहीं मानता, सिद्धान्तः उत्पत्ति स्वीकारते हैं।

द्वितीय अधिकरण

वायु की उत्पत्ति होती है या नही ? पूर्वपक्ष के अनुत्पत्तिवाद का निराकरण कर सिद्धान्ततः उत्पत्ति की स्वीकृति।

तृतीय अधिकरण

सत् स्वरूप ब्रह्म से उत्पत्ति का समर्थन।

चतुर्थ अधिकरण

तेज, साक्षात् ब्रह्म से उत्पन्न होता है या वायु से होता है ? साक्षात् ब्रह्म से होता है इस पूर्वपक्ष का निराकरण कर, वायुभावापन्न ब्रह्म तेज का जनक है ऐसा सिद्धान्त निर्णय करते हैं।

पंचम अधिकरण

जलकी सृष्टि साक्षात् ब्रह्म से होती है या तेज से ! साक्षात् ब्रह्म जन्यता के पक्ष का निराकरण कर तेजोमावापन्न ब्रह्म से ही जल सृष्टि का समर्थन।

षष्ठ अधिकरण

छान्दोग्य में "ता अन्नमसृजन्ते" इत्यादि में अन्न की सृष्टि बतलाई गई है, यह अन्न शब्द लोक प्रसिद्ध चावल-गेहूँ आदि का बाचक है या पृथ्वी का ? इस पर पूर्वपक्ष का निराकरण कर अन्न शब्द की पृथिवीवाचकता का समर्थन।

सप्तम अधिकरण

तैत्तरीय में "आकाशाद् वायुः" इत्यादि में जो उत्पत्ति का उल्लेख किया गया है वह, इनकी स्वतंत्र सृष्टिता का है अथवा ब्रह्माधीन सृष्टिता का ? पूर्व-पक्ष का निराकरण कर इनकी ब्रह्माधीन सृष्टिता का समर्थन करते है।

अष्टम अधिकरण

सृष्टि क्रम से ही प्रलय होती है या विपरीत क्रम से ? इस पर पूर्वपक्ष का निराकरण कर सृष्टि विपरीत पृथिव्यादि क्रम से प्रलय सिद्धान्त का निर्द्धारण।

नवम अधिकरण

तैत्तरीय में आकाशादि से अन्न तक उत्पत्ति का वर्णन कर अन्नमय आदि का निरूपण किया गया है उस प्रसंग में अन्नमय और प्राणमय की सामग्री की उत्पत्ति पूर्व में ही कही है। आनन्दमय तो परमात्मा ही है बीच में विज्ञान-मनसी की उपस्थित बतलाई गई है तो ये दोनों तत्त्व उत्पन्न होते हैं या आनन्द-मय की तरह अज ही है इस पर पूर्वपक्ष उत्पत्ति मानता है। इसका निराकरण सिद्धान्त रूप से निश्चित करते हैं कि विज्ञानमय तो जीव ही हैं तथा मनोमय ज्ञान स्वरूप है अतः दोनों भूत भौतिकवर्ग में नहीं आते इसलिए उनकी उत्पत्ति की बात असंगत है।

दशम अधिकरण

जीव का जन्म होता है या नहीं इस पर जीवोत्पत्तिवाद का निराकरण कर जीव के जन्म राहित्य मत को सिद्धान्ततः स्वीकारते है।

एकादश अधिकरण

जीव स्वरूपतः चैतन्य है, या नहीं ? इस संशय पर जीव की चैतन्य स्वरूपता का प्रतिपादन । प्रसङ्गतः माध्यमिक शाङ्करमत का निराकरण ।

द्वादश अधिकरण

जीव, अणु है या विभु ? इस पर विभु पक्ष का निराकरण कर जीव के अणुत्व की सिद्धान्ततः स्वीकृति ।

त्र्योदश अधिकरण

जीव के कर्त्तृत्व का निर्णय

चतुर्दश अधिकरण

जीव का कर्त्तृत्व स्वतंत्र है या ब्रह्माधीन है ? पूर्वपक्ष का निराकरण कर जीव के ब्रह्माधीन कर्त्तृत्व का निर्णय ।

पञ्चदश अधिकरण

जीव भगवान का अंश है या नहीं ? पूर्वपक्ष निराकरण पूर्वक जीव की भगवदंशता का समर्थन ।

चतुर्थ अध्याय

प्रथम अधिकरण

इन्द्रियवाची प्राण नित्य है या अनित्य ? अनित्य पक्ष निराकरण पूर्वक जीव की तरह प्राण की नित्यता का समर्थन ।

द्वितीय अधिकरण

प्राण शब्द वाच्य इन्द्रियाँ सात हैं या ग्यारह ? सात पक्ष का निराकरण करके ग्यारह इन्द्रियों का निर्णय ।

तृतीय अधिकरण

समस्त प्राण व्यापक हैं या अणु ? इस संशय पर व्यापकत्व का निरास करते हुए प्राणों के अणुत्व का समर्थन ।

चतुर्थ अधिकरण

मुख्य प्राण नित्य है या अनित्य ? अनित्यता के पक्ष का निराकरण कर प्राण की नित्यता, अणुपरिमाणता और गतिमानता का निर्णय ।

पञ्चम अधिकरण

मुख्य प्राण स्वतन्त्र है या परतन्त्र ? स्वतन्त्र पक्ष का निरास कर सिद्धान्ततः प्राण की परमात्माधीनता और व्यवहार रूप से जीवाधीनता की स्वीकृति ।

षष्ठ अधिकरण

वागादि इन्द्रियों की प्रवृत्ति स्वतः होती है या देवताधिष्ठित ? इस संशय पर स्वतः प्रवृत्ति का निराकरण कर देवताधिष्ठित प्रवृत्ति का समर्थन ।

सप्तम अधिकरण

अग्नि आदि का जो वागाद्यधिष्ठातृत्व है, वह स्वतंत्र या अग्नि सहित है ? स्वतन्त्र पक्ष का निराकरण कर प्राण साहचर्यपक्ष का समर्थन ।

अष्टम अधिकरण

इन्द्रियाँ, प्राण की वृत्तिरूप हैं अथवा भिन्न तत्व हैं ? इस संशय पर पूर्वपक्ष का निराकरण कर इन्द्रियों का भिन्न तत्त्व के रूप में निरूपण ।

नवम अधिकरण

नाम रूप प्रपञ्च का कर्त्ता जीव है या परमात्मा ? इस संशय पर जीव पक्ष का निरास कर परमात्मा पक्ष का समर्थन ।

दशम अधिकरण

"अन्नमयं हि सौम्य मनः आपोमयः प्राणस्तेजोमयी वाक्" तथा "एतस्मा- ज्जायते प्राणो मन; सर्वेन्द्रियाणि च" श्रुतियों में किए गए विप्रधिषेध से संशय होता है कि वाक् प्राण और मन भौतिक हैं अथवा स्वतन्त्र ? इस पर भौतिक पक्ष का निरास कर स्वतन्त्र पक्ष को सिद्धान्ततः स्वीकारते हैं निर्णय करते हैं कि अन्नादि के द्वारा मन आदि भली-भाँति अपने कार्य को करने में समर्थ होते हैं न कि अन्नमय हो जाते हैं ।

प्रथम अधिकरण

जीव की ब्रह्मज्ञानोपयोगी शरीर की निष्पत्ति के लिए जो गति होती है

वह केवल होती है या संस्कृत भूतों के साथ होती है ? इस संशय पर केवल पक्ष का निराकरण कर संस्कृत भूत समुदाय के साहचर्य पक्ष को सिद्धान्ततः निर्णय करते हैं । तथा निश्चित करते हैं कि निष्काम यज्ञ करने वाले स्वर्ग जाकर यज्ञ के अवान्तर फल को भोगकर पञ्चाग्नि विद्या के प्रकार से मोक्षोपयोगी देह को प्राप्त करते हैं । पञ्चाग्नि विद्या का प्रकार छान्दोग्य में इस प्रकार वर्णित है "प्रथम श्रद्धा की आहुति अग्नि में, द्वितीय धूम की आहुति आकाश में, तृतीय मेघ की आहुति पृथिवी में, चतुर्थ अन्न की आहुति पुरुष के मुख में, पञ्चम् वीर्य की आहुति स्त्री योनि में होने पर अन्ततः जीव मानव शरीर के रूप में प्रकट होता है ।" इस पंचाग्नि विद्या के प्रकार से जो जीव की गति होती है वह केवल नहीं होती अपितु संस्कृत भूत समुदाय के साथ होती है ।

द्वितीय अधिकरण

जीव स्वर्ग जाकर वहाँ यज्ञ के अवान्तर फल को भोगकर जब लौटता है तब उसके भोग्य फल कुछ अवशिष्ट भी रहते हैं या समाप्त हो जाते हैं ? इसपर अवशिष्ट पक्ष को सिद्धान्ततः स्वीकारते हैं ।

तृतीय अधिकरण

पापी और पुण्यात्मा दोनों को ही आहुति संबंध से सोमभाव प्राप्त होता है या किन्हीं पुण्यात्मा को ही प्राप्त होता है ? इस पर पूर्वपक्ष का कथन है कि दोनों को ही सोमभाव की प्राप्ति होती है सिद्धान्तः निर्णय करते हैं कि—पापियों को यमलोक की प्राप्ति होती है तथा किन्हीं पुण्यात्माओं को ही सोमभाव की प्राप्ति होती है ।

चतुर्थ अधिकरण

अर्चिरादिमार्ग और धूमादिमार्ग के अतिरिक्त तीसरा यम मार्ग भी है या नहीं ? इस पर विपरीत पक्ष का निराकरण कर सिद्धान्ततः यम मार्ग के अस्तित्व की स्वीकृति ।

पञ्चम अधिकरण

"वृष्टेरन्नं भवति" यह बात असंगत है या संगत ? इस संशय पर पूर्वपक्ष का विरोध कर उक्त कथन को सुसंगत प्रमाणित करते हैं ।

षष्ठ अधिकरण

अन्न से वीर्य बनता है या नही ? इस संशय पर विरुद्ध मत के निराकरण पूर्वक वीर्य भाव की स्वीकृति ।

सप्तम अधिकरण

पुरुष द्वारा वीर्य का सिञ्चन होने पर ही स्त्री योनि से संतान होती है अथवा स्वतः होती है ? इस संशय पर पुरुष-स्त्री साहचर्य मत की पुष्टि ।

अष्टम अधिकरण

"तस्या आहुतेर्गर्भः सम्भवति" वाक्य में जो वीर्य की आहुति से गर्भ होने की बात कही गई है, तो क्या योनि के अन्दर वीर्य के स्थित हो जाने पर गर्भ संज्ञा होती है अथवा भीतर के शरीर के रूप में बाहर आने पर गर्भ संज्ञा होती है ? इस पर पूर्वपक्ष योनिस्थित को गर्भ कहता है, भाष्यकार उसका खण्डन कर योनि से बाहर शरीर रूप से प्राप्त वस्तु को माता से परिपालित होने से गर्भ संज्ञक सिद्ध करते हैं योनि में तो उसकी कलिल, बुद्बुद् कर्कन्धु आदि संज्ञायें होती है ।

द्वितीय पाद

प्रथम अधिकरण

स्वप्नसृष्टि सत्य है या मायामात्र ? पूर्वपक्ष वाले सत्य कहते हैं । भाष्यकार सतर्क उसे मायामात्र सिद्ध करते हैं ।

द्वितीय अधिकरण

सुशुप्ति में प्रपञ्चनिर्माण रहता हैं नहीं ? इस संशय पर अस्तित्व पक्ष का खण्डन कर अभाव पक्ष का सिद्धान्ततः समर्थन ।

तृतीय अधिकरण

सुशुप्ति दो प्रकार की है, एक तो जीव का किसी नाड़ी विशेष में प्रवेश और दूसरी अन्तस्थ परमात्मा के समीप जीव का गमन । इस संबंध में संशय किया गया कि जीव नाड़ी विशेष या भगवत् समीप से लौट कर जागता है या, उसी स्थान में जाग जाता है ? इस पर लौटकर जागने के पक्ष का निराकरण कर उस स्थान पर ही जागने की बात की सिद्धान्ततः स्वीकारते हैं ।

चतुर्थ अधिकरण

अब विषय निर्धारण के लिए ब्रह्म स्वरूप पर विचार करते हैं। सर्वप्रथम परस्पर विरुद्ध वाक्यों का निर्णय करते हैं अविरुद्ध स्वगत धर्मो का अग्रिमपाद में विचार करेंगे। जड़ जीव के धर्म के रूप में प्रतीयमान धर्मों का विचार यहां करते हैं। किसी श्रुति में जड़जीव धर्मों का उल्लेख है तो कहीं उनका निषेध है। इस पर कोई भाष्यकार प्रकारान्तर से विरोध का परिहार करते हैं। उनके मत को पूर्वपक्ष के रूप में प्रस्तुत कर भाष्यकार उनकी भूल को उपस्थित करते हुए निश्चित करते है कि—स्थान भेद से ब्रह्म का उभय धर्मत्व संभव नहीं है।

पञ्चम अधिकरण

जड़ जीव धर्म परमात्मा में हैं या नहीं ? इस संशय पर पूर्वपक्ष जड़जीव धर्म का अस्तित्व ब्रह्म में मानता है, उसका खण्डनकर कोई उनके अस्तित्व को नकारता है।

षष्ठ अधिकरण

भाष्यकार उपर्युक्त एकदेशीय मत को दूषित बतलाते हुए सिद्धान्त प्रस्तुत करते हैं कि—जड़जीव धर्म ब्रह्म में औपाधिक या औपचारिक नहीं है' अपितु स्वाभाविक ही है क्योंकि—ब्रह्म विरुद्ध धर्मों का आश्रय है।

सप्तम अधिकरण

"न चक्षुषा गृह्यते"कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षत", नापिवाचा "सर्वे वेदा सत्पदमामनन्ति "अप्राप्य मनसा सह" मनसैवैतदाप्तव्यं" "अस्पर्शमगन्धमरसम् सर्वरूपः सर्वगन्धः सर्वरसः", इत्यादि सर्वथा विरुद्ध स्वरूपावबोधक वाक्यों में एक प्रकार के वाक्यों को ब्रह्म के स्वरूप का अवबोधक माना जाय या दोनों प्रकार के वाक्यों को ? पूर्वपक्ष कहता है कि एक ही प्रकार के वाक्यों को माना जाय दूसरे प्रकार के वाक्यों को औपचारिक माना जाय। इस मत का निरास कर दोनों प्रकार के वाक्यों को प्रामाणिक मानने के पक्ष को सिद्धान्ततः प्रस्तुत करते हैं।

अष्टम अधिकरण

इस अधिकरण में भी पूर्वोक्त कथन को प्रकारान्त से पुष्टि करते हैं।

नवम अधिकरण

ब्रह्म के धर्म, ब्रह्म से भिन्न कार्यरूप हैं अथवा ब्रह्म में ही रहते हैं ? इस संशय पर पूर्वपक्ष कहता है कि ब्रह्म के धर्म, प्रपञ्चात्मक जगत की तरह कार्य-रूप हैं। इस पक्ष का खण्डन कर ब्राह्म धर्मों को स्वरूपभूत निर्णय करते हैं।

दशम अधिकरण

ब्रह्म के सकाश से कोई और उत्कृष्ट फलावाप्ति होती है क्या ? इस संशय पर परमत का निराकरण कर ब्रह्म के सकाश से ब्रह्म की ही फलरूप से प्राप्ति होती है इस सिद्धान्त कर स्थापन।

ऐकादश अधिकरण

फलदाता, भगवान हैं या कोई अन्य देवता है या जीव का अपना कर्म ही फल देता है ? इस संशय पर अन्य देव आदि का निरास कर भगवान के फल-दाइत्व को ही सिद्धान्ततः स्वीकारते हैं।

तृतीय पाद

प्रथम अधिकरण

अब ब्रह्मगत धर्मों पर विचार करते हैं। यदि वे समस्त धर्म एक ही वाक्य में होते तो विचारणीय नहीं थे किन्तु वे भिन्न-भिन्न उपासना प्रकरणो में कहीं एक से और कहीं भिन्न रूप से दिखलाए गए हैं, जैसे कि—पञ्चाग्नि विद्या में उन्हें छठे अग्नि के रूप में "तस्यांग्नेरिवाग्नि" कहा गया है। छान्दोग्य में उन्हें पाँचो अग्नि में ही स्वीकारा गया है। प्राण संवाद में चार प्राणों से भिन्न मुख्य प्राण रूप से बतलाया गया है अथर्वोपनिषद् में गोकुल वृन्दावनचारी गोपाल के रूप में उनका वर्णन है कहीं धनुर्धारी राम के रूप में वर्णन है, कहीं नृसिह और वामन रूप का वर्णन है। इस पर विचार करते हैं कि उपासना भेद से इनमें ब्रह्म से भेद है अथवा अभेद इस पर भेद पक्ष का निराकरण का अभेद पक्ष का सिद्धांततः विवेचन करते हैं। कहते हैं कि ब्रह्म के अनन्त रूप हैं, जिस रूप को जिस जीव में उपासना करने की क्षमता है तदनुरूप ही वेदों में विभिन्न प्रकार की उपासनाओं का निरूपण किया गया है। जैसे कि एक ही अग्निष्टोम यज्ञ की शाखा भेद से विभिन्न विधायें बतलाई गई हैं।

द्वितीय अधिकरण

अन्नमय आदि में आनन्दमय का जीवत्व है या ब्रह्मत्व ? इस पर जीवत्व पक्ष का निरास कर ब्रह्मत्व पक्ष का समर्थन।

तृतीय अधिकरण

तैत्तरीयक में—महाभूत की सृष्टि का वर्णन कर" पृथिव्या ओषधय:" इत्यादि में ओषधि आदि की उत्पत्ति का उल्लेख करते हुए अन्त में कहा गया "येऽन्नं ब्रह्मोपास्ते" तो यह उसी वाक्य में पूर्वोक्त अन्नरसमय पुरुष की उपासना का उपदेश है या उससे भिन्न पुरुष की उपासना का है ? इस पर पूर्वपक्ष उसी पुरुष की उपासना को मानता है, भाष्यकार इसका निराकरण करते हुए कहते हैं कि प्रथम जिस पुरुष का उल्लेख है वह आधिभौतिक है, दुबारा जिसकी उपासना की चर्चा की गई है, वह आध्यात्मिक है।

चतुर्थ अधिकरण

इसी प्रकार तैत्तरीय में "सहस्र शीर्षा पुरुष:" इत्यादि में पुरुष विद्या का निरूपण किया गया है, वहीं "ब्रह्मविदाप्नोति परम्" इत्यादि प्रपाठक में "स वा एष पुरुषोऽन्नमय: से प्रारम्भ कर प्राणमय से लेकर आनन्दमय तक ब्रह्मस्वरूप का निरूपण किया गया है। इस पर विचार करते हैं कि ये भिन्न-भिन्न विद्यायें हैं या एक ही है ?

एकत्वेन इनका उपसंहार सम्भव है या नहीं ? पूर्वपक्ष तो इनको भिन्न विद्या मानकर उपसंहार को नहीं स्वीकारता, इस पक्ष का निराकरण करते हुए कहते हैं कि — "सहस्रशीर्षा पुरुष: "में उल्लेख्य पुरुष पद ब्रह्म का वाचक है तथा अन्नमयादि से विज्ञानमय तक जिस पुरुष का उल्लेख है वह विभूति परक हैं उत्तम अधिकारियों को पूर्व पुरुषपद वाची ब्रह्म की उपासना करनी चाहिए विभूतिरूप की नहीं करनी चाहिए यही भाव समस्त प्रकरण का तात्पर्य है, विद्याभिन्न नहीं है अंतः उपसंहार सम्भव है।

पंचम अधिकरण

आथर्वणिक मुण्डकोपनिषद के "तदा विद्वान पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्युपैति" इत्यादि वाक्य में परमपद शब्द ब्रह्म परक है, यहाँ संशय किया जाता है कि इस वाक्य में जो जीव की ब्रह्म से समता प्राप्त करने की चर्चा है तो वह जीव ब्रह्म के सभी गुणों की समता प्राप्त करता है या कुछ गुणौ की ? पूर्वपक्ष सभी गुणों की समता मानता है, सिद्धान्ततः कुछी धर्मों की समता स्वीकारते हैं। भाष्यकार का कथन है कि जीव के जो आनन्द ऐश्वर्य आदि धर्म भगवदिच्छा से तिरोहित थे, ब्रह्मसम्बन्ध से उन्हीं धर्मों की समता प्राप्त करता हैं।

षष्ठ अधिकरण

वाजसनेमी शाख में "स एष नेति नेति" ऐसा उपकम करते हुए "सर्व-पाप्मानंतरति" इत्यादि में पापतरणादिरूप भगवत्माहात्म्य बतलाया गया क्यों कि ज्ञान संसार की मुक्ति का हेतु है। उधर अथर्वणोषनिषद में "परब्रह्मैतद्यो धारियति" से प्रारम्भ करके "भजति सोमृतो भवति" इत्यादि में भक्ति को मुक्ति का हेतु बतलाया गया। इस सम्बन्ध में संशय केबल इतना ही है कि—"स एवं वेद स पाप्मानं तरति" वाक्य से सूचित हो रहा है कि ज्ञानदशा में भी पाप का अस्तित्व रहता है तभी तो पाप से तरने की बात कही गई, क्या भक्ति दशा में भी यही स्थिति रहती है या नहीं ? पूर्वपक्ष रूप से भक्ति दशा में भी पाप के अस्तित्व का समर्थन करते हुए सिद्धान्त रुप से निश्चित करते हैं कि—ज्ञान मार्ग में अक्षर ब्रह्म की प्राप्ति होती है तथा भक्ति मार्ग पुरुषोत्तम ब्रह्म की प्राप्ति कराता है, अतः भक्ति के पूर्व ही पाप का नाश हो जाता है। पूर्वपक्ष इस पर तर्क प्रस्तुत करता है कि—भक्तिमार्ग में भी गोपियों के लिए जो भागवत में "दु:सह प्रेष्ठ विरह तीव्रताप धुता शुभाः ध्यान प्राप्याच्युताश्लेष निवृत्या क्षीणमंगलाः" इत्यादि में दुष्कृत सुकृत के नाश की चर्चा की गई उससे तो तुम्हारी बात कट जाती है। इसका उत्तर "छन्दत उभय विरोधात्" सूत्र देते हुए कहते हैं कि—भक्ति के पूर्व ही औत्सर्गिक पापनाश हो जाता है, कभी विशेष इच्छा से भी पाप का अपनुदन होता है, उक्त प्रसंग में इच्छा विशेष का ही उल्लेख है। चिकीर्षित लीला के मध्य में जो भक्त आजाते हैं वे न तो औपाधिक स्नेह वाले होते है न सगुण होते हैं न सुकृत आदि उनमें होते हैं इसी भाव को बतलाते हुए उक्त प्रसंग में बतलाया गया कि कुछ गोपियाँ लीला से विपरीत धर्मवाली होकर लीला में उपस्थित होना चाहती थीं जो कि लीला में प्रतिबन्धक था उन्होंने स्वतः ही विपरीत भाव का नाश कर लीला में उपस्थित होने योग्य अपने को बना लिया। अतः भक्ति मार्ग में ऐसा होता है ऐसा सार्वत्रिक मत स्थिर नहीं किया जा सकता। यदि कोई मंत्र से अग्नि का दाहिका शक्ति को प्रतिबद्ध करदे तो अग्नि में दाहिका शक्ति है ही नहीं ऐसा सार्वत्रिक नियम तो स्वीकारा नहीं जा सकता।

सप्तम अधिकरण

"सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म यो वेदनिहितं गुहायां परमे—व्योमन्" "तमेव-विद्वानमृत इह भवति नान्यः पन्था विद्यतेयनाय" इत्यादि श्रुति ब्रह्मज्ञान होने

पर ही मोक्ष बतलाती है । "यमेवैण वृणुते तेन लभ्यः" इत्यादि श्रुति, आत्मीय मानकर भगवान जीव को अंगीकार कर उसको प्राप्त हो जाते हैं, ऐसा भक्ति मार्ग का समर्थन करती है । "भक्त्यान्नमभिजानाति" ततो मां तत्वतो ज्ञात्वा"[1] इत्यादि भगवद्वाक्य भी भक्तिमार्ग में पुरुषोत्तम ज्ञान से मोक्ष होने की बात की पुष्टि करता है । ज्ञान मार्ग में अक्षर ज्ञान की विशेषता है । "तस्मान्मद्भक्ति-युक्तस्य योगिनो वै मदात्मनः न ज्ञानं न च वैराग्यं" इत्यादि में भक्तिमार्गीय भक्त के लिए ज्ञान की निरपेक्षता बतलाई गई है । इस प्रकार श्रुतिस्मृति के विरुद्ध भाव से तत्व निर्द्धारण दुष्कर हो जाता है । दूसरी बात है कि—मत्कामा रमणांजारम्" इत्यादि में ज्ञान रहित ज्ञानमार्गीय भक्तिमार्गीय दोनों की भगवत् प्राप्ति कही गई है जो कि—भगवत्प्राप्ति के साधनों को निरूपण करने वाली श्रुतियों से विरुद्ध प्रतीत होता है । कहीं ज्ञान को मुक्ति का साधन कहा गया है कहीं भक्ति को, दोनों को एक साथ कहीं भी मुक्ति का साधन कहीं नहीं कहा गया है, अतः मुमुक्षु साधक संशयालु होकर किसी ओर भी प्रवृत्त नहीं हो पाता । इसका समाधान "गतेरर्थवत्वमुभयथान्यथा हि विरोधः" सूत्र के अनुसार करते है कि—ज्ञान और भक्ति दोनों से मुक्ति मर्यादा है, उनसे रहित जीवों को भगवान स्वरूप बल से अपनी प्राप्ति करा देते हैं इसे ही पुष्टि कहा गया है । जो जीव जिस मार्ग को अंगीकार करता है उसको उसी में प्रवृत्त कर भगवान उसे तदनुरूप फल देते हैं इस सिद्धान्त को स्वीकारने से उक्त समस्त विरोधों का समाधान हो जाता है । जो जीव मुक्ति की इच्छा से मर्यादा मार्ग को स्वीकारते हैं उनकी श्रवण कीर्त्तन आदि में प्रवृत्ति होती है, इस मार्ग में श्रवणादि द्वारा पापक्षय होने पर प्रेमोत्पत्ति होती है तब मुक्ति होती है । पुष्टिमार्ग में भगवान भक्त को अंगीकार कर लेते हैं मुक्ति भगवत् अनुग्रह साध्य होती है इसलिए पाप आदि प्रतिबन्धक नहीं होते । इस मार्ग में श्रवण आदि भी भगवत् स्नेह की प्राप्ति की दृष्टि से किये जाते हैं विधिरूप से नहीं किए जाते अतः पाप पुष्टि-मार्ग के प्रतिबन्धक नहीं हैं । इस तथ्य की पुष्टि "स्वपादमूलं भजतः प्रियस्य' इत्यादि में की गई है ।

अष्टम अधिकरण

मर्यादा मार्गीय जीवों का सर्वत्र मुक्ति ही का उल्लेख है जब कि पुष्टि मार्गीय जीवों के लिए पुरुषोत्तम प्राप्ति ही फल बतलाया गया है इस पर संशय होता है कि श्रौत मर्यादा और भगवत्सम्बन्ध इन दोनों मार्गों का समान रूप

से महत्व है किसको श्रेष्ठ माना जाय ? इस पर सिद्धान्त स्थिर करते हैं कि—मुमुक्षुओं से इस रहस्य को जानकर भजन करने वाला ही श्रेष्ठ है।

नवम अधिकरण

आथर्वण गोपाल तापनी उपनिषद में आया है कि—"परब्रह्म तद्यो धारयति रसति, भजति, ध्यायते प्रेमति शृणोति श्रावयति उपदिशत्याचरति सोमृतो भवति" इसपर संशय होता है कि ये सारे साधन अलग अलग अमृतोत्पादक हैं या सब मिलकर हैं ? पूर्वपक्ष समस्त को समवेत रूप से अमृतोत्पादक मानता है, सिद्धान्ततः एक एक को अमृतोत्पादक निश्चित करते हैं।

दशम अधिकरण

जिस जीव में जिस कार्य के साधन का अधिकार भगवान ने दिया है वह जीव उसी कार्य साधन की क्षमता रखता है, उन साधनों में जो धर्म भगवान ने स्थापित (निश्चित) किए हैं वे ही अधिकृत रूप से जीव के आयत्त हैं। इसपर संशय होता है कि—

उन धर्मों से मुक्ति होती है या नहीं ? पूर्वपक्ष कहता है कि होती है सिद्धान्त निर्णय करते हैं कि वे अधिकृति नियम मुक्ति साधक नही हैं अपितु उन नियमों के भक्तिपूर्वक अनुष्ठान से ही मुक्ति होती है।

एकादश अधिकरण

"अक्षरधियां त्वविरोधः "इत्यादि सूत्र पर विचार करते हैं कि गोपाल तापनी के उक्त वचन में भगवद्धर्मों को मुक्ति साधक बतलाया गया है जब कि "तमेवविदित्वा" इत्यादि उपनिषद् में ज्ञान को ही मुक्ति का साधन कहा गया है। श्रुतियाँ दोनों ही समान हैं किसको प्रधान माने ? पूर्वपक्ष वाले कहते हैं कि "भक्त्माभिजानाति" इत्यादि में भक्तिमार्ग में ज्ञान की विशेषता बतलाई गई है अतः ज्ञान से ही मुक्ति होती है ऐसा ही मानना ठीक है। इस ज्ञान को साधना बतलाने वाली श्रुति का तात्पर्य बतलाते हुए पुरुषोद्यम प्राप्ति को ही मुक्ति निश्चित करते हुए भजन को ही उसकी प्राप्ति का साधन निश्चय करते हैं। ज्ञानमार्गीय को अक्षर ब्रह्म की प्राप्ति होती है भक्तिमार्गीय को पुरुषोत्तम की प्राप्ति होती है इन दोनों में विलक्षणता है। उनमें भी जो मर्यादाभक्ति के

मार्गीय है उन्हें पुरुषोत्तम सायुज्य मिलता है तथा जो पुष्टिस्थ हैं उन्हें भजनानन्द का अनुभव प्राप्त होता है।

द्वादश अधिकरण

ज्ञानमार्ग में जैसे आत्मत्व रूप से ब्रह्म ज्ञान होता है, क्या भक्तिमार्ग में भी भक्ति से जो पुरुषोत्तम प्राप्ति होती है वह आत्मत्व रूप से ही होती है? पूर्वपक्ष आत्मत्व रूप से कहता है सिद्धान्ततः इस पक्ष को अस्वीकारते हुए कहते हैं कि भक्तिमार्ग में आत्मत्व रूप से नहीं होती। ज्ञान भजनानन्द का अन्तराय रूप है, ज्ञान से संभाव्य जो आत्मत्वानुभूति होती है वह भी पुरुषोत्तम प्राप्ति में अन्तराय है अतः भगवान उसे नहीं होने देते।

त्र्योदश अधिकरण

भक्त जीवों के लिए शम दम आदि साधन विधेय हैं या नहीं? इस पर विधेय पक्ष का निराकरण करते हुए कहते कि विधेय नहीं हैं क्योंकि भक्ति ही सत्य आदि समस्त साधनारूपा है। मुमुक्षु ज्ञानमार्गीय इन साधनों को बड़े कष्ट से साधते हैं जो कि भक्त के हृदय में भगवत्प्रादुर्भाव हो जाने से स्वतः सध जाते हैं। भगवद्भक्ति विषयक काम आदि भी मुक्ति साधक होते हैं, घर में ही भगवत्सेवा करने वाले गृही भक्तों की भी मुक्ति हो जाती है।

चतुर्दश अधिकरण

नित्यपालनीय वर्णाश्रम धर्म और भगवद्धर्म दोनों का एक साथ पालन सम्भव नहीं है इनमें से किसी एक का त्याग कर देना उचित है या नहीं? इस पर पूर्वपक्ष का कथन है कि वर्णाश्रम धर्म तो नित्य पालनीय धर्म हैं उनके त्याग तो प्रश्न ही नहीं उठता उनके न करने से तो शास्त्रों में प्रत्यवाय बतलाया गया है। भगवद्धर्म साधक की क्षमता पर निर्भर हैं. अतः दोनों के पालन में कठिनाई होने पर भगवद्धर्मों का त्याग ही स्वाभाविक है। इस पर सिद्धान्त निश्चित करते हैं कि "तावत्कर्माणिकुर्वीत" इत्यादि श्रुति में, वर्णाश्रमधर्मों से अधिक भगवद्धर्म का महत्व दिखलाया गया है। दोनों के पालन का जब एक कालिक अवसर हो तो बलाबल का विचार कर पहिले भगवद्धर्मों के पालन का प्रयास करना चाहिए फिर अवकाश मिलने पर वर्णाश्रम धर्मों का पालन करना चाहिए।

पञ्चदश अधिकरण

पुरुषोत्तम के ज्ञाता के लिए कोई कर्त्तव्य कार्य शेष रहता या नहीं? पूर्वपक्ष

कहता है कि नहीं रहता । सिद्धान्ततः यथाधिकार कर्त्तव्य की अर्हता स्वीकारते हैं । भक्तिमार्ग में मर्यादा और पुष्टि दो भेद हैं । पुष्ट भक्तों की यह धारणा होती है कि मेरे कर्म करने में प्रभु की इच्छा ही श्रेष्ठ है, वह जो निश्चित करते है, उन्हीं को कराते हैं, उनकी जिस कर्म को करानी की इच्छा नहीं होती, उसका निर्धारण नहीं करते अतः वह उन्हें नहीं करता, जैसे कि जड़ वस्तु चेतन की इच्छा से प्रवृत्त होती है । इस स्थिति में प्रभु इच्छा का ज्ञान होने में यदि संदेह हो तो कर्म करना कर्त्तव्य है । वैसे पुष्टि मार्गीय भक्त के लिए वेद मार्ग की रक्षा और लोक संग्रह के लिए भी कार्य करना चाहिए । मर्यादा मार्गीय मध्यम अधिकारी है अतः उसमें जो कामसंगादिजनित की मलिनना होती है जो कि भगवत् सानिध्य प्राप्ति की प्रतिबन्धक है उसे हटाने के लिये शास्त्र विहित कर्म लाभदायी हैं ।

षोडश अधिकरण

भक्ति में जब सर्वात्मभाव हो, तब विहित कार्य और ज्ञान भक्तिसाध्य हैं या नहीं ? पूर्वपक्ष कहता है कि हैं, सिद्धान्त निश्चित करते हैं कि नहीं हैं । क्योंकि इस स्थिति में भगवान उसका वरणकर लेते हैं ।

सप्तदश अधिकरण

कहते हैं कि काल अदृष्ट आदि प्रतिबन्धकों के रहते क्या सर्वात्मभाव संभव है । प्रतिबन्धकों की निवृत्ति होने पर ही सर्वात्मभाव होता है ऐसा पूर्वपक्ष है । इस पर सिद्धान्त निश्चित करते हैं कि परब्रह्म सर्वश्रेष्ठ है काल आदि से भी बलवान हैं अतः सर्वात्मभाव में प्रतिबन्धकों की निवृत्ति आवश्यक नहीं है । सामोपनिषद् में "यौवैभूमा तत् सुखम्" इत्यादि में सुखबाहुल्यस्वरूप ब्रह्म का स्वरूप बतलाते हुए कहते हैं कि जिसकी उपासना करने पर उपासक न किसी को देखता है, न सुनता है न जानता है" यह सर्वात्मभाव के स्वरूप का ही विवेचन है । उसके विरह भाव में तो इतनी प्रगाढ़ता आ जाती है कि वही चारो ओर दृष्टिगत होता है । इस सर्वात्म भाव की जो प्रबलता दिखलाई गई हैं वह काल आदि से बलीयसी है ।

अष्टादश अधिकरण

"ब्रह्मविदाप्नोतिपरम्" श्रुति में अक्षर ब्रह्म के ज्ञाता की परब्रह्म प्राप्ति बतलाई गई है । इस पर संशय करते हैं कि केवल अक्षर ब्रह्म का ज्ञान ही पर ब्रह्म की प्राप्ति कराता है या उसमें किसी अन्य साधन की भी अपेक्षा होता है ।

इस पर इतर साधन निरपेक्ष पूर्वमत का निराकरण कर इतर साधन सापेक्ष अक्षर ब्रह्म ज्ञान को परब्रह्म ज्ञान का साधक निर्णय करते हैं। ''यमेवैषवृणुते'' इत्यादि श्रुति स्पष्टतः भगवत्कृपा रूप वरण की अपेक्षा बतला रही है भगवतकृपा से ही हृदय की गुहा में आविभूंत पुरुपोत्तम के धाम परमव्योम वैकुण्ठ का साक्षात्कार होता है उसी में भगवान का आविर्भाव होता है ज्ञानियों के हृदय में तो परम-व्योम का आविर्भाव होता नहीं, अन्यथा उनको भी पुरुषोत्तम प्राप्ति हो जाती। अतः भगवत्साक्षार में अक्षर ज्ञान के साथ प्रभुकृपा भी अपेक्षित है।

उन्नीसवाँ अधिकरण

''यो वै भूभा तत्सुखम्'' श्रुति भूमापद से मुक्ति का उल्लेख है अथवा सर्वात्म-भाव का ? मुक्ति मानने वाले पूर्वपक्ष का निराकरण कर सिद्धान्ततः सर्वात्मभाव को स्वीकारते है। सर्वात्यभाव की जो सुखरूपता बतलाई गई है—वह दुःख के हेतु संसार में ही भगवद्भाव करने से पुरुषोत्तमानन्द की प्राप्ति की दृष्टि से है। सर्वात्मभाव लौकिक है या अलौकिक ? इस पर लौकिक पक्ष का निराकरण कर सर्वात्मभाव भगवल्लीला में स्थित जीव में ही होता है अतः अलौकिक है इस बात को सिद्धान्ततः स्वीकारते हैं। भरतमुनि के अनुसार लौकिक पुरुप और स्त्री में रसाभास होता है रसानुभूति नहीं वही बात इस भगवद्रस के सम्बन्ध में भी है।

बीसवाँ अधिकरण

मत्स्य आदि भगवदवतारों की उपासना समान रूप से करनी चाहिए या भिन्न-भिन्न प्रकार से करनी चाहिए ? इस पर पूर्वपक्ष कहता है कि उपास्य रूप से भिन्न होते हुए भी, जब उपासक एक है तो भिन्न प्रकार से किसी अवतार की विशिष्ट और किसी की अविशिष्ट उपासना करने से अवतार की अवज्ञा होगी जो कि लाभ के बजाय हानिकर होगी अतः समान रूप से आराधना करना ही उचित है। इस पर सिद्धान्त स्थिर करते हैं कि समस्त अवतारों की भिन्न-भिन्न प्रकार से ही उपासना करनी चाहिए क्योंकि शास्त्रों में उन के भिन्न-भिन्न मंत्र आकार और कार्य का वर्णन किया गया है विभिन्न मंत्रादि की एकत्र उपासना संभव भी नहीं है।

एक्कीसवाँ अधिकरण

दर्श पूर्णमास आदि विधियों की तरह समस्त उपासनाओं में समुच्चय है,

या इनमें विकल्प है ? विधियों में तो उनके अनुरूप फल भी है अतः उनमें समुच्चय है किन्तु उपासनाओं के एक मात्र मुक्ति ही फल बतलाया गया है।

बाइसवाँ अधिकरण

उपासनाओं के अङ्ग, उन उपासनाओं के आश्रित रहते है अतः जो अंग जिस उपासना के आश्रित रहते हैं, उसकी भाव सत्ता उसी में रहती है।

तेइसवाँ अधिकरण

अथर्वोषनिषद में नृसिंह की उपासना में, मत्स्यकूर्मादि की स्तुति की गई है वैसे ही भागवत में "नमस्ते रघुवर्याय" आदि स्तुति श्री कृष्ण की की गई है। रूपभेद होते हुए भी सभी भगवदवतार हैं, इसलिए किसी भी अवतार में सभी रूपों की स्तुति उचित ही है।

चौबीसवाँ अधिकरण

सर्वरूपत्व मानकर जो स्तुति की एकत्रोपासना का समर्थन किया वह नित्य होती है या वैकल्पिक ? इस पर नित्य पक्ष का निराकरण कर वैकल्पिक पक्ष का समर्थन करते हैं। उपासक की इच्छा पर निर्भर है कि वह एक ही रूप में समस्त रूपों की स्तुति करे या न करे।

चतुर्थ पाद

प्रथम अधिकरण

अब विचार करते हैं कि उत्तर मीमांसा के प्रतिपाद्य ब्रह्म प्राप्ति में पूर्व मीमांसा प्रतिपाद्य कर्मों का उपसंहार सम्भव है या नहीं ? उपसंहार हो सकता है इस पूर्वपक्ष का निराकरण करके सिद्धान्त प्रस्तुत करते हैं कि ब्रह्म चिन्तन में सर्वात्मभाव की प्रधानता है अतः उसमें स्वतः फलसाधकता है, कर्मकाण्ड की अपेक्षा नहीं है अतः उपसंहार आवश्यक नहीं हैं।

द्वितीय अधिकरण

भगवत् ज्ञान में कर्मकाण्ड भले ही अपेक्षित न हो किन्तु कर्म स्वरूपोपकारक तो हैं ही ऐसा सिद्धान्त निश्चिय करते हैं। इसी अधिकरण में चाक्रायण उषस्ति की प्रसिद्ध कथा का दृष्टान्त प्रस्तुत कर प्राणात्यय आपत्तिकाल में सर्वान्नभक्षण की अनुमति देते हैं। बिना आपत्ति के जानते हुए भी विहित

नियम के त्याग और अविहित कर्म करने से चित्त में मलिनता होती है जिसके फलस्वरूप ज्ञान तिरोभूत हो जाता है। यह व्यवस्था ज्ञानमार्ग की ही है। भक्ति मार्गीय भक्त पर तो आपत्ति आ ही नहीं सकती जैसा कि "अनन्याश्चिन्तयन्तो माम" इत्यादि भगवद् वाक्य से ज्ञात होता है कि भक्त के योग क्षेम का वहन भगवान स्वयं करते हैं, अतः भक्त का निर्वाह हो जाता है, उसके समक्ष वैसी समस्या ही नहीं आती।

तृतीय अधिकरण

ज्ञान होने पर आश्रम कर्म कर्त्तव्य हैं या नहीं ? इस पर कर्त्तव्य नहीं हैं इस पूर्वपक्ष का निरास कर कर्त्तव्यता का पक्ष सिद्धान्ततः स्वीकारते हैं। निश्चित करते हैं कि भगवद्धर्म आत्मधर्म है तथा आश्रम धर्म बहिरङ्ग है अतः इनमें कोई विरुद्धता नहीं होती इस नाते पालनीय है।

चतुर्थ अधिकरण

भगवद् भक्तों की कभी सायुज्य मुक्ति होती है या नहीं ? इस संशय पर होती है, इस पूर्वपक्ष का निराकरण कर निश्चित करते हैं कि नहीं होती। भागवत पंचम स्कन्ध में स्पष्ट उल्लेख है "भगवदीयत्वेनैव परिसमाप्त सर्वार्था" अर्थात् भगवदीय हो जाने मात्र से समस्त मोक्षों की महत्ता समाप्त हो जाती है।

पञ्चम अधिकरण

पुष्टिमार्गीय भक्तों को ब्रह्मलोकाधिकार प्रदान कर भगवान उन्हें उन लोकों से सम्बन्ध फल देते हैं या नहीं ? इस पर पूर्वपक्ष का निराकरण कर, नहीं देते ऐसा सिद्धान्त निश्चित करते हैं।

षष्ठ अधिकरण

प्रचुर भगवद्भाव मात्र से साक्षात स्वरूप भोग करने वाले भक्तों को गृह त्याग करना चाहिए या नहीं ? इस संशय पर पूर्वपक्ष कहता है कि जब फल सिद्धि हो गई तो त्याग की क्या आवश्यकता है। इस पर सिद्धान्त कहते हैं कि "त्वंतु सर्वं परित्यज्य" इत्यादि में भगवान ने सर्वोत्तम भक्त उद्धव को गृह-त्याग की आज्ञा दी है, उद्धव ने वैसा किया भी—घर प्रतिबन्धक ही नहीं होता अपितु विपरीतरसानुभावक होता है, अतः त्याग करना चाहिए।

सप्तम अधिकरण

'यमेवैषवृणुते' इत्यादि श्रुति अन्य साधनों का निषेध कर एक मात्र भगवद्वरण को ही साधन बतलाती है जबकि 'शान्तोदान्त उपरतिस्तिक्षुः' इत्यादि श्रुति अन्य साधनों को भी उपयोगी बतलाती है। इन दोनों में से कौन सी आदरणीय मानी जाय कौन सी नहीं ? इस संशय पर पूर्वपक्ष वाले कहते हैं कि 'उपरतिस्तितिक्षुः' आदि साधनान्तर पोषक श्रुति ही आदरणीय है अन्यथा शास्त्र वाक्य की व्यर्थता सिद्ध होगी। सिद्धान्त निश्चित करते हैं कि मर्यादा और पुष्टि भेद से वरण दो प्रकार का होता है, सहकारी साधनों के रूप में 'शान्तदान्त' आदि साधनों को मर्यादावरण में उपकारी माना जा सकता है। पुष्टिवरण में उनकी अपेक्षा नहीं है।

अष्टम् अधिकरण

उद्धव के समान भाव वालों को ही घर त्याग करना चाहिये। जिनमें वैसा भाव नहीं है उन्हे निष्ठापूर्वक घर में ही भजन करना चाहिये, उसी में उनको लाभ होगा, ऐसा 'कृत्स्नभावात्तु गृहिणोपसंहारः 'सूत्र में व्यासदेव का भाव प्रस्फुटित होता है। कोई भक्त भगवान से बिना भाषण किए और उनकी लीला के देखे बिना आकुल हो जाते हैं, वे ऐसे प्रचुर भावावेश में घर छोड़कर बन चले जाते हैं। भगवद् भाव रसात्मक है, उसकी अभिवृद्धि गुप्त रूप से ही होती है अतः जो घर में रह कर ही अपने गुप्त भाव का आनन्द लेते हुये भजन करते हैं उनके लिए आश्रम धर्म का पालन विहित है। जब तक अन्तःकरण में प्रभु का साक्षात् प्राकट्य नहीं हो जाता तभी तक ब्रह्म प्रतीति होती है, प्राकट्य हो जाने पर नहीं होती। अतः घर में रहकर भी भजन प्रशस्त है।

नवम अधिकरण

ऐसे गृहस्थ साधक को पुरुषोत्तम लीला रसानुभावात्मक फल नियमित रूप से होता है या नहीं ? इस संशय पर सिद्धांत बतलाते हैं कि पुष्टि में प्रवेश करने पर भगवान के अति अनुग्रह से किसी किसी को हो भी जाता है। उक्त फल भगवदिच्छा के अधीन है, साधन साध्य नहीं है।' मुक्तानामपि सिद्धानां-नारायण परायणः सुदुर्लभः प्रशान्तात्मा कोटिष्वपि महामुने' इस वाक्य में उक्त भक्तिरसानुभव रूप फल की ही चर्चा की गई है।

चतुर्थ अध्याय प्रथम पाद

प्रथम अधिकरण

'आत्मा वारे द्रष्टव्यः श्रोतव्यः 'आदि में जो श्रवणादि की विधि का उल्लेख है वह एक बार करने का ही नियम है या बार-बार करने का इस संशय पर श्रवणादि की बार-बार आवृत्ति करने से ही तत्त्वोपलब्धि होती है ऐसा सिद्धांत निश्चित करते हैं।

द्वितीय अधिकरण

ज्ञानी ! भगवान् की आत्मारूप से उपासना करते हैं अतः वे प्रारब्ध की समाप्ति हो जाने पर देह छोड़कर उसी में प्रविष्ट हो जाते हैं अब विचारते हैं कि—'न स पुनरावर्त्तते 'श्रुति में ज्ञानियों की सर्वथा अनावृत्ति कही गयी है, अथवा सावधिकी अनावृत्ति, उक्त श्रुति में जो अमरशब्द का प्रयोग है उससे तो केवल मरण निवृत्ति का अर्थ ही प्रस्फुटित होता हैं। इस संशय पर पूर्वपक्ष सावधिकी अनावृत्ति की बात करता है सिद्धान्ततः सर्वथा अनावृत्ति को स्वीकारते हैं।

तृतीय अधिकरण

छान्दोग्य 'सत्य यज्ञ पौलुषि 'इत्यादि वाक्य में आदित्य वायु आदि की आत्मारूप से उपासना कही गई है, तो यह प्रतीक उपासना है या नहीं ? इस पर पूर्वपक्ष है कि—आदित्य आदि की पृथक् पृथक् उपासना का उल्लेख है जो कि ब्रह्मत्वभाव से नहीं प्रतीत होता अतः प्रतीकोपासना ही हैं। इसका निराकरण कर सिद्धान्त बतलाते हैं कि 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म, 'श्रुति के अनुसार सब कुछ ब्रह्म निश्चित होता है सूर्यादि भी ब्रह्म के अंग हैं अतः यह प्रतीको-पासना नहीं है। इसी प्रसंग में बतलाते हैं कि—भावना की उत्कट दशा में निरन्तर स्मृति से भी हृदय में प्रकट होकर भगवान विराजमान हो जाते हैं उसे ही स्थिरता कहते हैं। यह स्वरूप प्राकट्य भक्त की इच्छा से ही होता है लीला का अनाविष्करण आविष्करण भगवदिच्छा से होता है। भक्त की इच्छा के तारतम्य को रखकर भगवान हृदय में अचल या चलरूप से विराजते हैं।

चतुर्थ अधिकरण

कुछ भक्तों को बहिराविर्भाव की अनुभूति होती है, और कुछ भक्तों को अन्तराविर्भाव की होती है इनमें तारतम्य भाव मानना चाहिए या नहीं ? इस पर पूर्वपक्ष कहता है कि यह तो भावभेद है अतः तारतम्य मानना चाहिए इसका निरास करते हुये कहते हैं कि—भगवत्स्वरूप में तारतम्य भाव नहीं हैं सत्र एक ही हैं।

पंचम अधिकरण

जिन भक्तों को अन्त: प्राकट्य की अनुभूति हो जाती है, और यदि उन्हे वाह्य प्राकट्य की भी अनुभूति हो जाय तो "मैं जिसकी पूर्व में अनुभूति कर चुका था उसकी वाह्यानुभूति भी कर रहा हूँ", ऐसी प्रतीति उस भक्त को होती है या नहीं है, इस पर निर्णय करते हैं कि भिन्न अनुभूति का प्रश्न ही नहीं है जब प्रभु एक ही है तो उनकी सर्वदा एक सी ही अनुभूति होगी अत: -भक्त को दोनों अवस्थाओं में समान प्रतीति होती है। अब विचार करते हैं कि प्राकट्यानुभूति में सायुज्य होता या नहीं ? जब भक्त को प्रभु के साथ बातचीत करने और चरणारविन्द के स्पर्श आदि करने का साक्षात् फल मिल जाता है, तो अदृष्ट सायुज्य की चर्चा ही क्या है।

षष्ठ अधिकरण

मर्यादा मार्गीय ज्ञानी भक्त को जब ज्ञानोदय हो जाता है उसके बाद उसकी मुक्ति, कर्म सापेक्षा होती है, या ज्ञान से ही हो जाती है ? कर्म सापेक्षा-मुक्ति मत का निरास कर ज्ञान से ही मुक्ति होने को सिद्धान्ततः स्वीकारते हैं।

सप्तम अधिकरण

पुष्टि मार्गीय भक्त का विना भोगे प्रारब्ध कार्य का नाश होता है या नहीं ? नहीं होता इस पूर्वपक्ष का निराकरण कर सिद्धान्त निश्चित करते हैं कि हो जाता है। भाष्यकार 'भोगेनत्वितरे क्षपयित्वाथ सम्पद्यत 'इस सूत्र का अर्थ करते हैं कि उपासक इतर अर्थात् अग्र प्राप्य, अलौकिक देह से भिन्न स्थूल लिंग शरीर को छोड़कर भगवान की लीला की उपयोगी देह को प्राप्त कर भगवान के समान योग प्राप्त करता है।'

द्वितीय पाद

प्रथम अधिकरण

भक्त के सूक्ष्म शरीर के क्षपण (त्याग) का तात्पर्य क्या उसके स्वरूप का नाश है अथवा पारसमणि के स्पर्श से लौह सुवर्ण हो जाता है उसी प्रकार भावत्कृपा से उसमें अलौकिकता आ जाती हैं। अलौकिकता के पूर्वपक्ष का निराकरण कर सिद्धान्त बतलाते हैं कि—भक्त के प्राचीन देह प्राण आदि साक्षात् पुरुषोत्तम संबंध के अयोग्य होते हैं अत: वे भगवान में ही लीन हो जाते हैं, उसके बाद पुरुषोत्तमात्मक उनकी लीला के उपयोगी देह इन्द्रियादि को वह प्राप्त करता है तभी वह पुरुषोत्तम स्वरूप को प्राप्त करता है। उसके प्राण आदि का लय एक साथ नहीं हो जाता, पहिले उसकी वाणी और मन भगवदानन्द से सम्पन्न होते हैं, बाद में समस्त इन्द्रियों से विशिष्ट मन प्राण से सम्पन्न होता है तब वह समस्त इन्द्रियाँ मन के साथ भगवदानन्द से सम्पन्न होती हैं फिर समस्त इन्द्रियों और मन से विशिष्ट प्राण भगवान में लीन होता हैं।

द्वितीय अधिकरण

मर्यादामार्गीय भक्तों का भी उक्त प्रकार से लय होता हैं या नहीं ? इस पर निर्णय करते हैं कि मर्यादामार्गीयों को वागादि का लय भूतों में होता है, भगवान में नहीं होता। वागादि लय होने के बाद तो मर्यादामार्गीय भक्त का प्रारब्ध नष्ट हो ही जाता हैं अतः वह शुद्ध जीव हो जाता है तब भी वह पुष्टि में प्रवृष्टि होता है या नहीं ? इस संशय पर निर्णय करते हैं कि—मर्यादा-मार्ग से ही वह मुक्त हो जाता है पुष्टि में प्रवेश नहीं करता।

तृतीय अधिकरण

साधन क्रम से मोक्ष की इच्छा ही मर्यादा मार्ग की मर्यादा है, विहित साधन के बिना यदि वह मोक्ष की इच्छा करता है तो वह संसार दशा में ही भ्रमण करता है क्योंकि विहित साधन के बिना भजनांनन्द का अभाव रहना है।

चतुर्थ अधिकरण

लीला नित्य है अतः उसमें पहुँच गए भक्तों को नित्य दर्शन का सौभाग्य प्राप्त हो जाता है कभी-कभी किसी जीव को भगवान् लीलोपयोगी साधनों के प्रभाव में भी भगवान अपनी कृपा से अपनी लीला में सम्मिलित कर लेते

हैं, क्या ऐसे कृपापात्र को वह लीला में कुछ समय तक सम्मिलित कर हटा भी देते हैं ? इस पर कहते हैं कि 'तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः 'वचन से निश्चित होता है कि लीला से अलग नहीं करते है। इससे लीला की नित्यता की पुष्टि होती है।

पंचम अधिकरण

ज्ञानमार्गीय जीव का उत्क्रमण प्रकार लोक साधारण से विलक्षण होता हैं क्या ? इस पर सिद्धान्ततः विलक्षण उत्क्रमण का सम्मोदन करते हुए छान्दोग्य का "शतं चैका च पुरुषस्य नाड्यः" वाक्य प्रस्तुत करते हैं।

षष्ठ अधिकरण

'इस शरीर से उत्क्रमण कर सूर्य राश्मियों के आश्रय से ऊपर जाता है। 'इत्यादि में जो उत्क्रमण प्रकार बतलाया गया है वह ज्ञानी और अज्ञानी दोनों का समान रूप से है क्या ? इसका समाधान करते हैं कि ज्ञानी ही सूयरश्मियों के आश्रय से उत्क्रमण करता है। उक्त प्रसंग में आदित्य शब्द आदित्यांश ते जो रूप पित्त ते शरीरस्थ तत्व का बोधक है, पित्तस्थ नाडियों से ज्ञानी का ही उत्क्रमण संभव है सामान्य जीव का नहीं। ज्ञान मार्ग और योग मार्ग भिन्न है, योग मार्ग वालों के लिए उत्तरायण आदि काल विशेष का नियम कहा गया है ज्ञानमार्ग वालों के लिए नहीं।

तृतीय पाद

प्रथम अधिकरण

ज्ञानमार्गी के समान ही क्या मर्यादा मार्गी भी अर्चिरादि मार्ग से गमन करते हैं अथवा उनकी सद्योमुक्ति हो जाती है ? इस पर सिद्धान्त निश्चित करते हैं कि ज्ञान मार्गी के लिए हो अर्चिरादि मार्ग है, मर्यादी भक्त को तो सद्योमुक्ति ही होती है।

द्वितीय अधिकरण

छान्दोग्य में वचन हैं कि "विद्युदनन्तरं तत्पुरुषोऽमानवः स एतान् ब्रह्म गमयति" इसमें विद्युल्लोक के बाद दिव्य पुरुष द्वारा साधक को ब्रह्मलोक पहुँचाने की चर्चा की। इस पर संशय होता है कि छान्दोग्य की उक्ति से बह्म लोक प्राप्ति की वात निश्चित हो जाती है किन्तु अन्यत्र तो वरुणादि लोक की चर्चा और दिव्य पुरुष की चर्चा न होने से ब्रह्मालोक की प्राप्ति

के सम्बन्ध में द्विविधा हो जाती है। इसका समाधान करते हैं कि विद्युल्लोक में जो आतिवाहिक दिव्य पुरुष मिलता है वही ऊपर वरुणलोक में पहुँचाता है इस प्रकार प्रत्येक लोक में भगवत्सेवक दिव्य आतिवाहिक पुरुष विद्यमान हैं जो कि उपासकों को पहुँचाने के लिए नियुक्त रहते हैं ये भक्तों को वैकुण्ठ ले जाते हैं तथा ज्ञानी को अक्षर ब्रह्म को प्राप्त कराते हैं।

तृतीय अधिकरण

"स एतान्ब्रह्म गमयति" इत्यादि वाक्य में जो ब्रह्म को प्राप्त कराने की बात कही गई है वह अविकृत परब्रह्म के सम्बन्ध की है अथवा कार्य रूप ब्रह्म-लोक से सम्बद्ध है ? इस पर कार्य ब्रह्म सम्बन्धी पक्ष का निराकरण कर परब्रह्म लोक पक्ष को सिद्धान्ततः निश्चित करते हैं।

चतुर्थ अधिकरण

अर्चिरादिलोक की प्राप्ति उपासना के फलस्वरूप ही होती है, अर्चिरादिलोक के दिव्य पुरुष उन लोकों में पहुँचने वाले सभी उपासकों को ब्रह्मलोक की प्राप्ति कराते हैं या किसी-किसी को हीं ? इस पर पूर्वपक्ष का निराकरण कर सिद्धान्त स्थिर करते हैं कि किसी को ही पहुँचाते हैं। जो उपास्य रूपों में ब्रम्हत्व भाव मान कर उपासना करते हैं वे प्रतीकोपासक हैं, उन्हें ब्रह्म प्राप्ति नहीं होती अपितु जो शुद्ध ब्रह्मभाव से आराधना करते हैं उन्हें ही ब्रह्म प्राप्ति होती है, ऐसी भगवान बादरायण की मान्यता है। भक्त तो उन दिव्य पुरुषों के सहाय्य के बिना स्वयं ही ब्रह्मलोक की प्राप्ति कर लेते हैं।

ज्ञान मार्गीय और भक्ति मार्गीय दोनों को पर प्राप्ति एक ही प्रकार से होती है या उनमें किसी को विशेष प्रकार से भी होती है ? इस सामान्य पक्ष का निराकरण कर विशेष पक्ष को सिद्धान्त रूप से प्रस्तुत करते हैं। तैत्तरीय में—"ब्रह्म विदाप्नोतिपरम् इत्यादि में भगवत्स्वरूप के अनुभव करने वाले भक्तों की विशेष प्राप्ति की चर्चा की गई है। "ब्रह्म विदाप्नोति" केवल इस पद में अक्षर ब्रह्म की प्राप्ति बतलाई गई है जो कि ज्ञान मार्गीयों के लिए है। उक्त वाक्य में आगे जो भी वर्णन किया गया वह भक्ति मार्गीय से सम्बद्ध है। मर्यादा और पुष्टि भेद से प्राप्ति दो प्रकार की है, प्रथम प्रकार की प्राप्ति मर्यादा मार्गीय है। पुरुषोत्तम की प्राप्ति में वरण के अतिरिक्त अन्य साधन अपेक्षित नहीं है जैसा कि "नायमात्मा प्रवचनेन" इत्यादि वाक्य में निर्णय किया गया है। अक्षर ब्रह्मज्ञान में वे अपेक्षित हैं। ज्ञान मार्गियों को अक्षर ज्ञान से अक्षर ब्रह्म की

प्राप्ति होती है वहीं उनका पर्यवसान हो जाता है। भक्तों का पर्यवसान पुरुषोत्तम में होता है। ब्रह्म वेत्ता को जब भगवान वरण करते हैं तब उनमें भक्ति का उदय होता है, उस भक्ति के प्रचुर होने पर उस भक्त के हृदय में प्रकाशित होने की इच्छावाले भगवान अपने स्थान व्यापक वैकुण्ठ को उसके हृदय आकाश की गुहा में प्रकट कर देते हैं, उसे ही परम व्योम शब्द से श्रुति में कहा गया है। यह शुद्ध पुष्टि मार्ग पर चलने वालों की व्यवस्था है। जैसे कि भगवान स्वयं प्रकट होकर लीला करते हैं, वैसे ही अनुग्रह करके भक्त के अन्तःकरण में स्थित अपने को प्रकट करके उस स्नेहातिशय के वशीभूत होकर अपने लीलारस का अनुभव कराते हैं तब वह भक्त परब्रह्म पुरुषोत्तम के साथ समस्त कामनाओं को भोग करता है।

चतुर्थ पाद,

प्रथम अधिकरण

उक्त प्रकरण में जो ब्रह्म के साथ समस्त कामनाओं को भोम करने की चर्चा है तो वह अतःकरण में स्थित होकर ही भोगता है अथवा पुनर्जन्म लेकर भोगता है। इस पर अन्तरास्थित पक्ष का निराकरण कर सिद्धान्त प्रस्तुत करते हैं कि—प्रभु के अति अनुग्रह से स्वरूपात्मक भजनानन्द भोग के लिए मुक्तों के बीच में उस भक्त का आविर्भाव होता है वहाँ वह उन भोगों को भोगता है।

द्वितीय अधिकरण

वह आविर्भूत जीव प्राकृत शरीर से भजनान्द का भोग करता है अथवा अप्राकृत शरीर से ? प्राकृत पक्ष का निरास कर अप्राकृत पक्ष को सिद्धान्ततः स्थिर करते हैं। सत्यज्ञानानन्दात्मक शरीर भगवान द्वारा ही प्रकट होता है ऐसी जैमिनि आचार्य की मान्यता है। अक्षर ब्रह्म का आयतन पुरुषोत्तम है अतः पुरुषोत्तमात्मक उस शरीर को मानना चाहिए प्राकृत नहीं अतः वह तदात्मक होने से चैतन्य शरीर है ऐसी औडुलोमि आचार्य की मान्यता है। भगवान बादरायण ये दोनों मत नहीं मानते वे कहते हैं कि—ब्रह्म संबंध योग्य शरीर नित्य हैं जिस जीव को जितना भगवदनुग्रह प्राप्त है तदनुरूप ही वह उस शरीर में प्रवेश कर भगवदैश्वर्य का भोग करता है।

तृतीत अधिकरण

स्वप्न में जैसा वासना के वश, अविद्यमान वस्तुओं का दर्शन होता है, वैसे ही भगवदिच्छा के वश मुक्त शरीर में प्राकृत भोगों की सी अनुभूति होती है।

चतुर्थ अधिकरण

पूर्णज्ञान क्रिया शक्तिमान परमात्मा के साथ इन शक्तियों से रहित भक्त का भोग करना संभव नहीं प्रतीत होता इस संशय पर कहते हैं कि भगवान उस जीव में प्रविष्ट हो जाते हैं तब संभव हो जाता है। जैसे कि स्नेह युक्त पुराने दीपक की बत्ती में जब प्रकाश धीमा होने लगता है तो उसी के साथ नई बत्ती लगाने पर प्रकाश तेज हो जाता है वैसे ही यहाँ भी होता है।

पञ्चम अधिकरण

ब्रह्म के साथ जो भोग होता है वह लौकिक व्यापार युक्त होता है या अलौकिक ? इस संशय पर लौकिक पक्ष का निराकरण कर सिद्धान्ततः अलौकिक पक्ष का समर्थन करते हैं। इसी अधिकरण में लीला नित्यता का निर्णय करते हैं। "अनावृत्तिः शब्दात् अनावृत्तिः शब्दात्" सूत्र से भक्त और ज्ञानी दोनों की अनावृत्ति का निर्णय करते हैं वे कहते हैं कि—प्रथम अनावृत्ति शब्द पुष्टि-मार्गीव भक्त से सम्बद्ध है जो कि भगवान की वेणु ध्वनि को श्रवण कर भगवान के निकट जाकर नहीं लोटता। द्वितीय अनावृत्ति शब्द मर्यादा मार्गीय भक्त से सम्बद्ध है जो कि वैदिक शब्दों के अनुरूप साधनाकर नहीं लौटता।

बादरायण ब्रह्मसूत्र

(अणु भाष्य)

महाप्रभु वल्लभाचार्य जी

एवं

गोस्वामी विट्ठलनाथ जी

संकलन कर्त्ता

श्री माधव भट्ट

मुद्रक—गीताप्रेस, गोरखपुर

जगद्गुरु श्रीवल्लभाचार्य
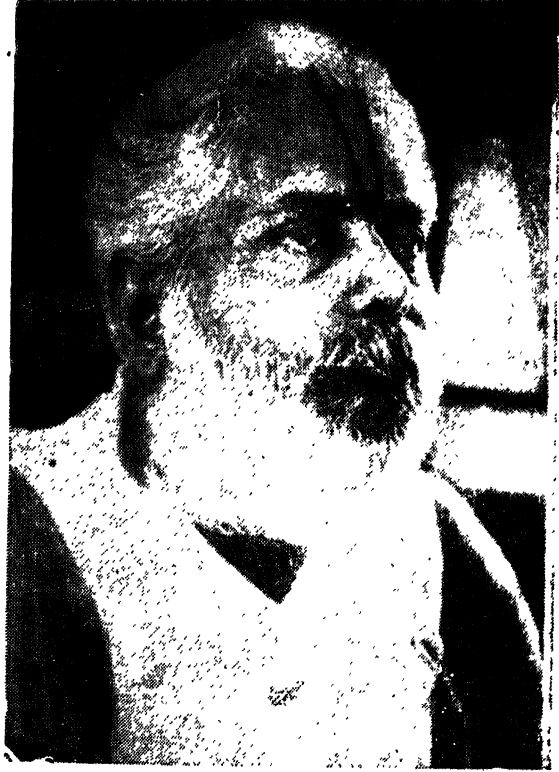
श्रद्धेय गोस्वामी दीक्षित जी महाराज

श्री बादरायण ब्रह्मसूत्र

अणुभाष्य

प्रथम अध्याय

प्रथम पाद

१ अधिकरण

अथातो ब्रह्मजिज्ञासा ।१।१।१।

इदमत्र विचार्यते, वेदांतानां विचार आरंभणीयो न वेति । किं तावत् प्राप्तम् । नारम्भणीय इति, कुतः, "सांगोऽध्येयस्तथा ज्ञेयो वेदः शब्दाश्च बोधकाः । निःसंदिग्धं तदर्थाश्च लोकवद् व्याकृतेः स्फुटाः ।।" अर्थज्ञानार्थं विचार आरंभणीयः । तस्य च ब्रह्मरूपत्वात्, तज्ज्ञाने पुरुषार्थो भवतीति न मंतव्यम् । विचारं विनापि वेदादेव सांगादर्थ प्रतीतेः ।

वेदांतों पर विचार होना चाहिए या नहीं, यह विचारणीय विषय है। कहें कि नहीं करना चाहिए, क्योंकि—"वेद का अंगों सहित अध्ययन करना चाहिए, अर्थ बोधक शब्दों को भी जानना चाहिए, अध्ययन के बाद ही असंदिग्ध अर्थों का, लौकिक शब्दार्थों का प्रयोग किया जा सकता है।" इत्यादि से ज्ञात होता है कि अर्थ ज्ञान के लिए ही शास्त्र पर विचार किया जाता है। शब्द ब्रह्मरूप है, उसके ज्ञान मात्र से परमपुरुषार्थ की प्राप्ति हो जाती है, ऐसा नहीं मानना चाहिए। विचार के बिना भी वेदाध्ययन से अर्थावबोध हो जाता है।

न चार्थज्ञानमविहितम् अविचारिताश्च शब्दा नार्थं प्रत्याययन्तीति वाच्यम् । ज्ञेयश्चेति विधानात्, "गीती शीघ्री शिरःकंपी तथा लिखितपाठकः । अनर्थज्ञोऽल्पकंठश्च षडेते पाठकाधमाः ।।" इति बाधोपलब्धिश्च । शब्दश्चक्षुरादिवद संदिग्धार्थं प्रतिपादकः, तदर्थश्च व्याकरणादिना निश्चीयते, यथा लौकिकवाक्ये तथा वेदेऽपि, न च तद्विरुद्धं निर्णेतव्यम् अप्रामाणिकत्व प्रसंगात् । तस्माद् वेदार्थज्ञानार्थं विचारो नारंभणीयः ।

अर्थज्ञान आवश्यक नहीं है, तथा अविचारित शब्द अर्थबोधक नहीं होता, ऐसा नहीं कह सकते। शब्द ज्ञेय है, "वैदिक ऋचाओं को गाकर, शीघ्रता से, सिर कंपाते हुए या लिखकर, अर्थ ज्ञान के बिना, अल्पकंठ से पाठ करने वाले अधम पाठक हैं," इत्यादि बाधक नियम भी है। शब्द, नेत्र आदि की तरह संदिग्ध अर्थ का बोधक नहीं होता, उसका अर्थ तो व्याकरण आदि से निश्चित होता है। यह नियम लौकिक शब्द और वैदिक शब्द दोनों में समान है। इस नियम के विरुद्ध, शब्दार्थ का निर्णय नहीं किया जा सकता, यदि करेंगे तो वह अप्रामाणिक होगा। इसलिए वेदार्थ ज्ञान के विचार की बात असंगत है (वह तो नियम सिद्ध विषय है)।

स्यादेतत्, न वेदार्थ ज्ञानमात्राय विचारः, किन्तु ब्रह्मज्ञानाय, तस्य चात्मरूपत्वात् तस्य चाविद्यावच्छिन्नत्वाद् देहात्मभाव दृढप्रतीतेस्तदतिरिक्तस्य ब्रह्मणोऽभावान्न वेदमात्रादसंभावना विपरीत भावना निवर्त्तकं ज्ञानमुत्पद्यते, प्रत्युत देहात्मभाव दृढप्रतीतेः श्रुतेरुपचरितार्थत्वं स्तुतित्वं वा कल्पयिष्यतीति।

उक्त कथन ठीक हो सकता है, पर वेद के अर्थ ज्ञान मात्र के लिए विचार भले ही न किया जाय किन्तु ब्रह्म ज्ञान के लिए तो विचार आवश्यक है। ब्रह्म का स्वरूप अनिर्वचनीय तथा मायातीत है। वेद के अर्थ ज्ञान मात्र से देहात्मभाव की दृढ़ प्रतीति की भावना के विपरीत, निवर्त्तक ज्ञान का होना संभव नहीं है, अपितु देहात्मभाव की दृढ़ प्रतीति, श्रुति की उपचरितार्थता और स्तुति आदि की ही कल्पना हो सकती है।

मैवम्, "अलौकिको हि वेदार्थो न युक्त्या प्रतिपद्यते। तपसा वेद युक्त्या तु प्रसादात् परमात्मनः॥" न हि स्वबुद्ध्या वेदार्थं परिकल्प्य तदर्थं विचारः कर्त्तुं शक्यः। ब्रह्म पुनर्यादृशं वेदांतेष्ववगतं तादृशमेव मंतव्यम्, अणुमात्रान्यथाकल्पनेऽपि दोषः स्यात्—"योऽन्यथा संतमात्मानमन्यथा प्रतिपद्यते। किं तेन न कृतं पापं चौरेणात्मापहारिणा॥" नैषा तर्केण मतिरापनेया इति श्रुतेश्च। न च विरुद्ध वाक्यानां श्रवणात् तन्निर्धारार्थं विचारः, उभयोरपि प्रामाणिकत्वेनैकतरनिर्धारणस्याशक्यत्वात्। अचिन्त्यानंतशक्तिमति सर्वभवन समर्थे ब्रह्मणि विरोधाभावाच्च।

उक्त कथन असंगत है, क्योंकि—"वेद का अर्थ अलौकिक होता है, युक्ति द्वारा उसका प्रतिपादन नहीं हो सकता, तप द्वारा, परमात्मा की कृपा

होने पर ही वैदिक अर्थ की प्रतीति हो सकती है, अपनी बुद्धि से काल्पनिक अर्थों का संयोजन वेद में शक्य नहीं है। वेदांतों में जैसा ब्रह्म का स्वरूप कहा गया है, वैसा ही मानना चाहिए, अणुमात्र भी अन्यथा कल्पना करना दोषावह होगा। "जो अन्य प्रकार के आत्म स्वरूप की, अन्य ही प्रकार से कल्पना करते हैं, वे आत्म घाती चोर कौन सा जघन्य पाप नहीं करते" इस श्रुति से ज्ञात होता है, "आत्म तत्त्व तर्क से ज्ञेय नहीं है" यह श्रुति भी उक्त मत की पुष्टि करती है, और न आत्मतत्त्व विरुद्ध वाक्यों के श्रवण से उसका निर्द्धारणात्मक विचार ही हो सकताहै, क्योंकि—दोनों ही वाक्य वैदिक होने से प्रामाणिक हैं, अतः एक का निर्द्धारण करना शक्य नहीं है। अचिन्त्य अनंत शक्तिमान् सब कुछ करने में समर्थ ब्रह्म में किसी प्रकार का विरोध भी नहीं है।

अतएवोपनिषत्सु तत्तदुपाख्याने बोधाभावे औपाधिक बोधे च तपस एवोपदेशः। न च तपः शब्देन विचारः, तस्य पूर्वानाधिक्यात् तप एव, न चोपाख्यानानां मिथ्यात्वम्। तथासति सर्वत्रैव मिथ्यात्वं भवेद् विशेषाभावात्। न हि अप्रामाणिकोक्ते विधौ वा उपाख्याने वा ब्रह्मस्वरूपे वा कस्यचिदपि विश्वासो यथा लोके। तस्माद् वेदे अक्षरमात्रस्याप्यसत्यार्थज्ञानस्याभावाद् वैदिकानां न संदेहोऽपि। किं पुनर्विरुद्धार्थ कल्पना। विद्यासु च तदश्रुतेः, यदि वेदार्थज्ञाने विचारस्योपयोगः स्यात् अंगत्वेन व्याकरणस्येव विद्यासु श्रवणं स्यात्।

इसलिए उपनिषदों में, वैदिक उपाख्यानों के समझ में न आने और भ्रामक अर्थ की प्रतीति होने के कारण तप पर बल दिया गया है। तप शब्द के विचार से अर्थज्ञान नहीं हो सकता, अन्य शब्दों के विचार से तप शब्द के विचार में कोई विशेषता तो है नहीं, अतः तप का तात्पर्य तपश्चर्या ही समझना चाहिए। वैदिक उपाख्यानों को मिथ्या भी नहीं कह सकते, यदि उन्हें मिथ्या मानेंगे तो सारे वेद ही मिथ्या हो जावेंगे, वेदों में कोई सामान्य विशेष का तो भेद है नहीं और न वैदिक विधि, उपाख्यान और ब्रह्मस्वरूप सम्बन्धी अप्रामाणिक कथन में किसी को विश्वास ही हो सकता है, जैसा कि प्रायः लौकिक चर्चा में हो जाता है। वेद का एक अक्षर भी असत्य नहीं है, उसमें सारे ही अर्थ सत्य हैं, अर्थ ज्ञान न होने से ही संदेह होता है। वैदिकों को किसी भी स्थिति में वैदिक विषयों पर संदेह नहीं होता। फिर वे विरुद्धार्थ कल्पना तो कर ही कैसे सकते हैं। यदि वेदार्थ ज्ञान में एकमात्र

विचार ही उपयोगी होता तो विद्याओं में एकमात्र व्याकरण को ही वेदांग कहा जाता ।

स्वातंत्र्ये च पुराणादेरिव मीमांसाया अपि प्रकारभेदेन प्रतिपादकत्वं स्यात् । "तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि" इति तु तेषां निषेधः अन्यथा ज्ञानं नोपनिषदुक्तं फलं समर्पयति । तस्मान्नारम्भणीय एव ब्रह्मविचारः । अनेन धर्मं विचारोऽप्याक्षिप्त एव । न ह्येतन्निराकर्तुः सोऽयमतिभार इति पूर्वपक्षः ।

यदि सभी विद्याओं की स्वतंत्र रूप से अंगता मान लें तो, पुराण आदि की तरह मीमांसा की भी प्रकारान्तर से प्रतिपादकता स्वीकारनी होगी । "तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि" इस श्रुति में तो उनका निषेध प्रतीत होता है । विद्या रहित ज्ञान औपनिषद फल की प्राप्ति नहीं करा सकता, इसलिए ब्रह्मविचार आरंभणीय नहीं है । इस विचार से, धर्म सम्बन्धी विचार भी आक्षिप्त हो जाता है । यह मत निराकृत नहीं हो सकता क्योंकि बड़ा प्रबल है—ऐसा पूर्वपक्ष है ।

सिद्धान्तः—"संदेहवारकं शास्त्रं बुद्धि दोषात् तदुद्भवः । विरुद्ध शास्त्र संभेदात् अंगैश्चाशक्य निश्चयः ।। तस्मात् सूत्रानुसारेण कर्त्तव्यः सर्व निर्णयः । अन्यथा भ्रश्यते स्वार्थम् मध्यमश्च तथादिमः ।।"

परंपरा पाठवदर्थस्यापि गुरुमुखादेव श्रवणेऽपि मन्दमध्यमयोः संदेहो भवेत् । समान धर्म दर्शनात्, पदादि पाठवत् । तत्र यथा लक्षणानामुपयोग एवमेव मीमांसाया अपि । तदुक्तम्—"असंदिग्धेऽपि वेदार्थे स्थूणाखननवन्मतः । मीमांसा निर्णयः प्राज्ञे दुर्बुद्धेस्तु ततो द्वयमिति ।।"

"संदेह निवारक शास्त्र यदि बुद्धि दोष से संदिग्ध प्रतीत हो तथा विरुद्ध शास्त्र के संभेद या व्याकरणादि अंगों से उसका निराकरण संभव न हो तो, ब्रह्मसूत्र के अनुसार उसका निर्णय करना चाहिए, अन्यथा तात्पर्य से भ्रष्ट हो जाने का भय रहता है ।"

परंपरागत पाठ की तरह अर्थ का भी गुरुमुख से श्रवण करने के बाद मंदबुद्धि वालों को संदेह हो जाता है, क्योंकि परस्पर विरुद्ध अर्थ की समान

रूप से प्रतीति होती है। जैसी कि पद आदि के पाठ में ह्रस्वदीर्घ सम्बन्धी भ्रामक प्रतीति हो जाती है तब प्रातिशाख्य सूत्रों से संदेह निवृत्ति की जाती है वैसे ही मीमांसा में ब्रह्म सूत्रों से संदेह निवृत्ति करनी चाहिए। जैसा कि कहा भी गया है—"वेद के असंदिग्ध अर्थ में भी यदि खूंटा खोदने की जैसी शिथिल मति हो जाये तो बुद्धिमान् और दुर्बुद्धि दोनों को उत्तर मीमांसा से निर्णय करना चाहिए।"

तथा च निर्णये येन केनचिद् वक्तव्ये हरिः स्वयं व्यासो विचारं चिकीर्षुः तत् कर्त्तव्यतया बोधयति ब्रह्मजिज्ञासा कर्त्तव्येति। व्यासोक्तत्वादपि कर्त्तव्यता। कर्त्तव्य पदाध्याहारे स्वातंत्र्यं न भवति, अन्यथा "अथ योगानुशासनम्" इतिवत् स्वतंत्रता स्यात्। तथा च ज्ञानानुपयोगः, तथाहि "तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि" इति केवलोपनिषद् वेद्यं ब्रह्म, न शास्त्रान्तर-वेद्यम्। तद् यदि मीमांसाया स्वतंत्रता स्यात् तज्जनितं ज्ञानं न ब्रह्मज्ञानं भवेत्।

अथवा अध्याहार करणापेक्षयाऽथ शब्द एकाधिकारे व्याख्येयः। वेदाध्ययनानन्तर्यं तु सिद्धमेव। न हि अनधीत एव विचारमर्हति, तत्रैतत् स्यात् स्वतन्त्रतेति। तत्र प्रतिविधास्यामः वेदार्थ ब्रह्मणो वेदानुकूल विचार इति। किमत्र युक्तम्, व्याख्यानमिति, व्याख्यानतो विशेष प्रतिपत्तेः यथा कर्मणि—"दर्शपूर्णमासौ तु पूर्वं व्याख्यास्यामः।" अथातो दर्शपूर्णमासौ व्याख्यास्यामः—इति।

वेदार्थ निर्णय की आवश्यकता तथा तप आदि की अशक्यता को देखकर स्वयं हरि व्यास के रूप में अवतीर्ण होकर, ब्रह्म विचार की कर्त्तव्यता का उपदेश देते हैं कि—ब्रह्म की जिज्ञासा करनी चाहिए। व्यासोक्त होने से भी यह कर्त्तव्य है। कर्त्तव्य के निर्णय में स्वतन्त्रता नहीं होती [कर्त्तव्य का निर्णय, शास्त्र या आप्त व्यक्तियों के उपदेश पर ही आधारित रहता है], यदि ऐसा न हो तो "अथ योगानुशासनम्" की तरह ब्रह्मजिज्ञासा भी स्वतंत्र होती, तथा ज्ञान का कोई उपयोग न रह जाता। "तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि" यह श्रुति ब्रह्म को केवल उपनिषद् वेद्य ही बतलाती है, अन्य शास्त्र वेद्यनहीं। यदि मीमांसा को स्वच्छंद मान लिया जाय तो, उससे होने वाला ज्ञान ब्रह्मज्ञान नहीं हो सकता।

अध्याहार करने के लिए, "अथ" शब्द की आधिकारिक व्याख्या करनी चाहिए। "वेदाध्ययन के बाद" ऐसा अधिकृत अर्थ ही अथ में निहित है। विना अध्ययन किये वैदिक विषय पर विचार नहीं हो सकता। अध्ययन हीन स्वतन्त्रता ही दोष है। वेदार्थ "ब्रह्म" में ही विहित है, ऐसा मानना ही वेदानुकूल विचार है, इस विचार के लिए किया गया व्याख्यान ही युक्त है। व्याख्यान से विशेष अर्थावबोध होता है। जैसे कि—पूर्व मीमांसा में—"दर्श-पूर्णमासौ तु पूर्वं व्याख्यास्यामः" का तात्पर्य है "अथातो दर्शपूर्णमासौ व्याख्यास्यामः"।

अथवा एतर्हि इमानि सिद्ध्यन्ति प्रयोजनानि, अधिकाकांक्षा न भवेत्, अध्याहारश्च, पुरुषार्थश्च सिध्येत्, उच्छेदश्च न भवेदिति कथम्? अथ शब्दोऽर्थचतुष्टये वर्त्तते—मंगले, अधिकारे, आनंतर्ये अर्थान्तरोपक्रमे च। तत्र श्रुतिमात्रेणैव मंगलसिद्धेरर्थान्तरस्य पूर्वोक्तस्याभावान्नात्र तत्कल्पनम्। अथावशिष्यते आनन्तर्ये वाऽधिकारे वेति। आनन्तर्ये तु अध्ययनस्य स्वतः सिद्धत्वादधिकाकांक्षा भवति। तथा तदभावान्न विचारः सिद्ध्येत्। तथाहि न तावद्धर्मे विचारानन्तर्यम्, विपर्यय संभवात्। न च पाठतो नियमः, तत्रापि तथा। न चाऽचाराद् व्यवस्था, तत्राप्यनियम संभवात्, प्रत्यवायाश्रवणात्, संभवेऽपि न वक्तव्यत्वमध्ययनवत्, तथा च ततोऽप्याकांक्षा भवेत्।

अधिकार अर्थ की सिद्धि के बाद, अधिक आकांक्षा का अभाव, पुरुषार्थ सिद्धि, शास्त्रोच्छेद का अभाव और अध्याहार का अभाव, ये चार प्रयोजन सिद्ध होते हैं, क्योंकि "अथ" शब्द मंगल, अधिकार, आनन्तर्य और अर्थान्तरोपक्रम इन चार अर्थों में प्रयोग होता है। श्रुति के सारे ही शब्द मांगलिक हैं, इसलिए "अथ" शब्द मंगलार्थक तो हो नहीं सकता। पूर्व में कुछ कहा तो गया नहीं इसलिए अर्थान्तर बोधक भी नहीं हो सकता। बच रहे आनन्तर्य और अधिकार, इन्हीं दोनों में से किसी अर्थ में वह प्रयुक्त है। आनन्तर्य अर्थ तो स्वतः सिद्ध है, अध्ययन के बाद अधिक आकांक्षा होती है, यही आनन्तर्य अर्थ का तात्पर्य है। अध्ययन के विना विचार सिद्धि नहीं हो सकती। धर्म विचार के बाद ब्रह्म जिज्ञासा की जाय, ऐसा कोई आवश्यक नहीं है, ऐसा मानने से तो विपर्यय होगा। न यही नियम है कि—वेदों से धर्म को पढ़ो बाद में ब्रह्म तत्त्व पर विचार करो, यदि ऐसा कोई नियम हो भी तो उसे शिष्टों द्वारा आचरित होते नहीं देखा जाता। उस पर भी यदि

यह कहें कि अनियम होगा, सो समझ में नहीं आता कि अनियम कैसे होगा ? वैसा करने अर्थात् धर्म जिज्ञासा के पूर्व ब्रह्म जिज्ञासा करने से, कोई पाप होता हो, ऐसा कोई श्रुति प्रमाण तो है नहीं। यदि पाप संभव भी हो तो, अथ शब्द से वह उल्लेख्य नहीं है, क्योंकि—जैसे अध्ययन के बाद, स्वतः ही ब्रह्म सम्बन्धी अधिक आकांक्षा होती है, वैसे ही धर्म के बाद भी होगी ही, उसे कहने की आवश्यकता नहीं है [इसलिए अथ शब्द धर्म के आनन्तर्य अर्थ में प्रयुक्त नहीं है]।

न च वैराग्यशमदमादिः पूर्वसिद्धिः, तेषामेवाभावात्। न च यदैव संभवस्तदैव तत्कर्त्तव्यमिति वाच्यम्, तदसंभवापत्तेः तथाहि, ब्रह्मणः परम-पुरुषार्थत्वे ज्ञाते तज्ज्ञानस्यैव साधनत्वेऽवगते तच्छेषत्वे च यागादीनामवगते तदर्थकर्म करणे चित्त शुद्धौ सत्यां वैराग्यादि, इदं च वेदांतविचार व्यतिरेकेण न भवतीत्यन्योन्याश्रयः। निर्द्धारिते तु वेदांते विचारो व्यर्थ एव।

वैराग्य शम दम आदि संपन्न व्यक्ति को ही वेदांत विचार का अधिकार है, ऐसा आनंतर्य अर्थ करना भी असंगत है। विना वेदांत विचार के वैराग्य शम दम आदि हो ही नहीं सकते, सांसारिक भोगों में लोगों की स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है, नित्य अनित्य के विचारे बिना शम दम आदि संभव होंगे भी कैसे ? वेदांत विचार के विना ही, याग आदि से चित्त शुद्धि हो जाने से शम दम आदि हो जावेंगे, यह नहीं कह सकते। वेदांत वाक्यों से ब्रह्मज्ञान की मोक्षसाधकता, यागादि की ब्रह्मज्ञान शेषता के ज्ञात होने पर, ब्रह्मज्ञानोत्पत्ति के लिए नित्य अग्निहोत्र आदि के करने से चित्त शुद्ध होने पर ही वैराग्य आदि होते हैं। वैराग्य आदि ब्रह्मज्ञान के आश्रित हैं, ब्रह्मज्ञान वेदांत विचार के अधीन है। वेदांत विचार को यदि वैराग्य आदि पर आश्रित मानेंगे तो अन्योन्याश्रय दोष हो जायगा। वेदांत विचार के फलस्वरूप होने वाले शम दम आदि यदि पहले ही संभव हों तो वेदांत विचार की आवश्यकता ही क्या है।

न च साक्षात्कारः तत्फलम्, तस्य शब्द शेषत्वेन तत्कल्पनायां प्रमाणा-भावात्। दशमस्त्वमसीत्यादौ प्रत्यक्ष सामग्र्या बलवत्वाद् देहादेः प्रत्यक्षत्वात् स्वदेहमपि पश्यन् दशमोऽहमिति मन्यते। न तथा प्रकृते, मनननिदिध्यासन-विधीनामानर्थक्य प्रसंगात्।

वेदांत विचार का फल ब्रह्म साक्षात्कार नहीं है, वेदांत विचार शब्द-शेष मात्र ही तो है (उससे शाब्दबोध मात्र ही तो होता है) शब्द परोक्ष ज्ञान मात्र कराता है [अर्थात् "तत्त्वमसि" के विचारने से केवल इतना ही अर्थ ज्ञात होता है कि—"तू वह है", तत् पद वाच्य उस ब्रह्म का साक्षात्कार तो हो नहीं जाता]। शब्द से साक्षात्कार होता है, इसका कोई प्रमाण तो मिलता नहीं। "तुम दसवें व्यक्ति हो" इत्यादि कथन में तो देहादि की प्रत्यक्ष उपलब्धि होती है, वैसी उपलब्धि "तत्त्वमसि" इत्यादि में तो होती नहीं। यदि वेदांत विचार से ही साक्षात्कार संभव होगा तो, मनन निदिध्यासन आदि विधियां ही व्यर्थ हो जावेंगी।

न चाधिकारिभेदः कल्पनीयः, शब्दज्ञाने तत्कल्पनायां प्रमाणाभावात्। अत्यन्तासत्यप्यर्थे शब्दस्य ज्ञानजननात् प्रमाणसंकरापत्तिश्च। मनसा तज्जननेऽपि तथा। तस्मात् प्रथमं शाब्दमेव ज्ञानमिति मंतव्यम्, अनुभव-सिद्धत्वात्, इदानींतनानामपि शमादि रहितानां निर्विचिकित्सित वेदार्थ-ज्ञानोपलब्धेः संन्यासानुपपत्तिश्च।

साक्षात्कार के संबंध में अधिकारी की कल्पना भी नहीं की जा सकती [अर्थात् उत्तम व्यक्ति को वेदांत वाक्य के विचार मात्र से साक्षात्कार हो जाता है और सामान्य व्यक्ति को मनन आदि द्वारा होता है], शब्द ज्ञान में इस प्रकार की कल्पना का कोई प्रमाण नहीं मिलता। अत्यंत असत्य अर्थ वाले शब्द भी अर्थ ज्ञान तो कराते ही हैं, सभी को उसका समान रूप से अर्थावबोध होता है, ऊँचे नीचे का कोई भेद नहीं होता। शब्द को अपरोक्ष ज्ञान जनक मानने से सांकर्य दोष भी होगा [अर्थात् सामान्य अधिकारी को वेदांत वाक्य से परोक्ष ज्ञान होता है तथा विशिष्ट को अपरोक्ष (प्रत्यक्ष साक्षात्कार) होता है ऐसा भेद मानने से शाब्दबोध में सांकर्य दोष घटित होगा], इसलिए यही मानना समीचीन है कि—शम दम आदि के पूर्व शाब्द ज्ञान मात्र ही होता है, यही अनुभव सिद्ध भी है। शम दम आदि शून्य, विचार समर्थ व्यक्तियों को यदि वेदांत निर्णय न हो सकता तो, आजतक के उन विचारकों को संशय रहित वेदार्थ निर्णय न हो पाता। शब्द से अपरोक्ष ज्ञान मानने से संन्यास भी उपपन्न नहीं हो सकता (अर्थात् ऐसा मानने से—"वेदांत विज्ञान सुनिश्चितार्थाः, संन्यास योगाद् यतयः शुद्ध-सत्वाः" इत्यादि वेदांतार्थ निर्णय के बाद संन्यास का उल्लेख करने वाली उक्ति ही व्यर्थ हो जायगी, संन्यास की आवश्यकता ही नष्ट हो जायगी)

किं च अध्याहारश्च कर्त्तव्यः, स च कर्त्तव्यादिपदानाम्, यदि तत्स्वार्थं, व्यर्थमेव वाक्यं स्यात्, परार्थत्वे त्वशक्यम्, न हि तैर्विचारः कर्त्तुं शक्यते, स्वकृति वैयर्थ्यं च, असंगतिश्चास्य सूत्रस्य भवेत् ।

किं चाधिकारपक्षे पुरुषार्थः सिद्ध्यति, नानंतर्यपक्षे, उक्तन्यायात् । किं च तादृशस्याधिकारिणः श्रवणमात्रेण कृतार्थस्य समाधिनिरतस्य प्रवचना-संभवाच्छास्त्रोच्छेदः, शास्त्र विरोधश्च, साधनानामग्रे स्वयमेव वक्तव्यत्वात् । अतोऽनेक दोषदुष्टत्वादधिकारार्थ एव श्रेयान् ।

अथ शब्द का आनंतर्य अर्थ मानने में अधिकाकांक्षा, अध्याहारापत्ति, पुरुषार्थासिद्धि और विचारोच्छेद आदि चार दोष दिखलाये गये, अधिकाकांक्षा का निरूपण ऊपर कर चुके, अब अध्याहार का निरूपण करते हैं—

आनन्तर्य अर्थ में अथ शब्द से कर्त्तव्य आदि पदों का अध्याहार आवश्यक है, यदि वह अध्याहार स्वार्थ में है तो वाक्य ही व्यर्थ हो जायगा, परार्थ में किया नहीं जा सकता, क्यों कि अल्पज्ञ लोग ब्रह्म सम्बन्धी विचार में समर्थ नहीं हो सकते । यदि ब्रह्म तत्त्व को सामान्यतः ज्ञेय मान लें तो भगवान व्यास देव की कृति ही व्यर्थ हो जायगी, तथा स्व-पर के झमेले में "अथाऽतो" इत्यादि सूत्र की उपयोगिता ही समाप्त हो जायगी, अतएव वह असंगत हो जायगा ।

अधिकार पक्ष में ही पुरुषार्थ सिद्धि होती है, आनंतर्य पक्ष में नहीं, उपर्युक्त विवेचन से यही सिद्ध होता है । यदि साधन चतुष्टय के बाद ही वेदांत विचार की बात होती तो, श्रवणमात्र से ही कृतार्थ व्यक्ति को समाधि के बिना ही साक्षात्कार हो जाता, वेदांत विचार के लिए किये गये प्रवचन की उपयोगिता ही समाप्त हो जाती, प्रवचन विधायक शास्त्रों के अध्ययन अध्यापन की परंपरा का ही उच्छेद हो जाता । साधन के विना केवल श्रवणमात्र से साक्षात्कार की बात शास्त्र सम्मत नहीं है, यदि साधन विना ही साक्षात्कार संभव होता तो भगवान बादरायण स्वयं साधनों का वर्णन न करते । इस प्रकार आनंतर्य अर्थ अनेक प्रकार से दूषित है, अधिकार अर्थ मानना ही श्रेष्ठ है ।

न च ज्ञातुमिच्छा जिज्ञासा, नाधिकर्त्तुं शक्येति वाच्यम्, जिज्ञासा पदस्य विचारार्थत्वात् । अत एव जिज्ञासितुमिच्छेदिति पुराविदां वचनानि, जिज्ञासा

पदेन चैतज्ज्ञापयति । ब्रह्मज्ञानं पुरुषार्थसाधनत्वादिष्टम्, तदिच्छा-पूरणाय विचार आरभ्यत इति । यस्मात् कर्मादिभ्यो ज्ञानमेव पुरुषार्थ साधनमित्यतः तज्ज्ञानाय विचारोऽधिक्रियत इति ।

जिज्ञासा शब्द का अर्थ "जानने की इच्छा" नहीं किया जा सकता। ज्ञानेच्छा मात्र से भ्रम निवृत्त नहीं होता । जिज्ञासा पद विचारार्थक है जैसा कि—"जिज्ञासितुमिच्छेत्" (जिज्ञासा की इच्छा) इत्यादि प्राचीन (शाबरभाष्य) लोगों की उक्ति से निश्चित होता है । यदि सूत्रकार को जिज्ञासा पद से विचार अर्थ हीग्राह्य था तो असंदिग्ध विचार शब्द को छोड़कर श्लिष्ट पद का क्यों प्रयोग किया ? उत्तर देते हैं कि सूत्रकार जिज्ञासा पद से यह ज्ञापन करते हैं कि—परम पुरुषार्थ का साधन ब्रह्मज्ञान ही इष्ट है, मोक्ष की इच्छा पूर्ण करने के लिए उसका विचार प्रारम्भ होता है ।

अतः शब्दार्थः—अथ शब्द का निरूपण करके अब "अतः" का निरूपण करते हैं—

अधिकारी तु त्रैवर्णिक एव, न हि वेद विचारस्य वेदाधिकार्यतिरिक्तः शक्यते कल्पयितुम् । न हि मंदमतेर्वेदो नायातीति त्रैवर्णिके मतिमत्त्वमधि-कारि विशेषणं कल्प्यते । अंधपंग्वादीनामिव कर्मणि गृहाद्यासक्तस्य मननाद्य-संभवात् साक्षात्कारो न भविष्यति ।

वेदार्थ विचार में तीन वर्ण के लोग ही अधिकारी हैं, वेदार्थ विचार में अधिकारी के अतिरिक्त किसी अन्य की कल्पना भी नहीं कर सकते । ऐसा नहीं है कि मंदमति को वेद नहीं आता इसलिए ही तीन वर्ण वालों को अधिकारी कहा गया हो, अपितु अंधे-लंगड़े की तरह असक्त, गृह कार्य में अत्यासक्त व्यक्ति मनन नहीं कर सकता अतः उसे साक्षात्कार नहीं हो सकता, इस आधार पर शूद्र के अनधिकार की बात कही गयी है ।

न च धर्मन्यायेन गतार्थत्वमस्य अप्रतिज्ञानादनुपलब्धेश्च । न च जगत्कारणं परमात्मा वा प्रकृतिर्वा परमाणवो वेति संदेहे किंचिदधिकरण-मस्ति । स्यादेतत्, अथातो धर्मजिज्ञासेति धर्मविचारं प्रतिज्ञाय नोदक-वाक्यार्थस्य धर्मत्वमुक्त्वा प्रामाण्यपुरःसरं सर्वे संदेहा निवारिताः, तत्र ब्रह्म-ज्ञानस्यापि धर्मत्वम् । आत्मेत्येवोपासीत, आत्मानं श्लोकमुपासीत, तद्

ब्रह्मेत्युपासीत, आत्मा वाऽरे द्रष्टव्य इत्यादिनोदनवाक्यार्थत्वात्। "अयं हि परमो धर्मो यद् योगेनात्मदर्शनमिति" स्मृतेश्च। सृष्ट्यादिवाक्यानां त्वर्थवादत्वम्। आरोपापवाद विषय धर्मप्रतिपादकत्वेन विधेयोपासनाविषयस्तावकत्वात्। न च ज्ञानादीनामविधेयत्वं, प्रमाणवस्तुपरतंत्रत्वेनाकृतिसाध्यत्वादिति वाच्यम्, नहि सर्वात्मना असाध्यम्, प्रकारभेदस्त्वप्रयोजकः, सर्वस्यापि कारणेषु पुरुषव्यापृतिः तदत्र वृत्ति संपादने प्रमाण संपादने वा पुरुषकृति साध्यत्वम्। अन्यथा सिद्धान्तेऽपि मननादि शास्त्र वैफल्यापत्तेः, साधन प्रतिपादक श्रुति विरोधश्च, येनापि सर्वं क्रिया फलत्वं निराकार्यं तेनापि गुरूपसत्त्यादिना यतितव्यमेव ज्ञानार्थे, तस्माद् यत्रापि विध्यश्रवणं, तत्रापि विधिं परिकल्प्य तत्रत्यानां तच्छेषत्वं कल्प्यमिति, नार्थोऽनया मीमांसया, अन्यथा विरोधोऽपि।

धर्म की तरह, ब्रह्म विचार की गतार्थता भी नहीं है, अर्थात् वेद के अर्थ ज्ञान मात्र के लिए जैसे धर्म की जिज्ञासा होती है वैसे ब्रह्म जिज्ञासा नहीं होती, अपितु वेदार्थ ब्रह्म ज्ञान के लिए यह विचार किया जाता है। जैमिनि ने केवल धर्म विचार की ही प्रतिज्ञा की है, ब्रह्म विचार की नहीं (यदि ब्रह्म विचार की भी की होती तो वे "अथातो वेद जिज्ञासा" सूत्र बनाते)। यदि धर्म जिज्ञासा में ब्रह्म विचार की भी प्रतिज्ञा होती तो "चोदना लक्षणोथो धर्मः" इत्यादि से धर्म विचार की तरह ब्रह्म विचार की भी उपलब्धि होती। इस प्रकार की उपलब्धि न होने से निश्चित होता है कि ब्रह्म विचार की प्रतिज्ञा नहीं की गयी। और न जैमिनि की पूर्व मीमांसा के किसी अधिकरण में जगत कारण रूप से परमात्मा, प्रकृति या परमाणु के विषय में विचार ही किया गया है, जिसके आधार पर यह कहा जा सके कि धर्म जिज्ञासा के अन्तर्गत ही ब्रह्म जिज्ञासा भी है। यदि ऐसा होता तो "अथातो धर्म जिज्ञासा" सूत्र से धर्म विचार की प्रतिज्ञा के लिए, नोदक वाक्य की अर्थधर्मता बतला कर सारे संदेहों का प्रमाणों सहित निराकरण किया गया होता [अर्थात् "चोदना लक्षणार्थो धर्मः" से लेकर "आत्मेत्येवोपासीत" इत्यादि वाक्यों की अर्थधर्मता बतलाकर उपपत्ति पूर्वक अर्थवाक्यों की प्रामाणिकता की शंका निराकृत की गयी होती] "आत्मेत्येवोपारीत, आत्मानंलोकमुपासीत, तद् ब्रह्मेत्युपासीत, आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः" इत्यादि नोदनवाक्याथों से ब्रह्मज्ञान का भी धर्मत्व सिद्ध होता है। "योग के दारा आत्म दर्शन किया जाना ही परम धर्म है" इत्यादि स्मृति प्रमाण भी हैं। हमारे मत से तो जगत

नित्य है अतः "यतो वा इमानि" इत्यादि सृष्टि प्रतिपादक वाक्य अर्थवाद मात्र ही हैं। क्योंकि—ब्रह्म में कोई वास्तविक धर्म तो है नहीं, वह तो नित्य शुद्ध बुद्ध उदासीन होने से सदा ही निर्विषय है, स्थूलता आदि निषेध करने वाली श्रुतियाँ उसकी निर्विषयता का प्रमाण हैं। सृष्टि प्रतिपादक वाक्यों में उन्हीं अपवाद विषयों का आरोप किया गया है जो कि केवल उपासना के विषय (ईश्वर) की स्तुति मात्र हैं। प्रत्यक्ष आदि प्रमाण और वस्तु सापेक्ष होने से, विधि, आकृति साध्य होती है, इसलिए आकृति रहित (परब्रह्म के लक्षण स्वरूप सत्यंज्ञानमनंतंब्रह्म) ।ज्ञान आदि विधेय नहीं हो सकते। ज्ञान आदि एकदम असाध्य भी नहीं हैं, प्रकार भेद तो प्रयोजन हीन होता है, सभी कारणों में पुरुष का प्रयास होता है। ब्रह्माकार वृत्ति के उत्पादन तथा चक्षु मन आदि प्रमाण रूप ज्ञानेन्द्रियों के निग्रह में पुरुष का प्रयास सापेक्ष होता है, यदि ऐसा न हो तो वेदांत मत के अनुसार विधीयमान मनन निदिध्यासन आदि नियम विफल हो जायेंगे, तथा साधन प्रतिपादक श्रुतियों की विरुद्धता सिद्ध होगी। जो लोग ज्ञान की साधना में कर्मफल के निराकरण की बात करते हैं, उन्हें भी ज्ञान साधन के लिए गुरु के शरणापन्न होकर प्रयास करना ही पड़ता है। जहाँ ("ब्रह्मविदाप्नोति परम्" इत्यादि वाक्यों में) साधन फल मात्र की प्रतीति होती है, विधि की नहीं, वहाँ भी विधि की कल्पना करके उस प्रकरण में स्थित ("सत्य ज्ञानमनंतं ब्रह्म" इत्यादि) वाक्यों की विधिशेषता की कल्पना करनी ही पड़ती है। इस प्रकार उत्तर मीमांसा में धर्म का प्रयोजन ही क्या है? यदि ऐसा नहीं मानते तो ("आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्" इत्यादि स्मृति के आधार पर उत्तर कांड की अनर्थकता से) विरोध होता है।

स्यादेतत्, ब्रह्मविचार एवारम्भणीयो न धर्मविचारः, सर्ववेद व्यासकर्त्रा वेदव्यासेन कृतत्वात् तुच्छफलत्वाच्च। कल्पोक्त प्रकारेण निःसदिग्धं करण-संभवाच्च। आचारपरम्परयाऽपि करणसंभवाच्च। एतर्हि अपि संदेहे सूत्रभाष्य याज्ञिकानामेवानुकृतिः क्रियते, न मीमांसकस्य, तस्मात् सांगवेदाध्येतुर्निःसंदेह करण संभवान्न पूर्वयाऽपि कृत्यम्। किं च परम कृपालुर्वेदः संसारिणः संसारान्मोचयितुं कर्माणि चित्तशुद्ध्यर्थं बोधितवानिति कूपेऽन्ध-पातनवदप्रामाणिकत्वभियावसीयते। विपरीत बोधिका तु पूर्वमीमांसा तस्मा-दपि न कर्त्तव्येति।

पूर्व पक्ष —

ब्रह्मविचार ही आरंभणीय है, धर्मविचार नहीं, क्योंकि—वेद के व्यासकर्त्ता भगवान वेदव्यास ने उस पर कोई विचार ही नहीं किया तथा धर्म का फल स्वर्ग भी एक तुच्छ वस्तु है। कल्पसूत्र के अनुसार, असंदिग्ध होने पर ही धर्म का अनुष्ठान होता है, अनुष्ठान के प्रकार में संदेह होने पर कल्पसूत्र भाष्य तथा निरन्तर यज्ञानुष्ठानशील याज्ञिकों का अनुसरण करना पड़ता है, धर्म ज्ञान के लिए मीमांसक से परामर्श आवश्यक नहीं होता। अंगों सहित वेदाध्ययन करने वाले को असंदिग्ध अनुष्ठान के लिए, पूर्वमीमांसा की अपेक्षा नहीं होती। परम कृपालु वेद, कूपतुल्य गहन कर्मों में, अंधे व्यक्ति की तरह पतित, किंकर्त्तव्य विमूढ संसारी व्यक्तियों को संसार से मुक्त करने के लिए चित्त शुद्धि का उपदेश देते हैं। जब कि—पूर्व मीमांसा, इसके विपरीत कर्म बन्धन का प्रवचन करती है, इसलिए भी पूर्वमीमांसा विचारणीय नहीं है।

मैवम्। किं विचारमात्रं न कर्त्तव्यं, पूर्वकाण्ड विचारो वा, नाद्यः, तुल्यत्वात् समर्थितत्वाच्च। द्वितीये सामान्य न्यायेन संदेहे निवार्ये लक्षणवत्तदुपयोगः, अनिष्टतया निरूपणं न मीमांसादोषः किन्तु विचारकाणां स्वभाव भेदात्। किं च आवश्यकत्वादपि, निवृत्तानामपि यागादिज्ञानस्यावश्यकत्वम्, चित्तशुद्ध्यर्थत्वात्। परमाश्रयभेदेन प्रकारभेदः कायिकादिभेदात्। तत्राद्यस्य वाचिको द्वितीयतृतीययोः कायिकः चतुर्थस्य मानसिक इत्याश्रमिणाम्। तस्मादेकेनैव चरितार्थत्वात् किं द्वितीयेनेति प्राप्ते।

उत्तर पक्ष—

ऐसा उचित नहीं है कि पूर्व मीमांसा पर विचार ही न किया जाय। प्रश्न यह है कि—विचार करने की बात ही छोड़ दी जाय अथवा पूर्वकाण्ड पर विचार न किया जाय? विचार करने की बात छोड़ें तो, उत्तर काण्ड पर भी विचार नहीं कर सकेंगे, क्यों कि दोनों समान हैं, आपने स्वयं ही "आप्रतिज्ञानात्" इत्यादि से विचार का प्रतिपादन किया है। पूर्वकाण्ड पर विचार न करने से कार्य नहीं चल सकता, क्यों कि—वेद में जब परस्पर विरोधी विधियाँ मिलती हैं तब उसके निवारण के लिए, कल्पसूत्र के लक्षणों की तरह, पूर्व मीमांसा की उपयोगिता है। पूर्व मीमांसा को जो अनिष्ट रूप से निरूपण किया जाता है, वह विचारकों का दोष है मीमांसा का नहीं

(अर्थात् सूत्रकार ने अनिष्ट अर्थ में रचना नहीं की है अपितु भाष्यकारों ने अनिष्टार्थ कल्पना की है), पूर्वमीमांसा के सूत्र निर्दोष हैं। विचारकों ने जो सूत्र से विपरीत कल्पना की है, स्वभाव भेद ही उसका कारण है। पूर्व-मीमांसा आवश्यक भी है, फलाकाँक्षा रहित उपासकों के लिए भी याग आदि का ज्ञान आवश्यक है, क्यों कि—याग आदि चित्त शुद्धि के साधन हैं। आश्रमों के अनुसार याग आदि में कायिक आदि प्रकार भेद हैं। ब्रह्मचर्य में वाचिक यज्ञ का विधान है, तो गृही और वानप्रस्थी में कायिक तथा संन्यास में मानस यज्ञ विहित है [वाचिक=ब्रह्मयज्ञ, कायिक=अग्निहोत्र, मानस=चिंतन] इस प्रकार जब एक (धर्म विचार) से ही सब कुछ संभव है तो, दूसरे (ब्रह्म विचार) की क्या आवश्यकता है?

उच्यते—उपासनाया धर्मत्वेऽपि न ब्रह्मणो धर्मत्वम्, ज्ञान रूपत्वात्, धर्मस्य च क्रिया रूपत्वात्। न चार्थवादानां धर्म इव ब्रह्मण्युपयोगः कर्त्तुं शक्यः। उत्पत्तिप्रकारफलभेदानामभावात्। प्रकृते तु माहात्म्यज्ञानार्थं तदुपयोगः। तस्य च ज्ञानोपयोगो यथा तथा वक्ष्यते चतुर्थे, उपासना दर्शनादिपदानां मनोव्यापारत्वमेव, विचारस्यापि तथा ज्ञानोपयोगित्वं, तथाग्रे वक्ष्यते।

सिद्धान्त—

[जो यह कहा कि—"आत्मेत्येवोपासीत" इत्यादि नोदन वाक्यों के श्रवण से ही ब्रह्म ज्ञान का धर्मत्व सिद्ध है, फिर पृथक् रूप से उसकी जिज्ञासा की क्या आवश्यकता है? इसका उत्तर देते हैं] जैसे—"ज्योतिष्टोमेन यजेत" इत्यादि में ज्योतिष्टोम देवता के उद्देश्य से द्रव्यत्यागात्मक भावना रूप से धर्मत्व है, वैसा "आत्मेत्येवोपासीत" इत्यादि में केवल क्रियामात्र से धर्मत्व नहीं है, क्यों कि—उपासना मानस क्रिया साध्य है, इसलिए धर्म रूप होते हुए भी, निष्क्रिय ब्रह्म की साधिका होने से उसमें धर्मत्व नहीं है। ब्रह्म केवल ज्ञान रूप ही तो है, धर्म क्रिया रूप होता है [अर्थात् "सत्यं ज्ञानमनंतं ब्रह्म" में ब्रह्म को चिन्मात्र कहा गया है तथा "चोदना लक्षणोर्थो धर्मः" में धर्म को क्रिया रूप कहा गया है]। "वायुर्वै क्षेपिष्ठ" इत्यादि अर्थवाद वाक्यों की "वायव्यं श्वेतमालभेत्" इत्यादि विषय में धर्म रूप उपयोगिता है; सृष्टि आदि अर्थवाद वाक्यों की "आत्मेत्येवोपासीत" इत्यादि विषय में वैसी उपयोगिता नहीं है। क्यों कि उसमें उत्पत्ति, प्रकार, फल आदि के भेद का

अभाव है [क्रिया में—"असावादित्यो न व्यरोचत" आदि सूर्यादि की उत्पत्ति, "अयं वै सोमेनेजानात्" इत्यादि में प्रकार तथा "वायुर्वै क्षेपिष्ठः" इत्यादि फल आदि भेद होते हैं। ब्रह्म में उत्पत्ति आदि का सर्वथा अभाव है, क्योंकि वह नित्य, सदैकरस और स्वयं फलस्वरूप है]। ब्रह्म के "यतो वा इमानि" इत्यादि जो प्राकृत अर्थवाद वाक्य हैं, वे केवल माहात्म्यज्ञान के लिए ही उपयुक्त हैं। माहात्म्य ज्ञान का वर्णन चतुर्थ अध्याय (के चतुर्थ पाद के "आदित्यादिमतयः" सूत्र) में करेंगे (अर्थात् भगवत्प्राप्ति रूप साक्षात्कार में, भक्ति द्वारा उन वाक्यों की उपयोगिता बतलावेंगे)। "आत्मेत्येवोपासीत, आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः" इत्यादि में उपासना और साक्षात्कार आदि की मनोव्यापरता ही वर्णित है। विचार की ज्ञानोपयोगिता का भी (तृतीय अध्याय, तृतीय पाद के उभयव्य-पदेशाधिकरण में) चिन्तन करेंगे।

किं चौपनिषदज्ञानस्यापि कर्मोपयोगित्वम्, "यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा वा तदेव वीर्यवत्तरं भवति" इति। अतएव ब्रह्मविदामेव जनकादीनां कर्मणि सर्वं देव सान्निध्यम्, अन्यथा आभासत्वमेव। न च ब्रह्म-रूपात्म विज्ञाने देहाद्यध्यासाभावेन कर्त्तृत्वाभावात् कर्मानधिकार इति वाच्यम्। निरध्यस्तैरेव देहादिभिः कर्मकरणसंभवात्। अत एव जीवन्मुक्तानां सर्वे व्यापाराः। तथा च स्मृतिः "नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्। पश्यन् शृण्वन् स्पृशन् जिघ्रन्नश्नन् गच्छन् स्वपन् श्वसन्। प्रलपन् विसृजन् गृह्णन्नुन्मिषन् निमिषन्नपि। इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इव धारयन्। ब्रह्मण्याधाय कर्माणि संगं त्यक्त्वा करोति यः। लिप्यते न स पापेन पद्म-पत्रमिवाम्भसा॥" इति। अतो ब्रह्मविदामेव कृतं कर्म शुभफलं भवति। अतो धर्मविचार कारणमपि ब्रह्म जिज्ञास्यमेव। तस्मान्न गतार्थत्वानुपयोगौ।

"यदेव विद्यया करोति" इत्यादि श्रुति में उपनिषद् ज्ञान की कर्मोपयोगिता भी बतलाई गई है। ब्रह्मवेत्ता जनक आदि को कर्म में ही देव प्राप्ति हुई। औपनिषद ज्ञान के अभाव में तो कर्माभास ही होता है। यह नहीं कह सकते कि—ब्रह्मरूप आत्मविज्ञान में देहाध्यास का अभाव (विदेहता) होने से कर्त्तृत्व का अभाव हो जायगा, अतः कर्म में अधिकार नहीं रह जायगा। वस्तुतः देह आदि के अनध्यस्त होने से फलानुसंधान राहित्य मात्र होता है, कृत कर्म का अभाव नहीं होता। अतएव जीवन्मुक्तों के सारे कार्य होते हैं, जैसा कि स्मृति का वचन भी है—"तत्त्ववेत्ता ऐसा अनुभव करते हैं

कि मैं कुछ नहीं करता, वे देखते, सुनते, स्पर्श करते, सूंघते, खाते, सोते, चलते, श्वास लेते, बोलते, लेते, देते, उठते, बैठते हुए इन्द्रियों के विषयों का उपयोग करते हुए भी सभी कर्मों को ब्रह्माश्रित मानकर, अनासक्त होकर आचरण करते हैं, इसलिए वे पाप से उसी प्रकार आसक्त नहीं होते, जैसे कि कमल पत्र जल से संसक्त नहीं होता।" ब्रह्मवेत्ताओं के कृत कर्म शुभफलदायी होते हैं, इसलिए धर्म विचारकों के लिए भी ब्रह्म जिज्ञास्य ही है। अतएव ब्रह्म जिज्ञासा में कर्ममीमांसा की गतार्थता और अनुपयोगिता नहीं कही जा सकती।

ननु फलप्रेप्सुरधिकारी, फलं च विचारस्य शाब्दं ज्ञानं, तस्य मननादि द्वाराऽनुभवः तस्य चानर्थनिवृत्ति पूर्वक परमानंदावाप्तिः। तथा च विरक्तोऽनर्थजिहासुः परप्रेप्सुश्चाधिकारी कस्मान्न भवति। "शब्द ब्रह्मणि निष्णातो न निष्णायात् परे यदि। श्रमस्तस्य फलं मन्ये ह्यधेनुमिव रक्षतः।।" इति भगवद् वचनात् केवलस्य निन्दा श्रवणादिति चेत्, न, फलकामनायाः अनुपयोगात्। अन्येनैव तत् समर्पणात्। नित्यत्वादप्यर्थज्ञानस्य न फलप्रेप्सुरधिकारी। निन्दार्थवादस्तु मननादि विधिशेष इति मन्तव्यम्।

जो फलाकांक्षी वेदांत शास्त्र के अधिकारी हैं, उन्हें विचार के फलस्वरूप शाब्द ज्ञान होता है, मनन आदि से उस ज्ञान की अपरोक्ष अनुभूति होती है, अतएव अनर्थ की निवृत्ति होकर परमानन्द पुरुषोत्तम की प्राप्ति हो जाती है, तो भला अनर्थ को त्यागने वाले विरक्त हैं जो कि—परब्रह्म को प्राप्त करने को आकुल रहते हैं, वे अधिकारी क्यों न होंगे? "शब्द ब्रह्म में निष्णात व्यक्ति यदि परतत्त्व में निष्णात नहीं होता तो उसका प्रयास श्रममात्र ही है, जैसे कि—दूध न देने वाली गौ की सेवा फलरहित, श्रममात्र ही होती है" इस भगवदीय वचन में केवल निन्दा ही नहीं की गई है अपितु फल कामना को अनुपयोगी बतलाया गया है। अनन्य भाव से परमात्म प्राप्ति की कामना वाले ब्रह्मवेता को ही अधिकारी बतलाया गया है। अर्थज्ञान की नित्यता होने से, फलाकांक्षी व्यक्ति अधिकारी नहीं हो सकता [अर्थात् संध्यावंदन आदि की तरह उपासना करणीय है, उसके न करने से प्रत्यवाय होगा, इसलिए फलाकांक्षा हो या न हो वह तो कर्त्तव्य है ही]। निन्दार्थवाद को तो मनन आदि निर्विशेष की तरह मानना चाहिए।

यहाँ तक अधिकारी और पर-प्राप्तिरूप प्रयोजन पर विचार किया गया, अब विषय का निर्वचन करते हैं—

ननु ब्रह्मणो विचारे प्रतिज्ञाते विरोधनिराकरणादीनामप्रतिज्ञातार्थत्वम्, न वा वक्तव्यत्वम्। निर्विचिकित्सज्ञानानुदयप्रसंगादिति चेत्, न, ब्रह्मण इति न कर्मणि षष्ठी, किन्तु शेषषष्ठी, तथा च ब्रह्मसंबंधि तज्ज्ञानोपयोगि सर्वमेव प्रतिज्ञातं वेदितव्यम्। न च गौणतापत्तिरजिज्ञास्यत्वं च स्यादिति वाच्यम्। ब्रह्ममात्रे संदेहाभावात्। संदिग्धस्यैव जिज्ञास्यता, गौणत्वं तु शब्दत एव नत्वर्थतः, वेद प्रामाण्यं तु प्रतितंत्र सिद्धत्वान्न विचार्यते, तस्माद् ब्रह्म जिज्ञासितव्यम् इति सिद्धम्।

क्या, समस्त वेदांत वाक्यों के ब्रह्म में समन्वय रूप विचार में विरोध निराकरण, साधन, फल आदि की अप्रतिज्ञार्थता होती है? नहीं, ऐसा नहीं कह सकते। यदि कहें कि परमत निराकरण पूर्वक स्वमत व्यवस्थापन रूप निरूपण के अभाव से सांख्य आदि का निराकरण न हो सकेगा, जिससे जगत का कर्त्ता ब्रह्म है या प्रधान ऐसा संदेह बना ही रहेगा, ब्रह्म विषयक असंदिग्ध शाब्दबोधात्मक ज्ञान न हो सकेगा। सो बात नहीं है, क्योंकि "ब्रह्मणः" में कर्म में षष्ठी नहीं है अपितु शेष षष्ठी है, जिससे ब्रह्म सम्बन्धी और उसके ज्ञानोपयोगी आदि सभी की प्रतीति हो जाती है (जब किक र्मषष्ठी मानने से केवल ब्रह्म कर्मक ज्ञानोपयोगी विचार की ही प्रतीति होती है, जिससे आकस्मिकत्वापत्ति दोष होता है)। ऐसा नहीं है कि इस प्रकार के ब्रह्म विचार में ब्रह्म की गौणता हो जायगी, जिससे अजिज्ञास्यता होगी। आस्तिकों को ब्रह्म सत्ता में संदेह नहीं होता। वस्तुतः संदिग्ध विषय की ही जिज्ञास्यता होती है, गौणता तो शब्द से ही होती है अर्थ से नहीं। वेद की प्रामाणिकता पर विचार करने का तो कोई प्रश्न ही नहीं है, क्योंकि वेद-प्रतिकूल कणाद, अक्षपाद आदि के मत अपने में पूर्ण हैं, उन्हें तो वेद की अपेक्षा ही नहीं है, अतः उनके लिए वेद की प्रामाणिकता सिद्ध करने का कोई अर्थ ही नहीं है, आस्तिकों को वेद की प्रामाणिकता में किंचित् मात्र भी संदेह नहीं होता, अतः वेद की प्रामाणिकता विचार्य नहीं है। इसलिए ब्रह्म ही जिज्ञास्य है, ऐसा मानना चाहिए।

इस प्रकार भाष्यकार—अधिकारी, विषय, सम्बन्ध और प्रयोजन इन चार अनुबंधों का निरूपण करते हुए पहला अधिकरण समाप्त करते हैं।

२ अधिकरण

किंच तत्र किंलक्षणं किंप्रमाणकमिति जिज्ञासायामाह सूत्रकारः —

वह ब्रह्म कैसा है ? उसके अस्तित्व में क्या प्रमाण है ? इस जिज्ञासा पर सूत्रकार कहते हैं—

जन्माद्यस्य यतः शास्त्रयोनित्वात् ।१।१।२।।

ननु कथमत्र संदेहो यावता "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" इत्याह श्रुतिरेव। विरुद्धं चैतत्, स्वरूपलक्षण कथने कार्यलक्षणस्य वक्तुमशक्यत्वात्, विवादाध्यासितत्वाच्च । न हि ब्रह्मणो जगत्कर्त्तृत्वं सर्वसम्मतम्, न चागमोदितमिति वेदमात्रस्य ब्रह्मप्रमाणकत्वं वक्तुं शक्यते । किं च व्यर्थश्चैवं विचारः, लक्षणप्रमाणाभ्यां हि वस्तुज्ञानं भवति, तच्च स्वरूपलक्षणेनैव भवतीति किमनेन, तस्मादयुक्तमुत्पश्याम इति ।

ब्रह्म स्वरूप के सम्बन्ध में संदेह किया जाय यह समझ में नहीं आता, श्रुति स्पष्ट रूप से उसके स्वरूप का विवेचन करती है कि "ब्रह्म सत्य, ज्ञान और अनन्त स्वरूप है ।" सूत्रकार यदि ब्रह्म को जगत्कर्त्ता के रूप में प्रस्तुत करते हैं तो वह विरुद्ध सा लगता है, क्योंकि विना स्वरूप बतलाये उसके कार्य को बतला भी कैसे सकते हैं । स्वरूप लक्षण ही कार्य का उपजीव्य होता है (अर्थात् सामर्थ्यानुसार ही कार्यक्षमता का निर्द्धारण हो सकता है), पर कार्य का लक्षण विवादास्पद है अतः संशय का निराकरण संभव नहीं है । ब्रह्म की जगत्कर्तृता सर्व सम्मत नहीं है (कपिल आदि उन्हें नहीं मानते) इसलिए सृष्टि के आधार पर ब्रह्म का स्वरूप निर्द्धारण नहीं किया जा सकता, और न परमात्मा द्वारा कहा गया है, इसलिए संपूर्ण वेद प्रामाणिक हैं यही कहा जा सकता है [वेद में ही प्रजापति के कर्तृत्व का भी उल्लेख है]; इसलिए कार्य के लक्षण के आधार पर ब्रह्म पर विचार करना व्यर्थ है । लक्षण और प्रमाण दोनों से ही वस्तु का ज्ञान होता है, केवल कार्य के लक्षण से ही क्या होगा ? स्वरूप लक्षण से ही संशय की निवृत्ति हो सकती है । हमें तो "जन्माद्यस्य यतः" सूत्र ही अयुक्त प्रतीत होता है ।

उच्यते—"संदेहवारकं शास्त्रं वेद प्रामाण्यवादिनाम् । क्रियाशक्तिज्ञानशक्ती संदिह्येते परस्थिते ॥" न हि श्रुतिं व्याख्यातुं प्रवृत्तः सूत्रकारः, किन्तु संदेहं वारयितुम् । तत्र "सत्यं ज्ञानमनन्त ", "नित्य शुद्धमुक्त स्वभावम्" इति श्रुत्या कर्त्तृत्वादि प्रापंचिक धर्मराहित्यं प्रतीयते । "यतो वा इमानि भूतानि जायंते, येन जातानि जीवंति, यत् प्रयन्त्वभिसंविशंति" इति कर्त्तृत्वम् च ।

उक्त तर्क पर कथन यह है कि "वेद को ही एकमात्र प्रमाण मानने वालों के लिए ही यह शास्त्र संदेह निवारक है, परब्रह्म में स्थित क्रियाशक्ति और ज्ञानशक्ति में ही लोगों को संशय होता है [अर्थात् उपनिषद् प्रतिपाद्य ब्रह्म सम्बन्धी सर्वज्ञता और जगत् कर्त्तृत्व पर ही सशय होता है], सूत्रकार श्रुति की व्याख्या करने के लिए तत्पर नहीं हैं, वे तो संदेह निवृत्ति के लिए प्रस्तुत हैं । वेद में—"सत्यं ज्ञानमनन्तम्" तथा "नित्य शुद्ध मुक्तस्वभावम्" इत्यादि से कर्त्तृता आदि प्रापंचिक धर्म राहित्य का विवेचन किया गया है । "यतो वा इमानि" इत्यादि से कर्त्तृत्व भी ज्ञात होता है ।

तत्र संदेहः, किं ब्रह्म कर्त्तृ आहोस्वित् अकर्त्तृ ? किं तावत् प्राप्तम्, अकर्त्तृ, कथम् ? "ब्रह्मविदाप्नोति परम्" इति प्रधानवाक्यम्, फलसंबंधात् । ऋचापि विवृतम् "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म", "यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्", "सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता" इति । फलार्थं च ब्रह्म ज्ञानम्, फलं च फलवाक्योक्त धर्मज्ञानादेव नान्यथा, कर्त्तृत्वं च परविवरणतयोक्तम् । परं किमित्युक्ते यः सर्वान्तर आनन्द इति । कथं सर्वान्तरमित्याकांक्षायाम् परिचर्यार्थं भूतभौतिक सृष्टिमुक्त्वा गौणमनन्तर्यं परिहृतम् । गौणोपासना फलं च प्रधान शेषतयोक्तम् । तत्रान्यगत कर्त्तृत्वारोपानुवादोऽपि संभवति । ततश्च "भृगुर्वै वारुणिः" इत्युपाख्यानेऽपि परिचायकत्वाद् गौणकर्त्तृत्वमेवानूद्यते, फलाश्रवणादिति पूर्वपक्षः ।

अब संशय होता है कि ब्रह्म कर्त्ता है या नहीं ? कहते हैं कि नहीं । "ब्रह्मविदाप्नोति परम्" यह फल सम्बन्धी वाक्य है, ऋचा भी ऐसा ही विवरण प्रस्तुत करती है—"ब्रह्म सत्य ज्ञान अनन्त है, जो अपनी हृदगुहा में निहित उसे जानता है, वह उसके साथ समस्त कामनाओं का उपभोग करता है" इत्यादि । ब्रह्म प्राप्ति रूपी फल के लिए ही ब्रह्म ज्ञान होता है, फल वाक्योक्त धर्मज्ञान से ही फल को जान पाते हैं, जानने का कोई और

साधन नहीं है। ब्रह्म का कर्त्तृत्व परब्रह्म का परिचायक बतलाया गया है। परब्रह्म क्या है? इसका उत्तर मिला कि "जो सबके अन्दर आनन्द स्वरूप है।" वह सर्वान्तर्यामी आनन्द कैसे है? इस आकांक्षा पर उसके परिचय के रूप में भूत भौतिक सृष्टि बतलाकर उस आनन्द को ही सबकी अन्तिम श्रेष्ठ परिणति बतलाया गया है, सृष्टि आदि का कर्त्तृत्व आनन्द में ही है, किसी अन्य में नहीं, यह भाव दर्शाया गया है। "योऽन्नं ब्रह्मोपासते" इत्यादि वाक्य में जो गौण रूप से अन्न ब्रह्म की उपासना कही गई है, वह प्रधान आनन्द उपासना का एक अंग मात्र है। कर्त्तृत्व के प्रतिपादक वाक्य में अन्यगत कर्त्तृत्व का आरोपानुवाद भी हो सकता है, जैसे कि "भृगुर्वै वारुणिः" इत्यादि उपाख्यान में गौण कर्त्तृत्व (आरोपित कर्त्तृत्व) का ही अनुवाद है। कार्य ब्रह्मोपासना का फल ही उक्त प्रसङ्ग में बतलाया गया है, शुद्ध ब्रह्म का नहीं, अतः उसमें कर्त्तृत्व नहीं है। इत्यादि पूर्व पक्ष है।

सिद्धान्तस्तु—"उत्पत्ति स्थिति नाशानां जगतः कर्त्तृ वै बृहत्। वेदेन बोधितं तद् हि नान्यथा भवितुं क्षमम्॥ नहि श्रुति विरोधोऽस्ति कल्पोऽपि न-विरुद्धयते। सर्व भाव समर्थत्वाद् अचिन्त्यैश्वर्यवद् बृहत्॥" वेदेनैव तावज्जगत् कर्त्तृत्वं बोध्यते, वेदश्च परमाप्तोऽक्षरमात्रमप्यन्यथा न वदति। अन्यथा सर्वत्रैवाविश्वास प्रसंगात्। न च कर्त्तृत्वे विरोधोऽस्ति, सत्यत्वादि धर्मवत् कर्त्तृत्वस्याप्युपपत्तेः। सर्वथा निर्द्धर्मकत्वे सामानाधिकरण्य विरोधः। सत्य-ज्ञानादि पदानां धर्मभेदेनैव तदुपपत्तेः। न च कर्त्तृत्वं संसारि धर्मो देहाद्यध्यासकृतत्वादिति वाच्यम्, प्रापंचिके कर्त्तृत्वे तथैव, न त्वलौकिक-कर्त्तृत्वे। अत एवास्येत्याह—अस्येति पुरोवर्ति प्रपंच इदमा निर्दिश्यते। अनेक-भूत भौतिक देवतिर्यङ्मनुष्यानेकलोकाद्भुतरचनायुक्त ब्रह्माण्ड कोटि रूपस्य मनसाप्याकलयितुम् अशक्यरचनस्यानायासेनोत्पत्तिस्थितिभंगकरणं न लौकिकम्। प्रतीतं च निषेध्यम् नाप्रतीतम् न श्रुति प्रतीतम्। सत्यत्वादयश्च लौकिकाः, अतः सर्व निषेधे तदज्ञानमेव भवेत्, न च सत्यत्वादिकं लोके नास्त्येव व्यवहार मात्रत्वात्, कारणगतमेव सत्यत्वं प्रपंचे भासत इति वाच्यम्। तर्हि कर्त्तृत्वं तथा कुतो नांगीक्रियते। स्मृतिश्च स्वीकृता भवति कर्त्ता कारयिता हरिरिति।

सिद्धान्त यह है कि जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और संहार का कर्त्ता ब्रह्म ही हो सकता है, वेद से उसी का कर्त्तृत्व ज्ञात होता है। किसी अन्य में

सृष्ट्यादि की सामर्थ्य भी नहीं है। ब्रह्म के कर्त्तृत्व के विषय में श्रुति और कल्पसूत्र दोनों एकमत हैं। परब्रह्म में परस्पर विरोधी भावों का होना सुसंगत है, क्योंकि वह समस्त ऐश्वर्यों से युक्त है। वेदों से ही परमात्मा का कर्त्तृत्व ज्ञात होता है, वेद परम सत्यवादी हैं, अक्षर मात्र भी अन्यथा नहीं कहते, यदि उन्हें आप्त नहीं मानेंगे तो वे सर्वत्र अविश्वसनीय हो जावेंगे। ब्रह्म का कर्त्तृत्व स्वीकारने में कोई विरोध नहीं है, सत्य ज्ञान आदि की तरह कर्त्तृत्व धर्म भी उसमें संभव है। यदि ब्रह्म को सर्वथा धर्म रहित मानेंगे तो सामानाधिकरण्य का विरोध होगा। सत्य ज्ञान आदि की धर्म रूप से ही उपपत्ति हो सकती है। देह आदि को आत्मा मानने वाले संसारी जीव को जगत का कर्त्ता नहीं मान सकते। प्रापंचिक कर्त्तृत्व में तो मूढतावश जीव को कर्त्तृत्व का अभिमान हो भी सकता है, पर अलौकिक सृष्टि में वह भी नहीं। इसी आशय से सूत्रकार ने सूत्र में "अस्य" पद का प्रयोग किया है, "अस्य" पद सृष्टि के पूर्ववर्त्ती जागतिक प्रपंच का वाचक है। अनेक भूत भौतिक देव तिर्यङ् मनुष्य आदि तथा अद्भुत रचना वाले अनेकानेक लोक-युक्त ब्रह्माण्ड कोटिरूप प्रपंचमय जगत की रचना का मन से संकल्प करना भी कठिन है, अनायास उसकी उत्पत्ति स्थिति और विनाश इत्यादि लौकिक नहीं हो सकते [यदि शंका करें कि ब्रह्म को तो अस्थूल अणु कहा गया है अतः उसे स्थूल प्रापंचिक जगत का कर्त्ता कैसे कहा जा सकता है? सो प्रतीत होने वाले प्रापंचिक जगत के स्थूल रूप का ही निषेध किया गया है, श्रुति प्रमाणित तत्त्व का निषेध नही है। लौकिक सत्यत्व आदि का ही निषेध किया गया है अलौकिक का नहीं। यदि अलौकिक सत्यत्व आदि का निषेध मान लेंगे तो ब्रह्म का ज्ञान होना ही असंभव हो जायगा। ऐसा नहीं है कि लोक में सत्यता नहीं है है तो व्यवहार मात्र के लिए ही है। कहना चाहिए कि कारणगत ब्रह्म की सत्यता ही इस कार्य रूप जगत में भासित हो रही है। इसलिए क्या कारण है कि ब्रह्म का कर्त्तृत्व न स्वीकारा जाय। स्मृति ने भी स्वीकारा है कि "कर्त्ता और कारयिता श्री हरि ही हैं।"

न चारोपन्यायेन वक्तुं शक्यम्, तथा सत्यन्यस्य स्यात्, तत्र न प्रकृतेः, अग्रे स्वयमेव निषिध्यमानत्वात्, न जीवानाम्, स्वातंत्र्यात्, न चान्येषामुभय-निषेधादेव, तस्माद् ब्रह्मगतमेव कर्त्तृत्वम्। एवं भोक्तृत्वमपि। न वा काचिच्छ्रुतिः कर्त्तृत्वं निषेधति। विरोधभानात् कल्प्या तु लौकिकपरा, फलवाक्येप्यश्रुतानां गुणोपसंहारः कर्त्तव्यः।

ऐसा नहीं है कि अन्य के कर्त्तृत्व को ब्रह्म में आरोपित किया गया हो, यदि ऐसा मानेंगे तो, जगत् कर्त्तृत्व अन्य का ही सिद्ध होगा। वह दूसरा कौन है? प्रकृति में तो कर्त्तृत्व शक्ति नहीं हो सकती, आगे सूत्रकार इसका निराकरण करेंगे। जीवों में भी कर्त्तृत्व संभव नहीं है क्योंकि वे स्वयं दैवाधीन हैं। और न इन्द्र आदि किन्हीं औरों में ही कर्त्तृत्व सामर्थ्य है, क्योंकि वे भी प्रकृति और जीव की तरह सान्त और परतन्त्र हैं, इसलिए कर्त्तृत्व तो ब्रह्मगत ही मानना पड़ेगा। इसी प्रकार अलौकिक भोक्तृत्व भी ब्रह्म का मानना पड़ेगा। किसी श्रुति में ब्रह्म के कर्त्तृत्व का निषेध भी नहीं है। जिन श्रुतियों से निषेधाभास की कल्पना की जाती है वह लौकिक का ही निषेध है। "ब्रह्मविदाप्नोति परम्" इत्यादि फल वाक्यों में कर्त्तृत्व आदि धर्मों के गुणों का उपसंहार करना चाहिए [अर्थात् "ब्रह्म की कर्त्तृत्व आदि महिमा को जानने वाला ही परमात्मा को प्राप्त करता है" ऐसा अर्थ करना चाहिए]।

तथाचायं सूत्रार्थः। जन्मादिर्येषामित्यवयवसमासादतद्गुणसंविज्ञानो बहुव्रीहिः। अथवा जन्म प्रभृति सर्वे भावविकारा आदि शब्देन गृह्यन्ते। तथा च जन्म च आदिश्चेत्येकवद्भावः। आदि शब्दश्च धर्मवाची। स च स्वसंबंधिनं लक्षयति। तस्योभयसापेक्षत्वादुत्पत्तेर्विद्यमानत्वादन्यानेव भावविकारानुपलक्षयतीत्यादि शब्देनान्ये भावविकाराः। अथवा जन्मनो नादित्वम्, तदाधारस्य पूर्वमविद्यमानत्वात्। अन्ये त्वादिमंतः तदाधारस्य पूर्वं विद्यमानत्वात् अत आदि शब्दः स्वाधार सद्धर्मवाची तद्धर्माणामुपलक्षकः। अथवा गमनप्रवेशयोर्भेदाज्जन्म आदिर्येषामिति। जात्यपेक्षयैकवचनम्। जन्म तु श्रुतत्वात् सिद्धम्। अथवा किमनया कुसृष्ट्या। जन्म आद्यस्य आकाशस्य यत इति। "तस्माद् वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः" इत्येव विचार्यते। फलसंबंधित्वात्। तेनैकत्र सिद्धः शास्त्रार्थः प्रकारान्तरेऽपि। "यतो वा इमानि भूतानि" इत्यत्र विस्फुलिंगवत् सर्वोत्पत्तिः। अत्र तु क्रमेणेति विशेषः। एतेन सर्व एव प्रकाराः सूचिता वेदितव्याः। ब्रह्मविचारे ब्रह्मणोऽप्यधिकृतत्वाद् ब्रह्मेत्यायाति न त्वध्याहारः।

कर्त्तृत्व आदि धर्मविशिष्ट ब्रह्म ही उक्त सूत्र का वक्ष्यमाण है। इस दृष्टि से सूत्र का अर्थ निम्न प्रकार होगा—"जन्मादि हैं जिसमें", इसमें अवयव समास से अतद्गुण संविज्ञान बहुव्रीहि है ["सर्वादीनि सर्वनामानि" इस

व्याकरणीय सूत्र में आदि शब्द की अवयव वाचकता सिद्ध है]। अथवा जन्म आदि सारे भाव विकार आदि शब्द से गृहीत हैं [इस प्रकार आदि शब्द प्रभृति अर्थ में मान्य है], यहाँ—"जन्म च आदि च" ऐसा एकवद् भाव (समाहार द्वन्द्व) होगा। इसमें आदि शब्द धर्मवाची है और वह अपने सम्बन्धी को लक्षित करता है [जायते अस्ति वर्धते विपरिणमते अपक्षीयते नश्यति इतीमे भावविकाराः], जन्म और जन्म सम्बन्धी अस्ति आदि सभी अपेक्षित हैं, उत्पत्ति शब्द के स्पष्ट उल्लेख से ज्ञात होता है कि जन्मादि शब्द अन्यान्य सभी भावविकारों को उपलक्षित करता है। अथवा—जन्म की अनादिता माननी चाहिए, उसके आधार की कोई पूर्व स्थिति नहीं होती (यह असत्कार्यवादियों का मत है)। जन्म के अतिरिक्त अन्य अस्ति आदि भाव विकार ही आदि शब्द से परिलक्षित हैं, उन सबके आधार पूर्व स्थित रहते हैं। अथवा गमन और प्रवेश भेद से "जन्म है आदि में जिनके" ऐसा जात्यपेक्षित एकवचन समास भी हो सकता है। अर्थात् ब्रह्म के सकाश से ही जन्म आदि विकार होते हैं, "यतो वा इमानि" इत्यादि में ब्रह्म के सकाश से जन्मादि का वर्णन भी मिलता है। अथवा—इस कुसृष्टि से क्या प्रयोजन? यह अर्थ अधिक समीचीन है कि आदि आकाश का जन्म है जिससे, "तस्माद् वा एतस्माद् आकाशः संभूतः" इत्यादि में आकाश के जन्म का स्पष्ट उल्लेख भी है। "ब्रह्मविदाप्नोति परम्" इस फल श्रुति का इस भाव में सम्बन्ध भी है। शास्त्र का वास्तविक अर्थ एक ही स्थल पर सन्नद्ध होता है, प्रकारान्तर से कहे हुए वाक्य भी उक्त अर्थ के ही द्योतक होते हैं। "यतो वा इमानि" इत्यादि वाक्य में अग्नि-विस्फुलिंग की तरह सारी सृष्टि का उद्भव ब्रह्म से ही दिखलाया गया है। जन्माद्यस्य आदि सूत्र में सृष्टि के क्रम विशेष का ही वर्णन है। इस आदि शब्द से सृष्टि के सारे ही प्रकार कहे गए हैं, यही मानना चाहिए। ब्रह्म विचार के प्रसङ्ग में ब्रह्म का ही अधिकृत रूप से विचार होना चाहिए अतः उक्त सूत्र में ब्रह्म विषयक प्रसङ्ग को ही उपस्थित किया गया है। उक्त विषय का अध्याहार मात्र नहीं है।

भाष्यकार सूत्र के लक्षण बोधक अंश की व्याख्या करके अब प्रमाण बोधक अंश की व्याख्या करते हैं—

शास्त्रे योनिः शास्त्रयोनिः, शास्त्रोक्त कारणत्वादित्यर्थः। शास्तीति शास्त्रं वेदः। सामान्यग्रहणं पूर्वकाण्डे पूर्वसृष्टिवाक्यानां संग्रहार्थम्। यथाऽस्यैव कारणत्वं, नान्यस्य, तथोपरिष्टाद् वक्ष्यामः। मतान्तरवज्जन्मादीनां न विकारित्वं किन्त्वाविर्भावतिरोभावावेव, तथोत्तरत्र वक्ष्यते तदनन्यत्वाधिकरणे। नामलीलाया अपि न पृथङ् निरूपणं प्रपंचमध्यपातात्। केचित् पृथग् रूपनाम प्रपंच कर्तृत्वं योग विभागेन प्रतिज्ञाय समन्वयादि सूत्रेष्वेव हेतून् वर्णयन्ति। अन्वयसिद्ध्यर्थं च अतति व्याप्नोतीत्यत्। शास्त्रे योनित्वं प्राप्तं तदिति। नैतत् सूत्रकार सम्मतमिति प्रतिभाति। तस्मात् सर्वज्ञत्व सर्वशक्तिमत्वं च सिद्धं जगत् कर्तृत्वेन।

एकमात्र शास्त्र ही ब्रह्म के अस्तित्व का प्रमाण है, शास्त्र में ही जगत-कर्त्ता का प्रतिपादन है, इसलिए वह शास्त्रयोनि है। जो शासन करे उसे शास्त्र कहते हैं, वेद ही ऐसा शास्त्र है (शब्द तीन प्रकार से बोध कराता है, प्रभु-सम्मित, सुहृतसम्मित और कान्तासम्मित, वेद प्रभुसम्मित वाक्य हैं इसलिए उनकी आज्ञा कभी भंग नही की जा सकती, यही उक्त कथन का तात्पर्य है)। वेद के संपूर्ण अंगों को मिलाकर ही शास्त्र मानना चाहिए, इसीलिए सामान्य शास्त्र शब्द का प्रयोग किया गया है। वेद के पूर्व भाग में भी सृष्टि वाक्यों का संकलन है इसलिए उपनिषद्-योनि न कहकर सामान्य शास्त्र शब्द का प्रयोग किया गया है। पूर्वकाण्ड में जो प्रजापति की सृष्टि का वर्णन है, वह भी ब्रह्म का ही उल्लेख है, इसका विवेचन आगे करेंगे। सांख्य आदि मतों की तरह जन्म आदि की विकृति सूत्रकार को अभिमत नहीं है, उनके मतानुसार सृष्टि का आविर्भाव तिरोभाव होता रहता है, इसको वे आगे (द्वितीय अध्याय में) दिखलावेंगे। नाम और लीला का भी प्रापंचिक रूप में ही अन्तर्भाव हो जाता है, इसलिए उसका पृथक् निरूपण नहीं किया गया। कोई, रूप प्रपंच कर्तृत्व बोधक तथा नाम प्रपंच कर्तृत्व बोधक दो विभिन्न (जन्माद्यस्य यतः और शास्त्रयोनित्वात्) सूत्रों का हेतु समन्वयादि सूत्रों में बतलाते हैं और अन्वय सिद्धि के लिए "अतति व्याप्नोति इति अत्" अर्थात् शास्त्र में योनित्व प्राप्त है जिसको वह शास्त्रयोनित्वात् ऐसा प्रथमान्त पद का निरूपण करते हैं। पर ऐसा अर्थ सूत्रकार सम्मत नहीं प्रतीत होता। शास्त्र प्रतिपाद्य स्वतन्त्र जगतकर्तृत्व के लक्षण से ब्रह्म की सर्वज्ञता और सर्वशक्तिमत्ता सिद्ध होती है।

ननु च सर्वो वेदो ब्रह्मणो जगत्कर्त्तृत्वे मानम् । तपोयज्ञादि युक्त प्रजापति प्रभृतीनामेव जगत्कारणत्वस्य पूर्वकाण्डे तत्तदुपाख्यानेष्ववगम्य-मानत्वात् । न चावान्तर कारणत्वम्, परस्याश्रवणात् । उत्तरकाण्डे तु द्वय-प्रतिपादनाद् विरोधः संदेहश्च । मीमांसाया संदेह निवारकत्वे अप्येकांशस्या-प्रामाण्यं स्यात्, उभय समर्थने शास्त्र वैफल्यं वा, वेद प्रामाण्यादेव तत्सिद्धेः, बाधितार्थवचनं वेदे नास्तीत्यवोचाम ।

पूर्व मीमांसक कहते हैं कि संपूर्ण वेद ब्रह्म का जगत् कर्त्तृत्व नहीं मानते, वेद के पूर्व भाग में प्रजापति क्षेत्रज्ञ आदि उपाख्यानों से तप यज्ञ आदि के द्वारा, प्रजापति क्षेत्रज्ञ प्रकृति आदि की ही जगत्कारणता की पुष्टि होती है । अवान्तर कारण के रूप में प्रजापति का उल्लेख नहीं है, क्योंकि उस प्रकरण में किसी अन्य की कारणता का उल्लेख नहीं है । उत्तरकाण्ड में तो कर्त्तृत्व और अकर्त्तृत्व दोनों का वर्णन किया गया है, जो कि एक प्रकार से विरोधाभास ही है, दोनों में किसे प्रामाणिक माना जाय, ऐसा संदेह होता है । संदेह निवृत्त करने पर भी उभय प्रतिपादन का एकांश अप्रामाणिक हो जाता है । दोनों का समर्थन करने में उस शास्त्र की विफलता सिद्ध होती है । इसलिए वेद प्रामाण्य से ही उसकी सिद्धि होगी । वेद में बाधितार्थ वचनों का अभाव है ।

किं च वेदांताः किं वेदशेषाः, वेदा वा । नाद्यः, अनुपयोगात्, अनारम्भा-धीतत्वेन तदुपयोगित्वे पूर्वकाण्ड विचारेणैव गतार्थत्वं विद्याप्रवेशश्च । न द्वितीयः, यज्ञाप्रतिपादनात् मंत्रब्राह्मणत्वाभावाच्च । तस्माद् वेदोपरा वेदांता इतिं । तेषां किं स्यात् ? इति चेत् ।

और फिर, वेदांत का मतलब क्या समझा जाय, वेद का शेष भाग या वेद ? वेदशेष तो कहा नहीं जा सकता, क्योंकि वैसा कहने का प्रयोजन क्या होगा ? जैसे कि "यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति स पापं श्लोकं समश्नुते" इत्यादि वाक्य क्रतुशेषता का बोधक है, वैसे ही वेदांत वाक्यों का पाठ तो है नहीं जिससे क्रतुशेषता ज्ञात हो सके और वे वेद-शेष कहे जावें, उन वाक्यों की उपयोगिता तो तभी है जब कि उनमें पूर्वकाण्ड के विषयों पर विचार किया गया हो [अर्थात् वेदांत वाक्यों की कर्माङ्ग रूप से ही उपयोगिता है, यदि वे कर्माङ्ग नहीं हैं तो निरर्थक हैं] । उन वेदांतों की स्मृति और चतुर्दश

विद्याओं की तरह वेदांग रूप से गणना भी नहीं है। वेदांत का तात्पर्य वेद भी नहीं हो सकता, क्योंकि उनमें यज्ञ का प्रतिपादन नहीं है तथा उनमें मंत्र और ब्राह्मण का भी अभाव है। ऊसर भूमि की तरह, वेदांतों की वेदों में गणना होती आ रही है, पर उनसे लाभ क्या है? ऐसा पूर्वमीमांसकों का कथन है।

मैवम्, अस्ति तावद् वेदत्वम्, अध्ययनादिभ्यः स्मरणाच्च, प्रमाणं च सर्वोऽपि वेदः स्वार्थे, स च न यज्ञश्चेद् ब्रह्म भवतु, न चैतावता अवेदत्वम्, अतिप्रसंगात्। शक्यते अग्निहोत्रादीनामन्यतरदनन्तर्भाव्यतया वक्तुम्। तस्माद् ब्रह्मापि प्रतिपादयंतो वेदांताः वेदत्वं न व्यभिचरन्तीति। मंत्र-ब्राह्मणरूपत्वं चोत्पश्यामः ऋगेव मंत्रः, ब्रह्मप्रतिपादकम् ब्राह्मणम्, तच्छेषाः सृष्ट्यादि प्रतिपादकाः। यद्यपि न विधीयते, तथापि तादृशमेव ज्ञानं फलायेति युक्तमुत्पश्यामः, पूर्ववैलक्षण्यन्तु भूषणाय। काण्डद्वयस्यान्योन्योपकारित्वाय साधारण ग्रहणम्। "यदेव विद्यया करोति" इत्यादिना पूर्वशेषत्वं सर्वस्य। "तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषंति" इत्यादिना सर्वस्योत्तर-शेषत्वम्। कर्मब्रह्मणोः क्रियाज्ञानयोर्धर्मिपरत्वेनैक्यात् कर्त्तृ वाक्येषु सर्वत्र न विरोधः। तस्माच्छास्त्रयोनित्वं सिद्धम्।

उपनिषदों में वेदत्व है, वेदों की तरह इनकी भी क्रमागत स्वाध्याय और अध्ययन की परम्परा है, इनके स्वर सहित पाठ, शूद्र श्रवण-अनध्याय आदि नियम भी हैं। पूर्वकांड की तरह इन्हें भी स्मृत माना गया है, कृत नहीं ("स्वयंभूरेष भगवन्! वेदो गीतस्त्वया पुरा। शिवाद्या ऋषि पर्यन्ताः स्मर्त्तारोऽस्य न कारकाः।" इत्यादि पौराणिक वचन स्मृत ही बतलाता है)। इसका प्रमाण यह है कि जो वेद का अलौकिक अर्थ है वह दोनों भागों में प्रतिभासित है। वह अलौकिक अर्थ यज्ञ नहीं है अपितु ब्रह्म ही है। केवल यज्ञातिरिक्त ब्रह्म प्रतिपादन मात्र से उपनिषदें अवैदिक हैं, यदि ऐसा मानेंगे तब तो यज्ञातिरिक्त वेद का संपूर्ण विषय अवैदिक सिद्ध हो जावेगा जो कि अतिशयोक्ति होगी। फिर तो यह भी कहा जा सकता है कि अग्निहोत्र आदि विधान के अन्तर्वर्त्ती अर्थवाद आदि सभी अवैदिक हैं। इसलिए वेदांतों का वेदत्व दूषित नहीं है। जैसा पूर्वकाण्ड में मंत्र और ब्राह्मण का रूप है वैसा ही उत्तरकाण्ड में भी है। "ऋचः सामानि यजूंषि सा हि श्रीरमृता सताम्" इत्यादि में मन्त्रों की तीन श्रेणियां बतलाई गई हैं तथा "ऋग् यत्रार्थवशेन

पाद व्यवस्था" इत्यादि पूर्व मीमांसा के नियमानुसार मन्त्रों की अर्थवाचक पदानुसार पादव्यवस्था होती है, छंदानुसार नहीं, इस नियम से उपनिषदों के सारे ही वाक्य ऋक् मन्त्र हैं। उपनिषद् के मन्त्र प्रायः ब्रह्म प्रतिपादक हैं, इसलिए ब्राह्मण हैं। बाकी सृष्टि के प्रतिपादक हैं [ऋचां मूर्द्धानं यजुषामुत्तमांगम्" इस श्रुति से वेदांतों की मूर्धन्यता सिद्ध होती है] यद्यपि "स्वर्गकामो यजेत" इत्यादि विधियों की तरह, ब्रह्म ज्ञान को विधि नहीं कहा गय है, फिर भी "ब्रह्मविदाप्नोति परम्" इत्यादि फल प्राप्ति सम्बन्धी वाक्यों से ब्रह्म ज्ञान की अपेक्षा ज्ञात होती है। ब्रह्म ज्ञान दो प्रकार का होता है, स्वरूप ज्ञान और लीला विशिष्ट ज्ञान। "सत्यं ज्ञानमनन्तम्" इत्यादि से स्वरूप ज्ञान कराकर "तस्माद् वा" इत्यादि से सर्ग लीला का निरूपण किया गया है। इस प्रकार दोनों प्रकार के ज्ञान को पर-प्राप्ति का साधक बतलाया गया है। उसके निरूपक सृष्टि आदि के प्रतिपादक वाक्य, ज्ञानशेष भाव के द्योतक हैं। इसलिए वे अत्यन्त उपयुक्त हैं। पूर्वकाण्ड की नश्वर स्वर्गादि साधनता से उत्तर काण्ड की अक्षय ब्रह्म प्राप्ति रूप साधकता विलक्षण है जो कि भूषण है। "यदेव विद्यया करोति" इत्यादि श्रुति बतलाती है कि पूर्वकाण्ड उत्तरकाण्ड से उपकृत है तथा "तमेतं वेदानुवचनेन" श्रुति उत्तरकाण्ड को पूर्वकांड से उपकृत बतलाती है। इसी परस्पर उपकृत भाव को दिखलाने के लिए ही "शास्त्रयोनित्वात्" में सामान्य शास्त्र पद का प्रयोग किया गया है [अन्यथा "वेदांत योनित्वात्" कहते]। कर्म और ब्रह्म का क्रिया और ज्ञान रूप धर्मपरक ऐक्य है इसीलिए कर्त्तृत्व बोधक वाक्यों में विरोध नहीं है। इसी से ब्रह्म की शास्त्र योनिता सिद्ध होती है [पूर्वकांड में प्रतिपाद्य जो यज्ञात्मक "यज्ञो वै विष्णुः" ब्राह्म धर्म हैं उनमें परमात्मा की क्रिया रूपता है तथा उत्तरकांड में ब्रह्मात्मक "विज्ञानमानंदं ब्रह्म" ब्राह्म धर्म हैं, उनमें परमात्मा की ज्ञान रूपता है, इस प्रकार क्रिया और ज्ञान रूपों में कर्म और ब्रह्म के धर्मी होने से ऐक्य है, इसलिए कर्मनिष्ठ कर्त्तृत्व वाक्यों में विरोध नहीं है, अर्थात् पूर्वोत्तर कांडगत कर्त्तृत्व ब्रह्म में ही पर्यवसित है, अग्निहोत्र में जो कर्त्तृत्व है वह भी ब्रह्मनिष्ठ ही है]।

केचिदत्र जन्मादि सूत्रं लक्षणत्वादनुमानं वर्णयन्ति। अन्ये पुनः श्रुत्यनुवादकमाहुः, सर्वज्ञत्वाय श्रुत्यनुसार्यनुमानं च ब्रह्मणि प्रमाणमिति। तत्तु "तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि" इति केवलोपनिषद् वेद्यत्वाद् उपेक्ष्यम्,

अनधिगतार्थगन्तृत्वात् प्रमाणस्य । मननिदिध्यासनयोः श्रवणांगत्वम् । संदेह वारकत्वाच्छास्त्रस्यापि तदंगत्वमिति ।

कोई, ईश्वर के जगत् कर्त्तृत्व के विषय में इस "जन्माद्यस्य यतः" सूत्र को संसारी (जीव) से भिन्न ईश्वर के अस्तित्व साधक अनुमान का निरूपक मानते हैं (उनका कथन यह है कि जगज्जन्मादि का कारण होने के कारण परमात्मा जीव से भिन्न है) । जगत रूपी कार्य सावयव, क्रियावान् और मूर्त्त है, जो कि निश्चित किसी बुद्धिमान् की ही रचना है । इस विचित्र जगत का रचयिता कौन बुद्धिमान् हो सकता है, ऐसी आकांक्षा होने पर, जगत के उपादान और उपकरण से अनभिज्ञ जीव तो हो नहीं सकता और जड प्रकृति भी नहीं, इन दोनों से भिन्न परमात्मा ही हो सकता है । निश्चित ही वह जड और जीव से भिन्न है, जगज्जन्मादि से ऐसा ही अनुमान होता है— "ब्रह्मस्वरूपं जीवजडव्यतिरिक्तं भवितुमर्हति, जगज्जन्मादि कर्त्तृत्वात् यन्नैवं तन्नैवम्" इत्यादि ।

दूसरे इस सूत्र को श्रुत्यनुवादक मानते हैं, श्रुति के जगज्जन्मादि कारणत्व के प्रदर्शन से कर्त्ता की सर्वज्ञता सिद्ध होती है अतः ब्रह्म का ही जगत्कर्त्तृत्व प्रमाणित होता है, इत्यादि । [ये दोनों ही मत नैयायिकों के हैं पहला कार्यत्वसाधक अनुमान है दूसरा कार्यहेतुक अनुमान है, जो कि विज्ञानेन्द्र भिक्षु का है । ये सर्वज्ञता और शक्तिमत्ता में अनुमान को प्रमाण मानते हैं तथा कर्त्तृत्व में श्रुति को प्रमाण मानते हैं । प्रथम मत में "जन्माद्यस्य यतः" सूत्र में विषय वाक्य ही नहीं है, केवल लक्षण मात्र है, जिससे ब्रह्म में अनुमान प्रमाण ही सिद्ध होता है, श्रुति का स्पर्श भी नहीं है । दूसरे मतानुसार "यतो वा इमानि" इत्यादि विषयवाक्य प्रस्तुत है, उसके बिना, कर्त्तृत्व रूप हेतु ज्ञान के अभाव से, अनुमिति ही नहीं होती, अतः सूत्र का रहस्य अनुमानोपष्टम्भक ही रहता है, इत्यादि] ।

इन दोनों मतों का निरसन करते हैं—"तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि" इत्यादि वाक्य से ब्रह्म एकमात्र उपनिषद्-वेद्य ही सिद्ध होता है, इसलिए उक्त दोनों ही मत उपेक्ष्य हैं । अनुमान प्रमाण अज्ञात अर्थ से संबद्ध होता है (श्रुति सिद्ध अर्थ में वह अपेक्षित नहीं है), मनन और निदिध्यासन भी श्रवण के ही अंग हैं तथा संदेह निवारक होने से शास्त्र की श्रवणांगता स्वाभाविक है । अस्तु,

३ अधिकरण

तत्रैतत् स्यात्, तत्र किं समवायि निमित्तं कर्त्तृ वा ? किमतो यद्येवम्, एवमेतत् स्यात्, यद्येकमेव स्यात् तदा क्रियाज्ञानशक्त्योर्निरतिशयत्वं भज्येत, मृदादि साधारण्यं च स्यात्, मतान्तरवत्। कथमेवं संदेहो यावता यतो वा इमानीत्यादिभ्यो निःसंदेह श्रवणात्। एवं हि सः। पंचमी श्रूयते यत इति, पंचम्यास्तसिरिति, आत्मन इत्यपि पंचमी, निमित्तत्वे न संदेहः, पंचम्या निमित्तत्व कथनात्। उपादानत्वे न संदेहः, कर्त्तृत्वे च वाचका-श्रवणात् कल्पनायां प्रमाणाभावात्। समवायित्वे पुनः सुतरां संदेहः। एवं प्राप्त आह—

विचारणीय यह है कि ब्रह्म कौन सा कारण है—समवायि, निमित्त या कर्त्तृ ? इनमें से कोई एक कारण मान लिया जाय तो (अर्थात् केवल समवायि कारण मान लिया जाय तो) परमात्मा का श्रुति में जो यह माहात्म्य "परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञान बल क्रिया च" है, वह मिथ्या हो जायगा, परमात्मा की ज्ञान और क्रिया शक्ति की महत्ता समाप्त हो जायगी, साथ ही वह मिट्टी की तरह एक साधारण वस्तु हो जायगा (मिट्टी घर की समवायी कारण होती है, वैसे ही ब्रह्म भी हो जायगा)। नैयायिकों के मत की तरह वेदांत मत भी हो जायगा। "यतो वा इमानि" इत्यादि श्रुति में जब स्पष्ट रूप से ब्रह्म की कारणता बतला दी गई तब संदेह किया ही क्यों जाय ? संदेह तो सूत्र में किए गए पंचमी विभक्ति के प्रयोग से होता है—पंचमी के प्रयोग से निमित्त कारणता तो सिद्ध हो रही है, उपादान और कर्त्तृत्व का बोध नहीं हो रहा है, उन्हीं के विषय में संदेह हो रहा है, उनका वाचक कोई श्रुति का प्रमाण वाक्य भी नहीं मिलता, प्रमाण के अभाव में निराधार कल्पना करना भी कठिन है। और समवायी कारण मात्र मानने में संदेह होना स्वाभाविक ही है (समवायी कारण मात्र मानने से सांख्य मत की तरह ब्रह्म विकृत हो जायगा) इस संशय पर सूत्र प्रस्तुत करते हैं—

तत्तु समन्वयात् ।१।१।३॥

तु शब्दः पूर्वपक्ष व्यावृत्यर्थः। निमित्तत्वस्य श्रुति सिद्धत्वाद् मतान्तर निराकरणत्वेनाग्रे वक्ष्यते। तद् ब्रह्मैव समवायि कारणं, कुतः ? समन्वयात्,

सम्यगनुवृत्तत्वात् । अस्ति भाति प्रियत्वेन सच्चिदानन्द रूपेणान्वयात्, नामरूपयोः कार्यरूपत्वाद् । प्रकृतेरपि स्वमते तदंशत्वात् अज्ञानाद् परिच्छेदाप्रियत्वे । ज्ञानेन बाधदर्शनात् । नानात्वं त्वैच्छिकमेव, जडजीवान्तर्यामिष्वेवैकैकांश प्राकट्यात् । कथमेवमिति चेत्, न, सद्रूपे घट रूप क्रियाष्विव तारतम्येनाविर्भाववज्जडेऽपि भानत्वादि प्रतीतेः तारतम्येनाविर्भावोऽगीकर्त्तव्यः, भगवदिच्छाया नियामकत्वात् ।

तु शब्द पूर्वपक्ष का निवारक है । ब्रह्म की निमित्त कारणता तो श्रुति से सिद्ध है ही, जो काणादादि मत उस पर संदेह करते भी हैं, सूत्रकार आगे उसका निराकरण करेंगे । वह ब्रह्म ही समवायी कारण है, क्योंकि जगत में ब्रह्म अनागन्तुक रूप से (पट में तन्तु के समान) अनुस्यूत है । [पट में तो तन्तु अभिव्यक्त है, जगत में ब्रह्म की अभिव्यक्ति कहाँ है ? इसका उत्तर देते हैं—] जगत में जो कुछ भी अस्तित्व, प्रकाश और प्रियता है, वह परमात्मा के सच्चिदानन्द रूप से ही मिश्रित है, इसी से वह अभिव्यक्त है । नाम और रूप का कार्य के रूप से अन्वय होता है [अर्थात् कार्य रूप जगत में परमात्मा नाम और रूप से अनुस्यूत है, जैसा कि—"त्रयं वा इदं नाम रूपं कर्म च", "अनेन जीवात्मनाऽनुप्रविश्य नाम रूपे व्याकरवाणि" इत्यादि से स्पष्ट है] । सूत्रकार के मत से प्रकृति भी ब्रह्म का अंश ही है (सत्वरजस्तम रूप जगत् की प्रक्रिया प्राकृत है इसलिए जगत को प्रकृति में अनुस्यूत कहा जा सकता है । पर प्रकृति भी ब्रह्म का ही अंश है, जैसा कि भागवत एकादश स्कंध में उल्लेख है—"प्रकृतिर्हि अस्योपादानमाधारः पुरुषः परः सतोऽभिव्यंजकः कालो ब्रह्म तत् त्रितयं त्वहम्" इत्यादि) । [संसार में जो अप्रिय अर्थात् दुःख है उसे ब्रह्म का कैसे मान सकते हैं ? उसे तो प्राकृत ही मानना पड़ेगा, उसका उत्तर देते हैं—] दुःख और अप्रियता में अज्ञान ही कारण है [अर्थात् अज्ञान से मोहित हमारी बुद्धि संकुचित हो गई है इसलिए हमें दुःख होता है], ब्रह्म सम्बन्धी ज्ञान हो जाने पर दुःख का बाध भी देखा जाता है । जगत की जो अनेकता है वह भी ऐच्छिक ही है ("एकोऽहं बहु स्याम्" ऐसी अनेक होने की परमात्मा की इच्छा से ही जगत की अनेकता है) । जड, जीव और अन्तर्यामी तत्त्वों में एक-एक अंश से ब्रह्म प्रकट है इससे ऐच्छिक अनेकता की बात सिद्ध होती है [अर्थात् जड में सदंश, जीव में चिदंश तथा अंतर में आनंदांश का प्राकट्य है] । एक ब्रह्म अनेक कैसे हो सकता है ? यह नहीं कह सकते, जैसे कि घट के रूप और क्रियाओं में तारतम्यानुसार आविर्भाव होता है ।

भानत्व आदि की प्रतीति में भी तारतम्यानुसार ही आविर्भाव होता है। जड आदि में जो सत् आदि का आविर्भाव होता है वह भगवदिच्छा से ही होता है, वही इन सबके नियामक हैं।

ननु साधारण्येन सर्वजगत् प्रति परमाण्वादीनामन्वयः संभवति। एकस्मिन्ननुस्यूते संभवत्यनेक कल्पनाया अन्याय्यत्वात्। लोके कर्तृ विशेषवत् उपादान विशेष ग्रहणेऽपि न ब्रह्मणि व्यभिचारः, अलीक प्रतीतेऽस्तित्वादि प्रतीतावपि सम्यगन्वयाभावान्न कार्यत्वव्यभिचारो। तस्माद् ब्रह्मण एव समवायित्वम्। एतत् सर्वं श्रुतिरेवाह—"स आत्मानं स्वयमकुरुत" इति। निमित्तत्वन्तु स्पष्टमेव सर्ववादि सम्मतम्।

[उक्त मत पर समवायिकारण-परमाणुसमन्वयवादी शंका करते हैं—] साधारणतः तो समस्त जगत में परमाणुओं का समन्वय संभव नहीं है? इसका उत्तर देते हैं—पर एक ही परब्रह्म में समस्त जगत की अनुस्यूति संभव है ("तत्सृष्ट्वा तदेवानु प्राविशत्" श्रुति में इसका उल्लेख है)। यदि अनेक कारणों की कल्पना करेंगे तो ब्रह्म अनेक हो जायगा, जो कि न्यायोचित न होगा। जैसे कि लोक में कर्त्ता विशेष कुम्भकार उपादान के सहयोग से पात्र आदि का निर्माण करता है, फिर भी एकमात्र वही पात्रों का निर्माता कहलाता है, वैसे ही ब्रह्म भी जगत् का एकमात्र निर्माता है। स्वप्नावस्था में जो अस्तित्व आदि की मिथ्या प्रतीति होती है उसमें अखण्ड प्रतीति न होने से (अर्थात् जागते ही उसका बाध हो जाने से) कार्यता और व्यभिचार का प्रश्न ही नहीं उठता। इससे निश्चित होता है कि ब्रह्म ही समवायी कारण है, ऐसा श्रुति का भी मत है—"स आत्मानं स्वयमकुरुत" इत्यादि। ब्रह्म की निमित्त कारणता तो स्पष्ट ही है—कणाद आदि सर्वसम्मत है।

केचिदत्र शास्त्रयोनित्व पूर्वपक्ष निराकरणाय "तत्तु समन्वयात्" इति नियोजयन्ति, तत् पूर्वपक्ष सिद्धान्तयोर्द्वयोरप्यसंगतत्वादुपेक्ष्यम्। तथाहि—जैमिनिर्धर्मजिज्ञासामेव प्रतिज्ञाय तत्प्रतिपादकस्य पूर्वकांडस्य समन्वयमाह। अवान्तर वाक्यानां प्रकार शेषत्वात्। न च सर्वस्मिन् वेदे धर्म एव जिज्ञास्यः, तद्गुरुणैव व्यासेन ब्रह्मजिज्ञासायाः प्रतिज्ञातत्वात्। संदेह मात्र वारकत्वाज्जिज्ञासयोः, न त्वलौकिकार्थ साधकत्वम्, तथा सति वेदानामन्याधीनत्वेनाप्रामाण्यं स्यात्। वेदजिज्ञासेत्येवोक्तं स्यात्। किं च—

"साधनं च फलं चैव सर्वस्याह श्रुतिः स्फुटम् ।
न प्रवर्त्तयितुं शक्ता तथा चेन्नरको न हि ।।
प्रवर्त्तकस्तु सर्वत्र सर्वात्मा हरिरेव हि ।
यज्ञ एव हि पूर्वत्र बोध्यते स्वर्गसिद्धये ।।
सिद्ध एव हि सर्वत्र वेदार्थो वेदवादिनाम् ।
मंत्राणां कर्मणां चैव दर्शन श्रवणाच्छ्रुतौ ।
कृतिश्च सिद्धतुल्यत्वं वेदः स्वार्थे च सम्मतः ।।"

"प्रजापतिरकामयत प्रजायेयेति", "स एतदग्निहोत्रं मिथुनमपश्यत्", "प्रजापतिर्यज्ञान् असृजताग्निहोत्रं चाग्निष्टोमं च पौर्णमासीं चोक्थ्यं चामावस्यां चातिरात्रं च तानुदमिमीत यावदग्निहोत्रमासीत् तावानग्निष्टोमः" इत्यादि ।

कुछ लोग शास्त्रयोनित्व रूप पूर्वपक्ष के निराकरण के लिए "तत्तु समन्वयात्" सूत्र की योजना करते हैं । उक्त पूर्वपक्ष और सिद्धान्त दोनों ही असंगत हैं अतएव उपेक्ष्य हैं । जैसा कि आचार्य जैमिनि "अथातो धर्म-जिज्ञासा" सूत्र से धर्म की व्याख्या करते हुए धर्म के प्रतिपादक समस्त पूर्वकाण्ड का समन्वय वेदवाक्यों से करते हैं तथा अवान्तर वेदवाक्यों की व्याख्या भी उसी प्रकार की करते हैं । परन्तु समस्त वेद में धर्म ही जिज्ञास्य नहीं है । स्वयं जैमिनि के गुरु भगवान् व्यासदेव ही "ब्रह्म जिज्ञासा" करने को कहते हैं । धर्म और ब्रह्म की जिज्ञासायें केवल संदेह निवारण के लिए ही तो हैं, अलौकिक अर्थ के साधन के लिए तो की नहीं गई हैं । यदि इन दोनों की अलौकिकार्थ साधकता मानेंगे तो वेदों की अन्याधीनता हो जावेगी जिससे वे अप्रामाणिक हो जावेंगे । जिज्ञासा का तात्पर्य यदि केवल विचारार्थक ही होता तो "वेद जिज्ञासा" यही कहा जाता ; "धर्म जिज्ञासा—ब्रह्म जिज्ञासा" नहीं । वास्तविकता तो यह है कि "साधन और फल आदि समस्त विधियों का श्रुति में स्पष्ट वर्णन है, श्रुति केवल उन विधियों का बोध मात्र कराती है, प्रवर्त्तन नहीं । यदि प्रवर्त्तन कराना श्रुति को संभव होता तो वह सबके लिए इष्ट साधन ही करती, अनिष्ट नहीं, अतएव किसी को नरक प्राप्ति न होती । सर्वान्तर्यामी हरि ही सर्वत्र प्रवर्त्तक कहे गए हैं । स्वर्ग सिद्धि के लिए पूर्वकांड में जो यज्ञविधि का उल्लेख है, वह भी हरि रूप ही है ; (यज्ञो वै विष्णुः) ; वेदैकनिष्ठ महात्माओं का सर्वत्र ऐसा ही सिद्ध वेदार्थ है । वैदिक उपाख्यानों, ऋषियों के मन्त्रों तथा वैदिक कर्मों में सर्वत्र ऐसा ही अर्थ देखा सुना जाता है । यज्ञ आदि कृतियाँ भगवान के समान ही हैं, ऐसा वेद वाक्यों के लक्ष्यार्थ से प्रमाणित होता है । "प्रजापतिरकामयत" इत्यादि वेद वाक्यों में उक्त तथ्य का स्पष्टीकरण किया गया है ।

नहि उपाख्यानानां मिथ्यार्थत्वं बुद्धजन्मनः पुरोक्तं युक्तं वा, तथा सति वेदानामप्रामाण्यमेव स्यात्, मिथ्योपाख्यानप्रतिपादकलोकवत्। तस्मात् पूर्वमीमांसानभिज्ञाः क्रियापरत्वं सर्वस्यापि वेदस्य वदन्तो मूर्खा एव। उत्तरवादिनोऽपि पूर्वाज्ञानमंगीकृत्य पूर्वानुपयोगित्वं ब्रह्मज्ञानस्य वदन्तो वेदानभिज्ञाः, "यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा वा तदेव वीर्यवत्तरं भवति" इति उपनिषज्ज्ञानस्य श्रुतिसिद्धैव कारणता, नच बाधितत्वात् त्यज्यत इति वाच्चम्, ब्रह्मात्मज्ञानवदेव वशिष्ठादेर्यज्ञाधिकारात्। न चैवं किमनेनेति वाच्यम्, इत्थंभूतत्वाद्यज्ञस्य। किंच कर्मफलवत् ब्रह्मफलस्यापि लौकिकत्वात्। "य एवं वेद प्रतितिष्ठति, अन्नवानन्नादो भवति, महान् भवति, प्रजया पशुभिः ब्रह्मवर्चसेन महान् कीर्त्या" इति। अत्यन्ताविज्ञानवतो यज्ञानधिकारात् तन्निषेधार्थं ज्ञानमुपयुज्यते, न च देहाध्यासस्य कारणत्वं 'ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविः' इत्यादि स्मृतेः। तस्मादन्योन्योपयोगित्वे न कोऽपि दोषः। क्रियाज्ञानयोः स्वातंत्र्येण पुरुषार्थसिद्ध्यर्थं भिन्नतया शास्त्रप्रवृत्तिः।

वैदिक उपाख्यानों को बुद्ध जन्म के पूर्व किसी ने भी मिथ्या नहीं कहा, मिथ्या कहना संगत भी नही है, यदि ऐसा कहेंगे तो वेद अप्रामाणिक हो जावेंगे, जैसे कि लोक में कपोलकल्पित दंतकथाएं अप्रामाणिक होती हैं। पूर्वमीमांसा के तत्त्व न जानने वाले मूर्ख ही समस्त वेद का तात्पर्य क्रिया परक बतलाते हैं। इस उत्तर काण्ड में, विवाद करने वाले जो कर्माधिकार में ज्ञान को अनावश्यक मानकर यज्ञादि कर्म को ब्रह्मज्ञान में अनुपयोगी बतलाते हैं, वे भी वैदिक रहस्य को नहीं जानते। "यदेव विद्यया करोति" इत्यादि में उपनिषद् ज्ञान की कर्मसहकारी कारणता सिद्ध है। ब्रह्मज्ञानियों को देहादि अध्यास का अभाव हो जाने से उनके लिए कर्म त्याज्य है, ऐसा भी नहीं कहना चाहिए। ब्रह्मात्मज्ञान की तरह ही वशिष्ठ आदि की यज्ञ में अधिकारपूर्ण दक्षता थी, इससे सिद्ध होता है कि ब्रह्मात्मज्ञानी को भी दृढतापूर्वक अनुष्ठान करना चाहिए। यह भी न कहना चाहिए कि कर्मानुष्ठान की क्या आवश्यकता है? यज्ञानुष्ठान में कर्म की उपयोगिता है, कर्मफल के समान ब्रह्मज्ञान का फल भी लौकिक है। जैसा कि "जो ऐसा जानकर स्थिर रहता है, वह अन्नवान्, अन्नाद होता है, महान् होता है, प्रजा पशु ब्रह्मज्ञान आदि से सम्पन्न होता है।" इस श्रुति से ज्ञात होता है कि अत्यंत अज्ञानी व्यक्ति का यज्ञ में अधिकार नहीं होता, उसके लिए ज्ञान उपयोगी है। "ब्रह्मार्पणं, ब्रह्महविः" इत्यादि से स्पष्ट होता है कि देहाध्यास भी

कारण नहीं है, इसलिए कर्म और ज्ञान को परस्पर उपयोगी मानने में दोष नहीं है। क्रिया और ज्ञान दोनों स्वतंत्र मोक्षोपयोगी साधन हैं, इसलिए दोनों की पृथक्-पृथक् मीमांसा की गयी है।

किंच वेदांतवाक्यानामस्मिन् शास्त्रे समन्वय एव प्रतिपाद्यते संदेह-निराकरण द्वारा, तत्कथं सिद्धवद्हेतुत्वेन निर्देशः अग्रिमवैयर्थ्यं च स्यात्। नच प्रितज्ञागर्भं हेतुत्वम् अनुपयोगात्, गौणमुख्यभावे परं विवादः। नच येन रूपेण समन्वयो मतान्तरस्थैः विचारितस्तथाग्रे सूत्रेषु निर्णयोऽस्ति। शास्त्रारम्भस्तु प्रथम सूत्र एव समर्थितः। तस्मात् समवायिकारणत्वमेवानेन सूत्रेण सिद्धम्। ननु कारणत्वमेवास्तु ब्रह्मणः किं समवायिकारणत्वेन, विकृतत्वं च स्यात् अनर्थरूपत्वेन कार्यस्यायुक्तता च, तस्मादनारम्भणीयमेवैतत् सूत्रमिति चेन्मैवम् सर्वोपनिषत्समाधानार्थं प्रवृत्तः सूत्रकारः, तद् यदि ब्रह्मणः समवायित्वे न ब्रूयाद् भूयानुपनिषद्भागो व्यर्थः स्यात्। "इदं सर्वं यदयमात्मा, आत्मैवेदं सर्वम्, स सर्वं भवति ब्रह्म तं परादात्, य आत्मानं स्वयमकुरुत, एकमेवाद्वितीयम् वाचारम्भणं विकारः" इत्यादि वाक्यानि स्वार्थे बाधितानि भवेयुः।

इस उत्तर मीमांसा में कर्तृत्व भोक्तृत्व प्रतिपादक वेदांत वाक्यों का समन्वय संदेह निवारण पूर्वक ब्रह्म में ही किया गया है, यदि ऐसा न होता तो सूत्रकार उनका निर्देश निश्चित सिद्ध वस्तु की तरह कैसे करते? साथ ही उनकी अग्रिम भूमिका ही व्यर्थ हो जाती तथा उसके फलस्वरूप होने वाला प्रतिज्ञागर्भित समन्वय भी न हो पाता। फिर कर्मवाद के निराकरण की उपयोगिता ही क्या होती? वस्तुतः वेदांत वाक्यों के विषय में जो विवाद है वह गौण मुख्य भाव परक तो है ही (अर्थात् पूर्वमीमांसक कर्मपरक वाक्यों को मुख्य, इतर को गौण तथा उत्तरमीमांसक ज्ञानपरक वाक्यों को मुख्य, इतर को गौण मानते हैं)। शंकर आदि आचार्यों ने जिस प्रकार के समन्वय का विचार किया है, वह "ईक्षतेर्नाशब्दम्" इत्यादि सूत्रों से सुसंगत नहीं होता। शास्त्रारंभ तो प्रथम सूत्र में ही हो चुका है इसलिए इस (तत्तु समन्वयात्) सूत्र से समवायिकारणता की सिद्धि की गई है, ऐसा निश्चित होता है।

यदि कहें कि समवायिकारणता मानने में कौन सा उत्कर्ष होता है? अपितु विकृति ही होती है, कार्य में आनर्थक्य होने से, ब्रह्म के कार्य में अयुक्तता ही होती है। इसलिए यह सूत्र समवायिकारण का प्रतिपादक नहीं है इत्यादि। उक्त कथन असंगत है, सूत्रकार उपनिषदों के समाधान के लिए ही प्रवृत्त हुए थे, पर यदि वे ब्रह्म की समवायिता न बतलाते तो

उपनिषदों का बहुत सा भाग ही व्यर्थ हो जाता तथा "इदं सर्वं यदयमात्मा, आत्मैवेदं सर्वम्" इत्यादि वाक्य वास्तविक तत्त्व के बाधक होते ।

नन्वेवं निःसंदिग्धत्वात् कथं सूत्र प्रवृत्तिः ? उच्यते, अस्थूलादि वाक्यान्यपि संति सर्वत्र प्रपंचतद्धर्म वैलक्षण्य प्रतिपादकानि, ततोऽन्योन्यविरोधेनैकस्य मुख्यार्थबाधो वक्तव्यः, तत्र स्वरूपापेक्षया कार्यस्य गौणत्वात् प्रपंच रूपप्रतिपादकानामेव कश्चित् कल्पयेत्, तन्माभूदिति जन्मादिसूत्रवत् समन्वयसूत्रमपि सूत्रितवान् । तथा चाऽस्थूलादि गुणयुक्त एवाविक्रियमाण एवात्मानं करोतीति वेदान्तार्थः संगतो भवति, विरुद्धसर्व धर्माश्रयत्वं तु ब्रह्मणो भूषणाय ।

प्रश्न हो सकता है कि जब ब्रह्म की समवायिकारणता श्रुति से सिद्ध ही थी, संशय का कोई स्थान तो था नहीं, तो सूत्रकार की सूत्र बनाने की प्रवृत्ति क्यों हुई ? यद्यपि ब्रह्म की समवायिता असंदिग्ध है, फिर भी ब्रह्म के धर्म की विलक्षणता के प्रतिपादक "अस्थूल" आदि वाक्यों से अन्योन्य विरोधी प्रतिपादन द्वारा अभिधार्थ में बाधा उपस्थित होती है ।"निष्कलं शान्तम्" इत्यादि प्रतिपाद्य ब्रह्म के वास्तविक स्वरूप की अपेक्षा "ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्" इत्यादि कार्यब्रह्म के स्वरूप प्रतिपादक वाक्यों के गौण होने से प्रपंचात्मक ब्रह्म रूप के प्रतिपादक वाक्यों की मुख्यार्थबाधक कल्पना होती है । वैसी कल्पना न हो, इसलिए समन्वयसूत्र की रचना, जन्मादि सूत्र की तरह की गयी [अर्थात् कार्य ब्रह्म और प्रकृति आदि की कारणता के निरास और ब्रह्म की कारणता व्यवस्थापन के लिए जैसे जन्मादि सूत्र की रचना हुई, वैसे ही इस सूत्र की भी समवायिकारण की व्यवस्थापना के लिए रचना हुई है]। अस्थूल आदि विलक्षण गुण वाला ही अविकृत स्वयं की रचना करता है, ऐसा अर्थ मानना संगत है, विरुद्ध विलक्षण धर्मों की आश्रयता ही ब्रह्म का भूषण है ।

किंच अन्यपदार्थसृष्टौ वैषम्यनैर्घृण्ये स्याताम्, कर्माधीनत्वे तु अनीशता, ततः कर्तृत्वमपि भज्येत्, ततः सर्व माहात्म्यनाश एव स्यात् ।

नन्वेवमेवास्तु अपवादार्थत्वात्, रज्जुसर्पवदयुक्तार्थ कथनेऽपि न दोषः "सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः" इति स्मृतेश्चेति चेत् मैवम्, तथा सति पाखंडित्वं स्यात् । एतादृशशास्त्र अर्थांगीकर्तुरासुरेषु भगवता गणितत्वात्, "असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्, अपरस्पर संभूतं किमन्यत् काम हैतुकम्" इति । शास्त्रानर्थक्यं चासर्वं समाप्नोषीत्यप्यसंगतं स्यात्, वस्तु परिच्छे-

दात्, नहि वेदो निष्प्रचंरूप कथनमुक्त्वा स्वोक्तं जगत्कर्तृत्वं निषेधति। तस्मादध्यारोपापवाद परत्वेन व्याख्यातृभिर्वेदांतास्तिलापःकृता इति मन्यामहे, सर्ववाक्यार्थबाधात्। यथा निर्दोष पूर्णगुण विग्रहता भवति तथोपरिष्टाद् वक्ष्यामः।

सृष्टि को यदि ब्रह्म के अतिरिक्त किसी अन्य की कृति मानेंगे तो विषमता और निर्दयता दोष घटित होगा [ब्रह्म की सृष्टि में इन दोनों की संभावना ही नहीं है, क्योंकि—वे अपनी सृष्टि में स्वयं ही तो क्रीडा कर रहे हैं। ब्रह्म की समवायिता न मानने पर जगद्रूपता संभव न होगी, इसलिए समवायिकारणता की सिद्धि के लिए समन्वयसूत्र की रचना की गयी तथा द्वितीय अध्याय के प्रथम पाद में "वैषम्यनैर्घृण्य" सूत्र में उक्त तथ्य का समाधान किया गया]। यदि कहो कि जीव की कर्माधीशता मान लेने से उक्त दोष घटित न होंगे, सो होना संभव नहीं है। क्योंकि जीव में स्वतः सामर्थ्य नहीं है। जीव की कर्माधीशता मानने से तो परमात्मा का कर्तृत्व ही नष्ट हो जायगा और उस जगतकर्त्ता का सारा माहात्म्य ही समाप्त हो जायगा।

यदि कहें कि शुद्ध परब्रह्म में कर्तृत्व आदि हैं ही नहीं, अतः प्रपंच जगत भी कोई वस्तु नहीं है, वह तो रज्जु में सर्प भ्रम की भ्रांति की तरह एक भ्रांत कल्पना ही है, अतः असत् पदार्थ में वैषम्यनैर्घृण्य की बात भी असंगत है। सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वं इत्यादि स्मृति भी है (अर्थात् उक्त स्मृति में ब्रह्म की व्यापकता कही गई है, समवायिता नहीं) इत्यादि। उक्त कथन असंगत है, ऐसा मानना तो पाखंड है, शास्त्र का ऐसा अर्थ करने से तो असुरों (चार्वाकों) में गणना होगी, जैसा कि उक्त स्मृति का ही कथन है — "वे नास्तिक इस जगत को अनीश्वर, असत्य, अप्रतिष्ठ (जिसकी ईश्वर में स्थिति न हो), स्त्री पुरुष रूप कारण जन्य, कामहेतुक ही मानते हैं।" उक्त मान्यता से तो शास्त्र भी अनर्थक हो जाते हैं तथा ब्रह्म और जगत में विभिन्नता मानने से "सर्वं समाप्नोषि" वाक्य भी असंगत हो जाता है। वेद, ब्रह्म के निष्प्रपंच रूप को बतलाकर ब्रह्म के जगत्कर्तृत्व का निषेध नहीं करता। जो लोग वेद की अध्यारोपापवाद परक व्याख्या करते हैं वे वेदांतों के रहस्यार्थ से अनभिज्ञ हैं, ऐसी हमारी मान्यता है। उन लोगों के मतानुसार "सर्वं खल्विदं ब्रह्म, ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्, स आत्मानं स्वयमकुरुत" इत्यादि वाक्यों के अर्थ में बाधा उपस्थित होती है। ब्रह्म की

निर्दोष पूर्णगुण विग्रहता का विवेचन आगे ("अन्तस्तद्धर्मोपदेशात्" इत्यादि में) करेंगे।

ननु पुरुषार्थार्थीनि शास्त्राणि, इदं च शास्त्रं मोक्षरूप पुरुषार्थ साधकम्, मोक्षश्चाविद्यानिवृत्ति इति युक्तम्, अविद्या चाज्ञानं ज्ञानेनैव नश्यति, ततो ज्ञानोपयोगित्वेन व्याख्यातव्ये वेदांतेऽध्यारोपापवाद व्यतिरेकेण व्याख्यानम् अयुक्तम्, अतो यथाकथंचिद् व्याख्यानेऽपि पुरुषार्थसिद्धेर्न कोऽपि दोष इति चेत्, न, पुरुषार्थस्य शास्त्रार्थस्य वा स्वरूपं शास्त्रैकसमधिगम्यं न स्वबुद्धि-परिकल्पितम्, अतः स्वबुद्धया शास्त्रार्थं परिकल्प्य तत्र वेदं योजयंतो महासाह-सिकाः सद्भिरुपेक्ष्याः। पुरुषार्थः पुनर्यथा वेदांतेष्ववगतः "ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति, ब्रह्मविदाप्नोति परम् न स पुनरावर्त्तते, ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनंतरम्, अनावृत्तिः शब्दादनावृत्तिः शब्दात्" इत्येवमादिभिः श्रुति स्मृतिन्यायैर्ब्रह्म प्राप्तिरेव पुरुषार्थत्वम्, ब्रह्म च पुनर्न जीवस्यात्ममात्रम्, अज्ञानवद्वा "एकस्यैव ममांशस्य जीवस्यैव महामते। बंधोऽस्याविद्ययाऽनादि-विद्यया च तथेतरः" इति भगवता जीवस्यैवाविद्यावत्व प्रतिपादनात्।

यदि कहें कि—शास्त्रों का प्रयोजन केवल पुरुषार्थ विवेचन करना ही है, उत्तरमीमांसा भी मोक्ष रूप पुरुषार्थ की व्याख्या में प्रवृत्त है, अविद्या की निवृत्ति ही मोक्ष है, अज्ञान ही अविद्या है, जो कि ज्ञान से नष्ट होता है। अध्यारोपापवाद ही ज्ञानवर्द्धन के लिए उपयुक्त मार्ग हैं, जिस किसी प्रकार से शास्त्र की व्याख्या करके, पुरुषार्थ सिद्धि रूप तात्पर्य निकालने में कोई दोष नहीं है, इत्यादि। उक्त कथन असंगत है, पुरुषार्थ या शास्त्रार्थ का स्वरूप शास्त्रों से ही निश्चित होता है, अपनी बुद्धि से उसकी कल्पना नहीं की जा सकती, अपनी बुद्धि से शास्त्रार्थ की परिकल्पना करके उसे वेदार्थ सिद्ध करने वाले महासाहसिक शास्त्र-चिन्तकों से उपेक्ष्य हैं। वेदांतों में पुरुषार्थ का स्वरूप इस प्रकार कहा गया है—"ब्रह्म का ज्ञाता ब्रह्म ही होता है, ब्रह्म को प्राप्त कर पुनः नहीं लौटता। मुझे तत्व रूप से जानकर इस जगत में पुनः नहीं लौटता" इत्यादि श्रुति स्मृति के अनुसार ब्रह्म प्राप्ति को ही पुरुषार्थ कहा गया है। "हे महामते, मेरे अंश जीव का एक बंधन है अनादि अविद्या तथा दूसरा बंधन है विद्या" इत्यादि में भगवान द्वारा कही गयी जीव की अविद्याबद्धता से निश्चित होता है कि ब्रह्म जीव नहीं है।

तस्मान् न्यायोपबृंहित सर्ववेदांतप्रतिपादित सर्वधर्मवद् ब्रह्म, तस्य श्रवण-मनन निदिध्यासनैरन्तरंगैः शमदमादिभिश्च वहिरंगैरविशुद्धे चित्ते स्वयमे-

वाविभू तस्य स्वप्रकाशस्य सायुज्यं परम पुरुषार्थः। तस्मात् सर्वे वेदांताः स्वार्थे एव युक्तार्था इति न्यायैर्वक्तव्यत्वाद् ब्रह्मणः समवायित्वाय समन्वयसूत्रं वक्तव्यम्।

उक्त विवेचन से ज्ञात होता है कि समस्त वेदांतों का तत्वार्थ समस्त धर्मों का स्वरूप ब्रह्म है, उस सर्वधर्मक ब्रह्म के श्रवण मनन निदिध्यासन रूप अंतरंग तथा शमदमादि बहिरंग साधनों से अतिशुद्ध चित्त में स्वयमेव परमात्मा के आविर्भूत प्रकाश का सायुज्य होना ही परम पुरुषार्थ है। सभी वेदांत स्वार्थ में ही युक्ति युक्त हैं, इस नियम के अनुसार मानना पड़ेगा कि ब्रह्म के समवायी कारण को बतलाने के लिए ही समन्वयसूत्र बनाया गया है।

एवं ब्रह्मजिज्ञासायां प्रतिज्ञाय किंलक्षणं ब्रह्मेत्याकांक्षायां जन्मादिसूत्र-द्वयेन वेदप्रमाणकं जगत्कर्तृ समवायि चेत्युक्तम्, एवं त्रिसूत्र्या जिज्ञासा-लक्षण विचारकर्त्तव्यता सिद्धा।

तत्र ब्रह्मणि चतुर्धा विचारः—स्वरूपसाधनफलप्रतिपादकानि सर्ववेदांत वाक्यानि त्रिविधानि, मतान्तर निराकरणं च। तत्र स्वरूपे विचारिते मतान्तर निरासव्यतिरेकेण साधनफलयोरनुपयोगात्, अतः प्रथमं स्वरूप निर्णयः, तदनु मतान्तर निरासः, तदनु साधनानि फलं चेति। तत्र प्रथमेऽध्याये स्वरूप वाक्यानिविचार्यन्ते, तानि द्विविधानि, संदिग्धानि निःसंदिग्धानि च, तत्र निःसंदिग्धानां निर्णयो न वक्तव्यः। संदिग्धानि पुनश्चतुर्विधानि, कार्यप्रतिपाद-कान्यन्तर्यामिप्रतिपादकान्युपास्यरूप प्रतिपादकानि प्रकीर्णकानि चेति। तत्र प्रथमपादे कार्यवाक्यानां निर्णय उच्यते। सच्चिदानंद रूपेणाकाशवायुतेजो-वाचकवाक्यानि षड्विधान्यपि निर्णीयन्ते, अन्यत्रान्यवाचकान्यपि वेदांतेषु भगवद्वाचकानीति।

प्रथम सूत्र में ब्रह्मजिज्ञासा की गई, वह ब्रह्म कैसा है ? ऐसी आकांक्षा होने पर जन्मादि दो सूत्रों से, वेदों से प्रमाणित ब्रह्म की समवायिता सिद्ध की गई, इस प्रकार तीन सूत्रों से जिज्ञासा और लक्षण पर विचार किया गया।

इस संपूर्ण उत्तर मीमांसा शास्त्र में ब्रह्म के विषय में चार प्रकार से विचार किया गया है—स्वरूप, साधन और फल के प्रतिपादक वेदांतों तथा अन्य मतों का निराकरण। स्वरूप संबंधी विचार में मतान्तरों के निराकरण के व्यतिरेक से साधन और फल को अनुपयोगी बतलाकर सर्वप्रथम स्वरूप का निर्णय किया गया है। द्वितीय अध्याय में मतान्तर निरास, तृतीय और

चतुर्थ में साधन और फल पर विचार किया गया है। प्रथम अध्याय में जिन स्वरूप वाक्यों पर विचार किया गया है, वे वाक्य संदिग्ध और असंदिग्ध दो प्रकार के हैं। निःसंदिग्ध वाक्यों के निर्णय का प्रश्न ही नहीं उठता, संदिग्ध वाक्य चार प्रकार के हैं--कार्य प्रतिपादक, अन्तर्यामि-प्रतिपादक, उपास्य प्रतिपादक और प्रकीर्ण। प्रथम अध्याय के प्रथम पाद में कार्य वाक्यों का निर्णय किया गया है। सच्चिदानन्द रूप से कारण का प्रतिपादन करने वाले तथा आकाश-वायु और तेजोवाचक शब्द से कारण का निर्देश करने वाले वे वाक्य उक्त छः प्रकार के हैं। वे वाक्य अन्यत्र, अन्य वाचक होते हुए भी उपनिषदों में भगवद् वाचक ही हैं।

४ अधिकरण

तत्र लक्षणविचार एव सद्रूपाणां वाचकता निर्णीता, चिद्रूपस्य ज्ञानप्रधानस्य निर्णयार्थमीक्षत्यधिकरणमारभ्यते सप्तभिः सूत्रैः। सप्त-द्वारत्वाद् ज्ञानस्य। तत्रैवं संदेहः, ब्रह्मणः स्वप्रकाशत्वेन सर्वप्रमाणाविषय-त्वात् "यतो वाचो निवर्त्तन्त" इति श्रुतेश्च विचारः कर्तुं न शक्यते, स्व-प्रकाशत्व विरोधात्, श्रुतिविरोधाच्च, आहोस्वित् विरोधपरिहारेण शक्यते इति, किं तावत् प्राप्तम्? न शक्यत इति, कुतः? "ज्ञापनार्थं प्रमाणानि संन्निकर्षादिमार्गतः। सर्वथाऽविषयेऽवाच्येऽव्यवहार्ये कुतः प्रमा॥"

ऐहिकामुष्मिक व्यवहारयोग्ये हि पुरुषप्रवृत्तिः, प्रवृत्यर्थं हि प्रमाणानि, ब्रह्म पुनः सर्वव्यवहारातीतमिति। नन्वेतदपि वेदादेवावगम्यते इति चेत्, तर्हि बाधितार्थप्रतिपादकत्वान्न वेदान्ता विचारयितव्या इति प्राप्ते, उच्यते—

अब तक लक्षण पर विचार किया गया, जिसमें सद्रूपों की वाचकता का निर्णय है। अब ज्ञानप्रधान चिद् रूप के निर्णय के लिए सात सूत्रों से ईक्ष-त्यधिकरण प्रारंभ करते हैं। ज्ञान के आँख, नाक, कान, जिह्वा, त्वक्, मन और जीव ये सात द्वार हैं, इसीलिए सात सूत्रों में यह अधिकरण पूरा किया गया है। यहाँ यह संदेह होता है कि ब्रह्म तो स्व-प्रकाश है अतः वह सभी प्रकार के प्रमाणों से अज्ञात है। "यतो वाचो निवर्त्तन्ते" इत्यादि श्रुति भी ऐसा ही कहती है, इसलिए उस पर विचार करना शक्य नहीं प्रतीत होता, स्वप्रकाशता और श्रुति दोनों ही शक्यता पर संदेह व्यक्त करती हैं। क्या उक्त विरोध का परिहार सम्भव है? विचारने पर तो ऐसा लगता है कि सम्भव नहीं है, क्योंकि "ब्रह्म को सन्निकर्ष आदि सहकारी उपायों से

जानने का कोई भी उपाय सम्भव नहीं है, ब्रह्म तो सर्वथा मन का अविषय, अवाच्य और अव्यवहार्य है।

पुरुष की प्रवृत्ति प्रायः ऐहिक और आमुष्मिक व्यवहार के योग्य ही होती है। प्रवृत्ति के लिए ही प्रमाणों की आवश्यकता होती है, ब्रह्म तो सभी प्रकार के व्यवहारों से अतीत है। यदि कहें कि इस पर भी वह वेदों से ज्ञात है, तो फिर "यतो वाचो निवर्त्तन्ते" आदि बाधित अर्थ प्रतिपादक वेदांत वाक्यों पर विचार करना व्यर्थ है, इस पर सूत्र प्रस्तुत करते हैं—

ईक्षतेर्नाशब्दम् ।१।१।४।।

न विद्यते शब्दो यत्रेत्यशब्दं, सर्ववेदांताद्यप्रतिपाद्यं ब्रह्म न भवति, कुतः, ईक्षतेः। "सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्" इत्युपक्रम्य "तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेयेति तत्तेजोऽसृजत्" तथाऽन्यत्र "आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत् नान्यत् किंचन मिषत्. स ऐक्षत लोकान्नुसृजा, स ईक्षांचक्रे, स प्राणमसृजत" इत्येवमादिषु सृष्टिवाक्येषु ब्रह्मण ईक्षा प्रतीयते।

जहाँ शब्द की उपस्थिति सम्भव न हो, उसे अशब्द कहते हैं अर्थात् जो शब्दातीत हो। परन्तु समस्त वेदांतों का प्रतिपाद्य ब्रह्म अशब्द कैसे हो सकता है? वेदांतों में ईश्वर के ईक्षण का स्पष्ट उल्लेख है। "हे सोम्य! सृष्टि के पूर्व एक अद्वितीय सत् ही था" ऐसा ही उपक्रम करके "उसने सोचा एक से अनेक हो जाऊँ अतः उसने तेज की सृष्टि की", दूसरी जगह और भी, जैसे—"सृष्टि के पूर्व एक मात्र यह आत्मा ही था, अन्य कुछ भी नहीं, उसने अपनी इच्छानुसार लोकों का सृजन किया, उसने इन लोकों की सृष्टि की, उसने विचार किया, उसने प्राणों की सृष्टि की इत्यादि सृष्टि वाक्यों से ब्रह्म की ईक्षा की सुस्पष्ट प्रतीति होती है।

किमतो यद्येवम्? एवमेतत् स्यात्, सर्वव्यवहार प्रमाणातीतोऽपि ईक्षांचक्रे लोकसृष्टि द्वारा व्यवहार्यो भविष्यामीति, अतो यथा यथा कृतवांस्तथा तथा स्वयमेवोक्तवान् पूर्वरूपं फलरूपं च सृष्टस्वांशपुरुषार्थत्वाय, ततश्च प्रमाणबलेनाविषयः स्वेच्छया विषयश्चेत्युक्तम्। ननु सर्वप्रमाणाविषयत्वे दूषिते केवल वेदविषयत्वं कथं सिद्धान्तीक्रियते? उच्यते—चक्षुरादीनां प्रामाण्यमन्यमुखनिरीक्षकत्वेन, न स्वतः, भ्रमानुत्पत्ति प्रसंगात्, सत्व सहितानामेव चक्षुरादीनां प्रामाण्यात्, अतो निरपेक्षा एव भगवन्निश्वासरूपवेदा एव प्रमा-

णम्, संकेतग्रहस्तु वैदिक एव वेदविद्भिः कृतः। आकृतिमात्रार्थं लोकापेक्षा अनधिगतार्थगंतृ च प्रमाणं, लोकानधिगत इत्यर्थः। यज्ञब्रह्मणोरलौकिकत्वं सिद्धमेव। लौकिको व्यवहारः सन्निपात रूपत्वात् पुरुषार्थासाधक एव, तर्हि शब्दमात्रस्य कथं ग्रहणम् ? वेदव्याख्यातृ वाग्विषयत्वादिति ब्रूमः। एतेन मनसैवानुद्रष्टव्यमित्यपि समर्थितम्। तस्मात् सृष्ट्यादिप्रतिपादका अपि वेदांताः साक्षात् ब्रह्मप्रतिपादका इति सिद्धम्।

क्या उक्त कथन यथार्थ है ? हाँ नितान्त ठीक है, ब्रह्म ने समस्त व्यवहारों और प्रमाणों से अतीत होते हुए भी सृष्टि द्वारा व्यवहार्य होने का संकल्प किया, जैसे-जैसे व्यवहार्य होता गया, वैसा उसने स्वयं कहा (अर्थात् उसकी कथनी और करनी एक है, उसने अपने अंश रूप जीव और उसके उपयोगी पुरुषार्थों की सिद्धि के लिए सर्वप्रथम प्रजा आदि शब्दवाच्य शरीर और बाद में फल रूप लोकों की सृष्टि की। इस प्रकार प्रमाणों का अविषय होते हुए भी वह स्वयं स्वेच्छा से विषय हुआ।

(वादी) समस्त प्रमाणों से जिसकी विषयता असिद्ध है, केवल वेद से ही ज्ञात है, उसके आधार पर कैसे सिद्धान्त स्थिर किया जा सकता है ? (प्रतिवाद) नेत्र आदि की प्रामाणिकता अन्यमुखापेक्षी होती है, स्वतंत्र नहीं, इसीलिए उनसे प्रायः भ्रम हो जाता है, मनोयोग समन्वित होने पर ही उनकी प्रामाणिकता होती है, किन्तु वेद निरपेक्ष प्रमाण हैं, वे भगवान के निःश्वास हैं अतः अकाट्य प्रमाण हैं। वेद के वेत्ताओं ने ब्रह्म की ईक्षा के विषय में जो सिद्धान्त स्थिर किया है वह मनमाना नहीं है, उसकी प्रेरणा भी उन्हें भगवत्कृपा से वेदों से ही मिली है (अर्थात् शुद्धांतःकरण उपासक ऋषियों को वैदिक रहस्यों का श्रौत साक्षात् हुआ है)। वेदोक्त सृष्टि के लोक में दृष्टिगोचर होने से ही ऋषियों को लोक और वेद परस्पर अपेक्षित प्रतीत होते हैं। इस प्रकार उन मनीषियों ने लोक और वेद दोनों के सामंजस्य से सृष्टि सम्बन्धी ब्रह्म की ईक्षा को प्रमाणित किया है। उनकी दृष्टि केवल लौकिक हीं नही थी। यज्ञ और ब्रह्म दोनों ही अलौकिक हैं, ये दोनों ही उन्हें दृष्टिगत थे। (वादी) लौकिक व्यवहार (सुख दुःख से) मिश्रित होने से मोक्ष का साधक तो हो नहीं सकता और यदि सूत्रकार को ब्रह्म की वैदिक व्यवहार विषयता ही अभिप्रेत थी, तो उन्होंने सूत्र में सामान्यतः "शब्द" का क्यों ग्रहण किया ? (प्रतिवाद) सूत्रकार को वेद व्याख्याताओं की वाणी भी

विषयता रूप से अभिप्रेत है, इसीलिए उन्होंने सामान्यतः "शब्द" का निर्देश किया है। इतिहास पुराणादि भी शुद्धान्तःकरण से दृष्ट रहस्य हैं, अतएव वेदसमर्थित हैं, वे भी वेद के ही समान सृष्टि आदि के प्रतिपादक हैं, वेदांत भी साक्षात् ब्रह्म के प्रतिपादक हैं।

स्यादेतत्, कर्तृत्वमकर्तृत्वं च वेदे प्रतीयते ब्रह्मणः "यतो वा इमानि भूतानि जायंते, स आत्मानं स्वयमकुरुत, निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यम् निरंजनम्, असंगो हि अयं पुरुषः" इत्येवमादिषु वाक्येषु। तत्र द्वेधा निर्णयः संभवति। सर्वभवन समर्थत्वाद् विरुद्धसर्वधर्माश्रयत्वेन, अन्यतरबाधाद् वा। अलौकिकापेक्षया लौकिकस्य जघन्यत्वात् कर्तृत्वादेर्लोकसिद्धत्वात् कर्तृत्व-बाध एव युक्तः। ईक्षत्यादिकं तु प्रकृतिगुण संबंधादपि ब्रह्मणो युज्यते। तस्मादलौकिकसर्वभवन समर्थत्वादिकल्पनापेक्षया लौकिक एवान्यतरबाधो युक्तः, ततश्च सत्यस्वरूपादन्यदेवैतदिति स्वयमेवाशंक्य परिहरति सूत्रकारः—

"यतो वा इमानि, स आत्मानं स्वयमकुरुत, निष्कलं निष्क्रियं शान्तम्, असंगो ह्ययं पुरुषः" इत्यादि वैदिक वाक्यों में ब्रह्म के कर्तृत्व और अकर्तृत्व दोनों का आभास होता है, इसलिये दो प्रकार का विचार किया जा सकता है। परस्पर विरुद्ध धर्मों के आश्रय ब्रह्म को समस्त विश्व का उत्पादक बतलाया गया है, यह असंगत बात है। अलौकिक पदार्थों की अपेक्षा लौकिक पदार्थों की हेयता प्रत्यक्ष है। यदि हम शुद्ध ब्रह्म को लोक का कर्त्ता मानते हैं तो वह दूषित हो जायगा, इसलिये उसे कर्त्ता न मानना ही उचित है। ईक्षण इत्यादि तो प्राकृत गुणों के सम्बन्ध से भी घटित हो सकते हैं, इसलिए जगत्स्रष्टा को अलौकिक स्रष्टा कहने की अपेक्षा लौकिक स्रष्टा स्वीकारना ही उपयुक्त है, शुद्ध ब्रह्म को कर्त्ता मानने में उक्त बाधा है। यही कहना उपयुक्त होगा कि सत्य स्वरूप शुद्ध ब्रह्म से भिन्न कार्यरूप गौण ब्रह्म ही जगत का स्रष्टा है, ईक्षण आदि उसी के स्वभाव हैं, उक्त संशय को स्वयं ही प्रस्तुत कर सूत्रकार उसका परिहार करते हैं—

गौणश्चेन्नात्मशब्दात् ।१।१।५।।

ईक्षत्यादि गुणयुक्तः परमात्मा गौणः प्रकृतिगुणसत्वसम्बन्धवात् इति चेन्न तथात्वं वक्तुं शक्यते, कुतः ? आत्मशब्दात्, "आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्" इत्युपक्रम्य सं ऐक्षतेत्युक्तम्। आत्म शब्दः पुनः सर्वेषु वेदान्तेषु

निर्गुणपरब्रह्म वाचकत्वेनैव सिद्धः। तस्यैव जगत्कर्तृत्वं श्रुतिराह। ननु चोक्तमन्यतरबाधो युक्त इति, न युक्तः, स्वातंत्र्याभावेन सगुणस्य कर्तृत्वायोगात्, वेदाश्च प्रमाणभूताः, ततः सर्वभवनसामर्थ्यमेव श्रुतिबललभ्यमंगीकर्त्तव्यम्। किं च अस्ति भाति प्रियत्वादि धर्मवत् ब्रह्मगतकर्तृत्वं लोके प्रतीयते, कार्यत्वात्, तस्मादात्मशब्द प्रयोगाद् गुणातीतमेव कर्तृ।

प्राकृत सत्त्व गुण संबद्ध, ईक्षण आदि वाला परमात्मा गौण है, ऐसा नहीं कह सकते। कर्त्ता का प्रायः आत्मा शब्द से उल्लेख किया गया है, "आत्मा वा इदमेक" इत्यादि उपक्रम करके "स ऐक्षत" तक कर्त्ता का वर्णन है। आत्मा शब्द समस्त वेदांत वाक्यों में निर्गुण परब्रह्म का ही वाचक है, उसे ही जगत्स्रष्टा भी कहा गया है। इसलिये उक्त संशय असंगत है। गौण ब्रह्म में स्वतंत्रता का नितान्त अभाव है, उसमें कर्तृत्व की अर्हता नहीं है। वेद के मत से सब कुछ करने में समर्थ परब्रह्म ही जगत कर्ता हो सकता है, ऐसा ही हमें भी मानना चाहिये। अस्ति, भाति, प्रियत्व आदि धर्म की तरह ब्रह्म का कर्तृत्व भी लोक में कार्य रूप से आभासित होता है। आत्मा शब्द से प्रयुक्त गुणातीत ही कर्त्ता है, ऐसा श्रौत सिद्धान्त है।

नन्वात्मशब्दोऽपि लोकवद् गौणोऽस्तु, लोके हि केनचित् पृष्टो विष्णुमित्र आह यज्ञदत्तो ममात्मेति, अत्र गौणत्वमुपचार इत्येवं प्राप्तेऽभिधीयते—

आत्मा शब्द भी लौकिक आत्मा शब्द की तरह गौण है। जैसे कि लोक में किसी के पूछने पर विष्णुमित्र कहता है कि यज्ञदत्त मेरा आत्मा है, ऐसे ही स्रष्टा के लिये प्रयुक्त आत्मा शब्द गौण है, इस पर सूत्रकार कहते हैं—

तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशात् ।१।१।६॥

एवं हि श्रूयते— "असद् वा इदमग्र आसीत्, ततो वै सदजायत तदात्मानं स्वयमकुरुत" इत्युपक्रम्य "यदा हि एवैष एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयनेऽभय प्रतिष्ठां विंदते, अथ स अभयंगतो भवति" इति। प्रापंचिकधर्मरहिते ब्रह्मणि एतस्मिन् पूर्वोक्त जगत्कर्त्तरि परिनिष्ठितो मुक्तो भवतीत्यर्थः। तत्र यदि जगत्कर्त्ता गौणः स्यात् तन्निष्ठस्य संसार एव स्यान्न मोक्षः।

ऐसी श्रुति है—"जो पहले असत् था उसी से सत् हुआ, उसने स्वयं अपने को सत् किया" ऐसा उपक्रम करके "जब साधक इस अदृश्य, अकथ्य, अविकार, अभय, अनात्म्य परमात्मा में निष्ठ होता है तभी मुक्त हो जाता

है," इत्यादि । अर्थात् प्रापंचिक धर्म रहित पूर्वोक्त जगतकर्त्ता ब्रह्म में निष्ठावान् साधक मुक्त हो जाता है। यदि जगतकर्त्ता को गौण मानेंगे, तो उसकी निष्ठा करने वाला संसार ही प्राप्त करेगा मोक्ष नहीं ।

हेयत्वावचनाच्च ।१।१।७।।

इतोऽपि निर्गुण एव जगत्कर्त्ता, वेदांतेसु सर्वत्र साधनोपदेशे पुत्रादिवज्जगत्कर्त्ता हेयत्वेन नोपदिश्यते । यदि सगुणः स्यात् प्राकृतगुण परिहारार्थं मुमुक्षुभिर्जगत्कर्त्ता नोपास्यः स्यात् पुत्रादिवत् । अत ईक्षत्यादयो न सगुणधर्माः । सूत्रत्रयस्य ईक्षतिहेतुसाधकत्वाच्चकारः । एवं सूत्रचतुष्टयेन ईक्षतिहेतुना जगत्कर्त्तृत्वोपपत्त्या सृष्टि वाक्यानां ब्रह्मपरत्वमुपपादितम् ।

इसलिए भी निर्गुण ब्रह्म ही जगत कर्त्ता है क्योंकि वेदांतों में जहाँ साधनों का उपदेश है वहाँ जगत्कर्त्ता को पुत्र आदि की तरह हेय रूप से नहीं दिखलाया गया है। यदि जगतकर्ता सगुण है, तो प्राकृत गुणों से मुक्त होने के लिए वह मुमुक्षुओं का उपास्य नहीं हो सकता, जैसे कि पुत्र आदि । इससे स्पष्ट है कि ईक्षण आदि सगुण के धर्म नहीं हैं।

सूत्रकार ने इस अधिकरण के तीन सूत्र ईक्षण धर्म के हेतु साधक रूप से प्रस्तुत किये तथा चार सूत्र ईक्षण के हेतु जगतकर्त्तृत्व की दृष्टि से प्रस्तुत किये हैं, जिनमें औपनिषद सृष्टि वाक्यों की ब्रह्मपरकता का उपपादन किया गया है।

अतः परं स्वतंत्रहेतूनाह—स्वाप्ययात्, गतिसामान्यात्, श्रुतत्वाच्चेति सूत्रत्रयेण । ननु किमर्थं हेत्वन्तराणि साधकत्वे एकेनापि तत्सिद्धेः, असाधकत्वे शतेनाप्यसिद्धेरिति चेत्, मैवम्, रूपभेदार्थं हेत्वंतराणि, नानाविधान्नभोजनतृप्तिवत् । तद् यथा आत्मशब्दात्, तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशात्, हेयत्वावचनाच्चेति निर्गुणस्य स्वरूपपरतया कार्यपरतया च, कार्यस्य पुनः विधिनिषेध भेदाद् द्विरूपतेति, एवमुत्तरत्रापि प्रपंचयिष्यते । तत्र सृष्टिवाक्यानामीक्षति हेतुना भगवत्परत्वमुक्तम्, इदानीं प्रलयवाक्यानामाह—

इसके बाद स्वाप्ययात्, गतिसामान्यात् और श्रुतत्वाच्च—इन तीन सूत्रों से जगतकर्त्तृत्व के स्वतन्त्र हेतु बतलाते हैं। यदि कहें कि किसी एक ही से कार्य चल सकता है, अनेक हेतु बतलाने से क्या होता है ? असाधक रूप से चाहे सैकड़ों हेतु प्रस्तुत करते रहें उसका क्या महत्व है ? यह तर्क असंगत है,

परब्रह्म के अनेक रूप हैं इसलिए अनेक हेतु प्रस्तुत किये गए हैं, जैसे कि विविध पक्वान्नों से भोजन में तृप्ति होती है, वैसे ही परमात्मा के अनेक अलौकिक धर्मों के प्रस्ताव से तृप्ति होती है। आत्मशब्दात्, तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशात् और हेयत्वावचनाच्च, इन तीन सूत्रों में परब्रह्म के निर्गुण स्वरूपपरक और कार्यपरक हेतु बतलाये गये हैं, कार्य के भी विधि और निषेध परक दो भेद दिखलाये गये हैं। आगे भी ऐसा ही विवेचन प्रस्तुत करते हैं। ऊपर सृष्टि वाक्यों की ईक्षणहेतुक भगवत्परता कही गई, अब प्रलय वाक्यों की भगवत्परता बतलाते हैं।

स्वाप्ययात् १।१।८॥

ब्रह्मणो न सर्वव्यवहारातीतत्वम्, कुतः ? स्वाप्ययात् स्वस्मिन् अप्ययात्, तत्र चित्प्रकरणत्वाज्जीवस्य चोच्यते, एवं हि श्रूयते—"यत्रैतत् पुरुषः स्वपिति नाम सता सौम्य तदा संपन्नो भवति तस्मादेनं स्वपिति इत्याचक्षते। स्वं ह्यपीतो भवति इति।"स्वपितीति न क्रियापदं, किन्तु जीवस्य नाम, तदैव स्वपितीति नामत्वं यदा सता संपद्यते। सति स्वशब्दवाच्ये अपीति लयं प्राप्नोतीत्यर्थः। "अहरहर्जीवो ब्रह्म संपद्य ततो बलाद्यधिष्ठानं प्राप्य पुनर्नव इव समायाति", वासनाशेषात्, स्वशब्देन च भेदः। अर्थतः सच्छब्दसमाना-धिकरण्यान्निर्गुणत्वम्। ननु प्रलये वक्तव्ये कथं सुषुप्तिः ? मोक्षातिरिक्तदशायां तथा कर्मसंबंधाभावादिति ब्रूमः।

ब्रह्म समस्त व्यवहारों से अतीत नहीं है, उसे अपने में ही लीन बतलाया गया है, चित् स्वरूप होने से चित् सधर्मी जीव का लय भी उसी में बतलाया गया है, जैसी कि श्रुति है—"हे सौम्य ! यह जीव स्वपिति नाम वाला है, जब यह सद्भाव से संपन्न हो जाता है तभी इसे स्वपिति कहते हैं" अर्थात् अपने में ही लीन हो जाता है। स्वपिति शब्द क्रियापद नहीं है, अपितु जीव नामवाची है, जीव तभी स्वपिति नाम वाला होता है जब सद्भाव संपन्न होता है, अर्थात् स्व शब्द वाच्य सत् में लीन हो जाता है [सुषुप्ति दो प्रकार की होती है, एक तद्भाव (शुद्ध चैतन्य भाव) सुषुप्ति, दूसरी नाडियों में सुषुप्ति]।"जीवात्मा प्रतिदिन ब्रह्म को प्राप्त कर शारीरिक बल से पुनः नए की तरह लौट आता है", क्योंकि उसकी वासना शेष रह जाती है [यह नाडियों की दैनिक सुषुप्तावस्था का स्वरूप है]। स्व शब्द आत्मवाची होने से जीव और परमात्मा की अभिन्नता का द्योतक है। वैसे

अर्थ के अनुसार तो यह सत् शब्द का समानाधिकरण होने से निर्गुणता का बोधक है। (शंका) प्रलय सम्बन्धी प्रसंग में सुषुप्ति की कैसी चर्चा? (समाधान) मोक्ष के अतिरित जागृति और सुषुप्तावस्था में जैसा जागतिक कर्मों का सम्बन्ध रहता है, वैसा सुषुप्ति और प्रलय में नहीं रहता, इस भाव को दिखलाने के लिए यहाँ सुषुप्ति की चर्चा की गई है [जागृत और स्वप्न की तरह केवल वासना ही सुषुप्ति में रहती है, अन्यथा यह प्रलय के समान अवस्था है। सुषुप्ति और प्रलय में परमात्मा के आधार पर जीव रहता है इसलिए परमात्मा को व्यवहारातीत नहीं कह सकते]।

मुक्तिवाक्यानामाह—अब मुक्ति वाक्यों की ब्रह्म परकता बतलाते हैं—

गतिसामान्यात् ।१।१।९॥

गतौ सामान्यात्, गतिः मोक्षः समानस्य भावः सामान्यम्, मोक्षे सर्वस्यापि भगवता तुल्यत्वात्। एवं हि श्रूयते "यथा सर्वासामपां समुद्रमेकायनम्" इत्युपक्रम्य "वागेकायनम्" इति दृष्टान्तार्थं निरूप्य "न यथा सैन्धवखिल्य उदके प्रास्त" इत्यादिना लयदृष्टान्तं निरूप्य "न प्रेत्य संज्ञास्ति" इति प्रतिपाद्य, तन्निरूपणार्थम् "यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरम्" इत्यादिना सर्वस्य शुद्धब्रह्मत्वं प्रदर्शितम्। आदिमध्यावसानेषु शुद्धब्रह्मण एवोपादानात्। सर्वेषां वेदांतानां ब्रह्मसमन्वय उचित इति।

गति में अर्थात् मोक्षावस्था में ब्रह्म और जीव का समान भाव होने से भी मुख्य ब्रह्म का अस्तित्व सिद्ध होता है। मोक्ष दशा में सभी जीव भगवान से तुल्यता प्राप्त करते हैं। ऐसा ही श्रुति प्रमाण भी है—"जैसे सारे जल समुद्र से एकता प्राप्त करते हैं" इत्यादि से लयाधिकरण का दृष्टांत देकर "वह नमक के समान जल में घुल जाता है" इत्यादि से लय दृष्टान्त का निरूपण करके "उसकी मरणोत्तर कोई संज्ञा नहीं होती" इत्यादि से मोक्ष का प्रतिपादन करके उसके निरूपण के लिए "जहाँ वह द्वैत की तरह भिन्न भिन्न होता है" इत्यादि से समस्त प्रपंच के शुद्ध ब्रह्मत्व का उल्लेख किया गया है। इस प्रकार समस्त वेदांत वाक्यों का ब्रह्म समन्वय उचित ही है, क्योंकि उनमें आदि, मध्य और अवसान में शुद्ध ब्रह्म का ही उपादान रूप से उल्लेख है। सभी वेदांतों का ब्रह्म समन्वय उचित ही है।

श्रुतत्वाच्च ।१।१।१०॥

"पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते। पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशि-

ष्यते।" इति श्रुत्यैवासंदिग्धं सर्वकार्यत्वं प्रतिपादितम्। "सर्वे वेदा यत्पदमामनंति" इति च। चकारोऽधिकरणपूर्णत्वद्योतनाय। एवं चिद्रूपस्य कारणतानिरूपणेन वेदांतानां ब्रह्मपरत्वं निरूपितम्।

"पूर्णमदः पूर्णमिदम्" इत्यादि श्रुति असंदिग्ध रूप से परमात्मा की सर्वकार्यता प्रतिपादन करती है तथा—"समस्त शब्द ब्रह्मवाचक हैं" इत्यादि श्रुति भी उक्त तथ्य की ही पुष्टि करती है। उक्त सूत्र में "च" का प्रयोग अधिकरण की पूर्ति का द्योतक है। इस प्रकार निर्गुण चिद्रूप की कारणता का निरूपण करके, वेदांतों की ब्रह्म परकता का निरूपण किया गया।

५ अधिकरण

अतः परमानंदरूपस्य कारणत्वोपपादनेन तद् वाक्यानां ब्रह्मपरत्वमुपपाद्यते आनन्दमयाद्यष्टभिः सूत्रैः, तत्र तैत्तिरीय शाखायां ब्रह्मभृगुप्रपाठक द्वयेन। तत्रानंदमय इति मयट्प्रत्ययान्तस्याब्रह्मत्वेनाजगत्कर्तृत्वे ब्रह्मप्रपाठकस्याब्रह्मपरत्वं स्यादिति तन्निराकरणार्थमानंदमयाधिकरणम् षडिन्द्रियस्वरूपद्वयानंदभेदेनानंदस्याष्टविधत्वादष्ट सूत्राणि।

अब आनंदमय आदि आठ सूत्रों में, ब्रह्म के परमानंद रूप की कारणता दिखलाते हुए, आनंद प्रतिपादक वाक्यों की ब्रह्मपरकता का उपपादन करते हैं, वे वाक्य तैतिरीयोपनिषद में ब्रह्म-भृगुप्रपाठक में हैं। वहाँ मयट् प्रत्ययान्त आनदंमय शब्द की ब्रह्मरूप से जगतकर्त्तृता नहीं है, इसलिए ब्रह्मप्रपाठक भी अब्रह्मपरक है, इत्यादि शंका के निराकरण के लिए ही आनंदमयाधिकरण प्रस्तुत किया गया है। छह इन्द्रिय स्वरूप और दो प्रकार का आनंद अतः आनंद आठ प्रकार का है, इसी भाव से आठ सूत्रों में यह प्रकरण पूरा हुआ है।

ननु कथं संदेहः, कथं वास्याब्रह्मत्वे प्रपाठकासंगतिरिति? उच्यते, ब्रह्मविदः परप्राप्ति प्रतिज्ञाय ज्ञेयांशे कारणत्वायानंदांशमप्रवेश्य जडत्वपरिहाराय सर्वज्ञानंदरूपं फलमुपपाद्य तन्निरूपणार्थं सर्वोऽपि प्रपाठक आरब्धः। तत्र साधनशेष ब्रह्मणो वाक्यादेव निःसंदिग्धप्रतीतेः फलस्य ब्रह्मत्वं प्रतिपादनीयम्। तत्राब्रह्मान्नमयादितुल्यवचनात् सुखवाचकशब्दानामेव वचनाच्च संदेहः। आनंदांशस्यैव कारणत्वेन ब्रह्मत्वप्रतिपादनार्थत्वात् तदभावे प्रपाठकवैयर्थ्यं च। फलस्य नैकट्यप्रतिपादनायात्मपदप्रयोगेण फलरूपेण जगत्कारणतामुक्त्वा तस्यैव मध्ये सर्वान्तरत्वमुपपादितम् "तस्माद् वा एतस्माद् विज्ञानमयादन्योऽन्तर आत्मानंदमयः" इति, अन्ते च "एतमानंदमयमात्मानमुपसंक्रामति"

इति । आदिमध्यरूपे अनूद्य फलत्वेनोपपादितम् । तन्निरूपकस्यापि तत्तुल्य-फलत्वं वक्तुमन्नमयादीनामपि ब्रह्मत्वेनोपासनमुक्तम् ।

आनंदमय ब्रह्मपरक नहीं है, ऐसा संदेह क्यों किया गया और इस शब्द के ब्रह्मपरक न होने से प्रपाठक की असंगति कैसे है ? यह समझ में नहीं आता । देखें—"ब्रह्मविदाप्नोति परम्" इस वाक्य में ब्रह्मवेत्ता की पर प्राप्ति दिखलाई गई है, इस नियम के ज्ञेयांश की कारणता के रूप में आनंदांश को प्रस्तुत न करके जडता के निराकरण के लिए 'सर्वज्ञ आनंद स्वरूप है' इत्यादि फल का निरूपण किया गया है, उक्त निरूपण के लिए ही प्रपाठक को प्रस्तुत किया गया है । इस प्रपाठक में जो अन्नमय आदि की उपासना का उल्लेख है, उसी के अन्त में ब्रह्म शब्द का स्पष्ट उल्लेख है, उस उपासना का आनंदरूप फल बतलाया गया है, उसे ब्रह्मरूप ही मानना चाहिए । जो लोग अन्नमय आदि शब्दों से, अन्न आदि सुखमय पदार्थ अर्थ लगाते हैं, उनके ब्रह्मत्व को नहीं मानते, उन्हें ही प्रपाठक में असंगति प्रतीत होती है । वस्तुतः अन्न आदि को आनंदांश मानने तथा ब्रह्म को उनका कारण मानने पर ही प्रपाठक का तत्त्व समझ में आ सकता है । यदि ऐसा नहीं मानेंगे तो पूरा प्रकरण व्यर्थ का पदार्थ विवेचक संदर्भ मात्र ही सिद्ध होगा । उक्त प्रसंग में कारणता प्रतिपादक "तस्माद् वा एतस्मादात्मनः" इत्यादि वाक्य में आत्मा पद के प्रयोग से आनंद की समीपता तथा फलरूप से चिदंश की कारणता बतलाकर, आनंदस्वरूप ब्रह्म की अन्तर्यामिता का प्रतिपादन किया गया है और अन्त में "यह आनंद-मय आत्मा का उपसंक्रमण करता है" इत्यादि में उसी तत्त्व का पुनरुल्लेख करके उसी को फलरूप से बतलाया गया है । इस प्रकार तत्त्व के निरूपक अन्नमय आदि की भी ब्रह्म रूप से उपासना बतलाई गई है तथा उनका भी वैसा ही फल बतलाया गया है ।

तत्र पूर्वपक्षेऽन्नमयादेरिवानंदमयस्यापि न ब्रह्मत्वम्, अन्नमयादितुल्यवचनात् तथैव फलसिद्धिरिति । एवं प्राप्तेऽभिधीयते—

उक्त प्रसंग पर जो पूर्वपक्ष है कि—अन्नमयादि की तरह, आनंदमय का भी ब्रह्मत्व नहीं है तथा अन्नमयादि की तरह उसकी फलसिद्धि भी नहीं है, इसका उत्तर देते हैं —

आनन्दमयोऽभ्यासात् ।१।१।११॥

आनन्दमयः परमात्मा, नान्नमयादिवत् पदार्थान्तरम्, कुतः ? अभ्यासात्

अभ्यस्यते पुनः पुनः कीर्त्यंत इत्यभ्यासः, तस्मात्। अभ्यासस्य भेदकत्वं पूर्वतंत्रसिद्धम्। यथा पूर्वतंत्रे शब्दान्तराभ्याससंख्यागुणप्रक्रियानामधेयानां षण्णां कर्मभेदकत्वमेवमेवानंदमयस्याप्यभ्यासात् पूर्ववैलक्षण्यम्। अतोऽतुल्यत्वाद् ब्रह्मत्वम्। एवमभ्यासः श्रूयते "को ह्येवान्यात् कः प्राण्याद् यदेष आकाश आनंदो न स्यात्", एष हि एवानंदयति इत्यर्थतोऽभ्यासः स्तुत्या।

आनंदमय परमात्मा है, अन्नमय आदि की तरह कोई अन्य पदार्थ नहीं है। भृगु प्रपाठक में उसका अभ्यास किया गया है। पुनः पुनः जिसका उल्लेख किया जाय उसे अभ्यास कहते हैं। अभ्यास के भेदों के उदाहरण पूर्व मीमांसा में बहुत मिलते हैं (जैसे—"तनूनपातं यजति, समिधो यजति, इडो यजति, बर्हिर्यजति, स्वाहाकारं यजति" इत्यादि)। जैसे कि पूर्वमीमांसा में भिन्न भिन्न कर्मभेदों को एक ही शब्द के पुनरुल्लेख से दिखलाया गया है, वैसे ही आनंदमय के अभ्यास से उसकी अन्य पूर्व तत्वों से विलक्षणता दिखलाई गई है। अर्थात् सब की, असमान होते हुए भी, ब्रह्मरूपता है। "को ह्येवान्यात्" इत्यादि में स्तुति रूप से आनंदमय का ही अभ्यास प्रतिभासित होता है।

मयडर्थत्वप्रकृतिस्तु तुल्या, पुनर्वचनेनाभ्यासेन प्रवाहाद् भेदे साधिते ब्रह्मत्वम्, न तु द्वयापत्तिः, उत्तरस्य साधकत्वात्, तस्मादानंदमयं ब्रह्मैव।

मयट् प्रत्यय प्रायः जिस शब्द के साथ प्रयुक्त होता है, उसकी प्रकृति के अनुरूप अर्थ प्रकाश करता है, पुनः पुनः प्रवाह रूप से आनंद शब्द के उल्लेख से तथा "तस्य प्रियमेव शिरः, मोदः दक्षिणपक्षः, प्रमोद उत्तरपक्षः" इत्यादि विभिन्न ब्रह्मत्वसाधक शब्दों से आनंदमय शब्द का ब्रह्मत्व निश्चित होता है। "प्रियमेव" इत्यादि से ब्रह्म में द्वैत भाव नहीं आता, प्रियता आदि तो आनंदमय के विशेषण मात्र हैं। इससे सिद्ध होता है कि ब्रह्म ही आनंदमय है।

अथवा "स नैव रेमे, तस्मादेकाकी न रमते, स द्वितीयमैच्छत्, स हैतावानास" इत्यादिश्रुतिभिः "एष उ एवेति" श्रुतेश्च तानि तानि साधनानि कारयित्वा तानि तानि फलानि ददत् भगवान् स क्रीडार्थमेव जगद्रूपेणाविर्भूय क्रीडतीति वैदिकैर्निर्णीयते, एतदेव काण्डद्वयेऽपि प्रतिपाद्यते। अन्यथा

जीवस्य साधनफले निरूपयन्त्याः श्रुतेर्जीवपरत्वमेव स्यान्न ब्रह्मपरत्वम्। कर्मब्रह्मणोरपि जीवशेषत्वं नापेयात्।

अथवा—"वह ऐसे रमण करने में समर्थ नहीं हुआ, उसने दूसरे साथी की इच्छा की, वह इतना ही नहीं है" इत्यादि तथा "एष उ एव" इत्यादि श्रुति से ज्ञात होता है कि वह परमात्मा फलानुरूप साधनों को करवा कर तदनुसार फल प्रदान कर, स्वयमेव क्रीडा करने के लिए जगत रूप से आविर्भूत होकर क्रीडा करता है, ऐसा ही दोनों काण्डों का प्रतिपादन है। ऐसा न मानेंगे तो, जीव के साधन और फल का निरूपण करने वाली श्रुतियाँ जीव परक ही सिद्ध होंगी, ब्रह्म परक नहीं। कर्म और ब्रह्म मीमांसा, दोनों ही फलार्थ में जीव परक नहीं हैं।

एवं सति पूर्वकांडेऽवान्तरफलान्युक्त्वैतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवंतीति श्रुतेर्निरवध्यानंदात्मकमेव परमं फलमिति तद् विवक्षमाणा पूर्वं सामान्यत आह ससाधनं तैत्तिरीये—"ब्रह्मविदाप्नोति परम्" इति, अक्षयब्रह्मवित् परं ब्रह्माप्नोतीत्यर्थः। अत्र पर शब्दस्य पूर्वपरत्वे तदित्येव वदेत्। पूर्वं ब्रह्मोक्त्वाग्रे यत् परमित्याह, तेन सान्निध्यात् तत एवं परपुरुषोत्तमरूपमेवात्राभिप्रेतमिति ज्ञायते।

इससे यह भी समझना चाहिए कि पूर्वमीमांसा में जो कर्मों के स्वर्गादि साधन कहे गए हैं वे भी इस आनंदमय के अंशमात्र ही हैं। अखंड आनंद ही परम फल है, यही श्रुति का सूक्ष्मार्थ है। साधन सहित फल का उल्लेख, जैसे कि तैत्तिरीय में है--"ब्रह्मवेत्ता पर की प्राप्ति करता है" इत्यादि, इसमें पर शब्द का पूर्व-परत्व भाव होने से वाच्यार्थ होगा "वही ऐसा हो जाता है।" इसमें पहले ब्रह्म शब्द कहकर आगे पर का निर्देश करके सांनिध्य दिखलाया गया है जिसका तात्पर्य होता है कि "वही पर पुरुषोत्तम रूप हो जाता है।"

किञ्च प्रतिवादिना तदाप्तिर्ज्ञानात्मिकैव वाच्या। तथा सति ब्रह्म प्राप्तो ब्रह्म प्राप्नोतीत्यर्थः स्यात्, स चासंगतः, साधनसाध्यभावव्यवहृतिश्च।

प्रतिवादी (शंकर) पर-प्राप्ति को ज्ञानात्मिका प्राप्ति ही मानते हैं, इसके अनुसार तो उक्त श्रुति का अर्थ होगा "ब्रह्म प्राप्त व्यक्ति ब्रह्म को

प्राप्त करता है", ऐसा अर्थ तो नितांत असंगत है, इसमें तो साधन साध्य भाव विच्छिन्न हो जाता है।

अतः परं विशेषतस्तदविवक्ष्यमाणानुभवैकगम्यं तत्स्वरूपं नान्यमानगम्यमिति ज्ञापयितुमन्यमुखेनाह। तदेषाभ्युक्तेति। अन्यथा सर्वार्थतत्त्वप्रतिपादिका श्रुतिरेवं कथं वदेत्। तदित्यव्ययम् तथा च तत् पूर्वोक्त ब्रह्मविदः परप्राप्तिलक्षणमर्थं विशदतया प्रतिपाद्यत्वेनाभिमुखीकृत्योपगृह्य ऋगेषा विदितपरब्रह्मकैरुक्ता, पूर्ववाक्योक्तार्थस्य वैशद्यमनया क्रियत इत्यर्थः संपद्यते। तामेवाह—"सत्यं ज्ञानमनंतं ब्रह्म यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्, सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता।" सोपपत्तिकमानंदात्मकत्वमग्रे निरूपणीयमित्यधुना तदनिरूप्य सच्चिदंशौ देशकालापरिच्छिन्नत्वं चोक्तवती।

तत् शब्द से अभिप्रेत, उस तत् का स्वरूप अनुभव मात्र गम्य होता है। तत् शब्द एव अर्थ में प्रयुक्त है, सर्वार्थ तत्त्व की प्रतिपादिका श्रुति ऐसा ही कहती है। तत् अव्यय है "तत्" शब्द से, पूर्वकथित "ब्रह्मविद्" शब्द से, परमप्राप्ति रूप लाक्षणिक अर्थ का विशद रूप से प्रतिपादन करके यह ऋक्-श्रुति प्रसिद्ध "परब्रह्म" अर्थ ही प्रस्तुत कर रही है, अर्थात् पूर्ववाक्य के अर्थ का विशदीकरण कर रही है। वही श्रुति आगे कहती है कि "वह ब्रह्म सत्यज्ञानअनंतस्वरूप है, जो अपने हृदय की दहराकाश गुहा में उसे देखता है, वह महात्मा ब्रह्म के साहचर्य से समस्त कामनाओं को प्राप्त करता है।" यही श्रुति आगे चलकर फलनिरूपण में, आनंदात्मकता का सतर्क निरूपण करती है, साधन निरूपण में वैसा सतर्क निरूपण न करके "सत्यं ज्ञानम्" पदों से सत् चित् अंशों को देश काल से अपरिच्छिन्न बतलाती है।

अथवा, अक्षरब्रह्मण्यानंदात्मकत्वे सत्यपि तस्य परिच्छिन्नत्वान्न परमफलत्वमत आनंदेऽपरिच्छिन्नत्वमेव परमफलतावच्छेदकमिति तद्धर्मपुरःसरं परमानंद एवानंतशब्देनोच्यतेऽत्र। "सत्यं विज्ञानमानंदं ब्रह्म सच्चिदानन्द विग्रहम्" इत्यादि श्रुतिषु त्रयाणामप्येक प्रक्रमपठितत्वाद् द्वितीयोक्तौ तन्नियतसहचरितत्वेनाऽनुक्तोऽप्यानंदः प्राप्स्यत एवेत्याशयेन वाऽनंदः स्फुटतया नोक्तः। अथ वेदनपदार्थमाह यो वेदेत्यादिना। अत्रेदमाकूतम् "नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन। यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः तस्यैष आत्मा वृणुते तनुं स्वाम्।" इति श्रुत्या वरणेतरसाधनाप्राप्यत्वमुच्यते।

अक्षर ब्रह्म में आनंदात्मकता होते हुए भी, उसकी परिच्छिन्नता के कारण उसमें परमफलता नहीं है। आनंद की अखंडता ही उसकी परमफलता की निर्णायक है। आनंद धर्म से युक्त परमानंद ही "अनंत" शब्द से अभिप्रेत है। "ब्रह्म सत्य विज्ञान और आनंद रूप है, वह सच्चिदानंद विग्रह है" इत्यादि श्रुति के ही समान स्वरूप वाली श्रुति "सत्यं ज्ञानमनंतं ब्रह्म" में सत्य और ज्ञान के साथ प्रयुक्त "अनंत" पद आनंद अर्थ का ही वाचक सिद्ध होना है, इसीलिए "आनंद" पद का स्पष्टोल्लेख नहीं है। "यो वेद" इत्यादि वेदन का प्रतिपादक है। "यह आत्मा प्रवचन से लभ्य नहीं है, मेधा या स्वाध्याय से भी लभ्य नहीं है, जिसे यह वरण करता है, उसी से लभ्य है" इत्यादि में आनंदमय को अन्य साधनों से अप्राप्य बतलाया गया है।

एवं सति श्रुतिद्वयविरोधपरिहारायाक्षरब्रह्मज्ञानेनाविद्यानिवृत्या प्राकृतधर्मराहित्येन शुद्धत्वसंपादनेन पुरुषोत्तमप्राप्तौ स्वरूपयोग्यता संपाद्यते। तादृशे जीवे स्वीयत्वेन वरणे भक्तिभावात् सहकारियोग्यतासंपत्त्या पुरुषोत्तमप्राप्तिर्भवतीति निर्णीयते। तदैव गुहायां परमव्योमाविर्भावः। "परो मीयते दृश्यतेऽनेन" इति तथा, ज्ञानमार्गीयजीवज्ञेयप्रकारकाद् वैशिष्ट्येनापि तथा। परमव्योम्नोऽत्यलौकिकत्वज्ञापनायालौकिकः प्रयोगः कृतः।

इस प्रकार, दोनों श्रुतियों के परिहार से यह निर्णय होता है कि अक्षर ब्रह्म ज्ञान से अविद्या निवृत्ति, अन्तःकरण की शुद्धि होकर पर ब्रह्म पुरुषोत्तम की प्राप्ति की अर्हता होती है।। वैसे शुद्धान्तःकरण जीव में आत्मीय रूप से वरण करने के लिए परमात्मा भक्तिभाव समन्वित सहकारी योग्यता प्रदान करते हैं, जिसके फलस्वरूप पुरुषोत्तम प्राप्ति होती है। तभी अंतःकरण की गुहा में स्थित परमव्योम में परमात्मस्वरूप का प्रादुर्भाव होता है। "परो मीयते दृश्यतेऽनेन इति परमम्" इस व्युत्पत्ति से ऐसा ही अर्थ प्रकट होता है। ज्ञानमार्गीय जीव ज्ञेय परमात्मा के प्रकार में वैशिष्ट्य होने से वैसी उपलब्धि नहीं कर पाते। परमव्योम की अति अलौकिकता दिखलाने के लिए ही "परम्" ऐसा अलौकिक प्रयोग किया गया है।

"भक्त्याऽहमेकया ग्राह्यो नाहं वेदैः" इत्युपक्रम्य "भक्त्या त्वनन्यया शक्यः" इत्यादि स्मृतिरप्येवमेव संगच्छते। अन्यथा ज्ञानमार्गिणामपि ब्रह्मविदां परप्राप्तिः स्यात्, न त्वेवम्। "मुक्तानामपि सिद्धानां नारायणपरायणः

सुदुर्लभः प्रशान्तात्मा कोटिष्वपि महामुने ।। तस्मान्मद्भक्तियुक्तस्य योगिनो वै मदात्मनः । न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेदिह ।।" इत्यादि वाक्यैः एतदेवाह। गुहायां हृदयाकाशे यदाविर्भूतं परमं व्योमाक्षरात्मकं व्यापि वैकुण्ठं तस्य पुरुषोत्तमगृहरूपत्वात् तत्र निहितं स्थापितमिव वर्त्तमानं यो वेद स भक्तो ब्रह्मणा नित्याविकृतरूपेण विपश्चिता, विविधं पश्यच्चित्त्वं हि विपश्चित्त्वम् । पृषोदरादित्वात् पश्यच्छब्दावयवस्य लोपं कृत्वा व्युत्पादितो विपश्चिच्छब्दः । तेन विविधभोगचतुरेण सह सर्वान् कामानश्नुत इत्यर्थः, एतेन परप्राप्ति पदार्थ उक्तो भवति । शुद्ध पुष्टिमार्गीयत्वादस्य भक्तस्य स्वातंत्र्यं भोग उच्यते । सहभावोक्त्या ब्रह्मणो गौणत्वम्, अतएव भक्ताधीनत्वं भगवतः स्मृतिष्वप्युच्यते—"अहं भक्तपराधीनः, वशीकुर्वन्ति मां भक्त्या" इत्यादिवाक्यैः ।

"मैं एकमात्र भक्ति से ही ग्राह्य हूँ, मैं वेदों से प्राप्त नहीं हूँ" इत्यादि स्मृति भी उक्त बात की पुष्टि करती है। ब्रह्मवेत्ता ज्ञानमार्गियों को उक्त प्रकार की प्राप्ति नहीं होती, "मुक्तानामपि सिद्धानां" इत्यादि में ऐसा स्पष्ट कहा गया है। हृदयाकाश की गुहा में आविर्भूत परमव्योम रूपी अक्षर वैकुण्ठ, पुरुषोत्तम ब्रह्म का गृह है, उसमें निहित चिन्मय जीव परमात्मा से संसक्त होने से नित्य अविकृत रूप से विपश्चित् परमात्मा के साथ विद्यमान रहता है। विविध रूपों से देखने की शक्ति को ही विपश्चितत्व कहते हैं। पृषोदरादि में गण्य होने से "पश्यत्" शब्दावयव का लोप करके विपश्चित् शब्द बना है। ऐसा अर्थ मानने से उक्त वाक्य का तात्पर्य होता है कि वह जीव चतुरता के साथ अनेक भोगों और कामनाओं को प्राप्त करता है। इसे ही पर प्राप्ति पदार्थ कहा गया है। शुद्ध पुष्टिमार्गीय होने से इसे भक्त का भोग स्वातंत्र्य कहते हैं। शुद्ध ब्रह्म का साहचर्य होने से जीव के लिए गौण ब्रह्म का प्रयोग होता है, भगवान की भक्ताधीनता "मैं भक्तों के अधीन हूँ, मुझे भक्ति से वशीभूत करते हैं" इत्यादि वाक्यों से सिद्ध है।

यद्यप्यश् भोजन इति धातोरश्नातीत्येवं रूपं भवत्यशूङ् व्याप्ताविति धातोर्भवत्यश्नुत इति रूपं विकरणभेदात् पदभेदाच्च। तथाप्यत्राश् भोजन इति धातोरेव प्रयोग इति ज्ञायते, तथाहि अत्राशनक्रियायां ब्रह्मणा सहभाव उच्यते, तथा च व्याप्त्यर्थकत्वे ब्रह्मणा सह भूतान् कामान् व्याप्नोतीत्यर्थो भवत्यथवा ब्रह्मणा सहभूतः स जीवः कामान् व्याप्नोतीति । एतौ त्वनुपपन्नौ ।

नहिं कामवज्जीवकर्तृक व्यापनक्रियाकर्मत्वं ब्रह्मणि संभवत्यतिमहत्वात् । व्यापनं चात्र स्वाधीनीकरणमेव वाच्यम्, नहि कामानां तथात्वं स्वतः पुरुषार्थरूपम् भोगशेषत्वात् तेषाम्, पूर्वोक्तपरप्राप्ति व्याकृतिरूपत्वाच्चास्य तथार्थोऽनुपपन्नः । तेन अश् भोजन इति धातोरेवायं प्रयोगोऽर्थस्या लौकिकत्वज्ञापनायालौकिकः प्रयोगः कृतः । व्यत्ययो बहुलमिति सूत्रेण छंदसि तद्विधानात् श्नाप्रत्यय-परस्मैपदयोर्व्यत्ययेन श्नुप्रत्ययात्मनेपदे जाते इति भोगार्थक एवायं धातुः । एवमेव न तदश्नोति कंचन न तदश्नोति कश्चनेत्यत्र प्रत्ययमात्रव्यत्ययेन प्रयोगोऽश् धातोरेवेति ज्ञेयम्, अन्यथा सर्वव्यापकस्य ब्रह्मणस्तन्निषेधोऽनुपपन्नः स्यात् ।

यद्यपि "अश् भोजने" धातु का अश्नाति रूप तथा "अशूङ् व्याप्तौ" धातु का अश्नुते रूप, विकरण भेद और पदभेद से होता है, परंतु "अश्नुते" पद "अश्" धातु का ही रूप प्रतीत होता है; उक्त प्रयोग में अशन क्रिया में ब्रह्म के साथ सहभाव दिखलाया गया है । "अश्नुते" का यदि व्याप्ति अर्थ मानेंगे तो, ब्रह्म के साथ भौतिक कामनाओं को प्राप्त करता है अथवा ब्रह्म के साथ वह भौतिक जीव कामनाओं को प्राप्त करता हैं, ये दोनों अर्थ नहीं हो सकते । जीवगत व्यापन क्रिया का कर्म ब्रह्म में संभव नहीं है, क्योंकि ब्रह्म अति महान् है, उक्त प्रसंग में जो व्यापकता कही गई है वह स्वाधीनता की वाचक है, स्वतः पुरुषार्थ रूप भौतिक कामनाओं की वाचक नहीं है । यदि भौतिक कामनाओं की वाचक मानेंगे तो उन कामनाओं का फल भोग्य होगा, जिससे परमप्राप्ति की बात विकृत हो जायगी तथा ब्रह्म के साथ समस्त कामनाओं के भोगने की बात भी निरस्त हो जायगी । "अश्" धातु का यह प्रयोग, अर्थ की अलौकिकता का ज्ञापक अलौकिक प्रयोग है । "व्यत्ययो बहुलम्" इस सूत्र से छंद में श्ना प्रत्यय और परस्मैपद से विपरीत, श्नु प्रत्यय तथा आत्मनेपद का भोगार्थक प्रयोग है । उसे कोई भोग नहीं सकता, वह किसी का भोग नहीं करता इन दोनों वाक्यों में केवल प्रत्यय मात्र के परिवर्तन से अश् धातु का प्रयोग किया गया है । यदि ऐसा अर्थ नहीं मानेंगे तो सर्वव्यापक ब्रह्म का प्रापंचिक जगत से जो विलगाव है, वह नहीं हो सकेगा ।

ननु सकामोऽत्रोपासकस्तदुपास्यं च सगुणं ब्रह्म द्वयोरपि कामोपभोगश्रवणात् । "यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति" इत्युपक्रम्य

"यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत् केन कं पश्येत्" इत्यादिना अन्यदर्शनादि-निषेधाद् ब्रह्मविदः कामोपभोगासंभवश्चेति चेन्मैवम् । तदेषाभ्युक्तेति वाक्येन पूर्ववाक्योक्तार्थं निरूपिकेयमृगित्युक्तत्वेन प्राकृतगुणसंबंधस्य तत्र वक्तुमशक्यत्वात् । तथा सति ब्रह्मवित्प्राप्यत्वपरत्वयोरसंभवापत्तेः । नच वेद्यस्यागुणत्वमुत्तरस्य सगुणत्वमिति वाच्यम्, परत्वानुपपत्तेः । साधनशेष-भूतस्यागुणत्वं तत्फलस्य सगुणत्वमित्यसंगततरं च "यद्धि पश्यंति मुनयो गुणापाये समाहिताः" इति श्रीभागवतवाक्येन गुणातीतपुंसां वैकुण्ठ-दर्शनाधिकार उच्यते यत्र तत्र किमु वाच्यं तत्परदर्शने ।

(वाद) उक्त प्रसंग में सकाम उपासक और उसके उपास्य सगुण ब्रह्म का वर्णन है, इसलिए दोनों के कामोपभोग का वर्णन किया गया है । जहां "दो की तरह होकर एक दूसरे को देखता है" ऐसा उपक्रम करके वर्णन किया गया है वहीं यह प्रसंग घटित होता है । जहां "सब कुछ आत्मा ही था कौन किसे देखे ?" इत्यादि द्वैत दर्शन का निषेध है, वैसे ब्रह्मवेत्ता से कामोपभोग संभव नहीं है ।

(विवाद) ऐसी बात नहीं है, अपितु "तदेषाभ्युक्ता" वाक्य से पूर्व वाक्योक्त अर्थ का निरूपण करने वाली इस ऋग्वेदीय श्रुति का ही समर्थन किया गया है, इसलिए ब्रह्म के प्राकृत गुण संबंध की बात नहीं कही जा सकती । यदि वैसा कहेंगे तो ब्रह्मवेत्ता के लिए परतत्व की प्राप्ति असंभव हो जायेगी । उपास्य और उपासक के लिए सगुणता और सकामता की बात भी असंगत है, ऐसा मानने से परतत्व की सिद्धि नहीं हो सकती । साध्य तत्व को निर्गुण तथा उससे प्राप्त फल को सगुण मानना तो और भी असंगत है । "मुनिजन गुण रहित स्थिति में समाहित चित्त होकर परतत्व को देखते हैं" इस भागवत वाक्य से गुणातीत व्यक्ति को बैकुण्ठ दर्शन का अधिकार बतलाया गया है, वहां पर-दर्शन के विषय में क्या कहा जा सकता है ?

यच्चोक्तं ब्रह्मविदो द्वैतदर्शनानुपपत्त्या कामभोगासंभव इति, तत्राप्यु-च्यते, यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूदिति श्रुतिखंडो ब्रह्माद्वैतभाने ब्रह्मविदः प्रापंचिक भेदादर्शनं वदति, न तु प्रपंचातीतार्थदर्शनं बोधयति निषेधति वा । पुरुषोत्तमस्वरूपं तु यावत्स्वधर्मविशिष्टं प्रपंचातीतमेवेति तद्दर्शनादौ

किमायातम् । "पुरुष एवेदं सर्व यद् भूतं यच्च भाव्यम्" इत्यनेन ब्रह्मात्मकत्वं प्रपंचस्योक्त्वैतदपि तस्य विभूतिरूपं पुरुषस्त्वितो महानित्याह "एतावानस्य महिमा अतो ज्यायांश्च पूरुषः" इति श्रुतिरतो न किंचिदनुपपन्नम् । एवं सति ब्रह्मविदः परप्राप्तेः पूर्वदशा तत् केनेत्यादिनोच्यते उत्तरदशा तु सोऽश्नुते इत्यनेनोच्यते, इति सर्वं सुस्थम् । छांदोग्येऽपि "यत्र नान्यत् पश्यति" इत्यादिना भूमस्वरूपमुक्त्वा "आत्मैवेदं सर्वम्" इत्यन्तेन तद्विभावमुक्त्वो-च्यते । "स वा एष एवं पश्यन्नेवं मन्वान एवं विजानन्नात्मरतिरात्मक्रीड आत्ममिथुन आत्मानंदः स स्वराड् भवति सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति" इति । एतच्च लिंगभूयस्त्वात् तद्धि बलीयस्तदपीत्यधिकरणे प्रपंचयिष्यते ।

जो यह कहा कि ब्रह्मवेत्ता के लिए द्वैतदर्शन के बिना कामोपभोग करना असंभव है, उस पर भी कथन यह है कि "सर्वमात्मैवाभूत्" श्रुति अखंड ब्रह्माद्वैत के भान होने से ब्रह्मवेत्ता के लिए प्रापंचिक भेद प्रदर्शन की बात बतलाती है, प्रपंच से अतीत अर्थ (फल) दर्शन की प्राप्ति या निषेध की बात नहीं करती । पुरुषोत्तम का स्वरूप तो जगत के समस्त जीवों के धर्म से विशिष्ट प्रपंच से अतीत ही है, उसके दर्शन आदि से जागतिक प्राप्ति कहा संभव है ?

"यह दृश्य जगत भूत और भविष्य में विराट पुरुष का ही रूप है" इत्यादि वाक्य से प्रपंच जगत की ब्रह्मात्मकता बतलाई गई और उसका स्वरूप "इतना ही नहीं है, इससे भी महान् है" ऐसा विराट पुरुष रूप से वर्णन किया गया है । इस श्रुति के तत्व को जान लेने के बाद कुछ भी कहना शेष नहीं रह जाता । ब्रह्मवेत्ता की पर प्राप्ति की पूर्व दशा "केन" इत्यादि से तथा उत्तर दशा "सोऽश्नुते" इत्यादि से वर्णन की गई है, इस प्रकार सब कुछ सुसंगत है । छांदोग्य में भी "यत्र नान्यत् पश्यति" इत्यादि से भूमा का स्वरूप बतलाकर "आत्मैवेदं सर्वम्" इत्यादि से उसके विभाव का वर्णन करके कहा गया है कि "उसे इस प्रकार देखकर, इस प्रकार जानकर, इस प्रकार मानकर वह आत्मरति, आत्मक्रीड, आत्ममिथुन, आत्मानन्द, स्वराट होता है, समस्त लोकों में उसकी अप्रतिहत गति होती है" इत्यादि । इसका विस्तृत विवेचन 'लिङ्ग भूयस्त्वात् तद्हि बलीयस्तदपि' अधिकरण में करेंगे ।

अथवा "तदेषाऽभ्युक्ता" इति वाक्येन पूर्ववाक्योक्त ब्रह्मनिरूपिकेयमृगित्युच्यते, तत्र साधनफले निरूपिते इति ऋच्यपि ते एव निरूप्येते। तथाहि, आनंदमयस्य फलात्मकत्वेन साधनशेषभूते ब्रह्मणि तमनुक्त्वा, यो वेदेत्यंतयर्चा ब्रह्मविदिन्येतावतो वाक्यस्य विवरणं क्रियते। एतेन फलाप्तौ स्वरूपयोग्यता-संपत्तिरुक्ता। तत उक्तरीत्या भगवद्वरणेन भक्तिलाभे गुहायामाविर्भूतं यत् परमं व्योम, तस्मिन्निहितः पुरुषोत्तम एवेति। तं निहितमिति तृतीयार्थे द्वितीया। तथा च तत्र निहितेन ब्रह्मणेत्यग्रे पूर्ववत्। अथ परम-फलत्वान्निरवध्यानन्दात्मकत्वमंतरंगेभ्योऽप्यन्तरंगत्वं स्वस्मिन् ज्ञापयितुं सर्वस्य सर्वरूपत्वेन सर्वाधिदैविकरूपत्वमपि ज्ञापयितुमाधिभौतिकादि रूपेणाविर्भवितुं भगवानाकाशादिरूपेणाविर्भूतोऽत एव भवन आकाशस्यैव कर्तृत्वमुच्यते।

"तदेषाऽभ्युक्ता" इत्यादि से पूर्व की, ब्रह्मनिरूपिका यह ऋचा है, साधन फल के निरूपण के अनुरूप ही ऋचा का भी निरूपण है। आनंद का फलात्मक रूप से साध्य स्वरूप ब्रह्म में विनियोग न करके "यो वेदेति" ऋचा "ब्रह्म-विद्" वाक्य का ही विवरण प्रस्तुत करती है। इस प्रकार फलावाप्ति में स्वरूपयोग्यता संपत्ति का निरूपण है। भगवत्प्राप्ति के लिए भक्तिलाभ आवश्यक है। हृदय की गुहा में आविर्भूत दिव्य आकाश में निहित पुरुषोत्तम ही साध्य ब्रह्म हैं। "तं निहितम्" पद में तृतीयार्थे द्वितीया है। वहां निहित होने से ब्रह्म का ही बोध होता है। आगे के वाक्यांश का अर्थ पूर्ववत् ही समझना चाहिए। परमफल होने से अखंड आनंदात्मक, अंतरंगों से भी अंतरंग वह वस्तु अपने में ही पूर्ण है, वह सबका स्वरूप है अतः वह आधिदैविक रूप भी है तथा आधिभौतिकादि रूपों से आविर्भूत होने के लिए वही आकाश आदि रूपों में आविर्भूत हुए, इसीलिए दिव्य आकाश का कर्तृत्व दिखलाया गया है।

अग्रेऽन्नमयादीनि चत्वारि रूपाणि पूर्वं निरूपितानि उत्तरोत्तर-मतरंगभूतानि, अन्नरसमयशरीरभूतात् प्राणमयस्तस्मान्मनोमयस्तमाद् विज्ञानमयः। कश्चित्त्वेतानि रूपाणि विकारात्मकत्वात् प्राकृतान्येवैतेभ्योऽ-प्यन्तरंगो विमुक्ताविद्यो जीव एवानंदमय उच्यत इत्याह। स प्रतिवक्तव्यः।

वाक्य के अग्रिम वर्णन में आकाशादि चारों को पूर्वनिरूपित वस्तु से उत्तरोत्तर अंतरंग बतलाया गया है। अन्नमय शरीर से प्राणमय, उससे

मनोमय, उससे विज्ञानमय अंतरंग है। अर्थात् जलस्वरूप अन्नरसमय, वायुरूप प्राणमय, तेजरूप मनोमय, आकाशरूप विज्ञानमय उत्तरोत्तर अंतरंग हैं। जो लोग मयट् को विकारात्मक कहते हैं, वे अन्नमय आदि को विकारात्मक प्राकृत कहते हैं, अंतरंग में निहित अविद्याविमुक्त जीव को ही आनंदमय मानते हैं। यह मत निराकरणीय है।

अग्रिमप्रपाठके भृगुणा अधीहि भगवो ब्रह्मेति पृष्टो वरुणस्तदोत्तमाधिकाराभावात् स्वयं ब्रह्मस्वरूपमनुक्त्वा तपसाधिकारातिशयक्रमेण स्वयमेव ज्ञास्यतीति तदेव साधनं सर्वत्रोपदिष्टवान् "तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व" इति। ब्रह्मातिरिक्तेन साधनेन न तज्ज्ञातुं शक्यमिति ज्ञापनाय "तपो ब्रह्म" इति सर्वत्रोक्तत्वात्। तथा च तपसा साधनेन ब्रह्मत्वेन ज्ञातानि रूपाणि प्राकृतानि इति विचारकेण न वक्तुं शक्यमिति। तर्हि पुनर्ब्रह्मविषयकप्रश्नसाधनोपदेशतत्करणपूर्वातिरिक्त ब्रह्मज्ञानानां परंपरा नोपपद्यते इति चेत्, मैवम्, भगवतो हि विभूतिरूपाण्यनंतानि, तत्र येन रूपेण यत् कार्यं करोति तेन रूपेण समर्थोऽपि तदतिरिक्तं न करोति, तथैव तल्लीला यतः।

इसी प्रपाठक के अग्रिम प्रपाठक में भृगु के "अधीहि भगवो ब्रह्म" ऐसा पूछने पर, वरुण ने उसे उत्तम अधिकारी न मानते हुए स्वयं ब्रह्म का स्वरूप न बतलाकर 'तप के द्वारा अधिकारातिशय होता है अतः तुम तप करो, तुम्हें स्वयं ही ब्रह्म तत्त्व का ज्ञान हो जायगा, ऐसा तात्त्विक साधन का यह उपदेश दिया कि "तप से ब्रह्म को जानना चाहिए", तप के अतिरिक्त किसी अन्य साधन से ब्रह्म को जानना शक्य नहीं है, इसीलिए सब जगह कहा गया है कि तप ब्रह्म है, तप रूपी साधन से ज्ञात समस्त ब्रह्ममय वस्तुओं को प्राकृत कहना विचार-शून्य है। यदि कहें कि ब्रह्मविषयक प्रश्न और साधन के उपदेश के प्रसंग से ज्ञात होता है कि जिस साधन का उपदेश किया गया है उसके अतिरिक्त ब्रह्म-ज्ञानों की परंपरा जाग्रत नहीं होती, सो बात ऐसी नहीं है। भगवान के अनंत विभूतिरूप हैं, जिस रूप से वे जो कार्य करते हैं, अन्य कार्य करने की सामर्थ्य होते हुए भी उस रूप से वे अन्य कार्य नहीं करते, उनकी लीला का ऐसा ही नियम है।

तथा चान्नमयादिरूपैः क्षुद्राण्येव फलानि ददाति, हीनाधिकारिणां तावतैवाकांक्षानिवृत्तिर्भवति। एवं सति यादृशेनाधिकारेणान्नमयस्वरूपज्ञानं

भवति तादृशे तस्मिन् संपन्ने तज्ज्ञानमपि तथा, एवमेवोत्तरत्रापि। तथा चाकाशादिरूपमाधिभौतिकस्वरूपमुक्त्वाऽध्यात्मिकं तत् पुरुषरूपं वदंती पक्षिरूपमाह। यतः तेनैव रूपेणाधिभौतिके रूपे आध्यात्मिकस्य पुरुषस्य प्रवेशः। तदुक्तं वाजसनेयिशाखायाम् "पुरश्चक्रे द्विपदः पुरश्चक्रे चतुष्पदः पुरः स पक्षी भूत्वा पुरुष आविशद्" इति। वस्तुतस्तु पुरुष एव, परंतु पुरः संबंधी सन् पक्षी भूत्वा पुरः शरीराण्याविशदित्यर्थः। प्राकृतीषु विविधासु पूर्णप्राकृतस्यैकविधस्य प्रवेशोऽनुचितो यद्यपि, तथापि स्वप्रवेशं विना न किंचिद् भावीति गतिप्रतिबंधकमुल्लंघ्यालौकिकया गत्या प्रविशामीति ज्ञापनाय पक्षिभवनम्। स हि तादृशः, अत एव द्विपदश्चतुष्पद इति।

तथा वे अन्नमय आदि रूपों से क्षुद्र फल प्रदान करते हैं, हीन अधिकारियों की आकांक्षा उतने से ही निवृत्त हो जाती है, जैसे अधिकार से अन्नमय स्वरूप का ज्ञान होता है, उसी प्रकार उसमें सिद्धि प्राप्त हो जाने पर उसका ज्ञान भी हो जाता है। यही प्राणमय आदि की प्रक्रिया है। तथा परमात्मा के आकाश आदि आधिभौतिक स्वरूप को बतलाकर उसके आध्यात्मिक पुरुष रूप को पक्षिरूप से बतलाया गया है, पक्षी के आधिभौतिक रूप में ही आध्यात्मिक पुरुष का रूप निहित है। वाजसनेयी शाखा में उसका रूप बतलाते हुए कहते हैं—"उसने दो पद किये, चार पद किये, फिर वह पक्षी होकर उसमें पुरुष रूप से प्रविष्ट हुआ।" इत्यादि, वस्तुतः तो वह पुरुष ही है किंतु शरीर संबंधी होने से पक्षी कहलाया। विविध प्राकृत शरीरों में एक अखण्ड अप्राकृत वस्तु का प्रवेश यद्यपि अनुचित है, तथापि स्वयं प्रवेश के बिना कुछ भी होना संभव नहीं इसलिए गति-प्रतिबंधन का उल्लंघन कर अलौकिक गति से प्रवेश करता हूँ, इस बात को बतलाने के लिए वह पक्षी रूप से प्रकट हुआ। वह वैसा ही हो जाता है यही भाव 'द्विपदश्चतुष्पदः" इत्यादि में निहित है।

आधिदैविक एक एवेति यः पूर्वस्येति सर्वत्रोक्तम्, नन्वानंदमयेऽप्येवमुक्तेर्नायमपि परमकाष्ठापन्नरूपः, किन्तु पूर्वोक्तेभ्योऽतिशयितधर्मवान् विभूतिरूप एव। नच शिरआदीनामानंदरूपत्वेनैवोक्तेरयं परमात्मैवेति वाच्यम्। अन्नमये यथाऽवयवानां तद्रूपत्वं तथानंदमयेऽपि तेषां तद्रूपत्वादन्यथा तस्यैष एव शारीरात्मेति न वदेत्। शरीरं हि पूर्वोक्तं, तत्संबंधी हि शारीरः तद्भिन्नः प्रतीयते। तथा च परब्रह्मत्वं स्वान्यात्मवत्त्वं च सर्वश्रुतिविरुद्धम्।

नन्वेतदतिरिक्तं चेत् ब्रह्म स्यात् तदानंदमयादन्योऽन्तरात्मा ब्रह्मेत्यपि वदेत् । नत्वेवमतोऽयं पर एवेति चेन्न, आध्यात्मिकरूपाणामेवात्र निरूपणात् तेषां च पंचरूपत्वात् तावतामेव निरूपणमतोऽस्माद् अन्य एव पर इति प्राप्ते प्रतिवदति "आनंदमयोऽभ्यासात् ।" आनंदमय शब्द वाच्यः पर एव, कुतः ? अभ्यासात्, "तस्यैष एव शारीर आत्मा यः पूर्वस्ये" त्यन्नमयादिषु सर्वत्रैवात्मत्वेनानंदमयस्यैव कथनात् ।

(वाद) आनंदमय के संबंध में भी जो पक्षी स्वरूप का वर्णन किया गया है, वह चरम स्वरूप नहीं है अपितु पूर्वोक्त स्वरूपों की तरह अतिशयित धर्मवान् विभूतिरूप ही है। सिर पक्ष आदि अवयवों की आनंदरूपता कहने से उसे परमात्मा भी नहीं कह सकते, अन्नमय आदि में जैसे अवयवों की तद्रूपता है आनंदमय में भी वैसी ही समझनी चाहिए। अवयवों की अवयवी से स्वाभाविक भिन्नता होती है इसलिए अवयव को शारीर आत्मा नहीं कहा जाता। पूर्वोक्त जो पक्षी रूप शरीर है उससे संबंधी शारीर आत्मा उससे भिन्न प्रतीत होता है, परब्रह्मत्व और उसके अंगों का आत्मत्व किसी भी श्रुति से सम्मत नहीं है, अपितु विरुद्ध है। यदि कहें कि वह ब्रह्म इस जगत से अतिरिक्त वस्तु है, तो यह भी मानना होगा कि आनंदमय से अतिरिक्त अन्तरात्मा रूप ब्रह्म है। वह ऐसा नहीं है, उससे भी परे है, यह भी नहीं कह सकते। उक्त प्रपाठक में ब्रह्म के आध्यात्मिक रूपों का ही निरूपण किया गया है, उसके अवयव पांच प्रकार के बतलाये गये हैं, परतत्त्व तो इस स्वरूप से भिन्न ही है।

इस कथन का प्रतिवाद करते हुए सूत्रकार—"आनंदमयोऽभ्यासात्" सूत्र कहते हैं। उनका कथन है कि आनंदमय परतत्त्व ही है, उसी को बार-बार शास्त्रों में ब्रह्म के लिए प्रयोग किया गया है। वही शारीर आत्मा है। पूर्वकथित आनंदमय आदि में आत्मा के रूप से आनन्दमय का ही उल्लेख किया गया है जिससे आनंदमय ही परतत्व निश्चित होता है।

ननु न किंचिन्मानमत्र पश्यामः, किंच आनंदमयस्यैव सर्वत्रात्मत्वेन कथने आनंदमयेऽपि तस्यैष एवेत्यादि न वदेदयमेव पूर्वस्यात्मेति वदेदतो नानन्दमयः पर इति चेत् ।

उच्यते, नहीश्वरादन्यः सर्वेषामेक आत्मा भवितुमर्हति । तस्यानंद-

रूपत्वं "ह्येतस्यैवानंदस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवंति, रसो वै सः, रसं ह्येवायं लब्ध्वानंदीभवति, को ह्येवान्यात् कः प्राण्यात् यदेष आकाश आनंदो न स्यात्, एष ह्येवानंदयति।" इत्यादि श्रुतिभिर्निर्णीयते, एवं सति तदेकवाक्यातायै प्रकृतोऽप्यानंदमयशब्दः तद्वाच्येवेति मंतव्यम्, अन्यथा "आनंदमयादन्योऽन्तर आत्मा" इत्येव वदेत्।

(वाद) उक्त वाक्यों के आनंदमय के उल्लेख में हमें कोई भी ऐसा प्रमाण नहीं मिलता जिसके आधार पर आपका किया हुआ सूत्रार्थ स्वीकारा जा सके। यदि सभी जगह आत्मा रूप से आनंदमय की स्थिति स्वीकार कर लें तो वह आनंदमय में भी तो स्वयं आत्मा होगा, फिर "तस्यैष एव" इत्यादि क्यों कहा गया ? "अयमेव पूर्वस्यात्मा" कहना चाहिए था, इसलिए आनंदमय परतत्त्व नहीं समझ में आता।

समाधान करते हैं—ईश्वर के अतिरिक्त कोई दूसरा सभी का सर्वान्तर्यामी आत्मा नहीं हो सकता, उसकी आनन्दरूपता इस जागतिक आनन्द के रूप में समस्त वितरित है, सभी जागतिक पदार्थ उसी के अंश से स्फुरित हैं। "वह रस स्वरूप है, उसे प्राप्त कर ही सारा जगत आनन्दित होता है, उसके अतिरिक्त जगत में और दूसरा क्या है ? इसके अतिरिक्त दूसरा कौन जगत का प्राण हो सकता है ? यह जो आकाश है वह आनन्द नहीं है, यह परमात्मा ही उसे आनन्दित करता है" इत्यादि श्रुतियों से उक्त बात निश्चित हो जाती है। इससे यह मानना चाहिए कि समस्त वाक्यों की एकवाक्यता दिखलाने के लिए प्रयुक्त वह आनन्दमय शब्द परतत्त्व का ही वाचक है, यदि ऐसा न होता तो "आनन्दमय से अतिरिक्त अन्तरात्मा है" ऐसा स्पष्ट उल्लेख होता।

ननूक्तमाध्यात्मिकानामेवात्र निरूपणादित्यादीति चेन्न, उक्तरीत्याऽधिदैविकस्यैवान्ते निरूपणात्। अत एव भार्गव्यां विद्यायामपि भृगोरन्नमयादिज्ञानानन्तरमपि पुनर्ब्रह्मजिज्ञासोक्ता, नत्वानन्दमयज्ञाने, नहि भृगोराध्यात्मिकज्ञानार्थं प्रवृत्तिः, किन्तु ब्रह्मज्ञानार्थमेव। अधीहि भगवो ब्रह्मेति प्रश्नवचनात्।

किंच ब्रह्मविदाप्नोति परमित्युपक्रमादन्ते ज्ञेयानन्दगणनामुक्त्वा

"स यश्चायं पुरुषे यश्चासावादित्ये स एक" इति वाक्यैर्ब्रह्मविदि "पुरुष आदित्ये च तदेवाक्षरं ब्रह्म प्रतिष्ठितम्" इति तदानन्दोऽपि तथैवेति तयोरानन्दयोरैक्यम्। एवंरूपं ब्रह्मेति यो वेद तस्य क्रमेणान्नमयादि प्राप्तिमुक्त्वा अन्ते वदत्येतमानन्दमयमात्मानमुपसंक्रामतीति। एवं सत्युपक्रमे परप्राप्तेः फलत्वेनोक्तेरुपसंहारेऽपि तथैव भवितव्यत्वादानन्दमयप्राप्तेरेवान्ते फलत्वेनोक्तेस्तदुत्तरमन्यस्यानुक्तेरानन्दमय एव परः।

यह नहीं कह सकते कि उक्त प्रकरण में आध्यात्मिक बातों का ही निरूपण है। वस्तुतः आध्यात्मिक रीति से अन्त में आधिदैविक का ही निरूपण किया गया है। भार्गव विद्या में भी अन्नमयादि ज्ञान हो जाने के बाद भी पुनः ब्रह्म जिज्ञासा की गयी, आनन्दमय ज्ञान हो जाने के बाद फिर भृगु ने ब्रह्म जिज्ञासा नहीं की। भृगु की आध्यात्मिक ज्ञान की प्रवृत्ति नहीं थी अपितु ब्रह्म ज्ञान की ही थी, "अधीहि भगवो ब्रह्म" इस प्रश्न से यह बात स्पष्ट हो जाती है।

"ब्रह्मविदाप्नोति परम्" इत्यादि उपक्रम के अंत में ज्ञेय आनंद तत्त्व पर विचार करके "यश्चायं पुरुषे" इत्यादि में ब्रह्मविद पुरुष और आदित्य में एक ही अक्षर ब्रह्म की प्रतिष्ठा बतलाकर "तदानंदोऽपि तथैव" इत्यादि से उन दोनों के आनंदों की एकता बतलायी गयी है। "ब्रह्म ऐसा है" इत्यादि ज्ञाता को क्रम से अन्नमयादि की प्राप्ति बतलाकर अंत में आनंदमय के उल्लेख से उपसंहार करते हैं। जैसा उपक्रम में पर प्राप्ति का फलरूप से उल्लेख है, उपसंहार में भी वैसे ही निष्कर्ष रूप से अंततोगत्वा आनंदमय ही फल रूप से प्राप्त होता है यह बताया गया है। उसके बाद किसी अन्य का उल्लेख नहीं है इससे सिद्ध होता है कि आनंदमय ही परतत्त्व है।

ननूपसंक्रमणं ह्यतिक्रमणमतो न तथेति चेत् हन्तैवमतिक्रान्तशब्दार्था त्वन्मतिर्भाति, यतः संक्रमण शब्दः प्राप्त्यर्थकः सर्वत्र श्रूयते, अत एव रवेर्मकरादि राशिप्राप्तौ तत्तत्संक्रमणमित्युच्यते। नचेयं न परममुक्तिः, अस्माल्लोकात् प्रेत्येति पूर्वमुक्तेः। अत एव पुरुषोत्तमानंदानुभवे सति अनुभवैकगम्योऽयमानंदो न मनोवाग्विषय इति ज्ञात्वा लोकवेदकालादिभ्योऽपि न बिभेतीति यतो वाच इति श्लोकेनोक्तवती। अन्यथा आनंदे मनसोऽप्यगम्यत्वमुक्त्वा विद्वान् इति कथं वदेत्।

यदि कहो कि उपसंक्रमण ही अतिक्रमण है इसलिए उक्त बात नहीं है ; आश्चर्य है, आपकी मति में ही ऐसे अर्थों का चमत्कार हो सकता है। प्रायः संक्रमण शब्द सब जगह प्राप्त्यर्थक ही सुना जाता है, जैसे कि मकर आदि राशियों को प्राप्त करने पर कहा जाता है कि सूर्य उक्त राशि में संक्रमण कर रहा है। सूर्य का संक्रमण कोई परम मुक्ति अर्थ का द्योतक नहीं है, जैसा कि मुक्ति का उल्लेख "अस्माल्लोकात् प्रेत्य" इत्यादि में है।

पुरुषोत्तमानन्द का अनुभव होने पर अनुभवैकगम्य यह मन और वाणी का विषय नहीं है। ऐसे अनुभवी जीव, लोक वेद काल आदि से भयभीत नहीं होते, यही बात "यतो वाचः" आदि श्रुति में कही गयी है। यदि ऐसा न होता तो मन से अगम्य बतलाकर फिर "विद्वान्" ऐसा विशेषण क्यों देते ?

एवं एति "सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता" इत्यृचि यत् फलमुक्तं तदेवान्ते विवृतमिति ज्ञायते, अन्यथा "अस्माल्लोकात् प्रेत्य" इति उक्तत्वाद् द्दाभावेन भयानुपस्थितया तन्निषेधासंभवः। कामभोगासंभवश्च अत एव सामानाधिकरण्यमनुक्त्वा आनंदं ब्रह्मण इत्युक्तम्, एतेन लौकिक पूर्वदेहं त्यक्त्वा साक्षाद्भगवद्भजनोपयोगिनं भगवद् विभूत्यात्मकं संघातं प्राप्नोत्यादौ, तथाहि, देहेन्द्रियप्राणान्तः करण जीवात्मको हि संघातः। तत्र स्थूलं शरीरमाद्य विभूतिरूपम्। 'द्वितीयं स्पष्टम्, तृतीयम् सर्वेन्द्रिय संबंधित्वेनेन्द्रियरूपत्वेन चान्तःकरणात्मकत्वेन चेन्द्रियन्तिः करणरूपम्। तुरीयं जीवतत्त्वात्मकं यत्र गुहायां भगवद्वरणेन परमव्योभाविभविस्ततः पूर्णानंदात्मकं पुरुषोत्तम स्वरूपं प्राप्य उक्त ऋगर्थ रीत्यातेनसह सर्वकामाशन मेव मनोवाग् विषयानन्द वेदनं तद्वान् भवतीति वाक्यैकवाक्यतयाऽवगम्यते।

"सोऽश्नुते सर्वान्" इत्यादि ऋचा में जिस फल का उल्लेख है, उसी का अन्त में विस्तार किया गया है, अन्यथा "अस्माल्लोकात् प्रेत्य" इत्यादि से किए गए भय के निषेध का प्रश्न ही नहीं था और न कामोपभोग आदि का होना ही सम्भव था। इस लिए ब्रह्म का सामान्य रूप से वर्णन न करके "आनंदं ब्रह्मणः" ऐसा विशेषोल्लेख किया गया है। इस प्रकरण से ज्ञात होता है कि—जीवात्मा, लौकिक पूर्व देह से पृथक् होकर, भगवद्भजनोप-

योगी, भगवद् विभूतियों से युक्त संघात् को प्राप्त करता है, देह—इंद्रिय-प्राण-अंतःकरण सहित जीवात्मा ही संघात् है, स्थूल शरीर पहला अन्नमय विभूति रूप है, दूसरा प्राणमय और तीसरा मनोमय है, समस्त इंद्रियों की नियामक तथा सभी से सम्बद्ध अंतःकरण में स्थित, इन्द्रियों का भी अंतःकरण रूप है। जीव तत्त्वात्मक चौथा रूप है जिसकी गुहा में भगवद्धाम परम व्योम का प्राकट्य होता है उसी से पूर्णानंदात्मक पुरुषोत्तम स्वरूप को फल रूप से प्राप्त कर उस परमात्मा के साथ वाङ्मनसातीत कामनाओं के आनन्द की अनुभूति करते हुए उसी के समान हो जाता है, यही तात्पर्य वाक्यों की पर्यालोचना से ज्ञात होता है।

अथेदं विचार्यते, पुरश्चक्रे द्विपद इति श्रुतौ वस्तुतस्तु पुरुष एव, परन्तु पुरः सम्बन्धी सन् पक्षी भूत्वा पुर आविशदिति निरूपितम् प्रकृतेचान्नमयादयस्तथैवोक्ताः। एवं सत्येकस्यां पुरि बहूना तेषां प्रवेशोन वक्तुमुचितः। प्रयोजनाभावादिति एकैकस्यां पुरितथा वाच्यः तत्र कीदृश्यांतस्यां कस्य प्रवेश इति विचार्यमाणे प्राकृतत्वंब्रह्मत्वयोरविशेषाद् विनिगमकाभावात् सर्वेषां सर्वत्र प्रवेशोऽप्रवेशो वा भवेदिति चेत्।

कोई इस प्रसंग पर ऐसा विचार प्रस्तुत करते हैं कि—"पुरश्चक्रे द्विपदः" श्रुति में वस्तुतः पुरुष का ही वर्णन है, पुर सम्बन्धी होने से वह पक्षी होकर पुर में प्रवेश करता है, ऐसा निरूपण किया गया है अन्नमय आदि का भी वैसा ही वर्णन किया गया है। एक शरीर में उन अनेकों का प्रवेश कहना उचित नहीं है, प्रयोजन के अभाव से ही ऐसा कह सकते हैं। कैसे किसमें किसका प्रवेश होता है, ऐसा विचारने पर समझ में आता है कि—यहाँ प्राकृतत्त्व और ब्रह्मत्व में किसी एक की विशेषता बतलाने वाला कोई संकेत तो मिलता नहीं, इसलिए सबका, प्रवेश अप्रवेश दोनों हो सकता है।

सिद्धान्त :—अत्रेदं प्रतिभाति" अस्माल्लोकात् प्रेत्य" इति वाक्ये इदं शब्द प्रयोगात् प्राकृतगुणमयं प्रपंचमतिक्रम्यगुणातीतं प्रपंचं साक्षाल्लीलोपयोगिनं प्राप्नोति इत्यवगम्यते। तत्प्राप्त्यै भगवद्भावे सम्पन्ने पूर्वं भगवद् विरहभावेनातितीव्रत्वेन सर्वोपमर्दिना शरीरेन्द्रियप्राणान्तः करणानि

नष्टान्येवस्युः यदि तत्तद्रूपं ब्रह्म तेषु-तेषु न प्रविष्टं स्यात्, जीवस्य च ब्रह्मण्येव लयेन लीलानुरसानुभवेन नाश एव सः। तथा च तत्तद् रूपं ब्रह्म तेषु-तेषु स्थितमिति न तेषां नाशः, जीवे त्वानंदमयः पुरुषोत्तमः प्रविशतीति रसात्मकत्वादानन्दात्मकमेव विरहभावरसाब्धिमनुभूय पश्चात् प्रादुर्भूतं प्रभुस्वरूपं प्राप्य, न बिभेति कुतश्चनेति वाक्येन लोकात् तद्भावमुक्त्वा "एतं ह वाव न तपति किमहं साधु नाकरवं किमहं पापमकरवमिति वाक्यैर्वेदाद् भयाभाव उच्यते।

"अस्माल्लोकात् प्रेत्य" वाक्य में किए गए इदं शब्द के प्रयोग से प्रपंच को अतिक्रमण कर, साक्षात् लीलोपयोगी गुणातीत प्रपंच को प्राप्त करना ज्ञात होता है। उस प्राप्ति में, भगवद्भाव से सम्पन्न होने पर प्राप्ति के पूर्व अन्नमय आदि रूप वाले ब्रह्म का यदि उन उन वस्तुओं में प्रवेश न हो तो, समस्त वासनाओं को भस्म करने वाले अति तीव्र भगवद् विरह भाव से शरीर इन्द्रिय अन्तःकरण आदि समस्त नष्ट ही हो जायें। तथा जीव का यदि ब्रह्म में ही लय हो जाय तो, उसे लीलारस की अनुभूति होगी ही नहीं, अतः वह नष्ट ही है। यदि यह मान लेते हैं कि अन्नमय आदि रूप ब्रह्म उन उन वस्तुओं मे स्थित है तो उन वस्तुओं का नाश सम्भव नहीं है। तत्त्व तो ये है कि—जीव में आनन्दमय पुरुषोत्तम का प्रवेश होता है, वह रसात्मक आनन्दात्मक हो जाता है, उस विप्रलम्भ रस समुद्र का अवगाहन कर, उससे आविर्भूत प्रभुस्वरूप को प्राप्त कर लौकिक भयों से जीव मुक्त हो जाता है। यही बात "न बिभेति कुतश्चन" से बतलाकर "एतं ह वाव न तपति" इत्यादि से तात्त्विक ज्ञान हो जाने पर भय के अभाव की बात पुष्ट की गई है।

शरीर प्राणमनोऽन्तःकरण जीवात्मनां शरीरत्वं वाजसनेयिशाखाया-मन्तर्यामि ब्राह्मणे पठ्यते। "यस्य सर्वाणि भूतानि शरीरं यस्य प्राणः शरीरं यस्य वाक् शरीरं यस्य चक्षुः शरीरं यस्य श्रोत्रं शरीरं यस्य मनः शरीरं यस्य त्वक्छरीरमित्यादेरन्ते यस्यात्मा शरीरम्" इति। अत्र पूर्वोक्त निर्गुण देहानां भगवच्चरणरेणुजत्वेन भूतरूपत्वात् ब्रह्मशरीरत्वम्। तत्रान्नमयतत्-प्रवेशेन तत्स्थितिः प्राणेष्वपि तथा, ज्ञानेन्द्रियेषु विज्ञानमय प्रवेशात् तथात्वम्, जीवे त्वानंदमयः प्रविशतीति तथात्वम् अतो युक्तं पक्षित्वक-थनम्।

शरीर प्राण मन अन्तःकरण और जीवात्मा की शरीरत्व स्थिति वाजसनेयीशाखा के अन्तर्यामी ब्राह्मण में इस प्रकार स्पष्ट बतलाई गई है— "समस्त भूत जिसके शरीर हैं, प्राण जिसका शरीर है, वाणी जिसका शरीर है, चक्षु जिसका शरीर है, श्रोत्र जिसका शरीर है, मन जिसका शरीर है, त्वक् जिसका शरीर है, अन्त में आत्मा जिसका शरीर है" इत्यादि। यहाँ पूर्वोक्त निर्गुण देहों की, भगवच्चरण रेणु से उत्पत्ति होने से, भूत रूपक ब्रह्म शरीरता दिखलाई गई है। अन्नमय रूप से प्रवेश करने पर उसकी जो स्थिति होती है, प्राण में प्राणमय, ज्ञानेन्द्रियों में ज्ञानमय और मन में मनोमय तथा जीव में आनन्दमय रूप से प्रवेश करने में वही स्थिति होती है। इसलिए प्रकरण का पक्षित्व कथन युक्ति संगत है।

आनन्दमयस्य स्वरूपं विशेषतो वक्तुमशक्यमिति "यः पूर्वस्य" इति सर्वत्रोक्तम्। शरीर प्रवेश प्रयोजनकपक्षिरूपत्वं पंचष्वपि साधारणमिति तेषु तथा वदंत्यानन्दमयेऽपि तथैवोक्तवती श्रुतिरिति ज्ञेयम्। एवं सति स्पर्शमणिसम्बन्धेन रजतादेर्हेमत्वमिवोक्तप्रकारक प्रवेशाश्रयाणामपि तत्तदात्मकत्वमित्युच्यते, वस्तुतस्तु परोक्षवादोऽयमिति ज्ञायते। तथाहि "ब्रह्मविदाप्नोति परम्" इति वाक्येन ब्रह्मविदः परप्राप्ति सामान्यत उक्त्वा तत्तात्पर्यम् "सत्यं ज्ञानम्" इति ऋचोक्तम्। तत्र सर्वात्मभाववान् भक्तो भगवता सह तत्स्वरूपात्मकान् कामान् भुंक्त इत्युक्तव्याख्यानेन तदर्थोऽवधार्यते। उक्त भक्तस्य सदैव, विरहभावे तु विशेषतः प्रियस्वरूपातिरिक्त स्फूर्त्या अन्नप्राणादिरूपः स एवेति ज्ञापनाय तत्तद्रूपमुच्यते। तेन परम प्रेमवत्त्वं सिद्ध्यति, ततो भगवदाविर्भावे सत्यपि पूर्वभावस्यातितीव्रत्वेन ज्ञानादिसर्वतिरोधानेनाग्रिम रसानुभवो न भविष्यतीति स्वयमेव तदनुभवात्मको भवतीति ज्ञापनाय विज्ञानरूपत्वमुच्यते। तत्र निरुपधिप्रीतिरेव मुख्या, नान्यदिति ज्ञापनाय प्रियस्य प्रधानाङ्गत्वमुच्यते। तदा प्रियेक्षणादिभिरानंदात्मक एव विविधरस भावसंदोह उत्पद्यते यः दक्षिणः पक्ष उच्यते। ततः स्पर्शादिभिः पूर्वविलक्षणः प्रकृष्टानन्दसंदोहो यः स उत्तरः पक्ष उच्यते। नानाविधपक्षसमूहात्मकत्वात् तयोः पक्षयोर्युक्तं तथात्वम्। स्थायिभावस्यैकरूपत्वादात्मत्वमुच्यते। यतस्तत एव विभावादिभिर्विविधभावोत्पत्तिः परप्राप्तिसाधनीभूत ब्रह्मज्ञानदशायां तदानंदोऽपि यः पूर्वमनुभूतः स गणितानन्द इत्येतदानंदानुभवानंतरं तुच्छत्वेन भातीष्टगतावसाधनत्वेन स्वरूपतोऽपि तस्मात् हीनत्वं चेति पृष्ठभागादपि दूरस्थित पुच्छरूपत्

ब्रह्मण उच्यते । पुरुषोत्तमाधिष्ठानत्वात् प्रतिष्ठा रूपत्वं च । एवं सत्यक्षरादप्युत्तमत्वेऽप्यप्रधानीभूय भक्तकामपूरणकर्तृत्वे असंभावना विपरीत भावना च संभवति । तदभावायासन्नेव स भवतीत्याद्युक्तम् । स्वानुभवाभावेऽपि गुरूपदेशादिनापि तदस्तित्वमात्रमपि यो जानाति तं ब्रह्मविदः संतं सत्त्वधर्मविशिष्टं वर्त्तमानं च विदुरित्यग्रेऽवददस्ति ब्रह्मेति चेदित्यादिना । ब्रह्मासत्वज्ञानेऽसन् भवतीत्युक्त्वा तदस्तित्वज्ञाने सन् भवतीत्यनुक्त्वा, संतमेनं विदुरिति तत्त्वेनान्यज्ञानं यदुक्तं, तेनोक्तपुरुषोत्तमानन्दानुभववंतं ज्ञानक्रिया विशिष्टं जीवं वर्त्तमानं विदुः । अननुभवे केवलं गुरूपदेशादिना तादृग् ब्रह्मास्तित्वज्ञाने स्वरूपतः संत तं विदुर्न तु ज्ञानादिमंतम् । तदसत्त्वज्ञाने त्वलीकतुल्यमिति श्रुतितात्पर्यमिति ज्ञायते ।

एवं विचारचातुर्यवद्भिः सद्भिर्व्रजाधिपे ।
आनन्दमयतानन्दसंदोहायावधार्यते ।।

आनन्दमय का स्वरूप सुस्पष्ट रूप से बतलाना शक्य नहीं है, ऐसा "यः पूर्वस्य" में बतलाया गया है । शरीर प्रवेश प्रयोजनक पक्षिरूपता का पांच रूपों में सामान्य रूप से विवेचन किया गया है, तदनुरूप आनन्दमय की व्याख्या की गई है । जैसे स्पर्शमणि (पारस) के सम्पर्क से रजत आदि सुवर्ण रूप में परिवर्तित हो जाते हैं, उसी प्रकार परतत्त्व के प्रवेश करने पर उसके आश्रय भी तदात्मक हो जाते हैं । "ब्रह्मविदाप्नोत परम्" वाक्य से ब्रह्मवेत्ता के लिए सामान्य रूप से परप्राप्ति का उल्लेख करके "सत्यं ज्ञानमनंतं ब्रह्म" ऋचा में उसका तात्पर्य कहा गया है । वहाँ यह दिखलाया गया है कि सर्वात्मभाव वाला भक्त भगवान के साथ तत्स्वरूपात्मक कामनाओं को भोगता है । "ब्रह्मविद" इत्यादि व्याख्यान यही अर्थ प्रकाश करता है । भक्त सदा ही, विशेष रूप से विरहावस्था मे, अन्नप्राण आदि रूप उस परमात्मा की ही, प्रिय स्वरूप स्फूर्त्ति से आप्लावित रहता है, इस तत्त्व के निरूपण के लिए ही, परतत्त्व के अन्नमयादि रूपों का वर्णन किया गया है । इससे जीव की परमप्रियता सिद्ध होती है । भगवदाविर्भाव होने पर भी, पूर्वभाव के अतितीव्र होने से ज्ञान आदि समस्त का तिरोधान हो जाने से जीव को रसानुभूति नहीं हो पाती, स्वयं वह परमात्मा ही तदनुभवात्मक हो जाता है, यही परमात्मा की विज्ञानमयता का रहस्य है । उस अनुभव का विषय जब प्रत्यक्ष हो जाता है तो उसे ही आनन्दमय कहते हैं, ऐसे

आनन्दमय स्वरूप का ही वर्णन किया गया है। इस स्थिति में निष्कपट प्रीति ही मुख्य होती है, इसमें प्रिय के अतिरिक्त किसी अन्य का स्थान नहीं रहता, यही प्रिय की प्रधानता बतलाने का तात्पर्य है। प्रिय के ईक्षण आदि से जो आनन्दात्मक विविध रसभाव संदोह की उत्पत्ति होती है उसे ही दक्षिण पक्ष कहा गया है। तथा स्पर्श आदि से जो विलक्षण प्रकृष्ट आनन्द संदोह की उत्पत्ति होती है उसे उत्तर पक्ष कहा गया है। पक्षि के दोनों पक्षों में अनेक पखने होते हैं, प्रिय पक्षी के वे सब विविध भाव रूप पखने हैं। स्थायिभाव एक होता है, इसलिए उसे पक्षी के आत्मा के रूप से वर्णन किया गया है, उसी से विभाव आदि विविध भावों की उत्पत्ति होती है, इस भाव को, पक्षी के दो पक्षों और पखनों में दिखलाया गया है। परम प्राप्ति के साधनी भूत ब्रह्मज्ञानदशा में भी आनन्दानुभूति होती है, किन्तु भगवद् भजनानन्द प्राप्ति के अनन्तर, पूर्वानुभूत वह आनन्द अति तुच्छ सा प्रतीत होता है, इष्ट प्राप्ति के लिए सुलभ साधन न होने से स्वरूपतः भी वह, भजनानन्द से हीन ही सिद्ध होता है। इसलिए उसे पीठ के भाग से भी दूर नीचे ब्रह्म के पुच्छ रूप से बतलाया गया है। पुरुषोत्तम का अधिष्ठान (स्थिति) उस में ही है इसलिए उसे प्रतिष्ठा रूप भी कहा गया है। अक्षर से उत्तम होते हुए भी वह अप्रधान है क्योंकि उससे भक्त काम पूरण की सम्भावना नहीं है अपितु विपरीत भावना की ही सम्भावना है। यही भाव 'असन्नेव भवति" में दिखलाया गया है। ज्ञानानन्द रूप स्वानुभूति के अभाव में भी, गुरु के उपदेश और उनकी कृपा आदि से जो ब्रह्म के अस्तित्व का ज्ञान होता है, उसका निरूपण "अस्तिब्रह्मेतिचेत्" इत्यादि में किया गया है। ब्रह्म के अस्तित्व न मानने पर तो ब्रह्म के असत् होने की चर्चा की गई है, पर अस्तित्व मानने से ही वह सत् है, ऐसा नहीं कहा गया— अपितु "संतं एनं विदुः" इत्यादि कहकर तात्विक रूप से अस्तित्व की बात कही गयी है, इससे स्पष्ट होता है कि—पुरुषोत्तमानंदानुभव में निमग्न जीव ही परमात्मा के स्वरूप को जानता है। स्वानुभूति न होने पर केवल गुरु के उपदेश कृपा आदि से भक्त को भी स्वरूप ज्ञान हो जाता है, वही पूर्णतः आस्तिक है; केवल ज्ञानाभिमानी को न तो अस्तित्व का ज्ञान होता है न स्वरूप का ही। उसे तो ब्रह्म की सत्ता में भी संशय बना रहता है। चतुर विचारक संत तो ब्रजेश श्याम सुन्दर में ही आनन्दमयतानन्द संदोह स्वरूप की अवधारणा करते हैं।

नन्वानन्दमयस्य न ब्रह्मता वक्तुं शक्या मयटो लोके विकाराधिकार विहितत्वादित्याशंक्य स्वयमेव परिहरति।

आनन्दमय की ब्रह्मता कहना शक्य नहीं है, क्योंकि मयट् प्रत्यय प्रायः विकाराधिकार में ही प्रयोग किया जाता है, ऐसी आशंका करते हुए स्वयं सूत्रकार उसका परिहार करते हैं—

विकारशब्दान्नेति चेन्न प्राचुर्यात् ।१।१।१२॥

अनेनैव पूर्वसूत्रार्थो सिद्धो भविष्यति । विकारवाची मयट् प्रत्ययो यस्मिस्तद् विकारशब्दं तस्मात्तच्छब्दवाच्यं ब्रह्म न भवति । ब्रह्मणो अविकारित्वादिति चेत् । नात्र विकारे मयट्, किन्तु प्राचुर्यात् । प्राचुर्यमतति प्राप्नोतीति प्राचुर्यात् तथा च पाणिनिः, तत्प्रकृतवचने मयट्, प्राचुर्येण प्रस्तुतं वचनं तत्प्रकृतवचनं, तस्मिन् मयट् प्रत्ययो भवतीत्यर्थः प्राचुर्येण पूर्वापेक्षया-ऽप्याधिक्येन "को ह्येवान्यात् कः प्राण्यात्" इतिवाक्ये प्रकर्षेण स्तुतं अतो मयट् पूर्वापेक्षया प्राचुर्यमयते एक देश निर्देशेन तदर्थलक्षणया प्राचुर्यः । प्राचुर्येण प्रस्तुतार्थवाचकत्वादित्यर्थ इति वा । छन्दसि द्व्यज्व्य-तिरिक्त स्थले मयटो विकारे विधानाभावाद् व्याकरणमप्यर्थनिर्णायकम् । विज्ञानमयानन्दमय शब्दौ पश्यन्नपि पाणिनिर्मयड् वैतयोर्भाषायां द्वयचच्छंद-सीति कथमवोचत् । अत्र केचित् सर्वविप्लववादिनो विकारार्थत्वं वदंति श्रुतिसूत्रादीनामर्थाज्ञानात्, तद् वेदाद्यर्थविद्भिभगवतो नवमावतार कार्यं-ज्ञात्वोपेक्ष्यम् । योऽर्थस्तमवोचाम् ।

इस सूत्र से ही, पूर्व सूत्र का अर्थ प्रस्फुटित होगा । विकारवाची मयट् प्रत्यय जिस अर्थ में प्रयुक्त होता है, वह विकृत अर्थ ब्रह्म से सम्भव नहीं है, अतः ब्रह्म के लिए प्रयुक्त मयट् प्रत्यय विकारार्थक नहीं है, ब्रह्म की अवि-कारता प्रसिद्ध है । उक्त प्रसंग का मयट् प्रत्यय प्राचुर्यार्थक है, प्रचुरता को प्राप्त करने वाले को प्राचुर्य कहते हैं "तत्प्रकृतवचने मयट्" पाणिनि सूत्र प्राचुर्यार्थक मयट् का समर्थन करता है । प्रचुरता से जो वचन प्रस्तुत किया जाय उसे प्रकृत वचन कहते हैं, उसमें ही मयट् प्रत्यय होता है । पूर्व की अपेक्षा अधिक होने को ही प्राचुर्य कहते हैं । "को ह्येवान्यात् कः प्राण्यात् ?" इत्यादि में प्रकर्ष रूप से प्रस्तुत किया गया है । पूर्व पर की तुल्यता में, पर की विशेषता का निर्देश करने वाला प्राचुर्य होता है अर्थात् प्राचुर्य प्रस्तुतार्थवाचक होता है । वेद में द्वयच (दो अच वाले) स्थल के अतिरिक्त मयट् प्रत्यय का विकार अर्थ में विधान नहीं है । विज्ञानमय आनन्दमय शब्द में देखते हुए भी पाणिनि "मयट् वैतयोर्भाषायाम्" और

"द्वयचूछंदसि" इत्यादि भिन्न नियम क्यों करते ? (अर्थात् वेद में यदि दो अचू के अतिरिक्त भी मयट् का विकारार्थ में प्रयोग होता है तो विज्ञानमय आनन्दमय इत्यादि अनेक अचों वाले शब्दों में प्रयुक्त मयट् में भी विकारार्थ ही मान लिया जाता, पर पाणिनि ने प्राचुर्यार्थ की सिद्धि के लिए ही स्पष्टतः दो सूत्रों का विधान किया ।)

इस प्रसंग में, सर्वविप्लववादी (हर जगह झगड़ा करने वाले) मयट् को विकारार्थक ही कहते हैं । सम्भवतः उन्हें श्रुति के व्याकरणीय नियमों का ज्ञान नहीं है, हो भी कैसे वे तो नवें अवतार (भगवान बुद्ध) के कार्य में संलग्न हैं । इसलिए वैदिकों के लिए उनका मत उपेक्ष्य है [पद्मोत्तर खंड के उमा महेश्वर संवाद में शंकर जी ने तामस शास्त्र कथन की प्रतिज्ञा की थी—"मायावादमसच्छास्त्रं प्रच्छन्नं बौद्धमुच्यते, मयैव कथितं देवि कलौ ब्राह्मणरूपिणा" आचार्य शंकर साक्षात् शंकर हैं उनका ये कार्य लीला मात्र है, शास्त्र दृष्टि से उपेक्ष्य है] आनन्दमय आदि का जो वास्तविक अर्थ था, उसे हमने व्याकरणीय नियमों के अनुसार प्रस्तुत कर दिया ।

शब्द बल विचारेण मयटो विकारार्थत्वं निवारितम्, अर्थबल विचारेणापि निराकरोति ।

शब्द बल के आधार पर तो मयट् के विकारार्थ का निराकरण कर दिया । अब अर्थबल के आधार पर निराकरण करते हैं—

तद्हेतुव्यपदेशाच्च ।१।१।१३।।

" हेतुत्वेन व्यपदेशो हेतुव्यपदेशः । तस्य हेतुव्यपदेशः तद् हेतु व्यपदेशः तस्मात् । "एस ह्येवानंदयाति" आनन्दयतीत्यर्थः सर्वस्यापि विकारभूतस्यानंदस्यायमेवानंदमयः कारणम् । यथाविकृतस्य जगतः कारणं ब्रह्म अविकृतं सच्चिद्रूपमेवमेवानन्दमयोऽपि कारणत्वादविकृतोऽन्यथा तद्वाक्यं व्यर्थमेव स्यात्, तस्मान्नानन्दमयो विकारार्थः चकारः समुच्चयं वदन् सूत्रद्वयेनैकोऽर्थो मध्ये प्रतिपादित इत्याह ।

हेतु रूप से जिसका व्यपदेश किया जाय उसे हेतुव्यपदेश कहते हैं, उसके हेतुव्यपदेश को तद् हेतु व्यपदेश कहते हैं । "यही (आनन्दमय ही) आनंदित

करता है।" सभी विकृत आनन्दों का कारण आनन्दमय ही है, जैसे कि—विकृत जगत का कारण सच्चित् रूप अविकृत ब्रह्म है वैसे ही आनन्दमय भी कारण है।.यदि ऐसा अर्थ नहीं मानेंगे तो "रसं ह्येवायं" इत्यादि वाक्य ही व्यर्थ हो जावेंगे। इससे सिद्ध होता है कि आनन्दमय शब्द विकारार्थक नहीं है। सूत्रस्थ चकार समुच्चय बोधक है जिसका अर्थ होता है कि दो सूत्रों में एक ही अर्थ का प्रतिपादन किया गया है।

ननु किमिति निर्बन्धने सूत्रत्रयेणैवं वर्ण्यते? अन्नमयादिवदुपासना-परत्वेनापि श्रुत्युपपत्तेः। पक्ष पुच्छादित्वेन मोदप्रमोदादीनामुक्तत्वाच्च, तस्माद् ब्रह्मत्वेन साधितमप्यावश्यकोपपत्यभावान्नब्रह्म-परन्वमिति प्राप्तेऽभिधीयते।

तीन सूत्रों को बनाकर अर्थ गढ़ने से होता क्या है? तथा अन्नमय आदि की तरह उपासना परक बतलाने में वैदिक प्रतिपादन से भी क्या होता है? पक्ष पुच्छ इत्यादि के रूप में मोद-प्रमोद आदि के कथन से उसे ब्रह्म स्वरूप बतलाने की चेष्टा करने पर भी, कोई वैदिक मन्त्र के बिना आनन्दमय को ब्रह्म परक नहीं माना जा सकता। इस संशय पर सूत्र प्रस्तुत करते हैं—

मान्त्रवर्णिकमेव च गम्यते।१।१।१४।।

"सत्य ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" "यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्" "सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणाविपश्चिता" इति मंत्रः। मंत्रेण अभिधयावृत्या प्रतिपाद्यं मांत्रवर्णिकम्। तदुपपादन ग्रन्थे तदेव मुख्यतया ज्ञायते, यत्र तदुद्दिष्टं तदेव मुख्यतया ज्ञातव्यम्, उपपादनीयं च संदिग्धं तत्र ब्रह्मणा विपश्चितेति संदिग्धं सर्वज्ञं ब्रह्म। तस्य हि फलत्वं वाक्येनोपपाद्यते, फलंतु सर्वैः स्तुत आनंदः, अभ्यासात् स्तुतत्वमित्यवोचाम् शिरः पाण्यादिकंतु स्तुत्यर्थमेव पुरुष-विधत्वाय, लोके हि अंतभृतं बहिर्वेष्टितंच तदाकारं भवति। जीवोऽत्र मुख्यः, कर्त्तृत्वेन व्यपदेशात् स च वस्तुतो हंस रूपः। पुरुषाधिकारकं हि शास्त्रम्। तेन पुरुष शरीरे तदाकारः सर्वफलं प्राप्नोति, अतः पुरुषं हंसरूपेणानुवर्णयति।

"सत्यंज्ञान—यो वेदनिहितं गुहायां सोऽश्नुते सर्वान् कामान्" इत्यादि मंत्र स्पष्ट रूप से, आनंदमय के ब्रह्मत्व का प्रतिपादन करते हैं। मंत्र की

अभिधावृत्ति से प्रतिपाद्य अर्थ को ही मांत्रवर्णिक कहते हैं, जिस विषय का प्रतिपादन ग्रन्थ में किया जायगा, उसका ही मुख्य रूप से ज्ञान होगा, जहाँ जो उद्दिष्ट विषय होगा, वहाँ वही मुख्य रूप से ज्ञातव्य होगा, बाकी सब उपपाद्य और संदिग्ध होगा। "ब्रह्मणा विपश्चिता" पद में सर्वज्ञ ब्रह्म संदिग्ध है, क्योंकि उसकी फलता वाक्य में उपपादित नहीं है। फल के रूप में तो सब जगह आनंद की ही स्तुति की गई है। अभ्यास का तात्पर्य हम स्तुति ही करते हैं। शिर पक्ष आदि तो, पुरुष स्वरूप की स्तुति के लिए ही प्रस्तुत किये गए हैं, मनुष्य के अंतर की कल्पना ही बाहर आरोपित और तदाकार होती है। इस प्रसंग में जीव ही मुख्य है, कर्त्तृत्व रूप से उसी का व्यपदेश है, वस्तुतः वह हंस रूप है। शास्त्र परपुरुष का वर्णन करते हैं, इसलिए जीव पर पुरुष के शरीर में तदाकार होकर समस्त फल प्राप्त करता है, इसलिए पुरुष का हंसरूप से वर्णन किया गया है।

पंचस्वपि शारीर आत्मा जीव एक एव। तत्रान्नमये निःसंदिग्धत्वात्, तस्यैष एव आत्मेति नोच्यते। द्वितीयादिषु प्रथमोक्तमेवातिदिश्यते तत्रान्नमये हस्तेव प्रदर्शयन्निव निःसंदिग्धं व्याख्यातम्, तदंतरो हि प्राण अंतरव्यवहार कारणम्, बलभोजन विसर्गादिषूपयोगात्। तस्य संचार आकाशे परिनिष्ठितः पृथिव्याम्। एवं लौकिक व्यवहारार्थं वाह्याभ्यंतर भेदेन द्वयम्। तदनु वैदिक व्यवहारः। स च मनोमयः पुरुषः। आदेशः कर्म चोदना, ब्राह्मणानि सशेषाणि,अ अर्वाङ्गिरसे ब्रह्म कर्मत्वात् प्रतिष्ठा, तदनुनानाविधयागादिसाधनवतः फलं विज्ञानमयः। तत्र श्रद्धा आपः। तृतीयाध्याये स्वयमर्थो विस्तरेण वक्ष्यते, यथोक्त कर्त्तृत्वात् क्रममुक्तिः।

पाँचों शरीरों का शारीर आत्मा जीव, केवल एक है, अन्नमय में तो वह निश्चित ही है, इसलिए वहाँ यह नहीं कहा गया कि "तस्यैष एव आत्मा।" प्राणमय आदि में, अन्नमय में कहे के समान ही अतिदेश किया गया है। अन्नमय में तो स्पष्ट असंशयित अंगुलि निर्देश किया गया है। बाद में प्रकारान्तर से प्राण का निर्देश किया गया है, क्योंकि बल भोजन विसर्ग आदि में उसका प्रयोग होता है। उसका संचार आकाश और पृथ्वी में परिनिष्ठित है, इस तरह वह लौकिक व्यवहार में बाह्य और अभ्यंतर भेद से दो प्रकार का है। "मनोमय" रूप से उसका वेद में व्यवहार होता है। यह कर्म का प्रेरक आदेश है, अथर्ववेदीय आंगिरस सूक्त में इसकी ब्राह्मकर्म के रूप में स्थापना

की गई है। मनोमय के बाद, अनेक प्रकार के यज्ञों के फल विज्ञानमय का उल्लेख है। वहाँ जलरूप श्रद्धा की स्थापना है। तृतीय अध्याय में इसका विस्तृत विश्लेषण किया जायगा। उक्त प्रकार के कर्मों से क्रम मुक्ति का विवेचन किया गया है।

ऋतसत्यौ प्रमीयमाणानुष्ठीयमानौ धर्मौ योगश्च मुख्यत्वादात्मा। तादृ। अधोभागो महर्लोकः, तादृशस्य ततोऽर्वाक् संसृत्यभावात्। ततोऽपि ब्रह्मविद आनंदमयः फलम्। तस्य स्वरूपस्यैकत्वाद् धर्मभेदेन शिरःपाण्यादि निरूप्यते। तस्य मुख्यतया प्रीतिविषयत्वं धर्मस्तच्छिरः। मोद प्रमोदावपरिनिष्ठितपरिनिष्ठितावानंदातिशयौ, आनंदस्तु स्वरूपं, साधन-रूपत्वात्। ब्रह्मपुच्छमिति श्लोकौ तु सच्चिदंशबोधकौ केवलानंदत्व-परिहाराय। अपरौ तुश्लोकौ माहात्म्यज्ञापनाय। वाग्गोचारागोचरभेदेन, अवान्तरानन्दास्तु सर्वे तस्मान्न्यूनतया तदुत्कर्षत्वबोधनाय, तस्मात् सर्वत्र प्रपाठके मांत्रवर्णिकमेव प्रतीयते। अतो मुख्योपपत्तेः विद्यमानत्वेनानंदमयः परमात्मैव। चकारो मध्ये प्रयुक्तो विधिमुखविचारेणाधिकरण संपूर्णत्व बोधकः।

ऋत (प्रिय भाषण) और सत्य से तुलित (तौले गए) अनुष्ठीयमान धर्म और योग ही आत्मा के स्वाभाविक धर्म हैं, उसके नीचे महर्लोक की गणना है, इस क्रम से प्राप्त देह की सृष्टि के अभाव हो जाने पर भी, ब्रह्मवेत्ता को आनंदमय फल की प्राप्ति होती है। आनंदमय का एक ही स्वरूप है, धर्म भेद से ही उसकी शिरपक्ष आदि विभिन्नताओं का वर्णन किया गया है। उसका मुख्यतः प्रीतिविषयक धर्म उसका शिर ही है। मोद और प्रमोद, ससीम और निस्सीम आनंदातिशय के प्रतीक हैं। साधनरूप होने से, आनंद ही उनका स्वरूप है। ब्रह्म उसका पुच्छ स्थानीय है। केवलानंदत्व के परिहार के लिए, सच्चिदंश बोधक दो श्लोक हैं। दो श्लोक महात्म्य ज्ञान के बोधक हैं जो कि वाणी से गोचर और अगोचर भेद के ज्ञापक हैं। बाकी सब श्लोक आनंदमय से न्यून अवान्तर आनंद के बोधक हैं जो कि उसके उत्कर्ष का ज्ञापन करते हैं। इस प्रकार संपूर्ण प्रपाठक मांत्रवर्णिक है। प्रपाठक में मुख्य उपपत्ति के रूप में विद्यमान होने से सिद्ध होता है कि आनंदमय, परमात्मा ही है। सूत्रस्थ चकार का प्रयोग, विधि के विचार से अधिकरण की संपूर्णता का बोधक है।

निषेधमुखेन चतुःसूत्र्येदमेवाधिकरणं पुनर्विचार्यते सुदृढत्वाय। इदमत्राकूतम जीव एवानंदमयो भवतु, फलस्य पुरुषार्थत्वात् स ब्रह्मविदानंदमयो भवतीति स्वर्गादि सुखवदलौकिकमेवरूपमानंदमयं जीवस्य फलभूतम् इति प्राप्तेऽभिधीयते।

निषेध की दृष्टि से इसी अधिकरण को, निश्चित रूप से निर्णय करने के लिए पुनः चार सूत्रों से प्रस्तुत करते हैं। अब यह भावना व्यक्त की जाती है कि—जीव ही आनंदमय हो सकता है, क्योंकि प्रसंग में जो फल का उल्लेख है, वह पुरुषार्थ रूप से है। ब्रह्मवेत्ता ही आनंदमय होता है, स्वर्गादि सुख की तरह, आनंदमय भी, जीव को प्राप्त अलौकिक फल ही है। इसका उत्तर देते हैं—

नेतरोऽनुपपत्तेः।१।१।१५॥

इतरो जीवः न, आनंदमयो न भवति, कुतः? अनुपपत्तेः, जीवस्य फलरूपत्वमात्रेणानंदमयत्वं नोपपद्यते। तथा सति तस्य स्वातंत्र्येण जगत्कर्तृत्वेऽप्यलौकिक माहात्म्यवत्वेन निरूपणं नोपपद्यते, अतो न जीव आनंदमयः।

ब्रह्म से भिन्न जीव आनंदमय नहीं हो सकता, जीव के संबंध में फलरूपता बतलाने मात्र से उसकी आनंदमयता उपपन्न नहीं हो सकती। जीव की आनंदमयता मानने से, परमात्मा की जो स्वतंत्र रूप से जगत् सृष्टि संबंधी अलौकिकता बतलाई गई है वह जीव में कैसे उपपन्न हो सकेगी? इसलिए जीव आनन्दमय नहीं हो सकता।

भेद-व्यपदेशाच्च॥१।१।१६॥

इतोऽपि न जीव आनंदमयः, यतो भेदेन व्यपदिश्यते "रसं ह्येवायंलब्ध्वाऽनंदी भवति" इति। आनंदोऽस्यास्तीत्यानंदी, एषह्येवानंदयाति, आनंदयतीत्यर्थः। चकारात् सूत्रद्वयेन जीवो नानंदमय इति निरूपितम्।

इसलिए भी जीव आनंदमय नहीं हो सकता कि "रसं ह्येवायं" इत्यादि में उसे स्पष्ट रूप से आनंदमय से भिन्न बतलाया गया है। जीव को आनंदी कहा गया है जिसका तात्पर्य होता है कि "यह आनंद है जिसमें वह आनंदी" यह आनंदमय ही जीव को आनंदित करता है, इसलिए जीव को आनंदी कहा गया। सूत्रस्थ चकार का अर्थ है कि-दो सूत्रों से जीव की आनंदमयता का निषेध बतलाया गया है।

तर्हि जडो भवत्यानंदमयः ? न, आन्तरत्वान्न कार्यरूपो भवति, किन्तु कारण रूपः, स स्वमतेनास्त्येव, मत.न्तरे प्रकृतिर्भवेत्, तन्निवारयति—

तो क्या जड प्रकृति आनंदमय है ? नहीं, सांख्यमतानुसार वह कार्यरूपा नहीं अपितु कारण रूपा है इसलिए उस मतानुसार तो हो नहीं सकती, हाँ शाक्तमत से अवश्य आनंदमय हो सकती है। उसका भी निराकरण करते हैं—

कामाच्च नानुमानापेक्षा ।१।१।१७।।

जडा प्रकृतिर्नास्तीति कारणत्वेन निराकृतैव, अथैतद्वाक्यान्यथानुपपत्त्या स.त्वपरिणामरूपा कल्प्यते, सा कल्पना नोपपद्यते, कुतः ? कामात्, आनंदमय निरूपणानंतरं सोऽकामयतेति श्रूयते। स कामश्चेतन धर्मः, अतश्चेतन एवानंदमय इति, चकारात्, स तपोऽतप्यतेत्यादि। अतोऽनुमान पर्यन्तमर्थबोधयद् वाक्य न तिष्ठतीत्यर्थः।

सांख्यमत की जड प्रकृति तो आनंदमय हो नहीं सकती, "ईक्षतेर्नाशब्दम्" इत्यादि सूत्रों में उसका निराकरण कर चुके हैं। "प्रियमेव शिरः" इत्यादि वाक्य में, आत्माशब्द से सत्व परिणाम रूपा शक्ति की कल्पना करते हैं, पर वह उपपन्न नहीं होती, क्योंकि-आनंदमय के लिए "सोऽकामयत" इत्यादि में कामना करने का उल्लेख आता है, कामना करना चेतन धर्म है, कामना करने वाला आनंदमय चेतन ही है। जडप्रकृति कैसे आनंदमय हो सकती है ? चकार का प्रयोग बतलाता है कि—"स तपोऽतप्यत्" इत्यादि निर्देश भी, आनंदमय की चैतन्यता के ज्ञापक हैं। अतः सत्व परिणाम रूपा शक्ति के विषय में जो अनुमान किया गया वह "सोऽकामयत" इत्यादि वाक्य के समक्ष अर्थबोधक रूप से नहीं ठहर पाता।

अस्मिन्नस्य च तद्योगं शास्ति १।१।१८।।

इतश्च न जड आनंदमयः, अस्मिन्नानंदमये अस्य जीवस्य च आनंदमयमात्मानमुपसंक्रामतीति तेन रूपेण योगं शास्ति। फलत्वेन कथयतीति। नहि जीवस्य जडापत्तिर्युक्ता। ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति इति-वदस्याप्यर्थः तस्मान्नायं जीवो, नापि जडः, पारिशेष्याद् ब्रह्मैवेति सिद्धम्।

इसलिए भी जड प्रकृति आनंदमय नहीं हो सकती कि इस आनंदमय में, जीव का भी आनंदरूप से योग बतलाया गया है, अर्थात् फलरूप से आनंद

की प्राप्ति बतलाई गई है। जीव को तो जड़ कह नहीं सकते "ब्रह्मवेत्ता होकर ही ब्रह्म को प्राप्त करता है" इत्यादि श्रुति ही जीव की चैतन्यता सिद्ध करती है। इसलिए न तो जीव आनंदमय है न जड प्रकृति ही है। अन्त में ब्रह्म ही आनंदमय सिद्ध होता है।

ये पुनरधिकरणभंगं कुर्वन्ति, तेषामज्ञानमेव, यतस्तैरप्यानदमयः कः पदार्थ इति वक्तव्यम्। न तावज्जीवः, तस्य ब्रह्म ज्ञानफलत्वेन, ब्रह्मणाविपश्चितेत्यानंदमयस्योक्तत्वात् अथ जडः स्वर्गवत् तदा किमाश्रित इति वक्तव्यम्, जडाश्रितत्वे कर्मफलमेव स्यात्। ज्ञानस्याप्यवान्तरफलमिति चेन्न, तर्हि किमानंदात् तस्यातिरिक्तं फलं भविष्यति। जडचिद्रूपतायाः पूर्वमेव विद्यमानत्वात्। अस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवंतीतिश्रुतिविरोधश्च।

जो पुनः अड़ंगा लगाकर अधिकरण को भंग करते हैं, वह भी उनका अज्ञान ही है, उन्हें भी आनंदमय कौन सा पदार्थ है, यह तो बतलाना ही पड़ेगा, जीव को तो कह नहीं सकते, क्यों "ब्रह्मणाविपश्चिता" इस वाक्य से आनंदमय को, ब्रह्म ज्ञान के फल रूप से बतलाया गया है। यदि कहा जाय कि—स्वर्ग के समान आनंदों से युक्त जड़ प्रकृति भी आनंदमय है, तो प्रश्न उठता है कि—इस आनंदमय जड प्रकृति का आश्रय कौन है? यदि जड़ प्रकृति को स्वयं ही अपना आश्रय मान लें तो आनंदमय केवल फलमात्र ही रह जायगा। यह नहीं कह सकते कि ज्ञान भी उसका अवान्तर फल हो सकता है, यदि ऐसा कहोगे तो, आनंद के अतिरिक्त भी कोई होगा क्या? संसार दशा में जड़ रूपता तथा ब्रह्म ज्ञान दशा में पहिले से ही चिद्रूपता के रहने से फलत्व की बात सिद्ध नहीं होती (अर्थात् आनंदमय की विकारता स्वीकारने से फल बोधक श्रुति का विरोध उपस्थित होता है) तथा "इसी आनंद के अंश से अन्यान्य भूत उपजीवित होते हैं" इस श्रुति से विरोध भी होता है।

पुच्छत्वेन ब्रह्मवचनात् प्रद्वेष इति चेत्। तर्हि "स एको ब्रह्मण आनंद" इत्यत्रापि षष्ठ्या भेद निर्देशात् ब्रह्मणः परम पुरुषार्थत्वं नाङ्गी-कुर्यात्। उपक्रमादि सर्वविरोधश्च पूर्वमेव प्रतिपादितः यदप्यधिकरणमन्यथारचितं "ब्रह्म पुच्छम्" इति, तत्र न पुच्छस्य ब्रह्मत्वं प्रतिपाद्यते, येनान्यथा समाधानं

भवेत् किन्तु ब्रह्मणः पुच्छत्वमिति पूर्वन्यायेनेदं पुच्छं प्रतिष्ठा इतिवत्। तत्र श्रुतिबाधो ब्रह्मणाप्यशक्यः।

यदि कहो कि—ब्रह्म को पुच्छ बतलाना घृणास्पद है, तो "एको ब्रह्मण आनंदः" इस वाक्य में भी, षष्ठी संबंधी भेद के निर्देश होने से, ब्रह्म की परंपुरुषार्थता स्वीकृत न होगी। उपक्रम आदि संबंधी समस्त विरोधों का परिहार प्रथम ही कर चुके हैं। फिर उसे बार-बार उठाना ही व्यर्थ है। यद्यपि अधिकरण, परोक्षवाद रूप से तत्त्व का अन्यथा रूप से वर्णन करता है इसलिए "ब्रह्म पुच्छ" पर विचार करना अपेक्षित है। इसमें पुच्छ की ब्रह्मता का प्रतिपादन नहीं है, जिससे कि जुगुप्सा का द्योतन हो। अपितु, ब्रह्म को पुच्छ स्थानीय आधार स्थल बतलाया गया है, यह तो रूपक मात्र है। उक्त श्रुति का बाध तो ब्रह्म द्वारा भी संभव नहीं है।

मौर्ख्यं चैतत्, आनंदमयस्यैव ब्रह्मत्वे न कोऽपि दोषः स्यात्। आनंदमयस्याब्रह्मत्वं परिकल्प्य तत्पुच्छत्वेन ब्रह्म वेद-बोधितमिति ज्ञात्वा तत्समाधानार्थं यतमानो महामूढ इति विषय फलयोः किं मुख्यमित्यप्यनुसंधेयम्। पुच्छत्वोक्तिस्तु पूर्वभावित्वाय, अतएव ज्ञान विषयत्वं प्रतिष्ठा च, आनंदमयो ब्रह्मण्येव प्रतिष्ठित इति। अत्रावयवावयविभावो भाक्त इति तु युक्तम्, प्राणमयादीनां तथात्वात्। अंतः स्थितस्य वाह्यानुरोधेन तथात्वमिति सर्वं सुस्थम्।

यह भी कहना मूर्खता है कि, आनंदमय को ही एक मात्र ब्रह्म मान लिया जाय तो कोई हर्ज नहीं है [अर्थात् अन्नमयादि को ब्रह्म न माना जाय]। पहिले तो आनंदमय के अब्रह्मत्व की कल्पना की, बाद में, उसके पुच्छ में ब्रह्म ज्ञान का भाव निहित है, केवल इस आधार पर आनंदमय के ब्रह्मत्व की स्थापना का प्रयास करना महामूढ़ता है, केवल आनंदमय के ब्रह्मत्व मानने पर तुम्हें यह पता लगाना कठिन होगा कि विषय और फल में मुख्य कौन है? पुच्छत्व की उक्ति तो पूर्व भावना की द्योतक है, अर्थात् ब्रह्म प्राप्ति के पूर्व ब्रह्म ज्ञान की द्योतिका है, ज्ञानविषयत्व प्रतिष्ठा उसी में है, जोकि अंगी आनंदमय में ही अंगरूप से प्रतिष्ठित है। यहाँ अवयव अवयवी भाव को काल्पनिक ही मानना चाहिए, (सत्य मानने में तो द्वैतभाव हो जायगा)। प्राणमय आदि का भी आनंदमय से अवयव अवयवी भाव ही है [शंका-यदि अवयव अवयवी को काल्पनिक मानेंगे तो हंस स्वरूप भी काल्पनिक ही सिद्ध

होगा] अंतः स्थित परमात्मा जीव के अनुरोधानुसार उसके कल्याण के लिए हंस रूप में प्रकट हो गए ऐसा मानने से ठीक होगा।

६ अधिकरण

अन्तस्तद्धर्मोपदेशात् ।१।१।१६।।

"अथ य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते, हिरण्यश्मश्रु हिरण्यकेशः, आप्रणखात सर्व एव स सुवर्णस्तस्य यथा कप्यासं पुंडरीकमेवमक्षिणी तस्योदिति नाम स एष सर्वेभ्यः पाप्मभ्य उदितः, उदेति हवै सर्वेभ्यः पाप्मभ्यो य एवं वेदेत्याधिदैवतमथाध्यात्ममप्यथ य एषोऽन्तरक्षिणि पुरुषो दृश्यते" इत्यादि। तत्र संशयः, किं अधिष्ठातृ देवताशरीरम् आहोस्वित् परब्रह्मेति, ब्रह्मणो वा शरीरम्? इति, तदर्थमिदं विचार्यते, हिरण्मयशब्दः स्वर्णविकार वाची, आहोस्वित् प्रकाशसाम्येनानंदवाची? इति, "ब्रह्मविदाप्नोतिपरम्" इत्युपक्रम्य आनंदमयस्य फलत्वमुक्त्वा द्वितीयोपाख्याने—"स यश्चायं पुरुषे यश्चासावादित्ये स एकः स य एवं विदिति साधनस्यानंदमयमात्मानमुपसंक्रम्य" इति फलं श्रुतम्। तत्र सवितरि विद्यमानस्याब्रह्मत्वे फलं नोपपद्यत इति विचारारंभः तत्र हिरण्मय शब्दो विकारवाची, केशनखादयश्चोच्यन्ते शरीर धर्माः मृता वा एषा त्वगमेध्या यत् केशश्मश्रु इति शरीरमन्तरा नोपपद्यते परिच्छेदश्चाधिदैविकादिवचनं च बाधकम्।

छांदोग्य में वर्णन है कि—"इस आदित्य मंडल में जो हिरण्मय पुरुष दीखता है जो कि हिरण्मयश्मश्रु केशवाला है तथा नखसिख सुवर्णमय है, तथा रक्त कमल के समान नेत्रों वाला है उसका नाम "उत्" है, वह समस्त पापों से मुक्त है उस निष्पाप को जो जानता है वह भी पापों से मुक्त हो जाता है। वही अधिदैवत और अध्यात्म इन नेत्रों में दीखता है" इत्यादि।

इस पर संशय होता है कि—यह अधिष्ठातृ देवता के शरीर का वर्णन है अथवा परब्रह्म का वर्णन है अथवा ब्रह्म के शरीर का वर्णन है? साथ ही यह भी विचार उठता है कि प्रसंग में उल्लिखित हिरण्मय शब्द विकारवाची है अथवा प्रकाश साम्य होने से आनंदवाची है? "ब्रह्म विदाप्नोति परम्" ऐसा उपक्रम करके, आनंदमय का फलत्व बतलाकर द्वितीय उपाख्यान में "जो यह पुरुष है तथा जो आदित्य में है वह एक है, ऐसा जो जानता है

वह आनंदमय आत्मा को प्राप्त करता है" ऐसा फल बतलाया गया है। यदि सूर्य में विद्यमान पुरुष को ब्रह्म नहीं मानते तो, यह फलश्रुति संगत नहीं होती, ऐसा विचार होता है। उधर हिरण्मय शब्द विकारवाची ही प्रतीत होता है, क्योंकि—केशनख आदि शारीरिक विकारों का उस पुरुष के लिए उल्लेख है, ये केश नख आदि बिना शरीर के तो हो ही नहीं सकते, इससे आधिदैविक आदि वचन का बाध हो जाता है।

अतः सर्वथा तच्छरीरमिति मंतव्यम्, चाक्षुषत्वाच्च इन्द्रियवत्वं च श्रूयते। यथा कप्यासं पुंडरीकमेवमक्षिणी तस्य इति, कपेरास आसनम्, आरक्तं तस्यासनं भवति इति, असभ्य तुल्यता च। अतो देहेन्द्रिययोर्विद्यमानत्वाज्जीवः कश्चिदधिकारी सूर्यमंडलस्थ इति गम्यते, फलं तत्सायुज्य द्वारेति। अथोच्येत एष सर्वेभ्यः पाप्मभ्य उदित इति, अपहतपाप्मत्वादि धर्मश्रवणात् पूर्व दोषस्यापि विद्यमानत्वात् ब्रह्म एव केनचिन्निमित्तेन शरीर परिग्रह इति। तस्य च शरीरस्य कर्मजन्मत्वाभावादपहतपाप्म-त्वादि संगच्छते। शरीरवदि-न्द्रियस्यापि परिग्रहः वर्णमात्र परिग्रहान्नासभ्यता। स्थावरापेक्षया जंगमस्यो-त्कृष्टत्वात् स्थावरावयवोपमानवज्जंगमावयवोपमानं स्थावरस्यापीति सर्व-ब्रह्मभावाय श्रुत्युक्तत्वाच्च तस्माद् ब्रह्म एवेदं शरीरम्। इत्येव प्राप्त उच्यते—

आदित्य पुरुष शरीर का तो मानना ही चाहिए क्योंकि साक्षात्कार होता है, तथा उसकी इन्द्रियों का भी वर्णन मिलता है। बन्दर के लाल आसन की तरह जो नेत्रों की उपमा दी गई जो कि असभ्य समता है, उससे तो ब्रह्म की शरीरता समझ में नहीं आती। देह इन्द्रियाँ हैं इसलिए कोई विशेष अधिकारी जीव की ही सूर्य मंडल में स्थिति हो सकती है, उस पुरुष के सायुज्य से फलावाप्ति होती है।

इस पर पूर्व पक्ष वालों का कथन है कि—"वह सभी पापों से रहित है" ऐसा जो आदित्य पुरुष का वर्णन मिलता है उससे तो परमात्मा की ही प्रतीति होती है, क्योंकि परमात्मा के ही निष्पापता आदि गुणों का उल्लेख मिलता है, केशनख आदि विकृतियों को किसी कारण विशेष से ही परमात्मा ने स्वीकारा है, परमात्मा का शरीर कर्मजन्य संस्कारों से तो होता नहीं, इसलिए उसी में निष्पापता आदि धर्मों की संगति भी होती है। जैसा वह

शरीर धारण करता है वैसी इन्द्रियों को भी धारण करता है, और फिर केवल रक्तवर्ण मात्र की उपमा देने में कोई असभ्यता भी नहीं है। जब प्रायः जड़ कदली कमल इत्यादि की उपमा उसके स्वरूप के लिए दी जाती है उसे कोई असभ्यता नहीं कहता, जंगम तो जड़ से उत्कृष्ट ही है उसकी उपमा में क्या असभ्यता है ? और फिर सारे उपमान परमात्मा के ही रूप तो कहे गये हैं। इसलिए आदित्य पुरुष ब्रह्म का ही रूप है। इस पर सूत्रकार कहते हैं—

"अन्तस्तद्धर्मोपदेशात्"—अन्तर्दृश्यमानः परमात्मैव, कुतः ? तद् धर्मोपदेशात् तस्य ब्रह्मणो धर्मा उदितादि धर्मा उपदिश्यंते। "स एष सर्वेभ्यः पाप्मभ्य उदित" इति। अयमाशयः ब्रह्म कारणं, जगत् कार्यम् इति स्थितम्, तत्र कार्य-धर्मा यथा कारणे न गच्छंति तथा कारणासाधारण धर्मा अपि कार्ये। तत्रापहतपाप्मत्वादयः कारणधर्मास्ते यत्र भवंति तद् ब्रह्मेत्येवावगंतव्यम्, बलिष्ठत्वाद् कारणधर्मस्य। नामतुल्यतामात्रमुभयेषामपि धर्माणाम् ते श्रुत्येकसमधिगम्याः। ब्रह्मणि लोके प्रमाणान्तरमपि प्रवर्त्तते। अतः सर्वरसादयो ब्रह्मनिष्ठा एव धर्माः, स्थूलत्वादयस्तु ये ब्रह्मणि निषिध्यंते अस्थूलादि वाक्येषु ते कार्य-धर्माः। अणोरणीयानित्यादिषु कारणधर्मा एव। अत एकोऽप्यसाधारणो धर्मो विद्यमानः शिष्टान् संदिग्धानपि ब्रह्म-धर्मानेव गमयति। इममेव श्रुत्यभिप्रायमङ्गीकृत्य सर्वत्र ब्रह्म-वाक्य निर्णयमाह सूत्रकारः। तथा च श्रुतिव्यतिरिक्तस्थले तथैवावगंतव्यम्। अनन्तमित्यनंतमूर्त्तिता च ब्रह्मणा प्रतिज्ञाता अन्यथा गुहायां निहितमिति विरुद्ध्येत, तस्मात् साकारं तादृशमेव ब्रह्म।

आदित्य मंडल में दृश्यमान आकृति परमात्मा की ही है, क्योंकि उस आकृति के जिन गुणों का वर्णन किया गया है, वे सब परमात्मा के लिए ही प्रायः बतलाये जाते हैं, "स एष सर्वेभ्य" इत्यादि में जो निष्पापता आदि गुण कहे गये हैं वे सब ब्रह्म के लिए ही प्रयुक्त होते हैं। तात्पर्य यह है कि ब्रह्म कारण है, जगत उसका कार्य है, कार्य के गुण जैसे कारण में नहीं जा सकते, वैसे ही कारण गत असाधारण गुण कार्य में भी नहीं आ सकते। निष्पापता आदि कारण धर्म जहाँ भी दृष्टिगत हों उसे ब्रह्म ही समझना चाहिए। क्योंकि वे विशिष्ट कारण गुण हैं। कहीं कहीं दोनों प्रकार की नाम समता श्रुतियों में मिल जाती है, ब्रह्म में और लोक में विभिन्न रूपों से

उन गुणों का प्रमाण मिलता है। समस्त रस आदि धर्म ब्रह्म निष्ठ ही हैं, जिन स्थूलता आदि का ब्रह्म में न होना कहा गया है, वे सब "अस्थूल अनणु अह्रस्व" इत्यादि वाक्यों में ब्रह्म के कार्य धर्म रूप से बतलाये गए हैं। अणोरणीयान् इत्यादि कारण धर्म ही हैं। यदि किसी वस्तु में एक भी कोई अलौकिक धर्म दृष्टिगत हो तो उस वस्तु को ब्रह्म ही मानना चाहिये, उस वस्तु के अवशिष्ट संदिग्ध धर्मों को भी उस ब्रह्म के ही मानना चाहिये। श्रुति के इस अभिप्राय को मानकर ही सूत्रकार हर जगह ब्रह्म-वाक्यों का निर्णय करते हैं तथा श्रुति के अतिरिक्त स्वयं भी जब विचार प्रस्तुत करते हैं तो भी उसी प्रकार का निर्णय करते हैं। "अनंतम्" पद से परमात्मा की अनंत मूर्त्तिता ज्ञात होती है, यदि ऐसा नहीं मानेंगे तो उन्हें जीव मात्र की अन्तर्गुहा में विद्यमान कैसे कह सकेंगे? इसलिए ब्रह्म साकार होने पर लौकिक रूप में ही रहता है, यही मानना चाहिए।

ब्रह्मणः शरीरमिति तु सर्वथा असंगतम्, सर्वकर्तृ ब्रह्मणः का वा अनुपपत्तिः स्यात् येन स्वस्यापि शरीरं कल्पयेत्, किंतु लीलया व्यामोहनार्थमन्यथा भासयेन्नटवत्। तस्मात् वेदातिरिक्तेऽप्युपपत्तिपूर्वकं यत्र ब्रह्मधर्मस्तद् ब्रह्मेति मंतव्यम्। ब्रह्म तु वेदैक समधिगम्यं, यादृशं वेदे प्रतिपाद्यते तादृशमेवेत्यसकृद-वोचाम। प्रकृतेऽपि हिरण्मय इत्यत्र यकारलोपश्छांदसः, "अतो न द्व्यच्। हिरण्यशब्द, आनंदवाची, लोकेऽपि तस्यानंद साधकत्वात् अतः केशादयोऽपि सर्वे आनंदमया एव, तादृशमेव ब्रह्मस्वरूपं मंतव्यम्, अत एव—

ध्येयः सदा सवितृमंडल, मध्यवर्ती नारायणः सरसिजासन, सन्निविष्टः।
केयूरवान् मकरकुंडलवान् किरीटी हारी हिरण्मयवपुर्धृतशंख चक्रः॥

इत्यत्रापि वपुः स्वरूपम्। "माया ह्येषा मया सृष्टा" इत्यादि भगवद्वाक्यं भगवन्मायया भगवन्तमन्यथा पश्यंति इत्याह, न तु भगवान् एव मायिक इति। शरीरे सति जीवत्वमेवेति निश्चयः। अतो ब्रह्म-धर्मोपदेशात सूर्यमण्डलस्थः परमात्मैव।

ब्रह्म का शरीर होता है, यह कथन तो सर्वथा असंगत है, समस्त वस्तुओं के निर्माता ब्रह्म को क्या कमी है जो वे अपने शरीर की भी कल्पना करें, किन्तु लीला से संसार को व्यामोहित करने के लिए नट की तरह रूप धारण करते हैं। वेदों में वर्णित ब्रह्म संबंधी गुणों की जहाँ भी प्राप्ति हो वहाँ ब्रह्म

मानना चाहिए, ब्रह्म तो वैदिक मंत्रों से ही ज्ञात है, जैसा वेदों में उसके विषय में कहा गया है, ब्रह्म वैसा ही है, यह हम बार-बार कह चुके हैं। हिरण्मय पद वैदिक व्याकरण के अनुसार यकार के लुप्त होने पर निष्पन्न हुआ है अतएव द्व्यच् नहीं है, इसलिए इसमें भी जो मयट् प्रत्यय है वह विकार-वाची न होकर आनंदवाची ही है। लोक में भी हिरण्य (सुवर्ण) आनंद साधक ही होता है, इसलिए हिरण्मय केश आदि भी आनंदमय ही हैं। उनका संपूर्ण स्वरूप आनंदमय है यही मानना चाहिए, जैसा कि कहा भी गया है—"कमलासन पर विराजमान, सूर्य मंडल मध्यवर्त्ती नारायण ही ध्येय हैं, जो कि हिरण्मय शरीर, केयूर, मकराकृत कुंडल, मुकुट, हार और शंख चक्र धारण किये हुए हैं।" इस स्तुति में भी उनके शरीर को, अपने आनंदमय रूप से वही र्णन किया गया है। "इस माया का मैंने सर्जन किया है" इत्यादि भगवत् वाक्य का भी यही तात्पर्य है कि—भगवन्माया से प्रायः लोग भगवान को दूसरे रूप में देखते हैं। भगवान ही मायिक हैं, ऐसा तात्पर्य नहीं है। शरीर की स्थिति में जीवत्व होता है यह निश्चित बात है। इससे यही मानना चाहिए कि सूर्यमंडलस्थ जो आकृति है वह शरीर नहीं है, अपितु परमात्मा के आनंदमय स्वरूप की छवि है।

भेदव्यपदेशाच्चान्यः ।१।१।२०॥

इतोऽपि सूर्यमंडलस्थः परमात्मा, भेदव्यपदेशात्—"य आदित्ये तिष्ठन् आदित्यादंतरो यमादित्यो न वेद, यस्यादित्यः शरीरम् य आदित्यमंतरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृत" इति श्रुत्यंतरे आधिदैविकं सूर्यमंडलाभिमानिभ्यां भेदेन निर्दिष्टम्। यद्यपि तत्राकारो न श्रूयते तथाऽपि हिरण्मयवाक्यनैकवाक्यत्वात् सर्वत्र साकारमेव ब्रह्मेति मंतव्यम्। अन्तर्यामिब्राह्मणे चत्वारोऽर्था उच्यन्ते, सर्वत्र तिष्ठन् तद् धर्मैः न संबध्यते, सर्वमुक्ति परिहाराय स्वधर्मैस्तन्न बद्धयते, स्वलीला सिद्ध्यर्थं तच्छरीरमिति, तस्य नियमनं तदर्थमिति, चकाराद्धर्मा उच्यन्ते। तस्मात् सर्वविलक्षणत्वादन्य एव नाभिमानी, उपचारव्यावृत्त्यर्थमन्यपदेनोपसंहारः। ब्रह्मत्वे सिद्धे ज्ञानं वा उपासना वेति नास्मत्सिद्धान्ते कश्चन विशेषः। कारणे कार्य-धर्मारोपस्त्वयुक्त एव कार्ये पुनः कारण-धर्माधिकरणत्वेनोपासना अभेदात् फलायेति सर्वत्र व्यवस्थितिः।

सूर्यमंडलस्थ आकृति इसलिए भी परमात्मा है कि—अन्तर्यामिब्राह्मण में स्पष्ट रूप से जीव और परमात्मा के भेद का उल्लेख है—"जो आदित्य में

होते हुए भी आदित्य से भिन्न है, जिसे आदित्य नहीं जानता, आदित्य ही जिसका शरीर है, जो अन्तर्यामीरूप से आदित्य का संयमन करता है, वही अमृत तेरा अन्तर्यामी आत्मा है।" इस श्रुति में आधिदैविक को सूर्यमंडलाभिमानी किसी अन्य से भिन्न बतलाया गया है। यद्यपि इस श्रुति में वैसे आकार का उल्लेख नहीं है, पर हिरण्मय आदि स्वरूप का वर्णन करने वाली श्रुति भी सूर्य संबंधी ही है, इसलिए तत्संबंधी श्रुतियों में साकार ब्रह्म का ही वर्णन मानना चाहिए। अन्तर्यामी ब्राह्मण में चार बातें बतलाई गई हैं, एक तो परमात्मा सब में स्थित है, पर उन वस्तुओं के धर्मों से संबद्ध नहीं है। दूसरे, वे सभी वस्तुएँ उसकी तरह मुक्त नहीं हैं, इसलिए वह परमात्मा अपने गुणों से उन्हें सम्बद्ध नहीं करता। तीसरे, अपनी लीला की सिद्धि के लिए उन वस्तुओं के रूप में अपने को व्यक्त करता है। चौथे, उनकी रक्षा के लिए उनका संयमन करता है। सूत्र में चकार का प्रयोग परमात्मा के धर्मों का वाचक है। सभी से विलक्षण होने से वह परमात्मा भिन्न ही है, उन वस्तुओं का अभिमानी नहीं है; यही विभिन्नता प्रतिपादक, सूत्रस्थ अन्य पद का तात्पर्य है। सूर्यमंडलस्थ आकृति का ब्रह्मत्व सिद्ध हो जाने पर, उसे ज्ञान मार्ग में प्रयोग करें या उपासना मार्ग में, हमारे मत में कोई अन्तर नहीं आता। कारण में कार्यधर्मों का आरोप करना तो अनुचित है ही, परंतु कारण धर्मों का कार्य में आरोप करना उपासना है, ऐसी भावना से कार्य जगत का परमात्मा से अभेद भाव होता है, जिससे मनुष्य को वास्तविक ब्रह्मानंद की अनुभूति हो जाती है, मुक्ति के लिए यही व्यवस्था सभी जगह की गई है।

७ अधिकरण

आकाशस्तल्लिङ्गात् ।१।१।२१।।

"अस्य लोकस्य का गतिः ? आकाश इति होवाच। सर्वाणि हवा इमानि भूतानि आकाशादेव समुत्पद्यन्ते, आकाशं प्रत्यस्तंयंति, आकाशो हि एवैभ्यो ज्यायानाकाशः परायणम्" इति।

तत्र संशयः, भूताकाशो, ब्रह्म वेति। ननु कथमत्र संदेहः आकाशव्योमशब्दा ब्रह्मण्येव प्रयुज्यन्ते ब्रह्म प्रकरणे, कार्यनिरूपणे तु महाभूतवचनः। यथा "आकाश आनंदो न स्यात्, परमे व्योमन् प्रतिष्ठिता" इत्यादि। "आत्मन

आकाशः संभूत'' इति कार्यनिरूपणम् । अतः प्रकरणादेव संदिग्ध निर्णये किमिति सूत्रारंभः । जन्मादिलक्षण सूत्रेण चायमर्थो निर्णीतः, अन्यथा ब्रह्म शब्देऽपि संदेहः स्यात्, महाभूत वेदादिवाचकत्वात्, तस्मात् प्रकरणादेव परिज्ञानं भविष्यति इति चेत् । उच्यते, असंदिग्धे प्रकरणे तथैव निर्णयः, इह पुनः प्रकरणमपि संदिग्धं अतो विचारः । अवान्तर विद्यायां पर्यवसित प्रकरणवदस्यापि प्रकरणस्य भूताकाश एव पर्यवसानम् इति लोकभाष्यन्यायेनाकाशो भौतिक एव इति पूर्वपक्षः, तत्राह--

''इस लोक की गति कौन है ? उसने कहा आकाश, ये सारे भूत इस आकाश से ही उत्पन्न होते हैं, और इस आकाश में ही समा जाते हैं । वह आकाश दीखने वाले आकाश से भी विशाल है ।''

इस प्रसंग में संशय होता है कि–यह भूताकाश का वर्णन है या ब्रह्म का ? संशय की आवश्यकता भी क्या है, ब्रह्म प्रकरण में तो आकाश शब्द व्योम नाम से ब्रह्म के लिए ही प्रयुक्त किया गया है, कार्य के निरूपण के प्रसंग में महाभूत के रूप में इसका उल्लेख है । जैसे कि—''आकाश आनंद नहीं है ।'' ''परमव्योम में ही सब कुछ प्रतिष्ठित है'' इत्यादि । ''आत्मा से आकाश हुआ'' ऐसा कार्य रूप से उसका निरूपण है । अतः प्रकरण से ही जब संशय की निवृत्ति हो जावे तो सूत्र बनाने की क्या आवश्यकता है ? जन्मादि लक्षण सूत्र से इसका निर्णय किया जा चुका है, यदि न किया गया होता तो ब्रह्म शब्द पर भी संदेह किया जाता । महाभूत रूप से वेदादि में इसका स्पष्ट उल्लेख है, इस प्रकार प्रकरण से ही इसका स्पष्ट परिज्ञान हो जाता है ।

इस पर पूर्वपक्ष वाले कहते हैं कि–असंदिग्ध प्रकरण में ही वैसा निर्णय होता है, यहाँ तो प्रकरण संदिग्ध है इसलिए विचार किया जाता है । जैसे कि–सभी प्रकरणों की विद्याओं का एक प्रकरण की विद्या में पर्यवसान होता है, इसी प्रकार इस प्रकरण का भी भूताकाश में ही पर्यवसान है, लोक में प्रायः आकाश भौतिक आकाश रूप से ही परिज्ञात होता है । इस पर कहते हैं—

"आकाशस्तल्लिगात्" आकाशः परमात्मैव, कुतः ? तल्लिगात्, श्रुति-लिंगादयो नियामकत्वेन पूर्वतंत्रवदिहापि गृह्यन्ते । लिंगं श्रुति सामार्थ्यं एकवाक्यता च सर्वासां ब्रह्मश्रुतीनाम् । अत्र ब्रह्मैव जगत्कारणमिति निःसंदिग्धेषु सिद्धम् । सर्वशब्दवाच्यत्वं ब्रह्मण्येव । तत्र वाक्यार्थापेक्षया पदार्थस्य दुर्बलत्वात् वाक्यार्थः सर्वगतित्वादिः,. तद् वाक्यार्थान्यथाऽनुपपत्त्या आकाश पदार्थो ब्रह्मेति । सर्वंशब्द वाच्यत्वाच्च न लक्षणा, मुख्यत्वाच्च । यावन् मुख्य परत्वं संभवति तावन्न कस्यापि वेदांतस्यापरब्रह्म-परत्वमिति मर्यादा । तस्मात् "यदेष आकाश आनंदो न स्यात्" इति वदत्राप्याकाशो ब्रह्मैवेति सिद्धम् ।

आकाश परमात्मा ही है, क्योंकि परमात्मा सम्बन्धी लिंगों का इस आकाश के लिए उल्लेख किया गया है। श्रुति लिंग आदि पूर्वमीमांसा वाला नियम यहाँ भी लागू होगा, जिससे प्रकरण आदि से, लिंग की महत्ता मानी जाएगी। समस्त ब्रह्मपरक श्रुतियों की, लिंग के आधार पर एकवाक्यता हो जाती है, अतः निश्चित रूप से ब्रह्म ही जगत का कारण है। सभी शब्दों की वाच्यता भी ब्रह्म में ही निश्चित होती है। वाक्यार्थ की अपेक्षा पदार्थ दुर्बल होता है, इसलिए सर्वगतित्व आदि जो वाक्यार्थ है, उसके समक्ष आकाश पद का अर्थ 'भूताकाश' दुर्बल है, अतः आकाश पद का अर्थ ब्रह्म ही होगा। लक्षणा भी नहीं की जा सकती क्योंकि—मुख्यार्थ बाध में ही लक्षणा होती है, श्रुति के सभी शब्द ब्रह्म के लक्षण का ही द्योतन कर रहे हैं। जब तक मुख्य परत्व अर्थ संभव होता है तब तक कोई भी वेदांत-वाक्य अपर ब्रह्म की व्याख्या नहीं करता यह उसका विशेष नियम है। इसलिये "यदेष आकाश" इत्यादि कहने वाला वाक्य भी आकाश को ब्रह्म रूप से ही प्रस्तुत करता है, यह निश्चित बात है।

८ अधिकरण

अत एव प्राणः ।१।१।२२।।

"प्रस्तोतर्या देवता प्रस्तावमन्वायत्ते" त्युपक्रम्य श्रूयते—"कतमा सा देवता इति प्राण इति होवाच, सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि प्राणमेवाभिसंविशंति प्राणमभ्युज्जिहते, सैषा देवता प्रस्तावमन्वायत्ता" इति । तत्र संशयः, आसन्यः प्राणो ब्रह्म वेति । पूर्वपक्षसिद्धान्तौ पूर्ववदेवेत्यतिदिशति ।

छांदोग्योपनिषद् में—"हे स्तोत्र पाठक ! जो देवता प्रस्ताव में अनुगत हैं" ऐसा उपक्रम करके "वह देवता कौन है ? (इस जिज्ञासा पर उषस्ति ने प्रस्तोता से कहा) 'प्राण' ही देवता है, ये सारे भूत समुदाय प्राण में ही प्रवेश करते हैं और प्राण से ही उत्पन्न होते हैं, वे देवता ही प्रस्ताव के लिए अनुगत हैं" इत्यादि ।

इस पर संशय होता है कि यह प्राण, जीवों में निवास करने वाला प्राणवायु है अथवा ब्रह्म है ? पूर्व सूत्र की तरह यहाँ भी पूर्वपक्षी और सिद्धान्ती अपने तर्क प्रस्तुत करते हैं ।

नन्वधिकरणानां न्यायरूपत्वात् सर्वत्र गमिष्यति, किमित्यतिदिशति ? इति उच्यते—प्राणस्य मुख्यस्यापि सर्वभूत संवेशनं स्वापादौ श्रुतावेवोपपाद्यते "यदा वै पुरुषः स्वपिति प्राणं तर्हि वागप्येति" इत्यादिना । तत्र यथा प्राण-विद्याया न ब्रह्मपरत्वमेवमेवास्यापि न ब्रह्मपरत्वमिति, न न्यायेन प्राप्नोति । अत्रैव प्रकरणे ब्रह्मपरत्वे कल्प्यमाने न किंचिद् बाधकं तथैव ब्रह्म परत्वं कल्पनीयम् इति, न त्वन्यस्मिन् संभवे तत्परत्वमिति । अतएव तल्लिंगात् प्राण-शब्द वाच्यं ब्रह्मेति ।

इसमें तर्क प्रस्तुत करने का अवकाश ही कहाँ है, यहाँ भी अधिकरण के अनुसार सभी जगह प्रसिद्ध प्राण का ही बोध हो रहा है । इस पर कहते हैं कि—"यदा वै पुरुषो" इत्यादि में प्राण को धर्म रूप से उपपादन किया गया है, उस मुख्य प्राण की समस्त भूतों में संवेशन की स्पष्ट चर्चा की गई है । जैसे प्राण-विद्या की ब्रह्म-परता नहीं है वैसे ही इस प्रकरण में भी ब्रह्म-परता नहीं है । और न नियम से भी ब्रह्म-परता निश्चित होती है । यदि प्रकरण में ब्रह्म-परता की कल्पना करने में कोई बाधा नहीं है तो प्राण-विद्या में भी ब्रह्म-परत्व की कल्पना करनी चाहिये, वहाँ क्यों नहीं की जाती ? जब किसी अन्य के अस्तित्व की संभावना है तो प्राण शब्द ब्रह्मपरक कैसे हो सकता है ?

इस पर सिद्धान्त प्रस्तुत करते हैं कि जैसे आकाश के लिए परमात्म-सम्बन्धी लिंग मिलते हैं, वैसे ही प्राण के लिए भी मिलते हैं, इसलिए ब्रह्म ही प्राण शब्द वाच्य है ।

९ अधिकरण

ज्योतिश्चरणाभिधानात् ।१।१।२३।।

इदमामनंति, "अथ यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते विश्वतः पृष्ठेषु सर्वतः पृष्ठेष्वनुत्तमेषूत्तमेषु लोकेषु, इदं तावद् यदिदमस्मिन्नन्तः पुरुषे ज्योतिः" इति । तत्र ज्योतिः शब्देन प्राकृतं ज्योतिराहोस्वित् ब्रह्मैवेति संशयः ।

छांदोग्य का प्रवचन है कि--"द्युलोक, विश्व तथा उत्तमाधम समस्त लोकों के ऊपर जो ज्योति है, वह पुरुषों की अन्तःस्थ ज्योति ही है ।" इसमें संशय होता है कि यहाँ ज्योति शब्द से प्राकृत ज्योति का उल्लेख है, अथवा ब्रह्म का ?

अत्रासाधारण ब्रह्म-धर्माभावात् पूर्वपक्षः । सिद्धान्ते तु चरणस्य ब्रह्मधर्मत्वमिति । "एतावानस्य महिमा अतो ज्यायांश्च पूरुषः । पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्याऽमृतं दिवि" इति पूर्ववाक्यम् । "गायत्री वा इदं सर्वंभूतम् यदिदं किं च" इति गायत्रयाख्य ब्रह्मविद्यां वक्तुं तस्याः पाद चतुष्टयं प्रतिपाद्य ब्रह्मणश्चतुष्पादत्वमुक्तम् । पुरुषसूक्तेप्याश्रमचतुष्टयस्था जीवाः पादत्वेनोक्ताः । तथा प्रणव ब्रह्मविद्यायामप्यकारोकारमकारनादवाच्याश्चत्वारः पादा विश्वतैजसप्राज्ञतुरीया उक्ताः । तद् विष्णोः परमं पदमिति च । ब्रह्मपुच्छमिति च । सत्यकाम ब्राह्मणे तु स्पष्टा एव ब्रह्मणश्चत्वारः पादा निरूपिताः । अतः सच्चिदानन्दरूपस्य प्रत्येक समुदायाभ्यां चतूरूपत्वम् । तत्र केवलानां कार्यत्वमेव, चतुर्थपादस्य तु ब्रह्मत्वम् ।

उक्त संशय पर पूर्वपक्षी कहते हैं कि ज्योति कोई असाधारण धर्म नहीं है, जिससे उसे ब्रह्म सम्बन्धी माना जाय । सिद्धान्ती कहते हैं कि चरणरूप से यह ब्रह्म-धर्म ही है ।

"इसकी महिमा इतनी ही नहीं है, इससे भी श्रेष्ठ है, समस्त भूत समुदाय उसके एक चरण में व्याप्त है, उसके तीन चरण द्युलोक में हैं" इत्यादि स्पष्ट उल्लेख है । "यह जो कुछ भी है वह सब कुछ गायत्री है" इत्यादि में गायत्री नामक ब्रह्मविद्या को बतलाने के लिए उसके चार चरणों का प्रति-

पादन करके उन्हें ब्रह्म के ही चार चरण कहा गया है। पुरुषसूक्त में भी चारों आश्रमों के जीवों को चार चरण बतलाया गया है। तथा प्रणव-ब्रह्म-विद्या में अकार, उकार, मकार और नाद को विश्व, तैजस, प्राज्ञ और तुरीय नामक चार चरण कहा है। उन्हें ही विष्णु का परम पद कहा है। ब्रह्मपुच्छ इत्यादि में भी शिर, दोनों पक्ष और पुच्छ रूप से चार चरणों का उल्लेख है। सत्यकाम ब्राह्मण में तो स्पष्ट रूप से ब्रह्म के चार चरणों का निरूपण है। इस प्रकार सच्चिदानन्दरूप परमात्मा के प्रत्येक समुदायों के चार रूप कहे गए हैं। उनमें तीन की कार्यता है, चतुर्थ चरण का ही ब्रह्मत्व है।

तत्रापि षड्विधत्व प्रतिज्ञानात् भूतपृथिवीशरीराणां परिचायकत्वेन षड्विधत्वमनिरूप्य हृदयस्य षड्विधत्वं निरूपयंस्तस्य ह वा एतस्येत्यादिना पंच देव-पुरुषांन्निरूप्य तेषां द्वारपालत्व ज्ञानानन्तरम्, "अथ यदतः परो ज्योतिर्दीप्यत" इति चतुर्थ पादस्य षष्ठविधत्व प्रतिपादनात्। अतश्चतुर्थपादे पंचपुरुषास्ततः परो दिवो ज्योतिः षष्ठस्तस्यैव सर्वत्र दीप्यमानत्वं निरूप्य तदेवान्तःपुरुषो उपसंहरति। तस्मात् "त्रिपादस्यामृतं दिवि" इत्युक्तत्वादस्य त्रिपात् संबंधि अमृतमुपरितनलोकेष्विति। अतोऽत्र चतुर्थः पादो निरूप्यत इति सिद्धम्। अतः पादानां ब्रह्मधर्मत्वाज्ज्योतिषो ब्रह्मत्वमिति। ब्रह्म धर्मं निर्णयार्थमिदमधिकरणं चरणानामौपचारिकत्व-व्यावृत्त्यर्थम् एतन्निर्णयेन प्रणवादिविद्या निर्णीता वेदितव्याः।

यद्यपि गायत्री चतुष्पदा कही गई, उसके भी भूत पृथिवी शरीर आदि के भेद से छः रूप हैं ऐसा दिखलाते हुए हृदय की छः रूपों वाली गति विधि का वर्णन करने के लिये, "ह वा एतस्यैतानि" इत्यादि से पंचदेव पुरुषों का निरूपण करके उनका द्वारपाल के रूप में वर्णन करके "यदतः परो ज्योति र्दीप्यत" इत्यादि से चतुर्थ पाद के ही छः रूप दिखलाये गये हैं। चतुर्थ पाद के पंच पुरुष और दिव्य परज्योति की ही सर्वत्र दीप्ति बतलाकर उसी का अंतःपुरुष रूप में उल्लेख किया गया है। उनके पूर्व तीन पाद अमृत रूप हैं जो कि ऊपर के लोकों में व्याप्त हैं, और चौथा पाद पृथ्वी में है यही दिखलाया गया है। ये पाद ब्रह्म के धर्म स्वरूप हैं, इसलिए यह ज्योति ब्रह्म है। यह प्रकरण ब्रह्मधर्म के निरूपण के लिए ही प्रस्तुत है,

पादों का वर्णन तो औपचारिक ही है, इनसे प्रणव आदि विद्या का भी निरूपण समझना चाहिए।

छन्दोविधानान्नेति चेन्न तथा चेतोऽर्पणनिगदात् तथाहि दर्शनम् १।१।२४।।

ननु नात्र ब्रह्म चतुष्पान्निरूपितं, किन्तु गायत्री छंदः "गायत्री वा इदं सर्वं यदिदं किंच" इत्युपक्रम्य तामेव भूत पृथिवी शरीर हृदय भेदैर्व्याख्याय सैषा चतुष्पदा षड्विधा गायत्री तदेतदृचाभ्युक्तम् "तावानस्य महिमा" इति। तस्यामेव व्याख्यानरूपायां गायत्र्यामुदाहृतो मंत्रः कथमकस्माद् ब्रह्म चतुष्पादभिदध्यात्। "यद् वैतद् ब्रह्म" इति ब्रह्मपदमपि छन्दसः प्रकृतत्वात् तत्परमेवावगंतव्यम्। शब्दस्यापि ब्रह्मवाचकत्वसिद्धेर्ब्रह्मोपनिषदितिवच्छब्द-ब्रह्मेति च। तस्माच्छन्दस एव पादाभिधानान्न ब्रह्मधर्माः पादा इति चेन्नैष दोषः, तथा चेतोऽर्पणनिगदात्, तथा तेन द्वारेण चेतसोऽर्पणं निगद्यते "गायत्री वा इदं सर्वं यदिदं किंच" इति। नहि वर्णसमाम्नायरूपस्य सर्वत्व-मनुपचारेण सम्भवति। यथा सूची द्वारा सूत्र प्रवेशस्तथा गायत्री द्वारा बुद्धिः तत्प्रतिपाद्ये ब्रह्मणि प्रविशेदिति।

कुत एतदेवं प्रतिपाद्यत इति, तत्राह तथाहि दर्शनम् तथा तेनैव प्रकारेण दर्शनं ज्ञानं भवति। स्थूला बुद्धिर्नार्हत्येव ब्रह्मणि प्रविशेदिति। एतेन सर्वा मंत्रोपासना व्याख्याताः। हियुक्तश्चायमर्थो लोके स्वतो यन्न प्रविशति तदुपायेन विशतीति। नत्वदृष्ट द्वारा, दृष्टे सम्भवत्यदृष्टकल्पनाया अन्याय्य-त्वात्, तस्मात् पादा ब्रह्मधर्माः।

शंका की जाती है कि—यहां ब्रह्म का चार चरणों के रूप में निरूपण नहीं है अपितु गायत्री छन्द का है, जैसा कि—"यहां जो कुछ भी है वह गायत्री ही है" ऐसा उपक्रम करके उसी की भूत, पृथिवी, शरीर और हृदय के भेद से व्याख्या करके वही चार पाद वाली छः प्रकार की है यह बात "तावानस्य महिमा" इत्यादि में बतलाई गई है। उसी व्याख्यान रूप गायत्री के लिए उक्त मन्त्र प्रस्तुत किया गया है, अकस्मात् ब्रह्म को चार पाद वाला कैसे समझ लिया गया? "यद् वैतद् ब्रह्म" इत्यादि में जो ब्रह्म के पादों का उल्लेख है वह भी छन्द में घटित होने से, छन्द परक ही सिद्ध होता है। यह कहें कि—ब्रह्म शब्द का स्पष्ट उल्लेख है, सो ब्रह्म शब्द शास्त्रवाचक भी है, जैसे कि

ब्रह्मोपनिषद् इत्यादि ब्रह्म शब्द का प्रयोग किया जाता है, इसलिए यही मानना उपयुक्त है कि पादों का उल्लेख छन्द के लिए ही है, ब्रह्म के धर्म के रूप में पादों का उल्लेख नहीं है।

उक्त शंका का निराकरण करते हैं—पादों को ब्राह्म धर्म मानने में दोष नहीं है, यह जो रूपक है वह चित्त की एकाग्रता का सूचक है। इसके द्वारा चित्त की एकाग्रता होती है, यही बात "गायत्री वा इदं" इत्यादि में दिखलाई गई है। सभी जगह गायत्री का अक्षरों के रूप में ही प्रयोग नहीं होता। जैसे कि सूई के द्वारा सूत्र का हर जगह सरलता से प्रवेश हो जाता है, वैसे ही गायत्री के द्वारा उसके प्रतिपाद्य ब्रह्म में बुद्धि का प्रवेश हो जाता है। ऐसा ही प्रायः देखा जाता है। स्थूला बुद्धि का ब्रह्म में प्रवेश होना सम्भव नहीं होता। इसमे सभी मन्त्रों की व्याख्या हो गई, अर्थात् सभी मन्त्रों में ब्रह्म ज्ञान कराने की अद्भुत क्षमता है। सूत्र में प्रयुक्त हि शब्द बतला रहा है कि यह स्वयं प्रविष्ट होने में समर्थ नहीं है, इस उपाय से ही प्रविष्ट हो सकता है। यह कार्य अदृष्ट द्वारा हो जाता है ऐसा मानना भी अन्याय है, क्योंकि दृष्ट साधन सम्भव है। इससे यही निश्चित होता है कि पादों का ब्रह्मधर्म रूप से ही वर्णन है।

भूतादिपादव्यपदेशोपपत्तेश्चैवम् १।१।२५।।

किं च भूतादयोऽत्र पादा व्यपदिश्यन्ते, भूतपृथ्वीशरीरहृदयानि चत्वारि, नहि एतानि गायत्र्याः पादा भवितुमर्हंति। ब्रह्मपरिग्रहे तूपपद्यन्ते। यावन्मुख्यमुपपद्यते तावन्न गौणं कल्पनीयम्। अयमर्थः, पूर्वहेतौ छन्दसोऽपि पादा व्यपदेशाद् भवंति, तथापि ब्रह्मण एव युक्ता इति। पुरुषसूक्ते एतावानस्येत्यस्य ब्रह्मपरत्वात्। अस्मिन् वाक्ये तु गायत्र्याः पादा एव नोपदिष्टाः किन्तु ते ब्रह्मण एव पादा इति। तद्वाचकत्वेन गायत्र्यामुपचारेणोपसंहारः। चकारादर्था न शब्दस्य पादा भवंति, किन्तु अर्थस्यैवेति। तस्माद् ब्रह्मवाक्यत्वे भूतादीनां पादत्वमुपपद्यते नान्यथेति तस्मात् पादानां ब्रह्मधर्मत्वम्।

यहां इस प्रकरण में भूत पृथ्वी शरीर और हृदय आदि चारों को पाद बतलाया गया है, ये चारों गायत्री के पाद नहीं हो सकते, ब्रह्म के तो हो

सकते हैं। क्योंकि ये ब्रह्म की सृष्टि के ही अंश हैं। जब मुख्य की सम्भावना होती है तब गौण की कल्पना नहीं करनी चाहिए। इसलिए छन्द के पादों के व्यपदेश से ब्रह्म के पादों का ही निरूपण किया गया है। पुरुषसूक्त में "एतावानस्य" इत्यादि में इन पादों को ब्रह्म परक ही बतलाया गया है। इस वाक्य में भी गायत्री के पादों का उपदेश नहीं है, अपितु ब्रह्म के पादों का ही है। तद्वाचक होने से, गायत्री में केवल औपचारिक उपसंहार मात्र किया गया है। सूत्रस्थ च शब्द का तात्पर्य है कि शब्द के पाद नहीं होते अपितु अर्थ के ही होते हैं। यह ब्रह्मवाक्य है, इसलिए भूतादि को उसके पाद बतलाया गया है, किसी अन्य के नहीं।

उपदेशभेदान्नेति चेन्नोभयस्मिन्नप्यविरोधात् । १।१।२६ ॥

"पादोऽस्य विश्वा भूतानि, सर्वाणि भूतान्येकः पादः, पादत्रयममृतं दिवि" इत्येकोऽर्थः। "पादेषु सर्वं भूतानि पुंसः स्थितिपदो विदुः, अमृतं क्षेममभयं त्रिमूर्ध्नोऽधायि मूर्द्धसु" इत्यपरः। पुरुषसूक्तानुरोधे द्वितीय एवार्थः। प्रथमे तावत् ननु दिवीति मंत्रे सप्तम्याऽधारत्वं प्रतिपाद्यते, अतः परमित्यत्र, पंचम्याऽनाधारत्वमत उपदेशभेदात् पूर्वोक्तपरामर्शाभावान्न ज्योतिषो ब्रह्मत्वमिति चेन्नैष दोषः, उभयस्मिन्नप्यविरोधात्। मंत्रे दिव्येवोक्तम्, अस्मिन् वाक्ये सर्वत्रोच्यते, सर्वत्र विद्यमानस्य दिवि विद्यमानत्वं न विरुद्ध्यते। अतः शब्देन न तत्राविद्यमानत्वं किन्तु ततोऽप्यन्यत्र सत्वं बोध्यते। तस्मात् सप्तमी पंचमी निर्देशो न विरुद्धः। द्वितीये तु ननु मन्त्रे अमृत पदमत्र ज्योतिःपदमत उपदेशभेदाच्चतुर्थश्च पादो हृदयम्।

अतः शब्दाच्च सर्वस्माद् भेदः प्रतिपाद्यते, अत उपदेशभेदान्नैकवाक्यता, अस्मिंश्च वाक्ये चरणाभावात् स्वरूपासिद्धो हेतुरिति चेन्नैष दोषः। उभयस्मिन् ज्योतिःपदे अमृतपदे च प्रयुज्यमाने एकार्थत्वान्न विरोधः। पादत्रयमुपरितनलोकेषु चतुर्थं सर्वत्रेति। अन्यथा वैजात्यं पादानामापद्येत्। परिच्छेदश्च विरोधः। अतोऽमृतज्योतिः शब्दयोरेकार्थत्वेन विरोधाभावादेकवाक्यत्वम्। अतोऽत्र चरणसद्भावात्तस्य च ब्रह्मधर्मत्वात् ज्योतिः ब्रह्मैव।

"पादोऽस्य भूतानि" अर्थात् सारे भूत एक पाद हैं, "तीन पाद अमृत आकाश में हैं" ऐसा एक वर्णन है तथा "उस पुरुष के एक पाद में सारे भूतों के पाद स्थित हैं, उसके कल्याणमय अमृत अभय तीन पाद ऊपर हैं" ऐसा दूसरा वर्णन है। पुरुष सूक्त में यह दूसरा वर्णन ही घटित होता है। प्रथम वर्णन में दिवि इस मन्त्र में, आधार अर्थ में सप्तमी का प्रयोग है तथा "अतः परम्" में पंचमी का प्रयोग किया गया है जो कि अनाधारत्व की वाचिका है। इस प्रकार उपदेश का भेद है जिससे अर्थसाम्य नहीं होता। इससे ज्ञात होता है कि ज्योतिः शब्द ब्रह्मत्व का द्योतक नहीं है; इत्यादि दोष नहीं होगा, क्योंकि दोनों अर्थ अविरुद्ध हैं। मन्त्र में दिवि का जो प्रयोग किया गया है, वह इस वाक्य में सर्वत्रता का बोधक है, सर्वत्र विद्यमान की दिव् में आधारकता कोई विरुद्ध बात नहीं है। अतः शब्द से उसकी अविद्यमानता का बोध होता हो सो बात नहीं है, अपितु उसमें भी अन्यत्र विद्यमानता का भाव निहित है। इस प्रकार सप्तमी पंचमी का निर्देश अविरुद्ध है। द्वितीय वर्णन में तो अमृत पद, ज्योति पद वाची है जो कि प्रकारान्तर से चतुर्थ पाद हृदय के रूप में बतलाया गया है। शब्द से तो सबका भेद बतलाया गया है, उपदेश के भेद होने से एकवाक्यता भी नहीं है। इस वाक्य में चरण शब्द का स्पष्ट उल्लेख भी नहीं है, स्वरूप से ही वस्तु की प्रतीति हो रही है, इसलिए कोई दोष नहीं है। ज्योतिपद और अमृतपद दोनों में एक ही अर्थ का बोध हो रहा है इसलिए कोई विरुद्धता नहीं है। ऊपर के लोकों में तीन पादों की स्थिति बतलाई गई है तथा चौथे की सर्वत्र स्थिति बतलाई गयी है। यदि ऐसा नहीं मानेंगे तो पादों की विभिन्न जातीयता हो जायगी, तथा परिच्छेद का भी विरोध होगा। अमृत और ज्योति शब्दों की एकार्थता होने से एकवाक्यता सिद्ध होती है। इस प्रकरण में चरणों का उल्लेख होने से, वे ब्रह्म के धर्म ही सिद्ध होते हैं, अतः ज्योति शब्द ब्रह्मवाचक ही है।

१० अधिकरण

प्राणस्तथाऽनुगमात् ।१।१।२७।।

अस्ति कौषीतकिब्राह्मणोपनिषदि इन्द्रप्रतर्दनसंवादः--"प्रतर्दनो ह वै दैवोदासिः" इत्यादिना "एष लोकपाल एष लोकाधिपतिरेष लोकेशः स म

आत्मेति विद्यात्" इत्यन्तम् । तत्र वरदाने "मामेव विजानीहि एतदेवाहं मनुष्याय हिततमं मन्ये" इत्युपक्रम्य त्वाष्ट्रवधादिनात्मानं प्रशस्य स्वोपासनायाः पापाभावं फलत्वेन प्रतिपाद्य "कस्त्वम्" इति विवक्षायां "प्राणो वा अहमस्मि प्रज्ञात्मानं मामायुरमृतम् इत्युपास्त्रे" त्युक्त्वा आयुषः प्राणत्वमुपपाद्य अमृतत्वं च प्राणस्योपपाद्य "प्राणेन ह्येवामुष्मिल्लोके अमृतत्वमाप्नोति" इति अमृतत्वं योगेन प्रतिपादयति । तत्र संदेहः प्राणः किमासन्यो ब्रह्म वेति ।

कौषीतकि ब्राह्मणोपनिषद् में इन्द्र और प्रतर्दन का संवाद है। वह संवाद "प्रतर्दनो ह वै" से प्रारंभ होकर "एष लोकपाल एष लोकाधिपति" इत्यादि वाक्य तक वर्णित है । उसमें वरदान के प्रसंग में-"मुझे ही जानो, यही मनुष्य का हिततम मार्ग है" ऐसा उपक्रम करके त्वाष्ट्र के वध इत्यादि से आत्मा की प्रशंसा कर आत्मोपासना से—फलरूप से पापों की क्षीणता बतलाकर "तुम कौन हो ?" ऐसी आकांक्षा होने पर "मैं प्राण हूँ" इत्यादि से जीवन के प्राणत्व का प्रतिपादन करके तथा प्राण के अमृतत्व का उपपादन करके, "इस लोक में प्राण से ही अमृत प्राप्त होता है" इत्यादि में प्राण से अमृतत्व योग का प्रतिपादन किया गया है। इस पर संशय होता है कि-यह देहस्थ प्राण का वर्णन है या ब्रह्म का ?

अत एव प्राण इत्यत्र प्राणशब्द मात्रे संदेहःअत्रार्थेऽपि संदेहः । बाधकं च वर्तत इति पृथगधिकरणारंभः । तत्र साधकासाधारणधर्मस्याभावाद् बाधकानां विद्यमानत्वान्न ब्रह्मत्वमिति पूर्वपक्षः ।

"अत एव प्राणः" सूत्र में तो प्राण शब्द मात्र पर संदेह किया गया था, यहाँ अर्थ पर भी संदेह व्यक्त करते हैं । पृथक् अधिकरण प्रस्तुत करने का मुख्य कारण यह है कि-जीव भी प्राण शब्द से पुकारा जाता है । इस प्रकरण में, प्राण के किन्हीं असाधारण धर्मों का तो उल्लेख है नहीं इसलिए प्राण को ब्रह्म मानने में स्पष्ट बाधा है, अतः यह प्रकरण ब्रह्मत्व का प्रतिपादक नहीं है । ऐसा पूर्वपक्ष है ।

सिद्धान्तस्तु-चतुर्भिः सूत्रैः प्रतिपाद्यते, तत्र प्रथमं साधकधर्ममाहैकेन, त्रिभिर्बाधक निराकरणम् । प्राणः परमात्मा भवितुमर्हति, कुतः ? तथाऽनु-

गमात् । तथाहि पौर्वापर्येण पर्यालोच्यमाने वाक्ये पदार्थानां समन्वयो ब्रह्म-प्रतिपादन पर उपलभ्यते। उपक्रमे तावद् "वरं वृणीष्व" इति इन्द्रः प्रतर्दनोक्तः परमपुरुषार्थं वरमुपचिक्षेप । "त्वमेव मे वृणीष्व यं त्वं मनुष्याय हिततमं मन्यसे" इति । तस्मै हिततमत्वेनोपदिश्यमानः प्राणः कथं परमात्मा न स्यात् नहि परमात्मनोऽन्यद् हिततममस्ति, परमानंदस्वरूपत्वात् । पापाभावश्च ब्रह्मविज्ञान एव "क्षीयंते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे" इति श्रुतेः। प्रज्ञात्मत्वं च तस्यैव संभवति । उपसंहारेऽप्यानंदोऽजरोऽमृत इति, एष लोका-धिपति रित्यादि च । तस्मात् सर्वत्रानुगमात् प्राणो ब्रह्म ।

चार सूत्रों से सिद्धान्त प्रस्तुत करते हैं, पहिले सूत्र में साधक (प्राण) के धर्मों का विवेचन है तथा तीन में बाधक का निराकरण किया गया है। प्राण परमात्मा ही हो सकता है, पूर्व और पर वाक्यों में पदार्थों का समन्वय ब्रह्म प्रतिपादन परक ही मिलता है। जैसे कि—उपक्रम में "वर मांगो" ऐसा प्रतर्दन ने इन्द्र से कहा और परम पुरुषार्थ के, वर के रूप में आक्षेप किया—"तुम्हीं मुझसे वह वर मांगो जो कि मनुष्य के लिए हिततम हो" इत्यादि । फिर हिततम रूप से प्राण का ही उपदेश दिया, हिततम रूप से उपदिष्ट प्राण परमात्मा के अतिरिक्त दूसरा कौन हो सकता है ? परमात्मा मे भिन्न कोई दूसरा हिततम नहीं हो सकता । क्यों कि—वही परमानंद स्वरूप है । ब्रह्म विज्ञान से ही पापों का अभाव भी बतलाया गया है—"उस परावर ब्रह्म के देखे जाने पर इस जीव के कर्मों का क्षय हो जाता है" इत्यादि । प्रज्ञात्मत्व भी परमात्मा में ही संभव है। प्रकरण के उप-संहार में भी "आनंद अजर अमर" तथा "यही लोकाधिपति है" इत्यादि विशेषतायें प्राण की बतलाई गई हैं, इस प्रकार सभी जगह ब्रह्म का ही प्रतिपादन मिलता है, इसलिए प्राण ब्रह्म है ।

न वक्तुरात्मोपदेशादिति चेदध्यात्मसंबन्धभूमा ह्यस्मिन् ।१।१।२८॥

बाधकमाह, यदुच्यते प्राणो ब्रह्मेति, तन्न, कुतः वक्तुरात्मोपदेशात् । वक्ता हीन्द्र आत्मानमुपदिशति, "मामेव विजानीहि" इत्युपक्रम्य—"प्राणो वा अहमस्मि प्रज्ञात्मानं मामायुरमृतमित्युपास्व" इति, स एष प्राणो वक्तुरात्मत्वेनोपदिश्यमानः कथं ब्रह्म स्यात् ? तथा च वाचो धेनुत्वोपासनवद् देवतायाः प्राणत्वेनोपासना बोध्यते । अन्ये च ब्रह्मधर्माः प्राणस्तावका इति कथमस्य ब्रह्मोपाख्यानत्वमिति चेत् ।

विरुद्ध तर्क प्रस्तुत करते हैं—जो यह कहा कि प्राण ब्रह्म, है सो कथन ठीक नहीं है, क्योंकि प्रसंग में वक्ता अपने आत्मा के रूप में प्राण को बतलाता है। वक्ता इन्द्र है जो कि—"मुझे ही जानो" मैं ही प्राण हूँ, प्रज्ञात्मा मेरी अमृत आयु की ही उपासना करो" इत्यादि रूप से, अपने आत्मा को ही प्राण बतला रहा है, फिर प्राण, ब्रह्म कैसे है ? तथा जैसे कि वाणी की गाय की तरह उपासना कही गई है, वैसे ही देवता की प्राण की तरह उपासना प्रतीत होती हैं। अन्य जो ब्रह्म धर्म हैं वे प्राण के अपने ही हैं, इसलिए इस प्रकरण को ब्रह्मोपाख्यान कैसे कह सकते हैं ?

न, अध्यात्मसंबंध भूमाह्यस्मिन्, अस्मिन् प्रकरणे अध्यात्मसंबधः आत्मानमधिकृत्य यः संबंधः, आत्मशब्दो ब्रह्मवाची, वस्तुतो जीवस्य ब्रह्मत्वाय तथा वचः। तस्य संबंधः तद्धर्माः तेषां बाहुल्यं प्रतीयते "एषकोक-पालः" इत्यादि। यावद् यथाकथंचिदपि ब्रह्मप्रकरणत्वं सिद्ध्यति तावदन्य-प्रकरणत्वममुक्तमिति हि शब्दार्थः। प्राणस्य प्रज्ञात्मत्वम्, स्वातंत्र्येण युर्दार्वुत्वम्। "न वाचं विजिज्ञासीत् वक्तारं विद्यादिति" चोपक्रम्य, तद् यथा "रथस्यारेषु नेमिरर्पिता" नाभावरा अर्पिता एवमेवैता भूतमात्राः प्रज्ञामात्रास्वर्पिताः प्रज्ञामात्राः प्राणे अर्पिताः। "स एष प्रज्ञात्माऽनंदोऽजरो-ऽमृतो न साधुना कर्मणा" इत्यादि विषयेन्द्रिय व्यवहारे अनभिभूतं प्रत्य-गात्मानमेवोपसंहरति। स म आत्मेति विद्यात्" इति चोपसंहारः। तस्माद-ध्यात्मसंबंध बाहुल्याद् ब्रह्मोपदेश एवायम्।

(प्रतिवाद) उक्त तर्क संगत नहीं है, इस प्रकरण में तो अध्यात्म संबंध से भूमा का विवेचन किया गया है। आत्मा के आधार पर जो संबंध दिखलाया गया है वह जीवपरक नहीं है। आत्मा शब्द यहाँ ब्रह्मवाची है। वस्तुतः जीव के लिए जो आत्मा शब्द का प्रयोग होता है वह ब्रह्म संबन्ध से ही होता है (अर्थात् जीव, ब्रह्म का अंश है इस संबंध से ही जीव को आत्मा कहा जाता है) ब्रह्म का संबंध ही इस आत्मा शब्द में है, उसी के धर्मों का बाहुल्य भी "एष लोकपालः" इत्यादि में प्रतीत होता है। सूत्रस्थ हि शब्द का तात्पर्य है कि जब तक जैसे भी ब्रह्म-प्रकरणत्व की सिद्धि हो तब तक अन्य के प्रकरणत्व को नहीं स्वीकारना चाहिये। प्राण का प्रज्ञात्मत्व और स्वतंत्रता से आयुदातृत्व स्वाभाविक है जो कि—"न वाचं विजिज्ञासीत्"

इत्यादि से प्रारंभ कर "तद् यथा रथस्यारेजु नेमिरर्पिता" इत्यादि तक वर्णित है। इसमें कहा गया है कि जैसे कि नाभि में अारे सन्निविष्ट हैं। वैसे ही समस्त भूत समुदाय प्रज्ञामात्र प्राण में सन्तिविष्ट है।" स एष प्रज्ञात्माऽनंदोऽज-रोऽमृतो" इत्यादि में, विषय इंद्रिय आदि से अनभिभूत जीवात्मा को इंगित किया गया है। उसी को परमात्मा से संबद्ध बतलाते हुए "स म आत्मेति विद्यात् ऐसा उपसंहार किया गया है।" इस प्रकार पूरे प्रकरण में अध्यात्म संबंध का ही बाहुल्य है। जिससे कि ब्रह्मोपदेश ही निश्चित होता है।

तर्हि बाधकस्य का गतिरित्यत आह--

प्रकरण के ब्रह्मपरक स्वीकारने से, वक्ता इन्द्र का जो स्वात्मोपदेश है, उसका क्या समाधान होगा ? इसका उत्तर देते हैं--

शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत् ।१।१।२९।।

पूर्वसूत्रेणापरिहृतमत्र परिहरति तु शब्दः, अयं दोषो व्यवहारदृष्ट्योपदेशे, अहं ब्रह्मेत्यार्षेण दर्शनेन तूपदेशः। ननु "तत्वमसि" "अयमात्मा ब्रह्म" इति वाक्येषु जीवस्य ब्रह्मत्वं बोध्यते। तत्र प्रत्यधिकारं शास्त्र प्रवृत्तिरिति न्यायेन स्वात्मन् एव ब्रह्मत्वावगतिर्मुख्या। न प्रतर्दनस्येन्द्रजीवब्रह्मत्वावगतिरुपासनं वा पुरुषार्थाय। अतः शास्त्र दृष्टिरपि नैवंविधा। केवलस्य चैतन्यौं मात्रस्य तादृशे ब्रह्मण्यैवावगति विरोधात्तत्त्वमस्यादिवाक्यार्थोऽध्यवसीयते। न तु ब्रह्मधर्मा जीवे वक्तुं शक्यन्त इत्याशंक्य परिहरति "वामदेववत्"

पूर्व सूत्र से जिसका परिहार न हो सका, इस सूत्र से उसका परिहार किया गया है यही सूत्रस्थ तु शब्द का तात्पर्य है, उक्त दोष, व्यवहार दृष्टि सेउपदेश देने पर ही हो सकता है, यदि किसी अन्तर्दृष्टा ऋषि द्वारा अहं ब्रह्म का उपदेश दिया जाय तो वह दोष नहीं है। जैसे कि "तत्वमसि" अयमा-त्मा ब्रह्म" इत्यादि वाक्यों से जो जीव का ब्रह्मत्व ज्ञात होता है—उसमें अधिकार में ही शास्त्र प्रवृत्ति होती है—इस नियम के अनुसार अपने में ही ब्रह्मावगति दिखलाई गई है। प्रतर्दन को जो इन्द्र से जीवत्वावगति का उपदेश मिला, वह उपासना या मोक्ष की दृष्टि से नहीं था। "तत्वमसि" इत्यादि में शास्त्र की भी ऐसी दृष्टि नहीं है। केवल सर्वज्ञत्व और अज्ञत्व आदि परस्पर विरोधी अंशों से रहित निर्विशेष चैतन्यमात्र जीव का निर्विशेष चैतन्य मात्र ब्रह्म में ऐक्य है यही "तत्वमसि"इत्यादि वाक्यों के अर्थ से अवगति होती है; आनंद अजर अमर आदि ब्राह्म धर्मों के ऐक्य की अवगति होती है, ऐसा नहीं कह सकते। ऐसी आशंका करके परिहार करते हुए सूत्रकार कहते हैं "वामदेववत्।"

"तद्धैतत्पश्यन्नृषिर्वामदेवः प्रतिपेदे अहंमनुरभवं सूर्यश्च" इति, य एव प्रत्यबुद्ध्‌त स सर्वंभवति । "तत्र सर्वेषां सर्वभावे सर्वानन्त्य प्रसंगात् सर्वमेकमेवेति वक्तव्यम् ।

ऋषि वामदेव ने ऐसा अनुभव किया कि मैं ही पहि मनु था और सूर्य था" जो ऐसा जानता है वह सब कुछ हो जाता है" इस वाक्य में सब े सब की अनुभूति होने से सार्वभौम भाव िखला हुए समस्त जगत की ब्रह्मात्मक एकता का प्रतिपादन किया गया है ।

ततः कारणलय एव सर्वभाव इति मनुरभवं सूर्यश्चेत्यवयुत्यानुवादोऽनुपपन्नः । तत्र यथा ज्ञानावेशात् सर्वधर्म-स्फूर्तिरेवमत्रापि ब्रह्मावेशादुपदेश इति । त्वाष्ट्रवधादयो ब्रह्मधर्मा एव, तदावेशेन क्रियमाणत्वात् । "नन्वेषवज्रस्तव शक्र तेजसा हरेर्दधीचेस्तपसा च तेजितः, तेनैव शत्रुं जहि विष्णुयंत्रितः" इतिवृत्रवचनं श्रीभागवते । तस्माद्युक्तं ब्रह्मधर्मवचनम् ।

यदि कारण ब्रह्म में लय होने की बात मान ली जाय तो, ' मैं मनु हुआ और सूर्य हुआ" ऐसा कथन संगत न हो सकेगा इस कथन में ज्ञानावेश होने से ब्राह्म धर्म की स्फूर्ति का ब्रह्मावेश के रू से उल्लेख किया गया है । वृत्रासुर के वध आदि कार्य ब्राह्म धर्म ही हैं, ब्रह्मावेश होने पर ही वे हो सकते हैं" जैसा ि श्रीमद्भागवत के वृत्रासुर के कथन से ज्ञात होता है–" हे इन्द्र । तुम्हारा यह वज्र भगवत्तेज और दधीचि के तप तेज से तेजित है, विष्णु द्वारा परिचालित तुम उस वज्र से शत्रु का संहार करो" इसलिए ब्राह्मधर्म म नना ही सगत है ।

ननु "स्वाप्ययसंपत्त्योरन्यरापेक्षमाविष्कृतं हि" इति सूत्रे सुषुप्तौ ब्रह्म संपत्तौ च ब्रह्मधर्माविर्भावो न त्वन्यद् इतिकथमेवमिति चेन्मैवम् । उपदेश भावनादिष्वपि कदाचिदुत्तमाधिकारि विषये ब्रह्मप्राकट्यमित्यंगीकर्त्तव्यम् । "मय्येव सकलं जातम्" इत्यादि वाक्यानुरोधात् ।

(शंका) यदि ऐक्य ी बात न मानकर ब्राह्मस्थिति स्वीकार ली जाय तो"स्वाप्यसंपत्त्यो" इत्यादि सूत्र में जो सुषुप्ति और ब्रह्म संपत्ति में ऐक्य का प्रतिपादन किया गया है उसकी संगति कैसे होगी ? (समाधान) नहीं उक्त स्थल में भी ब्राह्म धर्म के आविर्भाव का ही समर्थन किया गया है । उपदेश भावना ादि के विधायक वाक्यों में भी संभवतः उत्तम अधिकारी विष क

ब्रह्म प्राकट्य की बात मानी गई है।" मय्येव सकलं जातम् इत्यादि उपदेश वाक्यों से यही बात निश्चित होती है।

"इहैव" समवनीयन्ते प्राणाः। "ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति" इत्यप्याविर्भावापेक्षम्। तस्य च प्रायिकत्वान्न सूत्रे फलत्वमाह। जीवन्मुक्तानामपि परममुक्तेर्वक्तव्यत्वाच्च।

"इहैव समवनीयन्ते प्राणाः' ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति" इत्यादि में भी आविर्भाव ही बतलाया गया है प्रायः सभी का आविर्भाव नहीं होता इसलिए सूत्र में फल रूप से उसका विवेचन नहीं किया गया है। जीवन्मुक्त जीवों की भी परममुक्ति बतलाई गई है, इसलिए भी इसका फल रूप से विवेचन नहीं किया गया।

असंप्रज्ञात समाधाविवाविर्भावदशायामेव शरीरवियोगे वियोजका भावात् वागादिमात्रं लीयते। तस्य च प्राप्तत्वादेव नार्चिरादिगतिः। तथापि प्रायिकत्वान्न सूत्र गीतादिषु तद्वचनम्। सगुणनिर्गुणभेदेन नियमवचनं त्वप्रामाणिकमेव, ब्रह्मवादे गुणानंगीकाराच्च। तस्माद्युक्तमुक्तं शास्त्रदृष्ट्यातूपदेश इति।

असंप्रज्ञात समाधि की तरह आविर्भाव दशा में भी शरीर का असंश्लेश नहीं होता क्योंकि उसमें कोई वियोजक तो होता नहीं, इसलिए वागादि इन्द्रियों का ही लय होता है। यह मुक्ति की पूर्वावस्था है इसलिए मुक्त जीव की अर्चिरादिगति भी नहीं बतलाई गई है। अर्थात् जब जीव को ब्रह्मभाव की प्राप्त हो जाती है तब उसकी अर्चिरादिगति होगी ही क्यों? प्रायः सभी की आविर्भाव दशा होती भी नहीं इसलिए ब्रह्म सूत्र गीता आदि में उसका वर्णन नहीं किया गया। सगुण और निर्गुण उपासक के भेद से, नियम वचन के रूप से, इस दशा का उल्लेख करना अप्रामाणिक भी होगा। ब्रह्मवाद में भक्तों को गुण स्वीकार भी हैं। इसलिए "शास्त्रदृष्ट्यातूपदेशः" ऐसा ठीक ही कहा गया है [सगुणोपासक की ही अर्चिरादि गति होती है निर्गुणोपासक की नहीं होती]

जीव मुख्य प्राणलिंगान्नेति चेन्नोपासात्रैविध्यादाश्रितत्वादिहतद्योगात्॥१।३०॥

अन्यद्बाधकद्वयमाशंकते। ननु यद्यपि ब्रह्मधर्मा भूयांसः प्रकरणे श्रुयन्ते तद्वज्जीवधर्मा मुख्यप्राणधर्माश्च बाधकाः सन्ति। न वाचं

विजिज्ञासीत वक्तारं विद्यादित्यादि । अत्रहि वागादिकरणाध्यक्षस्य जीवस्य विज्ञेयत्वमभिधीयते । अथखलु प्राण एव प्रज्ञात्मेदं शरीरं परिगृह्येति शरीरधारणं मुख्यप्राण धर्मः । मा मोहमापद्यथा, अहमेवैतत् पंचधात्मानं प्रविभज्यैतद्वाणमवष्टभ्य विचारयामीति श्रवणात् ।

अब अन्य दो बाधाओं की आशंका करते हैं। यद्यपि प्रकरण में ब्राह्म धर्मों की बहुलता है, उनके समान जीव धर्म और प्राण धर्म स्वीकारने में बाधा उपस्थित होती है। "न वाचं विजिज्ञासीत्" इत्यादि में वागादि इन्द्रियों के अध्यक्ष जीव का विज्ञेयत्व बतलाया गया है। "अथखलु प्राण एव" इत्यादि में शरीर धारण करना ही मुख्य प्राण का धर्म बतलाया गया है। ऐसी आशंका नहीं करनी चाहिए क्योंकि "मैं ही अपने को पांच रूपों में विभक्त करके इस शरीर को धारण करता हूँ" इत्यादि में स्पष्ट रूप से ईश्वर की अध्यक्षता बतलाई गई है।

"यो वै प्राणः सा प्रज्ञा या प्रज्ञा स प्राण" इति जीव मुख्य प्राणवाच्यत्वे प्रज्ञाप्राणयोः सहवृत्तित्वादुपचारोयुज्यते । उत्क्रान्तिश्च । न तु सर्वथा विलक्षणस्य ब्रह्मणः । तस्माज्जीवमुख्यप्राणलिंगयोर्विद्यमानत्वान्न ब्रह्म प्रकरणमिति चेन्न उपासात्रैविध्यात् । अयमर्थः, त्रयाणामपि स्वतन्त्रत्वं वा, लिंगद्वयस्यापि ब्रह्मधर्मत्वमुच्यतामितिवा । आद्यः पूर्वमेव परिहृतः । नहि ब्रह्मधर्मा अन्यपरत्वेन परिणेतुं शक्या इति । द्वितीये दूषणमाह । उपासात्रैविध्यात्, तथा सत्युपासनं त्रिविधस्यात् । तद्वाक्य भेद प्रसंगान्न युक्तम । तृतीयेतूपपत्तिरुच्यते । जीवधर्मा ब्रह्मणि न विरुद्ध्यन्ते, आश्रित त्वात् । जीवस्यापि ब्रह्मधारत्वात् तद्धर्मा अपि भगवदाश्रिता एव । इहेत्युभयत्र सम्बन्धो ब्रह्मवादे । मुख्यप्राणेतु तद्योगात् । तेन योगः तद्योगस्तस्मात् । प्राणधर्मा भगवति न विरुद्धयंते, प्राणस्य भगवत्सम्बन्धात् तद्धर्माणामपि भगवत् सम्बन्धात् । अथवा वक्तृत्वादयो न जीवधर्माः किन्तु ब्रह्मधर्मा एव, जीवे आश्रितत्वादभासते । परात्तुतच्छ्रुतेरिति न्यायात् प्राणेऽपि तथा । स्वाप्ययसंपत्त्योर्जीवस्य ब्रह्माश्रितत्त्वम् । आध्यात्मिकाधिदैविक रूपत्वान्न संयोगः, प्राणस्यतु संयोग एव, तस्मात् सर्वे धर्मा ब्रह्मणि युज्यन्ते ।

"जो प्राण है वही प्रज्ञा है, जो प्रज्ञा है वही प्राण है" इत्यादि में जीव और मुख्य प्राण के वाची प्रज्ञा और प्राण की सहवृत्ति दिखलाई गई, इसलिए

इनकी एकना मानना ही संगत है, ये दोनों साथ ही उत्क्रमण करते हैं। ये ब्रह्म से एकदम विलक्षण नहीं है। इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि इस प्रकरण में जीव और मुख्य प्राण का ही उल्लेख है यह ब्रह्म का प्रकरण नहीं है। इनका इस प्रकरण में किस रूप से उल्लेख है यह विचारणीय है क्या जीव और मुख्य प्राणवाची ब्राह्म धर्मों की जीव परता है अथवा तीनों की स्वतन्त्रता है अथवा उभयवाची शब्दों की ब्राह्म धर्म रूप से विवृत्ति है ? प्रथय बात का तो पहिले ही परिहार कर चुके है, ब्राह्म धर्मों को किसी भी अन्य के धर्मों के रूप में नहीं स्वीकारा जा सकता। द्वितीय पक्ष के विषय में सूत्रकार दूषण बतलाते हैं, "उपासात्रैविध्यात्" अर्थात् ऐसा मानने से उपासना तीन प्रकार की सिद्ध होगा। तथा इनके स्वरूप प्रकाशक वाक्यों में भी भेद सिद्ध होगी। इसलिए द्वितीय पक्ष भी संगत नहीं है। तृतीय पक्ष ही सुसंगत है। जीव धर्म, ब्राह्म धर्म में उपपन्न हो सकते हैं, विरुद्ध नहीं है क्योंकि परमात्मा जीव का आश्रय है (अर्थात् अंशी है) इसलिए जीव के धर्म भी भगवदाश्रित ही हैं। सूत्र के इह पद का तात्पर्य है कि दोनों (जीव और मुख्य प्राण) में ब्रह्मवाद में सम्बन्ध होने से ऐक्य है। मुख्य प्राण में जो ब्राह्म धर्मों का आरोप होता है वह भी जीव के योग से ही होता है। इसलिए प्राण धर्म भी भगवद्धर्मों से विरुद्ध नहीं है। प्राण का भगवत्संबंध होने से उसके धर्मों का भी भगवत्सम्बन्ध निश्चित होना है। यदि कहा जाय तो यही कहना समीचीन होगा कि वस्तुतः वे सब ब्राह्म धम ही हैं, जीव धर्म नहीं है', जीव में तो वे ब्रह्माश्रित होने से भासित होते हैं [अर्थात् जीव ब्रह्म का अंश है इसलिए उसमें उनका भास होता है] ब्रह्मसूत्र के द्वितीय अध्याय के तृतीय पाद में "परात्तु तच्छ्रुतेः" सूत्र में परब्रह्म के सकाश से जीवों के कर्त्तृत्व का निरूपण किया गया है। मुख्य प्राण का कर्त्तृत्व भी परब्रह्म के सकाश से है। सुषुप्ति और सम्पत्ति में जीव का ब्रह्माश्रितत्व है। इन अवस्थाओं में जीव का संयोग नहीं होता अपितु अभेद रहता है, क्योंकि ये आध्यात्मिक और आधिदैविक स्थिति है। प्राण का तो संयोग होता है। इससे निश्चित होता है कि समस्त धर्म ब्रह्म के ही हैं।

सहोत्क्रमस्तु क्रियाज्ञानशक्त्योर्भगवदीययोर्देहे सहैव स्थानं सहोत्क्रमणमिति भगवदधीनत्वं सर्वस्यापिबोध्यते। ननु प्राणस्तथानुगमादिति प्राण शब्देन ब्रह्मैव प्रतिपादितं तत्कथं धर्मयोरुत्क्रमणमिति चेत्। अत्र धर्मं धर्मिणोरेकत्वपृथकत्वनिर्देशयोर्विद्यमानत्वात् । प्राणोवाअहमस्मिन्

प्रज्ञात्मेति । अत्र क्रियाज्ञान शक्तिमान् निर्दिष्टः । तदन्वेकैकस्य धर्मस्य प्रशंसा, "यो वै प्राणः सा प्रज्ञा, या प्रज्ञा स प्राणः" इत्युपसंहाराद् ।

क्रिया और ज्ञान शक्तियाँ भगवदीय हैं' इनका देह के साथ जो उत्क्रमण होता है, वह जीव की ब्रह्माधीनता के कारण है (अर्थात् इन धर्मों का उत्क्रमण ब्रह्म के सकाश होने से ही होता है, तो ये ब्राह्म धर्म, जीव ब्रह्म के अधीन है इसलिए ये जीव के साथ उत्क्रमण करते है ; ब्राह्म धर्म के रूप में) शंका होती है कि "प्राणस्तथानुगमात्" सूत्र में तो प्राण शब्द से ब्रह्म का ही प्रतिपादन किया गया है तब फिर, धर्म के उत्क्रमण की ही बात कैसे कही जा सकती है ? (समाधान) इस प्रसंग में धर्मि और धर्म की एकता और भिन्नता बतलाई गई है (अर्थात् भिन्नाभिन्नता बतलाई गई है) जैसे कि-"प्राणो वा अहमस्मिन् प्रज्ञात्मा" इत्यादि । इसमें क्रियाज्ञान शक्तिमान् का निर्देश किया गया है ।" यो वै प्राणः सा प्रज्ञा" इत्यादि में परस्पर एक-एक के धर्म की प्रशंसा करते हुए प्रकरण का उपसंहार किया गया है ।

पुनस्तयोरेवोत्क्रमणप्रवेशाभ्यां सह ह्येवास्मिन् । शरीरे वसतः सहोत्क्रामत इत्युपक्रम्य सुषुप्तिमूर्छामरणेषु प्राणाधीनत्वं सर्वेषामिन्द्रियाणामुक्त्वा आसन्यव्यावृत्वर्थं प्रज्ञयैक्यं प्रतिपाद्योपसंहरति ।

पुनः इसी प्रकरण में इन दोनों का उत्क्रमण और प्रवेश भी साथ बतलाते हुए, इस शरीर में दोनों का वास कह कर दोनों के सहोत्क्रमण का उल्लेख किया गया है और सुषुप्तिमूर्छामरण अवस्थाओं में भी इन्द्रियों की प्राणाधीनता बतलाकर प्राण और प्रज्ञा की एकता का प्रतिपादन करते हुए उपसंहार किया गया हैं ।

पुनर्ज्ञानशक्तेरुत्कर्षंवक्तुं--"अथखलु यथा प्रज्ञायाम्" इत्यारभ्य "नहि प्रज्ञापेतोऽर्थः कश्चन् सिद्ध्येत्" इत्यन्तेन ज्ञानशक्त्युत्कर्षं प्रतिपाद्य धर्ममात्रत्व निराकरणाय ज्ञानशक्तिमंतं भगवन्तं निर्दिशति, नहि प्रज्ञातव्यमित्यारभ्य "मन्तारंविद्यात्" इत्यन्तेन । तदनु ज्ञानक्रियाशक्त्योर्विषयभूत भूतमात्रारूप जगतो भगवदभेदं प्रतिपादयन्" स एष प्रज्ञात्माऽनंदोऽजरोऽमृतः" इत्युपसंहरति ब्रह्म धर्मैः । अतः क्रियाज्ञानविषयरूपो भगवानेवेति प्रतिपाद्य न तावन्मात्रं ततोऽप्यधिक इत्येकोपासनैव विहिता । तस्माज्जडजीवरूपत्वात् सर्वात्मकं ब्रह्मैवेति महावाक्यार्थः सिद्धः ।

पुनः इस प्रकरण में ज्ञान शक्ति का उत्कर्ष दिखलाने के लिए "अथ खलु यथा प्रज्ञाय" से प्रारम्भ करके "नहि प्रज्ञापेतोऽर्थः कश्चन् सिद्ध्येत्" इस अन्तिम वाक्य तक ज्ञानशक्ति का उत्कर्ष दिखलाकर केवल धर्ममात्र के निराकरण के लिए ज्ञानशक्तिमान भगवान का "नहि प्रज्ञातव्यम्" से प्रारम्भ कर "मतारंविद्यात्" तक निर्देश किया गया है। इसके बाद ज्ञान क्रिया शक्ति के विषय भूत पंचमहाभूत और पंचतन्मात्रा रूप जगत का भगवान से अभेद बतलाने के लिए "स एष प्रज्ञात्मा" इत्यादि ब्राह्म धर्मों का उल्लेख करते हुए प्रकरण का उपसंहार किया गया है। इस प्रकार, क्रिया ज्ञान रूप भगवान ही हैं ऐसा प्रतिपादन करके, वे इतने ही नहीं है, उससे भी अधिक हैं, ऐसा भाव दिखलाते हुए अद्वैत उपासना का विधान किया गया है। इससे सिद्ध होता है कि जड जीव रूप होने से सर्वात्मक ब्रह्म ही है, यही महावाक्य का तात्पर्य है।

प्रथम अध्याय प्रथमपाद समाप्त
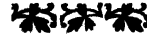
प्रथम अध्याय

द्वितीय पाद

सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात् ।१।२।१।।

समन्वये प्रथमेऽध्याये सर्वेषां वेदान्तानां ब्रह्मणि समन्वयोवक्तव्यः। तत्रोद्गीथाद्युपासनावाक्यानां मुख्यवाक्येषु फलोपकार्यङ्गत्वम् । ब्रह्म वाक्यानां निःसदिग्धानां समन्वयः स्वतः सिद्धः । संदिग्धानि द्विविधानि शब्दतोऽर्थतोवा । ब्रह्मणि व्यवहारोऽस्ति कश्चिन्नवेति । तत्र प्रथम सूत्र व्यवहारः स्थापितः । "यतो वाचो निवर्त्तन्ते" इत्यादीनां विशेषेणेदमित्थतया निरूपण निषेधपरत्वम् । एवमेव कार्यसिद्धेः । अधीतानां ब्रह्मवाक्यानां चतुर्लक्षण्या ब्रह्मपरत्वे सिद्धे श्रवणं सिद्धयति । श्रुतस्यकालान्तरेऽप्यसंभावनाविपरीतभावनानिवृत्यर्थं पूर्वस्थितानामंगानामनपेक्षितानामुदवापेनान्येषामपेक्षितानामावापेन तस्यैवार्थस्य निर्द्धारणेमननं भवति ।

समन्वय के निर्द्धारक प्रथम अध्याय में समस्त वेदांत वाक्यों का ब्रह्म में ही समन्वय दिखलाया गया है। तथा उद्गीथ आदि उपासनाओं के समर्थक वाक्यों की मुख्यब्रह्म परक वाक्यों में फलोपकार्यता बतलाई गई है। असंदिग्ध ब्रह्म निरूपक वाक्यों का समन्वय तो स्वतः सिद्ध है। संदिग्ध वाक्य दो प्रकार के हैं, शब्द संबंधी और अर्थ संबंधी। अब प्रश्न होता है कि इन संदिग्ध वाक्यों का ब्रह्म में व्यवहार संभव है या नहीं ? सो प्रथम सूत्र में ही व्यवहार की संभावना का निरूपण कर चुके हैं। "यतोवाचो निवर्त्तन्ते" इत्यादि वाक्यों में "यह ऐसा है" इत्यादि निश्चयात्मक निरूपण का ही निषेध किया गया है। इसी प्रकार श्रवण आदि कार्य सिद्धि परक "आत्मा वारे" आदि वाक्यों का भी निरूपण है। चार प्रकार के अधीत ब्रह्मवाक्यों की ब्रह्मपरता सिद्ध हो जाने पर श्रवण तो स्वयं ही सिद्ध हो जाती है। श्रुतवाक्यों की कालान्तर में असंभावना और विपरीत भावना की निवृत्ति के लिए, पूर्वस्थित अनपेक्षित अंगों के उद्वाप तथा अन्य अपेक्षित अंगों के आवाप से उसी अर्थ का निर्धारण होने निश्चित मनन होता है।

[जो शब्द जिस अर्थ की प्रतीति करा रहे हैं, उनका अन्य रूप से अर्थ करना उद्वाप तथा अन्यरूप से अर्थ प्रतीत कराने वाले वाक्यों का स्वाभाविक अर्थ करना आवाप है]

ततोऽप्येवं ध्यानादिसमाध्यन्तरूपनिदिध्यासनरूपं मनसि सर्वतो निवृत्त व्यापारे स्वयमुपलब्धनिजसुखामुभवरूपं ब्रह्म। इदमेव ब्रह्मज्ञानमिति। अन्तः दृशस्यानुभवैकवेद्यत्वाद्युक्तमविषयत्वम्, पाक भोजनतृप्तिवत्।

और ऐसे ध्यान धारणा समाधिरूप निदिध्यासन से, समस्त जागतिक व्यापारों से निवृत्त मन में, स्वाभाविक रूप से स्वतः उपलब्ध जो निजसुखानुभूति होती है वही ब्रह्म है, इसे ही ब्रह्म ज्ञान कहते हैं। अन्तःकरण से दृष्ट अनुभव मात्र से वेद्य होने से ही इसे वाणी का अविषय कहा गया है जैसे कि मिष्टान्न भोजन की तृप्ति वाणी से अकथ्य होती है।

अतः श्रवणाङ्ग मीमांसायां माहात्म्यज्ञानफलायां भगवद्वाक्यानामन्यपरत्वेऽन्यवाक्यानांच भगवत्परत्वे दिव्यधर्मादिव्यधर्मव्यत्यासेन वैपरीत्यं फलमापद्येत। तदर्थं दिव्यधर्मनिर्धारो द्वितीयाधिकरणेविचारितः। वेदा एव वाचकाः अलौकिकमेव कर्मेति। ततः पूर्णालौकिकत्वाय विधिनिषेधमुखेनाधिकरणद्वयम्। समन्वयेक्षतिरूपन् तदनुप्रथमेपादे शाब्दसंदेहो निवारितो निश्चितार्थे। तत्रापि प्रथमं प्रत्ययसंदेहो निवारितो द्वयेन। प्रकृतिसंबंधोऽप्याधिकरणत्रयेण, पुनरन्तिमधिकरणं संश्लेषनिराकरणाय एवं प्रथमे पादे शब्द संदेहो निवारितः।

प्रथम पाद के द्वितीय अधिकरण में श्रवण के अंग मनन आदि की मीमांसा तथा माहात्म्य ज्ञान का फल निरूपण करते हुए भगवद्वाक्यों का अन्यार्थ तथा अन्य वाक्यों का भगवत्परक अर्थ करने से दिव्य धर्म और अदिव्य धर्म का उलट फेर होने से विपरीत फल हो जाता है, इसलिए दिव्य धर्म का विशेष रूप से निर्धारण किया गया है। वेद ही परब्रह्म के स्वरूप के निर्धारक हैं परब्रह्म के कर्म अलौकिक हैं, उनकी पूर्ण अलौकिकता को विधि निषेधात्मक वाक्यों से दो अधिकरणों में दिखलाया गया है। "एकोऽहंबहुस्याम" इत्यादि ईक्षण विधायक वाक्यों में ही ब्रह्म परक वाक्यों का समन्वय किया गया है। उसके प्रथम पाद में निश्चितार्थ की स्थापना करते हुए शब्द संदेह का निवारण किया गया है, उसमें भी प्राथमिक दो सूत्रों से प्रत्यय संदेह का निवारण किया गया है। तीन अधिकरणों से प्रकृति का संबंध

दिखलाया गया है, अन्तिम अधिकरण में परब्रह्म के प्राकृतिक संश्लेष का निराकरण किया गया है इस प्रकार प्रथम पाद शब्द संदेह का निवारक है।

ये पुनः क्वचित् सगुणनिर्गुणभेदं प्रतिपादयंति, ते स्वयमेव स्वस्य ब्रह्मजिज्ञासानधिकारं बोधयंति, ब्रह्मवादे सांख्यानामिव गुणानामंगीकारात्। भौतिक गुणानाम संबंधार्थमेव ह्यध्यायारम्भः अन्यथा सर्वस्यापि तत्कारणत्वेन तत्संबंन्धस्य विद्यमानत्वादन्यनिराकरणेन तत्प्रतिपादकत्वनिर्धारकाधिकरणानां वैयर्थ्यमेव।

जो लोग ब्रह्म के सगुण निर्गुण भेद का प्रतिपादन करते हैं, वे स्वयं अपने ही ब्रह्म जिज्ञासा के अनधिकार को बतलाते हैं, क्योंकि वे सांख्यवादियों की तरह, ब्रह्मवाद में गुणों को स्वीकारते हैं। ब्रह्म में भौतिक गुणों से कोई सम्बन्ध नहीं है, ये बतलाने के लिए ही अध्याय का आरंभ किया गया है। यदि ऐसा नहीं मानेंगे तो, समस्त विश्व का कारण वह ब्रह्म ही तो है सब कुछ उससे सम्बन्धित है, अन्य का निराकरण करने से, ब्रह्म के अस्तित्व को बतलाने वाले अधिकरण व्यर्थ हो जावेंगे [अर्थात् भौतिक गुण तो वस्तुतः नित्य नहीं है उनका ध्वंस हो जाता है यदि भौतिक गुणों से परमात्मा का सम्बन्ध मानेंगे तो परमात्मा का ध्वंस भी स्वीकारना पड़ेगा]

अर्थसंदेह निराकरणार्थं द्वितीयाद्यारम्भः, तत्रार्थो द्विविधो जीवजडात्मकः प्रत्येक समुदायाभ्यां त्रिविधः, तत्र प्रथमं जीवपुरःसरेण संदेहा निवार्यन्ते।

अर्थ संदेह का निराकरण करने के लिए द्वितीय पाद के प्रथम अधिकरण को प्रस्तुत करते हैं, अर्थ, जीव और जड भेद से दो प्रकार का है, इनके प्रत्येक के तीन भेद हैं। इनमें से सर्व प्रथम जीव सम्बन्धी अर्थ का संदेह निवारण करते हैं।

इदाम्नायते "सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति, शांत उपासीत—" अथखलु क्रतुमयः पुरुषो यथा क्रतुरस्मिल्लोंके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति, स क्रतुंकुर्वीत मनोमयः प्राण शरीर" इत्यादि। तत्र वाक्योपक्रमे "सर्वं खल्विदं ब्रह्मेति" सर्वस्य ब्रह्मत्वं प्रतिज्ञाय, "तज्जलानिति" सर्वं विशेषणं हेतुत्वेनोक्त्वा तत्त्वेनोपासनमुक्तम्।

ऐसा वचन आता है कि - "यह सब कुछ ब्रह्म स्वरूप है, उन्हीं से उत्पन्न और उन्हीं में लीन है" यह पुरुष कर्ममय है, इस लोक में जैसा कर्म करता है

वैसा ही मरने के बाद होता है, वह मनोमय प्राण शरीर से कर्म करता है" इत्यादि। इस वाक्य के उपक्रम में "सर्वंखलु" इत्यादि से समस्त जगत के ब्रह्मत्व को बतलाने के लिए "तज्जलानि" से समस्त विशेषण को हेतुरूप से बतलाकर, तत्त्वरूप से उपासना का निर्देश किया गया है।

न चायं शमविधिः, वाक्यार्थे लक्षणा प्रसंगात्कारणत्वेन सामान्यत एवं सिद्धत्वाच्च। अतः सर्वं जगतो ब्रह्मत्वेनोपासनमुक्तम्। इदमेव पुराणादिषु विराट्त्वेनोपासनम्। अत परमग्रिमवाक्यार्थे संदेहः, क्रतुं कुर्वीतेति, क्रतु धर्मो यज्ञ इति यावत्। तस्य स्वरूपं मनोमयः प्राणशरीर इति।

इस प्रकरण में शमविधि का उल्लेख नहीं है, ऐसा मानने में वाक्यार्थ में लक्षणा करनी पड़ेगी। कारण रूप से मानना ही सामान्य सिद्ध अर्थ है। यही मानना समीचीन है कि समस्त जगत की ब्रह्मत्व रूप से उपासना बतलाई गई है। पुराणादि में इस जगत की विराट रूप से उपासना बतलाई गई है। इसका रहस्य अग्रिम वाक्यार्थ में स्पष्ट हो जायगा। इस पर "क्रतुं कुर्वीत" इत्यादि में क्रतु धर्म यज्ञार्थक है ऐसा संदेह प्रस्तुत होता है, उसका स्वरूप मनोमय प्राण शरीर कहा जाता है।

उपासना प्रकरणत्वादुपासनैवेषा, तत्र मनोमय इति प्रमाणभूतो वेद उक्तः। प्राण शरीर इति कार्यकारणयोरभेदोपचारः। अग्रे सत्य संकल्पादि धर्मवचनात्, किमयं विज्ञानमयो जीवो ब्रह्मत्वेनोपास्य, उत ब्रह्मैवान्तर्यामी, यः पुराणेषु सूक्ष्म उक्तः।

यह उपासना का प्रकरण है अतः उपासना का ही वर्णन है, वह भी मनोमय उपासना का है, जिसके वेद प्रमाण हैं। "प्राण शरीर में कार्य कारण का अभेदोपचार है। आगे के प्रकरण में उपास्य के सत्यसंकल्प आदि धर्मों का उल्लेख किया गया है, इस पर संदेह होता है कि—विज्ञानमय जीव को ब्रह्मत्व रूप से उपास्य कहा गया है अथवा अन्तर्यामी रूप से ब्रह्म का उल्लेख किया गया है जिसे कि पुराणों में सूक्ष्म कहा गया है।

तत्र पूर्वं वाक्ये जडस्य जगतो ब्रह्मत्वेनोपासनस्योक्तत्वाज्जीवस्यापि ब्रह्मत्वेनोपासनमेव युक्तं, नत्वाहत्यैव ब्रह्मवाक्यवक्तुमर्हति। विज्ञानं ब्रह्म चेद्वेदेति शाखान्तरे स्पष्टत्वाच्च तस्मात् कार्यकारणयोरभेदाज्जीव एव ब्रह्मत्वेनोपास्यः।

उक्त प्रकरण के पूर्व वाक्य में जड जगत की भी ब्रह्मत्व रूप से उपासना बतलाई गई है, अतः जीव की ही ब्रह्मत्व रूप से उपासना मानना युक्त है, उक्त प्रकरण ब्रह्म परक नहीं हो सकता क्योंकि एक दूसरी शाखा में "विज्ञान ब्रह्म" इत्यादि मे उसे स्पष्ट रूप से विज्ञानमय कहा गया है। कार्य कारण का अभेद होने से जीव को ही ब्रह्मत्व रूप से उपास्य कहा गया है।

इत्येवं प्राप्ते उच्यते, सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात्। अथ खल्वित्यादि ब्रह्म-वाक्यमेव, कुतः ? सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात् कुर्वीत इत्युपदेशो न तूपासना। तत्र परमशान्तस्य सर्वस्य जगतो ब्रह्मत्वेनोपासनया शुद्धान्तःकरणस्य सर्ववेदान्तप्रसिद्धब्रह्मोपदेश एव युक्तो मननरूपो, न तु क्वचित् सिद्धस्य जीवस्योपासना।

शाखान्तरेत्वग्रे आनन्दमयस्य वक्तव्यत्वात्तथायुक्तम् नत्विह तथा, तस्मादानन्द रूप प्राण शरीर रूपो वाक्यार्थः।

उक्त संशय पर "सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात" सूत्र प्रस्तुत करते हैं "अथ खलु" इत्यादि ब्रह्म वाक्य ही है, क्योंकि सब जगह ब्रह्म को ही अन्तर्यामी रूप से बतलाया गया है। वाक्य का कुर्वीत पद उपदेश परक है उपासना परक नहीं। उसमें समस्त जगत की ब्रह्मत्वरूप से परम शांत शुद्धान्तःकरण की उपासना का उल्लेख है वेदांतों में सर्वत्र ब्रह्मोपदेश की ही मननरूपा उपासना की प्रसिद्धि है, कहीं भी जीव की उपासना की प्रसिद्धि नहीं है।

इसी प्रकरण में आगे की शाखा में आनन्दमय की उपासना बतलाई गई है जिससे यही बात निश्चित होती है, यहां भी आनन्दमय रूप प्राण शरीर का वर्णन किया गया है।

ननु क्रतुमयः पुरुष इति यथासंकल्पमग्रिमदेहकथनाल्लोकान्तर भाविफलार्थमन्योपासनैव तु युक्ता, न तु ब्रह्मज्ञानस्य तादृशं फलंयुक्तमित्या-शंक्य परिहरति।

"क्रतुमयः पुरुषः" में संकल्पानुसार अग्रिम देह प्राप्ति की बात कही गई है, जिससे लोकान्तरभावी फल की बात सिद्ध होती है, इसलिए जीवो-पासना मानना ही युक्त है, ब्रह्मज्ञान का वैसा फल सम्भव नहीं है, इस संशय का परिहार करते हैं—

विवक्षिता गुणोपपत्तेश्च ॥१।२।२॥

विवक्षिता लोकान्तरे तादृशरूप प्राप्तिः, सा प्रकृते अप्युपपद्यते, भगवत्स्वरूपालाभात् सारूप्यलाभाद्वा, न च व्याप्तिरुक्तेत्यधमप्राप्तयुपायो युक्तः। सत्य संकल्पादिवचनं न ब्रह्मवाक्यत्वपोषकमिनि चकारार्थः।

उक्त प्रसंग में, लोकान्तर में वैसी रूप प्राप्ति होती है यही अर्थ विविक्षित है, यह प्रकृति रूप से भी हो सकती है, वह चाहे भगवत् स्वरूप प्राप्ति हो या उनके समान प्राप्ति हो। व्याप्ति की उक्ति से, अधम शरीर की प्राप्ति के उपाय की बात मान लेना संगत नहीं है। सूत्र में किया गया चकार का प्रयोग बतलाता है कि सत संकल्प आदि गुणों को बतलाने वाला वाक्य भी ब्रह्मस्वरूप बोधक वाक्य का ही पोषक है।

नन्वेतावतापिनैकान्ततो ब्रह्मवाक्यत्वमुपपत्तेरुभयत्रापि तुल्यत्वादित्याशंक्य परिहरति।

केवल इतना मान लेने मात्र से ब्रह्मवाक्यत्व की एकान्तता निश्चित नहीं होती, प्रायः जीव और ब्रह्म दोनों के गुणों के विधायक वाक्य समान रूप से प्राप्त होते हैं, इस संशय का परिहार करते हैं—

अनुपपत्तेस्तु न शारीरः ॥१।२।३॥

न च प्राणशरीर रूपो जीवो भवति। तिरोहितानन्दत्वेन निराकारत्वात् अध्यासेनतथात्वेत्वनुपास्यत्वमेव। इदानीमेवोपासकस्यापितथात्वात्। न च प्राणोदेलौकिकत्वम् उपदेशानर्थक्य प्रसंगात्, अत आनन्दरूप निवृत्तत्वात् तु शब्दः। विज्ञानमयेतु प्राप्ताप्राप्तविवेकेन धर्मस्यैवोपासना।

प्राण शरीर रूप वाला, जीव नहीं होता। छिपे हुए आनन्द और निराकार होने से केवल अध्यास के आधार पर जीव में वैसी अर्हता सम्भव नहीं है, इसलिए उसका अनुपास्यत्व तो निश्चित ही है। जिस प्राण के उपास्यत्व की चर्चा है वह लौकिक प्राणवायु सम्बन्धी नहीं है, जीव को प्राण शब्द मात्र से सम्बोधित किये जाने से उपास्य नहीं कहा जा सकता वह जीव उपासक कहा गया है, वही उपास्य रूप हो ऐसा सम्भव नहीं है, यदि उपास्य और उपासक को एक मान लेंगे तो, उपासना का प्रवचन निरर्थक सा हो जायगा। जीव में, आनन्द रूप प्राण शरीरत्व का अभाव है, इसलिये उक्त वाक्यार्थ जीव परक नहीं हो सकता। सूत्र का तु शब्द पूर्वपक्ष का निवारक है। विज्ञानमय के प्रसंग में तो धर्म की ही उपासना का वि य

है उसमें प्राप्त अप्राप्त का विवेक किया जाय तो ऐसा ही निर्णय होता है। अर्थात् "विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" और 'विज्ञानं यज्ञं तनुते" इत्यादि में ब्रह्म और जीव को विज्ञान स्वरूप कहा गया है परन्तु इस विज्ञान स्वरूप को प्राप्त नहीं कहा गया है, अपितु उनके आनन्द धर्म को प्राप्त कहा गया है अतः उस धर्म की ही उपासना माननी चाहिये।

ननु प्राप्तव्यतादृशरूप फलाभिप्रायं भविष्यतीति परिहरति।

आनन्द स्वरूप को ही प्राप्तव्य कहा गया है, जो कि फलाभिप्राय से हो सकता है, इस संशय का परिहार करते हैं।

कर्मकर्तृव्यपदेशाच्च ।१।२।४।।

एतमितः प्रेत्याभिसंभवितास्मि, इति, यस्य स्यादद्धा न विचिकित्सा-स्तीति ह स्माह शांडिल्य इत्यग्रे फलवाक्यम्। एतं प्राणशरीररूपं कर्मत्वेन, ध्येयत्वेन, प्राप्यत्वेन च व्यपदिशति। कर्तृत्वेन च शारीरं व्यपदिशति। न च भजनीयरूपाकथने तादृशं फलं सिद्धयतीति चकारार्थः। अधिकरणसंपूर्ण-त्वद्योतकश्च।

"एतमितः प्रेत्याभिसंभवितास्मि" इत्यादि के आगे फलवाक्य है जिसमें प्राण शरीर को कर्मत्व ध्येयत्व और प्राप्यत्व रूप से दिखलाया गया है। जो भजनीय तत्त्व है, उससे एकत्व प्राप्ति की बात कैसे संगत हो सकती है, यही बात चकार के प्रयोग में बतलाई है चकार का प्रयोग अधिकरण की पूर्णता का द्योतक भी है।

शब्द विशेषात् ।।२।५।।

इदमाम्नायते "यथा व्रीहिर्वायवोवा श्यामाकोवा श्यामाकतण्डुलो वैवमयमंतरात्मन् पुरुषो हिरण्मय इति" तत्र संशयः, हिरण्मयः पुरुषः किं जीवः उत ब्रह्मेति? उपक्रम बलीयस्त्वे जीवः, उपसंहार बलीयस्त्वे ब्रह्मेति। यत्रैकस्यान्य परत्वेनैकार्थता संभवति तद्बलीयस्त्वमिति सिद्धं पूर्वतन्त्रे। तत्र चतुर्विधभूतनिरूपणार्थं जीवस्यैवाराग्रमात्रस्यान्तर्हृदये प्रतिपादकमिदं वचनं, फलतो हिरण्मयत्वमिति, नत्वेतादृशाभाससमानत्वंब्रह्मणो युक्तमतो जीव प्रतिपादकमेवेदं वाक्यम्।

ऐसा उपनिषद् वाक्य है कि—"जैसे व्रीहि, यव श्यामक या श्यामाक तंडुल हैं वैसे ही बीज रूप से यह अन्तर्यामी पुरुष हिरण्मय है" इस पर संशय होता है कि यह हिरण्मय पुरुष जीव है या ब्रह्म ? यदि प्रकरण के उपक्रम की श्रेष्ठता माने तब तो जीव समझ में आता है और यदि उपसंहार की श्रेष्ठता माने तो ब्रह्म समझ में आता है। पूर्व मीमांसा के अनुसार तो उपक्रम आदि समस्त के अनुसार वाक्य की एकार्थता होती है उसे ही श्रेष्ठ मानते हैं। उक्त प्रकरण में चार प्रकार के भूत समुदाय के निरूपण के लिए जीव के ही सूक्ष्मतम रूप का हृदयान्तवर्ती रूप से प्रतिपादन किया गया है इसकी इस प्रकार की उपासना के फलस्वरूप हिरण्मयता प्राप्त होती है यही दिखलाया गया है। इस प्रकार की भासमानता ब्रह्म की मानना संगत नहीं है, यह तो जीव का प्रतिपादक वाक्य ही है।

इति प्राप्ते उच्यते-शब्दविशेषात्। हिरण्मयः पुरुषो न जीवस्य फलमपि, तत्प्राप्तेरेव फलत्वात्। नाप्ययंनियमस्तस्यामेव मूर्त्तौलय इति। अतः शब्देनैव विशेषस्योक्तत्वान्न हिरण्मय. पुरुषो जीवः।

उक्त मत पर सिद्धान्त रूप से शब्द विशेषात् सूत्र प्रस्तुत करते हैं। हिरण्मय की आनन्दमयता अन्यान्य प्रकरणों में बतलाई गई है और उसे ही प्राप्य कहा गया है वही उसकी फलता है इसलिए जीव को इस रूप में नहीं माना जा सकता। ऐसा नहीं मान सकते कि जीव उस आनन्दमय ब्रह्म में लीन हो जाता है, क्योंकि ऐसा शास्त्र नियम नहीं है, आनन्दमय प्रकरण में सुस्पष्ट रूप से "ब्रह्मणः सलोकतामाप्नोति, सार्ष्टितां समानलोकतामाप्नोति य एवं वेदेति" इत्यादि वचनों से चतुर्विध मुक्ति का उल्लेख है। इस प्रकार शास्त्र में ब्रह्म का विशेषोल्लेख किया गया है, इसलिए हिरण्मय पुरुष जीव नहीं है।

ननु हृदये विद्यमानत्वादभिमान्येव जीव युक्त इति चेत् तत्राह—

हृदय में स्थित होने से जीव को ही हृदय का अभिमानी देवता मानना संगत होगा, इस तर्क का उत्तर देते हैं—

स्मृतेश्च ॥१।२।६॥

"ईश्वरः सर्व भूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति" इति। ननुसर्ववेदानांयन्निःश्वासत्वं तस्य भगवतो वाक्यं कथं स्मृतिः ? इति-उच्यते "तं त्वौपनिषदं

पुरुषंपृच्छामि" इति श्रुतेः केवलोपनिषद्वेद्यं ब्रह्म न प्रमाणान्तरवेद्यम् । ततश्चार्जुनस्य शिष्यरूपेण प्रपन्नस्य पुष्टि भक्तत्वाभावाद् भगवद्वाक्ये निर्विचिकित्सविश्वासाभावाद् रथित्वेनैव स्थाप्यत्वान्न तादृशाय तादृशदेश-कालयोरुपनिषदामवक्तव्यत्वाद् गुरुरूप तादृशरूपं निश्वसितवेदोद्गमजनकं स्मृत्वा, तदर्थमपि स्मृत्वा भगवान् पुरुषोत्तमो वाक्यान्युक्तवान् स्मृतिरूपाणि ।

"हे अर्जुन ! ईश्वर समस्त भूतों के हृदय स्थल में बैठा है" इस प्रकार स्मृति में भी भगवान ने स्वयं ब्रह्म को हृदय का अभिमानी देवता कहा है । संशय होता है, कि समस्त वेदों को तो भगवान के निःश्वास कहा गया है, फिर भगवद् वाक्य गीता को स्मृति कैसे कहा ? (समाधान) "मैं उस औपनिषद् पुरुष को पूछता हूँ" इस श्रुति में, ब्रह्म को केवल उपनिषद् वेद्य कहा गया है, अन्य प्रमाणों से वेद्य नहीं कहा है । परन्तु पुष्टि भक्तिभाव से शरणागत शिष्य अर्जुन के पूछने पर, रथ में उपस्थित होने के कारण, देशकाल को देखते हुए कि—इस स्थिति में उपनिषद् का उपदेश देना उचित नहीं है, गुरुरूप उन पुरुषोत्तम भगवान ने निःश्वसित वेदों के तत्त्वों का और उनके अर्थों का स्मरण करके, स्मृति रूप वाक्यों का प्रवचन किया ।

ततोब्रह्म विचारे तान्यप्युदाहृत्य चिन्त्यते । पुनश्च भगवांस्तदधिकारेण ब्रह्म विद्यां निरूप्य स्वकृपालुतया सर्वगुह्यतममित्यादिना भक्तिप्रपत्ती एवोक्तवान्, अतोंऽगत्वेन पूर्वं सर्वनिर्णयाउक्ता इत्यध्यवसेयम् । तथैवार्जुन विज्ञानात् "करिष्येवचनं तव" इति । चकारात् तन्मूलभूतनिश्वासोऽप्युच्यते, व्यासस्यापि भगवज्ज्ञानांशत्वाददोषः ।

इसीलिए, ब्रह्मतत्त्व के विचार में गीता को भी उदाहरण रूप से उपस्थित करते हैं । भगवान ने गीता में पात्र के अधिकारानुसार ब्रह्मविद्या का निरूपण करके अपनी विशेष कृपा से गुह्यतम भक्तिप्रपत्ती का भी प्रवचन किया है । ज्ञान कर्म आदि सब इस भक्ति प्रपत्ती के अंगमात्र हैं, ऐसा पहिले ही निर्णय किया जा चुका है । वैसा ही हमें अर्जुन के इस कथन से "आपके वचनों का पालन करूँगा" से ज्ञात होता है । सूत्र में किये गये चकार के प्रयोग से यह अर्थ स्फुटित होता है कि—वेदों के मूलभूत गीता स्वरूप निःश्वासों से भी उक्त वैदिक कथन की पुष्टि होती है । यदि कोई कहे

कि गीता तो व्यास देव की रचना है तो व्यासजी ने भी भगवान के ज्ञानांश का ही संकलन किया है, इसलिए उक्त संशय का कोई स्थान नहीं है।

उपक्रमबलीयस्त्वमाशंक्य परिहरति।

उपक्रम की श्रेष्ठता से जीव की हिरण्मयता ही निश्चित होती है इस संशय का परिहार करते हैं—

अर्भकौकस्त्वात्तद्व्यपदेशाच्च नेति चेन्न निचाय्यत्वादेवं व्योमवच्च ।१।२।७।।

ननु व्यापकस्येश्वरस्य हृदयदेशस्थितिरयुक्ता, व्रीह्यादिरूपत्वं च। अतोऽर्भकमल्पकमोको हृदयस्थानं यस्य तत्त्वाद् व्रीह्यादितुल्यत्वाच्च न परमात्मावाक्यार्थ इति चेन्न, निचाय्यत्वात्। पूर्वं प्रथमदूषणं परिहरति। हृदये ज्ञातुं शक्यत इति तदायत्वेन प्रतिपाद्यते।

व्यापक ईश्वर की व्रीहि आदिरूप स्थिति और हृदय देश स्थिति असंगत है। अल्प और सूक्ष्म स्थान हृदय में उसकी स्थिति और उस महान तत्त्व का व्रीहि आदि के समान होना समझ में नहीं आता अतः उक्त वाक्य का अर्थ परमात्मा नहीं हो सकता इत्यादि संशय निराधार हैं—क्योंकि वह व्यापक है। पहिले प्रथम दूषण का परिहार करते हैं कि उस व्यापक परमात्मा को हृदय में ही जाना जा सकता है इसलिए हृदय को उसके आयतन रूप से प्रतिपादन किया गया है।

निदिध्यासनानन्तरं हि साक्षात्कारस्तदंतःकरण एवेति निचाय्यत्वम्। भक्तौतु वहिरपीति विशेषः।

निदिध्यासन के बाद ही उनका साक्षात्कार अन्तःकरण में होता है, यही उस व्यापक की महिमा है। भक्ति में बाहर भी उनका साक्षातकार हो जाता है। यह विशेष बात है।

द्वितीयं परिहरति, एवंव्योमवत्, एवं व्रीह्यादि तुल्यतया यत्प्रतिपादनं चतुर्विध भूतान्तरत्वख्यापनाय। यथा चत्वार उपरवाः प्रादेश मात्रा इति। तथा तद्हृदयाकाशे प्रकटस्य सच्चिदानंदस्वरूप सर्वतः पाणिपादान्तस्य-तत्स्वरूपमिति।

पूर्वपक्षसिद्धान्तयोश्चकारद्वयेतादृष्टा वाक्यान्तरे पूर्वपक्षसिद्धान्तयो-राधिक्योपपत्तिसमुच्चयार्थम् । तेन अत एव प्राण इति वदधिकरणान्तरमपि सूचितमिति ।

द्वितीय दूषण का परिहार करते हैं कि वह परमात्मा सूक्ष्म आकाश रूप से समस्त में व्याप्त हैं । ब्रीहि आदि के समान जो उनकी तुल्यता बतलाई गई है वह चतुर्विध भूत समुदाय की अन्तर्यामिता की विज्ञापक है । ब्रीहि आदि चार पौधे 'हृदय के समान समस्त जगत के प्रादेश स्थानीय हैं, यही भाव दिखलाया गया है । चतुर्विध भूत के हृदयाकाश में प्रकट सच्चिदानन्द स्वरूप सब जगह नख से सिख तक व्याप्त हैं । यही भाव है ।

पूर्वपक्ष और सिद्धान्त के निरूपण के लिए सूत्र में दो चकारों का प्रयोग किया गया है । विभिन्न वाक्यों में पूर्वपक्ष और सिद्धान्त की अधिकता का निरूपण किया गया है, इस सूत्र में दोनों का एक साथ उल्लेख किया गया है यही उसका तात्पर्य है । "अत एव प्राण" इस सूत्र की तरह अधिकरण विभिन्नता के सूसक भी हैं ।

संभोगप्राप्तिरिति चेन्न वैशेष्यात् ।१।२।८।।

बाधकमाशंक्य परिहरति । यदि सर्वेषां हृदये भगवान् जीववत् तिष्ठेत् तदा जीवस्येव तस्यापि सुखदुःखसाक्षात्कारस्तत्साधनादिपरिग्रहश्च प्राप्नोतीति चेन्न, वैशेष्यात् विशेषस्य भावो वैशेष्यम् तस्मात् । सर्वरूपत्वमानंदरूपत्वं स्वकर्तृत्वं विशेषः, तद्भावोब्रह्मणि वर्त्तते, न जीवे इति जीवस्यैव भोगो न ब्रह्मण इति । वैशेष्यापवादयमर्थः सूचितः । अपेक्षित एव भोगो, नानपेक्षित इति, न तु तस्य भोगाभाव एव । अग्रिमाधिकरणविरोधात् । यथेन्द्रिया-धिष्ठातृदेवतानाम् । तत्त्वमस्यादिवाक्येन जीवस्यापि तथात्वे तस्यापि तद्वदेव भविष्यति ।

बाधक संशय का परिहार करते हैं । यदि सभी के हृदय में जीव के समान भगवान भी स्थित हैं तो जीव के समान उनको भी सुख दुःख का अनुभव और सुख साधनों के संग्रह तथा दुःख साधनों के निराकरण की इच्छा होगी, ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि भगवान में विशेषता है, वे सभी रूपों में विद्यमान हैं, वे आनन्दस्वरूप हैं, ये सब कुछ उनका ही निर्मित है, सब

कुछ उनमें ही निहित है, जीव में ये सब विशेषतायें नहीं हैं, इसलिए जीव ही इनका भोग करता है, परमात्मा नहीं, ये सारी विशेषतायें अपवाद रूप से एक मात्र उन्हीं में हैं, ऐसा भी नहीं है कि ये भोग उन्हें अपेक्षित नहीं हैं, परन्तु वे भोगों से आबद्ध नहीं हैं। अग्रिम अधिकरण में उनकी भोग हीनता का उपपादन किया गया है उससे यह बात निश्चित हो जाती है। जैसे कि इन्द्रियों के अधिष्ठातृ देवता, इन्द्रियों के भोग के अनासक्त रहते है वैसे ही परमात्मा भी है। तत्त्वमसि आदि वाक्यों से, जीव की भी भगवान के समान स्थित बतलाई गयी है, उस स्थित में जीव में भी अनासक्त भाव संभव है।

अत्ता चराचर ग्रहणात् ।१।२।६।।

कठवल्लीषु पठ्यते "यस्य ब्रह्म च क्षत्रं चोभे भवत ओदनम्, मृत्युयस्योपसेचनम्, क इत्था वेद यत्र स" इति। अत्र वाक्ये ब्रह्मक्षत्रयोरोदनत्वं वदन् यच्छब्दार्थस्य भोक्तृत्वमाह। तत्र संशयः, किं जीवो, ब्रह्म वेति ?

सच्चिदानन्दरूपत्वं सर्वोपास्यत्वं पूर्वाधिकरणद्वयेन सिद्धम्। सर्वं भोक्तृत्वं साधयति। ब्रह्मक्षत्रयोरशक्यबधयोः सर्वभारकस्य च मृत्योर्भक्षयिता जीवो न भवेत्येवेति कथं संदेह इति चेदुच्यते। ओदनोपसेचनरूपकत्वाज्जीव धर्मत्वं, स्थानाज्ञानाच्च, नहि सर्वगतस्य स्वहृदयेऽपि प्रतिभाससानस्य, "क इत्था वेद यत्र स" इत्यज्ञानमुपपद्यते। अलौकिकसामर्थ्याच्च संदेहः।

तत्र निषिद्धत्वाल्लौकिक भोजनवन्निरूप्यमाणत्वात् स्थानाज्ञानाच्च क्वचिदुपासनोपचितालौकिक सामर्थ्यो महादेवादिस्ता भविष्यति। न तु तद् विरुद्ध धर्मा भगवान् भवितुमर्हति, अक्लिष्ट कर्मत्वादि धर्मवान्, तस्माज्जीव नेवो पासनोपचितमहाप्रभावो वाक्यार्थ इति।

कठवल्ली में ऐसा वर्णन मिलता है कि "ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनों जिसके ओदन हैं, तथा मृत्यु जिनकी चटनी है, ऐसे उस महान को कौन जानने में समर्थ है" इस वाक्य में ब्राह्मणक्षत्रिय को भोज्य बतलाते हुए "यत्" शब्द के उल्लेख्य किसी महान का भोक्तृत्व बतलाया गया है, इस पर संशय है कि वह महान कौन है। जीव या ब्रह्म ?

ब्रह्म की सच्चिदानन्दरूपता और सर्वोपास्यता तो पूर्व के दो अधिकरणों में सिद्ध कर दी गई, लगता है अब इसमें उनकी सर्वभोक्तृत्व शक्ति की सिद्धि

कर रहे हैं । समस्त ब्राह्मण क्षत्रियों का बध सामान्य व्यक्ति से संभव नहीं है और सबको मारने वाले मृत्यु को खाने की शक्ति हीजीव में संभव है इसलिए, इस महान को जीव मानने का संशय करना शक्य ही कैसे है ? परन्तु ओदन और उपसेचन का जो वर्णन है वह तो जीव के ही धर्म हैं, तथा जो अज्ञात की बात "क इत्था" इत्यादि से कही गई है वह भी जीव के संबंध में हीं हो सकती है, क्यों कि विभिन्न स्थलों पर जीव के विभिन्न स्थानों का वर्णन किया गया है कोई निश्चित स्थान नहीं है । परमात्मा का तो हृदय निश्चित स्थान हैं, फिर सर्वगत और हृदय में अवभासित होने वाले परमात्मा की अज्ञानता की बात समझ में भी नहीं आती । अलौकिक सामर्थ्य की बात में अवश्य संदेह होता है ।

"न हिंस्यात् सर्व भूतानि" इत्यादि श्रुतियों मे हिंसा को निषिद्ध कहा गया है, परन्तु इस प्रसंग में ओदन रूप से इसे लौकिक सा वर्णन किया गया है जो कि वस्तुतः अलौकिक ही है, ऐसा अलौकिक कर्म महादेव काली अग्नि आदि सामर्थ्यवान देवताओं का भी हो सकता है (अर्थात् निषिद्ध और अलौकिक कर्म सामान्य जीव का संभव नहीं है । महादेव के निषिद्ध भक्षण की बात तो अगस्त्य संहिता के प्रथम अध्याय में महादेव से ही पार्वती ने कहा है—"भक्त्यार्पयन्ति ये मह्यं तवापिपिशितादिकम्, तृप्तिमुत्पादयत्येव विधिनाऽविधिनार्पितम्") महादेव आदि रुद्र देवों से सर्वथा विरुद्ध शान्त, दयालु करुणावरुणालय भगवान ऐसे कदापि नहीं हो सकते । इसलिए, उपासना की दृष्टि से जीव की ही महानता और महाप्रभाव को दिखलाने के लिए ऐसा अलौकिक वर्णन किया गया, प्रतीत होता है ।

एवं प्राप्तेऽभिधीयते-अत्ता चराचर ग्रहणात् । अत्ता भगवान एव, कुतः ? चराचर ग्रहणात् । चरं सर्वप्राणिवधार्थं परिभ्रमन्मृत्युः, अचर ब्रह्मक्षत्र रूपं कस्याप्यचाल्यम्, तयोरत्ता न जीवो भवितुमर्हति ।

तत्राप्यतिशयोदृष्टः स स्वार्थानतिलंघनादिति न्यायात् । अस्मदादि प्रतिपत्त्यर्थं तु लौकिकवद्‌वचनंभोक्तृत्वाय । प्रलयकर्त्तृत्वान्नायुक्तत्वम् । सर्वत्र विद्यमानस्याप्यज्ञायमानत्वात् फलतः स्थानाज्ञानमुक्तम् । ब्रह्मक्षत्रयोऽपि मोक्षापेक्षित्वान्मृत्युसबंधमात्रेण भगवति भोक्तरि प्रवेशार्थं योग्यरूपमेवौदनत्वम् । प्राणानां तत्रैव समबलयान्मृत्युरपि तत्रैव लीनोऽग्रे जन्ममरणाद्यभावाय भगवत्येव प्रविशति । तस्मादस्मिन्वाक्ये ब्रह्मक्षत्रमृत्यूनां भोग्यत्वेन ग्रहणादत्ता भगवानेवेति सिद्धम् ।

उपर्युक्त मत पर सिद्धान्त रूप से "अत्ता चराचर ग्रहणात्" सूत्र प्रस्तुत करते हैं, अर्थात् अत्ता भगवान ही हैं क्यों कि चर अचर सभी को उनका भक्ष्य बतलाया गया है। सभी प्राणियों को मारने के लिए भ्रमण करने वाले मृत्यु और किसी से भी न डिगाये जाने वाले ब्राह्मण और क्षत्रिय रूप चर अचर को भक्षण करने वाला जीव कदापि नहीं हो सकता। समस्त चराचर के भक्षण की बात अतिशय है जो कि महान क्रूरता सी है, परन्तु स्वार्थ से की गई हिंसा ही क्रूरता कहलाती है, जहां स्वार्थ का उल्लंघन कर होती है उसमें क्रूरता की बात लागू नहीं होती, जैसे कि लोक राजकुमार या राज कर्मचारी राजकार्य के लिए दमन दंड आदि स्वार्थ रहित होकर करते हैं, उसमें क्रूरता हिंसा जन्य दोष नहीं होती। यह सारा जगत सृष्टि के पूर्व परमात्मा में ही निहित था इस भाव को लौकिक भक्षण आदि के कथन से स्पष्ट किया गया है, वैसे परमात्मा प्रलयकर्त्ता हैं उस दृष्टि से भी भक्षण की बात असंगत नहीं है। सब जगह विद्यमान होते हुए भी वह सामान्यतः अज्ञात से ही हैं इसीलिए उनके स्थान के अज्ञान की बात कही गई है। ब्रह्म और क्षत्रिय को ओदन रूप कहा गया है वह भी मोक्ष भाव की अपेक्षा से है जैसे कि चावल जब तक अपने रूप से परिवर्त्तित होकर भात नहीं हो जाता तब तक भक्ष्य नहीं होता वैसे ही ये ब्राह्मण क्षत्रिय शरीराभिमान से छूट नहीं जाते तब तक मुक्त नहीं होते, मृत्यु सम्बन्ध मात्र से ही ये बात कही गई है, भोक्ता भगवान में प्रविष्ट होने की योग्यता की बात ही इस कथन से परिलक्षित होती है। प्राणों की एक मात्र गति वे ही हैं, इसलिए मृत्यु की बात भी उन्हीं में संगत होती है। समस्त चराचर जगत उन्हीं में लीन हो जाता है और जन्म मरणादि से छूटकर उनमें ही प्रवेश करता है। इससे निश्चित होता है कि इस वाक्य में जो ब्राह्मण क्षत्रिय के मृत्यु और भोग्यता की बात कही गयी वह भगवान के लिए ही है, ऐसा निश्चित होता है :

ननु किमित्येवं प्रतिपाद्यते। पूर्वपक्षन्यायेन यमोऽन्योवा मृत्युं साधनीकृत्य सर्वं करोतीति जीववाक्यमेव किन्न स्यादित्यत आह—

प्रकरणाच्च ।१।२।१०।।

प्रकरणं हीदं ब्रह्मणः। न जायत इत्यारभ्याऽसीनो दूरं व्रजतीत्यादिना माहात्म्यं वदन्नन्ते, यस्य च ब्रह्म च क्षत्रं चेत्याह। अतः प्रकरणानुरोधात् पूर्वोक्त प्रकारेण ब्रह्मवाक्यत्वमिति, अन्यथा प्रकृतहानाप्रकृत कल्पने स्यातामिति-चकारार्थः।

क्या उक्त वाक्य का ऐसा प्रतिपादन नहीं हो सकता कि प्रभावशाली कोई जीव विशेष ही यम या किसी रोग आदि अन्य साधनों से समस्त जगत को वशंगत कर लेता है, अतः यह जीव सम्बन्धी वाक्य ही है, इस संशय का उत्तर देते हैं—

यह ब्रह्म सम्बन्धी प्रकरण ही है, उक्त प्रकरण में "न जायते" इत्यादि से प्रारम्भ करके "आसीनो दूरं व्रजति" इत्यादि से माहात्म्य बतला कर अंत में "ब्रह्म च क्षत्रं च" इत्यादि कहा गया है अतः इस प्रकार प्रकरण के अनुसार ब्रह्म वाक्यता ही निश्चित होती है सूत्र में किये गये चकार के प्रयोग में तात्पर्य है कि यदि उक्त वाक्य को ब्रह्म परक नहीं मानेंगे तो यह साधारण पराक्रम और साधारण कल्पना मात्र रह जायेगा।

गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि तद्दर्शनात ।१।२।११॥

तस्यैवाग्रे पठ्यते "ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्द्धे, छायातपौ ब्रह्मविदो वदंति पंचाग्नयो ये च त्रिणाचिकेता" इति। किमिदं ब्रह्मवाक्यमाहोस्विदन्यवाक्यमिति। अत्र वाक्यस्योत्तरशेषत्वे जीव प्रकरण पठित्वान्न ब्रह्म वाक्यत्वम्, पूर्वशेषत्वे तु ब्रह्मवाक्मिति प्रकरण निर्णयः। मध्ये पाठादेवं संदेहः। अर्थविचारे तु द्विवचन निर्देशात् पूर्वशेषत्वे बद्धमुक्तजीवौ भविष्यतः, उत्तरशेषत्वेत्विन्द्रियमनसी। उभयथापि न ब्रह्म वाक्यम् द्वयोर्मुख्यत्वेन प्रतिपादनात्। ब्रह्म वाक्यत्वेऽपि न प्रयोजन सिद्धिः।

उपर्युक्त प्रकरण के आगे ही वर्णन है कि "शुभ कर्मों के फलस्वरूप मनुष्य शरीर के भीतर गुहा में छिपे हुए सत्य का पान करने वाले दो हैं, वे दोनों छाया और आतप की तरह विरुद्ध स्वभाव वाले हैं, ऐसा ब्रह्मवेत्ताओं का कथन है, जो कि तीन बार नाचिकेत अग्नि का चयन करेने वाले पंचाग्नि संपन्न ग्रहस्थ हैं "इस पर विचार होता है कि यह ब्रह्म परक वाक्य है अथवा अन्यपरक ? इस वाक्य के उत्तरार्द्ध के शेष में जीव सम्बन्धी वर्णन से तो यह ब्रह्म परक समझ में नहीं आता। पूर्वार्ध के शेष से ही इसे ब्रह्म परक प्रकरण कहा जा सकता है। मध्य के वर्णन से ही संशय उत्पन्न होता है। अर्थ संबंधी विचार करने से द्विवचन के प्रयोग से तथा पूर्वार्ध के अंतिम वर्णन से बद्ध मुक्त जीव का वर्णन प्रतीत होता है। इस प्रकार दोनों ही प्रकार से ब्रह्म परक नहीं समझ में आता क्यों कि दोनों का ही मुख्य रूप से प्रतिपादन किया गया है। इस वाक्य को ब्रह्म परक मान भी लिया जाय तो भी उक्त वर्णनों की संगति नहीं बैठती।

अथ मन्यते, उपनिषत्पाठादन्यत्रानिर्द्धाराज्जीवब्रह्मपरत्वेऽपि यतोरभेदाद् ब्रह्मपरतैव वाक्यस्य युक्तेति, तथापि कस्य निर्णायकत्वं, प्रकरणस्यार्थस्य वेति। उभयोरपि संदिग्धत्वादयुक्तो विचार इति चेत्।

उपनिषद के पाठ के अतिरिक्त यह निश्चित करना कठिन होता है कि यह जीव परक है या ब्रह्म परक किन्तु उन दोनों में अभेद होने से इस वाक्य को ब्रह्म परक मानना ही संगत है। इस प्रसंग में किसे निर्णायक मानें प्रकरण को या अर्थ को ? दोनों में हीं संदेह होने से ब्रह्म परक मानना ही संगत है।

उच्यते—संदेहवारकं शास्त्रं पद शक्त्या तु निर्णयः।
जीवादुत्कर्षशब्देन द्वयोर्वाक्येऽपि न क्षतिः।

उक्त संशय का उत्तर देते हैं कि इस विषय में संदेह का निवारक, शास्त्र ही होता है, संदेह का निर्णय पदशक्ति से ही होता है जीव से उत्कृष्ट शब्द से ही उक्त प्रकरण में संदेह की निवृत्ति हो जाती है इससे दोनों वाक्यों की संगति हो जाती है, कोई क्षति नहीं होती।

गुहातपशब्दाभ्यामित्यर्थः कृतंपिबतावित्यत्रैवं संशयः किं जीवद्वयं निरूपयति आहोस्वित् जीवब्रह्मणी वेति ? तत्र ब्रह्मप्रकरणस्य सामान्यत्वाद्, यस्तु विज्ञानवान् भवतीत्यग्रे विद्वदविद्वतोर्वक्तव्यत्वात् तदर्थमुभयोः प्रथमं निर्देश उचितः। मंत्रेऽपि, ऋतं स्वर्गापवर्गलक्षणं सुखम्। मार्गद्वयस्यापि विहितत्वात् सुकृतलोकत्वम्। गुहातत्त्व विचारो हृदयंवा। जात्यपेक्षया त्वेकवचनम्। परमपरार्द्धं सत्यलोकः तत्रोभयोर्भोगात्। अविद्ययापिहित प्रकाशत्वादविदुषश्छायात्वम्। ब्रह्मज्ञानेनातिप्रकाशत्वादातपत्वं विदुषः। अत एव विदुषः स्वरूप-ब्रह्मविदो वदंति, पंचाग्नयास्त्रिणाकेताश्चेतरम्। इन्द्रियमनसोस्त्वचेतनत्वान्न वाक्यार्थ संगतिः। वाक्यार्थयोगे हि विशेषण निर्णयः। तस्माद्बद्धमुक्त जीवपरतयोपपन्नत्वात् तत्प्रकरणपाठान्न ब्रह्मवाक्यम् इति।

गुह आतप शब्दों से ही सब कुछ स्पष्ट हो जाता है। "ऋतं पिबन्तौ" में ही संशय होता है कि इसमें दो प्रकार के जीवों का वर्णन है अथवा जीव और ब्रह्म का है ? ब्रह्म के सामान्य रूप से वर्णन होने से तथा "जो विज्ञान वान होता है" इस वाक्य के आगे विद्वान और अविद्वान का उल्लेख होने से तो दो जीवों का वर्णन ही समझ में आता हैं। मंत्र में भी, स्वर्ग और अपवर्ग सुख के बोधक, ऋत शब्द का प्रयोग किया गया है। कर्म और ज्ञान दोनों ही

मार्गों को विहित माना गया है अतः कर्मयोगी और ज्ञानयोगी दोनों को ही सुकृत लोक कहा गया हैं। गुहा शब्द का प्रयोग तत्व विचार की दृष्टि से किया गया है अन्यथा सीधे "हृदय" ही कहा जाता। जातिवाचक होने से गुहा शब्द में एक वचन का प्रयोग किया गया है। परंलोक का तात्पर्य परार्द्ध सत्य लोक से है, जहाँ कर्मयोगी और ज्ञानयोगी दोनों ही भोगते हैं। अविद्या से प्रकाश के ढक जाने के कारण ही अविद्वान के छायापन का उल्लेख है तथा ज्ञान से प्रकाशित होने से विद्वान के धूप रूप का उल्लेख है। ऐसे विद्वान के स्वरूप को ही ब्रह्मवेत्ता बतलाते हैं। पंचाग्नि साधक और त्रिणाचिकेताग्नि के साधक भिन्न भिन्न हैं (अर्थात् प्रवृति मार्गी पंचाग्नि साधक तथा निवृत्ति मार्गी त्रिणाचिकेताग्नि साधक हैं) इन्द्रिय और मन तो अचेतन हैं इसलिए उनकी तो इस जगह वाक्यार्थ संगति हो नहीं सकती। वाक्यार्थ के योग में विशेषण ही निर्णायक होता है। इस प्रकार विचार करने से उक्त प्रकरण बद्ध मुक्त जीव सम्बन्धी ही समझ आता है। इस प्रकरण के पाठ से ब्रह्मवाक्यता तो समझ में आती नहीं।

एवं प्राप्ते उच्यते-गुहांप्रविष्टावात्मानौ। गुहा हृदयाकाशः तत्र सकृदेकस्मिन्प्रविष्टौ जीवपरमात्मानावेव। "अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य" इत्युभयोः प्रवेश श्रवणात्। न ह्येकस्मिन हृदयाकाशे जीवद्वयं प्रवेष्टुमर्हति। अर्थस्त्वेवं संभवति। पूर्वाधिकरणे यथाभिलषित भोगो भगवति साधितः। प्रकारान्तरेणापि, "ऋतं सत्यं परं ब्रह्मेति" ऋतसत्ययोर्ब्रह्मत्व प्रतिपादनात् स्वरूपाऽमृतपातारौ। सुकृतमपि ब्रह्मैव, तस्मात् तत्सुकृतमुच्यत इति श्रुतेः। स एव लोकः उपचारात् षष्ठी।

उक्त मत पर सूत्र रूप से सिद्धान्त प्रस्तुत करते हैं, "गुहां प्रविष्टावात्मानौ" इत्यादि। गुहा अर्थात् हृदयाकाश में एक साथ प्रविष्ट जीवात्मा और परमात्मा हैं। "अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य" इत्यादि श्रुति में दोनों के प्रवेश का स्पष्ट उल्लेख है। एक ही हृदयाकाश में दो जीवों का प्रवेश सभव भी नहीं है। यदि एक ही जीवात्मा के दो रूपों के प्रवेश की बात होती तो "जीवात्मानौ" ऐसा प्रयोग किया जाता, केवल आत्मानौ के प्रयोग से तो यही अर्थ सही जँचता है कि दो विभिन्न प्रकार की आत्मायें प्रविष्ट हैं। पूर्व के अधिकरण में यथेच्छ भोग की साधना ही बतलाई गई है। प्रकारान्तर से भी "ऋतं सत्यं परं ब्रह्मेति" कह कर ऋत और सत्य को ब्रह्म स्वरूप ही

निश्चित किया है। इसी स्वरूपामृत को पान करने वाले दोनों का उल्लेख है। सुकृत शब्द भी ब्रह्म के लिए ही कहा गया है "तत्सुकृतमुच्यते" ऐसा श्रुति प्रमाण भी है। वही लोक है। सुकृतस्य में जो षष्ठी विभक्ति के प्रयोग है वह "राहोःशिरः" की तरह भेदोपचारक है [औपचारिक है]

अक्षरं वा परमपरार्द्धोपरि तत्रत्यानां परिदृश्यमानत्वात् छाया प्रति सारूपं सायुज्यं गतस्य जीवस्यापितथात्वात् ततोऽपि विशिष्टं ब्रह्म प्रकारानन्दत्वादातपः परोक्षवादः। काण्डत्रयेऽपितद्वाद इति त्रयाणां ग्रहणम्। अतो युक्त एवायमिति हि शब्दार्थः।

"परमे परार्द्धे" का तात्पर्य अक्षर से है, इसमें जो सप्तमी विभक्ति का प्रयोग है वह "वृक्षाग्रे श्येनः" की तरह औपरिष्टिक सामीप्य का द्योतक है, जिससे परम परार्द्ध के ऊपर स्थित भगवान के अक्षर लोक का बोध होता है। उस लोक में दीखने वाले परमात्मा और जीवात्मा की भिन्न स्वरूप स्थिति को बतलाने के लिए छाया और आतप रूप से वर्णन किया गया है जो कि परोक्षवाद है। अर्थात् परमात्मा की छाया पड़ने से उन्हीं के समान रूप वाला होकर उनकी बराबरी प्राप्त कर जीव भी वैसा ही हो गया, विशिष्ट ब्रह्म प्रकट आनन्द वाला होने से ही उसे आतप स्वरूप कहा गया है। वेद के तीनों ही काण्डों में परोक्षवाद है। सूत्र में किया गया हि शब्द का प्रयोग "यह अर्थ ही संगत है" ऐसा निश्चयार्थक है।

नन्वप्रकृतत्वात् कथमेवमिति तत्राह-तद्दर्शनात् तयोदर्शनं तद्दर्शनं, जीवब्रह्मणोः प्रतिपादनीयत्वात्। "येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्ये, नायमस्तीति चैके, एतद्विद्यामनुशिष्टस्त्वयाहम्" इति जीवः पृष्टः। "अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात् कृताकृतात्, अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत्तत् पश्यसि तद्वदेति" ब्रह्मापि पृष्टम्। "तत्र ब्रह्म निरूप्य जीवं निरूपयन् उभयोस्तुल्यत्वेन महाभोगं निरूपयन् फलार्थं मध्ये स्वरूपं कीर्त्तयति। अतो ब्रह्मवाक्यमेवैतदिति सिद्धम्।

"आत्मानौ" पद में स्पष्ट रूप से तो जीवात्मा परमात्मा शब्द का परिज्ञान होता नहीं फिर ये ही अर्थ कैसे निश्चित माना जाय, इस संशय पर सूत्रकार "तद्दर्शनात्" पद का सूत्र में प्रयोग करते हैं अर्थात् उपनिषदों में जीव ब्रह्म दोनों का भिन्न रूप से प्रतिपादन किया गया है।

"इस मनुष्य के मर जाने पर इसका क्या रूप होता है ? इस प्रश्न पर, कोई कहता है कि इसका अस्तित्व रहता है और कोई कहता है इसका कोई अस्तित्व नहीं रहता; इस रहस्य को मैं आपसे जानना चाहता हूँ" यह जीव सम्बन्धी प्रश्न है। तथा—"अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मात्" इत्यादि ब्रह्म सम्बन्धी प्रश्न है। इस प्रसंग में ब्रह्म के स्वरूप का निरूपण करके जीव स्वरूप को निरूपण करने के लिए, उन दोनों के समान रूप से महाभोग को दिखलाने के लिए बीच में दोनों स्वरूप का वर्णन किया गया है, इससे निश्चित होता है कि यह वाक्य ब्रह्मपरक ही है।

विशेषणाच्च ।१।२।१२।।

विशेषणानि पूर्वोक्तानि जीवब्रह्मणोरेव संगतानि अग्रिमंवा "आत्मानं रथिनं विद्धि, सोऽध्वनः पारमाप्नोति, तद्विष्णोः परमं पदम्" इति जीव प्राप्यं ब्रह्म आह। अत उभयोरेव सर्वव्यावृत्या कथनादग्रिमग्रन्थपर्यालोचनयापीदं ब्रह्मवाक्यमेव। "द्वासुपर्णा इति निः संदिग्धम्। चकारः प्रकरणोक्त सर्वोपदपत्ति समुच्चयार्थः।

पूर्वोक्त विशेषणों की संगति ब्रह्म और जीव दोनों में ही होती है। इसी प्रसंग में आगे—"आत्मा को रथी जानो, उस मार्ग से उत्तीर्ण हो जाता है, वह विष्णु का परम पद है" इत्यादि में जीव के प्राप्य ब्रह्म का वर्णन किया गया है। तथा दोनों के सर्व विलक्षण कथन और आगे के ग्रन्थ की पर्यालोचना से भी यह ब्रह्मपरक वाक्य ही निश्चित होता है। "द्वासुपर्णा" आदि श्रुति तो असंदिग्धरूप से इन दोनों का वर्णन करती ही है। सूत्रस्थ च का प्रयोग समुच्चय बोधक है, यह सूचित करता है कि प्रकरण के सभी वाक्य एक ही बात के समर्थक हैं।

अन्तर उपपत्तेः ।१।२।१३।।

"य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते, एष आत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतद् ब्रह्मेति, तद यद्यप्यस्मिन् सर्पिर्वोदकं वा सिंचतिवर्त्मनी एव गच्छति" इत्यादि श्रूयते, तत्र संशयः, प्रतिबिम्बपुरुषस्य ब्रह्मत्वेनोपासनापरमिदं वाक्यं, ब्रह्मवाक्यमेवेतिवा ? विरुद्धार्थ वाचकत्वात्संदेहः।

"जो यह आंखों में पुरुष दीखता है, यही आत्मा हैं यही अमृत है यही अभय है और ब्रह्म है, यदि आँख में घी या पानी आदि जो भी वस्तु डाली

जाती है, वह पलकों पर ही रहती है"—इत्यादि श्रुति है, इस पर संशय होता है कि इसमें प्रतिबिम्ब पुरुष का ब्रह्मत्वभाव उपासना की दृष्टि से वर्णन किया गया है अथवा ब्रह्म का ही वर्णन है ? विरुद्धार्थवाचक शब्दों के प्रयोग से ही ऐसा संशय होता है ।

तत्र दृश्यत इति वचनात् प्रतिबिम्ब एवायम् । ब्रह्म प्रकरणस्य च समाप्तत्वादेषा "सौम्य ! तेऽस्माद्विद्या आत्मविद्या च" इत्युपसंहारात् तत्सिद्धयर्थमुपासनापरतैव वाक्यस्य युक्तः ।

"तत्र दृश्यते" इस पद से तो प्रतिबिम्ब पुरुष का वर्णन ही प्रतीत होता है । ब्रह्म प्रकरण की समाप्ति में—"हे सौम्य ! तुझे इस विद्या से आत्मविद्या का उपदेश देता हूँ" इस प्रकार का उपसंहार किया गया है, जिससे यह वाक्य उपासनापरक ही समझ में आता है ।

अविरोधे हि ब्रह्मपरता । उपास्यत्वेन ब्रह्मधर्माणामन्वयो भविष्यतीत्येवं प्राप्त उच्यते-अन्तरः, अक्षिमध्ये दृश्यत् इत्युक्तः परमात्मैव, कुतः ? उपपत्तेः, उपपद्यते हि तस्य दर्शनमार्षम् सर्वत्र ब्रह्म पश्यन् वहिः सन्निधाने तस्य स्थानस्योत्कृष्टत्वात् तत्र भवन्तमुपदिशति । "लोकं वा व तेऽवोचन्नहं तु ते तद्वक्ष्यामि" इति महदुपक्रमाच्च । प्रतिबिम्बमात्रस्य च न पुरुषत्वनियमः तस्माद् विरोधाभावाद् ब्रह्मवाक्यमेव ।

इस वाक्य में आदि से अन्त तक एक भी विरुद्धार्थ पद नहीं है जिससे कि संशय किया जाय, सारे ही पद ब्रह्म की विशेषता के द्योतक हैं, इससे ब्रह्म परक वाक्य माना जाय, ऐसा कहना कठिन है उपास्य रूप से ब्रह्म धर्मों का अन्वय हो सकता है । इस पर सूत्र प्रस्तुत करते हैं, अन्तरः अर्थात् आंखों के मध्य में दृश्य परमात्मा ही हैं क्यों कि उनके दर्शन की बात ही ऋषि मत सम्मत है, सर्वत्र ब्रह्म दर्शन का उत्कृष्टतम स्थान नेत्र ही है इसलिए उसमें भगवान की स्थिति बतलाई गई है "लोकं वा व" इत्यादि में परमात्मा के उत्कृष्ट निवास स्थलों का वर्णन करते हुए प्रकरण का उपक्रम किया गया है । केवल प्रतिबिम्ब को कहीं भी पुरुष कहा भी नहीं गया है, इसलिए कहीं भी विरोध नहीं है, उक्त वाक्य ब्रह्म परक ही है ।

स्थानादिव्यपदेशाच्च ।१।२।१४।।

एतं संयद्वाम इत्याचक्षते "एतं हि सर्वाणि वामान्यमिसंयंभि, एष उ एव वामनीरेष हि सर्वाणि वामानि नयति, एष उ एव भामनीरेष हि सर्वेषु लोकेषु भातीति" . वामानि कर्मफलानि, तेषामेव मनोहरत्वेन तदर्थं कर्म करणात् । कर्मफलयः कर्मफलदानं च यत् इति स्वर्गापवर्गफल दातृत्वमुक्तम् । सर्वलोकेषु भानं च, एष इति तमेवाक्षिपुरुषं निर्दिश्य स्थानादिव्यपदिश्यते न हि प्रतिबिम्बात्मनः स्थानादि व्यदेशः संभवति ।

इस अक्षिपुरुष को ही संयद्वाम कहा गया है—"इससे ही समस्त वामों की संगति होती है, यही वामनी है सभी वामनियों की प्राप्त कराता है, यही भामनी है, यही समस्त लोकों में प्रकाशित है" इत्यादि । वामानि अर्थात् कर्म फलों को वे कर्मफल उसी के लिए मनोहर होते हैं जो उन परमात्मा के लिए कर्म करते हैं । कर्मफल दान उन्हीं के द्वारा कहा गया जिससे स्वर्गापवर्ग फल दात्तृता दिखलाई गई । समस्त लोकों में वही प्रकाशित हैं, उन्हें ही अक्षिपुरुष बतलाकर उनके स्थानविशेष का निर्देश किया गया है, प्रतिबिम्बात्मा के स्थान का उल्लेख कहीं भी नहीं है । इसलिए इसे प्रतिबिम्ब पुरुष का स्थान नहीं कह सकते ।

चकारादेतत्तुल्यवाक्यास्याप्ययमेवार्थः । इन्द्रविरोचन प्रजापति संवादे—'अथयोऽयं भगवोऽप्सु परिव्यायत इत्यासुरम् न तु एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते इत्यादि तस्मादक्षिपुरुषो ब्रह्मैव ।

सूत्र में च के प्रयोग से यह दिखलाते हैं कि उक्त वाक्य के तुल्य अन्यवाक्य का भी यही तात्पर्य है । इन्द्र विरोचन प्रजापति के संवाद में जैसा कि आता है—"हे भगवन ! यह जो जल में प्रतिबिम्ब दीखता है यह आसुर है, यह अक्षिपुरुष नहीं है" इसमें स्पष्टतः प्रतिबिम्बत्व का निराकरण है इससे निश्चित होता है कि अक्षिपुरुष ब्रह्म ही है ।

सुखविशिष्टाभिधानादेव ।१।२।१५॥

ननु किमित निर्बन्धेन ब्रह्मवाक्यत्वम् संपाद्यते उपासना परत्वे को दोषः ? इत्याशंक्याह सुखविशिष्टाभिधानात् । "एतदमृतमभयमेतद् ब्रह्म" इति, यद्यत्रोपासना विधीयेत एष आत्मेति, तथा अमृतादि वचनं व्यर्थस्यात् । तद्धर्माणां पूर्वमेव प्राप्तत्वात् । तस्मादमृतमानन्दः, अभयंचित् ब्रह्मसत्, सच्चिदानंदात्मा इत्युक्तं भवति । अत एष अक्षिपुरुषं निर्दिश्य सुखविशिष्ट

मभिधीयते। सच्चितोर्न ब्रह्मव्यापकत्वमिति सुखमेव निर्दिष्टम्। अतः सुख विशिष्टाभिधानादेक ब्रह्म वाक्यमिति एषा मुख्योपपत्तिरित्येवकारः। चकारात् सदादिभिरपि, तस्माद् ब्रह्मैवाक्षिपुरुषः।

किन विशिष्ट आधारों पर ब्रह्मवाक्यता का समर्थन करते हो, उपासना परक वाक्य मानने में क्या दोष है? इस संशय का उत्तर देते हैं—सुखविशिष्टाभिधनात्" अर्थात् अक्षिपुरुष को सुखविशिष्ट कहा गया है उसी आधार पर समर्थन करते हैं। 'यही अमृत अभय यही ब्रह्म है" इत्यादि विशेषण इसके लिए दिए हैं यदि उक्त प्रसंग में उपासना की बात मानी जाय तो, "यही आत्मा" और अमृत आदि शब्दों के प्रयोग व्यर्थ ही हो जावेंगे। परमात्मा की इन विशेषताओं का तो पहिले ही उल्लेख हो चुका है। अमृत आनंदवाची, अभय चित् वाची तथा ब्रह्म सत वाची पद हैं इस प्रकार "एतदमृतमभयमेतद् ब्रह्म" में सच्चिदानंद परमात्मा का स्पष्ट उल्लेख है। इस अक्षि पुरुष के लिए ही सुखविशिष्ट का प्रयोग किया गया है। वस्तुतः सत् और चित् ये दोनों उतने, ब्रह्म के स्वरूप के व्यापक शब्द नही हैं जितना कि आनंद शब्द है, इसलिए उसे सुख शब्द से ही विशेष रूप से निर्देश किया गया है। उसे सु विशिष्ट बतलाया गया इस आधार पर ही इस वाक्य को ब्रह्म परक कहा गया है। एकमात्र यही मुख्य आध र है। सूत्रस्थ च बतलाता है कि सत् चित् भी उसी के लिए प्रयोग किये जाते हैं, उनका प्रयोग भी है इसीलिए ब्रह्म ही अक्षि पुरुष है।

श्रुतोपनिषत्कगत्याभिधानाच्च १।२।१६॥

स्वरूपतो निर्णीय फलतो निर्णयमाह—श्रुतोपनिषत्कस्य; श्रुता उपनिषद् विद्या येन तस्य प्रविदो या गतिर्देवयानाख्या सा अक्षिपुरुषविदोऽप्युच्यते—"अथ यदु वै वास्मिन् शव्यं कर्म कुर्वन्ति, यदि च नार्चिषमेवाभियन्ति" इत्युपक्रम्य—"चन्द्रमसो विद्युतं तत्पुरुषोऽमानवः स एतान ब्रह्म गमयति, एष देवपथो ब्रह्म थ इत्येतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानव मावर्त्तं नावर्त्तन्ते" इति ब्रह्म विदोऽप्येष एव मार्गः पुनरावृत्ति रहितः। चकारस्तूक्त समुच्चयेनाधिकरणपूर्णत्वबोधकः।

स्वरूप से निर्णय करके अब फल से निर्णय करते हैं। उपनिषद् विद्या विदों की जो देवयान गति बतलाई गई है वही अक्षिपुरषवेत्ताओं की

भी कही गई है जैसे—"यदि इस पुरुष के ज्ञाता का औद्ध्वंदैहिक संस्कार किया जाय या न किया जाय वह अर्चिरादि गति ही प्राप्त करता है" ऐसा उपक्रम करके—"वह चन्द्रमा से विद्युत विद्युत से अमानव दूतों को प्राप्त होकर उनके द्वारा ब्रह्म तक पहुँचाया जाता है, यही देवपथ ब्रह्म पथ है, इससे जाकर यह मानव पुनः नहीं लौटता" इत्यादि—ब्रह्म वेत्ता का भी यही पुनरावृत्ति मार्ग है। सूत्रस्थ चकार समुच्चय बोधक है, जो कि अधिकरण की पूर्ति की सूचना दे रहा है।

अनवस्थितेरसंभवाच्च नेतरः ।१।२।१७।।

इदमेवाधिकरणं पुनर्निषेधमुखेन विचारयति। ननूपासना परत्वेऽपि सर्वमुपपद्यते । तद्धर्मव्यपदेशेनैवोपासनोपपत्तेः । अतः सर्वा उपपत्तयो व्यपदेशिवद् भावेन संगच्छन्त। इत्येवं प्राप्त उच्यते—इतरो नात्र वाक्यार्थः, अनवस्थितेरस्थिरत्वात्, उपदेशकवाक्यत्वादुपदेष्टुरेव चक्षुर्गतं भवेत् । तथा च वक्तुर्दर्शनाभावादनाप्तत्वम् । द्रष्टुरपगमे चापगच्छति सद्वितीये तु सद्वितीयः। उपासनाकालेच सुतरामनवस्थितिः सद्वितीयोपासनायामपि श्रवण मननयोभिन्नविषयत्वात् अनवस्थितिः । वक्तुरेव नियमे गुरोर्निर्बन्धेन सुतरामनवस्थितिः।

इसी अधिकरण को पुनः निषेध करते हुए विचार करते हैं कि अक्षि पुरुष को उपासनापरक मानने से भी सब कुछ बन सकता है, अर्थात् अक्षिपुरुष को ब्रह्म सिद्ध करने के लिए ऊपर जितने भी प्रमाण उसके पक्ष में उपस्थित किये हैं वे सभी उपासना के पक्ष में भी घटित हो सकते हैं क्यों कि वे सारे परमात्मा के धर्म उसकी उपासना से संबद्ध हो सकते हैं क्यों कि वही तो उपास्य है। इस पर सूत्र प्रस्तुत करते हैं, कि ब्रह्म के अतिरिक्त दूसरी कोई भी वाक्यार्थ की नहीं हो सकता परमात्मा ही एकमात्र निरन्तर नेत्रों में स्थित रह सकते हैं, दूसरा और कोई स्थिर नहीं रह सकता। यदि किसी सामने वाले व्यक्ति को दृष्टिगत माना जाय तो उसके चले जाने पर अक्षि पुरुष की अप्राप्ति हो जावेगी क्यों कि वह तुम्हारे कथनानुसार सामने वाले पुरुष का प्रतिबिंब मात्र ही तो था। अक्षि पुरुष का द्रष्टा यदि चला जावे तो उसका प्रतिबिंब भी चला जावेगा, कोई दूसरा आवेगा वह भी अक्षिपुरुष को देखेगा और अपना ही प्रतिबिम्ब बतलावेगा, निश्चित रूप से कोई यह भी कह नहीं सकता कि नेत्रगत छवि स्थिर या अस्थिर है। उपासना काल में भी अस्थिरता ही रहेगी, क्योंकि उस समय श्रवण मनन

की भिन्न स्थिति रहती है अतः अस्थिरता स्वाभाविक है। उपासना काल में चित्त को स्थिर करने के लिए नेत्र बन्द करेंगे तो प्रतिबिम्ब का अभाव हो जायगा, उपास्य स्वरूप के प्रतिबिंब का भी अभाव होगा अतः अस्थिरता होगी। यदि हम किसी उपदेष्टा का उपदेश श्रवण कर रहे हैं तो उपदेष्टा के स्वरूप का जो प्रतिबिंब हमारे नेत्रों में या हमारा प्रतिबिंब उसके नेत्र में पड़ रहा है तो यदि हम प्रतिबिंब देखने की ओर अपने मन को लगावेंगे तो हमें श्रुत वस्तु कुछ भी समझ में नहीं आवेगी और यदि ध्यान से सुनेंगे तो उस प्रतिबिंब को देख नहीं सकेंगे इस प्रकार उसके अस्तित्व के विषय में निश्चित मत नहीं कर सकते। यदि वक्ता के उपदेश को मानकर ही उसपर विश्वास करने की बात है तो फिर गुरू वचन का ही विश्वास किया जा सकता है क्योंकि वही आप्त वक्ता है यदि वे न हों तो फिर उसका निर्णायक कौन होगा निर्णय भी क्या होगा ? अनिश्चतता ही रहेगी।

किंच, मनसो हि उपासनं कर्त्तव्यं, तत्र चासंभव एव तादृश धर्मवत्त्वं च न संभवति। आसुरत्वं च भवेदिति चकारार्थः। तस्मादक्षिस्थाने सहज एवन्योभगवानस्ति तत्परमेवैतद्वाक्यमिति सिद्धम्। व्यापक सर्वगतस्य सर्वतः पाणिपादान्तत्वादानन्दमूर्त्ति भगवान एव, ब्रह्मवादे त्वेषैव मर्यादा। सगुणवादो ब्रह्मवादाज्ञानादिति।

यदि कहें कि मानसिक उपासना करनी चाहिए, तब तो अक्षिपुरुष की प्रतिबिंब उपासना की बात बिलकुल ही असंभव है, जो प्रत्यक्ष में उसको देखते हुए अनुभूति होती है वह मानसिक रूप में कदापि संभव नहीं है। बल्कि नेत्र बन्द कर अक्षिपुरुष के प्रतिबिंब का मन में ध्यान करने पर बजाय दैवभाव के आसुरभाव ही होगा। इस प्रकार विवेचन करने पर यही निश्चित होता है कि सहज स्वरूप भगवान ही अक्षिपुरुष के रूप में इस वाक्य में बतलाये गए हैं, यही मानना समीचीन है। व्यापक सर्वगत सभी जगह हस्त चरणों के प्रसार करने वाले आनंदमूर्त्ति भगवान ही हैं, अर्थात् उनका आनंद स्वरूप सभी जगह व्याप्त है, ब्रह्मवाद में यही मानना उचित है। उस व्यापक परमात्मा को प्रकट होने के लिए स्वल्प स्थान भी पर्याप्त है, यह संशय नहीं किया जाना चाहिए कि, व्यापक सूक्ष्म नेत्र विन्दु में कैसे व्याप्त हो सकता हैं। ब्रह्म ही सब जगह व्याप्त हैं ऐसी मान्यता ही ब्रह्मवाद के नाम से प्रसिद्ध है, सगुणवादी वे ही हैं जो कि

एक देश में ही ब्रह्म का चिन्तन करते हैं, ये निम्नकोटि के उपासकों का ही मार्ग है, उनके लिए ब्रह्मवाद अशक्य सा है तभी वे एकदेशीय उपासना में संलग्न होकर साधना करते हैं।

अन्तर्याम्यधिदैवादिषु तद्धर्मव्यपदेशात् १।२।१८॥

"य इमं च लोकं परं च लोकं सर्वाणि च भूतान्यन्तरो यमयति" इत्युपक्रम्य श्रूयते "यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरो यमयति इत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः" इत्यादि ।

तत्राधिदैवमाधिलोकमधिवेदमधियज्ञमधिभूतमध्यात्मं च कश्चिदन्तरवस्थितो यमयिताऽन्तर्यामीति श्रूयते । तत्र संशयः किमन्तर्याम्याधिदेवादिषु सर्वत्रैक एव, अथाधिदैवादीनां भेदात् भिद्यत इति ।

'जो इस लोक, परलोक और समस्त भूतों का संयमन करते हैं" ऐसा उपक्रम करते हुए श्रुति कहती है —"जो पृथिवी में स्थित होकर पृथिवी के अन्तर्यामी हैं जिन्हें पृथिवी नहीं जानती पृथिवी ही जिनका शरीर है, वह अन्तर्यामी रूप से पृथिवी का संयमन करते हैं, वे ही तेरे भी अन्तर्यामी अमृत हैं" इत्यादि ।

इस प्रसंग में, अधिदैव, अधिलोक, अधिवेद, अधियज्ञ, अधिभूत और अध्यात्म रूप से किसी अन्तः स्थित अन्तर्यामी के द्वारा संयमन की बात कही गई है। इस पर संशय होता है कि–अधिदेव आदि के भेद से भिन्न भिन्न है।

सामान्यनस्त्वन्तस्वद्धर्मोपदेशादिति न्यायेन अत्रापि ब्रह्मत्वं सिद्धमेव। यथा शब्दभेदात् संदिह्यते। अधिदेवादि षड्भेदा आधार धर्मा भगवत्युपचर्यन्ते, अथवा संज्ञा विशिष्टा अन्य एवेति ? तत्र तत्तदधिकृत्य यो वर्त्ततेऽभिमानेन तस्य तादृश शब्द प्रयोगः ।

सामान्य रूप से तो "अन्तस्तद्धर्मोपदेशात्" इस न्याय से यहाँ भी ब्रह्म ही अन्तर्यामी रूप से सिद्ध होते हैं। शब्द भेद से ही संदेह होता है। अधिदेव आदि छः भेद आधार धर्मों के रूप से भगवान में ही घटित होते हैं अथवा संज्ञा विशेष रूप से भिन्न ही हैं ? लगता है उन उन स्थानों में अभिमानी रूप से जो जो देवता स्थित हैं उनके लिए वैसे ही शब्दों का प्रयोग किया गया है।

अधिलोकादयश्च शाखान्तरेऽन्यत्रैव प्रसिद्धायोगख्यापकाः पंचस्वधिकरणेषु, अधिलोकमधिज्यौतिषमित्यादि, अतोऽधिदैवादि शब्दा यौगिकाः सन्तो न भगवति वर्त्तितुमुत्सहन्ते। नाप्यन्ये कल्पनीया यद्धर्मा उपचाराद् भगवति भवेयुः। कल्प्यमानस्य सर्वानुस्यूतस्य तादृशस्य भगवद्व्यतिरिक्तस्यासंभवात्। तस्मादन्तर्यामिब्राह्मणं कुत्राप्ययुक्तं सत् तत्तदभिमानि देवता स्तुतिपरमेव तत्तदुपासनार्थं भविष्यति। अज्ञानं चासंदेहे संदेहवदुपद्यते देहोऽसवोऽक्षा इति न्यायाद्वा। स तु निषिद्ध संज्ञा भगवति कल्पयितुं शक्येति।

अधिलोक आदि पांच, तैत्तरीय शिक्षोपनिषद् में योग तत्त्व के पांच रूपों में बतलाये गये हैं "अधिलोकमधिज्यौतिषमित्यादि" इससे निश्चित होता है कि अधिदेव आदि शब्द यौगिक हैं, उन्हें भगवान में घटित नहीं कर सकते और न किसी अन्य देवता के लिए ही इनकी कल्पना कर सकते हैं, जिनके ये धर्म औपचारिक रूप से भगवान में कहे जा सकें। अर्थात् यह नहीं कह सकते कि ये अन्यान्य अभिमानी देवताओं के वाचक शब्द हैं, भगवान सर्वाधिदेव हैं ही इसलिए औपचारिक रूप से इनका प्रयोग भगवान के लिए किया गया है। यदि ऐसा मान लेंगे तो भगवान तो सब में अनुस्यूत हैं ही उनके अतिरिक्त किसी अन्य में वैसी विशेषतायें हो नहीं सकती यही कहना होगा। लगता है अन्तर्यामी ब्राह्मण, उन उन स्थानों के अभिमानी देवताओं की स्तुति के रूप में ही प्रस्तुत है। अज्ञानवश असंदिग्ध विषय भी संशयित प्रतीत होता है—जैसा कि भागवत षष्ठ स्कन्ध में दक्ष प्रजापति स्तुति करते हैं—"देहोऽसवोऽक्षा मनवोभूतमात्रा नात्मानमन्यं च विदुःपरं यत्, सर्वं पुमान् वेद गुणाश्च तज्ज्ञो न वेद सर्वज्ञमनंतमीडे।" अर्थात्—हे भगवन ! देह, प्राण, इन्द्रिय, अन्तः करण की वृत्तियाँ पंच महाभूत और उनकी तन्मात्रायें ये सब जड़ होने के कारण अपने को और अपने से अतिरिक्त को भी नहीं जानते परन्तु जीव इन सब को और इनके कारण, सत्त्व रज तम इन तीन गुणों भी जानता है किन्तु दृश्य अथवा ज्ञेय रूप से आपको नहीं जान सकता, क्यों कि आपही सबके ज्ञाता और अनन्त हैं, इसलिये मैं केवल आपकी स्तुति मात्र कर रहा हूँ।" इसलिये भगवान के लिए इन निषिद्ध विशेषणों की कल्पना नहीं कर सकते।

एवं प्राप्ते उच्यते—"अन्तर्याम्याधिदैवादिषु" अन्तर्यामी अधिदैवादिषु भगवान् एव, नान्यस्तादृशो भवितुमर्हति। ननु नोक्तं भगवतिकथं निषिद्ध कल्पनमिति-तत्राह-तद्धर्मव्यपदेशात् तेषांधर्मास्तद्धर्माः तत्प्रयुक्त बोधकाः, ते

विशेषेण भगवत्यपदिश्यन्ते । सर्वेषां तत्तत्कार्यसामर्थ्यं च भगवतो न तु स्वत-स्तेषामिति । एवं च सत्यन्यत् सर्वं संगतं भवति । तस्माद् ब्रह्मवाक्यमेव । अन्यथा त्वधिकरण रचना, अन्तस्तद्धर्माधिकरणेन गतार्थत्वायुक्तैव ।

उक्त मत पर, "अन्तर्यामि" इत्यादि सूत्र प्रस्तुत करते हैं अर्थात् अधि-दैवादि में अन्तर्यामी भगवान ही हैं, कोई और वैसा नहीं हो सकता । जो यह कहो कि भगवान की ऐसी निषिद्ध कल्पना क्यों की ? उसका उत्तर देते हैं—"तद्धर्मउपदेशात्" अर्थात् उक्त प्रकरण में जो अन्तर्यामी के लिए विशेषण प्रयुक्त हैं वे परमात्मा के लिए किये गये अन्यान्य विशेषणों की ही प्रतिकृति हैं, उन विशेषणों से भगवान को ही विभूषित किया जाता है, यदि किसी में उन विशिष्ट कार्यों का सामर्थ्य होता भी है तो वह भी भगवान की अन्तः प्रेरित शक्ति से होता है, स्वतः किसी में नहीं होता । ऐसा सिद्धान्त मान लेने से उक्त प्रसंग में जो कुछ भी असंगतियां दृष्टिगत होती हैं वे भी सुसंगत हो जाती हैं, इससे यही निश्चित होता है कि यह ब्रह्म परक वाक्य ही है । यदि ऐसा नहीं मानेंगे तो इस अधिकरण की रचना ही व्यर्थ हो जायेगी, अन्तस्तद्धर्माधिकरण से ही यह अधिकरण गतार्थ है ।

न च स्मार्त तद्धर्माभिलापात् ।१।२।१९।।

ननु ब्रह्मवादे अन्तर्यामी न प्रसिद्धः । जीवब्रह्मजडानामेव प्रसिद्धत्वात् । अतोऽन्तर्यामिणः सांख्यपरिकल्पितस्य गुणयोगात् तादृशस्यब्रह्मत्वे वा कः पुरुषार्थो भवेत् ? नहीश्वरं प्रकृति धर्मारूढमन्तर्यामिणं मन्यन्ते तादृशस्यो-पनिषत्स्वभावात् पूर्वपक्ष न्यायेन स्तुतिपरत, तन्मतस्य वा श्रौतत्वम् ।

ब्रह्मवाद में अन्तर्यामी की बात तो प्रसिद्ध है नहीं वहां तो स्पष्टतः जीव, ब्रह्म, जड़ इन तीन तत्त्वों की ही प्रसिद्धि है, अन्तर्यामी की बात तो सांख्य वादियों की परिकल्पना है, यदि उन्हीं गुणों की समानता के आधार पर हम ब्रह्म की अन्तर्यामिता की भी परिकल्पना करते हैं तो उसमें ब्रह्म की क्या विशेषता होगी ? सांख्य वादी भी प्रकृति के धर्म अन्तर्यामिता को ईश्वर में नहीं स्वीकारते । फिर यदि हम उन्हें अपने ब्रह्म में स्वीकारते हैं तो वह सांख्य वादियों की स्तुति मात्र सिद्ध होगी, या उनके मत को शास्त्र सम्मत मानना पड़ेगा ।

इत्याशंक्य परिहरति-न च स्मार्त्तं, स्मृति प्रसिद्धं स्मार्त्तं सांख्यमतसिद्धं इति यावत्। तादृशमन्तयर्यामिरूपमत्र भवितुं नार्हति। कुतः ? अतद्धर्माभिलापात्, तद्धर्माणामनभिलापात्, तद्विरुद्धधर्माणां चाभिलापात्। न ह्यत्र सत्वरजस्तमोगुणास्तत्कार्यं वा अभिलप्यते। तद्विरुद्धाश्चेते धर्मा, "यस्य पृथिवी शरीरम्" इत्यादि। तस्मात् सांख्यपरिकल्पितं नान्तर्यामि रूपमत्र भवितुमर्हतीति सिद्धम्। एवं मति ब्रह्मधर्मा एवैते भवन्तीति ब्रह्मवादः फलिष्यति।

उपर्युक्त आशंका को प्रस्तुत करते हुए उसका परिहार करते हैं कि सांख्य स्मृति सिद्ध अन्तर्यामिता की बात हमारे ब्रह्मवाद में नहीं हो सकती क्यों कि हमारे यहाँ उस प्रधान के धर्मों का उल्लेख नहीं है, अपितु उसके धर्मों से विरुद्ध धर्म ही हमारे यहां अन्तर्यामी के बतलाये गये हैं। सत्वरजतम गुण और उनके कार्यों की इस प्रसंग में कोई चर्चा नहीं है। "पृथिवी जिनका शरीर है" इत्यादि विशेषतायें, सांख्यपरिकल्पित प्रधान के स्वभाव से नितान्त विपरीत हैं। इसलिए सांख्यपरिकल्पित अन्तर्यामी का रूप इस स्थान पर नहीं हो सकता, अपितु ये सब ब्रह्म धर्म ही हैं ऐसा मानने में ही ब्रह्म वाद की महत्ता है।

शारीरश्चोभयेऽपि हि भेदेनैनमभिधीयते।१।२।२०॥

ननूक्त न्यायेन शारीर एव भवतु, को दोषः ? किमिति ब्रह्मपरत्वं कल्प्यम् ? इति, तत्राह—शारीरश्च, नेत्यनुवर्त्तते। शारीरश्च जीवो नान्तर्यामिब्राह्मणे तत्तदभिमानरूपो यस्य पृथिवी शरीरमिति वाक्यानुरोधेन भवितुमर्हति, ततोऽपि भिन्नतयाऽन्तर्यामिणो वचनात्। उभयेऽपि काण्वमाध्यन्दिन ब्राह्मणद्वयेऽपि एवं जीवं भेदेनैवाधीयते ब्राह्मणाः। "य आत्मनि तिष्ठन्" इति माध्यन्दिनाः। नचाऽऽत्मशब्देनान्यः संभवति। अन्येषां पूर्वमेव पठितत्वात् अन्तेहि जीवमाह। तस्मादन्तर्यामिब्राह्मणे ब्रह्मैव वाक्यार्थं इति सिद्धम्।

उपर्युक्त जो तर्क आपने सांख्य मत के निरसन में प्रस्तुत किये हैं उनके आधार पर तो शारीर जीवात्मा ही अन्तर्यामी समझ में आता है, उसको मानने में कोई दोष भी समझ में नहीं आता। उक्त प्रकरण को ब्रह्मपरक मानने में पुष्ट आधार ही क्या है ? इस मत पर "शारीरश्च" आदि सूत्र

प्रस्तुत कर सिद्धान्त निर्णय करते हैं। शारीर जीवात्मा, अन्तर्यामि ब्राह्मण में वर्ण्य "पृथिवी जिसका शरीर है" इत्यादि के अभिमानी देवता के रूप में नहीं हो सकता। दूसरी बात ये है कि काण्व और माध्यन्दिन दो ब्राह्मणों में अन्तर्यामी तत्त्व को भिन्न रूपों से वर्णन किया गया है उनमें इस जीव को अन्तर्यामी तत्त्व से स्पष्टतः भिन्न बतलाया गया है। जिससे संदेह का अवकाश ही नहीं रह जाता। "जो विज्ञान में स्थित होकर" काण्व ब्राह्मण तथा "जो आत्मा में स्थित होकर" माध्यन्दिन ब्राह्मण के वचन हैं। इनमें जिस आत्मा में स्थित होने की बात कही गई है वह आत्मा, जीवात्मा के अतिरिक्त दूसरा कोई और नहीं हो सकता। औरों की बात तो इस वाक्य के पहिले ही कहते आये हैं, अन्त में आत्मा शब्द से जीव का ही उल्लेख किया गया है। इससे निश्चित ही अन्तर्यामी ब्राह्मण में ब्रह्म का वर्णन ही सिद्ध होता है।

अदृश्यत्वादिगुणको धर्मोक्तेः ।१।२।२१॥

मुण्डके हि श्रूयते "कस्मिन्नु भगवो विज्ञातः" इति पृष्टे "द्वे विद्ये वेदितव्ये" इत्युत्तरमाह। तत्र नामरूपात्मकजगतो विज्ञानार्थं नामांशे वेदादिः रूपांशे परा च तत्र वेदादिविद्याया न संदेहः। परायां संदिह्यते। किमेषा सांख्यमत विद्या, ब्रह्म विद्या वा? सांख्य धर्माभिलापात् सदेहः अथपरा यया तदक्षरमधिगम्यते, "यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रवर्णमचक्षुरश्रोत्रं तदपाणि-पादंनित्यंविभुंसर्वंगतंसुसूक्ष्मंतदव्ययं, तद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः" "इत्यादि, अग्रे च" दिव्यो ह्यमूर्त्तः पुरुषः स वाह्याऽभ्यन्तरो ह्यजः, अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात् परतः परः "इत्युक्त्वा" "एतस्माज्जायते" इति निरूप्य 'अग्निमूर्द्धा चक्षुणी चन्द्रसूर्यौ" इत्यादिना रूपमुक्त्वा पुनः पुरुषात् सृष्टिमाह। तत्रैकप्रकरणत्वात् एकवाक्यता वक्तव्या। तत्राक्षरपुरुषयोर्भेदः प्रतीयते, तयोरुभयोरपि सृष्टिः, तद् ब्रह्मवादे न संगच्छते। तस्मात् सांख्य-मतमेवैतत्। प्रकृतिपुरुषयोः श्लिष्टत्वादन्यतरप्राधान्येतोभयोः सुष्टृत्वम्। उभयात्मकत्वाज्जगतः। रूपमपि समष्टेर्व्यष्टीनां अग्रे हि उत्पत्तिः—इति। तिरोहितरूपत्वान्न ब्रह्मविद्या, किन्तु स्मृतिरेवेति। ब्रह्मविद्या, वेदविद्या, उपचाराद् वेति।

मुण्डकोपनिषद् का वाक्य है कि—"भगवन्! तत्त्व को कैसे जानें?' ऐसा प्रश्न करने पर "दो विद्याओं को जानना चाहिए" ऐसा उत्तर दिया गया।

इस प्रसंग में नाम रूपात्मक जगत के जानने की बात कही गयी है, नाम की जानकारी के लिए तो वेदादि के स्वाध्याय की बात तथा रूप की जानकारी में परा विद्या की चर्चा है। वेदादि विद्या के विषय में तो संशय की गुंजायस ही नहीं हैं। परा विद्या के विषय में संशय होता है कि ये सांख्यमत विद्या की चर्चा है अथवा ब्रह्म विद्या की ? सांख्य धर्म सम्मत विद्या भी उनके तंत्र में परा विद्या के नाम से ही प्रसिद्धि है, इसलिए संशय होता हैं। जैसा कि परा का वर्णन है—"परा से अक्षर को जाना जाता है," उस अक्षर को धीर लोग अदृश्य, अग्राह्य, अगोत्र, अवर्ण अचक्षु, हाथ पैर रहित, नित्य व्यापक, सर्वत्र परिपूर्ण, अति सूक्ष्म, सर्वथा अविनाशी, समस्त भूतों के कारण रूप से देखते हैं" इसके आगे पुरुष की विशेषताएँ बतलाते हुए कहा "दिव्य, निराकार पुरुष, जन्म रहित, सभी जगह व्याप्त, प्राणों और मन से अग्राह्य शुभ्र तथा अक्षर से भी अतीत है" इसके बाद "इसी से सृष्टि होती है" कहते हुए "अग्नि मूर्द्धा तथा सूर्य चन्द्र उसके नेत्र हैं" इत्यादि से उसके स्वरूप का निरूपण करते हुए उस पुरुष से सृष्टि का वर्णन किया गया है। एक ही प्रकरण में ये सारा वर्णन है इसलिए दोनों को एक विषय ही मानसा पड़ेगा इसमें अक्षर और पुरुष का भेद स्पष्ट रूप से ज्ञात होता है। उन दोनों से ही सृष्टि की बात भी कही गई है। ब्रह्मवाद में यह मत संगत नही होता। इससे निश्चित होता है कि इस मत में सांख्य मत का ही निरूपण है। प्रकृति और पुरुष के एक दूसरे से मिले होने से, किसी एक की प्रधानता न होकर दोनों की ही सृष्टि निश्चित होती है, जगत की सृष्टि प्रकृति और पुरुष (जड़ और चैतन्य) दोनों के संयोग से ही है। "अग्निमूर्द्धा" इत्यादि में रूप की चर्चा की है वह भी समष्टि और व्यष्टि दोनों में संयोगात्मक ही दिखलाई गई है। सत् चित आनन्द का कोई स्पष्ट रूप तो सृष्टि में दृष्टिगत होता नहीं जिसके आधार पर उसे ब्रह्मविद्या का विस्तार कहा जाय। सांख्यस्मृति परिकल्पित प्रधान ही का वर्णन कह सकते हैं।

एवं प्राप्त उच्यते—अदृश्यत्वादिगुणकः परमात्मैव ब्रह्मविज्ञाने नैव सर्वविज्ञानात्। तत एव विद्याया अपि परत्वम्, अक्षरस्यापि ब्रह्मत्वं पुरुषस्यापि, तयोः परस्परभावः, अभेदश्च, एतादृश एव हि, ब्रह्मवादः। तत्र प्रथम अक्षरस्य ब्रह्मत्वमाह। अदृश्यत्वादिगुणकः परमात्मैव; कुतः ? धर्मोक्तेः, तथाऽक्षरात् संभवतीहि विश्वमिति, इयं चोपनिषद्। न ह्यत्र ब्रह्मव्यतिरिक्तात्जगदुत्पत्ति-

रस्ति पुरुषस्य ब्रह्मत्वं निःसंदिग्धमेव, ईषदानंदतिरोभावेन ब्रह्माऽक्षरमुच्यते, प्रकटानंदः "पुरुष" इति, "ब्रह्मविदाप्नोति परम्" इत्यत्रैव तथा निर्णयात्। तस्माददृश्यत्वादिगुणकः परमात्मैव।

उक्त मत पर सिद्धान्त कहते हैं कि, अदृश्यता आदि गुण वाले परमात्मा ही हैं, ब्रह्म के स्वरूप को जान लेने मात्र से सब कुछ समझ में आ जाता है, उसी से विद्या के परत्व की बात भी समझ में आ जाती है। अक्षर और पुरुष ये दोनों भी ब्रह्म के ही नाम हैं, दोनों एक ही हैं, एक ब्रह्म का पर स्वरूप है एक अपर, ब्रह्मवाद का इस प्रकार का विवेचन किया गया है। पहिले अक्षर के ब्रह्मत्व की बात कहते हैं कि अदृश्यता आदि गुणों वाले परमात्मा ही हैं। उन विलक्षण गुणों से ही यह बात निश्चित हो जाती है, ऐसे विलक्षण गुणों वाले अक्षर से ही इस विश्व की रचना संभव है, यही इस उपनिषद् का तात्पर्य है, इस उपनिषद् में जो जगत के उत्पत्ति की बात कही गई है, यह ब्रह्म के अतिरिक्त किसी के सामर्थ्य की बात नहीं है। पुरुष का ब्रह्मत्व भी असंदिग्ध है, थोड़े से छिपे हुए आनंद वाले स्वरूप को अक्षर तथा प्रकट आनद वाले स्वरूप को पुरुष कहते हैं. "ब्रह्मविदाप्नोति परम्" इस श्रुति मे यह बात स्पष्ट हो जाती है। इस विवेचन से निश्चित हो जाता है कि अदृश्यता आदि गुण वाले परमात्मा ही का उक्त प्रकरण में विवेचन किया गया है।

विशेषण भेदव्यपदेशाभ्यां च नेतरौ।१।२।२२॥

ननु पूर्वपक्षन्यायेन ब्रह्मविद्याख्यायामपि स्मृतिः ब्रह्मविद्यैवाऽस्तु। "द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये मूर्तंचामूर्त्त च" इत्यत्र विकारस्यैव ब्रह्मपद वाच्यत्वम्। अतः प्रकृति पुरुषावेव वाक्यार्थ इति परिहरति इतरौ न भवतो वाक्यार्थ रूपौ; कुतः? विशेषणभेदव्यपदेशाभ्याम् विशेषणभेदो व्यपदेशश्च ताभ्याम्। अदृश्यत्वादयो गुणा न प्रकृते भवन्ति। सर्वस्यापि तद् विकारत्वात्। न हि घटदर्शनेन मृत्न दृश्यत इति वदितुं युक्तं। ब्रह्मवादे पुनः सर्वभवन समर्थत्वाद् ब्रह्मणि विरोधाभावः। न हि नित्यं सदेकरूपं विक्रियमाण च भवितुमर्हति। सर्वब्रह्मधमतुल्यत्वे तदेव ब्रह्मेति जितं ब्रह्मवादिभिः।

पूर्वपक्ष की दृष्टि से विचारने पर यह कहना भी कोई अत्युक्ति न होगा कि, ब्रह्मविद्या नाम वाली जिस शक्ति का विवेचन करते हो वह सांख्य स्मृति सम्मत है जिसे ब्रह्म विद्या ही समझ लो। "ब्रह्म के मूर्त और अमूर्त दो रूप ज्ञेय हैं" इत्यादि में विकार ही ब्रह्म पद का वाचक है, इससे निश्चित होता है कि प्रकृति पुरुष ही उक्त प्रकरण के विवेच्य तत्त्व हैं। इस मत का परिहार करते हुए उक्त सूत्र प्रस्तुत करते हैं। कहते हैं कि, उक्त प्रकरण में ब्रह्म और उसकी परा विद्या के अतिरिक्त कोई और दूसरे नहीं हो सकते, क्योंकि, उन दोनों के लिये जिन विशेषणों और लक्षणों का वर्णन किया गया है उनसे अन्यों का भेद है। अदृश्यता आदि गुण प्रकृति में संभव नहीं हैं, सभी वस्तुएं उसके ही विकार हैं। घट को देखकर, मिट्टी नहीं दीखती ऐसा नहीं कह सकते। ब्रह्मवाद में, सब कुछ होने का सामर्थ्य, होने से ब्रह्म में विरोध का अभाव है। विकृत वस्तु कभी भी नित्य और सदा एक रूप वाली नहीं हो सकती। प्रकृति आदि सभी की विशेषताओं की तुलना करने पर ब्रह्म-वादियों द्वारा प्रतिपाद्य ब्रह्म की विशेषतायें ही खरी उतरती हैं (उसे ही समस्त जड चेतनात्मक जगत का स्रष्टा कहा जा सकता है)।

यः सर्वज्ञ सर्वविदित्यादयस्तु सुतरामेव न प्रकृति धर्माः व्यवधानाच्च न पुरुष संबंधः। अक्षर निरूपण एव पुरुष विशेषणाच्च, "येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यम्" इति, तस्मादक्षर विशेषणानि, न प्रकृति विशेषणानि, नापि पुरुष विशेषणानि सांख्यपुरुषस्य। न हि दिव्यत्वादयो गुणाः पुरुषस्य भवंति, न हि तन्मते पुरुषभेदो ह्यगीरि यतो जीव ब्रह्मवत्। न च तस्य वाह्याभ्यं-तरत्वम् सर्वत्वाभावात्, न हि तस्माज्जायते प्राणादिः। तस्मात्पुरुष विशेष-णान्यपि न सांख्यपुरुष विशेषणानि, अतो विशेषणभेदः।

"जो सर्वज्ञ सर्वविद् है" इत्यादि वाक्य में जिन विशेषताओं का उल्लेख किया गया है, वो सब प्रकृति में संभव नहीं हैं सांख्य मत सम्मत पुरुष में भी संभव नहीं हैं क्योंकि ब्रह्मवादियों और उनके पुरुष की विशेषताओं में बड़ा अन्तर है। उनके पुरुष से अधिक विशेषतायें तो, ब्रह्मवादियों के अक्षर की ही हैं, "येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यम्" इत्यादि में उस अक्षर की विशेषतायें वर्णन की गई हैं, ये विशेषतायें उसकी अपनी विलक्षण विशेषतायें हैं, ये सांख्य वादियों की प्रकृति और पुरुष में नहीं हो सकतीं। दिव्यता आदि गुण भी

उस पुरुष में संभव नहीं है, और न उनके मत में पुरुष में, जीव और ब्रह्म के से भेद ही हैं, [वहाँ तो एक ही पुरुष है) उस पुरुष में वाह्याभ्यंतर व्यापकता भी नहीं है क्योंकि सर्वता का अभाव है, और न उससे प्राण आदि की उत्पत्ति ही होती है। इसलिए उक्त प्रसंग में जो पुरुष की विशेषतायें बतलाई गई हैं, वह सांख्य सम्मत पुरुष की नहीं हैं, सांख्य और ब्रह्मवाद के पुरुषों की विशेषताओं में भेद है।

व्यपदेशभेदश्च, ब्रह्मविद्यैवेति, "स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याम्" इत्युपक्रमे "प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम्" इति मध्ये "तेषामेवैतां ब्रह्मविद्यां वदेत्" इत्यन्ते। तस्मान्न सांख्यपरिकल्पितौ प्रकृतिपुरुषौ वाक्यार्थः। न ब्रह्माज्येष्ठ-पुत्राय स्मृतिरूपां विद्यां वदति इति चकारार्थः।

ब्रह्मवाद और सांख्य दोनों में नामोल्लेख का भी भेद है, उक्त प्रसंग में ब्रह्मविद्या नाम से परातत्त्व का स्पष्ट उल्लेख है, सांख्यवाद में परा का नाम केवल विद्या ही है। "सब विद्याओं में वह ब्रह्मविद्या" ऐसा प्रसंग के उपक्रम में तथा "उस ब्रह्म विद्या को तत्त्वतः विवेचन करो" ऐसा मध्य में "उनमें से श्रेष्ठ इस ब्रह्म विद्या को बतलाते हैं" ऐसा अन्त में स्पष्ट रूप से ब्रह्म विद्या का महत्त्व बतलाया गया है। इस विवेचन से निश्चित होता है कि उक्त प्रसंग का तात्पर्य, सांख्य परिकल्पित प्रकृति और पुरुष नहीं हैं। वेदाचार्य ब्रह्मा अपने बड़े पुत्र को, सांख्य स्मृति परिकल्पित विद्या का उपदेश दें, ऐसी कल्पना भी नहीं की जा सकती; यही भाव सूत्रस्थ चकार के प्रयोग से परिलक्षित होता है।

रूपोपन्यासाच्च ।१।२।२३।

"अग्निमूर्धा चक्षुषी" इत्यादि रूपं न हि प्रकृतिपुरुषयोरन्यतरस्य संभवति। ब्रह्मवादे पुनर्विश्वकायस्यैतद्रूपम्। सूत्रविभागात् पुनर्मुख्योप-पत्तिरेवेति सूचितम्। चकारेण श्रुत्यन्तराविरोधएकवाक्यता च सर्वेषां वेदांतानामिति। तस्मादक्षरशब्देन पुरुषशब्देन च ब्रह्मैव प्रोक्तमिति, ब्रह्म-विद्यैवेति सिद्धम्।

"अग्निमूर्धा चक्षुषी" इत्यादि में जिस रूप का वर्णन किया गया है वह प्रकृति पुरुष का नहीं हो सकता। ब्रह्मवाद में तो यह, ब्रह्म के विश्वकाय के

रूप से स्वीकृत है। सूत्रकार इस बात को विशेष रूप से कहने के लिए ही "रूपो न्यासाच्च" एक विशेष सूत्र प्रस्तुत कर रहे हैं। सूत्र में चकार का प्रयोग कर बतलाते हैं कि इस 'ब्रह्म के विश्वकाय" के संबंध में सारे ही वेदांत वाक्य एक मत हैं इस पर श्रुतियों का पारस्परिक विरोध भी नहीं हैं। अक्षर शब्द से श्रुतियों में, ब्रह्म तत्त्व का विवेचन नहीं किया गया है अपितु इस ब्रह्म विद्या का ही विवेचन है।

८—अधिकरण

वैश्वानरः साधारणशब्दविशेषात् ।१।२।२४।।

अधिकरणत्रयेणभोगमुपपाद्य, पूर्वाधिकरणे अदृश्यत्वादि गुणानुक्त्वा प्रसंगात् रूपमुपन्यस्तम्। अधुना साकारब्रह्मतामुपपादयितुं इदमधिकरण-मारभते।

इस पाद में प्रारंभिक तीन अधिकरणों से भोग का उत्पादन करके, पूर्व के अधिकरण में अदृश्यता आदि गुणों का विवेचन करके प्रसंगतः रूप का भी विवेचन कर दिया। अब ब्रह्म की साकारता का विवेचन करने के लिए, इस अधिकरण को प्रस्तुत कर रहे हैं।

"को न आत्मा किं ब्रह्म? आत्मानमेवेमं वैश्वानरं संप्रत्यध्येषितमेव नो ब्रूहि" इति चोपक्रम्य द्युसूर्यवाय्वाकाशवारिपृथिवीनां सुतेजस्त्वादि गुण योगमेकैकोपासननिन्दया च मूर्द्धादिभावमुपदिश्याऽम्नायते "यस्त्वेतमेव प्रादेशमात्रमभिविमानमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते स सर्वेषु लोकेषु सर्वेषु भूतेषु सर्वेष्वात्मस्वन्नमत्ति, तस्य ह वा एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य मूर्द्धैव सुतेजश्चक्षु-र्विश्वरूपः प्राणः पृथग्वर्त्मात्मा संदेहो बहुलो बस्तिरेव रयिः पृथिव्येव पादावुरर एव वेदिर्लोमानि बर्हिर्हृदयं गार्हपत्यो मनोऽन्वाहार्यपचनमास्य-माहवनीयः" इत्यादि।

छांदोग्य में—"हमारा आत्मा कौन है, और ब्रह्म का स्वरूप क्या है?" आप इस वैश्वानर आत्मा के ज्ञाता हैं, उसी का हमारे लिए उपदेश करें" ऐसा उपक्रम करके द्यु, सूर्य, वायु, आकाश, जल पृथिवी आदि के, सुतेजता आदि गुणों के आधार पर, अलग अलग उपासना की गर्हणा करके उस विराट के मूर्द्धा आदि भाव का उपदेश देकर आगे कहते हैं—

"जो इस प्रादेश मात्र व्यापी आत्मा वैश्वानर की उपासना करते हैं—वे सब लोक, सब भूत और सब आत्माओं में अन्न खाते हैं, इस वैश्वानर आत्मा के, सुतेज मूर्धा और चक्षु हैं, विश्वव्यापी प्राण हैं, इसके एक एक अंगों की पृथक् पृथक् उपासना करने से अनेक संशय उपस्थित होते हैं", इत्यादि।

तत्र संशयः, किं वैश्वानरशब्देन ब्रह्म प्रतिपादयितुं शक्यते न वा ? अर्थस्यातिसंदिग्धत्वात् संदेहः। तत्रोपक्रमे ब्रह्मात्मप्रद प्रयोगोऽस्ति नान्यत् किंचित्, उपपादनेत्वद्धर्मा एव। साकारस्य तु लोकन्यायेनाब्रह्मत्वम्।

उक्त प्रसंग पर संशय होता है कि, वैश्वानर शब्द से ब्रह्म का प्रतिपादन हो सकता है या नहीं ? उक्त वाक्य का अर्थ अति संदिग्ध है, इसीलिये संदेह होता है। इसके उपक्रम में ब्रह्मात्मप्रद प्रयोग है किसी अन्य का नहीं हैं, उपपादन भी उन्हीं के धर्मों का किया गया है। किंतु वैश्वानर की साकारता का वर्णन होने से लौकिक दृष्टि से अब्रह्मत्व प्रतीत होता है।

वैश्वानरो यद्यप्यग्नावेव प्रसिद्धस्तथापि पूर्वकांडसिद्धत्वात् देवात्मपरिग्रहो युक्तः। ततश्च, संवत्सरोवा अग्निर्वैश्वानर इति श्रुतेः संवत्सरस्य प्रजापतित्वाच्च हिरण्यगर्भोपासनापरमिदमिति गम्यते। ब्रह्मात्मशब्दावपि हि तत्रैव युक्ततरौ। तदुपासकस्यैवान्न भोजनत्वमपि सर्वत्र युक्तम् प्रादेशमात्रत्वमपि मुक्तजीवत्वादस्मदाद्यपेक्षया स्थूलत्वाभिप्रायम्। विराडभिमानत्वाच्च लोकावयवत्वम्। वेदगर्भत्वादग्नित्रयात्मकत्वमिति। तस्माद्धिरण्यगर्भोपासनापरमेवैतद् वाक्यं, न भगवदुपासना परम्।

यद्यपि "अग्निर्वैश्वानरो वह्निः" इत्यादि कोश के अनुसार वैश्वानर शब्द भूताग्नि के रूप से प्रसिद्ध है, फिर भी पूर्व मीमांसा में "विश्वस्मा अग्नि भुवनाय देवा वैश्वानरम्" इत्यादि से देवात्म वाची रूप से कहा गया है। उत्तर मीमांसा में वृहदारण्य के सप्तान्न ब्राह्मण में "संवत्सरोवा अग्निवैश्वानरः" इत्यादि में संवत्सर नाम से इसका उल्लेख है। तैत्तरीय वृहन्नारायणोपनिषद् में "प्रजापतिः संवत्सरः" कह कर संवत्सर को प्रजापति बतलाया गया है जिससे उपर्युक्त प्रसंग हिरण्यगर्भ की उपासना परक निश्चित होता है। ब्रह्म और आत्मा शब्द भी उस हिरण्यगर्भ में संगत हो जाते हैं। उसके उपासक की, अन्न भोजन वाली बात भी सुसंगत हो जायगी। उसके

प्रादेशमात्र में स्थित होने की जो बात कही गई है, वह स्थूल दृष्टि से सामान्य जीवों की स्थिति की परिचायक है, हिरण्यगर्भ भी तो जीवों का समष्टि रूप मुख्य स्वरूप है। वह हिरण्यगर्भ विराटपुरुष का अभिमानी देवता है इसलिए संसार के पृथिवी आदि अवयवों को उसका अवयव कहा गया है। वे वेदगर्भ हैं, इसलिए उनकी अग्निश्यात्मकता भी संगत हो जाती है। इससे ज्ञात होता है कि ये वाक्य हिरण्यगर्भोपासना परक ही है, भगवदु-पासना परक नहीं है।

एवं प्राप्ते उच्यते—वैश्वानरः परमात्मैव, कुतः? साधारण शब्द विशेषात्, ये पूर्वपक्षे साधारणशब्दा हिरण्यगर्भ परतया ततोऽपि विशेषोऽस्ति येन भगवानेव वैश्वानरो भवति। प्रादेशमात्रस्यैव द्युमूर्द्धत्वादि धर्मा। न हि विरुद्ध धर्माश्रयत्वं भगवद्व्यतिरिक्ते संभवति। सर्वभवनसामर्थ्याभावात्। साधारणाद्धर्मान् शब्द एव विशेष इति वा। विशेषादित्येव वक्तव्ये साधारणशब्दशब्दौ प्रादेशमात्रस्यैव वैश्वानरशब्दवाच्यत्वं, द्युमूर्द्धत्वादिकं तस्यैवेति समासेन द्योतयतः, अन्यथा विरोधाभावात्। यदपि लोकात्मकं स्थूलंरूपं तदपि भगवत एव, न हिरण्यगर्भस्येति, पुरुषत्वात्तस्य। विश्वस्य जडस्यनरस्यजीवस्य च भगवदंशत्वेन देवतात्वाद् देवताद्वन्द्वे चेति विश्वानरौ तौ निवासौ यस्येति, तस्य निवास इत्यण्। तेन परमेश्वर एव वैश्वानरो भवति नान्यः। भगवदंशत्वादन्यत्रोपचारात् प्रयोगः। तस्माद् वैश्वानरः परमात्मा।

उक्त मत पर कहते हैं कि, वैश्वानर परमात्मा का ही नाम है, उक्त प्रसंग में साधारण शब्दों के अतिरिक्त विशेष शब्द भी हैं जिससे परमात्मा की बात पुष्ट होती है। साधारण शब्दों के आधार पर हिरण्यगर्भ का वर्णन प्रतीत होता है, पर कुछ ऐसे विशेष शब्द भी हैं जिनसे यह निश्चय होता है कि वैश्वानर भगवान ही हो सकते हैं। प्रादेशमात्र अल्प स्थान में स्थित की द्युमूर्द्धा आदि व्यापक विशेषतायें, सिवा परमात्मा के और किसमें संभव हो सकती हैं? ये विलक्षण विशेषतायें परमात्मा के अतिरिक्त किसी और में संभव नहीं हैं। उनमें सब कुछ होने का सामर्थ्य है। वैश्वानर शब्द ही व्यापक अर्थ की प्रतीति करा रहा है। यद्यपि लोकात्मक स्थूल रूप का वर्णन उक्त प्रसंग में है, जोकि व्यापक निराकार परमात्मा के लिए मानने में हिचक

होती है, पर वस्तुतः है वो भगवान के लिए ही प्रयुक्त, हिरण्यगर्भ का उससे कोई संबंध नहीं है। विराट पुरुष का ही रूप दिखलाया गया है विराट पुरुष परमात्मा ही हैं। तथा विश्व जड जीव नर, ये दोनों ही भगवान के अंश हैं, इन दोनों शब्दों के संयोग से ही द्वन्द्व समास करने से यह वैश्वानर शब्द निष्पन्न हुआ है, इससे यही निश्चित होता है कि परमेश्वर ही वैश्वानर है, दूसरा और नहीं। जहाँ कहीं वैश्वानर शब्द का प्रयोग किसी अन्य के लिए हुआ भी है वह भी उन सबके भगवदंश होने के कारण, औपचारिक मात्र है। इसलिए वैश्वानर परमात्मा ही है।

स्मर्यमाणमनुमानं स्यादिति ।१।२।२५।।

व्याख्यानेन भगवत्परत्वाद् वाक्यस्य प्रमाणान्तरमाह-

"केचित् स्वदेहे हृदयावकाशे प्रादेशमात्रं पुरुषं वसन्तम्।
चतुर्भुजं कंजरथांगशंखगदाधरं धारणया स्मरन्ति ।।" इति

स्मर्यमाणं रूपमनुमानं स्यात्, प्रादेशमात्र वैश्वानरस्य ब्रह्मत्वे। स्मरणं हि मननं श्रुतस्य भवति। श्रुतिवाकेभ्य एव हि श्रवणम्। यदि प्रादेशमात्र वैश्वानरप्रतिपादक जातीयानां न ब्रह्मवाक्यत्वं स्यात् तदा स्मरणं नोपपद्यते। अत, इति हेतोः प्रादेशमात्रवैश्वानरो भगवानेवेति सिद्धम्।

उक्त वाक्य को अन्य प्रमाण से भगवत्परक सिद्ध करते हैं— 'कोई, अपने देह के हृदयाकाश दहर में बसे हुए प्रादेशमात्र पुरुष को, शंख चक्र गदा पद्म धारी चतुर्भुज रूप से स्मरण करते हैं।" यहाँ जिस स्मर्यमाण रूप का उल्लेख है वह आनुमानिक ही है, प्रादेशमात्र में तो वैश्वानर ब्रह्म की ही वसति है श्रुत वस्तु के मनन को ही स्मरण कहते हैं। श्रुति वाक्यों को ही श्रवण कहते हैं। यदि प्रादेशमात्र वैश्वानर प्रतिपादक वाक्यों को ब्रह्मपरक नहीं माना जाय तो ब्रह्म के स्मरण का आधार ही क्या हो सकता है, स्मरण की बात उठेगी भी कहाँ से ? इससे निश्चित होता है कि, प्रादेश मात्र वैश्वानर भगवान ही हैं।

शब्दादिभ्योऽन्तः प्रतिष्ठान्नेति चेन्न, तथा दृष्ट्युपदेशाद संभवात्-पुरुषमपि चैनमधीयते ।१।२।२५।।

किंचिदाशंक्य परिहरति । ननु यदि स्मर्यमाणमनुमानं स्यादिति वाक्यार्थो निर्णीयते, तदा स्मृत्यन्तरेणान्यथापि व्याख्येयम ।

"अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः ।

प्राणापान समायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ।" इति जाठर एवाग्नि-वैश्वानरो भवति । तस्यैव भगवत्विभूतित्वात् । वाक्यार्थो यथा कथंचिद् योजयिष्यते । न तु विरुद्धधर्माणां विद्यमानत्वाद् भगवत्परत्वं वाक्यस्य । विरुद्ध धर्माः शब्दादयः । अन्तः प्रतिष्ठानं च । अग्निवैश्वानर इति शब्दः केवल वैश्वानर पदे भवेत् । भगवत्परत्वं योगेन । तदग्नि साहचर्यादग्निरेव भवति । तस्यैव च त्रेताग्निकल्पनमुपासनार्थम् । "प्राणो हि देवता तद् यद्भक्तं प्रथममागच्छेत तद्धोमीयम्" इत्यादिना । तदेतेभ्यो हेतुभ्योऽन्तः प्रतिष्ठितत्वमपि न भगवद्धर्मः । पुरुषेऽन्तः प्रतिष्ठितं वेदेति भिन्नहेतुर्हेतुश्च भवतीति न चकारः । तस्माद्विरुद्धधर्माणां विद्यमानत्वान्न भगवान् वैश्वानर इति चेत्, न, तथा दृष्ट्युपदेशात् सर्वभोक्तृत्वं भगवतो वक्तुं तथा दृष्टिरुपदिश्यते । विरुद्धधर्माणा न्तत्द्भावापत्तिरित्यैश्वर्यमेव भगवतो वर्णितम् ।

कुछ शंका उपस्थित कर उसका परिहार करते हैं । यदि स्मर्यमाण वस्तु को अनुमान मानकर वाक्य का निर्णय करते हो तो स्मृति (गीता) के निम्न वाक्य के अनुसार दूसरी ही प्रकार की व्याख्या करनी पड़ेगी—"हे अर्जुन ! मैं ही वैश्वानर होकर प्राणियों के शरीर में स्थित रहकर प्राण और अपान के समभाव होने पर चतुर्विध अन्न को पचाता हूँ" इसमें तो जाठराग्नि ही वैश्वानर कही गई है । उसे ही भगवद् विभूति कहा गया है इसलिए चाहे वाक्यार्थ को किसी प्रकार संगत कर भी लो अन्यथा विरुद्ध गुणों की स्थिति होने से, उक्त वाक्य को भगवत्परक तो कह नहीं सकते (अर्थात् अग्नि और भगवान के विपरीत ही गुण हैं) शब्द और अन्तः स्थिति की बात दोनों ही विपरीत गुण हैं । वैश्वानर अग्नि शब्द, केवल वैश्वानर पद से वर्णन किया जाता है । इस शब्द का भगवत्परक प्रयोग गीता के उक्त वाक्य के आधार पर ही किया जा सकता है, वहाँ भी इसका अग्नि के रूप में वर्णन है इसलिए

वह अग्नि ही है। इसी की उपासना के लिए, त्रेताग्नि के नाम से कल्पना की गई है। "प्राणो हि देवता" इत्यादि में इसकी उपासनापरक कल्पना है। इन्हीं आधारों पर इस अन्तः स्थित वैश्वानर अग्नि को भगवद्धर्म के रूप में नहीं स्वीकारा जा सकता। वाजसनेयि ब्राह्मण में—"पुरुषेऽन्तः प्रतिष्ठितं वेद" इत्यादि प्रसंग में वैश्वानर अग्नि शब्द से स्पष्ट उल्लेख करते हुए उसे प्राणियों के अन्दर स्थित बतलाया गया है; इसमें परमात्मा से विरुद्ध ही गुण हैं इसलिए भगवान, वैश्वानर नहीं हो सकते। इत्यादि शंका में अनर्गल हैं। उक्त प्रसंग में भगवान की सर्वभोक्तृत्व शक्ति को दिखलाने के लिए वैश्वानर को जाठराग्नि के रूप में दिखलाया गया है। भगवान ही हर वस्तु के कारण हैं इसलिए हर वस्तु के गुण भगवान में स्थित हैं, विभिन्न विलक्षण गुणों की स्थिति, भगवान के ऐश्वर्य की ही परिचायक है। वह उन्हीं के लिए वर्णन किये गये हैं।

तर्हि कार्यवाक्यमेवास्तु स्मृत्यनुरोधादिति चेत् तत्राह—असंभवात्, नहि तस्य द्युमूर्द्धत्वादयो धर्माः संभवति। उपचारादुपासनार्थम् परिकल्पनं भविष्यतीति चेन्न। पुरुषमपि चैनमधीयते, वाजसनेयिनः। "स एषोऽग्नि-वैश्वानरो यत्पुरुषः, स यो हैतमेवाग्निं वैश्वानरं पुरुषविधं पुरुषेऽन्तः प्रतिष्ठितं वेद" इति। तस्मात् पुरुषत्वं, पाठान्तरे पुरुषविधत्वं वा जाठरस्य न संभवतीति भगवान् एव वैश्वानरः। भगवत्परत्वे संभवत्यन्यकल्पना न युक्तेति।

यदि कहें कि, गीतास्मृति में जो जाठराग्नि का वर्णन है वह कार्य के आधार पर है, इसलिए उक्त उपनिषद् वाक्य कार्यपरक है, कारण (परमात्मा) परक नहीं है; इसका समाधान करते हैं कि, "द्युमूर्द्धा" आदि विशिष्ट धर्म अग्नि में संभव नहीं हैं, इसलिए यह परमात्मापरक वाक्य है। यदि कहो कि, उपासना के लिए उसकी औपचारिक रूप से परिकल्पना की गई है, सो बात भी नही है—वाचसनेयी में "स एषोऽग्निर्वैश्वानरो यत्पुरुषः" इत्यादि में इस वैश्वानर को पुरुष भी कहा गया है, केवल अग्नि रूप ही हो ऐसा नहीं है। इसका पुरुष या पुरुष के समान वर्णन किया गया है इसलिए वैश्वानर का केवल जाठराग्नि के रूप में ही वर्णन किया गया हो सो बात नहीं है, वह तो भगवान ही हैं। भगवत्परक होने से इसकी अन्य रूपों से परिकल्पना करना उपयुक्त नहीं है।

अत एव न देवता भूतं च ।१।२।२७।।

वैश्वानरो न ऊत्येत्यादि मंत्रैर्देवताया महाभूताग्नेर्वा वाक्यार्थतेति कस्यचिद् बुद्धिः स्यात् । तदप्यतिदेशेनैव परिहरति । मुख्योपपत्तिर्भगवत्परत्वे सभवति, नान्यकल्पना युक्ते ति ।

"वैश्वानरो न ऊति" इत्यादि मंत्र के आधार पर देवता या महाभूताग्नि मानकर वाक्यार्थता की कल्पना भी किसी की बुद्धि में उपजी, उसका भी अतिदेश के आधार पर परिहार करते हैं कि, मुख्योपपत्ति तो भगवत्परक ही हो सकती है, इसलिए किसी अन्य की परिकल्पना करना उपयुक्त नहीं है ।

साक्षादप्यविरोधं जैमिनिः ।१।२।२८।।

अधुना परिमाणविशेषो विचार्यते । प्रादेशमात्रत्वं भगवतः स्वाभाविकं कृत्रिमं वेति ? अस्मिन् सिद्धएव पूर्वोक्तं सिद्धं भवेदिति विचार्यते । तत्रास्मिन्नर्थे चत्वार ऋषयो वेदार्थ चिन्तकाः प्रकारभेदेन । तत्र केवल शब्द बल विचारका आचार्याः । शब्दार्थयो जैमिनिः । आश्मरथ्यस्तु शब्दोपसर्जनेनार्थ विचारकः । केवलार्थविचारको बादरिः । आचार्यः पुनर्विचाराविचारयोर्दोषं पश्यन् विचारमपिवदँस्तेषामल्पबुद्धिख्यापनाय नामान्याह ।

अब परिमाण विशेष पर विचार करते हैं । भगवान की प्रादेश मात्र परिमाण की जो कल्पना है वह स्वाभाविक है या कृत्रिम ? इसका निर्णय होने से पूर्वोक्त कथन भी निर्णीत माना जा सकता है, इसलिए इस पर विचारते हैं । इस पर वेदार्थ चिन्तक चार ऋषि भिन्न भिन्न प्रकार से विचार करते हैं । अन्य तो केवल, शब्द बल के आधार पर विचार करने वाले आचार्य हैं, जैमिनि शब्द और अर्थ दोनों के आधार पर विचार करते हैं । आश्मरथ्य, तो शब्द को छोड़कर अर्थ पर विचार करते हैं । बादरि केवल अर्थ पर बिचार करते हैं । आचार्य बादरायण, विचार और अविचार के दोषों का विश्लेषण करते हुए अन्यान्य ऋषियों के विचारों को केवल, उनकी अल्पबुद्धि दिखलाने के लिए ही उन ऋषियों के नाम देकर प्रस्तुत करते हैं ।

तत्र जैमिनिरुभयबल विचारकः प्रथमं निर्दिश्यते । व्यापकस्य प्रादेश मात्रत्वे साक्षादपि कल्पना व्यतिरेकेणापि स्वरूपविचारेणैवाविरोधं मन्यते

जैमिनिः। आकाशवद् व्यापकं सर्वतः पाणिपादान्तं ब्रह्म अत एव साकारत्व मनंतमूर्त्तित्वब्रह्मणः स्वेच्छयापरेच्छयास्वभायतश्च विभक्तमिव। अयोऽपि नियत परिमाणाः। अनियत परिमाणास्तु आकाशवत् परिच्छेदनिरूप्याः। तद् बृद्धिह्रासाभ्यां तथा भवंति। स्मृतावप्युक्तं—"विष्णोस्तु त्रीणि रूपाणि पुरुषाख्यान्यथो विदुः, प्रथमं महतः स्रष्टृः द्वितीयं त्वंडसंस्थितम्, तृतीयं सर्व भूतस्थं तानिज्ञात्वा विमुच्यते" इति।

सर्व प्रथम उभय बल विचारक जैमिनि का मत प्रस्तुत करते हैं। व्यापक परमात्मा की प्रादेशमात्र स्वरूप स्थिति, साक्षात हो या व्यतिरेक से, आचार्य जैमिनि उसमें कोई विरोध नहीं समझते, जैसे कि, आकाश की तरह व्यापक, सब जगह पहुँचने वाले ब्रह्म की साकारता और अनंत स्वरूपता, ब्रह्म की अपनी इच्छा, दूसरे की इच्छा और स्वभावतः होती हैं। तीनों परिस्थितियों में उनका परिमाण नियत रहता है। उनका अनियत परिम'ण तो आकाश की तरह परिच्छेद निरूप्य है अर्थात् वृद्धि ह्रास से अनेक रूप का होता है। जैसा कि स्मृति क' वचन भी है—"उस परम पुरुष विष्णु के तीन रूप हैं, पहिला महत् सृष्टि में, दूसरा त्वं पद वाच्य जीव में तथा तीसरा समस्त भूतों में स्थित है, इनको जानकर मुक्ति हो जाती है।"

भूतेषु पंचधा। उदरेऽगुष्ठमात्रः, हृदये प्रादेशो, मूर्द्धनि च मनसीन्द्रियेषु चाणुः, चित्ते व्यापकः। एकस्याप्युपक्रमे सर्वेषु तथात्ववादो विभूतिरभेदाय, तस्माद् वैश्वानरस्य पुरुषत्वात् सच्चिदानंदरूपेणैव प्रादेशमात्रत्वं न विरुद्ध्यते, अतः साकार ब्रह्मवाद जैमिनेः सिद्धान्तः।

भूतों में उस ब्रह्म की पांच रूपों में स्थिति है, उदर में हृदय प्रादेश मात्र, में मूर्द्धा, मन और इन्द्रियों में अणु मात्र तथा चित्त में व्यापक। केवल एक प्रादेश मात्र के वर्णन करने में उसी प्रकार सभी में उनकी विभूति अभिन्न रूप से मान लेनी चाहिए। इस प्रकार वैश्वानर के पुरुष होने से, उस सच्चिदानंद रूप से व्याप्त परमात्मा की प्रादेश मात्र स्थिति म'नने में कोई विरुद्धता नहीं है, ऐसा साकार ब्रह्मवाद का जैमिनि का सिद्धान्त है।

अभिव्यक्तेरित्याश्मरथ्यः ।१।२।२९॥

निराकारमेव ब्रह्म मायाजवनिकाच्छन्नं तदपगमेन पुरुषाकारेणाधिदैविक

देवताधिष्ठिने नाभिव्यक्तः पुरुषोऽन्तर्यामी । अत एव पुरुष विध इति, अभिव्यक्ते र्हेतोः साकारत्वमपि मायापगमन कृतत्वान्न स्वाभाविकत्वम् । तथापि निर्दिश्यमानं सच्चिदानंदरूपमेवाश्मरथ्यो मन्यते ।

ब्रह्म का निराकार रूप ही माया के परदे से ढका रहता है, उस परदे के हटने से, आधिदैविक अधिष्ठित देवता स्वरूप पुरुष के आकार में अभिव्यक्त वह अंतर्यामी पुरुष नाम वाला है । अभिव्यक्त वह साकार भी माया से आवृत होने से अपने स्वाभाविक रूप में परिलक्षित नहीं होता । फिर भी शास्त्रों में उल्लेख्य सच्चिदानंद रूप को आश्मरथ्य मानते हैं ।

अनुस्मृतेर्बादरिः ।१।२।३०।।

बादरिः केवल यौक्तिकश्चिन्तनवशात् प्रादुर्भूतरूपानुवादिका श्रुतिरिति । "यद्यद्धियो त उरुगाय विभावयंति तत्तद्वपुः प्रणयसे सदनुग्रहायेति" वाक्यानुरोधात् । अन्यथा बहुकल्पनायां बुद्धिसौकर्याभावात् तार्किकादिमतेष्वपि तथात्वाद् युक्त्यनुरोधेन ब्रह्मवादोऽप्यन्यथा नेय इति मन्यते । अस्मिन् पक्षे त्वतात्त्विकत्वम् । अथवा मायास्थाने अनुस्मृतिः । अभिव्यक्तिस्तु तुल्या । एवं सति बादरिमतेऽपि तात्त्विकमेवरूपम् ।

आचार्य बादरि, परमात्मा के प्रादुर्भूत रूप को बतलाने वाली श्रुति पर युक्ति द्वारा विचार करते हैं । वह श्रुति इस प्रकार है—"जो उस व्यापक को जिस बुद्धि से ध्यान करते हैं, वह प्रेमवश उसी रूप में अपने को प्रकट कर देते हैं ।" बादरि का कथन है कि यदि हम ऐसा नहीं मानेंगे तो अनेकों कल्पनायें सामने आवेंगी जिन्हें बुद्धि द्वारा ग्रहण करना तार्किकों द्वारा भी संभव न होगा, तथा युक्तियों से ब्रह्मवाद भी नष्ट हो जावेगा इस प्रकार तत्त्व का भी लोप हो जावेगा अथवा मायाजाल विस्तृत हो जावेगा, माया और ब्रह्म की अभिव्यक्ति प्रायः समान ही होती है । इस प्रकार बादरि के मत में भी तात्त्विक रूप का ही निरूपण किया गया है ।

सम्पत्तेरिति जैमिनिस्तथाहि दर्शयति ।१।२।३१।।

जैमिनिमते आकारवादे नियत साकारं मन्यमानस्तदेक देशी नियतमेव प्रादेश मात्रं भगवद् रूपं मन्यते । तन्निराकरणाय सर्वत्र प्रादेशत्वं संपत्ति

कृतमित्याह। तत्र का संपत्तिः, कथमिति स्वयमेव श्रुत्या प्रदर्शयति ? वाजसनेयि ब्राह्मणे द्यु प्रभृतीन् पृथिवीपर्यन्तान् वैश्वानरस्यावयवान्, अध्यात्मे च मूर्द्ध प्रभृतिषुचिबुकपर्यन्तेषु संपादयन् "प्रादेशमात्रमिह वै देवाः सुविदिता अभिसम्पन्नास्तथा तु वा एतान् वक्ष्यामि यथा प्रादेशमात्रमेवाभिसंपादयिष्यामि" इति। "स हो वाच मूर्द्धानमुपदिशन्नेष वा अतिष्ठा 'वैश्वानरः" इत्यादिना संपत्ति निमित्तमेव प्रादेशमात्रत्वं वैश्वानरस्याह। ननु प्रादेशमात्र एव वैश्वानर इति। तदेकदेशिपरिहारं जैमिनिर्मन्यते।

परमात्मा के व्यापक और प्रादेशमात्र इन दो रूपों में स्पष्ट विरोध है, इसका परिहार करते हुए जैमिनि, आकारवाद में नियत साकारता को मानते हुए, एकदेश में नियत, भगवद् रूप को प्रादेश मात्र मानते हैं। उनका कथन है कि, श्रुति उक्त विरोध के निराकरण के लिए सर्वत्र, प्रादेशत्व संपत्ति का विधान करती है। वह संपत्ति क्या है, श्रुति उसका स्वयं कैसे प्रदर्शन करती है ? इस जिज्ञासा पर कहते हैं कि, वाजसनेयी ब्राह्मण में, द्यू से लेकर पृथिवी तक समस्त वैश्वानर के अवयवों को, अध्यात्म दृष्टि से मूर्द्धा से चिबुक पर्यन्त प्रादेशमात्र में दिखलाते हुए कहते हैं—"प्रादेशमात्र में व्याप्त यह देवता प्रसिद्ध है" इत्यादि तथा "यह वैश्वानर उसी में है' इत्यादि में वैश्वानर का संपत्ति के लिए ही प्रादेशमात्र रूप में वर्णन किया गया है, प्रादेशमात्र ही वैश्वानर हो ऐसा नहीं है। ऐसा एक देशीय परिहार जैमिनि मानते हैं।

आमनन्ति चैनमस्मिन् १।।२।३२।।

मुख्यं स्वसिद्धान्तमाह। व्यापक एव प्रादेश इति, न हि विरुद्धमुभयं भगवत्यनवगाह्य महात्म्ये। तस्मात् प्रमाणमेवानुसर्त्तव्यं न युक्तिः। शब्द बल विचार एव मुख्यः। ननु प्रातीतिकविरोधानन्यथात्वकल्पनम्। वैश्वानरस्य पुरुषत्वं, पुरुषविधत्वं पुरुषेऽन्तः प्रतिष्ठितत्वं च वाजसनेयिनः समामनंति। न हि तस्य तद्विधत्वं, तस्मिन्प्रतिष्ठितत्वं च संभवति युक्त्या। अतोऽन्ये ऋषयो भ्रान्ता एव ये अन्यथा कल्पयन्ति इत्यभिप्रेत्य स्वमतमाह।

अब मुख्य रूप से अपना सिद्धान्त बतलाते हैं कि, वह व्यापक ब्रह्म ही प्रादेशमात्र भी है, भगवान के माहात्म्य को न जानने के कारण ही इसमें

विरुद्धता की प्रतीति होती है, जान लेने के बाद कोई विरुद्धता नहीं है। इसमें श्रुति प्रमाणों का ही आश्रय लेना उचित है, युक्ति की कोई आवश्यकता नहीं है, शब्द बल विचार ही मुख्य होता है। यदि अन्यथा कल्पना का त्याग कर दिया जाय तो प्रतीत होने वाले विरोध का अभाव भी नहीं होगा। वैश्वानर का पुरुषत्व, पुरुषविधत्व और पुरुष में अन्तःप्रतिष्ठितत्व का स्पष्ट उल्लेख वाजसनेयि संहिता में है, युक्ति से उसके विधत्व और प्रतिष्ठित्व को सिद्ध नहीं किया जा सकता। इसलिए युक्ति की बात करने वाले सब ऋषि भ्रांत हैं जो कि अन्यथा कल्पना करते हैं, अब निर्भ्रान्त अपने मत को बतलाते हैं।

एतं वैश्वानरमस्मिन्मूर्द्धचिबुकान्तराले जाबालाः समामनन्ति—"एषोऽनन्तोऽव्यक्त आत्मा योऽविमुक्ते प्रतिष्ठत इति, सोऽविमुक्तः कस्मिन् प्रतिष्ठत ?" इत्यादिना "भ्रवोः प्राणस्य च यः संधिः स एष द्यौर्लोकस्य परस्य च संधिर्भवतीति।" न हि अनंतःसंकुचितस्थाने भवति, विशेषण-वैयर्थ्योपपत्तेः। युक्तिगम्यात्व ब्रह्मविद्यैव। अविरोधेऽपि वक्ष्यति। श्रुतेस्तु शब्दःमूलत्वादिति।

उक्त वैश्वानर को इस शरीर में ही मूर्द्धा से लेकर चिबुक तक जाबालोपनिषद् में व्याप्त बतलाया गया है—"यह अनंत अव्यक्त आत्मा अविमुक्त जीवात्मा में प्रतिष्ठित है" वह अविमुक्त किसमें प्रतिष्ठित है ?" इत्यादि। "भ्रू और प्राण की जो संधि है, वही द्यौ और परलोक की संधि है।" इत्यादि। अनंत वस्तु संकुचित स्थान में आबद्ध नहीं हो सकती, ऐसा मानने से, श्रुतियों में जो उसकी विशेषतायें बतलाई गई हैं वो सब व्यर्थ ही सिद्ध होंगी। ब्रह्म के संबंध में युक्ति से समाधान नहीं होता, माया के विषय में ही युक्ति चल सकती है। अविरोध में भी युक्ति चल सकती है किन्तु जहाँ विरुद्ध बातें सामने आवें वहाँ तो शास्त्र ही प्रमाण होता है, वेद शब्द मूलक हैं, शब्द का जो मुख्य अर्थ होगा वही मानना पड़ेगा।

ननु तथापि काचिद् वेदानुसारिणी युक्तिर्वक्तव्या, शास्त्रसाफल्यायेति चेत् उच्यते—विरोध एव नाशंकनीयो वस्तुस्वभावात्। अयस्कान्त सन्निधौ लोहपरिभ्रमणे या युक्तिर्गर्भस्योदर्यादाहे. रेतसो मयूरत्वाद्रि भावे। न हि सर्वत्र स्वभाव दर्शनाभ्यामन्योपपत्तिः, कैश्चिदपि शक्यते वक्तुम्। तस्यान्ते सुषिरमित्यादिना श्रुतिरेवमेवाह।

यदि कहो कि, शास्त्र को पुष्ट करने के लिए कोई कोई वेद सम्मत युक्ति प्रस्तुत की जा सकती है, सो उस पर कहते हैं कि, उक्त विषय में तो विरोध की शंका ही नहीं करनी चाहिए क्योंकि, परमात्मा का तो विलक्षण स्वभाव ही है। युक्ति तो सामान्य विषयों में चल सकती है असामान्य में नहीं। लोह कान्त (चुम्बक) मणि के निकट जैसे लोह के पदार्थ घूमते हैं, क्या गर्भाधान करने में मयूर भी नृत्य करता है ? दोनों विभिन्न बातें हैं उनमें एक ही युक्ति कैसे लगाई जा सकती है। विभिन्न स्वभावों को देखकर सब जगह, कोई भी स्वभाव के विपरीत कल्पना नहीं कर सकता। उक्त प्रसंग के अंत में "सुषिरं सूक्ष्मं यस्मिन् सर्वं प्रतिष्ठितं" इत्यादि से सूक्ष्मता और सर्व प्रतिष्ठा की बात स्पष्ट रूप से कही गई है।

यशोदास्तनन्धयस्य च भगवतो मुखारविन्दे विश्वमेव दृष्ट्वा स्वप्नमायाऽविद्या निराकरणाय सिद्धान्तमाह—"अतो अमुष्यैव ममार्भकस्य च: कश्चिनौत्पत्तिक आत्मयोग:" इति। उलूखल बंधने चायमर्थो निर्णीत: तस्मादानंदांशस्यैवायं धर्मो, यत्र स्वाभिव्यक्तिस्तत्र विरुद्ध सर्व धर्माश्रयत्वम् इति चकारार्थ:। तस्मात् प्रादेश मात्रो व्यापक इति वैश्वानरो भगवान् एवेति सिद्धम्।

यशोदा, अपने दुधमुहें बालक भगवान कृष्ण के मुख में विश्व को देखकर—स्वप्नमाया अविद्या के निराकरण के लिए सिद्धान्त वाक्य बोलती हैं—"निश्चित ही मेरे इस बालक से ही समस्त जगत की सृष्टि हुई है।" उलूखल बंधन के प्रसंग में भी जब कृष्ण को बांधने में हैरान हो गई उस समय भी ऐसा ही निर्णय किया। इससे निश्चित होता है कि परमात्मा के आनंदांश की ये सब लीलायें हैं जहाँ परमात्मा की अभिव्यक्ति होती है वहीं सारे विरुद्ध विलक्षण विशेषतायें होती हैं। इसलिए व्यापक वैश्वानर भगवान ही प्रादेश मात्र हैं ऐसा निश्चित होता है।

प्रथम अध्याय, द्वितीय पाद समाप्त

प्रथम अध्याय

तृतीय पाद

१ अधिकरण :—

द्युभ्वाद्यायतनं स्व शब्दात् १।३।१॥

द्वितीय पादे आधेयरूपो भगवान् प्रतिपादितः। आधाररूपोऽत्र प्रतिपाद्यते तेन "सर्वंब्रह्म" इति फलिष्यति।

भगवान बादरायण ने द्वितीय पाद में आधेय रूप का प्रतिपादन किया, अब इस तृतीय पाद में आधार रूप का प्रतिपादन करते हैं इससे सिद्ध होगा कि सब कुछ ब्रह्म है।

इदं श्रूयते—"यस्मिन् द्यौःपृथिवीचान्तरिक्षमोतं मनः सह प्राणैश्च सर्वैः, तमेवैकं जानथ आत्मानमन्यावाचो विमुंचथाऽमृतस्यैष सेतुः" इति।

ऐसी श्रुति है कि—"जिसमें द्यौ, पृथिवी, अन्तरिक्ष और मन सहित समस्त प्राण स्थित हैं, उन्हीं एक को जानने की चेष्टा करो, अन्य किसी की बात भी मत करो, वही अमृत के सेतु हैं" इत्यादि।

"बाधकानां बलिष्ठत्वात् साधकानभावतः, आचारधर्मा बाध्येरन् इति पादोऽभिधीयते यस्मिन्नित्यादि वाक्ये च वाक्यार्थः सर्व बाधितः, अर्थात् प्रकरण लिंगादिति पूर्वं विचार्यते।"

बाधक वाक्यों के बलिष्ठ होने से, साधक वाक्यों के अभाव से, अचार धर्मों का बाध होता है, यही पाद में दिखलाया गया है। "यस्मिन् द्यौ" इत्यादि वाक्य से सारा वाक्यार्थ बाधित होता है। अर्थात् प्रकरण लिंग से प्रबल है इसलिए पहिले उसी पर विचार करते हैं।

अत्र संशयः, द्यु्भ्वाद्यायतनं ब्रह्म, आहोस्वित् पदार्थान्तरम् इति। अर्थान्तरमेव च भवितुमर्हति। द्यु्भ्वादीनां सूत्रेमणिगणाइवप्रोतानां भारवाहकत्वान्न तद्वाहकः परमात्मा। अन्यवाग्विमोकश्चासंगतः। एक विज्ञानेन सर्वं विज्ञानस्य पृष्टत्वात् कथमन्यविमोकः? सुतेश्च गति साधनः तस्माद फलत्वमपि। आत्मलाभान्न परं विद्यत इति विरोधश्च। अतो न ब्रह्मविद्या परमेतद् वाक्यं, किन्तु स्मृतिमूल भविष्यति।

यहाँ यह संशय होता है कि, द्यु भू आदि का आयतन ब्रह्म है, या कोई अन्य पदार्थ? कोई दूसरा ही हो सकता है, क्योंकि, द्यु भू आदि सूत्र में पिरोये हुए मनकों के समान भार रूप हैं, उनको वहन करने वाले परमात्मा नहीं हो ससते। इस वाक्य से दूसरे वाक्य भी असंगत होंगे। और फिर एक के ज्ञान से सबका ज्ञान होता है, इस नियम के अनुसार दूसरों का अर्थ संगत भी कैसे होगा? आने जाने के साधन को ही सेतु (पुल) कहते हैं, इसलिए यहाँ परमात्मा परक अर्थ करना निष्फल भी है, अर्थात् परमात्मा को इतना छोटा नहीं बतला सकते। ऐसा मानने से कुछ आत्मलाभ की भी तो संभावन नहीं है जिससे मोक्ष हो सके, अपितु विपरीत फल की ही संभावना है, अर्थात् परमात्मा को सेतु मान कर उस पर पैर रख कर चलने से नर्क ही होगा, मोक्ष कैसे संभव है। इसलिए यह वाक्य ब्रह्मविद्या परक नहीं समझ में आता अपितु सांख्य स्मृति सम्मत प्रकृति परक प्रतीत होता है।

इत्येवं प्राप्ते उच्यते—द्यु्भ्वाद्यायतनं ब्रह्मैव, द्यौर्भूश्चादिर्येषां ते द्यु्भ्वादयः, तेषामायतनं, यस्मिन् द्यौरिति वाक्योक्ताना साधकं वदन् प्रथम परिहारमाह—स्वशब्दात्, आत्मशब्दो व्याख्यातः स्वशब्देन अत्र न जीवस्यात्मत्वेनोपासनार्थमात्मपदं, किन्तु पूर्वोक्तानामात्कभूतं तेन न भारकृतो दोषः कारणे हि कार्यमोत भवति। सेतुत्वं न युज्यतं तत्ज्ञानेनाऽमृतत्व प्राप्तेः। अभेदेऽपि "ब्रह्मविदाप्नोति परम्" इतिवदर्थः। तस्माद बाधितार्थत्वाल्लक्ष्यस्य सर्वगतत्व व्युत्पादकत्वाद् द्यु्भ्वाद्यायतनं ब्रह्मैव।

उक्त मत पर सिद्धान्त प्रस्तुत करते हैं कि, द्युभू आदि के आयतन परमात्मा ही हैं, "यस्मिन् द्यौ" इत्यादि साधक को बतलाने के लिए पहिले परिहार करते हैं कि, उक्त वाक्य में ब्रह्म वाची आत्मा तो हो नहीं सकता, जीवात्मा की उपासना की तो चर्चा है नहीं। पूर्वोक्त द्युभू आदि के भार को

जो बात कही, वह भी निस्तथ्य है, क्योंकि, कारण में कार्य निहित रहता है। सेतु संबंधी जो शंका की उसका भाव यह है कि परमात्म तत्त्व के ज्ञान से अमृत प्राप्ति होती है, सेतु पद इसी रूप में आधार वाची है। अभेद वाद में जैसे—"ब्रह्म विद् ब्रह्म को प्राप्त करता है" ऐसा वाक्य हैं उसी प्रकार यह सेतु पद भी ज्ञान वाची है। इस वाक्य का अर्थ अबाधित है, लक्ष्य, परमात्मा की सर्व व्यापकता का बोधक है। इस प्रकार निश्चित होता है कि द्यु भू आदि के आयतन ब्रह्म ही हैं।

मुक्तोपसृप्यव्यपदेशात् ।१।३।२।।

ननु चोक्तं सर्व विज्ञानस्योपक्रान्तत्वादन्यवाग्विमोको विरुद्ध इति। नैव दोषः। मुक्तोपसृप्यव्यपदेशात्। मुक्तानांजीवन्मुक्तानां शरीराद्यध्यासरहितानां अवान्तरप्रकरणशरधनुन्यायेन ब्रह्मत्वेन ज्ञानं पृथक्त्वेन वा जीवं लक्ष्ये योजयितुं तदुपसृप्यता व्यपदिश्यते। तेन शरीराद्यध्यासविशिष्टं न ब्रह्मणि योजनीयम् इति।

जो यह कहा कि, सर्व विज्ञान के नियम से अन्य वाक्यों की संगति नहीं बैठेगी, सो ऐसा दोष नहीं होगा, शरीराध्यास से रहित जीवन्मुक्त जीवों को, अन्य प्रकरण में शरधनुन्याय से ब्रह्मत्व रूप से अभिन्न अथवा भिन्न कहा गया गया है; जीव को लक्ष्य की ओर उपसरण करने का उपदेश किया गया है। [अर्थात् जीवों की भगवन्निकट गमन योग्यता का उल्लेख किया गया है] जैसा कि उल्लेख है—"धनुर्गृहीत्वौपनिषदंमहास्त्रं शरंह्युपासानि शतं सन्यधीत, आयाम्यतद्भावगतेन चेतस्य लक्ष्यं तदेवाक्षरं सौम्य विद्धि।" अर्थात् औपनिषद् ब्रह्मविद्या रूपी धनुष पर उपासना रूपी तीर को चढ़ाकर जो लक्ष्य वेध करता है, मैं उसकी भावना के अनुसार उसके चित्त में आ जाता हूँ, हे सौम्य! उस अक्षर को ही लक्ष्य जानो। "प्रणवो धनुः शरोह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते, अप्रमत्तेन बोद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्" अर्थात्—प्रणव धनु, जीवात्मा तीर और ब्रह्म लक्ष्य है, तन्मय होकर सावधानी के साथ, लक्ष्य का वेध करना चाहिए। "लक्ष्यं सर्वगतं चैव शरो मे सर्वतोमुखः वेद्धा सर्व गतश्चैतद् विद्धं लक्ष्यं न संशयः।" अर्थात् मुझ सर्वव्यापक की ओर सर्वतोमुख होकर लक्ष्य का संधान करने वाला सर्वगत चित्त निश्चित ही लक्ष्य का वेध

कर लेता है इसमें संदेह नहीं है ।" इसलिए, शरीराध्यास विशिष्ट जीव को ब्रह्म में नहीं लगना चाहिए, शरीध्यास रहित को ही लगना चाहिए ।

किं च वाग्विमोक एव न वस्तु विमोकः ? वस्तुनो ब्रह्मत्वात् । वाचारंभणमात्रत्वाद् विकारस्य, अतो न सर्व विज्ञान बाधः । अतो बाधकाभावादिद ब्रह्म वाक्यमेव । ये तु श्रुतेरन्यथार्थत्वं कल्पितमतानुसारेण न यन्ति, ते पूर्वोत्तर स्पष्ट श्रुति विरुद्धार्थवादिन उपेक्ष्याः ।

ये तो वाक्य की संगति की बात हुई, वस्तु की तो हुई नहीं ? सो वस्तु की संगति का प्रश्न ही नहीं उठता, सारी वस्तुएं, ब्रह्म स्वरूप ही तो हैं । विकृत जागतिक पदार्थों में नाम मात्र का ही तो भेद है, हैं तो सब सच्चिदानंद स्वरूप ही, इसलिए सर्वविज्ञान के नियम में बाधा नहीं होगी । बाधा न होने से स्पष्ट है कि, ये वाक्य ब्रह्म परक ही है । जो लोग अपनी कल्पनानुसार श्रुति का इससे विपरीत अर्थ करते हैं, पूर्वोत्तर स्पष्ट श्रुति से विरुद्ध अर्थ करने वाले उन लोगों की उपेक्षा कर देनी चाहिए ।

नानुमानमतच्छब्दात् ।१।३।३।।

ननु जड धर्मा, जड दृष्टान्ताः प्रकरणे बहवः संति "अरा इव ब्रह्म पुरे मनोमयः" इत्यादि । तस्मात् प्रकृति पुरुष निरूपक सांख्यानुमापकमेवैतत्प्रकरण वस्तु । निर्णीयमपि अक्षराधिकरणे जड धर्मात् पुनरुज्जीवनम्, तस्माद् द्युभ्वाद्यायतनं प्रकृतिमेव भवितुमर्हति ।

उक्त प्रकरण में "अरा इव ब्रह्म पुरे मनोमयः" इत्यादि, जड धर्म परक जड दृष्टान्त बहुत हैं इससे तो यही समझ में आता है कि, प्रकृति पुरुष का निरूपण करने वाले सांख्य का आनुमानिक तत्त्व ही इस प्रकरण का प्रतिपाद्य हो सकता है । अक्षराधिकरण में जड धर्म से पुनरुज्जीवन की बात निर्णीत हो चुकी है इसलिए द्यु भू आदि की आयतन प्रकृति ही हो सकती है ।

इति चेन्न अनुमानं तन्मतानुमापकं न भवति । कोऽपि शब्दो निःसंदिग्धस्तन्मतख्यापको नास्ति ब्रह्मवाद ख्यापकास्तु बहवः सन्त्यात्मसर्वज्ञानंदरूपादि शब्दाः । अतः संदिग्धाः जड धर्मत्वेन प्रमीयमाना अपि ब्रह्म धर्माः, एवेति

युक्तम् । न हि ब्रह्मवादः श्रुतिव्यतिरिक्ते सिद्धोऽस्ति येन ब्रह्मधर्मा भावो निश्चितुं शक्येत । तस्मात् सर्वाधारत्वेन निरूप्यमाणः परमात्मैव न प्रधान-मिति ।

प्रकृति आयतन नहीं हो सकती, अनुमान कभी अनुमापक नहीं हो सकता। उक्त प्रकरण में कोई एक भी शब्द, असंदिग्ध रूप से सांख्य मत का व्यापक नहीं है । ब्रह्मवाद के व्यापक के तो अनेक शब्द हैं, जैसे कि, आत्मा, सर्वज्ञ, आनंद आदि शब्द । इसलिए जडता वाची अनेक संदिग्ध शब्द भी, ब्रह्म धर्म ही हैं, ऐसा निश्चित होता है । ब्रह्मवाद, श्रुति के अतिरिक्त किसी और से तो सिद्ध होता नहीं, जिससे कि, ब्रह्मधर्मभाव की बात निश्चित की जा सके । इससे निश्चित होता है कि, सर्वाधार रूप से निरूपित परमात्मा ही है. प्रधान नहीं ।

प्राणभृच्च ।१।३।४।

नन्वस्ति निर्णायकं प्राणानामोतत्ववचनम् । "मनोमयः प्राण शरीर नेतेति च । अतो जीव धर्माः सेचन, जडधर्माश्चापरे, सर्वज्ञत्वादयोऽपि योग प्रभावाज्जीव धर्मा इति । तस्माज्जड जीव विशिष्टः सांख्यवाद एव युक्त इति चेत्

उक्त प्रकरण में—"मनोमयः प्राण शरीर" आदि वाक्य निर्णायक है । इसमें कुछ शब्द तो जैव धर्म बोधक हैं, कुछ जड धर्म बोधक हैं, सर्वज्ञ आदि जो शब्द है वे, योग के प्रभाव से जीव के विशेषण भी हो सकते हैं । इसलिए जड जीव से विशिष्ट सांख्य सम्मत तत्त्व ही उक्त प्रकरण का वर्ण्य निश्चित होता है ।

प्राणभृज्जीवो न संभवति, अतच्छब्दादेव, नह्यानंदामृतरूपः स भवितु-मर्हति तन्मते । पृथग्योगकरणमुत्तरार्थम् ।

प्राणों का धारक जीव नहीं हो सकता, एक भी शब्द इसका प्रमाणक नहीं है । सांख्यमत में जीव, आनंद और अमृत रूप भी नहीं हो सकता ।

भेदव्यपदेशात् ।१।३।५।।

विशेष हेतुमाह— 'तमेवैकं जानथ" इति कर्म कर्त्तृभावः प्रतीयते, अतो भेदव्यपदेशान्न प्राणभृज्जीवः ।

अब विशेष कारण प्रस्तुत करने हैं—"उसी एक को जानो" इस वाक्य में, कर्म और कर्त्तृ भाव का स्पष्ट भेद प्रतीत हो रहा है, इसलिए जीव, प्राण धारक नहीं हो सकता।

प्रकरणात् ।१।३।६।।

जीव जड साधारण निराकरणाय विशेष हेतुमाह प्रकरणं हीदं ब्रह्मणः। ब्रह्म देवानामित्यारम्भे, न ब्रह्मविद्यामिति, तेषामेवैतां ब्रह्मविद्यामित्यन्ते च ब्रह्मविद्याया एव प्रकरणित्वमवगम्यते। "ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्तादित्यादिभिर्विस्पष्टो ब्रह्मवादः प्रतीयते।"

जीव जड संबंधी संशय के निराकरण के लिए विशेष हेतु बतलाते हैं—यह प्रकरण ब्रह्म संबंधी ही है। इसमें "ब्रह्मदेवानां" से प्रारंभ करके "तेषां एव ब्रह्मविद्याम्" तक ब्रह्मविद्या का स्पष्ट उल्लेख किया गया है, इसलिए यह प्रकरण उसी से संबंधित निश्चित होता है "ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्तात्" इत्यादि से भी ब्रह्मवाद की स्पष्ट प्रतीति होती है।

स्थित्यदनाभ्यां च ।१।३।७।

सर्वस्याप्यन्यथाभाव शंकया विशेष हेतुमाह—द्वा सुपर्णेति वाक्ये अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीतीति, केवल स्थितिः परमात्मनः कर्मफल भोगो जीवस्य। अतः स्थित्यदनाभ्यां जीव परमात्मानामेवेव मध्ये परामृष्टौ। न हि सांख्यमतमेतादृशं भवति। अतोऽस्य वैशेषिकोपपत्तेर्विद्यमानत्वात् प्रातिलोम्येन सर्वा उपत्तयो दृढा इति द्युभ्वाद्यायतनं भगवानेवेति सिद्धम्। यद्यपि पैंग्युपनिषदि द्वासुपर्णेत्यस्यान्यथा व्याख्यानं प्रतिभाति, तदृचां प्रदेशविशेषऽन्यथा व्याख्यानं न दोषाय तस्मात् सत्त्वक्षत्रज्ञौ जीवब्रह्मणौ व्याख्येयौ।

सारा प्रकरण जीव परक है, इस अन्यथा विचार संशय का विशेष रूप से निराकरण करते हैं—"द्वासुपर्णा" इत्यादि वाक्य के—"अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति" पद में, परमात्मा की, साक्षी रूप से केवल स्थिति तथा जीवात्मा का फलभोग दिखलाया गया है। इस प्रकार स्थिति और भोग से जीव और परमात्मा का भेद दिखलाया है। इन्हीं दोनों पर विचार किया गया है। सांख्य मत के सिद्धान्त में ऐसा कोई उल्लेख नहीं है, अतः यह

प्रकरण उससे संबद्ध नहीं हो सकता। इस विशेषोल्लेख के आधार पर, विपरीत प्रतीत होने वाले संशयित प्रकरण वाक्य भी, निश्चित रूप से परमात्मवाची ही सिद्ध होते हैं अतः द्युभू आदि के आयतन भगवान ही हैं, यह भी सिद्ध होता है। यद्यपि पैंग्युपनिषद् में इस "द्वासुपर्णा" आदि वाक्य का कुछ और ही व्याख्यान (व्यष्टि; समष्टि या मुक्त अमुक्त जीव से रूप का उद्घाटन किया गया) प्रतीत होता है। वहाँ का विशेष स्थानीय प्रसंग है अतः इस ऋचा की वहाँ दूसरे प्रकार से व्याख्या की गई है, इसलिए उसमें कोई हर्ज नहीं है। यह वाक्य सत्त्व और क्षेत्रज्ञ अर्थात् जीव और ब्रह्म का ही प्रकाशक है।

२ अधिकरण:—

भूमा संप्रसादादध्युपदेशात् ।१।३।८।।

इदं श्रूयते "यो वै भूमा तत्सुखमिति"। सुख लक्षणमुक्त्वा भूम्नो-लक्षण माह—"यत्र नान्यत् पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यत् विजानाति स भूमा" इति। तत्र संशयः भूमा बाहुल्यमाहोस्वित् ब्रह्मेति ? तत्र प्रपाठकारम्भे "ततस्त ऊर्ध्वं वक्ष्यामि" इति प्रतिज्ञातत्वाद् वेदादीनां नामत्वमुक्त्वा ततो भूयस्त्वं वागादीनां प्राणपर्यन्तानामुक्त्वा मुख्य प्राणविद्याया अवरब्रह्मविधात्य ख्यापनायार्द्धं प्रपाठकं समाप्य ततोऽपि विज्ञानादीनां अंतरंगाणां सुखान्तानां भूयस्त्वमुक्त्वा सुखस्य फलत्वात् तस्यैव भूयस्त्वं वदति।

ऐसी एक श्रुति है—"जो वह भूमा है वही सुख है" इस प्रसंग में सुख का लक्षण बतलाकर भूमा का लक्षण बतलाते हैं, कि—"जिसे प्राप्त कर, न किसी और को देखता है, न कुछ और सुनता है, न कुछ और जानता है, वही भूमा है।" इस पर संशय होता है कि, भूमा-सुख बाहुल्य वाचक है या ब्रह्म वाचक ? उस प्रपाठक के प्रारम्भ में तो—"मै उसके ऊपर की स्थिति बतलाता हूँ" ऐसा संकेत कर सुख के तारतम्य में क्रमशः, वेदादि शास्त्रों के सुख की विशेषता बतलाकर, वाक से लेकर प्राण तक का विवेचन कर मुख्य प्राण विद्या को अवर ब्रह्म विद्या के रूप में विवेचन करते हुए आधे प्रपाठक को समाप्त किया गया है। उसके उत्तर भाग में विज्ञान आदि अन्तरंग सुखों की बहुलता बतलाते हुए, सुख के फलस्वरूप उसी के बाहुल्य का विवेचन किया गया है।

यद्यपि "तरतिशोकमात्मविद्" इनि नारद प्रश्नात् भूम्नो ब्रह्मत्वं प्रकरणात् वक्तुं शक्यते, तथापि "तस्यैवाथात आत्मादेश" इत्यहंकारादेश-वदात्मा देशोऽप्यस्ति। तेन।ब्रह्मत्वेऽपि प्रश्नसिद्धिः। तस्य सुखबाहुल्यस्य स्वे महिम्नि प्रतिष्ठितत्वं सर्वतः पूर्णविषय लाभेऽपि भवति सुषुप्तिरेवात्र तयोरन्यतरद् ग्राह्यम्। तत्राप्यंतरंगत्वात् सुषुप्तिरेवात्र भूमत्वेनोच्यते, न सुखबाहुल्यं सुषुप्तिरूपमेव भूमा।

यद्यपि "आत्मवित् तरता है" इस नारद प्रश्न के आधार से भूमा प्रकरण को ब्रह्म परक कह सकते हैं, फिर भी–"उसी का यह अत्यादेश" इत्यादि में अहंकारादेश की तरह आत्मादेश का विवेचन प्रतीत होता है। तथा, अब्रह्मत्व रूप से प्रश्न का उत्तर दिया गया प्रतीत होता है। उस बहुल सुख की स्वतः तो प्रतिष्ठा और महत्व है ही जो कि, सब प्रकार से पूर्ण रूप से प्राप्त होता है, सुषुप्ति अवस्था में भी वह प्राप्त होता है, सुषुप्ति में पूर्ण सुखानुभूति होती है, इसलिए सुषुप्ति को ही यहाँ भूमा नाम से वर्णन किया गया है। सुख बाहुल्य भूमा नाम से अभिप्रेत नहीं है, अपितु सुषुप्ति रूप ही भूमा है।

इत्येवं प्राप्ते उच्यते–भूमा भगवान् एव कुतः? संप्रसादादध्युपदेशात् संप्रसादः सुषुप्तिः तस्मादधि आधिक्येन उपदेशात्। यद्यपि "नान्यत् पश्यति" इत्यादि समासं, तथापि "स एवाधस्तात्" इत्यादिना तु ततोऽप्यधिक धर्मा उच्यन्ते, न हि सुषुप्तेः सर्वत्वादि धर्माः संभवन्ति। आत्मशब्दश्च मुख्यतया परिग्रहीतो भवति। भावशब्दस्यापि सर्वत्वाद भगवति वृत्तिरदोषः। तस्माद् भूमा भगवानेव।

उक्त मत पर सिद्धान्त बतलाते हैं कि, भगवान् ही भूमा है, सुषुप्ति से अधिक भूमा की विशेषता दिखलाई है। यद्यपि "अन्य कुछ नही देखता" आदि विशेषनायें, सुषुप्ति में भी है, परन्तु "वही नीचे है" इत्यादि जो विशेषतायें भूमा की कही गई हैं, वह सुषुप्ति में नहीं होतीं और न सुषुप्ति में सर्वत्व आदि विशेषतायें ही होती हैं। जो भूमा के लिए आत्म शब्द का प्रयोग किया गया है वह तो विशेषतः परमात्मा के लिए ही प्रसिद्ध है। बाहुल्व वाची भूमा शब्द, एक परमात्मा के लिए कैसे स्वीकारा जावे ऐसी

शंका करना भी ठीक नहीं, वस्तुतः यह शब्द भगवान् के सर्वत्व गुण का ही बोधक है, उसी रूप में यह भगवान में घटित होगा। इसलिए यह निश्चित हुआ कि, भूमा, भगवान् ही हैं।

धर्मोपपत्तेश्च ।१।३।६।

"नान्यत् पश्यति" इत्यादयोऽपि धर्मा ब्रह्मणि न विरुद्धयन्ते, स्वाप्यय-संपत्त्योरन्यतरापेक्षमाविष्कृतंहीति न्यायेन। "यत्र हि द्वैतं इव भवति" इत्यादि श्रुत्या उभयत्राम्नानात्। अन्यादर्शनादयो भगवति न विरुद्धयन्ते। चकारात् फलं तस्यैवोपपद्यत इत्याह--'स वा एष एवं पश्यन्" इत्यादिना "सहस्राणि च विंशति" इत्यन्तेन। तेन भूमा ब्रह्मैवेति सिद्धम्।

"दूसरा कुछ नहीं देखता" इत्यादि धर्म भी ब्रह्म में विरुद्ध नहीं हैं, क्योंकि स्वप्न और मुक्ति दोनों में ही भगवत सानिध्य रहता है, दोनों ही अवस्थाओं में जीव का आविष्कृत रूप होता है। 'जहाँ द्वैत सा होता है" इत्यादि श्रुति दोनों अवस्थाओं के लिए कही गई है। "जिसको जानने से सब कुछ ज्ञात हो जाता है" इस नियम के अनुसार "नान्यत् पश्यति' इत्यादि वाक्य भगवान् के स्वभाव से विरुद्ध नहीं होते। "स वा एष एवं पश्यन्" से लेकर "सहस्राणि च विंशति" तक यही दिखलाया गया है कि सभी धर्म उन्हीं में उपपन्न होते हैं। इससे भूमा ब्रह्म ही है, ऐसा सिद्ध होता है।

३ अधिकरण :--

अक्षरमम्बरान्धृतेः ।१।३।१०

गार्गी ब्राह्मणे "कस्मिन्नु खल्वाकाश ओतश्च प्रोतश्च" "स होवाच, एतद् वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्ति अस्थूलमनणुः" इत्यादि श्रूयते। तत्र संशयः, किमक्षर शब्देन पदार्थान्तरं ब्रह्म वेति ?

गार्गी ब्राह्मण की श्रुति है कि, "यह आकाश किसमें ओत प्रोत है ?" उन्होंने कहा, हे गार्गि ! यह उस अक्षर में ओत प्रोत है जिसे ब्रह्मवादी अस्थूल अनणु आदि गुणों वाला बतलाते हैं।" इस पर संशय होता है कि, यह अक्षर, ब्रह्म है अथवा कोई दूसरा पदार्थ है ?"

तत्राचेतन साधारण्यात् वर्णतुल्यत्वादाकाशवदस्याप्यब्रह्मत्वमेव । द्युभ्वाद्यायतनस्तु तुल्यः । अतएवागतार्थता अदृश्यत्वाद्यधिकरणेन न हि तत्र विरुद्धधर्मा आशंक्य निराक्रियन्ते । अतोऽचेतन तुल्यत्वात् ब्रह्मवादस्यासमाप्तत्वादाग्रहाविष्टत्वात्, प्रष्टुः स्त्रीत्वाच्च "स्मरो वा व आकाशाद् भूयान्" इतिवत् कदाचिदुपपत्त्या स्मरणकाल भूतसूक्ष्म प्रकृति जीव विशेणामन्यतर परिग्रह इति वक्तव्यमुपासनार्थम् । अत्र हि प्रापंचिक सर्व धर्मराहित्य ब्रह्म धर्मत्वं च प्रतीयते । तदुपासनार्थत्व उपपद्येत । ब्रह्म परिग्रहे तु वैयर्थ्यमेव । उपदेष्टृत्वाभावात् । तस्मादक्षरमन्यदेव ब्रह्मत्वेनोपास्यम् ।

उक्त प्रकरण में अचेतन आकाश के ओत प्रोत होने की बात कही गई है जो कि साधारण अचेतनता की ही सूचक हैं, अचेतन वस्तु अचेतन में ही व्याप्त हो सकती है, क्यों कि दोनों में तुल्यता है, ब्रह्म चेतन तत्त्व है इसलिए, अक्षर के रूप में जिसका उल्लेख है वह कोई अचेतन पदार्थ ही है, ब्रह्म नहीं। जैसे कि, द्युभू आदि के आयतन की बात थी वैसे ही यह भी है। अदृश्यत्वादि अधिकरण में जब अक्षर की ब्रह्म स्वरूपता पर विचार किया जा चुका है, फिरसे इस अधिकरण में अक्षर पर विचार किया जा रहा है, इसलिए निश्चय ही यहाँ विषय भेद है, उस अक्षर की बात यहाँ लागू नहीं होगी। उस अधिकरण में तो विरुद्ध धर्मता की आशंका का निराकरण किया गया है, इस अधिकरण में तो वे विरुद्ध धर्म स्पष्ट हैं, इसलिए विषम भेद है। इसमें, एक तो अचेतन की तुलना की बात है, दूसरे ब्रह्मवाद की बात तो अन्तर्यामी ब्राह्मण में ही समाप्त हो गई, तीसरे आग्रह पूर्वक स्त्री द्वारा पूछा जाना अर्थात् स्त्री को ब्रह्म विद्या श्रवण का अधिकार नहीं है। इन तीनों ही बातों से यह प्रकरण ब्रह्म परक नहीं प्रतीत होता। तथा "स्मरो वा व आकाशाद् भूयानि" में जैसे आकाश का भोग्य रूप से वर्णन किया गया है, वैसे ही, "न क्षरति इति अक्षरः" इस भाव से, उपासना के लिए, स्मरण काल में अति सूक्ष्म रूप जीव विशेष को ही यहाँ अक्षर नाम वाला, कहा गया प्रतीत होता है। इसमें जो प्रापंचिक धर्मों की हीनता का उल्लेख है, वह ब्रह्मत्व का द्योतक है, पर वह उपासना की दृष्टि से जीव विशेष के लिए ही प्रयोग किया गया गया है, ब्रह्म के लिए उसके विवेचन कीं आवश्यकता ही क्या है, वह तो प्रसिद्ध ही है, उनके लिए ऐसा वर्णन व्यर्थ ही है। इससे निश्चित होता है कि यहाँ अक्षर नाम से किसी और का ही ब्रह्म की तरह उपास्य रूप से उल्लेख किया गया है।

इत्येवं प्राप्ते उच्यते—अक्षरं परमात्मैव, कुतः ? अंबराद्धृतेः । श्रुति व्याख्याय सिद्धम् हेतुमाह—अत्रैक प्रश्न उत्तरं चैकम् । आकाशस्यावान्तरत्वमेव तेनाम्बरान्तानां पृथिव्यदीनां विधारकः परमात्मैव । द्युभ्वाद्यायतन सिद्धो धर्मोऽत्र हेतुः । "नतदश्नोति कश्चन्" इति मुख्यतया परिग्रहीतो भवति । अन्यथा मूर्ध्नो विपतनं च भवेत् न ह्यन्यः सर्वाधारो भवितुमर्हति । परोक्षेण ब्रह्मकथनाऽर्थमक्षरपदमन्यनिराकरणार्थं तद्धर्मोपदेशश्च, तस्मादक्षरं परमात्मैव ।

उक्त मत पर सिद्धान्त कहते हैं कि—अक्षर परमात्मा ही है, क्यों कि, अंबर धारण की बात कही गई है, वह उन्हीं में संभव है । यहाँ तात्पर्य सिद्धि की बात है, स्वरूप सिद्धि की बात नहीं है, श्रुति में आधारकत्व रूप विशेषता दिखलाने के लिए अंबर के ओत प्रोत का उल्लेख किया गया है, इस प्रसंग में इस तात्पर्य से ही प्रश्नोत्तर दोनों किये गये हैं । आकाश की बात तो एक पूछने का ढंग मात्र है, पृथिवी से लेकर आकाश तक सभी के विधारक परमात्मा ही हैं, जो विशेषतायें द्यु भू आदि के विधारण के संबंध में कही गईं और उनको भगवान में संगति बतलाई गई, वैसे ही यहाँ भी विधारक रूप परमात्मा में सब धर्मों की संगति हो जावेगी । इस प्रसंग में 'न तदश्नोति कश्चन्" यह विशेष महत्वपूर्ण वाक्य है जिसमें परमात्मा की ही भोग्य शक्ति पर बल दिया गया है, उसे न मानने पर गार्गी के शिर कटकर गिर जाने की बात कही गई इससे सिद्ध किया गया कि परमात्मा के अति-रिक्त कोई और सर्वाधार नहीं हो सकता । ब्रह्म तत्त्व को इसमें परोक्ष रूप से अक्षर नाम से उल्लेख किया गया है और यह ब्रह्म ही है इसको निश्चित करने के लिए ब्राह्म धर्मों का उल्लेख किया गया है । इससे निश्चित होता है अक्षर परमात्मा ही है ।

सा च प्रशासनात् ।१।३।११।।

ननु क्वचिद् वाक्ये विधारणं ब्रह्मधर्मत्वेनाश्रितमित्यन्यत्रापि न तथा-श्रयितुं शक्यते । नियामकाभावादित्यत आह—सा च विधृतिरत्रापि वाक्ये ब्रह्म धर्म एव, कुतः ? प्रशासनात् "एतस्य वाऽक्षरस्य प्रशासने गार्गि द्यावा पृथिवी विधृते तिष्ठत" इति प्रशासनेन विधारणमन्यधर्मोभवितुं नार्हति । अप्रतिहताज्ञा शक्तेर्भगवद्धर्मत्वात्, तस्मादक्षरं ब्रह्मैव ।

शंका की जाती है कि–'यस्मिन् द्यौ'' इत्यादि वाक्य मे केवल आकाश के विधारण की ही बात कही गई है, उक्त प्रकरण मे भी केवल आकाश के विधारण संबंधी प्रश्नोत्तर हैं इसलिए ये जो अक्षर है उसके लिए, आकाश के अतिरिक्त अन्य पृथिवी आदि के विधारण की बात नहीं कही जा सकती, इस प्रसंग में नियामक होने की बात तो कही नहीं गई। इसका समाधान करते हैं कि, इस प्रकरण में भी उसी प्रकार के विधारण की बात ब्राह्मधर्म के रूप में कही गई है, यहाँ नियामक वाची प्रशासन शब्द का उल्लेख किया गया है। 'हे गार्गि ! इस अक्षर के प्रशासन में ही आकाश और पृथिवी धारित होकर स्थित है'' ये जो प्रशासन में विधारण की बात है वह और किसी में नहीं हो सकती। अप्रतिहताज्ञा शक्ति भगवान की ही विशेषता है, इसलिए अक्षर ब्रह्म ही है।

अन्यभावव्यावृत्तेश्च ।१।३।१२।।

ननूक्तमुपासनापरं भविष्यतीति, तत्राह—अन्यभावव्यावृत्तेः। अन्यस्य भावोऽन्यभावः। अब्रह्मधर्म इति यावत्, तस्यात्र व्यावृत्तेः। अब्रह्मत्वे हि ब्रह्मत्वेनोपासना भवति। कार्यकारण भावभेदेन न ह्यत्र तादृश धर्मोऽस्ति। चकाराद् 'यो वा एतदक्षरमविदित्वा गार्गि'' इत्यादिना शुद्धब्रह्म प्रतिपादनमेव; नोपासना प्रतिपादनमिति। तस्मादक्षरं ब्रह्मैवेति सिद्धम्।

प्रशासन के हेतु से उक्त वाक्य उपासना परक भी हो सकता है, इस संशय पर "अन्यभावव्यावृत्तेश्च" सूत्र प्रस्तुत करते हैं, अर्थात् ब्रह्म के अतिरिक्त किसी अन्य की विशेषताओं का इस प्रसंग में स्पष्ट निषेध है। अब्रह्मत्व में भी ब्रह्मत्व की तरह ही उपासना होती है। वह भी कार्य कारण भेद से होता है, परंतु इस प्रसंग में वैसी बात नहीं है। "यो वा एतदक्षरमविदित्वा गार्गि !" इत्यादि से शुद्ध ब्रह्म का ही प्रतिपादन किया गया है, उपासना का प्रतिपादन नहीं है। इससे, अक्षर ब्रह्म ही है, ऐसा सिद्ध होता है।

४ अधिकरण :–

ईक्षति कर्म व्यपदेशात् सः ।१।३।१३।।

पंचम प्रश्ने—"एतद्वै सत्यकाम परंचापरं च ब्रह्म यदोंकारस्तस्माद् विद्वानेतेनैकतरमन्वेति यद्येकमात्र" इत्यादिना एकद्वित्रिमात्रोपासनया ऋग्यजुः सामभिर्मनुष्यलोक सोमलोक सूर्यलोक प्राप्ति पुनरागमने निरूप्यार्थं

चतुर्थमात्रोपासनया 'परंपुरुष मभिध्यायीत्। "स तेजसि परे संपन्नो यथा पादोदरस्त्वचेत्या देना परात् परं पुरिशयं पुरुषमीक्षत्" इति। तत्र संशयः, पर पुरुषः परमात्मा ध्यान विषय, आहोस्वित् विराट् पुरुषो, ब्रह्मा वेति? तत्रामुख्य प्रवाह पतित्वाद् ब्रह्मलोकं गतस्य तदीक्षमेव च फलं श्रूयते। न हि परं पुरुषस्य ब्रह्मत्वे तज्ज्ञानमेव फलं भवति। तस्माद् विराट् ब्रह्म वा अभिध्यान विषयः।

प्रश्नोपनिषद के पंचम प्रश्न में—"सत्यकाम! यह पर और अपर ब्रह्म है जो ओंकार है, विद्वान लोग इसी एक को जानने का प्रयास करते हैं" इत्यादि से—एक दो तीन मात्रा की उपासना से क्रमशः ऋग् यजु सामवेद और मनुष्यलोक; चंद्रलोक और सूर्यलोक की प्राप्ति और पुनरागम का निरूपण करके चतुर्थ मात्रा की उपासना में "परं पुरुष का ध्यान करना चाहिए" उस परं पुरुष के तेज से संपन्न होकर परात पर पुरुष को हृदय गुहा में देखते हैं" इत्यादि वर्णन किया गया। यहाँ संशय होता है कि, परं पुरुष के रूप में परमात्मा के ध्यान की बात कही गई है अथवा, विराट् पुरुष या ब्रह्मा के ध्यान की बात? उक्त प्रसंग से ब्रह्म के विषय का तो प्रवाह चल नहीं रहा, तथा ब्रह्मलोक गमन और उसके दर्शन का फल वर्णन किया गया है। परं पुरुष के ब्रह्मत्व रूप से तत्वज्ञान होने का यह फल तो है नहीं। इससे तो यही समझ में आता है कि, विराट या ब्रह्मा ही को इसमें ध्येय बतलाया गया है।

इत्येवं प्राप्ते उच्यते—सः अभिध्यान विषयः पर पुरुषः परमात्मैव। कुतः? ईक्षति कर्म व्यपदेशात् जीवघनात् केवल जीवाधार भूताद् ब्रह्मलोकात् पर रूप पुरुष दर्शनमीक्षतिः, तस्या कर्मत्वेन व्यपदेशद्गुभयोः कर्मणोरेकत्वम परं त्रिमात्रपर्यन्तं निरूप्य परं ह्यग्रे निरूपयति तथैव च श्लोके "तिस्रो मात्रा" इत्यादि।

उक्त मत पर सिद्धान्त बतलाते हैं कि, वह परं पुरुष परमात्मा ही ध्येय रूप से उल्लेख्व हैं, उन्हीं के दर्शन की बात कही गई है। जीवाधार भूत ब्रह्मलोक से ऊपर पर रूप दर्शन को ही ईक्षण कहा गया है, उन परमात्मा का वहाँ कर्मत्व रूप से उल्लेख किया गया है, इसलिए ध्यान और ईक्षण दोनों कर्मों को एक कर दिया गया है, परमात्मा के अपर स्वरूप का त्रिमात्रा तक वर्णन करके आगे उसी में "तिस्रो मात्रा" इत्यादि श्लोक में उनके पर रूप का वर्णन किया गया है।

अभिध्यानस्य हि साक्षात्कारः फलम्, अतः फलरूपज्ञानस्यविषयत्वात् परपुरुषः परमात्मैव । मंदशंकानिवृत्यर्थमेवेदंसूत्रम् अत्रसर्वसंकरवादिनां अन्यथा पाठो भ्रमात् । तत्रापि विचारस्तुल्यः ।

अभिध्यान का फल साक्षात्कार ही होता है इसलिए, फलरूप ज्ञान का विषय परं पूरुष परमात्मा ही हैं।' बहुत साधारण सी शंका के निवारण के लिए ही इस सूत्र की रचना की गई है। इस स्थान पर सब विचारों को एक स्थान में ही मिलाकर भ्रम से कुछ दूसरा ही पाठ प्रस्तुत किया है, पर उसमें भी, विचार इसी प्रकार किया जा सकता है।

५. अधिकरण :—

दहर उत्तरेभ्य १।३।१४।।

अथ यदिदमस्मिन ब्रह्मपुरे दहरं पुंडरीक वेश्म दहरोऽस्मिन्तराकाशस्तस्मिन् यदन्तस्तन्वेष्टव्यं तद्वाव विजिज्ञासितव्यम्'' इत्यादि श्रूयते। तत्र संशयः, किं जीवोऽन्वेष्टव्यो ब्रह्म वेति।

"इस ब्रह्मपुर में दहर पुण्डरीक वेश्म है, इस दहर के अन्तस्थ आकाश में जो है वह अन्वेष्टव्य है, उसी की जिज्ञासा करनी चाहिए'' इत्यादि श्रुति है, इस पर संशय होता है कि—इसमें जीव को अन्वेष्टव्य कहा गया है या ब्रह्म को ?

जीव ब्रह्मवादो निर्णीयते। श्रुत्यर्थो हि निर्णेतव्यः तदस्मिन् वाक्ये परमार्थतो जीव एव ब्रह्मचेच्छास्त्रं च तत्रैव समाप्त चेद् व्यर्थमधिकरणारम्भ.। इदमेव च वाक्य श्रुत्यावक्तव्य च भवेत्। तस्मादस्मिन्नधिकरणे मुख्या सर्वसंकरवादादिनिराकृतिः। किं तावत् प्राप्तम् ? दहर आकाशो जीव इति, अवान्तर प्रकरणद्वयम्। तत्र द्वितीये प्रजापति प्रकरणे जीव एवामृताभयरूपः प्रतिभाति। स्पष्टार्थं च द्वितीय प्रकरणम्। तस्मात् प्रथमेऽपि जीव एव तादृश धर्मवान् भवितुमर्हति। अर्थानुगुण्यमपि व्याख्येयम्। अयमेव जीवो ब्रह्म "अयमात्मा ब्रह्म'' इति श्रुतेः। मैत्रेयीब्राह्मण चानुगुण भविष्यति। तस्य पुरंशरीरम् तत्र हृदयकमल सूक्ष्मम्। तत्राराग्रमात्रो जीव एवाकाशः।

तास्थ्यात् तद्व्यपदेश इति। अन्वेष्टव्यस्तु तस्मिन् विद्यमानस्तन्महिमा। वासनारूपेण सर्वतंत्र वर्तत इति।

जीव और ब्रह्मवाद का निर्णय करना है, श्रुतियों के अर्थ से इस समस्या का हल करना चाहिए। इस वाक्य में, परमार्थरूप से जीव ही ब्रह्म है, शास्त्र का ध्येय भी यही है इस अधिकरण का विचार व्यर्थ ही है। यह वाक्य भी, श्रुति के नियमानुसार हल किया जा सकता है, मनमानी नहीं। इस वाक्य में, समस्त प्रकरणों के सांकर्य का निराकरण हो जाता है। अब विचार होता है कि—इसका प्रतिपाद्य कौन है? विचारने पर तो दहर आकाश जीव ही समझ में आता है; क्यों कि—ठीक इसी प्रकार के अन्य दूसरे प्रजापति प्रकरण में जीव को ही अमृत और अभय रूप कहा गया है। उसी भाव को स्पष्ट करने के लिए यह प्रकरण प्रतीत होता है, इसलिए जीव ही उक्त प्रकार की विशेषताओं वाला हो सकता है। अर्थ के अनुरूप भी व्याख्या करने पर यही मत स्थिर होता है—जैसे कि—"यह जीव, ब्रह्म है" "यह आत्मा ब्रह्म है" इत्यादि, मैत्रेयी ब्राह्मण भी इसी के अनुरूप माना जायगा। उसका पुर शरीर है, उसका हृदय ही सूक्ष्म कमल है, उसके अन्दर स्थित सूक्ष्म जीव ही आकाश है। उस जगह उसी की स्थिति होने से उसी का उल्लेख किया गया है कमल में स्थित उस जीव के अन्वेषण की बात कह कर उसकी महिमा दिखलाई गई है। वासना रूप से सब कुछ वहीं स्थित है।

अन्यथोभयत्र सर्वकथनं विरुद्धमापद्येत्। भूतानि महाभूतानि, पुत्रादयो वा, तं चेद् ब्रूयुरित्यादिना नित्यतामुपपाद्य एष आत्मेत्यादिना तस्यैव ब्रह्मत्वमुपदिशति। तज्ज्ञानं च प्रशंसति स्वात्मज्ञानिनः कामसिद्धि चाह—"य इह" इत्यादिना। येऽपि च विरुद्धाः धर्माः प्रतिभान्ति, अहरहर्गमनादयस्तेऽपि स्वकल्पित जीवानां स्वप्रभाया मनोरथादिषु तेषामेव गमनागमने प्रति। स्वातिरिक्तस्य ब्रह्मणोऽभावात्। एवं लोकाधारत्वमपि। ब्रह्मचर्यंच तस्य साधनिमिति। योगश्चतयोर्ध्वमापन्नममृतत्वमेतीति च, तस्माज्जीव एव दहरः।

यदि उक्त प्रकार से इस प्रकरण को नहीं मानेंगे तो, दोनों ही प्रकरण में कही गई एक ही बात में विरुद्धता होगी। "तं चेद् ब्रूयुः" इत्यादि

वाक्यांश से महाभूतों की नित्यता का प्रतिपादन करके "एष आत्मा" इत्यादि से उसी के ब्रह्मत्व का प्रतिपादन किया गया है।" "य इह" इत्यादि से उसके ज्ञान की प्रशंसा की गई है तथा स्वात्मज्ञानी की कामसिद्धि बतलाई गई है। इस प्रसंग में जो भी विरुद्ध विशेषतायें प्रतीत होती हैं, वह भी, नित्य प्रति आवागमन की जो निद्रावस्था की स्थिति बतलाई गई वह जीव की स्वप्न माया मनोरथ के अनुसार है, ऐसा मानने पर समाप्त हो जाती हैं। क्यों कि—जीव से अतिरिक्त ब्रह्म कोई दूसरी वस्तु तो है नहीं। ऐसे ही लोकाधारत्व की बात भी है, यह शक्ति ब्रह्मचर्य साधन से जीव में संभव है। योग और ब्रह्मचर्य से ऊर्ध्वगति हो जाने से अमृतत्व प्राप्ति हो जाती है। इसलिए जीव ही दहर है, यही मानना समीचीन है।

इत्येवं प्राप्ते, उच्यते—दहरः परमात्मा, न जीवः। कुतः? उत्तरेभ्यः, उत्तरत्रवक्ष्यारणेभ्यो हेतुभ्यः; तेषामपि साध्यत्वादेवमुक्तम्। जीवो नाम भगवदंशो, न भगवानेवेत्यग्रे वक्ष्यते "अधिकं तु भेद निर्देशादिति" तस्मादिदं प्रकरणं न जीव ब्रह्मविद्यापरम्, किन्तु ब्रह्मवाक्यमेवेति।

उक्त मत पर कहते हैं कि—दहर परमात्मा है, जीव नहीं क्यों कि—आगे के प्रसंग में जो उसमें हेतु प्रस्तुत किये गए हैं वे सब परमात्मा की साध्यता की ही पुष्टि करते हैं। जीव भगवान का अंश है, भगवान नहीं है ऐसा "अधिकं तु भेद निर्देशात्" में स्वयं सूत्रकार निर्णय करते हैं। इसलिये यह प्रकरण जीव ब्रह्मवाद का पोषक नहीं है अपितु ब्रह्म संबंधी ही है।

गतिशब्दाभ्यां तथाहि दृष्टम् लिंगंच।१।३।१५।

उत्तरहेतूनांमध्ये हेतुद्वयमाह, गतिशब्दाभ्याम् गतिर्ब्रह्मलोकगमनं "एवमेवेमाः सर्वाः प्रजाः, अहहरहर्गच्छन्त्य एतं ब्रह्मलोकं न विन्दति" इति एष आत्माऽपहतपाप्मा सत्यकामः सत्यसंकल्पः" इति केवल भगवद्वाचकाः शब्दाः, ब्रह्मलोक शब्दश्च। ननूक्तं जीवयैस्वेतेशब्दा गतिश्चमनोरथादि-कल्पितानाम् इति? तन्निराकरणायाह—"तथाहि" तथैव गतिशब्दौ भगवत्येव युक्तौ, अनृतेनापिधानं हि तेषां विशेषणं, अज्ञानावेष्टितत्वमित्यर्थः,

नत्वज्ञानपरिकल्पितत्वम् । दृष्टत्वात्—तथैव हि दृश्यते "सर्वोऽप्याह"—न किंचिदवेदिषमिति ।" न च गन्तुरभाव एव, शास्त्रवैकल्यापत्तेः, न ह्यात्मनाशः पुरुषार्थः, कर्मकर्तृविरोधश्च । तथा अपहतपाप्मत्वं च, तद्विरुद्ध धर्माणामनुभवात् । भगवति तु इदानीमेव तेषामनुभवः, ध्यानादावुपलब्धेः । पृथिवीशरावतदेव जीव ब्रह्मविभागो, न त्वज्ञानकृतः ।

अग्रिम प्रसंग के हेतुओं में से दो हेतु प्रस्तुत करते हैं—गति और शब्द इन दो से दहर का ब्रह्मत्व सिद्ध होता है । गति का तात्पर्य ब्रह्मलोक गमन से है "इसी प्रकार यह सारी प्रजा प्रति दिन गमन करती है, इस ब्रह्मलोक को नहीं प्राप्त करती" इत्यादि तथा "यह आत्मा निष्पाप और सत्यकाम तथा सत्यसंकल्प है" इत्यादि शब्द केवल भगवद्वाचक ही हैं ब्रह्मलोक शब्द भी भगवद्वाचक ही है । जो यह कहा कि—ये सब शब्द और गति, मनोरथ स्वाप्न माया कल्पित हैं अतएव जीव वाचक हैं । उसके उत्तर में सूत्रकार 'तथाहि" शब्द कहते हैं जिसका तात्पर्य कि—वैसी गति और शब्द भगवान में ही संभव हैं । जीव अनृत अर्थात् अज्ञान से आवेष्टित है, अज्ञान से वह कल्पना करता है, ऐसा कहना उचित नहीं । वैसा ही देखने में भी आता है, जैसे कि—प्रायः सोकर उठने पर यही लोग कहा करते हैं—"मैं कुछ भी नहीं जान सका ।" सुप्तावस्था में जीव की ब्रह्मलोक प्राप्ति नहीं होती, ऐसा नहीं कह सकते, यदि ऐसा कहेंगे तो शास्त्र का उल्लेख बिल्कुल बकवास सिद्ध होगा जीवात्मा का अस्तित्व समाप्त हो जाना मोक्ष नहीं है, यदि ऐसा मानेंगे तो कर्त्ता और कर्म का विभाग किस आधार पर होगा ? अर्थात् कर्त्ता कौन होगा और कर्म कौन ? निष्पापता आदि जो विशेषतायें हैं वो, जीव के सामान्य जीवत्व धर्म के विपरीत ब्रह्मत्व अवस्था में ही घटित हो सकती हैं, जब भगवान में उनकी स्वाभाविक अनुभूति होती है, (ध्यान आदि में उन धर्मों की अनुभूति होती है) जीव और ब्रह्म का जो भेद है वह, मिट्टी और मिट्टी के प्याले जैसा है, अज्ञानकृत भेद नहीं है ।

तथाहि अज्ञानं नाम चैतन्यान्तर्भूतं तच्छक्तिरूपमनादि, उक्त बहिर्भूतं सांख्यवत् । न बहिर्भूतं चेत्, सांख्यनिराकरणेनैव निराकृतम् । अन्तःस्थितायाः शक्तिरूपायाः स्वरूपाविरोधिन्या न स्वरूपविभेदकत्वम्, आश्रयनाश प्रसंगात् । कल्पनायाश्चाप्रामाणिकत्वात् । बहिः स्थितस्यैव हि भेद-

कत्वम्, कुठारादिवत् नापि वायुवत्, तच्छक्तित्वात्। किंच, कोऽयं ब्रह्मवादे-प्रद्वेषो येन मिथ्यावादः परिकल्प्यते, अज्ञानादिति चेत्। पीतशंखप्रति-भानवदयुक्तं मतकरणम्। ब्रह्मविदुपासनयानुगमिष्यति। शर्कराभक्षणेनैव पीतिमप्रतीतिः।

प्रश्न होता है कि अज्ञान है, क्या वस्तु, चैतन्य जीव के अन्तर्भूत कोई अनादि शक्ति रूप है अथवा सांख्यमत के समान कोई वाह्य वस्तु? सो तो हो नहीं सकता क्योंकि सांख्य के निराकरण के साथ उसका भी निराकरण हो जाता है। यदि वह अन्तस्थित शक्ति स्वरूप है तो स्वरूप से वह अभिन्न ही है अतः उसको जीव के स्वरूप से भिन्न नहीं किया जा सकता, यदि अज्ञान का नाश होता है तो, उसके आश्रय जीव का भी नाश हो जायेगा, यदि उसको कल्पना रूप मानें, तो इसका कोई प्रमाण नहीं मिला। इसलिए उसे वाह्य मानने में ही, जीव और उसकी भिन्नता संभव हो सकती है। इन दोनों का जो भेद है वह कुठार और पैर का सा है, अर्थात् स्वरूप से प्रकाशित आत्मा स्वतः अपने पैर पर अज्ञानरूपी कुठार चलाता है। वायु का सा भेद नहीं है, क्यों कि वायु तो जीव की एक शक्ति है। जीव और ब्रह्म के भेद को ब्रह्मवाद से द्वेष रखने वाले किस आधार पर मिथ्यावाद कहते हैं, जब कि—"एकोऽहं बहुस्यामि" ऐसा स्पष्ट श्रुति सिद्धान्त है। यदि कहो कि—अज्ञान से ही ऐसी कल्पना की जाती हैं, वस्तुतः भेद है नहीं; ठीक है पीतशंख की प्रतीति सी तुम्हारी यह युक्ति मानी जा सकती है, ब्रह्मवेत्ता उपासना से सब कुछ समझ लेते हैं शर्करा खाने से ही शंख में पीतिम प्रतीत होती है [अर्थात् तुम उपासना को महत्त्व देते हुए भी, उपास्य उपासक के भेद को मिथ्या परिकल्पित कहते हो, लगता है तुम बहुत अधिक शक्कर खा गए जिससे तुम्हे शंख पीत लगने लगा (व्यंग्य) तुम्हें उपासना का ज्यादा नशा आ गया लगया है]

सर्वज्ञेन हि वेदव्यासेन भावमिथ्यावादनिराकरणेनेदमधिकरणमारब्धम्। तस्माज्ज्वानामेवाज्ञानदर्शनाद् ब्रह्मणः सर्वज्ञत्वदर्शनाद् गतिशब्दौ ब्रह्म-विषयावेव, न जीवविषयौ। किं च लिंग च वर्त्तते—'यथैवेह कर्मजितो-लोकः क्षीयते एवमेवामुत्रपुण्यजितोलोकः क्षीयत" इति। न हि स्वाज्ञानं स्वस्य सभवति, हिताकरणप्रसक्तिश्च। न च ज्ञानेन सामर्थ्यमुद्बुद्धमिति

वाच्यम्, विरोधित्वात् । न हि ज्ञाने जाते कर्तृत्वमस्तीति विप्लववादिनोऽगीं कुर्वन्ति ।

लगता है, सर्वज्ञ वेद व्यास ने भविष्य में जन्मने वाले मिथ्यावाद के निराकरण के लिए ही इस अधिकरण को प्रस्तुत किया है। जीवों के अज्ञान तथा ब्रह्म की सर्वज्ञता के आधार पर यही मानना होगा कि—गति और निष्पाप आदि शब्द ब्रह्म संबंधी ही हैं, जीव संबंधी नहीं। गति और शब्द के ब्रह्मपरक होने के चिह्न भी श्रुतियों में उपलब्ध हैं "यथैवेह कर्मजितो लोकः" इत्यादि। यदि जीवात्मा, ब्रह्म से अभिन्न है तो निष्पापता आदि स्वाभाविक गुण उसमें होंगे, फिर अज्ञान कहाँ से उसमें आसकेगा क्या वह स्वयं अपने लिए अज्ञान की कल्पना करता है, यदि करता है तो मानो वह अपने पैर में ही कुल्हाड़ी मारता है अर्थात् स्वयं अपना अहित करता है। ज्ञान के सामर्थ्य से वह अज्ञान की कल्पना करता है, अर्थात् जानबूझकर वह अज्ञान को ओढ़ता है, यह कथन तो अनर्गल है, ज्ञान और अज्ञान दोनों विरोधी वस्तु हैं, जानबूझ कर अज्ञानी बनना तो मक्कारी है, उसे अज्ञान नहीं कह सकते। ज्ञान हो जाने पर कुछ भी कर्त्तव्य शेष नहीं रह जाता, ऐसा तो विप्लववादी ही मानते हैं, अर्थात् जिन्हें हर जगह कुछ अड़ंगा लगाना रहता वे ही ऐसा पुछल्ला लगाते हैं।

विरुद्धा च कल्पना "अहं ब्रह्मास्मि" इति। अतएव सर्वभावश्रुतेः। तज्ज्ञानं च तस्य सार्वज्ञे लिंगम्। तस्यहि स गुणो भगवद्वाच्यानामन्यतरः, स चेज्जीवे समायाति तत्कृपया, तस्यैवास्यापि महात्म्यं भवति। तस्माल्लिंगादपि गतिशब्दो ब्रह्मविषयो। चकारात् "तमेव विदित्वा अतिमृत्युमेति" नान्यः पंथा विद्यतेऽयनाय" इति श्रुत्या ब्रह्मत्वेन ज्ञानं नात्मनोमोक्षाय। ब्रह्मणं एव तु ज्ञानमात्मत्वेनापि। तस्माद् दहरः परमात्मा।

"अहं ब्रह्मास्मि" यह कल्पना शास्त्र विरुद्ध है, वृहदारण्यक में "तद्यो देवानां प्रत्युबुद्ध्यत् तथर्षीणां" इत्यादि से अनेक जीवों को बतलाते हुए "तदिदमप्येतर्हि य एवं वेदाहं ब्रह्मास्मि इति स इदं सर्वं भवति" इत्यादि ज्ञानानंतरभाव दिखलाया गया है, यदि जीव और ब्रह्म के अभेद की बात कही गई होती तो, "इदं सर्वं भवति" में कही गई सर्वभाव की बात

पहिले ही कही गई होती, "अहं ब्रह्मास्मि" ऐसा ज्ञान होने के बाद न कही जाती। यह श्रुति स्पष्टतः ब्रह्म और जीव का भेद बतला रही है। ब्रह्मत्व का ज्ञान जीव की सर्वज्ञता का द्योतक है, यदि वह सर्वज्ञ नहीं हो पाता तो उसे अपने ब्रह्मत्व का अनुसंधान नहीं हो सकता। भगवद्वाचक शब्दों में सर्वज्ञता एक विशेष श्रेष्ठ गुण है, जो कि जीवात्मा में भगवत् कृपा से ही आता है, इस गुण से जीव का भी महात्म्य होता है। इस प्रकार के लिंग से भी गति और शब्द की ब्रह्मविषयता निश्चित होती है। "उसे जान कर मृत्यु का अतिक्रमण करता है" इसके अतिरिक्त जानने का कोई और मार्ग नहीं है" इत्यादि श्रुति भी, ब्रह्मत्व रूप से ज्ञान होने की बात ही कहती है मोक्ष की बात नहीं कहती (जीवन्मुक्ति वाली कल्पना भी कोरी कल्पना ही है) इन श्रुतियों में बतलाया गया है कि ब्रह्म का ही आत्मा रूप से ज्ञान होता है। इससे निश्चित होता है, कि—दहर परमात्मा ही है।

धृतेश्च महिम्नोऽस्यास्मिन्नुपलब्धेः ।१।३।१६।।

अपरं हेतुमाह, धृतेः "अथ य आत्मा स सेतुर्विधृरेषां लोकानामसंभेदाय" इति। न हि सर्वलोक विधारकत्वं ब्रह्मणोऽन्यस्य संभवति चकारात् सेतुत्वमपि। "तदन्वेष्टव्यम् तद्विजिज्ञासितव्यं इति लोक विधारणस्य महात्म्य रूपत्वात् तस्यैव कर्मत्वमित्याह—महिम्न इति, महिमैष पुरुषस्य, न तु वासनारूपेण तस्मिन् विद्यमानत्वम्, संसारिधर्मत्वेनामाहात्म्यरूपत्वात्। न चविरुद्धमुभयत्रैकस्यदर्शनमिति वाच्यम्। अस्याश्मिन्नुपलब्धेः, अस्य एतादृशविरुद्ध धर्माश्रयमाहात्म्यस्यास्मिन् भगवत्येवोपलब्धेः। "ज्यायानाकाशाद्, यावान् वा अयमाकाशः, अणुः स्थूल" इति। यशोदादयश्च बहिस्थितमपि जगदन्तः प्रपश्यंति। न त्वेतादृशो जीवो भवितुमर्हति। तस्माद् ब्रह्मैव दहरः।

अब परमात्मा के दहर होने में दूसरा हेतु बतलाते हैं, "धृतेः" अर्थात् धारण करने की शक्ति से भी उक्त बात की सिद्धि होती है। "जो यह आत्मा है वह, लोकों को पार करने वाला धारक सेतु है" ऐसी सर्वलोक विधारकत्व की क्षमता परमात्मा के अतिरिक्त किसी और में संभव नहीं है। "उसे ही जानो उसे ही खोजो" इत्यादि, लोक विधारणमहात्म्य रूप

प्रशस्तियाँ है इन प्रशस्तियों से; विधारकत्वकर्म उसी महापुरुष का निश्चित होता है—यह उसकी महिमा का ही द्योतक है, यह विधारकत्व उसमें वासनारूप से नहीं है, वासना तो संसारी वस्तु है, उसका कोई महात्म्य नहीं है। विरुद्ध विशेषतायें उन एक परमात्मा मे संभव नहीं हैं, ऐसा नहीं कह सकते। परमात्मा में विरुद्ध विशेषतायें उपलब्ध हैं 'आकाश से भी विशाल, यह दहर परिमित आकाश स्थूल अरण है'' इत्यादि विरुद्ध विशेषतायें उन महामहिम भगवान् में ही उपलब्ध हैं। यशोदा आदि ने बहिस्थित विशाल जगत को उस प्रभु के मुख में देखा था। ऐसी महिमा जीव की नहीं हो सकती। इसलिए ब्रह्म ही दहर है।

प्रसिद्धेश्च ।१।३।१७।।

आकाशशब्दवाच्यत्वप्रसिद्धिः । अपहतपाप्मत्वादि प्रसिद्धिः । किं बहुना प्रकरणोक्त सर्वधर्मप्रसिद्धिर्भगवत्येव, न जीवे संभवत्यतोऽपि भगवान् एव दहरः । चकाराद्विधिमुखेनाधिकरणसमाप्तिः सूचिता।

परमात्मा की, आकाशशब्द वाच्यत्व रूप से प्रसिद्धि है तथा निष्पापता आदि गुण भी उन्हीं के लिए प्रसिद्ध है। अधिक क्या प्रकरण में जितनी भी विशेषतायें हैं वे सभी भगवान के लिए प्रसिद्ध हैं। जीव में वे सब संभव नहीं हैं, इसलिए भगवान ही दहर है। चकार का प्रयोग, विध्यर्थक और अधिकरण की समाप्ति का सूचक है।

अन्या निषेधमुखेन पुनर्विचारति—

दूसरे प्रकार से निषेध करते हुए इस प्रकरण पर पुनः विचार करते हैं।

इतर परामर्शात् स इति चेन्नासंभवात् ।१।३।१८।।

ननु ब्रह्म तादृशं, जीवो नैतादृश इति न क्वचिद् सिद्धमस्ति। श्रुत्येकसमधिगम्यत्वात् उभयरूपस्य ब्रह्मवादे। अतो यथा सर्वत्र ब्रह्मणोऽसाधारण-

धर्मदर्शनात् तत्र प्रकरणं ब्रह्मण इति निश्चीयते। एवमिहापि जीवस्या- साधारणधर्मदर्शनात् जीव प्रकरणमिति कुतो न निश्चीयते। निश्चिते तु तस्मिन् आकाश तुल्यत्वादयो धर्मा जीवस्यैव भविष्यन्ति नान्यस्यैत्यभिप्रायेणाह, इतरपरामर्शात् सः। इतरो जीवस्तस्यपरामर्शः। उपक्रमोपसंहारमध्यपरा- मर्शः संदिग्धे निर्णयः तत्रात्मविदः सर्वान् कामानुक्त्वा मध्ये—"अथ य एष संप्रसादोऽस्माच्छरीरात् समुत्थाय परंज्योतिरुपसंपद्य स्वेनरूपेणाभिनिष्प- द्यते एष आत्मेति हो वाचैतदमृतमभयम्" इत्यादि मध्ये—अग्रे "य आत्मा स सेतुः" इति।

ब्रह्म ही ऐसे गुणों वाले हैं, जीव वैसे गुणों वाला नहीं है, ऐसा, किसी शास्त्र प्रमाण से तो सिद्ध कर नहीं सकते। ब्रह्मवाद में एक श्रुति के आधार पर ही परमात्मा के दोनों रूपों (जीव और ब्रह्म) का उल्लेख होता है। जैसे कि—ब्रह्म के असाधारण गुणों के आधार पर उस प्रकरण को ब्रह्म- परक निश्चय करते हैं, वैसे ही जीव के असाधारण धर्म मानकर इस प्रकरण को जीव परक भी निश्चय कर सकते हैं। जब ऐसा निश्चय कर लें तो, आकाशतुल्यता आदि विशेषतायें, जीव की भी हो सकती हैं। जो यह कहते हो कि—परमात्मा के अतिरिक्त किसी और की नहीं हो सकती। उसके उत्तर में कहते हैं—"इतर परामर्शात् सः अर्थात् परमात्मा से इतर जीव की विशेषताओं का भी परामर्श किया गया है। उक्त प्रकरण के उपक्रम उप- संहार और मध्य के परामर्श से संदिग्ध का निर्णय हो जाता है। उक्त प्रसंग में आत्मविद् की समस्त कामनाओं की प्राप्ति बतलाकर मध्य में कहते हैं कि—"यह जीव इस शरीर से उठकर परं ज्योति से संपन्न होकर अपने वास्तविक रूप को प्राप्त करता है, यही आत्मा है यही अमृत और अभय है" प्रसंग के अंत में कहा गया कि "जो आत्मा है वही सेतु है।" इत्यादि,

तत्र संप्रसादः सुषुप्तिः, जीवावस्था, तत्रैं परसंबंधनिमित्तेन स्वेनैव रूपेणाभिनिष्पत्तिवचनात् जीव एवैतादृश इति गम्यते। न ह्यत्रपरमात्मनोऽयं धर्मः संभवति। अतः सर्वमेव प्रकरणं जीवपरं भविष्यतीति स एव जीव एव प्रकरणार्थ इति चेत्, न, जीवस्तादृशोनभवति, विरुद्धधर्मत्वेनैव सर्वत्र तन्निश्चयात्। उभयोरेकरूपत्वे ह्युभयत्वमेव न स्यात्। ऋतंपिबन्तावित्या-

दिवाक्यविरोधश्च । अतो न जीवस्तादृश इत्यभिप्रायेणाह—असंभवात् । नहि जीवे जगदाधारत्वादिकं संभवति । नहि परामर्शमात्रेण सर्ववेदांत विरुद्धं कल्पयितुं शक्यते । परामर्शस्याप्यार्थत्वमुत्तरत्र वक्ष्यति । तस्माद् दहरो जीवो न भवितुमर्हति । वाक्यार्थो यथोपपद्यते, तथोत्तरत्र वक्ष्यते । ब्रह्मत्वेक-मेव, नोभयमिति निश्चयः ।

संप्रसाद, जीव की सुषुप्ति अवस्था का स्वरूप है परमात्मा के संबंध से अपने वास्तविक स्वरूप की निष्पति की जो बात कही गई है उससे तो जीव की ही उक्त विशेषतायें समझ में आती है । इस प्रसंग में स्वरूप प्राप्ति की बात परमात्मा के लिए कही गई हो ऐसा तो संभव नहीं है । इससे निश्चित होता है कि यह सारा प्रकरण जीव परक ही हो सकता है, वह जीव ही इस प्रकरण का उल्लेख तत्त्व है । इस मत पर स्वमत कहते हैं कि - नहीं, जीव उक्त विशेषताओं वाला नहीं हो सकता, इस प्रकरण में जितनी भी विशेषतायें दिखलाई गई हैं वह जीव के सामर्थ्य के विरुद्ध हैं यदि ब्रह्म और जीव दोनों को एक ही रूप माने तो फिर फिर उनकी भिन्नता नहीं मानी जा सकती, जब कि श्रुतियों में उनकी भिन्नता का स्पष्टोल्लेख है, "ऋतं पिबन्तौ" में दो का जो वर्णन किया गया है, अभिन्न मानने पर उसका समाधान कैसे होगा ? जीव में जगदाधारकता आदि विशेषताये संभव नहीं हैं । केवल परामर्श के आधार पर समस्त वेदांत वाक्यों के विपरीत कल्पना नहीं की जा सकती । परामर्श का कुछ दूसरा ही अर्थ है इसे आगे कहेंगे इसलिए दहर, जीव नहीं हो सकता । वाक्यार्थ की संगति कैसे होगी, उसे भी आगे बतलावेंगे । ब्रह्म एक ही है, दो नहीं ।

उत्तराच्चेदाविर्भूतस्वरूपस्तु ।१।३।१९।।

उत्तरात् प्रकरणात्, प्राजापत्यात्, तत्र हि दिव्येचक्षुषि मनोरूपे प्रतीय-मानो जीव एवऽमृताऽभयरूपो निरूपितः । तस्यैवोदशरावे जाग्रत्साक्षित्वं, तदनु स्वप्नसाक्षित्वं, तदनु सुषुप्तिसाक्षित्वं निरूप्य, सर्वत्र तन्यामृतरूप-त्वमेव निरूप्य, अवस्थानामतात्त्विकत्वमुक्त्वा, समाध्यवस्थायां मनसि तमेवजीवं तादृशं प्रतिपादयति । अतो जीवोऽपि वस्तुतस्तादृश एव इति, प्रकृतेऽपि परामर्शात् स एव इति चेत् । एवमाशंक्य परिहरति तु शब्देन ।

नायमर्थो दृष्यते, किंतु किंचिदन्यदस्तीति न नकार प्रयोगः । तदाह—आविर्भूतस्वरूपः, स्वाप्यसंपत्त्योर्भगवदाविर्भावो जीवे भवति । नृसिंहोपासकस्य नृसिंहाविर्भाववत् । ब्रह्मण उपदेश समये भगवदाविर्भावात् । सर्वत्र स्वात्मानं पश्यन्निन्द्रेऽपि तथैवोपदिष्टवान् प्रजापतिः अन्यथा प्रतिबिम्बादावमृताभय वचनं मिथ्या स्यात् । इन्द्रे त्वाविर्भावाभावात् प्रजापत्यसन्निधाने विपरीतं पश्यति । अतस्तावन्मात्रदोषपरिहारायान्यथोपदेशः । स्वप्नादिषु तथा प्रकृतेऽपि । स्वप्नावस्थाया भगवदाविर्भावात् तथावचनम् । तस्मादुभयमपि भगवत् प्रकरणमेव । एवमन्यत्रापि भगवदावेशकृता भगवद्धर्माभिलाषा ग्राह्याः, तस्माद् दहरः परमात्मैव ।

उक्त प्रकरण के बाद के प्रजापति के प्रकरण से भी ब्रह्मत्व की पुष्टि होती है । उस प्रकरण में दिव्य चक्षु में प्रतीयमान जीव को ही अमृत अभय रूप से निरूपण किया गया है । उक्त प्रकरण में प्रतिबिम्बात्मा संबंधी उपदेश है, उसी प्रतिबिम्बात्मा में जाग्रत्साक्षित्व, स्वप्नसाक्षित्व, सुषुप्ति साक्षित्व का निरूपण करके, सर्वत्र उसकी अमृतरूपता का निरूपण करके, इन अवस्थाओं की निस्तत्त्वता बतलाकर समाधि अवस्था में जीव के अमृतत्व रूप को मनस्थित बतलाया गया है । इससे निश्चित होता है कि—जीव भी—उक्त विशेषताओं वाला है । उसके स्वरूप का परामर्श भी किया गया है । ऐसा संशय उपस्थित कर तु शब्द से उसका निराकरण करते हैं । उक्त संशय को काट नहीं रहे हैं इसलिये नकार का प्रयोग नहीं किया, किन्तु इस वर्णन का कुछ और ही तात्पर्य है इसलिये तु शब्द से उसकी ओर इंगन करते हैं । कहते हैं कि—स्वप्न और संपत्ति में, जीव में भगवान का आविर्भाव होता है । जीव के स्वरूपाविर्भाव की बात नहीं है । जैसे कि—नृसिंहोपासक में नृसिंह स्वरूप का आविर्भाव होता है तथा ब्रह्म संबंधी उपदेश देते समय वक्ता में भगवदाविर्भाव होता है । सब जगह अपने को प्रतिबिम्ब रूप से देखते हुए इन्द्र को, यही बात प्रजापति ने बतलाई थी । यदि ऐसा अर्थ नहीं मानेंगे तो प्रतिबिम्ब आदि के अमृतत्व और अभयत्व की बात मिथ्या हो जायेगी । प्रजापति की अनुपस्थिति में इन्द्र ने, अपने में आविर्भाव के न होने से विपरीत ही अनुभव किया । केवल इसी बात के परिहार के लिए, अन्यथोपदेश दिया गया है । स्वप्न आदि अवस्थाओं में और स्वाभाविक अवस्था में भी देहादिविलक्षण भाव की बात बतलाई गई है, स्वप्नावस्था

में भी भगवदाविर्भाव होता है उसे ही स्वरूपाविर्भाव कहा गया है। इससे निश्चित होता है कि—दोनों ही प्रकरण भगवतपरक हैं। इसी प्रकार अन्यत्र भी, भगवदावेश मानकर समस्त विशेषताओं को भगवद् संबंधी मानना चाहिए। इसलिये दहर, परमात्मा ही है।

अन्यार्थश्च परामर्शः ।१।३।२०।।

परामर्शश्च प्रयोजनमाह—अन्य एवार्थः प्रयोजनंयस्य तस्माद् यमहरहर्वा एवंविद् स्वर्गलोकमेति। स्वस्यैवं ज्ञाने हि ब्रह्मसुखं फलं ब्रह्मज्ञानापेक्षायामुपयुज्येत। भगवतश्च तदाविर्भावो भवतीति चकारार्थः। संपत्तौभगवदावेशकथनार्थं वक्ष्यति च—स्वाप्ययसंपत्योरन्यतरापेक्षमाविष्कृतं हि" इति चतुर्थे। तस्मान्न परामर्शेनान्यथाकल्पनम्।

परामर्श का प्रयोजन बतलाते हैं कि—इसका अन्य ही अर्थ में प्रयोजन है। "तस्माद् यमहरहर्वा" इत्यादि में अपने भगवदविषयक अमृत अर्थात् मर्त्यसंयमित ज्ञान में ही ब्रह्मसुख फल को, ब्रह्मज्ञान की अपेक्षा से कहा गया है। ज्ञानदशा में ही भगवदाविर्भाव होता है, यही सूत्रस्थ चकार के प्रयोग का तात्पर्य है। सम्पत्ति में भगवदावेश कहने के लिये सूत्रकार ने "स्वाप्ययसंपत्योरन्यतरापेक्षमाविष्कृतं हि" ऐसा सूत्र ही बनाया है। इसलिए परामर्श से, ब्रह्म के अतिरिक्त दूसरे अर्थ की कल्पना नहीं करनी चाहिये।

अल्पश्रुतेरितिचेत्तदुक्तम् ।१।३।२१।।

ननु न वयं जीवे उपपत्तिरस्तीति जीवप्रकरणं कल्पयामः किन्तु ब्रह्मणि नायमर्थ उपपद्यतो अल्पश्रुतेः—अल्पे हि पुंडरीके कथं भगवदवस्थानम्? व्यापकत्वश्रवणात्। 'यावान् वाऽयमाकाश" इति तस्माद् विरोध परिहाराय जीव एवाराग्रमात्रस्तथा भवत्विति कल्प्यत इति चेत्तर्हि भवान् सम्यग्विचारकोऽस्मदीय एव। परं तत् समाधानं पूर्वमेवोक्तम्. निचाय्यत्वादेवं व्योमवच्चेत्यत्र। तन्न प्रस्मर्त्तव्यम् सर्वभवनसमर्थेब्रह्मणि नाशंकनीयः तथा पुरुष शरीरंच—

"पुरुषत्वे च मां धीराः सांख्ययोग विशारदाः ।
आविस्तरां प्रपश्यंति सर्वशक्त्युपबृंहितम् ।।"
इतिभगवद्वाक्यात्, तस्माद् एव दहर इति सिद्धम् ।

ठीक है जीव में हम इस प्रकरण को उपपन्न नही मानते और न इस प्रकरण को जीव परक ही मानते हैं परन्तु यह प्रकरण ब्रह्म में तो उपपन्न होता नहीं, सूक्ष्म पुंडरीक में भगवद् स्थिति संभव कैसे है ? उनकी तो व्यापकता का ही उल्लेख मिलता है "जितना यह आकाश है" इत्यादि वाक्य में जिस अल्पता का निर्देश है वह व्यापक परमात्मा संबंधी तो हो नहीं सकता इसलिये उक्त विरोध के परिहार के लिए हमें अणुस्वरूप जीव की स्थिति ही स्वीकारनी पड़ती है, यदि ऐसी शंका आप प्रस्तुत करते हैं तो आपने ठीक ही सोचा हमारे मत की ही बात कह दी, (हम भी जीव को अणु और ईश्वर को विभु मानते हैं, आप तो दोनों को अभिन्न मानते हैं) आपके संशय का समाधान तो हम प्रथम ही कर चुके हैं, उनकी व्यापकता आकाश की सी है, यह आपको नहीं भूलना चाहिए, सर्वभवन समर्थ (सब कुछ होने की सामर्थ्य वाले) ब्रह्म में विरुद्धता की शंका करना ही व्यर्थ है। जहाँ तक उनके शरीर की बात है वह भगवान के निम्न वाक्य से स्पष्ट हो जाती है--

"भक्ति शास्त्र प्रवीण धीर लोग मेरे पुरुषस्वरूप को विस्तृत रूप से सर्वशक्तिसंपन्न देखते हैं।" इससे सिद्ध होता है कि—भगवान ही दहर हैं।"

अनुकृतेस्तस्य च ।१।३।२२।।

दहर विरुद्धं वाक्यमाशंक्य परिहरति । "न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्र तारकं नेमाविद्युतो भान्तिकुतोऽयमग्निः, तमेवभांतमनुभातिसर्वम् तस्यभासा सर्वमिदंविभाति" इति कठवल्ल्यामन्यत्र च श्रूयते । यत्तच्छब्दानामेकार्थत्वं चावगतम् । अर्थाच्च संदेहः, "यस्मिन् द्यौ" इत्यत्र सूर्यादीनां ब्रह्माधारत्व-मुक्तम्, अस्मिश्चवाक्ये पूर्वार्द्धे तत्र तेषां भानं निषिद्धयते—"यत्र यत् सर्वदा तिष्ठेत् तत्र चेत्तन्नभासते, क्व भासेताप्यपेक्षायां कर्मत्वेश्रुतिबाधनम् ।"

यत्रेत्यधिकरण सप्तमी, यत्र लोकान्तरस्थितानां अप्यभानं, तत्राऽग्नेः का वार्ता इति वचनात् सत्यलोकस्थितः कश्चित् तेजोविशेष एव वाक्यार्थ :।

दहर विरुद्ध वाक्य पर संशय करते हुए परिहार करते हैं। "वहाँ न तो सूर्य का प्रकाश होता है न चंद्र का न तारों को, ये बिजलियाँ भी नहीं चमकतीं फिर इस अग्नि की तो चर्चा ही क्या है ? उसके प्रकाश से ही सब प्रकाशित होते हैं, उसके प्रकाश से ही ये सारा जगत प्रकाशित हो रहा है" ऐसी कठवल्ली की एक श्रुति है, तत् और यत् शब्दों की एकार्थता से तो यह प्रसंग ब्रह्म परक ज्ञात होता है किन्तु अर्थ पर संशय होता है क्यों कि—"जिसमे द्यूलोक" इत्यादि वाक्य में सूर्य आदि को ब्रह्म पर आधारित बतलाया गया है, और इस वाक्य के पूर्वार्द्ध में उन सूर्य आदि के प्रकाश को ईश्वर के समक्ष तुच्छ कहा गया है—'जो जिस स्थान पर सदा स्थित रहे और वहाँ उसका प्रकाश न रहे, वह कहाँ जाकर प्रकाशित होगा ? ऐसी कर्मत्व संबंधी जिज्ञासा से उक्त श्रुति बाधित होती हैं।" यत्र शब्द अधिकरण सप्तमी का है, उक्त वाक्य का तात्पर्य होता है कि—जिस लोक में सूर्य आदि का ही प्रकाश नहीं है तो अग्नि की क्या चर्चा है ? इससे तो यही समझ में आता है कि—कोई तेज विशेष ही उक्त वाक्य का उल्लेख्य है।

इत्येवं प्राप्ते उच्यते—अनुकृतेस्तस्य—भगवदनुकारार्थमेवैतद्वचनम्, स्वतोभान निषेधः पूर्वार्द्धे। सर्वोऽपि पदार्थस्तमेवानुकरोति, सूर्यरश्मय इव छायापुरुषम् इव। तस्माद् वाक्ये भगवदनुकारित्ववचनात् न नानार्थकल्पनम्। किं च "तस्य भासा सर्वमिदंविभाति" इति सूर्यादीनां स्वतः प्रकाशो नास्त्येव, घटवत, भगवत्प्रकाशेनैव प्रकाशवत्त्वमिति चकारार्थः, तस्मात् स्वतोऽभानेलक्षणया कर्मत्वे वा भगवत्परत्वे सिद्धे नान्यार्थकल्पनम्।

उक्त प्राप्त मत पर सिद्धान्त रूप से—"अनुकृतेस्तस्य" सूत्र प्रस्तुत करते हैं, अर्थात् यह वाक्य भगवान की अनुकृति का उल्लेख कर रहा है इसके वाक्य में सूर्य आदि के स्वतः प्रकाशता का निषेध है, सभी पदार्थ उस परमात्मा का ही अनुकरण करते हैं—जैसे कि सूर्य की रश्मि और पुरुष की छाया। इसलिये यह वाक्य अनुकृति वाचक है इसमें भेद की कल्पना नहीं

करनी चाहिये ।" उसके प्रकाश से सब कुछ प्रकाशित है ।" इसमें बतलाया गया है कि सूर्यादि में स्वतः प्रकाश नहीं है, जैसे कि घट में स्वयं प्रकाशता नहीं होती । भगवान के प्रकाश से ही ये सब प्रकाशित होते हैं। स्वतः प्रकाश न होने से लक्षणा या कर्मत्व रूप से उन सबकी भगवत परकता सिद्ध होती है, दूसरे अर्थ कल्पना की गुंजायश ही नहीं है ।

अपिस्मर्यते ।१।३।२३।।

व्याख्यातेऽर्थेसम्मत्यर्थमाह । अपीति समुच्चयः "न तद्भाषयते सूर्यो न शंशाको न पावकः" यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्, यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्" इति च । तस्माद् भगवान् एव सर्वविभासकः तमेव सर्वमनुकरोतीति सिद्धम् ।

प्रकरण के व्याख्यात् अर्थ को ही सम्मत अर्थ बतलाते हैं—सूत्र में किया गया अपि शब्द का प्रयोग समुच्चय बोधक है ।" उस गोलोक में न तो सूर्य का प्रकाश होता है न चंद्र का न अग्नि का" सूर्य के जिस तेज से अखिल जगत प्रकाशित होता है तथा जो चंद्र और अग्नि का प्रकाश है उसे मेरा ही प्रकाश जानो" इत्यादि स्मृति वाक्य भी उक्त प्रकरण के ही समर्थक हैं। इससे निश्चित होता है कि—भगवान् ही सब के अवभासक हैं। उनका ही सब अनुकरण करते हैं ।

७. अधिकरण :—

शब्दादेवप्रमितः ।१।३।२४।।

प्रसंगात् पुनर्बाधकान्तरमाशंक्य परिहरति "यदंगुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति" ईशानो भूत-भवस्य न ततो विजुगुप्सति "तथा अंगुष्ठ मात्रः पुरुषो ज्योतिरिवाधूमकः" "इति तत्रैव श्रूयते । "यावान् वा अयमकाश" इति व्यापकत्वमन्तःस्थितस्य प्रतीतम् । अंगुष्ठमात्रता चात्र प्रतीयते । अतो विरोधाज्जीवस्यैव लोकान्तरगन्तृदेहवत् उपासनार्थं

मीशानत्वादि धर्माः। अंगुष्ठमात्रं पुरुषं निश्चकर्ष यमो बलादिति तन्निवृत्यर्थम्। तस्मादंगुष्ठमात्रो न भगवान्।

प्रसंगतः पुनः बाधक श्रुति संबंधी शंका उपस्थित कर समाधान करते हैं। "जो आत्मा में अंगुष्ठ मात्र पुरुष स्थित है" उस अंगुष्ठ प्रमित पुरुष की निर्धूम ज्योति है "इत्यादि श्रुति भी है "यावान् वा अयमाकाशः" से जिस व्यापक की अन्तः स्थिति प्रतीत होती है, उसी की यहाँ अंगुष्ठ मात्रता भी प्रतीत होती है। दोनों विरुद्ध वर्णन हैं जिससे जीव की ही स्थिति समझ में आती है, जैसे कि जीव दूसरे शरीर में जाता है, वैसे, यहाँ ईशानत्व आदि धर्म वाला उसका स्वरूप, संभवतः उपासना की दृष्टि से बतलाया गया है। अंगुष्ठ मात्र पुरुष को ही यम बलात् ले गए थे, उसे ही लौटाने के लिए सावित्री ने प्रयास किया था इससे भी जीव ही की अंगुष्ठ मात्रता निश्चित होती हैं, भगवान् अंगुष्ठ मात्र नहीं है।

एवं प्राप्तमतउत्तरमाह-शब्दादेव प्रमितः, अत्र संदेह एव न कर्त्तव्यः, शब्दादेव प्रकर्षेण विमानात्। यथा दहर वाक्ये सूक्ष्मस्यैव व्यापकत्वं, तथा अंगुष्ठ मात्रस्यैवेशानत्वम्। यदि भगवान् तादृशो न स्यात् अन्यस्य तादृशत्वं नोपपद्येत्। तस्माद्भगवतः सर्वतः पाणिपादान्तत्वात् यत्र यावानपेक्ष्यते तत्र तावन्तं श्रुतिर्निरूपयतीति, अंगुष्ठमात्रः परमात्मेति सिद्धम्।

उक्त प्राप्त मत पर "शब्दादेव प्रतिमः "सूत्र बनाकर उत्तर देते हैं, कहते हैं, यहाँ तो संदेह की गुंजायश ही नहीं है ईशान् आदि शब्द से ही अंगुष्ठ परिमित की महिमा प्रकट होती है जैसे कि दहर वाक्य में सूक्ष्म की व्यापकता स्वीकार ली गई वैसे ही अंगुष्ठ मात्र की ईशानता स्वीकारनी चाहिए। यदि भगवान् में ही वैसे होने की क्षमता नहीं मानेंगे तो, किसी और में तो वैसी क्षमता हो नहीं सकती। सर्वव्यापक भगवान को जहाँ जिस स्थान में जिस रूप से उपयुक्त समझती हैं वहाँ वैसा ही उनका वर्णन श्रुति करती हैं, इसलिए अंगुष्ठ मात्र परमात्मा ही हैं ऐसा सिद्ध होता है।

हृद्यपेक्षयातु मनुष्याधिकारत्वात् ।१।३।२५॥

नन्वनेकरूपत्वं विरुद्ध धर्मवत्वं माहात्म्यार्थं स्परूपे निरूपयति । प्रादेश मात्रत्वं च ध्यानार्थं । अंगुष्ठमात्रत्वस्य क्वोपयोग इति चेत् तत्राह-तु शब्देन निष्प्रयोजनत्वं निराक्रियते अस्ति प्रयोजनम् तदाह— टदिअंगुष्ठ मात्रं निरूप्यते, केन हेतुना अपेक्षया. ईश्वरकार्यपेक्षया "ईश्वरः सर्व भूतानां टद्देशेऽर्जुन तिष्ठति" इति स्मृतेः । रक्षार्थमंगुष्ठ मात्र इत्यर्थः । ननु प्रमाणान्तरत्वे किमेतन्नसंभवति, तत्राह-मनुष्याधिकारत्वात्-मनुष्यान-धिकृत्येदं मृत्यूपाख्यानं प्रवृत्तम् । अतो मनुष्याणां हृदयस्यांगुष्ठमात्र-त्वात् । यद्यपि हृदयं स्थूलं तथापि धर्मरूपं तावदेव । तावन्मात्रस्यैवा-वदानश्रवणात् । तस्मादंगुष्ठमात्रस्यैव सर्वधर्मरक्षकत्वादंगुष्ठ मात्रो भगवा-नेवेति सिद्धम् ।

परमात्मा के विरुद्ध धर्म वाले अनेक रूपों का एक रूप में निरूपण करते हैं। परमात्मा का प्रादेश मात्र रूप ध्यानार्थ माना गया, किंतु अंगुष्ठ मात्र रूप का क्या उपयोग है ? इस संशय का समाधान तु शब्द से करते हैं, कहते हैं कि उसका भी प्रयोजन है, हृदय का परिमाण अंगुष्ठ मात्र ही बतलाया गया है, जो कि ईश्वर के अंगुष्ठ परिमाण के अनुरूप ही है " हे अर्जुन ! ईश्वर प्राणिमात्र के हृदय स्थान में स्थित है", ऐसा प्रसिद्ध गीता का वचन भी है। परमात्मा, जीवात्मा की रक्षा के लिए अंगुष्ठमात्र रूप से विराजमान हैं यही उक्त गीता वाक्य का तात्पर्य है। क्या किसी अन्य प्राणी के हृदय में इसकी स्थिति नहीं है ? इसके उत्तर में कहते हैं कि नहीं', केवल मनुष्य के हृदय में ही इस रूप में हैं क्यों कि मनुष्य को ही लेकर इस मृत्यूपाख्यान की रचना की गई है. क्यों कि मनुष्य का हृदय ही अंगुष्ठ परिमाण वाला होता है। यद्यपि हृदय का स्थूल स्वरू। है किन्तु धार्मिक दृष्टि से वह सूक्ष्म ही माना जाता है। उसका वैसा ही वर्णन किया गया है। अंगुष्ठमात्र रूप से सर्व धर्म रक्षक भगवान् विराजमान हैं । इसलिए उनका अंगुष्ठ परिमाण निश्चित होता है ।

तदुपर्यपि बादरायणः सम्भवात् ।१।३।२६॥

अंगुष्ठमात्र निरूपणार्थं मनुष्याधिकारे निरूपिते कस्यचिद् भ्रमो भवेत्, सर्वत्रमेव ब्रह्मविद्यायां मनुष्याणामेवाधिकारः इति । तन्निराकरणार्थं देव, दीनामधिकारमाह । यदुपर्यपि, मनुष्यापेक्षयार्वाक्तनानामधिकारो नास्ति । तत्रापि वैदिकहेतोस्त्रैवर्णिकानां धर्मयुक्तानामागतम् । ततोऽपि ये साध्यादयो धर्मयुक्तास्तेषामप्यधिकारः। तत्र जैमिनिप्रभृतीनांसंम्मतिरिति स्वनामग्रहणम् । विशिष्टत्रैवर्णिकानारभ्य प्रजापतिपर्यन्तं शतानन्दिनामाधिकारं मन्यते बादरायणः । कुतः ? संभवात् । संभवति तेषां ज्ञानाधिकारः । धर्मज्ञानाभ्यां सातिशयाभ्यां हि तादृशजन्मसभवात् । न हि तेषां पूर्वसंस्कारो लुप्यते । अक्षरपर्यन्तं शतोत्कर्षश्रवणादुपर्यपेक्षा । अतोऽक्षरप्राप्तेः शुद्धब्रह्मविद्या हेतुकत्वादुत्तरोत्तरमुपदेष्टृणां विद्यमानत्वात् प्रजापति पर्यन्तं सर्वेषामधिकारः संभवति । संभव वचनान् दुर्लभाधिकारस्तत्रेति सूचितम् । "यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तदभवत तथर्षीणां तथा मनुष्याणाम्" इति । तदुपर्यप्यधिकारः सिद्धः ।

अंगुष्ठ मात्र की उपासना में भ्रम हो सकता है कि केवल मनुष्य के अधिकार की बात कही गई तो ब्रह्मविद्या में केवल मनुष्य का ही अधिकार होगा क्या ? इस संशय के निवारण में सूत्रकार, देवादि योनियों के अधिकार को भी बतलाते हैं मनुष्यों से इतर पशुओं में योग्यता का अभाव है इसलिए उनका अधिकार नहीं हैं, उसी कोटि में वे मनुष्य भी आजाते हैं जिनके वैदिक संस्कार नहीं होते शूद्र आदि तथा यज्ञोपवीत आदि संस्कार रहित तीन वर्ण। इसके अतिरिक्त जो भी देवता गण हैं उन सभी का अधिकार है। जैमिनि आदि ने भी नाम गिनाते हुए इसमें अपनी सम्मति दी है। संस्कार युक्त तीन वर्णों से लेकर प्रजापति तक का उपासना में, बादरायण अधिकार मानते हैं क्यों कि उनमें ज्ञान की अर्हता है, धर्म और ज्ञान की अतिशयिता होने पर ही तो जीव को देवत्व प्राप्ति होती है, देवत्व प्राप्ति के बाद भी उनके पूर्व जन्म संस्कारों का लोप तो होता नहीं। अक्षर पर्यन्त सौगुने उत्कर्ष की बात, उपासना से ही संभव हो सकती है। अक्षर प्राप्ति में शुद्ध ब्रह्मविद्या ही एक मात्र हेतु हैं इसी से, बादरायण ने सौगुनी वृद्धि की उत्तरोत्तर चर्चा करते हुए प्रजापति की भी उपासना की अर्हता मानी हैं। वहीं दुर्लभाधिकार की सूचना दी गई है "जिन-जिन देवताओं की उपासना करता है, वही होता है",

इससे मनुष्यों से ऊपर की श्रेणियों का उपासनाधिकार निश्चित होता है।

विरोधः कर्मणीति चेन्नानेकप्रतिपत्तेर्दर्शनात् ।१।३।२७।।

नन्वेमुपरितनानां ज्ञानाधिकारे स्वीक्रियमाणे तत्पूर्वभाविष्वप्यधिकारो वक्तव्यः । कर्मणि वेदाध्ययने उपनयनादिषु च । ततश्च तेषां ब्राह्मण्याद्यभावाद् शद्रव्याद्यभावाच्च पौराणिकेन मतेन देवान्तराभावाच्च तदभावेऽपि क्रियमाणे कर्मणि श्रुति विरोध इति चेत् ।

मनुष्य से ऊपर के जीवों के ज्ञानाधिकार स्वीकारने पर उसके पूर्व के होने वाले, वेदाध्ययन, उपनयन आदि संस्कारों को भी मानना होगा। वैसा मानने पर श्रुति विरोध उपस्थित होगा, क्यों कि देवयोनि में ब्राह्मण आदिवर्ण तो होते नहीं और न, देश और द्रव्य ही होते हैं, पौराणिक मत से तो देवताओं के शरीर का अभाव भी ज्ञात होता है, तो फिर वे कर्म कैसे कर सकेंगे ?

न अनेकप्रतिपत्तेर्दर्शनात् । बहूनांप्रपिपत्तिर्दृश्यते बहवोऽत्र कर्मणि प्रवर्त्तमाना दृश्यन्ते। "साध्या वै देवाः सुवर्गकामा एतत् षड्रात्रमपश्यत् तमाहरत् तेनाऽयजन्त, सोऽग्निष्टोमेन वसूनयाजयत्, स उक्थेन रुद्रानयाजयत्, सोऽतिरात्रेणादित्यानयाजत्" इत्यादि "यथैक शतवर्षाणि प्रजापताविन्द्रो ब्रह्मचर्यमुवासेति" । भूमावागत्य ऋषीन् वृत्वा यज्ञकरणं च श्रूयते–" देवा वै सत्रमासते,, इत्यादि। दर्शन वचनात् स्वस्यापि ऋत्विक्त्वं कर्मकरणं च द्योतयति। अथवा सर्वपदार्थिकनामनेका प्रतिपत्तिर्बहुधोययोगो वेदेदृश्यते। यथा चतुर्द्धाकारणादि, परिधिप्रहरणादि, तुषोपवापादि, तद्विद्यमाने क्रियते, नाविद्यमाने। तथा यत्र ये पदार्था न संति तत्र कर्मतदभावेऽपि भवति। तथाहिदृश्यते । पर्वते सोमवाहकाऽनोऽभाववत् । "यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवा"– "इति संभृतसंभारः पुरुषावयवैरहम्, तमेव पुरुषं यज्ञं तेनैवाऽयजमीश्वरम्" इत्यादि वाक्यैः सर्वसंभृत्युपपत्तिश्च । आधुनिकान् प्रतिवेदविभागाज्जैमिनेस्तथा निर्णयः। तस्मात् कर्माधिकारः कर्मकरण चोपर्यपि सिद्धम् ।

उक्त तर्क संगत नहीं है, उन देवताओं में अनेक प्रकार की प्रतिपत्तियाँ मिलती हैं, अर्थात् उनके अनेक कर्मों में संलग्न होने के उल्लेख मिलते हैं। "साध्या वै देवा" इत्यादि में दिखाया गया है कि वे देवता सुवर्ग की कामना से यज्ञ करते हैं, अग्निष्टोम यज्ञ से धन की कामना करते हैं, वे उक्थ से रुद्रों का यजन करते हैं। वे अतिरात्र यज्ञ से सूर्य का यजन करते हैं। तथा "प्रजापति इन्द्र ने सौवर्षतक ब्रह्मचर्य का पालन किया" एवं "देवा वै सत्रमासते" इत्यादि में पृथ्वी में आकर ऋषियों को वरण कर यज्ञ करने की बात कही गई है। दर्शन सबधी श्रुति उनके स्वयं ऋत्विग् होने और कर्म करने को बतलाती है। इस प्रकार समस्त पदार्थों की अनेक प्रतिपत्ति और अनेक प्रयोगों का वर्णन किया गया है, जैसे कि—यज्ञ में, चतुर्द्धा करण, परिधिप्रहरण, तुषोपवपन आदि क्रियायें देवताओं के सानिध्य में ही होती हैं, उनकी अनुपस्थिति में नहीं। जहाँ कोई पदार्थ का अभाव रहता है, उसके बिना भी क्रिया की जाती है "पर्वतेसोमवाहका" इत्यादि वाक्य इसी बात का उल्लेख करते हैं। "यज्ञेन यज्ञमयजन्तदेवाः" "इति संभृत संभारः" इत्यादि वाक्य सर्वसंभृति और सर्वोपपत्ति को ही बतलाते हैं। आधुनिकों के लिए आचार्य जैमिनि ने वेदों के विभाग करके सब कुछ निर्णय कर दिया है। इससे कर्म का अधिकार और कर्म का पालन देवादिकों का भी निश्चित होता है।

शब्द इतिचेन्नातः प्रभवात् प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् ।१।३।२८।।

ननु मास्तु कर्मकरणे विरोधः, शब्दे तु भविष्यति, अर्थज्ञानानन्तरं हि कर्मकरणम्। वेदाच्चार्थज्ञानम्। तत्र साध्यादीनां वेद एव कर्मकरणं श्रूयते। तत्र ज्ञाने कर्मकर्तृ विरोधः। अन्यकल्पनायांत्वनवस्था व्यवस्थापकाभावात्। वेदो वसूनां वृत्तान्तं वदन् वसूनामधिकारं वदेत वदतुवा कथमनित्यो न भवेदिति चेन्न। अतः प्रभवात्। अतः शब्दात् प्रभवः शब्दोक्तपदार्थानाम्।

देवताओं के कर्म करने की बात में तो कोई विरुद्धता नहीं होगी किन्तु, शब्द में तो हो सकती है, शब्द का पहिले सही अर्थ तो ज्ञात हो तब फिर कर्म करने वाली बात का निर्णय हो। वैदिक शब्दों से ही अर्थ करना होगा, वेद में ही साध्य आदि के कर्म की बात कही गई है, वेद जन्य ज्ञान पर

विचारने पर तो कर्म कर्तृ का विरोध घटित होता है अर्थात् यज्ञों के कर्ता और यज्ञों के साध्य देवता ही कहे गए हैं। यदि साध्य रूप में किन्हीं अन्य देवताओं की कल्पना करें तो अव्यवस्था दोष घटित होगा, उन देवताओं का व्यवस्थापक किसे मानेंगे ? वेद वसुओं का वृत्तान्त वर्णन करते हुए, वसुओं के अधिकार का भी वर्णन करते हैं, क्या उसका यह कथन अनित्यता का बोधक नहीं है ? इत्यादि शंकायें संभव नहीं हैं क्यों कि—उक्त प्रसंग में जो अतः शब्द का प्रयोग किया गया है वह प्रभव अर्थात् पदार्थों की उत्पत्ति का सूचक है।

वेदोक्ताः सर्व एव पदार्था आधिदैविका एव, पुरुषावयवभूताः, सर्वानुकारित्वाद् भगवतः। अतो नामप्रपंचो वेदात्मको भिन्नएवांगीकर्त्तव्यः, स केवलं शब्दैकसमधिगम्यः। "वेदैश्च सर्वैरहमेववेद्यः" इति। अतस्तस्य प्रपंचस्य भिन्नत्वान्नविरोधः शब्दे। कथं ? अत आह प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्। प्रत्यक्षं तावद् इदानीमपि यजमानो यजमान कृत्यं ऋत्विजश्च स्वकृत्यं वेदादेवावगच्छन्ति। नचाकृतिमात्रवाचकत्वेनाविरोधः। सर्वत्रलक्षणाप्रसंगा त। "यः सिक्तरेताः स्यात्" इत्यादिषुविरोधश्च। न च प्रवृत्तिनिमित्तस्यैव वाच्यत्वम्। प्रवृत्तिवैयर्थ्यापत्तेः, संकेतग्रहविरोधाच्च। सर्वस्यापि पदार्थस्य भगवत्वान्नानुपस्थिति दोषः, संकेतग्रहेऽपि।

वेदोक्त सारे ही पदार्थ आधिदैविक हैं, परं पुरुष के अवयव स्वरूप हैं, भगवान् से ही संचालित हैं। नाम से ही समस्त वैदिक पदार्थों को भिन्न मानना चाहिए, जो कि केवल शब्द से ही भिन्न प्रतीत होते हैं। जैसा कि—भगवान् ने स्वयं कहा भी है—"वेदैश्चसर्वैरहमेव वेद्यः" इत्यादि। इसलिए वैदिक समस्त प्रपंच भिन्न होने से केवल शब्द में ही विरुद्ध प्रतीत होता है। प्रत्यक्ष और अनुमान दोनों से ही इस बात की पुष्टि होती है आज भी, यजमान, यजमानकृत्य, ऋत्विक्कृत्य और स्वकृत्य आदि का निर्णय वेदों से ही किया जाता है। देवताओं की आकृतिमात्र के वाचक शब्दों से अविरोध की बात नहीं कही जा सकती, क्यों कि—उनमें तो स्पष्ट भिन्नता है, शब्द सामर्थ्य से तो उस भिन्नता का निराकरण नहीं हो सकता फिर तो लक्षणा करनी पड़ेगी। "यः सिक्तरेताः स्याद्" इत्यादि में स्पष्ट विरोध है। शब्दों की वाच्यता तो प्रवृत्तिनिमित्तक भी नहीं कह

सकते, ऐसा मानने से तो, प्रवृत्ति ही व्यर्थ हो जायेगी (अर्थात् जिस आधार पर देवताओं की उपासना में प्रवृत्ति होती है, उससे तो अभिन्नता निश्चित नहीं हो सकती, यदि उससे अभिन्नता निश्चित हो तो अलग अलग देवताओं की उपासना प्रवृति हो ही क्यों ?) ऐसा मानने से सांकेतिक शब्दों का प्रयोग भी व्यर्थ हो जायगा। समस्त पदार्थ भगवदंश ही हैं इसलिए अनवस्था दोष नहीं होता। सांकेतिक शब्दों से भी उक्त दोष नहीं होगा।

जमदग्नीनां पंचावत्तमित्यनुमानम्, न हि स्वयं जामदग्न्य इति प्रत्यक्षोऽनुभवोऽस्ति। परोक्षव्यवहारस्यैवानुमानत्वमिति ब्रह्मवादः तस्मात् प्रत्यक्षानुमानाभ्यामिदानीन्तन भौतिकयज्ञपदार्थेषु भगवदवयवावेशस्तथाऽमुत्रापि। तस्माद्वैदिकः पदार्थः सर्वोऽप्याधिदैविको भिन्न इतिसिद्धम्।

जैसा कि--मनुष्यत्व का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, वैसा ज्ञान परमात्मा की सार्वभौम सत्ता के विषय में नहीं होता वह तो अनुमान पर ही आधारित होता, वह अनुमान प्रत्यक्ष के आधार पर ही होता है। जैसे कि--जमदग्नि पुत्र परशुराम को देखकर उनके स्वभावानुसार क्षात्र अंश का अनुमान हुआ, वैसे ही प्रपंच जगत में विचार करने पर परमात्मत्व का अनुमान होता है। ब्रह्मवाद में, प्रत्यक्ष वस्तु के निहित परोक्ष व्यवहार से ही ब्रह्मत्व का अनुमान किया जाता है। इस प्रकार प्रत्यक्ष और अनुमान के आधार पर प्रारंभ से लेकर अब तक भौतिक यज्ञ पदार्थों में भगवदवयवों की प्रतीति की जाती है इसलिए समस्त वैदिक पदार्थ आधिदैविक रूप से भिन्न है, यही निश्चित मत है।

अतएव च नित्यत्वम् ।१।३।२९॥

साधिकां विशेषोपपत्तिमाह। अतएव अस्मादेवहेतोर्वेदस्यनित्यत्वम्। सर्वप्रपंचवैलक्षण्येन, चकारात् ब्रह्मतुल्यत्वम्। शब्द "ब्रह्म" वेद पुरुषइत्यादिवाच्यत्वम्। अस्यास्तुसृष्टेर्ब्रह्मोपादानस्य सर्वज्ञतया कथनं तन्माहात्म्य निरूपणार्थम्। बान्धिका ह्येषा। मोचिकातुसा। अतएव ऋषीणामप्यत्र मोहः, निःश्वसितवचनाच्च। तस्याप्ययं प्राणभूतो नित्य इति। अर्थप्राधान्यादै

ब्रह्मविद्या परा विद्या । प्रपचभेदादेव लौकिक वैदिक शब्दव्यवहारभेदो तस्मा-दाधिदैविक प्रतिपादकत्वाद् वेदस्य नित्यत्वम् ।

वेदों के साधकत्व में विशेष उपपत्ति प्रस्तुत करते हैं । वेदों की इसलिए नित्यता है कि—वह समस्त प्रपंच जगत को जो कि--सर्वथा विलक्षण है, ब्रह्म तुल्य बतलाते हैं । शब्द ब्रह्म वेद पुरुष आदि नाम भी इसीलिए हैं कि—उन्होने समस्त सृष्टि का उपादान कारण ब्रह्म को ही बतलाया है और उनकी सर्वज्ञता का निर्णय किया है । श्रुति विरुद्ध जो भी सांख्य आदि स्मृतियाँ हैं वे सब बान्धिक अर्थात् जीव को मूढ़ बना देने वाली हैं, किन्तु श्रुति मोक्षिका हैं । क्योंकि—वो परमात्मा के निःश्वास है, इसीलिए ऋषियों का उनपर मोह है, ऋषियों की प्राणरूप ये श्रुतियाँ नित्य हैं । श्रुतियों में पर अपर का भेद नही है क्यों कि ये कर्मप्रधान विवेचन नही करतीं ये तो एकमात्र मोक्षप्रधान ब्रह्मविद्या का विवेचन करती हैं । इसलिये वे पराविद्या के नाम से प्रसिद्ध हैं । वैदिक शब्दों में, और व्यवहार में जो भेद परिलक्षित होता है, वह प्रपंच भेद के अनुसार है इसीलिए ये वेद आधिदैविक तत्त्व के प्रतिपादक कहलाते है, यही विशेषता इनकी नित्यता की परिचायिका है ।

समान नामरूपत्वादावृत्तावप्यविरोधो दर्शनात् स्मृतेश्च ।१।३।३०।

एवं शब्दबल विचारेण वेदप्रामाण्यस्यसिद्धये भिन्न एव प्रपंचोह्याधिदैविकः सर्वत्रसिद्धः । इदानीमर्थबलविचारेणोत्तरकांडे किंचिदाशंक्य परिह्रियते-ऽढ्यर्थम् ।

नन्वस्यप्रपंचस्यानुकारित्वेन वाच्यत्वेन वा स्वीक्रियमाणत्वे सृष्टि प्रलययोर्विद्यमानत्वादनित्यसंयोगः प्राप्नोति ?

इस प्रकार, शब्द बल के आधार पर वेद की प्रामाणिकता सिद्ध करने के लिए विभिन्न प्रपंच को आधिदैविक माना गया जिससे वेद संबंधी समस्त संशयों का निराकरण हो गया । अब अर्थ बल के विचार से उत्तरकाड में

कुछ संशय उपस्थित करते हुए उसका निराकरण करते हैं, ऐसा केवल अपने मत को पुष्ट करने के लिए ही कर रहे हैं।

इस प्रपंच का अनुकारित्व और वाच्यत्व, ब्रह्मपरक स्वीकारने से प्रपंच में तो सृष्टि और प्रलय होता रहता है अतः ऐसी अनित्य सृष्टि के वर्णन करने वाले वेद भी अनित्य सिद्ध होंगे ?

तत्राहसमाननामरूपत्वादावृत्तावप्यविरोधः वस्तुतस्तु भगवद् रूपत्वादाविर्भावतिरोभावेच्छयैव तथात्वान्नवृत्ति शंकापि। तथापि लोकबुद्ध्यनुसारेणावृत्तावपि समान नामरूपत्वात् समुद्रे जलक्षेपवत्। पुनरुपादाने तदेवेति निश्चयाभावेऽपि नामरूपयोस्तुल्यत्वादन्यस्य भेदकस्याभावान्नानित्यसंयोग विरोधः। कुतः ? दर्शनात्, दृशते हि तथा-वेद पितृमातृस्त्रीभर्तृशरीर गंगादिषु तदेवेदमिति व्यवहारस्य सिद्धत्वात्। "सुर्याचंद्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्ययत्" —दिवंच पृथिवीं चान्तरिक्षमथो सुवः "इति। स्मृतेश्च "सर्वं वेदमयेनेदमात्मनाऽत्मयोनिना प्रजाः सृजयथापूर्वं याश्च मय्यनुशेरते" इत्यादिस्मृतेः। सर्वस्मृतेश्च ऋषीणां पूर्वचरितस्मरणं स्मृतिरुच्यत इति। अतोऽर्थबलविचारेऽपि पदर्थानां नित्यत्वान्न वेदस्यानित्य संबंधः।

उक्त संशय पर "समान नामरूप" इत्यादि सूत्र प्रस्तुत कहते हैं। कहते हैं कि वस्तुतः ये जगत् भगवद् रूप है इसलिए इसका भगवान् की इच्छा से केवल आविर्भाव तिरोभाव मात्र होता है, नाश नहीं होता, इसलिए उसकी सृष्टि की बात भी नहीं सोचनी चाहिए वह तो केवल आवृत्ति मात्र है। जो आवृत्ति होती है वह पूर्व सृष्टि के अनुसार ही होती है, उसमें जो भी पदार्थ होते हैं वे सब पूर्व सृष्टि के समान ही नाम रूप वाले होते हैं, इसलिए लौकिक बुद्धि से इसे आवृत्ति ही कह सकते हैं। जैसे कि समुद्र में जल डाला जावे सृष्टि की बात भी वैसी ही है। फिर परमात्मा, इस जगत का उपादान कारण भी है, इससे यह जगत् उसका ही रूप है, इसीलिए इसके नाम रूप में कोई परिवर्त्तन नहीं होता, इसलिए जो कुछ भी भिन्नता दीखती है वह, काल्पनिक ही है, अतः अनित्यता की बात भी काल्पनिक ही हैं। ऐसा प्रत्यक्ष देखने में आता भी है कि पिता

माता, स्त्री, पति के शरीर और गगा आदि में अनादि काल से जो इन्हीं नामों से व्यवहार होता आता है वह केवल परमात्म रूप के कारण ही है, इसीलिए वेद का कथन है "तदेवेदम्" अर्थात् यह जगत वही है "ये सूर्य और चन्द्र, आकाश और पृथिवी इत्यादि की इस धाता ने पूर्व सृष्टि के अनुसार ही कल्पना कर दी।" स्मृतियों में भी जैसे—"यह सारा जगत आत्मयोनि और आत्ममय है, हे धाता! तुम मेरे में पहिले से ही सोई हुई सारी सष्टि को देखकर वैसी की वैसी बना दो।" ऋषियों ने समाधि द्वारा पूर्व वृत्तांतों को स्मरण कर के लिखा है इसलिए वे सब स्मृतियाँ कहलाती हैं। इस प्रकार अर्थ बल के अनुसार विचारने से भी पदार्थों की नित्यता सिद्ध होती है इसीलिए वेद की अनित्यता की बात भी असंदिग्ध हो जाती है।

मध्यादिष्वसंभवादनधिकारं जैमिनिः।१।३।३१॥

अर्थबलविचारे एवैकदेशेन पूर्वपक्षमाह। ननु मध्वादि विद्यासु देवानामनधिकारात् सर्वत्रैवानधिकारः। तथाहि—"असौवा आदित्यो देवमधु तस्य द्यौरेव" इत्यादिना सूर्यस्य देवमधुत्वं प्रतिपादितम्, रश्मीनां वेदत्वं च। तत्र वसुरुद्रादित्यमरुत्साध्याः पंचदेवगणाः स्वमुख्येन मुखेनाऽमृतं दृष्ट्वैव तृप्यंति। पंचविधा एव च देवाः, स्वतःसिद्ध च तेषां तन्मधु। अनुपासकत्वाच्च देवान्तरकल्पना, कृतार्थत्वाच्च, ब्रह्मणोऽपि देवत्वम्। आदि शब्देन सर्वा एव देवोपासन विद्या गृहीताः। अतस्तेषामुपास्यत्वात्कृतार्थत्वाच्च नाधिकारः। न हि प्रयोजनव्यतिरेकेण कस्यचित् प्रवृत्तिः संभवति मोक्षस्याप्यधिकार निवृत्तावुत्तरमार्गवर्त्तित्वात् स्वत एव सिद्धिः। यावदाधिकारमिति न्यायात्। वसूनयाजयदित्यत्रापि भाविन्येव सज्ञा। तस्मान्मनुष्याधिकारकमेव ज्ञानं कर्म चेति न देवानामधिकार इति जैमिनिराचार्यो मन्यते। मनुष्याणामेव ज्ञानकर्मणोस्तरतमभाववतां तत्द्रूपभोगानन्तर मोक्ष प्राप्तेरिति।

अर्थबल के विचार पर, एक पक्षीय जैमिनि आचार्य का मत प्रस्तुत करते है कि मधु आदि विद्याओं में देवताओं का उपधिकार नहीं कहा गया है इसलिए, सभी विद्याओं में उनका अधिकार नहीं है, यही बात

समझ में आती है। जैसा कि "असौवा आदित्यो देवमधु" इत्यादि वाक्य में सूर्य का देवमधुत्व और रश्मियों का वेदत्व ज्ञात होता है। उक्त प्रसंग में वसुरुद्र आदित्य मरुत और साध्य आदि पांच देवगण अपने मुख्य अग्नि इन्द्र, वरुण, सोम, ब्रह्म आदि मुखों से अमृत को देखकर ही तृप्त हो जाते हैं उन पंचविध देवताओं का स्वतः सिद्ध मधु है। ये नहीं कह सकते कि उपास्य रूप से जिन देवताओं का उल्लेख किया गया है वे दूसरे हैं, अर्थ के आधार पर भी ऐसा नहीं कहा जा सकता। यदि ऐसा कहेंगे तो फिर ब्रह्म का देवत्व भी निश्चित हो जायेगा जिससे उपास्य उपासक व्यवस्था ही समाप्त हो जायेगी। आदि शब्द से सूत्र में सभी देवोपासन विद्याओं का ग्रहण होगा। उन सभी में उपास्य और कृतार्थत्व रूप से अनधिकार की बात निश्चित होती है। विना प्रयोजन के किसी की किसी कार्य में प्रवृत्ति नहीं होती देवताओं को उपासना का क्या प्रयोजन हो सकता है? इन्हें मोक्ष के लिए उपासना की आवश्यकता पड़े ऐसा भी नहीं कह सकते, क्यों कि मुक्त जीव जिस देवयान मार्ग से परमधाम जाते हैं, वह तो इन्हीं का स्वतः सिद्ध खुला हुआ मार्ग है। जिस मार्ग पर इन्हीं का अधिकार है उस पर जाने के लिए इन्हे कौन रोक सकता है। यदि कहें कि—"सोऽग्निष्टोमेन वसूनयाजयत्" इत्यादि से जब इनका यागाधिकार सिद्ध है तो उपासना अधिकार मानने में क्या हानि है? सो इस प्रसंग में भी भाव का ही वर्णन है यथार्थ नहीं। इस प्रकार आचार्य जैमिनि ज्ञान और कर्म में केवल मनुष्य का ही अधिकार मानते हैं, देवताओं का नहीं मानते। उनके मत से मनुष्यों को ही ज्ञान और कर्म के अनुसार श्रेष्ठ से श्रेष्ठतम रूपों की प्राप्ति होते हुए मोक्ष प्राप्ति होती है।

ज्योतिषिभावाच्च ।१।३।३२।।

किंच—तेषां सर्वेषामनधिकारः प्रत्यक्षत एव दृश्यते सर्वे हि नक्षत्रादि रूपेण महाभोगवन्तो जगदवभासकत्वेन ज्योतिश्चक्रे दृश्यंते। "अग्निः पुच्छस्य" प्रथमंकाण्डमित्यादि श्रुतेश्च। न हि तादृशां प्राप्तैश्वर्याणां सर्वोपास्यानां मोक्षदातॄणां ज्ञानकर्मणोः कश्चनोपयोगोऽस्ति तस्मादनधिकार एव देवानाम्।

उन सब देवताओं के अनधिकार की बात तो प्रत्यक्ष ही दीखती है, वे सारे ही देवता नक्षत्र आदि रूप से प्रकाशवान हो कर जगत को अवभासित करने वाले ज्योति स्वरूप हैं "अग्निः पुच्छस्य" इत्यादि श्रुति यही बात बतलाती है। ऐसे ऐश्वर्य प्राप्त मोक्ष देने वाले स्वयं उपास्य देवताओं के लिए ज्ञान कर्म का क्या उपयोग है ? इसलिए देवताओं का अनधिकार निश्चित होता है।

इत्येवं प्राप्ते उच्यते—उक्त मत पर कहते हैं—

भावंतु बादरायणोऽस्ति ।१।३।३३।।

तु शब्दः पक्षं व्यावर्त्तयति। भावं देवानामधिकारस्य सद्भावम्। बादरायण आचार्यः। गौण सिद्धान्ताभावाय स्वनाम ग्रहणम्। किमार्षेण ज्ञानेन, तथासति तुल्यत्वमतआह, अस्तिहि अस्ति वेदे—"प्रजापतिरकामयत प्रजायेयेति", स एतदग्निहोत्रं मिथुनमपश्यत् 'तदुदिते सूर्येऽजुहोदिति", देवा वै सत्रमासत" इत्यादिभिः कर्माधिकारो निश्चितः। "तद् यो यो देवानां प्रत्यबुद्ध्यत स एव तदभवत्" इत्यादि। तथा इन्द्र प्रजापति संवादे—"ब्रह्मा देवानाम्" इति च, एवमेवंविधैर्वाक्यैर्देवानामप्यधिकारोऽस्ति यत्र च पुनर्देवानां फलभोग एव प्रतीयते न करणं, तत्रापि तेषामधिकारोऽङ्गी कर्त्तव्यः। हि युक्तोऽयमर्थः। एते हि वसव आधिदैविकभगवदवयवभूतः। अनशनात्, अन्यथा वसुत्वादि विरोधः यद्वसूनां प्रातः सवनमित्यादिवत्। न हि जीवविशेषा दृष्ट्वा तृप्यन्ति। तस्मादिदं ब्रह्मप्रकरणमेव। न वा पूर्वकल्पेन निर्णयः तथा सति तेषामभावादनुपास्यत्वम्। अनित्यताच वेदस्य स्यात् तस्माद् देवानामधिकार इति, शब्दबलविचार एव युक्त इति सिद्धम्।

सूत्रस्थ तु शब्द पूर्व पक्ष का निरसन करता है। भाव शब्द देवों के अधिकार के सद्भाव का द्योतक है उक्त मत पर जो सिद्धान्त प्रस्तुत कर रहे हैं, वह गौण नहीं है, ये भाव दिखलाने के लिए सूत्रकार अपना नाम बादरायण देकर सिद्धान्त प्रस्तुत करते हैं। वे कहते हैं कि केवल ऋषि मत का कोई महत्त्व नहीं है जब कि वेद के प्रमाण उपस्थित हों, इस

विषय में वेद में स्पष्टतः देवताओं के उपासनाधिकार का उल्लेख मिलता है–जैसे कि–"प्रजापतिरकामयत, स एतदग्निहोत्रं, तावुदिते सूर्ये, देवा वै सत्रमासत" इत्यादि वचनों से कर्माधिकार निश्चित होता है। "तद् यो यो देवानां, इत्यादि तथा इन्द्र प्रजापति संवाद में–"ब्रह्म देवानां "इत्यादि तथा ऐसे ही अनेक वचनों से देवताओं के अधिकार की बात सिद्ध होती है। जहाँ देवों के फलभोग की चर्चा आती है, वहाँ भी उनसे अधिकार को ही समझना चाहिए, भोग को नहीं। यही सही अर्थ है। ये वसु आदि, आधिदैविक रूप से भगवान के अवयव रूप हैं। ये भोग नहीं करते ये बात ही इनकी भगवदवयवता की परिचायिका है। यदि इन्हें अंग नहीं मानेंगे तो इनके वसुत्व आदि की सिद्धि नहीं हो सकेगी, जैसे कि–यजमान को वसु आदि के अधिकारी वासव आदि सामगान से प्रातरादि सवन देते वैसे ही देवताओं के प्रसंग में भी अमृत दान मात्र ही रह जायेगा, वसु आदि भाव नहीं रहेगा। जीवविशेष कभी देख कर ही तृप्त नहीं हो सकते वे तो भोग ही करते हैं, देवता ही एक मात्र देख कर तृप्त होते हैं। इसलिए यह प्रकरण ब्रह्म परक ही है। जो श्रुतियाँ देवोपासन की सी बात करती हैं वो भी भगवदंश आधिदैविक भाव को ही बतलाती हैं। पूर्व पक्ष का निर्णय युक्ति संभत नहीं है। यदि उसका निर्णय मान लें तो देवताओं की सत्ता ही समाप्त हो जायेगी और उपास्य भाव समाप्त हो जायेग, साथ ही वेद भी अनित्य हो जावेंगे। इसलिए शब्दबलविचार से देवताओं के अधिकार की बात ही सिद्ध होती है।

९ अधिकरण :––

शुगस्यतदनादरश्रवणात् तदाद्रवणात् सूच्यतेहि ।१।३।३४।।

इदानीं शूद्रस्याधिकारो निराक्रियते। "यथा कर्मणि एतया निषादस्थपतिं याजयेत् साहि तस्येष्टिः" इति श्रुतेर्हविष्कृदाधावेति शूद्रस्येति लिंगात् दोहादौ च शूद्रस्याधिकारः। एवं इहापिसंवर्गविद्यायां शूद्रस्याधिकारः, इति तन्निराकरणार्थमिदमधिकरणमारभ्यते।

अब शूद्र के अधिकार की बात का निराकरण करते हैं। कि––

"जैसे कि कर्म में, निषादस्थपति को इससे योजित करते हैं वही उसकी इष्टि है" इत्यादि श्रुति में यज्ञादिकर्म में निषाद आदि शूद्र के ग्रहण की बात आई है, इससे यजन उपासना आदि में उसका अधिकार निश्चित होता है। इसी प्रकार संवर्ग विद्या में भी शूद्र का अधिकार प्रतीत होता है। इस मत के निराकरण के लिए ही यह अधिकरण प्रस्तुत करते हैं।

एवं श्रूयते—"जानश्रुतिर्हपौत्रायणः" इत्यत्र हंसवाक्यश्रवणानन्तरम् सयुग्वनो रयिक्वस्य समीपंगतः जानश्रुतिः पौत्रायण "रयिक्वेमानि षट्-शतानि गवाम्" इत्यादिना देवतां पृष्टः प्रत्युवाच—अहहारेत्वा शूद्र तवेव सह गोभिरस्तु" इत्यादिना जानश्रुति शूद्र शब्देन संबोध्य, पुनश्च "शुद्रानेन मुखेन" इत्युक्त्वा संवर्गविद्यामुपदिष्टवान् अतोऽत्रविद्यायां जातिशूद्रस्यापि अधिकारः।

ऐसी श्रुति है कि—"जानश्रुतिर्ह पौत्रायणः" इत्यादि हंसवाक्य को सुनकर, जानश्रुति पौत्रायण, बैलगाड़ी वाले रयिक्व के पास ब्रह्मविद्या सुनने गया "हे रयिक्व ये छः सौ गायें लेकर मुझे ब्रह्मविद्या दो" इत्यादि से देवता को जानने की इच्छा की उस पर रयिक्व ने कहा—"अहह! अरे! तुझ शूद्र के साथ गौवें" इत्यादि से जानश्रुति को शूद्र शब्द से संबोधित करके पुनः 'शूद्र को इस प्रकार बतलाते हैं"—ऐसा कहकर उसे संवर्ग विद्या का उपदेश दिया। इससे ज्ञात होता है कि विद्या में शूद्र जाति का भी अधिकार है।

इत्याशक्य परिहरति। नात्रशूद्रशब्दो जातिशूद्रवाची किन्तुमत्सरयुक्त-स्त्वमत्र नाधिकारीति तथा सबोधनम्। तदाहशुक् शोकः, अस्य जानश्रुतेः समजनि, तत्रहेतुः, तदनादरश्रवणात्। तस्माद्धंसादनादरस्य श्रवणात्। "कं वर एनमेतत् सं तं सयुग्वानमिव रयिक्वमात्थेतिस्वापकर्ष श्रव। किमतो? यद्येवमत आहतदाद्रवणात्, तत्तदनन्तरम् आद्रवणात्। शुचमनु आद्रवतीति शूद्रः। परोक्षवादार्थं दीर्घः सर्वज्ञत्वज्ञापनाय। रूढिर्योगमपहरतीति न्यायात् कथमेवमत आह—सूच्यते हि, स्वस्य सर्वज्ञत्वं सूच्यते, हंस-वाक्याच्छोके जातेत्वमागत इति। अन्यथा प्रपन्नस्य धिक्कार वचनमनर्थं

स्यात् । युक्तश्चायमर्थो, ब्रह्मविदः सर्वज्ञतेति तस्य मात्सर्यं निराकरणम् वा संबोधनफलम् । तस्माच्छुचं प्रत्याद्रवणादेव शूद्रपद प्रयोगो, न जाति शूद्रवाची ।

उपर्युक्त शंका करते हुए परिहार करते हैं, कि इस प्रसंग में शूद्र शब्द जाति सूचक नहीं है, किन्तु मत्सर युक्त तुम इस विद्या के अधिकारी नहीं हो, इस भाव का द्योतक, अनादर सूचक संबोधन है। हस द्वारा आहत होने पर उस जानश्रुति की आकृति शोक से प्रभाहीन हो गई थी । यहाँ शूद्र का तात्पर्य है "शोक से हतप्रभ" इसकी व्युत्पत्ति "शुचमनु आद्रवतीति शूद्रः" इस प्रकार होगी। शूद्र शब्द में जो दीर्घ आकार का प्रयोग किया गया है वह पृषोदरादि गण के अनुसार है, जो कि सर्वज्ञता का ज्ञापक है। इस कथन में रयिक्व ने अपनी सर्वज्ञता सूचित की है, सूचित किया कि तुम हंसवाक्य के शोक से यहाँ पर आए हो। यदि सर्वज्ञता की बात नहीं थी तो, प्रसन्न श्रद्धालु व्यक्ति को धिक्कारने की क्या बात थी ? ऐसा मानना युक्ति संगत भी है ब्रह्मविज्ञ की सर्वज्ञता प्रसिद्ध भी है। ऐसे संबोधन का प्रयोजन, उसके मात्सर्य का निराकरण भी हो सकता है। शोक से हतप्रभ होने पर ही शूद्र शब्द का प्रयोग किया गया है जातिवाचक नहीं है ।

कुत एवमत आह— ऐसा कैसे जाना ? इसका उत्तर देते हैं—

क्षत्रियत्वावगतेश्चोत्तरत्र चैत्ररथेनलिंगात् ।१।३।३५।।

जानश्रुतेः पौत्रायणस्य क्षत्रियत्वमवगम्यते । गोनिष्क रथकन्यादानात् । नहि-क्षतृप्रभृतयो ह्येते क्षत्रियादन्यस्य संभवंति । राजधर्मत्वात । न ह्यन्यो ब्राह्मणाय भार्यात्वेन कन्यांदातुं शक्नोति न च प्रथमहंसवाक्यं शूद्रे संगच्छते । उपदेशाच्चेति चकारार्थः ।

गोनिष्क रथ कन्यादान आदि प्रसंग से जानश्रुति पौत्रायण का क्षत्रियत्व निश्चित होता है । ये विशिष्ट दान सिवा क्षत्रिय किसी अन्य से संभव नहीं हैं । और न कोई ब्राह्मण को भार्यारूप से कन्या दे ही सकता है।

न केवल हंस के कथन मात्र से क्षत्रिय, शूद्र हो सकता है। उपदेश के प्रसंग से भी उसके क्षत्रित्व की पुष्टि होती है।

तथापि सवर्गविद्यायां शूद्रस्यैवाधिकारं मन्वानस्य निराकरणार्थं हेतुमाह—उत्तरत्र चैत्ररथेन लिंगात् "अथह शौनकं च कापेयमभिप्रतारिणं च काक्षसेनिमित्युत्तरत्र ब्राह्मणक्षत्रियौ तौ निर्दिष्टौ। कक्षा सेना यस्येति, कक्षसेनस्यापत्यं काक्षसेनिरिति। अस्तय व्याख्यानं चैत्ररथ इति। चित्रा रथा यस्य तस्यापत्यं, तेन चैत्ररथेन। कक्षा रूपा रथा इति व्याख्यानम्। एतेन वै चित्ररथं कापेया अयाजयन् इति। शौनकश्च कापेयो याजकश्च। याज्यस्य चित्ररथस्य पुत्रः काक्षसेनिः, इति। ब्रह्मचारी, ब्रह्मवित्। इमौतु संवर्गविद्योपासकौ प्राणाय हि भिक्षा, तस्मान्न ददतुः। उभावपि श्लोकौ भगवतः। तेन प्रकृतेऽप्येतौ गुरुशिष्यौ ब्राह्मणक्षत्रियावेवेति गम्यते। तस्मान्न जाति शूद्रः संवर्गविद्यायामधिकारी।

इस पर भी जो लोग संवर्ग विद्या में शूद्र के अधिकार की बात करते हैं, उसका निराकरण कहते हुए कहते हैं कि—उक्त प्रसंग के उत्तरार्द्ध के "अथह शौनकं च कापेयमभिप्रतारिणं च काक्षसेनिम्" इत्यादि में स्पष्ट रूप से रयिक्व और जानश्रुति को ब्राह्मण और क्षत्रिय कहा गया है कक्ष सेन के पुत्र क्षत्रिय काक्ष सेनि और अभिप्रतारिक्षत्रिय के साथ इस प्रसंग जान श्रुति को भी भोजन दिया गया उसमें कपि गोत्र के शौनक ब्राह्मण याजक थे वे भी उस भोज के सदस्य थे, यज्ञ करने वाला चित्ररथ का पुत्र काक्षसेनि था। ये ब्रह्मचारी अर्थात् ब्रह्मविद् को, ये दोनों संवर्गविद्या के उपासक प्राणतत्त्व की ही भिक्षा करते थे इसलिए इन्हें भिक्षा नहीं दी गई इस प्रसंग में कापेय ने भगवान प्रजापति की प्रशस्ति में दो श्लोक का गान किया था। इससे निश्चित हुआ कि इस विद्या के अधिकारी स्वभावतः ब्राह्मण और क्षत्रिय ही गुरु और शिष्य होते थे। निश्चित ही संवर्ग विद्या में शूद्र जाति का अधिकार नहीं था।

संस्कार परामर्शात् तदभावाभिलापाच्च ।१।३।३६।।

इदानीं शूद्रस्य क्वचिदपि ब्रह्मविद्यायामधिकारश्चेदत्रापिकल्प्येत,

तत्तु नास्ति: सर्वत्र संस्कारपरामर्शात्। उपनयन संस्कार: सर्वत्र परामृश्यते, "तं होपनिन्ये, अधीहि भगव इति होपससाद, तान् हानुपनीयेत्" इत्यादि प्रदेशेषूपनयन पूर्वकमेव विद्यादानं प्रतीयते। शूद्रस्य तु तदभावाभिलापात्, "चतुर्थ एक जातिस्तु शूद्र" इति "नशूद्रे पातक किंचिन्न च संस्कारमर्हति" इति शूद्रस्य संस्कार निषेधात्। चकारान्न "शूद्राय मतिं दद्यात्" इति निषेधः।

अब कहते हैं कि—शूद्र की ब्रह्मविद्या में अधिकार की थोड़ी भी कल्पना, नहीं कर सकते। ब्रह्मविद्या की उपासना के लिए सर्वत्र संस्कार का परामर्श किया गया है उपनयन संस्कार की अर्हता का परामर्श सर्वत्र मिलता है। "तं होपनिन्ये, अधीहि भगव" इत्यादि श्रुतियाँ उपनयन के बाद ही विद्या दान का उपदेश देती हैं। शूद्र के लिए उपनयन संस्कार का निषेध भी करती हैं—"चतुर्थ एक जाति" 'न शूद्रे पातकं किंचित्" इत्यादिमें शूद्रों के संस्कार का निषेध किया गया है। "शूद्र को विद्या मत दो" ऐसा स्पष्ट निषेध भी है।

तदभाव निर्द्धारणे च प्रवृत्तेः ।१।३ ३७।।

इतश्च न शूद्रस्य सर्वथाधिकारः, तद भावनिर्धारणे शूद्रत्वाभावनिर्द्धारण एव गुरुशिष्यभाव प्रवृत्तेः। "सत्यकामोह जाबाल" इत्यत्रगौतमः सत्यकाम-मुपनिन्ये। नैतद् ब्राह्मणो विवक्तुमर्हतीति सत्यवचनेन शूद्राभावं ज्ञात्वैव। चकार एवार्थे। चकारेण निर्द्धारणमुभयज्ञानार्थम्। वर्णत्वं शूद्रभावंच तस्मान्न शूद्रस्याधिकारः।

सत्यकाम जाबाल, महर्षि गौतम के पास ब्रह्मविद्या, की प्रार्थना करने गया, ऋषि ने उससे वर्ण पूछा, उसने कहा कि—मेरी माँ को स्पष्टतः यह ज्ञात नहीं है कि—मैं किसका बालक हूँ क्यों कि—मेरी माँ अनन्य सेविका भाव से जीवन निर्वाह करती रही है; सत्यकाम की इस सत्यवादिता से महर्षि ने निश्चय कर लिया कि यह बालक ब्राह्मण तेज से ही उत्पन्न है तभी इसने अपनी उत्पत्ति को नहीं छिपाया। इसी आधार पर उन्होंने उसे ब्रह्मविद्या का उपदेश दिया। इस प्रसंग से भी शूद्र के अनधिकार की बात स्पष्ट हो जाती है; उसे ब्राह्मणत्व का निर्णय होने पर ही उपदेश दिया गया।

श्रवणाध्ययनार्थ प्रतिषेधार्थस्मृतेश्च ।१।३।३८।।

दूरेह्यधिकार चिन्ता । वेदस्यश्रवणमध्यनमर्थज्ञानं अयमपि तस्य प्रतिषिद्धम् । तत्सन्निधावन्यस्य च । "अथास्य वेदमुपश्रवणतस्त्रपुजतुभ्यां श्रोत्रप्रतिपूरणमिति ।" यद्यु वाएतच्छ्मशानं यच्छूद्रः । तस्माच्छूद्र सामीप्येनाध्येतव्यमिति । उदाहरणे जिह्वाच्छेदो धारणेशरीर भेद इति । दोहादौ शूद्र संबंधे मंत्राणामभाव एव ।

अधिकार की बात सोची भी नहीं जा सकती । वेद का श्रवण, अध्ययन, अर्थज्ञान आदि सभी का प्रतिषेध किया गया है उनके निकट तक ये सब करने का निषेध है, उनको तो वतलाने का प्रश्न ही नहीं उठता । "उसके वेद सुनने पर उसके कानों को रांगा या लाह गर्म करके भरो" यह शूद्र श्मसान तुल्य है" इसलिए शूद्र के निकट वेदाध्ययन नहीं करना चाहिए "यदि वह वेद पढ़े तो उसकी जिह्वा का छेदन करो, धारण करे तो शरीर भेदन करो" इत्यादि । शूद्र के लिए मंत्रहीन जातकर्म आदि संस्कार का विधान किया गया है ।

स्मृति प्रयुक्त्यापि वेदार्थे न शूद्राधिकार इत्याह––स्मृतेश्च "वेदाक्षर विचारेण शूद्रः पततितत्क्षणादिति ।" चकारस्त्वधिकरण संपूर्णत्व द्योतकः । स्मार्त्त पौराणिक ज्ञानादौतुकारणविशेषण शूद्रयोनिगतानां महतामधिकारः । तत्रापि न कर्मजातिशूद्राणाम् तस्मान्नास्ति वैदिके क्वचिदपिशूद्राधिकार इतिस्थितम् ।

स्मृतियाँ भी वैदिक तत्त्व की ही प्रतिपादिका हैं इसलिए उनमें भी शूद्र का अनधिकार कहा गया है जैसा कि––"वेदाक्षर का विचार करने से शूद्र तत्काल पतित हो जाता है" ऐसा स्मृति प्रमाण है । सूत्र में किया गया चकार का प्रयोग अधिकरण समाप्ति का द्योतक है । स्मृति और पौराणिक ज्ञान में, कारण विशेष से शूद्रयोनि में गए हुए महान लोगों को ही, अधिकार दिया गया है कर्म से शूद्रता को प्राप्त लोगों को भी इसके अधिकार से वंचित रक्खा गया है । इससे निश्चित होता है– वैदिक वाङ्मय में शूद्र को किसी प्रकार भी अधिकार नहीं है ।

१०. अधिकरणः—

कम्पनात् ।१।३।३९।।

कठवल्ली विचारेण निश्चिना ह्यधिकारिणः वाक्यान्तरं च तत्रत्यं-चिन्त्यते प्रलयावधि । "यदिदं किंच जगत् सर्वं प्राणएजति निःसृतं महद्भयं वज्रमुद्यतं य एतद् विदुरमृतास्ते भवन्ति" इति, अत्र प्राण वज्रोद्यमनशब्दाभ्यां संदेहः– किं प्राणोपासना, इन्द्रोपासना वा, ब्रह्मवाक्यम् वा ? इति । बाधक शब्दस्य श्रुतित्वान्न प्रकरणेन निर्णयः ।

कठवल्ली के आधार पर अधिकारी का निर्णय किया गया, इस विषय पर वाक्य तो अनेक प्रकार के हैं जिनको जीवन पर्यन्त विचार करने पर भी निर्णय करना कठिन है ।

"जो यह दृष्ट जगत है वह प्राण से संचालित है जो इसे जानता है, उसे महान भयों से यह वज्र उठाकर बचाता है इसे जानने वाला अमृत हो जाता है" इस कठवल्ली के वचन में प्रयुक्त प्राण और वज्र उठाने के वर्णन से संदेह होता है कि—इसमें प्राणोपासना है, या इन्द्रोपासना अथवा ब्रह्मोपासना ? इसमें श्रुति का शब्द ही बाधक हो रहा है इसलिए प्रकरण से निर्णय करना कठिन होगा ।

"अमृतं वै प्राणाः" इति श्रुते प्राणोपासकस्यापि अमृत प्राप्तिर्युज्यते । इन्द्रस्याथमरत्वात् । वज्रमुद्यतमिनि प्राणपक्षे वियोजने मरणजनकत्वाद्-भयरूपत्कम् । इन्द्रपक्षे बलाधिष्ठातृत्वात् प्राणत्वम् । तस्मात् प्राण इन्द्रो वा वाक्यार्थः ।

"अमृतं वै प्राणाः" इस श्रुति से प्राणोपासक की भी अमृत प्राप्ति बतलाई गई है । इन्द्र को भी अमर कहा गया है अतः उसकी उपासना से भी अमृत प्राप्ति संभव है । प्राण पक्ष में वज्र उठाने के प्रसंग से, मरणजनक भय से छूटने की बात निश्चित होती है । तथा इन्द्र पक्ष में बल के अधिष्ठाता होने से उसके लिए प्राण शब्द का प्रयोग भी संगत होता है । इससे प्राण और इन्द्र दोनों ही उक्त प्रसंग में उपास्य हो सकते हैं ।

इत्येवं प्राप्ते उच्यते—कंपनात्, कंपनमत्रप्रथम वाक्यार्थः । स च भयहेतुकः । अविशेषेण सर्वंजगत्कंपन भगवद्हेतुकमेव भवति ।

उक्त मत पर "कंपनात्" सूत्र प्रस्तुत करते हैं। कहते हैं कि—इसके प्रथम वाक्य का तात्पर्य कंपन से है, वह कंपन भयहेतुक ही है सामान्यतः समस्त जगत के कंपन की बात परमात्मा से ही संभव हो सकती है।

न चैकान्ततो वज्र इन्द्रस्यैवायुधंभवति । अग्नि हृदयत्वात् "तस्यतातस्य हृदयमाछिन्दत् साऽशनिरभवत्" इति श्रुतेः । तस्मान्मारकरूपमेवेदं भगवतः । प्राणशब्दवाच्यत्वं तु पूर्वमेव सिद्धम् । तस्मात्सर्वजगत्कम्पनं भगवत्कृतमिति भगवानेव वाक्यार्थः ।

वज्र केवल इन्द्र का ही अस्त्र नहीं है। वह तो अग्नि हृदय है "तस्य-तातस्य" इत्यादि से ऐसा ही निर्णय होता है। यह भगवान् का मारक रूप अस्त्र है। प्राण शब्द भगवान का ही वाचक है यह पहिले ही निर्णय कर चुके हैं। इसलिए समस्त जगत का कंपन भगवतकृत ही है, भगवान ही उक्त वाक्य का वर्ण्य विषय है।

ज्योतिर्दर्शनात् ।१।३।४०।।

"स एष संप्रसादोऽस्माच्छरीरात् समुत्थाय परं ज्योतिरभिसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते" इति, तत्र संशयः, परंज्योतिर्महाभूत रूपं ब्रह्म वा ? इति ।

"यह चैतन्य इस शरीर से उठकर परं ज्योति से संपन्न होकर अपने रूप को प्राप्त करता है" यहाँ संशय होता है कि—परं ज्योति, महाभूत है अथवा ब्रह्म ?

ब्रह्मधर्माश्च ये केचित् सिद्धायुक्त्यापि साधिताः ।
निर्णायकास्ततोऽप्यन्ये चत्वारोऽत्र निरूपिताः ।।

तथ रूढयोपपत्त्या च महाभूतमेव ज्योतिः । इत्येवं प्राप्ते उच्यते—ज्योतिः ब्रह्मैव कुतः ? दर्शनात्, सर्वत्रदर्शनं न्याय इति यावत् । सुषुप्तौ सर्वत्र "सता सौम्य तदा संपन्नो भवति, सति संपद्य न विदुः, सति संपद्यामहः"

इति । "अहरहर्ब्रह्मलोकं गच्छन्ति" इत्यादि प्रदेशेषु ब्रह्मसंपत्तिरेवोक्ता अत्रापि संप्रसादवचनात् परंज्योतिर्ब्रह्मैव । तस्माद् यः कश्चन् शब्दो ब्रह्मस्थाने पठितस्तद्वाचक एवेति ।

जो भी ब्राह्म धर्म की, युक्ति से उनकी सिद्धि की गई अभी और भी कुछ निर्णयाधीन हैं उनमें चार का यहां निरूपण करेंगे उक्त प्रसंग पर विचारने पर समझ में आता है कि ज्योति शब्द महाभूत में ही रूढ़ है अतः उसी का यहाँ वर्णन प्रतीत होता है। इस मत पर कहते हैं कि--उक्त प्रकरण का वर्ण्य ज्योति तत्त्व ब्रह्म ही है, क्यों कि--सभी जगह उसका ब्रह्म के रूप में ही विवेचन किया गया है "सता सौम्य तदा संपन्नो भवति" "सति संपद्यामह" "अहरहर्गच्छन्ति" इत्यादि सुषुप्ति के वर्णनों में परमात्मा की प्राप्ति की ही चर्चा है, यहाँ पर भी संप्रसाद शब्द से ज्योति शब्द ब्रह्म वाचक ही निश्चित होता है। जो कोई भी शब्द, ब्रह्म के स्थान पर कहे जायेंगे वे सभी ब्रह्मवाचक ही होंगे, ऐसा निश्चित है।

आकाशोऽर्थान्तरत्वादिव्यपदेशात् ।१।३।४१।

"आकाशो वै नामरूपयोर्निर्वहिता ते यदन्तरा तद् ब्रह्मेति" श्रूयते। तत्राकाशशब्दे संदेहः, भूताकाशः परमात्मा वा ? नामरूपनिर्वाहमात्रत्वमवकाशदानात् भूताकाशस्यापि भवतीति न ब्रह्मपरत्वम् । अन्यस्य च नियामकस्याभावात् ।

आकाश नामरूप का निर्वाहक है, उसमें जो निहित है वह ब्रह्म है' ऐसी श्रुति है। यहाँ आकाश शब्द पर संशय होता है कि--वह भूताकाश वाची है या ब्रह्मवाची ? नामरूप के निर्वाहक और अवकाश देने से भूताकाश का वाची ही समझ में आता है ब्रह्मपरक नहीं। आकाश के अतिरिक्त किसी और में निर्वाहकता का अभाव है।

इत्येवं प्राप्ते उच्यते--आकाशः परमात्मा, अर्थान्तरत्वादि व्यपदेशात् । यद् भूताकाशस्य प्रयोजनं श्रुतिसिद्धं, तस्मादन्यस्य व्यपदेशः कार्यान्तरादिव्यपदेशश्च । अत्रैव हि सिद्धवत्कारेणोत्कृष्टधर्मा अतदीया तदेव ब्रह्मेति । नापि नामरूप निर्वाह आकाशस्य माहात्म्यहेतुर्भवति । वै निश्चयेनेति सिद्धवत् कारान्नोपासनापरत्वम् निर्वाहस्य ब्रह्मधर्मत्वं न श्रुत्यन्तरसिद्धमिति

विचारः, अर्थापत्ति सूचकस्त्वयमेव न्याय इति । तस्माद् यत्रैवातद्धर्मकथन-मन्यवाच्यस्य तत्रैव ब्रह्मपरत्वमिति सिद्धम् ।

उक्त मत पर कहते हैं कि—आकाश परमात्मवाची ही है, यह शब्द केवल भूताकाशवाची ही नहीं है अन्य अर्थों का भी बोधक है। भूताकाश का जो श्रुतिसिद्ध प्रयोजन है, वही, इसका दूसरे अर्थों में प्रयोग होने पर भी होता है। उक्त प्रसंग में उसका जो निर्वाहक धर्म है वह उत्कृष्ट धर्म के रूप में बतलाया गया है अतः वह उसका वाची न होकर ब्रह्म परक है। नामरूप निर्वाह ऐसा विशेषोल्लेख आकाश के माहात्म्य का कारण नहीं हो सकता। वाक्य में "आकाशो वै" कहा गया है, यह वै पद निश्चयात्मक है जो कि निश्चित सिद्ध अर्थ का द्योतन करता है, कि उपासना परक प्रयोजन बतलाता है। निर्वाह, परमात्मा का विशिष्ट धर्म है जो कि अन्य श्रुतियों में प्रसिद्ध है। इन विशेष वर्णनों से ये निर्वाहकत्व आदि विशेषतायें आकाश संबंधी नहीं हो सकतीं इसलिये उन्हे ब्रह्मऽपरक ही मानना समीचीन हैं।

सुषुप्त्युत्क्रान्त्योर्भेदेन १।३।४।२।।

बृहदारण्यके ज्योतिर्ब्राह्मणे, "याज्ञवल्क्य किं ज्योतिरयं पुरुष' इत्यारभ्य" अभयं ह वै ब्रह्म भवति य एवं वेदेत्यन्ते संदेहः किं ब्रह्मवाक्यमेतद् उत जीवस्य ? इति ।

बृहदारण्यक के ज्योति ब्राह्मण में "याज्ञवल्क्य किं ज्योतिमेपुरुषः" से प्रारंभ करके "अभयं हवै ब्रह्म भवति य एवं वेदेति" तक जो प्रकरण कह गया है वह ब्रह्म परक है या जीव परक ? ऐसा संदेह होता है।

जीवस्य ब्रह्मत्व प्रतिपादने जीव वाक्यत्वम् । स्वातंत्र्येण ब्रह्मण एव ज्ञानकर्मत्वे ब्रह्म वाक्यत्वमिति । यद्ययर्थज्ञाने न संदेहस्तथापि नियमकंसेतुमाह, भेदेन इति । तस्यायमर्थः, "किं ज्योतिरयं जीव ?" इति प्रश्ने सूर्यचन्द्राग्निवाङ्निराकरणानन्तरं आत्म ज्योतिः । आत्मा भगवानेवास्य ज्योतिरित्युत्तरानंतरं. कतम आत्मा ? इति प्रश्ने "योऽयं विज्ञानमयो ज्ञानरूप इन्द्रियेषु हृदि च प्रकाशमानः" इत्युत्तरे जीवोऽथेतादृश इति तन्निराकर-

णार्थ 'स समानः सन् जीवतुल्यः सन् क्रीडति" इत्याह। तस्योभयधर्मा अप्युच्यन्ते ि यामात्रस्य तन्मूलत्वाय। तत्र हि चत्वारि स्थानानि—अयं लोकः परलोकः स्वप्न इति त्रयं जीव समानतया अनुभवति। तत्र स्वप्नस्य मिथ्यात्वाद् दवयमेव। सुषुप्तं च चतुर्थं, जीवस्यतु मोक्षोऽपि।

जिस मत मे जीव के ब्रह्मत्व का प्रतिपादन किया जाता है, उसमें तो प्रकरण जीव परक है। जो स्वतंत्ररूप से ब्रह्म को ज्ञेय मानते हैं उनके मत से यह ब्रह्म परक है। यद्यपि अर्थ स्पष्ट होने से उसमे कोई संदेह का अवकाश नहीं है परन्तु नियामक हेतु दिखलाते हुए सूत्रकार सूत्र में 'भेदेन" पद प्रयोग करते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि—प्रकरण में— क्या यह ज्योति जीव है? ऐसा प्रश्न करने पर सूर्य चंद्र अग्नि वाणी आदि का निराकरण करते हुए इसे आत्मज्योति कहा गया, इस ज्योति का आत्मा भगवान ही है, ऐसा उत्तर दिया गया। "वह आत्मा कैसा है?" पुनः ऐसा प्रश्न करने पर "जो विज्ञानमय, ज्ञानरूप इन्द्रियों और हृदय में प्रकाशमान है" ऐसा उत्तर दिया गया। "जीव भी ऐसा हो सकता है?" ऐसी जिज्ञासा करने पर उसके निराकरण में कहा कि- "वह परमात्मा समान होकर, जीव के समान क्रीडा करता है।" उक्त प्रसंग में आगे दोनों के गुणों का समानरूप से वर्णन किया गया, क्रियामात्र परमात्मा की पृथक्ता ज्ञात होती है इस लोक, परलोक और स्वप्न इन तीन अवस्थाओं में जीवात्मा, परमात्मा के समान अनुभूति करता है। स्वप्न, मिथ्या हैं अतः इसमें जीव को ही विशेष अनुभूति होती है। सुषुप्ति चौथी अवस्था है, जीव की एक मुक्तावस्था भी है।

तत्रास्मिल्लोके जीवस्यानीशित्वंप्रत्यक्षसिद्धम्। मोक्षेत्वैक्यम्। स्वप्नस्तु माया। अतः परंद्वयमवशिष्यते। तत्रश्रुत्यैव भेदः प्रतिपादितः।

इस लोक में जीव की परतंत्रता प्रत्यक्ष देखी जाती मुक्तावस्था में दोनों की समान अवस्था रहती है। स्वप्नावस्था तो माया है ही। केवल दूसरी परलोक की अवस्था शेष रहती है, उसी में श्रुति ने भेद का प्रतिपादन किया हैं।

तत्र भगवतो जीव साम्ये अन्तःकरणेन्द्रियधर्माः प्राप्नुवंति इति तत्रा-

नुकरणमाह--"ध्यायतीव लेलायतीव" इति । बुद्धिसहितः स्वयमेव स्वप्नो भूत्वा जागरणानुसंधानं न करोति । एवं जाग्रत्स्वाप्नौ ब्रह्मणो लोकद्वयम् जीवस्य स्थानत्रयमाह ।" स वा अयमितिकंडिकाद्वयेन, स इति पूर्वं प्रक्रान्तो जीवः । जीवस्य शरीरेन्द्रियाणां दुःखदातृत्वमेव । अथेति भगवच्चरित्रम् । सतु स्वस्यानंदं जीवस्य दुःखं च पश्यति ।

भगवान अवतार दशा में, जीव की तरह, अन्तःकरण और इन्द्रियों के विषयों को प्राप्त करते हैं--यही बात "ध्यायतीवलेलायतीव" आदि में कही गई है । वह परमात्मा स्वप्नावस्था में भी स्वयं ही बुद्धिपूर्वक स्वप्न होकर क्रीडा करते हैं, जागरण की बात भी उनकी जीव के समान ही होती है । जाग्रत और सुषुप्ति दो अवस्थायें ब्रह्म की जीव के समान तथा स्वप्न सहित तीन अवस्था जीव को बतलाई गईं । "स वा अयम्" इत्यादि दो ऋचाओं से दोनों के स्वरूपों का विवेचन किया गया । 'स' से उस पूर्व प्रश्नानुसार जीव का उल्लेख है । जीव की, शरीर इन्द्रिय आदि से दुःख प्राप्ति कही गई । "अथ" से भगवच्चरित्र का विवेचन किया गया है वह अपने आनंद और जीव के दुःखों को देखता है ।

भेदोऽथ शब्दात् । जीवस्यानीशित्वात्, येन प्रकारेणयं जीवः परलोके गच्छति, तमुपाय भगवानेव करोति । अथो खल्विति भगवतो न जागरित स्वप्न भेदोऽस्तीति पक्षः । परंस्वयंज्योतिष्टत्व तत्र स्पष्टम् । एतावद्दूरे भगवच्चरित्रमंगीकृत्य जीव विमोक्षार्थं प्रश्नः । "स वा एज" इति जीव वाक्यम् । तस्य सहजः संगो नास्तीति स्वप्न संगाभावं प्रत्यक्षतः प्रदर्शयन्न संगत्वमाह तावतापि जागरणावस्थायामसंगत्वज्ञानाय पुनः प्रश्नः । तत्र मत्स्य दृष्टांतोऽवस्थाभेद ज्ञानाय क्रियाज्ञान प्रधानः ।

अथ शब्द से भेद दिखलाना प्रारंभ किया गया है । परतंत्र होने से जीव जिस प्रकार परलोक जाता है, उसका उपाय भगवान ही करते हैं । भगवान में जागरित और स्वप्न का भेद नहीं रहता "अथ खलु" आदि से यही बतलाया गया है । परं स्वयं ज्योतित्व की बात भी स्पष्ट की गई है । यहाँ तक भगवान् के चरित्र का विचार करते हुए, जीव के मोक्ष के लिए प्रश्न किया गया है ।" स वा एज 'इत्यादि जीव संबंधी वाक्य हैं । उसका और परमात्मा का सहज साथ नहीं है. स्वप्न में उस से पर-

मात्मा से बिलकुल भेद रहता है यह दिखलाया गया है जागरित अवस्था में असंगता को समझने के लिए पुनः प्रश्न किया गया है तथा वहाँ अवस्था भेद को बतलाने के लिए और क्रिया ज्ञान की प्रधानता दिखलाने के लिए मत्स्य का दृष्टान्त दिया गया है।

श्येन सुपर्ण दृष्टान्तस्तु सुषुप्तौ भगवत्स्वरूप प्राप्तयेऽवस्थान्तः। यत्रेति च भगवान। पंचवर्ण नाडीकृत एवास्य क्लेशो, भगवत्कृत एवानंद इति स्वप्नानन्दो भगवद्रूपः परमो लोकः। सुषुप्तिस्त्वकामरूपो भगवान्। अत्र ज्ञानाभावादुभयोः स्पष्टतया भेद निर्देशः। शारीर. प्राज्ञ इति। नाड्याच्छादनाभावोऽतिच्छन्दः। तत्र भगवत्स्वरूपं गतस्य वाह्येन्द्रिय धर्माभावमाह। विजानीयादित्यन्तेन वाह्येन्द्रियाणांसलिलत्वमिति पूर्वोपपत्तिः। 'एष ब्रह्मलोक" इत्यारभ्य "अनुशशासैतदमृतम्" इत्यन्तेन आनंदरूपो भगवान् प्रतिपादितः फलत्वाय। एतावता उभयासंगः प्रतिपादितः।

वाज और पक्षी का जो दृष्टान्त दिया गया है, वह सुषुप्ति अवस्था में भगवत् स्वरूप प्राप्ति को बतलाता है। "यत्रेति च" इत्यादि से भगवान का वर्णन किया गया है। जीव को जो क्लेशानुभूति होती है वह पांच नाडियों के दवाब से होती है, आनंद भगवत्कृत होता है स्वप्न में आनंद, भगवद् रूप ही होता है. वही परमलोक जन्य आनंद का प्रतिभास है। सुषुप्ति में निष्काम स्वरूप भगवान का साहचर्य प्राप्त होता है। इस अवस्था में जीव को ज्ञान नहीं रहता इसलिए दोनों का स्पष्ट भेद बतलाया गया है। शारीर को प्राज्ञ जीव कहा गया है। नाडियों को आच्छादन करने के कारण भगवान् को अतिच्छन्द कहा गया है। इस स्थिति में, जीव, भगवत् स्वरूप को प्राप्त करने के कारण, वाह्येन्द्रियों के विषयों से अनासक्त रहता है "विजानीयात्" इस अंतिम पद से वाह्येन्द्रियों की सलिलत्व प्राप्ति बतलाई गई हैं। भगवान् ही शुद्ध सलिल स्वरूप हैं, अर्थात् शुद्ध स्वच्छ जलाशय के समान हैं जिसमें समस्त वाह्येन्द्रियाँ निमग्न हो जाती हैं। "एष ब्रह्मलोक" से प्रारंभ कर "अनुशशासैतदमृतम्" इस वाक्य तक, फलस्वरूप, आनंदमय भगवान् का प्रतिपादन किया गया है। यहाँ तक दोनों का असंग बतलाया गया है।

तस्यानुभवारूढत्वाय पुनः प्रश्नः "दर्शनादर्शनावापोदवापाभ्यां सिद्ध प्रसंगो ह्ययं पुरुषः ?" इति। एवं जीवं सुषुप्तौ भगवन्तं च ज्ञात्वा मोक्षो पायं पृच्छति। तत्र याज्ञवल्क्यस्य भयं जातं, सुबुद्धिरयं निर्बन्धेनापि सर्वं ज्ञास्यतीति जीवब्रह्मधर्मानेकीकृत्य जीवोपक्रमेण ब्रह्मोपसंहारेणाह तत्र–"स यत्रेति" वस्य मूर्छोपतापावस्था। "तद्यथा अन" इति मरणा वस्था। तत्र भगवानेवैनं लोकान्तरेनयति। "तद् यथा राजानमिति" भगवत्सम्मानम् "एवं विद" इति वचनात् जीवस्तु नैवंवित्। सिद्धवद् वचनान्न ज्ञानाविधिः, वाक्यभेद प्रसंगाच्च "स यत्र" इति जीवे मोहोऽधिकः। "अथैनमेते प्राणाः" इति भगवच्चरित्रं, संपद्यत इत्यन्तेन। श्लोके तद् ब्रह्म अस्यजीवस्य अकामयमानस्य भगवतः स्वरूपं पूर्वमेवोक्तमनु–वदति।

उक्त रहस्य अनुभवारूढ़ हो सके इसलिए "दर्शनादर्शना ?" इत्यादि पुनः प्रश्न किया गया है। इसमें सुषुप्तावस्था में जीव, भगवान को जानकर कैसे मोक्ष पा सकता है यही पूछा गया है। इस पर याज्ञवल्क्य के भय का दिग्दर्शन कराते हुए उत्तर दिया गया कि—सुबुद्धि अर्जन कर ही सब कुछ जाना जा सकता है, इस प्रसंग में उपक्रम और उपसंहार में जीव और ब्रह्म का स्वरूप वर्णन करते हुए, जीव और ब्रह्म के धर्मों को समान रूप से बतलाया गया है। "स यत्रेति" इत्यादि से जीव की मूर्च्छावस्था एवं "तद् यथा अन', इत्यादि से मरणावस्था का वर्णन किया गया है। भगवान् ही जीव को लोकान्तर पहुँचाते हैं। "तद् यथा राजानम्" इत्यादि से भगवान् का माहात्म्य वर्णन किया गया है। "एवं विदं" इत्यादि से भगवान् की उक्त विशेषता कह कर "नैवं विद्" से जीव की अनभिज्ञता कही गई हैं। अर्थात् जीव संसारी है उसे राजोचित–महत्व नहीं दिया जा सकता, परमात्मा को जो राजा की उपमा दी गई वह तो पापियों के शासक होने के नाते दी गई। यदि कहें कि प्राज्ञ जीव के लिए ही यह सन्मान सूचक शब्द प्रयोग किया गया है, सो बात नहीं है यह सम्मान सूचक शब्द सिद्ध सा वचन है, जीव की प्राज्ञता के लिए नहीं है। फिर दोनों के भिन्न-भिन्न वाक्य भी हैं"। "नयत्र" इत्यादि से जीव के मोहाधिक्य का विश्लेषण किया गया है "अथैननमेते प्राणः से "संपद्यते" तक भगवच्चरित्र कहा गया है श्लोक में इस निष्काम योगी जीव की भगवत्स्वरूपता कही गई जो कि पूर्वमत का पुनर्कथन मात्र है।

भगवन्निर्गमने हि प्राणानां निर्गमनात्तस्य चेच्छाधीनत्वात् तदभावे इन्द्रियाणि सुषुप्तौ तत्रैव समवलीयन्ते—ब्रह्मैव सन् कूटस्थः सन्। अपि समुच्चये। सह स्थिते जीवे ब्रह्माविर्भवनीत्यर्थः। जीवे ब्रह्माविर्भाव न सगत इति तत्प्रतिपादनार्थ श्लोकः। जीवोपदेश प्रकरणाभावेन सिद्धवद् वचनान्न जीवन्मुक्तावस्था। नाप्यसम्प्रज्ञात समाधिः, मतान्तरत्वात्। ब्रह्मप्रकरणत्वान्न जीवस्य सद्योमुक्तिः फलम्। उत्क्रमण एव ब्राह्मण स्याप्युक्तत्वात्। तद्यथेति सुषुप्तिशरीरम्, अनस्थिक इत्यादि, सम्र डित्य-न्तमुपसंहारः।

भगवान् के निर्गमन पर प्राणों का निर्गमन होना है क्यों कि—वे उसी की इच्छा के अधीन होते हैं, उसके अभाव में इन्द्रियाँ सुषुप्ति में वहीं लीन रहती हैं, वह कूटस्थ और ब्रह्म होकर ही लीन होती हैं। अर्थात् साथ रहने से जीव में आविर्भाव होता है जीव में ब्रह्माविर्भाव संगत नहीं है, इसका प्रतिपादन श्लोक से किया गया है। यह प्रकरण जीवो पदेश का नहीं है, भगवत् सिद्ध गुणों का ही उल्लेख है इसलिए यह जीवन मुक्ति अवस्था भी नहीं है और न असंप्रज्ञात समाधि ही है। ब्रह्म प्रकरण होने से, जीव की सद्योमुक्ति का ही वर्णन हो यह भी नहीं कह सकते शारीर ब्राह्मण के मतानुसार उत्क्रमण ही हो सकता है। "तद्यथा"। सुषुप्त शरीर तथा "अनस्थिक" इत्यादि से "सम्राड्" तक उपसंहार किया गया है।

श्लोका अत्र त्रयोदश सर्वनिर्द्धारकाः, आद्यो ब्रह्मविद् अनेवं विदो-निन्दा। "तदेव मन्त" इति बुद्धिमतां वचनम्। "आत्मानम्" इति वैराग्यम्। "यस्यानुवृत्तिरिति" नवभिर्ब्रह्मस्तुतिः। तद् विज्ञान च। पुनरेतदेव स्पष्ट तयोपदिशति, "सवा अयमात्मा" इत्यादि। "अभयं वैजनक प्राप्तोऽमी त्यन्तम्। काण्वानां क्वचिद् पाठभेनेऽप्ययमेवार्थः अत्रप्रकरणे जीवो वाच्यः इति प्राप्ते।

उक्त प्रकरण में विषय के निर्द्धारक तेरह श्लोक हैं पहिले श्लोक में ब्रह्मविद् की गति का वर्णन है। "एष इति" में सुषुप्ता वस्था में पंचविध नाडियों का विचार है। "अन्वंतम्" इत्यादि श्लोकों से ब्रह्मतत्त्व न जानने वाले की निन्दा है "तदेवसन्त" से बुद्धिमानों की महत्ता कही गई

है। "आत्मानम्" से वैराग्य की विशेषता बतलाई गई है। "यस्यानुवृति" इत्यादि नौ श्लोकों से ब्रह्म की स्तुति और उसके विज्ञान का उल्लेख किया गया है। "सवाऽयमात्मा" इत्यादि से पुनः इसी तत्व का स्पष्ट रूप से उपदेश किया गया है। "अभयं वै जनक प्राप्तोऽसि" से प्रकरण की समाप्ति की गई है। काण्व शाखा में भी कुछ पाठान्तर से यही वर्णन किया गया है। इस प्रकार विचारने से यह प्रकरण जीव परक ही समझ में आता है।

अभिधीयते, ब्रह्मैव प्रकरणार्थः, सुषुप्तावुत्क्रमणे च जीवब्रह्मणो र्भेदेन व्यपदेशात्। आकाशवद् ब्रह्म निर्द्धार एव युक्तः।

उक्त मत पर सूत्र कार कहते हैं कि--यह प्रकरण ब्रह्म परक ही है, इसमें सुषुप्ति और उत्क्रमण के वर्णन करते हुए जीव और ब्रह्म का स्पष्ट भेद बतलाया गया है। इसे आकाश की तरह निर्द्धारक भाव से ब्रह्म का प्रकरण मानना ही समीचीन होगा।

पत्यादि शब्देभ्यः।१।३।४३॥

किं च, सर्वस्यवशीत्यादि शब्देभ्यः स्पष्टमेव ब्रह्म प्रकरणमिति।

अधिक क्या "सर्वस्यवशी" इत्यादि आधिपत्य सूचक शब्दों के प्रयोग से, स्पष्ट ही यह ब्रह्म प्रकरण ही निश्चित होता है।

प्रथम अध्याय तृतीय पाद समाप्त

प्रथम अध्याय चतुर्थ पाद

१ अधिकरण :---

आनुमानिकमप्येकेषामिति चेन्न शरीररूपकविन्यस्त गृहीते दर्शयति च ।१।४।१।

एवं सर्वेषां वेदांतानां ब्रह्मपरत्वे निर्णीते, केचिद् वेदार्थाऽज्ञा--नात् क्वचिद् वेदभागे कापिल मतानुसारि पदार्थदर्शनेन तस्यापि वेद मूलकत्वं वदेति । तन्निराकरणाय चतुर्थः पाद आरभ्यते । तत्र ईक्षतेर्नाशब्दमिति सांख्यमतम शब्दत्वादिति निवारितम् । वेदेन प्रतिपादितमिति तत्राशंकते, आनुमानिकमप्येकेषाम् । एकेषांशाखिनां शाखाम् सांख्यपरिकल्पितम प्रकृत्यादि श्रूयते—

"इन्द्रियेभ्यः पर ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनाः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः ।।
महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः ।
पुरुषान्न परं किंचिद् सा काष्ठा सा परागतिः ।।

"इति काठके श्रूयते । तत्र बुद्धेरात्मा अहंकारः । ततो महान् महत्त्वम्, ततोऽव्यक्तं प्रकृतिः, ततः पुरुष इति । न ह्यंकारादयः पदार्थः ब्रह्मवादे संभवंति । तस्मादेवंजातीय केषु तन्मतपदार्थानां श्रवणान्माया प्रकृत्यविद्यावादा अपि श्रौता इति चेत् ।

पिछले पादों में समस्त वेदांत वाक्यों की ब्रह्म परकता निश्चित की गई । कुछ लोग वैदिक अर्थों को न समझ कर, वेद के किसी भाग में कपिल मतानुसारी पदार्थों को देखकर, कापिल मत को भी वेद सम्मत कहते है । उसी का निराकरण इस चतुर्थ पाद में प्रारंभ करते हैं । "ईक्षतेर्नाशब्दम्" सूत्र से ईक्षण शब्द न होने के कारण सांख्य मत का पहिले निराकरण किया जा चुका है । अब अन्य वर्णनों के आधार पर उक्त मत को वैदिक मानने का संशय किया जाता है । एक वैदिक शाखा में, सांख्य परिकल्पित प्रकृति आदि का वर्णन है ऐसा उन लोगों का कथन हैं-- जैसे कि-- 'इन्द्रियों

से उसके विषय श्रेष्ठ है, विषयो से मन श्रेष्ठ है, मन से बुद्धि श्रेष्ठ है बुद्धि से श्रेष्ठ महान् आत्मा है, महान् से अव्यक्त श्रेष्ठ है, अव्यक्त से श्रेष्ठ पुरुष है, पुरुष से श्रेष्ठ कोई नही है, वही परा काष्ठा और परागति है ।" इत्यादि, इस पर सांख्य वादियों का कथन से कि—इसमे अहंकार से महान् महत्तत्व, उससे महान अव्यक्त प्रकृति, उसमें महान् पुरुष बतलाया गया है । अहंकार आदि पदार्थ ब्रह्मवाद में नही होते । ऐसे ही साख्य मत पदार्थो के वर्णनो के, प्रकृतिवाद वैदिक सिद्ध होता है ।

शब्द साम्यमात्रेण न तन्मत सिद्यति ।
संदिग्धानां पदार्थाना पौर्वापर्येणनिर्णयः ।
नहि संदिग्धवाक्येन सर्वव्याकुलतोचिता ।।
अत्र हि पूर्वम्—"आत्मानरथिन विद्धि शरीरं रथमेव तु ।
बुद्धि तु सारथि विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ।।
इन्द्रियाणिहयानाहु विषयांस्वेषु गोचरान् ।
आत्मेन्द्रिय मनोयुक्त भोक्तेत्याहुर्मनीषिण. ।।"

तदनु चत्वारि वाक्यानि "यस्त्वविद्यावान्" इत्यादि, तदन्विन्द्रियेभ्यः परा इति । तत्रपूर्व संबध एवार्थ उचितः । तमाह—शरीर रूपक विन्यगृहीतेः । शरीरेण रूप्यन्ते ये शरीरेन्द्रियादयस्ते विन्यस्ता यत्र रूपक भावेन रथाग्नेषु तेषामेवात्र गृहीतिग्रंहणम् अन्यथा प्रकृतहानाप्रकृत परिग्रहापत्ति. -

शब्द साम्य मात्र से सांख्य मत वैदिक नही कहा जा सकता, सदिग्ध विषय पर पौर्वापर्य वाक्यों की संगति बठा कर ही निर्णय करना चाहिए, सदिग्ध वाक्य के आधार पर पूरे विषय को गड़बड करना उचित नही है । जिस वाक्य को साख्य स्व सम्मत बतलाते है उसके पूर्व का वाक्य इस प्रकार है—"आत्मा को रथी, शरीर को रथ, बुद्धि को सारथी, मन को बागडोर, इन्द्रियो को घोड़े तथा उनके विषयो को उन घोडो का मार्ग जानो । आत्मा, इन्द्रिय मन आदि से भोग करता है ऐसा मनीषियों का, मत है ।" इस वाक्य के बाद "यस्त्वविद्यावान्" इत्यादि चार वाक्य है, उसके बाद "इन्द्रियेभ्यः परा" इत्यादि वाक्य है । पूर्व वाक्यों से ही इस

वाक्य का संबंध जोड़ कर अर्थ करना उचित है? उक्त प्रकरण में शरीर का रथ रूपक देते हुए जो शरीर इन्द्रिय आदि का विवेचन किया गया है, उसका ही भाव इस वाक्य में मानना संगत होगा। अन्यथा वास्तविक उद्देश्य और वास्तविक अर्थ का विपर्यय हो जायगा।

"जीव प्रकरणं ह्येतन्मुक्त्युपायोऽस्य रूप्यते।
योग्यं शरीरमारुह्य गच्छेदिति हरेः पदम्॥

तत्र जीवस्य ब्रह्मप्राप्तौ मुख्यंसाधनं शरीरम्, स रथः। सर्वसामग्री सहिताऽपराधीनयानत्वात्। रथस्तु हयाधीनः, हयाश्च स्वबुद्धि अधीनाः, सा च प्रग्रहाधीना, स च सारथ्यधीनः, स च स्वबुद्ध्यधीनः सा चामार्गाधीना, सा च प्राप्याधीन इति। एवं ज्ञात्वा युक्त सामग्रीकस्तद्देशं प्राप्नोति। तत्रेन्द्रियाणामात्मा विषयः तेच मनसा सम्यक्त्वेन भाविताास्तथा भवति। विरक्तेन्द्रियाणामतथात्वात्। बुद्धेरात्मा विज्ञानम्। तद्ब्रह्म विषयकं महद् भवति। ततः परमव्यक्तं, न प्रकटं भगवत्कृपयैव, सा तु भगवद धीना न साधनान्तराधीना। स च भगवान् स्वाधीन इति। एवमेवार्थ स्तस्योचितः। किं च दर्शयतिस्वयमेवेममर्थन्। "एषु सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते, दृश्यते त्वन्यया बुद्धया सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभि" इति। सूक्ष्मया उपनिषदनुसारिण्या बुद्ध्या, भगवद्ज्ञाने हि तत्प्राप्तिरिति। चकारात् "ततो मां तत्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्" इति स्मृतिर्गृहीता। यस्मात् साधनोपदेशान्न सांख्यमतमिह विवक्षितमिति।

यह जीव संबंधी प्रकरण है, इसमें मुक्ति के उपाय का निरूपण किया गया है। मोक्षोपयोगी शरीर पर आरूढ़ हो कर जीव, प्रभु चरणों को प्राप्त करता है, यही प्रकरण का वर्ण्यविषय है। ब्रह्म प्राप्ति में जीव का शरीर ही मुख्य साधन है. वही रथ है जो कि समस्त सामग्री सहित स्वच्छन्द है। रथ घोड़ों के अधीन, घोड़े अपनी बुद्धि के अधीन बुद्धि लगाम के अधीन, लगाम सारथी के अधीन, सारथी अपनी बुद्धि के अधीन, बुद्धि मार्ग के अधीन, मार्ग प्राप्तव्य स्थल के अधीन होता है, ऐसा समझ कर ही समस्त सामग्रियों सहित प्राप्तव्य स्थान की प्राप्ति कर सकता है। आत्मा, विषयों को इन्द्रियों के द्वारा मन के सहयोग से प्राप्त करता है, प्राप्तव्य स्थान के लिए भी उसे मन से भली भाँति संयमित कर इन्द्रियो का विनियोग

करना होगा तभी वह कृत कार्य हो सकेगा इन्द्रियों को तटस्थ कर देने पर ऐसा संभव नहीं है। बुद्धि, आत्मा को मार्ग दिखलाने वाली है, वह ब्रह्मविषयक होने पर महद् नाम वाली कहलाती है। वही बुद्धि परम अव्यक्त रहती है, प्रकट नहीं होती होती भी है तो भगवत् कृपा से ही, वह भगवान के ही अधीन रहती है किसी अन्य से नहीं। वह भगवान स्वाधीन हैं। ऐसा अर्थ ही उक्त वाक्य का उचित है। अधिक क्या श्रुति भी स्वयं इसी अर्थ को बतलाती है "इन समस्त भूतों में छिपा हुआ आत्मा दीखता नहीं है, सूक्ष्मदर्शी भगवत्कृपा से सूक्ष्म बुद्धि से इसे देखते हैं।" इत्यादि, सूक्ष्म का तात्पर्य उपनिषद् के अनुसार बुद्धि से, भगवत ज्ञान से ही उस की प्राप्ति होती है। सूत्रस्थ चकार का प्रयोग स्मृति के इस वाक्य की ओर इंगन करता है—"मुझे तत्त्व से जान कर उसमें प्रवेश करते हैं" इत्यादि। इस प्रकार साधनोपदेश के अनुसार यह सांख्य सम्मत तत्त्व का विवेचक वाक्य नहीं है।

सूक्ष्मन्तु तदर्हत्वात् ।१।४।२।।

नन्वव्यक्तशब्देन न भगवत्कृपा वक्तुं शक्या । धर्मिप्रवाहादित्याशंक्य परिहरति तु शब्दः । सूक्ष्मं तद् ब्रह्मैव । धर्मिणोरभेदात् । अव्यक्त शब्देन हि सूक्ष्ममुच्यते । तदेव हि सर्व प्रकारेण न व्यज्यते, अर्हत्वात्, तदेव अर्हं योग्यम् उभयत्राप्ययं हेतुः । तस्माद्धर्मिणोअभेदात् भगवान् एव सूक्ष्ममिति तत्कृपैवाऽव्यक्त वाच्या ।

अव्यक्त शब्द से भगवत्कृता नहीं कह सकते क्यों कि—वैसे तो सबको धारण करने वाले वे परमात्मा ही तो समस्त में अनुस्यूत हैं, फिर भेद किस आधार पर करोगे ? ऐसी आशंका का परिहार तु शब्द से करते हैं, कहते हैं कि— सूक्ष्म वह ब्रह्म ही है, उसका सूक्ष्म रूप ही सब में अनुस्यूत है, इसी आधार पर समस्त का अभेद है। अव्यक्त शब्द सूक्ष्मता का वाची है, वह हर प्रकार से गोप्यहै, उसी में ऐसी अर्हता है, अव्यक्त ब्रह्म रूप और भगवत्कृपा दोनों ही जगह एक ही हेतु है, अर्थात् सूक्ष्मता ही हेतु है। धर्मि में अभेद होने से भगवान ही सूक्ष्म हैं, वही कृपा रूप से अव्यक्त नाम वाले हैं।

तदधीनत्वादर्थवत् ।१।४।३।।

ननु धर्मित्वे परत्वमनुपपन्नम्, अन्यथा पूर्वोक्तो दोष, इत्यत आह—अभेदेऽपि कृपायास्तदधीनत्वात् परत्वम् तत्र दृष्टान्तः, अर्थवत्, अर्थः पुरुषार्थः फलं, तद् वत् । "ब्रह्मविद् आप्नोति परम्" इत्यर्थं एकस्यैव ब्रह्मणः सच्चिद्रूपेण विषयत्वमानन्दरूपेण फलत्वमिति । तथैवाक्षर पुरुषोत्तम विभागोऽपि । स्वधर्मा अपि स्वाधीनाः । स्वयमपि स्वाधीन इति । तथा कृपा दृष्टिः साधनमानद रूपा फलमिति । अथवा अव्यक्तं सच्चिद् रूपमक्षरमेवास्तु तस्मिन् सति विज्ञानस्य विषयाधीनत्वमर्थः । एवेनान्येऽपि सर्वसंप्लववादिनो निराकृता वेदितव्यः । असंबद्धापिलापाच्च । "अनेक रूढि शब्दानां वाच्यं ब्रह्मैव नापरम्, शक्तितश्चेत तथा ब्रूयुस्ते सन्मार्गाद् बहिष्कृताः ।" तस्मादिन्द्रियेभ्यः परवाक्ये नानुमानं किंचिदस्ति ।

परमात्मा का धर्मित्व मानने से परत्व नहीं सिद्ध हो सकता अन्य पूर्वोक्त दोष घटित होगा । इस पर कहते हैं कि—धर्मित्व और परत्व को एक मानने में कोई अन्तर नहीं आता क्यों कि—परमात्मा की कृपा, उसके अधीन ही तो है, इसलिए कृपा को भी पर कहते हैं जैसे कि—पुरुषार्थ अर्थात् फल (मोक्ष) और परमात्मा की एकता मानी गई है । "ब्रह्म वेत्ता परमात्मा को प्राप्त करता है" इस वाक्य में—एक ही ब्रह्म, सच्चिद् रूप से विषयत्व, तथा आनंद रूपसे फलत्व रूप से दिखलाया गया है । ऐसा ही अक्षर और पुरुषोत्तम का भेद भी है । परमात्मा की अपनी विशेषतायें उनके अधीन ही होती हैं, वह स्वयं तो स्वतंत्र हैं ही । इसी प्रकार उनकी कृपा दृष्टि भी, साधन और साध्य दोनों है, वह साधन होते हुए भी आनंद रूपा, फल है । अथवा यों समझें कि अव्यक्त, सच्चिद् अक्षर ही है, इस स्थिति में बुद्धि की विषयाधीनता ही फल है । इस विचार प्रणाली से, अन्य सर्व विप्लववादी भी निराकृत मानने चाहिए अनेक रूढिशब्द, परमात्मा वाची होते हैं, उनका दूसरा अर्थ नहीं कर सकते । यदि जबरन उनका दूसरा अर्थ करने की चेष्टा करते हैं तो वो सन्मार्ग से बहिष्कृत अर्थ होगा । इसलिए "इन्द्रियेभ्य पर" वाक्य में, सांख्यमत सम्मत अनुमान नहीं हो सकता ।

ज्ञेयत्वावचनाच्च ।१।४।४।।

पूर्वापर संबंधनार्थः प्रतिपादितः। केवलैतद् वाक्य विचारेऽपि न तद भीष्टं प्रकृतिरूपमव्यक्तं सिध्यतीत्याह--अत्र हि वाक्ये अव्यक्तं ज्ञेयत्वेन नोक्तं, तेषां तु प्रकृति पुरुषान्तरं ज्ञातव्यम्। नहि सिद्धवन्मात्र निर्देशे तेषां मते पुरुषार्थः सिध्यति । अपुरुषार्थ साधनत्वे वा असंबद्धार्थ वाक्यत्वमेव स्यात्। परत्व वचनं चा संगतम्। श्लिष्टत्वाद् उभयोरिति चकारार्थः। अयं हेतुः पूर्वमुक्तोऽप्यवसरे स्मारितः। तस्मादव्यक्तं न प्रकृतिः।

पूर्वापर संबंध से वाक्यार्थ का प्रतिपादन किया गया। केवल इस वाक्य के विचार में भी, सांख्य सम्मत, प्रकृति रूप अव्यक्त की सिद्धि नहीं हो सकती। इसमें अव्यक्त को ज्ञेय नहीं कहा गया है सांख्यवादियों की प्रकृति तो पुरुष के अतिरिक्त ज्ञेय है अर्थात् उनके मत से प्रकृति और पुरुष दोनों ज्ञेय हैं। केवल उनके शब्दों से मिलते जुलते शब्दों के आधार पर तो, इस वाक्य से उनके पुरुषार्थ की सिद्धि नहीं हो सकती। यदि इस वाक्व को पुरुषार्थ साधक न मानें तो यह असंबद्ध वाक्य हो जायेगा, जिसका कोई अर्थ न होगा। तथा परत्व कीं बात भी असंगत हो जायेगी। इसको हम पूर्व प्रसंग में भी कह चुके हैं। इसलिए अव्यक्त प्रकृति नहीं है।

वदतीति चेन्न प्राज्ञो हि प्रकरणात् ।१।४।५।।

ननु ज्ञेयत्वावचनमसिद्धं, पूर्वं निर्देशमात्रमुक्त्वाऽज्ञेयत्व वचनात्! "अशब्दमपस्पर्शम रूपमव्ययं, तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत् अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं, निचाय्य तं मृत्युमुखात् प्रमुच्यते।" इत्युत्तर वाक्ये वदतीति चेन्न। प्रकरणस्य नियामकत्वेनैक वाक्यत्वे द्वयोः सर्वेक वाक्यत्वेः प्राज्ञः परमात्मैव निचाय्यः। ननु द्वयोरैक वाक्यत्वं वक्तुं शक्यम् तस्मात् प्रकरणस्य नियामकत्वे अशब्दवाक्यमपि भगवत् परमेव।

(वाद) आप की ज्ञेयत्व वचन के अभाव वाली बात नहीं जमती, उक्त प्रसंग में पहिले निर्देश मात्र करके आगे स्वकृतः ज्ञेयत्व की चर्चा है "शब्द रहित, स्पर्शहीन, रूप हीन और अव्यय, अरस, नित्य अगंध, आदि अंत रहित परं ध्रुव महत् को जान कर मृत्यु मुख से छूट जाते हैं।" इत्यादि।

(विवाद) उक्त विचार ठीक नहीं है, यह भिन्न वाक्य है। प्रकरण में नियामक रूप से परमात्मा ही कहे गए हैं इसलिए एक कह सकते हैं वैसे तो सभी वाक्य इस भाव से एक हैं, प्राज्ञ परमात्मा ही सब में ज्ञेय कहे गए हैं। अन्यथा इन दो वाक्यों को एक नहीं कह सकते, क्योंकि दोनों का वर्ण्य विषय भिन्न है। नियामक भाव से तो अशब्द आदि वाक्य भी भगवत् परक ही मानना चाहिए।

त्रयाणामेव चैवमुपन्यासः प्रश्नश्च ।१।४।६।।

ननु न वयं सर्व मेकं प्रकरणमिति वदामः । किंतु "इन्द्रियेभ्यः परा" इत्यारभ्य नाचिकेतमुपाख्यानमित्यंतं भिन्नं प्रकरणं, तत्र प्रथमं पदार्थ निर्देशः, तदनु "एष सर्वेषु भूतेषु" इति पुरुष ज्ञानम् । अशब्दमिति प्रकृति ज्ञानम् । तस्मादेतत प्रकरणे सांख्य मत निरूपणात् अशब्दत्वमसिद्धम् इत्याशंक्य परिहरति—त्रयाणामेवमुपन्यासः प्रश्नश्च ।

हम इस सारे प्रकरण को एक नहीं मानते किंतु "इन्द्रियेभ्यः परा" से प्रारंभ कर नाचिकेत उपाख्यान तक भिन्न प्रकरण मानते हैं। इसमें सर्व प्रथम पदार्थ का निर्देश किया गया है उसके बाद "एष सर्वेषु भूतेषु" इत्यादि में पुरुष संबंधी ज्ञान है तथा "अशब्दम्" इत्यादि में प्रकृति संबंधी ज्ञान है, इस प्रकार इसमें सांख्य मत का ही निरूपण है, आपकी परमात्म पर अशब्दत्व की बात ठीक नहीं है इस आशंका को प्रस्तुत कर परिहार करते हैं कि—"त्रयाणां एवमुपन्यासः प्रश्नश्च"।

अस्मदुक्त व्याख्याने त्रिप्रकरणत्वमन्यथा चतुष्प्रकरणत्वं स्यात् । तृतीया चैषा वल्ली । "स त्वमग्निं स्वर्ग्यमध्येऽपि मृत्यो प्रब्रूहि तं श्रद्धधानाय मह्यम्" इति प्रथमः प्रश्नः । "प्रब्रवीमि तदु मे निबोध स्वर्ग्यमग्निं नाचिकेत प्रजानन्" इत्यादि उत्तरम् । "येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके" इति द्वितीयः प्रश्नः । "देवैरत्रापि" इत्यग्रे उत्तरम् । "अन्यत्र धर्मादन्यत्रा धर्मात्" इति तृतीयः प्रश्न । "सर्वे वेदायत् पदमामनंति" इत्यादिना उत्तरम् । एवमग्नि जीव ब्रह्मणां प्रश्नोत्तराणि । तत्र यदि सांख्य मत निरूपणीयम् इन्द्रियेभ्यः इत्यादि स्यात् ? तदा चतुर्थं स्याथुपन्यासः स्यात् । उपन्यासे हेतुः प्रश्नः अतएव पश्चाद् वचनम् । तस्य प्रकृतेऽभावाद स्मदुक्त रीत्या त्रीण्येव प्रकरणानीति सिद्धम् । उत्तर प्रश्ना भावार्थं चकारः ।

हमारे व्याख्यान में तो तीन प्रकरण हैं, अन्यथा वैसे तो चार प्रकरण है। तीसरी वल्ली का प्रसंग है कि—नचिकेता यम से पूछता है—"हे मृत्यु ! मुझ श्रद्धालु को स्वर्ग स्थिति अग्नि के स्वरूप का उपदेश दो।" इस प्रथम प्रश्न के उत्तर में यम "प्रब्रवीभि" इत्यादि उत्तर देते हैं। द्वितीय प्रश्न में पूछता है कि—"जो यह मरता है, उसका मरणोत्तर अस्तित्व नहीं रहता ऐसा मत है, अस्तित्व रहता है ऐसा दूसरा मत है" यम "देवैरत्रापि" उत्तर देते हैं। "अन्यत्र धर्मादन्यत्र धर्मात्" इत्यादि तृतीय प्रश्न करने पर "सारे वेद जिस पद को प्राप्त करते हैं" इत्यादि उत्तर दिया गया इस प्रकार अग्नि जीव और ब्रह्म संबंधी प्रश्नोत्तर हैं। यदि "इन्द्रियेभ्यः परा" इत्यादि से सांख्य मत का निरूपण करते हैं तो फिर चौथे प्रकरण पर का उपन्यास करना पड़ेगा, उपन्यास में प्रश्नोत्तरों की ही व्याख्या होगी उसमें तो प्रकृति की चर्चा है नहीं। इस प्रकार तीन ही प्रकरणों की सिद्धि होती है।

महद्वच्च ।१।४।७।।

ननु तथापि मतान्तरेऽन्यत्र संकेतितः कथं ब्रह्मवादे ब्रह्म परतया योज्यन्ते ? इत्याशंक्य परिहरति—मदद्वत् यथा महच्छब्दः। "महान्तं विभुमात्मानं" वेदाहमेत पुरुषं-पुरुषं महान्तम्" इत्यादौ महच्छब्दो ब्रह्म परो योगेन। एव भव्यक्त शब्दोऽप्यक्षरवाचकः 'इति। नहि सांख्यमत इव वेदान्तेऽपि महच्छब्दः प्रथम कार्ये वक्तुं शक्यते। तस्मादिन्द्रियादि वाक्ये सांख्व परिकल्पितानां पदार्थानां नामापि नास्तीति सिद्धम्। चकारोऽधिकरण पूर्णत्व द्योतकः।

मतान्तर में तो अव्यक्त शब्द दूसरी ही ओर संकेतित है, फिर ब्रह्मवाद में ब्रह्म परक ही कैसे मानते हैं ? ऐसी आशंका कर परिहार करते हैं कि—जैसे—"महान्तं विभुमात्मानं" वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम् "इत्यादि में महत् शब्द ब्रह्म परक माना गया है वैसे ही अव्यक्त शब्द भी अक्षर वाचक है। सांख्य मत की तरह वेदांत में भी महत् शब्द प्रकृति परक हो ऐसा नहीं कह सकते। इसलिए इन्द्रियादि वाक्य में सांख्य परिकल्पित पदार्थों का नाम भी नहीं है। सूत्रस्थ चकार अधिकरण की पूर्ति का द्योतक है।

२ चमसाधिकरण :—

चमसवदविशेषात् ।१।४।८॥

पुनः श्रुत्यन्तरेण प्रत्यवस्थितं निराकर्त्तुमधिकरणान्तरमारभते। ननु प्रकरणवशात् पूर्वं मस्मदुक्तोऽर्थोऽन्यथावर्णितः। यत्र प्रकरणापेक्षैव नास्ति मंत्रे तदस्माकं मूलम्। "अजामेकां लोहितशुक्ल कृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः, अजोह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः "इति। यद्यपीदं श्वेताश्वतरोपनिषदि चतुर्थाध्याये विद्यमानत्वात् पूर्वापर संबंधमेव वक्तव्यम्। तत्र ब्रह्मवादिनों वदंतीत्युपक्रम्य ब्रह्मविद्यैव निरूपिता। तथापि पूर्वकाण्डे प्रणवादि मंत्राणां नायं नियम इति प्रकृतेऽपि मतान्तर वाचकस्यैव प्रकृतोपयोग इति शंका। ते ध्यान योगानुगताअपश्यन् देवात्मशक्ति स्वगुणैर्निगूढामिति च। तथा "ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशावजा ह्येका भोक्त भोग्यार्थं मुक्ता, अग्रे च यो योनिं अधितिष्ठत्येकों विश्वानि रूपाणि योनीश्च सर्वाः "ऋषि प्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे ज्ञानैर्विभर्त्ति जाय मात्रं च पश्येत्" इत्यादि च वाक्यानि कपिल तन्मतवाचकानि, वर्त्तन्त इति सांख्य मतमपि वैदिकम्।

पुनः दूसरी श्रुति से, उपस्थित सांख्यमत का निराकरण करने से लिए अधिकरण प्रारंभ करते हैं प्रकरण के आधार पर पहिले हमारे अर्थ को अन्यथा कहते रहे; जहाँ प्रकरण की अपेक्षा ही नही है वहाँ तो मंत्र में, हमारा ही मूल रूप से अर्थ विद्यमान है उसे तो मानोगे ही, वे मंत्र ये हैं— "एक रक्त, शुक्ल, कृष्णा वर्ण वाली अजा, बहुत सी प्रजाओं को विभिन्न वर्णों से सृजन करती है, और एक अज, इससे संसक्त होकर सोता हुआ इस भुक्त भोगा अजा का त्याग कर देता है।" यद्यपि यह मंत्र श्वेताश्वतरोपनिषद् के चतुर्थ अध्याय में हैं पूर्वापर संबंध के आधार पर ही इसका तात्पर्य कहना होगा। उस जगह ब्रह्मवादी कहते हैं, ऐसा उपक्रम करके ब्रह्म विद्या का ही निरूपण किया गया है। फिर भी पूर्वकाण्ड में—प्रणव आदि मंत्रों का ऐसा नियम नहीं है कि—उनका जिस अर्थ में प्रयोग हुआ है. अन्यत्र उनका उसी अर्थ में प्रयोग हो। वे मंत्र ध्यानयोगानुगत भाव से देखे जाते हैं उनमें उस स्थल में देवात्म शक्ति अपने गुणों सहित छिपी रहती है। इसी प्रकार यहाँ भी कह सकते हैं कि उक्त मंत्र ब्रह्मविद्या वादी ही हो ऐसा

निश्चित नहीं है। तथा अन्य मंत्र "ज्ञाता और अज्ञाता दो अज ईश और अनीश है, एक अजा भोक्त भोग्यार्थ युक्त है, आगे जो योनि है, उसमें सारा विश्व का रूप और सारी योनियाँ निहित हैं" ऋषि पुत्र कपिल उस ज्ञान को पहिले कहे गए हैं, आने वाली पीढ़ियाँ उसी के अनुसार तत्त्व को देखती हैं। "इत्यादि वाक्य तो स्पष्ट रूप से नाम का निर्देश करते हुए मत की पुष्टि करती हैं, इससे निश्चित होता है कि वैदिक वाङ्मय में सांख्य मत स्वीकृत है।

इत्येवं प्राप्ते उच्यते—चमसवदविशेषात्। "अर्वाग् विलश्चमस ऊर्ध्व-बुध्नस्तस्मिन् यशो निहितं विश्व रूपम्, तस्यासते ऋषयः सप्त तीरे वागष्टमी ब्रह्मणा संविदान" इति मंत्रे यथा न विशेषो विधातुं शक्यते, नहि कर्म विशेषं कल्पयित्वा तत्रावागविलचमस कल्पयित्वा तत्र यशो रूप सोमं होतारो मंत्रेण भक्षयेयुरिति कल्पयितुंशक्यते। तथा प्रकृते लोहित शुक्ल कृष्ण शब्देन रजः सत्त्वतमांसि कल्पयित्वा न तद्वशेन सर्वमेव मतं शक्यते कल्पयितुम्। कपिल ऋषि वाक्यमप्यनित्य संयोग मयान्नित्यऋषेरेवानुादकम्। तस्मान्न मंत्र मात्रेण प्रकरण श्रुत्यन्तर निरपेक्षेण विशेषः कल्पयितुं शक्यः।

उक्त कथन पर सिद्धान्त रूप से "चमसवदविशेषात्" सूत्र प्रस्तुत करते हैं, कहते हैं कि—"अर्वाग्विलश्चमस" इत्यादि मंत्र में जैसे, विशेष विधि को निर्धारित करना कठिन है, वहाँ कर्म विशेष की कल्पना कर, उसमें अर्वाग्विलश्चमस से यश रूप सोम को होता मंत्र से भक्षण करते हैं ऐसा काल्पनिक अर्थ भी नहीं कर सकते। वैसे ही प्रकृति के लिए प्रयुक्त रक्त शुक्ल कृष्ण शब्द से सत्त्व रज तम गुणों की कल्पना कर उसके वश में सारा जगत है। ऐसी कल्पना नहीं कर सकते। कपिल ऋषि वाक्य भी, नित्कृषि वाचक हैं। लोग इस नाम के ऋषि को जन्म लेने वाला न मान लें इस बात को बतलाने के लिए नाम लेकर निर्देश किया गया है। सांख्य मत वाले कपिल की चर्चा नहीं है। केवल मंत्र मात्र से, बिना किसी श्रुति प्रकरण के, विशेष कल्पना करना शब्द नहीं है।

ज्योतिरुपक्रमात्तु तथा ह्यधीतम एके ।१।४।९।।

ननु चमस मंत्रे अर्वाग्विल इति मंत्र व्याख्यानिमस्ति। शिरः चमसः प्राणावै यशः, प्राणा वा ऋष इति। नात्र तथा व्याख्यानमस्तीतीमां

शंकां परिहरति तु शब्दः । अजा शब्देन ज्योतिरेवोच्यते । यथा ह्यजा अल्प-दोग्ध्री तथेयं नश्वर सुखदात्री, अग्नि सूर्य सोमविद्युत रूपा ब्रह्मणो हं सोक्त चरण रूपा । भगवत् कार्यांश रूपत्वात् । "तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां करवाणि" इति श्रुतेश्च प्रथमोत्पन्ना देवता अजा शब्देनोच्यते । तत्र हेतुः उपक्रमात्, अत्रैवोपक्रमे, "तदेवाग्निस्तद्वायुस्तदादित्यस्तदु चन्द्रमा" इति । "द्वासुपर्णा" इति चाग्रे । मध्ये चायं मंत्रः पूर्वोत्तर संबंधमेव वदति । सा मुख्या सृष्टिः । अजद्वयं जीव ब्रह्म रूपमिति । अत्र प्रकरणे न स्पष्ट इति निरूपयति । तथाहि श्रुत्यन्तरे स्पष्ट मेव अधीयत एके ; "यदग्ने रोहितं रूपं तेजसस्तद् रूपं यच्छुक्लं तदपां यत् कृष्णंत दन्नस्येति" एवमग्रेऽपि कलात्रये । "अनेन जीवेनात्मनेति जीव ब्रह्मणोश्चानु प्रवेशः । बीजेऽपि त्रैविध्यामिति सरूपत्वम् । भगवतोऽभोगे हेतुः, जीवे न भुक्तभोगमिति । तस्मात् प्रकृतेऽपि चमसवच्छुरुतावेवार्थकथनान्न सांख्यमत प्रतिपादकत्वम् ।

(वाद) चमस मंत्र में अर्वाग्विल इत्यादि का व्याख्यान है । शिर चमस है, प्राण यश है, अथवा प्राण ऋषि हैं । इत्यादि ।

(विवाद) यहाँ इस प्रकार का व्याख्यान नहीं है. ऐसा सूत्रस्थ तु शब्द परिहार कर रहा है । अजा शब्द ज्योतिवाचक है । जैसे कि—अजा अर्थात् बकरी थोड़ा दूध देने वाली होती है, वैसे ही यह नश्वर सुख देने वाली है । अग्नि सूर्य सोम और विद्युत रूप यह ब्रह्म के हंस के चरण रूप से कही गई है । क्यों कि—यह भगवान् की कार्यांश रूपा है । उनमें हरेक को तीन-तीन रूप वाला करूँ" इस श्रुति के अनुसार सर्व प्रथम उत्पन्न देवता अजा नाम वाली कही गई । उक्त प्रसंग के उपक्रम में—"वही अग्नि, वही वायु वही सूर्य और वही चन्द्रमा है" ऐसा कहा गया । आगे "द्वासुपर्णा" आदि मंत्र है । मध्य में, ये "अजामेका" इत्यादि मंत्र पूर्वोत्तर संबंध का ही बोध करता है । पहली ऋचा मुख्य सृष्टि का वर्णन कर रही है । "द्वासुपर्णा" ऋचा दो अज जीव और ब्रह्म को बतला रहा है । इस प्रकरण में स्पष्ट रूप से निरूपण नहीं किया गया है किन्तु एक दूसरी श्रुति में स्पष्ट उल्लेख है—"अग्नि का जो रक्त रूप है वह तेज का है, जो शुक्ल रूप है वह जल का है तथा जो कृष्ण रूप है वह पृथिवी का है" ऐसे ही आगे भी तीनों कलाओं का क्रमशः वर्णन किया गया है । "अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य" इत्यादि से जीव ब्रह्म के अनुप्रवेश की चर्चा की गई

है। बीज में भी तीन प्रकार का रूप है। भगवान् उसका भोग नहीं करते जीव के द्वारा वह भुक्त भोगा है। इसलिए चमस श्रुति की तरह इस श्रुति का भी अर्थ करने पर ब्रह्म विद्या पर कही सिद्ध होता है सांख्य मत का प्रतिपादन नहीं होता।

कल्पनोपदेशाच्च मध्वादिवदविरोधः ।१।४।१०।।

ननु द्विविधा शब्द प्रवृत्तिः, योगोरूढिर्वा। तत्राजा शब्दच्छागायां रूढः। न जायत इति योगः। अनुभयरूपत्वात् कथं सृष्टिवाचकत्वमित्याशंक्य परिहरति। कल्पनोपदेशाच्च, कल्पनात्रोपदिश्यते। आद्या सृष्टिः कल्पनया अजाशब्देनोच्यते। यथा ह्यजावर्करसहिता सवत्सा स्वाभिहितातथ्यमिति, उपदेशपदात् तथोपासनमभिप्रेतम्। चकारात् परोक्षवादोऽपि देवस्य हिताय। यथा—आदित्यो वै देवमधु. "वाचं धेनुमुपासीत्" द्युलोकादीनां चाग्नित्वं पंचाग्निविद्यायां तथा प्रकृतेऽप्यदिरोर्थः। योग रूढव्यतिरे-केणाप्येषा वेदे शब्द प्रवृत्तिः। तस्मादजा मंत्रेण न सांख्य मत सिद्धिः।

शब्द की दो प्रकार की प्रवृत्ति होती है, एक रूढ़ि दूसरी योग। अजा शब्द, छाग अर्थ में रूढ़ तथा अजन्मा अर्थ में, योग है। जब वह जन्म रहित है तो फिर इस वाक्य को सृष्टि वाचक कैसे कह सकते हैं, ऐसी शंका करते हुए परिहार करते हैं। यहाँ काल्पनिक उपदेश है. आद्या सृष्टि, कल्पना से अजा शब्द से कही गई है। जैसे कि बकरी, बकरे और बच्चों के साथ होती है वैसे ही यह सृष्टि भी है। इसके स्वरूप को समझ कर उपासना करनी चाहिए। ऐसे वर्णन वेद में परोक्षवाद कहलाते हैं, ये परोक्षवाद कल्याणकारी ही होते हैं। जैसे कि—"आदित्य देवमधु है", वाणी धेनु की उपासना करनी चाहिए" इत्यादि। द्युलोक आदि का जो अग्नित्व है वह पंचाग्नि विद्या में उपयोगी है. प्रकृति से भी अविरोधी है। योग और रूढ से भिन्न वेद में शब्द की यही प्रवृत्ति है। इससे निश्चित होता है कि—अजा मंत्र से सांख्य मत की सिद्धि नहीं हो सकती।

३ संख्योपसंग्रहाधिकरण :—

न संख्योपसंग्रहादपि नानाभावादतिरेकाच्च ।१।४।११।।

मंत्रान्तरेण पुनराशंक्य परिहरति वृहदारण्यक पृष्ठे श्रूयते—"यस्मिन् पंच पंचजना आकाशश्च प्रतिष्ठितः, तमेवमन्य आत्मानं, विद्वान् ब्रह्म

मृतोऽमृतमिति'' यद्यप्यत्र पंचजनाः पंचोच्यन्ते न पंचानां पंचगुणत्वम्, समासानुपयन्तेः, तथाहि, आद्यः पंचशब्द संख्यावाची संख्येयवाची वा ? आद्ये पंच संख्याया एकत्वान्न षष्ठी समासः। संख्यायां संख्या भावाच्च। सख्येय परत्वे द्वितीयस्य संख्यात्वे पंचत्वमेव पूर्ववच्चेदनन्वायः विधायका भावाच्च।

अब दूसरे मंत्र से शंका करते हुए परिहार करते हैं वृहदारण्यक के छठे अध्याय की श्रुति है—''जिसमें पांच-पांच जन और आकाश प्रतिष्ठित हैं,'' इत्यादि, यद्यपि इस वाक्य में पांच जन पांच कहे गए, हैं पाँचों के पांच गुण की चर्चा नहीं, है। समास से ऐसा ही समझ में आता है। अब प्रश्न है कि पहिला पंच शब्द संख्या वाची है या संख्येय वाची ? वह पंच शब्द संख्या वाची है तो उसमें षष्ठी समास नहीं हो सकता। क्यों कि—संख्या में संख्या का भाव रहता है। यदि उसे संख्येय परक मानें तो, द्वितीय को संख्या वाची मानेंगे, इस स्थिति में पंचत्व ही होगा, उसमें भी पहिले की तरह अन्वय न हो सकेगा तथा विधायक का निर्णय न हो सकेगा।

अतो वीप्सा, पंचजन संज्ञा विशिष्टानां वा पंचत्वमिति यथा संभवमर्थः। तथापिमूढ ग्राहेण संख्योपसंग्रहादपि लक्षणार्थं केनचिद् धर्मेण पंच संग्राहकेण भाव्यम्। स च तेषां मतेन संभवति, तथा सति पंचैवतत्वानि स्युः। अतस्ते नाना भावादेव स्वीकर्त्तव्याः। यद्यपि भूततन्मात्राकूति चित्त्यन्तः स्थितत्त्व धर्माः वक्तुं शक्यन्ते। तद्यापि न ते तथोक्तवन्तः मूल प्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृति विकृतयः सप्त। षोडशकष्च विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुष इत्यन्यथोपगमात् पुरुषेवैलक्षण्याभाव प्रसंगश्च। किंच नामं श्रुत्यर्थ इति श्रुतावेव प्रतीयते। अतिरेकादाकाशश्चेति, चकारादात्मा यस्मिन्नित्यधिकरणत्वेनोक्तः। तस्मान्नानेनापि मंत्रेण तन्मतसिद्धिः।

पंच जन संज्ञा, विशिष्टार्थक पांच तत्त्वों के संबंध में है तब तो पंचत्व ही तुम्हारे मतानुसार अर्थ करना होगा। फिर भी कोई महानुभाव आग्रह पूर्वक लक्षण से, पंच संग्राहक संख्योप संग्रह को स्वीकारते हैं, वह तो उन्ही के मत में संभव है, वैसा मानने से तो पाच तत्त्वों की बात ही निश्चित होती है। उन्हें नानाभाव ही स्वीकारना होगा। भूतों की तन्मात्राओं को चित्त के अन्तस्थ धर्म के रूप में कहा जा सकता है, किन्तु उनका वैसा

शास्त्र में उल्लेख नहीं है। वह तो मूल प्रकृति विकृति महद आदि भेदों से सात प्रकार की बतलाई गई हैं। जिन सोलह विकारों की चर्चा है वह न प्रकृति हैं न विकृति हैं, वह तो पुरुष से भिन्न ही ज्ञात होते हैं जिससे पुरुष की विलक्षणता निश्चित होती है। जैसा कि—सांख्य वादियों का मत है, वह श्रुति सम्मत नहीं प्रतीत होता क्यों कि श्रुति में आकाश का विशेषोल्लेख है और आत्मा को उसका नित्य अधिकरण बतलाया गया है। इसलिए इस मंत्र से भी सांख्य मत की पुष्टि नहीं होती।

प्राणादयो वाक्य शेषात् ।१।४।१२॥

नन्ववश्यं मंत्रस्यार्थोवक्तव्यः। तदनुरोधेन लक्षण यापि ज्योतिः शास्त्र-वत् पंच पंचशब्दः पंचविंशति वाचकतया परिकल्प्यः। स्पष्ट माहात्म्या-र्थमात्माकाशयोराधारा। धेयभावः प्रदर्शितस्तत्रत्ययोरेव। अतो मंत्रे तन्म तासिद्धिराशंक्य परिहरति। प्राणादयः पंचजनाः, वाक्यशेषस्य नियाम-कत्वात् "प्राणस्य प्राणमुत चक्षुषश्चक्षुः श्रोत्रस्य श्रोण मन्नस्यान्नं मनसो मन" इति।

मंत्र के अर्थ पर विचार करना आवश्यक है, सांख्य मत की दृष्टि से, लक्षण करने पर, पंच पंचशब्द का तात्पर्य ज्योतिष शास्त्र की तरह गुणित करने से, पच्चीस वाचक होगा। माहात्म्य को स्पष्ट करने के लिए आत्मा और आकाश का आधार आधेय भाव उस स्थान पर दिखलाया गया है; इसलिए उक्त मंत्र में सांख्य मत ही है, ऐसी आशंका करते हुए परिहार करते हैं, कि उक्त वाक्य के अंतिम भाग में, नियामक रूप से, प्राण आदि पांच का वर्णन किया गया है—जैसे कि—"वह प्राण, नेत्रों का नेत्र, श्रोत्र, अन्न का अन्न और मन का मन है।" इत्यादि।

ननुकथमस्य वाक्य शेषत्वम्, उच्यते—प्राणादयः संज्ञा शब्दाः करण वाचकाः। ते ज्ञान रूपं वा, क्रिया रूपं वा कार्यं जनयंति स्वव्यापारेण। तेन तेषां करणान्तरापेक्षा भावात् प्राणादीनां पुनः प्राणादिमत्त्वं वाधितं स्यात्। भगवतो माहात्म्य विरोधश्च। अतः स्वार्थ निर्वाहार्थं अन्यार्थो वर्त्तते पंचजन वाक्य स्यघ। अतो बुद्धेः पंचवृत्तीर्जनयंतीति प्राणादयः पंचजनः। "संशयोऽथ विपर्या सोनिश्चयः स्मृतिरेव च स्वाप इत्युच्यते बुद्धे र्लक्षणं वृत्तितः पृथक्" इति। तेषां तत्तत्प्रकारकं स्वकार्यजननं न स्वतः किन्तु

भगवत इति, द्वयोरेकार्थत्वे सर्वं संगतं स्यात् । खंडत्वाच्च शेषत्वम् । सर्वं प्रवृत्तिकत्वाद् भगवतो न माहात्म्य विरोधः । तत्र प्राण शब्देन त्वग् घ्राण प्राणाः गृहीताः रसना । चान्ने प्रतिष्ठितेत्यन्नं गृहीतम् । वाग् वा तेजसि अत्ता चान्नं चौकत्र भवतः । सह भावित्वात् । क्वचिदेक ग्रहणम्, क्वचिदुभय ग्रहणमिति तेन ते सर्वे पंचैव भवंत्यतिरिच्यते परमाकाशः तस्मात् प्राणादय एव पंचाजना इति न तन्मत सिद्धिः ।

"प्राणस्य प्राणः" इत्यादि को उक्त वाक्य का शेषांश कैसे कह सकते हैं ? इस पर कहते हैं कि–प्राण आदि संज्ञा सूचक, इन्द्रियों के बोधक शब्द हैं । वे चाहे ज्ञान रूप हों, या क्रिया रूप हों, अपने व्यापार के कार्योत्पादन करते हैं । यदि इन शब्दों की इन्द्रियपरकता समाप्त हो जाय तो प्राण आदि की प्राणादिमत्ता समाप्त हो जायेगी । तथा भगवान के माहात्म्य से भी विरोध होगा । इसलिए इनका निजी अर्थ करने के लिए पंचजन वाक्य का, अन्यार्थ मानना ही ठीक है । प्राण आदि पंचजन बुद्धि की पांच प्रकार की वृत्ति को प्रकट करते हैं—"संशय, विपर्यास निश्चय, स्मृति और स्वाप ये पांच बुद्धि के लक्षण, वृत्तियों की प्रवृत्तियों से होते हैं ।" उनकी विभिन्न प्रवृत्तियाँ स्वतः नहीं होती अतः भगवत प्रेरणा से होती हैं इसलिए उन दोनों को एकार्थ रूप से कहा गया है । ऐसा मानने से सब संगत हो जाता है । दोनों में गौण मुख्य भाव मान लेने से ही "प्राणस्य प्राणः" आदि वाक्य, उक्त वाक्य का शेषांश निश्चित होना है । समस्त को प्रवृत्त करने वाले भगवान हैं, इस नियम के अनुसार भगवान के माहात्म्य से भी विरोध नहीं होता । उक्त प्रसंग में प्राण शब्द से त्वम् घ्राण और प्राण, इन तीन का ग्रहण होगा । रसना अन्न में प्रतिष्ठित होती है, इसलिए अन्न शब्द से उसका ग्रहण होगा । वाणी तेज में प्रतिष्ठित होती है इसलिए उसका उस रूप में ग्रहण होगा । भोजन के लिए ही अन्न होता है इसलिए अन्न शब्द से दोनों भाव ग्रहण होंगे । इस प्रकार कहीं एक और कहीं दो का ग्रहण होने से वे हैं—पांच ही, परमाकाश केवल भिन्न हैं इससे निश्चित होता है कि प्राण आदि ही अपनी वृत्तियों सहित पंच पंच जना वाक्य के संख्या वाची हैं, सांख्यमत के पच्चीस तत्त्वों की चर्चा नहीं है ।

ज्योतिषैकेषाम् सत्यन्ने ।१।४।१३।।

काण्व पाठे "अन्नस्यान्तम्" इति नास्ति, तदाकथम् पंच ?

काण्व शाखा के पाठ में तो "अन्नस्यान्तम्" ये वाक्य ही नहीं है, फिर पांच कैसे सिद्ध होंगे ?

तत्राह—ज्योतिषा संख्या पूर्त्तिस्तेषाम् । "तस्मादर्वाक् संवत्सर" इति पूर्वं पठितो मंत्रा "तत्र तद देवा ज्योतिषां ज्योतिः" इति अन्न स्थाने ज्योति ग्राह्यम् व्याख्यानं पूर्वं मेव । तस्मादसिद्धम् तन्मतस्य श्रुतिमूलत्वम् ।

उक्त प्रश्न का उत्तर देते हैं कि—उनकी संख्या की पूर्त्ति वहाँ पर ज्योति शब्द से की गई है, "तद् देवा ज्योतिषां ज्योतिः" इत्यादि में अन्न के स्थान पर ज्योति का ग्रहण किया गया है, बाकी सब पूर्ववत् व्याख्यान है । इससे भी सांख्य मत की श्रुतिमूलकता असिद्ध होती है ।

४ कारणत्वाधिकरणः—

कारणत्वेन चाकाशादिषु यथाव्यपदिष्टोक्तेः ।१।४।१४।।

श्रुति विप्रतिषेधात् स्मृतिरेव ग्राह्येति मतं दूरी कर्त्तुं श्रुतिविप्रतिषेधो नास्तीत्यधिकरणमारभते । तत्र श्रुतौ सृष्टिभेदा बहवः । क्वचिदाकाशादिका "आत्मन आकाशः संभूतः" इति । क्वचित्तेजः प्रभृतिका "तत् तेजोऽसृजत्" इति । क्वचिदन्यथैव—"एतस्माज्जायते प्राणः" इति । "इदं सर्वं असृजत" इति च । एवं क्रमव्युत्क्रमानेकविध सृष्टि प्रति पादकत्वात् वस्तुनो द्वैरूप्या-संभवाद्, "ग्रहात्वा अनु प्रजापशवः प्रजायन्त" इतिवत् सृष्टि वाक्या नाम र्थवा-त्वेन ब्रह्म स्वरूप ज्ञानार्थत्वाद ध्यारोपापवाद न्यायेन न वेदांत ब्रह्म कारणत्वं सिद्ध्यति । अतः परिदृश्यमान जगतः कारणान्वेषणेक्रियमाणे वाह्याबाह्यमत भेदेषु सत्सु कपिलस्य भगवज्ज्ञातांशावतार त्वात् तन्मत प्रकारेणैव जगद् व्यवस्थोचितेत्येवं प्राप्ते ।

श्रुति वाक्यों में परस्पर मत भेद होने से सांख्य मत ही ग्राह्य है, इस मत को निराकृत करने के लिए, श्रुतियों में कोई विरोध नहीं है, ऐसा सिद्ध करने के लिए अधिकरण का प्रारंभ करते हैं ।

कहते हैं कि—श्रुति में सृष्टि के विभिन्न प्रकार बतलाये गये हैं, कहीं तो "आत्मनः आकाशः" कह कर आकाशादि की सृष्टि कही गई है, तो

कहीं "तत्तेजऽसृजत्" कह कर तेज आदि की सृष्टि का उल्लेख है और कहीं कहीं "एतस्माज्जा—यते प्राणः" इदं सर्वमसृजत् इत्यादि में अन्य प्रकार की सृष्टि का उल्लेख है। इस प्रकार आगे पीछे अनेक प्रकार की सृष्टि का प्रतिपादन किया गया है। तो वस्तु के दो रूप तो हो नहीं सकते। यदि "अहात्वा अनु प्रजपशवः" इत्यादि वाक्य की तरह सृष्टि—वाक्यों का अर्थवाद मात्र मान लें तो, वे सारे वाक्य ब्रह्म स्वरूप ज्ञान कराने वाले हैं, उनमें अध्यारोपापवाद न्याय मानना होगा, ऐसा मानने से वेदांत से ब्रह्म कारणता नहीं सिद्ध हो सकेगी। इसलिए—दृश्य जगत में कारण को खोजने पर वाह्य और अबाह्य अनेक मत भेदों के उपस्थित होने पर, भगवान के ज्ञानांशावतार कपिल के मतानुसार ही जगद् की व्यवस्था मानना उचित होगा। ऐसा मत उपस्थित किया जाता है।

उच्यते, न सृष्टि भेदेषु ब्रह्मणः कारणत्वे विप्रतिपत्तिः। सर्व प्रकारेषु तस्यैव कारणत्वोक्तेः। आकाशादिषु कारणत्वेन ब्रह्म यथा व्यपदिष्ट मेवैकत्र, अन्यत्रापितदेवकारणत्वे नोक्तम्। "न तस्य कार्यं करणं च विद्यते" इत्यादि निराकरणन्तु लौकिक कर्त्तृत्व निषेधपरम्। तस्यैव प्रतीतेः। सर्व वैलक्षण्यार्थं वैदिकानामबाधितार्थैक वाक्यत्वस्याभिप्रेतत्वा दिति चकारार्थः। कार्य प्रकारे भेदस्तु माहात्म्य ज्ञापको न तु बाधकः। बहुधा कृति सामर्थ्यं लोकेऽपि माहात्म्य सूचकमिति। तस्मान्न श्रुति विप्रतिषेधात् स्मृति परिग्रह इति सिद्धम्।

उक्त मत पर कहते हैं कि—सृष्टि वाक्यों में भेद नहीं है, ब्रह्म के कारणत्व में भी कोई अड़चन नहीं है। हर प्रकार से ब्रह्म की ही कारणता बतलाई गई है। आकाश आदि में जैसे ब्रह्म को कारण बतलाया गया है, वैसे ही अन्यत्र भी उन्हें ही कारण बतलाया गया हैं। "उसमें कार्य और कारण नहीं है" अतः उसकी अलौकिक कारणता तो माननी ही होगी। सब कुछ बिलक्षण होते हुए भी परमात्म्य होने से एक है इसी सिद्धान्त से सृष्टि परक विभिन्न वाक्यों की एकता है कार्य के प्रकार में जो भेद है वह तो भगवान् के माहात्म्य का ज्ञापक है, बाधक नहीं है। अनेक वस्तुओं के निर्माण सामर्थ्य को तो लोक में भी माहात्म्य सूचक ही माना जाता है। इससे निश्चित होता है कि—श्रुतियों में कोई मत भेद नहीं है। सांख्य स्मृति की स्वीकृति नहीं हो सकती।

समाकर्षाधिकरण :--

समाकर्षात् ।१।४।१५।।

पुनरन्यथाशंक्य परिहरति । ननु क्वचिद् "असद् वा इदमग्र आसीत्" इति, क्वचित् "सदेव सौम्येदमग्र आसीत्" "तद् हैक आहुरस देवेदमग्र आसीत्" अव्याकृतमासीत् "नासदासीन्नो-सदासीत् तम आसीत्" इत्यादि वाक्येषु ब्रह्मक्षोऽपि विगानं श्रूयते "तद् हैक आहुः" इतिवत् पक्षान्तरं संभवति । नहि असत्तमः शब्दैर्ब्रह्म प्रति पादयितुं शक्यते । "असन्नेव स भवति" इति बाधात् । "आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्" इति च । तस्मात् कारणत्वेनापि श्रुति विप्रतिषेधात् ब्रह्म कारणं न ।

दूसरे प्रकार से शंका करते हुए परिहार करते हैं। कहते हैं कि--किसी जगह "सृष्टि के प्रथम यह सब कुछ असद् था" कहीं--"सौम्य ! यह सब कुछ सृष्ठि के पूर्व सद् ही था"--वह एक ही है यह सब कुछ असद् ही था" --अव्याकृति ही था "न असत् था न सत् था, तम ही था" इत्यादि परस्पर विरुद्ध वाक्यों में ब्रह्म की भी विरुद्धता कही गई है। "तद् हैक आहुः" की तरह कोई एक पक्ष हो सकता है, सभी पक्ष संभव नहीं हैं। तथा असत् और तम आदि शब्दों से ब्रह्म का प्रतिपादन नहीं कर सकते। क्यों कि--"वह असत् नहीं हो सकता "वह तम से परे आदित्यवर्ण है" इत्यादि वाक्य एक दम विपरीत ही लक्षण बतलाते हैं। इस प्रकार कारण के संबंध में भी श्रुतियों में विरुद्धता है, इसलिए ब्रह्म कारण नहीं हो कसता।

इत्येवं प्राप्ते उच्यते. समाकर्षात्। आकृष्यते स्वस्थानात् च्यावत इत्याकर्षः। सर्वेष्वेतेषु वाक्येषु असदादिपदानां न निरात्मकत्वाद्यर्था उच्यन्ते, किन्तु वैलक्षण्येन। सर्व शब्द वाच्यत्वं च सिद्धं ब्रह्मणः यथा--"को अद्धा वेद" --क इह प्रावोचत् "सर्वे वेदा यत्पदमामनंति"--यतो वाचो निवर्त्तन्ते-- "मनसैवानुद्रष्टव्यः" इत्यादि सर्वे विरुद्ध धर्मा भगवत्युच्यन्ते। एवमनेक विरुद्ध शब्द वाच्यत्वं लोक प्रसिद्ध तादृशार्थात् समाकर्षा देव गम्यते।

उक्त संशय पर "समाकर्षात्" सूत्र प्रस्तुत करते हैं। अर्थात् जो अपने स्थान से ही आकृष्ट करते हैं। इन सब वाक्यों में जो असद् आदि पद हैं वे, निरात्मकता अदि अर्थों का द्योतन नहीं करते अपितु विलक्षणता बतलाते

हैं। ब्रह्म की, सर्व शब्दवाच्यता प्रसिद्ध है जैसे कि—"को अद्धावेद" क इह प्रावोचत् "सर्वेवेदा यद् पदमामनंति" यतो वाचो निवर्त्तन्ते "मन सैवानु दृष्टव्यः" इत्यादि विरुद्धतायें परमात्मा में ही कही गई हैं। ऐसी ही अनेक शब्द वाच्यतायें उनके लिए प्रसिद्ध हैं, । समाकर्षण के सिद्धान्त से ही हल होती हैं।

"तं यथा यथोपासते यथा भवति" इति फल ज्ञापनार्थं "असन्न एव स भवति" इति। यथा कंसादीनां मारकः। तद् हैक आहुः सर्वं प्रपंच वैलक्षण्यम्" प्रपंच रूपोऽपि स इति प्रथम पक्षः। अव्याकृतमसत् पक्षेण तुल्यम्। "ना सादसीत्" इति मनस्तदपि ब्रह्म। "तम आसीत्" इत्यनभिव्यक्तम्। कर्मणोऽपि भगवत्वात्। पूर्व काण्डेऽपि तस्मादेव सृष्टिः। नहि समस्तः स्वेन गूढत्वं लोके संभवति। अतः क्वचिद् विलक्षणात् क्वचिद विलक्षणात् ब्रह्मणों जगत्। भगवत्वादेव स्वयं कर्त्तृकता च। संभवति चैक वाक्यत्वे अज्ञानान्निराकरणं चायुक्तम्। तस्माच्छब्द वैलक्षण्येन श्रुति-विप्रतिषेधो वक्तुं न शक्य इति सिद्धम्।

"तं यथा यथोपासते" आदि फल को बतलाने के लिए ही "असन्न एव स भवति" कहा गया है। जैसे कि कंस आदि का उद्धार। "तद् हैक आहुः" इत्यादि से समस्त प्रपंच का वैलक्षण्य बतलाया गया है। वह प्रपंच रूप भी है, ऐसा प्रथम पक्ष दिखलाया गया है। अव्याकृत का तात्पर्य असत् पक्ष के समान है। "नासदासीत्" से मन को ब्रह्म स्वरूप कहा गया है। "तम आसीत्" में उसके अव्यक्त रूप का निर्देश किया गया है। कर्म को भी भगवत् रूप कहते हैं पूर्व काण्ड में भी कर्म से ही ऐसो सृष्टि बतलाई गई है। लोक में वह समस्त को अपने में छिपा नहीं सकते, इसलिए कहीं जगत को ब्रह्म से, विलक्षण और कहीं अविलक्षण कहा गया है। इस जगत की कर्त्तृकता भी स्वयं ब्रह्म से ही है। इसलिए इन सब की ऐकवाक्यता संभव है, अज्ञान से इनका निराकरण नहीं हो सकता शब्द की विलक्षण से, श्रुतियों के विरोध की बात कहना ठीक नहीं है।

६ जगद् वाचित्वाधिकरणः—

जगद् वाचित्वात् ।१।४।१६।।

एवं शब्द विप्रतिषेधं परिहृत्य अर्थ विप्रतिषेधं परिहरति कौषीतकि ब्राह्मणे बालाक्य जातशत्रु संवादे बालाकिर जातशत्रवे ब्रह्मोप देष्टुमगतः।

आदित्यादि दक्षिणेऽक्षि पुरुषपर्यन्तं परिच्छिन्न ब्रह्मोपासनान्युक्त्वा तथा निराकृते तमेव ज्ञानार्थमुपससाद। ततः सुप्तपुरुष सभी पमुभावागत्य ब्रह्म वाद्यं चक्रतुः। तत्र–"क्वैष एतद् बाला के पुरुषऽशयिष्ट" इत्यादौ जीवः प्रकान्तः। तस्मादेव सर्वोत्पत्तिरुक्ता ब्रह्मणोऽप्यनु प्रवेशश्च। तत्र संदेहः जीव एव ब्रह्म सहितः कर्त्ता, ब्रह्मैव वा? तत्र जीव एव कर्त्ता। सर्वस्य, जगतो ब्रह्मत्वादयस्तस्य धर्माः, राजत्ववद् यज मानत्ववद् वा। अस्मिन् प्रकरणे ब्रह्मोपक्रमेण जीव पर्यवसानोक्तेः सर्व त्रैव ब्रह्मत्वे नोक्तो जीव एव कर्त्ता। तथा सति लोकेऽपि जीवकर्त्तृत्वं सहजं भवेत्, बंधमोक्षव्यवस्था च एवं सत्यर्थात् प्रकृतेरेव फलिष्यति।

शब्द विप्रतिषेध का रिहार करके अब अर्थ विप्रतिषेध का परिहार करते हैं। कौषीतकि ब्राह्मण के बालाकि और अजातशत्रु के संवाद में, बालाकि अजातशत्रु को ब्रह्मोपदेश देने आया है, उसने आदित्यादि से दक्षिण नेत्र पर्यन्त परिच्छिन्न ब्रह्मोपासना का उपदेश देकर, उसका निराकरण करते हुए उसे ही ज्ञानार्थ रूप से समझाया। वे दोनों सुप्तपुरुष के निकट जाकर ब्रह्म तत्त्व पर विचार करने लगे। उसमें उन्होंने "क्वैष एतद् बालाके!" इत्यादि से जीव संबंधी चर्चा की तथा उसी से समस्त सृष्टि बतलाकर ब्रह्म के अनुप्रवेश की बात भी की। इस पर संदेह होता है कि जीव ही ब्रह्म सहित कर्त्ता है अथवा केवल ब्रह्म ही कर्त्ता है? विचारने पर तो वहाँ जीव ही कर्त्ता प्रतीत होता है, सारा जगत् ब्रह्मात्मक है, वे सभी जागतिक धर्म उस जीव के ही हैं, जैसे कि––राजा का समस्त राज्य पर अधिकार होता है तथा यजमान का यज्ञ के फल का अधिकार होता है। यह प्रकरण ब्रह्म के वर्णन से प्रारंभ होकर, जीव के वर्णन से समाप्त होता है। पूरे प्रकरण में ब्रह्मत्व रूप से जीव को ही कर्त्ता कहा गया है। वैसा मानने से लोक में भी जीव के कर्त्तृत्व में सहज हो जाता है। तथा बंध मोक्ष की व्यवस्था भी बन जाती है। इस प्रकार अर्थ के आधार पर प्रकृति की महत्ता ही सिद्ध होती है।

इत्येवं प्राप्ते उच्यते, जगद् वाचित्वात्। "एतेषां पुरुषाणां कर्त्ता यस्य चैतत् कर्मेति" उपक्रमेणएतच्छब्देन जगदुच्यते पुरुष शब्देन च जीवः। तज्जड-जीवात्मकं जगत् ब्रह्म कर्त्तृकामिति हि पूर्वं सिद्धम्। तदनुरोधेनात्रापि ब्रह्म परत्वमेवोचितं, नतु सर्वं वि प्लवोऽश्रुत कल्पना च। अतः सुषुप्तवापि

ब्रह्मण्येवलयः तस्मादेव सर्व मिति ज्ञातव्यम् । प्राणात्मशब्द वाच्यत्वंतु पूर्व मेव सिद्धम् । तस्मान्न जीवाधिष्ठिता प्रकृतिः कारणम् ।

उक्त मत पर कहते हैं कि—"एतेषां पुरुषाणां कर्त्ता यस्य चैतत् कर्म" इस उपक्रम वाक्य में एतत् शब्द से जगत का तथा पुरुष शब्द से जीव का उल्लेख किया गया है, इस प्रकार दोनों का कर्त्ता एक को ही बतलाया गया है । जड़ जीवात्मक सारा जयत् ब्रह्म कर्त्तृक ही है ऐमा पहिले भी निश्चित हो चुका है उसी प्रकार इस प्रकरण में भी ब्रह्म परक मानना ही उचित है, अन्यथा समस्त श्रुतियों में उलट फेर हो जावेगा तथा यह कल्पना भी अवैदिक होगी । सुषुप्तावस्था में भी ब्रह्म में ही लय, उससे ही समस्त की सृष्टि जाननी चाहिए । परमात्मा की प्राणात्म शब्द वाच्यता तो पहिले ही निश्चित हो चुकी है । इसलिए जीवाधिष्ठिता प्रकृति कारण नहीं है ।

जीव मुख्य प्राणलिंगादिति चेत् तद् व्याख्यातम् ।१।४।१७।।

किंचिदाशंक्य परिहरति । नन्वत्र जीव एव प्रकांतः "क्वैष एतद् बालाके पुरुषोऽशयिष्ट" इति । ब्रह्म त्वद्यापि न सिद्धम् "एतादृशंनैतादृशम्" इति । अतः शयनोत्थान लक्षण जीव धर्म दर्शनात् तस्यैव ब्रह्मत्वं जगत् कर्त्तृत्वं च । तत् स्वतोऽनुपपन्नं प्रकृतौ फलिष्यति । अथवा मुख्य प्राणलिंगमप्यत्रास्ति । "प्राण एवैकधा भवति" इति सुषुप्तौ तस्यैव वृत्तिरुपलभ्यते । विद्यमानादेव सर्वोत्पत्तिः प्रलयौ । स च प्रकृत्यंशोऽतो जडादेव प्रधानात् सृष्टावपि सर्वोत्पत्तिः अतोऽस्मात् प्रकरणाज्जीव द्वारा साक्षाद् वा प्रकृतेः कारणत्वम् ।

कुछ शंका कर, परिहार करते हैं । "क्वैष एतद् बालाके !" इत्यादि में जीव का ही प्रकरण है । "एतादृशं नैतादृशं" इत्यादि से भी ब्रह्म की सिद्धि नहीं हो सकती । सोना और उठना ये जीव के ही धर्म दीखते हैं, इसलिए उसे ही ब्रह्म रूप से बतलाया गया है, यह सृष्टि भी उसी की है । वह जीव स्वतः तो कार्य करने में क्षम नहीं है इसलिए यह सृष्टि, प्रकृति कर्त्तृक ही है । अथवा यहाँ मुख्य प्राण का भी वर्णन हो सकता है "प्राण एवैकधा भवति" इत्यादि से सुषुप्ति में उसी की वृत्ति का वर्णन किया गया है । सुषुप्ति में जब वह रहता है तो सृष्टि और प्रलय भी उसी से हैं, यही मानना होगा । वह प्रकृति का ही श अंहै, इसलिए जड़ प्रधान से ही

सर्वोत्पत्ति सृष्टि निश्चित होती है। इससे यह प्रकरण, जीव और प्रकृति की ही कारणता का प्रतिपादक ज्ञात होता है।

इत्येवं प्राप्ते उच्यते – तद् व्याख्यातम्। एतयोरुभय लिंगत्वमे नास्तीति। आश्रयत्वादिह तद् योगादित्यत्र सर्वमेव कार्यं भगवत एव नान्य स्मादिति। अतोऽस्माद् ब्रह्मवाद एव सिद्धयति न प्रकृतिवादः।

उक्त मत पर कहते हैं कि—जीव और प्राण दोनों का ही वर्णन नहीं है। परमात्मा को ही सब का आश्रय कहा गया है उसके योग से ही सारे कार्य होते हैं, इसलिए सारे ही कार्य भगवान् के ही हैं किसी अन्य के नहीं। इस प्रकरण से ब्रह्मवाद की ही सिद्धि होती है, प्रकृतिवाद की नहीं।

अन्यार्थं तु जैमिनिः प्रश्नव्याख्यानाभ्यामपि चैवमेके ।१।४।१८।।

स्वमतेन परिहार मुक्त्वा नियत धर्म वादेनापि परिहार माह। स्वाप प्रतिबोधौ जीव धर्मावेव। चक्षुरादिलया धारत्वं प्राण स्येति। तस्मिन्नपि पक्षे अन्यार्थं तद् धर्म कीर्त्तनम्। भेदे हि तान्निराकरणभवश्यं कर्त्तव्यमिति तु शब्दः। ब्रह्म प्रतिपत्त्यर्थ मेव जीव लयोद्गमौ। मृति वैलक्षण्येन प्राण-कीर्त्तनमाश्रय ब्रह्म बोधाय। कुत एत दव गम्यते? तत्राह—उपक्रमोपसंहारा भ्यामेवावगम्यते। "यो वै बालाके! एतेषां पुरुषाणां" इत्युपक्रमे मुख्यं ब्रह्मैव निर्दिष्टम्, तज्ज्ञानेनासुरजयः सर्वेषां भूतानां श्रैष्ठ्यं स्वाराज्यमा-धिपत्यं चेति फलम्। न ह्येतद् द्वयममुख्ये संभवति। अपचि प्रश्न व्याख्या-नाभ्याम्। "क्वैष एतद् बालाके! पुरुषोऽयशिष्ट" इति प्रश्नः। तत्र जीवस्य ज्ञातत्वादधि करणमेव नज्ञातम्। "यत्रैष एतद् बालाके! पुरुषोऽयशिष्ट" इति व्याख्यानम् न हि नाडीर्ज्ञापयितुं व्याख्याति, किंतु प्रतिज्ञातं ब्रह्म कथमेतदव-गम्यते? नाडी व्यतिरिक्त आत्मा ज्ञाप्यन इति? तत्राह—एवमेके। एके शाखिनो वाजसनेयिनः। तत्रापि दृप्त बालाकि ब्राह्मणे "स हो वाच अजात-शत्रुर्यत्रैष एतद् सुप्तोऽभूत य एष विज्ञानमयः पुरुषस्तदेषां प्राणानां विज्ञानेन विज्ञानमादाय य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिन् शेते" इत्यत्र आकाश शब्दं ब्रह्म—"सता सोम्य तदासंपन्नो भवति" इति च—"स्वं ह्यपीती भवति" इति च। तस्माद्वाधार भूत ब्रह्म ज्ञापनार्थत्वाज्जीव मुख्य प्राणलिंगत् प्रकृतिवाद इत्यसंगतम्।

अपने मतानुसार परिहार करके अब धर्म मीमांसा के मत से परिहार करते हैं। निद्रा और जागरण जीव के ही धर्म हैं। चक्षुरादि इन्द्रियो के लय का आधार प्राण ही है। जो लोग जीव मुख्य प्राण के धर्म मानते उनके मत से भी ये धर्म, ब्रह्म बोधक ही सिद्ध होते हैं। सांख्य मत सिद्धि तो फिर भी नहीं होती। सूत्र स्वत् शब्द बतलाता है कि—इस मत के संबध में जो सांख्य वादियों का भेद हैं जैमिनि के मतानुसार उसका निराकरण तो अवश्य ही करना चाहिए ब्रह्म प्राप्ति के लिए ही, जीव का प्रति दिन लय और उद् गम होता है। निद्रा की अवस्था मृत्यु से भिन्न है इस भाव को दिखलाने के लिए ही प्राण शब्द का प्रयोग किया गया है, वह भी आश्रय ब्रह्म का ही वाचक है। यदि प्रश्न करें कि—ये कैसे जाना? उसका उत्तर देते हैं कि—उपक्रम और उपसंहार से ही ऐसा निश्चित होता है। "यो वै बालाके! एतेषां पुरुषाणां" इस उपक्रम में मुख्य ब्रह्म का ही निर्देश किया गया है। उसी के ज्ञान से आसुर प्रवृत्ति का जय होता है तथा समस्त भूतों से श्रेष्ठता, स्वाराज्य और आधिपत्य रूपी फलावाप्ति होती है। ये बातें जीव और मुख्य प्राण में संभव नहीं हैं। तथा प्रश्न और व्याख्यान से भी ऐसा ही निर्णय होता है। "क्वैष एतद् बालाके! पुरुषोऽयशिष्ट" इस प्रश्न में ज्ञात जीव के अज्ञात अधिकरण संबंधी जिज्ञासा की गई है" यत्रैष एतद् बालाके! "से उसका व्याख्यान किया ग ा है। इसमें कहा गया है, कि नाडी ज्ञेय नहीं है ब्रह्म ही ज्ञेय है। यदि पूछें कि—ये कैसे समझा कि—नाडी से भिन्न परमात्मा को ज्ञेय कहा गया है? उसके उत्तर में कहते हैं कि—वाज सनेयी की एक शाखा के दृप्त बालाकि ब्राह्मण में—"सहो वाच" इत्यादि में स्पष्ट रूप से हृदय के दहराकाश में ही जीव के लय की बात कही गई है, "सता सौम्य तदा संपन्नो भवति" और "स्वं ह्यपीतो भवति" में भी यही कहा गय' है। इस प्रकार जीव और मुख्य प्राण शब्द आधार भूत ब्रह्म के ज्ञापक ही कहे गये हैं। इसमें प्रकृतिवाद मानना असंगत है।

७ वाक्यान्वयाधिकरण :—

वाक्यान्वयात् ।१।४।१९॥

पुनर्जीव ब्रह्मवादेन प्रकृति कारणवादमाशंक्य निराकरोति। बृहदारण्य के चतुर्थे षष्ठे च याज्ञवल्क्य मैत्रेयी संवादे "येनाहं नामृता स्यां

किमहं तेन कुर्याम्" इति विरक्ति मुक्त्वा "यदेव भगवान वेद ततेव मे ब्रूहि" इति पृष्टे तामभिमुखीकृत्य "न वारे पत्युः कामाय" इत्यादिना अमृत त्वाय ज्ञानमुपदिशति। षष्ठे पुनरुपसंहारे अपि "एतावदरे खल्वमृतवत्म्" इति होक्त्वा याज्ञ वल्क्यः प्रवव्राजेति तत्र जीवस्य प्रकरणित्वं ब्रह्म णोवा ? इति संशयः।

पुनः जीव ब्रह्म वाद से प्रकृति कारण वाद की संका करते हुए परिहार करते हैं। वृहदारण्यक के चौथे और छठे अध्याय के याज्ञवल्क्य मैत्रेयी संवाद में "जिससे मैं मृत न होजाऊँ ऐसा कोई उपाय बतलायें जिसे मैं करूँ" ऐसा विरक्ति भाव दिखलाकर "भगवन् ! आप जो जानते हों सो बतलावें" ऐसा प्रश्न करने पर उससे "न वारे पत्युः कामाय" इत्यादि से अमृतत्व ज्ञान कर उपदेश किया षष्ठ अध्याय के उपसंहार में भी "अमृतत्व केवल इतना ही है" इत्यादि उपदेश देकर याज्ञवल्क्य ने संन्यास ले लिया। इस पर संशय होता है कि ये प्रकरण जीव सम्बधी है या ब्रह्म संबंधी ?

तत्रात्मनः प्रियत्वं स्वप्रतीत्या पुत्राद्यपेक्षया बोधयन जीव मेवोपक्रमे आत्मत्वेन वदति। तदनु तत्र दर्शनादि विद्यत्ते। "तेन सर्वं विदितम्" इति फलमाह। तत्र कथमात्म ज्ञानेन सर्वज्ञान मित्याकांक्षायां "ब्रह्म तं परादात्" इत्यादिना "इदं सर्वं यदयमात्मा" इत्यन्तेन तस्यैव सर्वत्वमाह।

उस स्थान पर, पुत्रादि की अपेक्षा से स्व प्रतीति भाव से आत्मा की प्रियता बतलाते हुए, आत्मा रूप से जीव का ही निर्देश प्रतीत होता है। उसी के दर्शनादि का भी विधाव किया गया है। "तेन सर्वं विदितम्" से आत्मसाक्षत्कार का फल कहा गया है आत्मज्ञान से समस्त का ज्ञान कैसे संभव है ? ऐसी आकांशा होने पर "इदं सर्वं यदयमात्मा" इत्यादि से उसी आत्मा का ही सर्वत्व कहा गया है।

तदनु कथमस्मिन् संघाते आत्मज्ञानं भवति ? इत्याकांक्षायां दुंदुभ्यादि दृष्टांत त्रयमाह। परंपरया बाह्याभ्यन्तर भेदेन यथा महाकोलाहले दुन्दुभेर्हन्यमानस्य शब्दो गृहीतो भवति। तत्र करणं दुन्दुभिदर्शनं दुन्दुभ्याघात दर्शनं वा। अनुमान द्वारा चित्ते तत्र निविष्टे तत्साक्षात्कारो भवति इति तथा आत्मनो बोधक कार्यानु संधाने तत्साक्षात्कारो भवति इति। तत्र कथं सर्वत्वम् ? इत्याकांक्षायाम् तत एवोत्पन्नं सर्वं नाम रूपात्मकं तस्मिन्नेव

लीयत इति । "समथेति" द्वयेनाह । मध्ये "स एव नातिरिक्त विशति" इति "यथा सैन्धवघनं" इत्यनेन आह । आधेयत्वेन तावन्मात्रता निराकरणमाह "न प्रेत्य संज्ञाऽस्ति" इति । कार्यातिरिक्त रूपं कथयितुं न शक्यत इति तत्र विशेषाकांक्षायां अतिरिक्तः कथने वंचकत्वमाशंक्य तत्परिहारायाह "स होवाच" इति । "अविनाशी" इत्यनेन कार्य वैलक्षण्यं सिद्धवत् कारेणोक्त्वा विषय संबंधेन संसारमाह "मात्रा संसर्गस्त्वस्य भवति" इति । विशेषतस्त्व-कथने हेतुमाह "यद् द्वैतम्" इत्यादिना, यावत् समाप्ति । चक्षू रूपं एव पश्यति नात्मानं । ननुरूपमप्यात्मेति चेत् तत्रापश्यन् वै तद् दृष्टव्यत्वेन न पश्यति । न हि दृष्टं स्वरूपं दृश्य ज्ञानेन ज्ञातं भवति, अतद् रूपत्वात् । एवं द्रष्टृ दृश्य व्यवहारे–अज्ञानावस्थायां विशेषतस्तज्ज्ञानमशक्यमुक्त्वा ज्ञानोत्तरं कर्यकर्तृ भाव एव नास्ति इत्याह "तत्रवा अन्यदिव स्यात्" इत्यादिना । इदमेव हि ज्ञानममृतत्वमिति । तत्रादिमध्याव सानेषु जीव प्रकरणमित्येव प्रतिभाति । तस्य ब्रह्मता जगत कर्तृत्वम् इत्युत्कर्षः । ननु तस्मादन्यत् ब्रह्मत्वेन वक्तुं युक्तम् । अर्थ विरोधाच्च । तस्माद् वेदे सृष्टि वाक्यानां एतन्मायायेन अन्यार्थत्वान्न ब्रह्म जगत्कारणमिति प्रकृतिवाद एव युक्तः ।

उसके बाद, इस कोलाहल पूर्ण जगत में आत्म ज्ञान कैसे संभव है ? इस आकांक्षा पर दुन्दुभु आदि तीन दृष्टान्त प्रस्तुत किये गए हैं । जैसे कि— वाह्याभ्यांतर भेद से होने वाले महा कोलाहल में भी दुन्दुभि बजाने का शब्द श्रवण होता है, उसमें दुन्दुभि दर्शन और दुन्दुभि नाद दर्शन दोनों ही कारण होते हैं । अनुमान द्वारा चित्त में उसके प्रविष्ट होने पर उस नाद का साक्षात्कार होता है, उसी प्रकार आत्मा बोधक कार्यों के अनुसंधान से उस आत्मा का साक्षात्कार होता है । उसका सर्वत्व कैसे संभव है ? इस आकांक्षा पर "स यथेति" इत्यादि दो वाक्य कहे गए उसके मध्य में "स एव नातिरिक्त विशति यथा सैन्धवघनं" इत्यादि वाक्य से समस्त नाम रूपात्मक जगत को उसी से उत्पन्न और उसी में लीन कहा गया है । "न प्रेत्य संज्ञास्ति" से उसके उतने मात्र का निराकरण आधेयत्व भाव से किया गया है । कार्य के अतिरिक्त उसके रूप को कहना कठिन है, इस आकांक्षा पर, उससे अतिरिक्त रूप को कहना वंचकता है, इस संशय का "स होवाच" इत्यादि से निराकरण करते हैं । "अविनाशी" इत्यादि से, कार्य वैलक्षण्य

को सिद्धवत् कारण बतला कर "मात्रा संसर्गः" इत्यादि से आत्मा का संसार से विषय संबंध मात्र दिखलाया है। "यद् द्वैतम्" से लेकर अंत तक विशेष अकथ्यता बतलाई है। चक्षु तो रूप को ही देखते हैं आत्मा को नहीं ? यदि रूप को ही आत्मा मानें तो रूप कोई अदृश्य वस्तु तो है नही जिसे देखने की बात पर बल दिया जाये, आत्मा तो अदृश्य वस्तु है दृष्टव्य कहा गया है, उसे चक्षु नहीं देखते। दृष्ट स्वरूप, दृश्य ज्ञान से ज्ञात नहीं हुआ करता, क्यों कि उसका स्वरूप दृश्य नहीं होता। ऐसा द्रष्ट्र दृश्य व्यवहार बतलाकर, अज्ञानावस्था में विशेषतः ज्ञान को अशक्य बतलाकर "तत्र वा अन्यदिव स्यात्" से बतलाया कि ज्ञान हो जाने के बाद कर्म और कर्तृ का भाव ही नहीं रह जाता। यही अमृतत्व ज्ञान है। इस प्रकार प्रकरण के आदिमध्यावसान पर विचारने से यह प्रकरण जीव परक ही समझ में आता है। जगत्कर्तृत्व ही उसकी ब्रह्मता है, जो कि उसका उत्कर्ष है। उसके अतिरिक्त ब्रह्म कोई दूसरी वस्तु है ऐसा नहीं कह सकते। ऐसा मानने में अर्थ विरोध भी होगा, इस नियम से यही निश्चित होता है कि वेद में सृष्टि वाक्यों में ब्रह्म जगत् कारण नहीं है, प्रकृति कारणवाद मानना ही युक्त है।

इत्येवं प्राप्ते उच्यते-वाक्यान्वयात्। इदं वाक्यं भगवति एवान्वेति। नात्र जीव प्राधान्य गंधोऽपि सर्वत्र भगवदन्वयनै जीवस्यापि प्रियत्वम्। तस्यैव सुख रूपत्वात्। सर्वोपनिषदनुरोधेन वास्याप्यर्थस्य वक्तुमुचितत्वात् "तमेव विदित्वा अतिमृत्युमेति" "आनंदाद्ध्येव खलु इमानि भूतानि जायंते" सर्व एवात्मानोव्युच्चरंति "एष ह्येवानंदयाति" इत्यादि श्रुति सहस्रैर्नि संदिग्धैः ब्रह्मणः स्वरूपं कार्यमंशाश्च प्रतिपादिता, इतीदमपि वाक्यं तत्पपमेवोचितम्। सर्व व्यवहारस्य तन्मूलकत्वेन पूर्वमुक्तत्वात्। विषय स्पर्शो विज्ञातृत्वमपि तस्यैव। एवं सति सर्वमेव संगत भवेत्। अतो वाक्यान्वयान्न जीव परत्वं येन प्रकृतिवादः स्यादिति।

उक्त मत पर—वाक्यान्वयात् सूत्र प्रस्तुत करते हैं। यह वाक्य भगवान में ही अन्वित होता है। इसमें जीव प्राधान्य की तो गंध भी नहीं है। सर्वत्र भगवदन्वय है इसलिए जीव की भी प्रियता है। क्यों कि वह परमात्मा ही सुख रूप है। समस्त उपनिषदों के अनुसार इस वाक्य का भी अर्थ करना चाहिए, "उसे जानकर मृत्यु का अतिक्रमण करता हैं" आनन्द से ही ये सारे भूत उत्पन्न होने हैं "सब कुछ इस आत्मा से ही जाने जाते हैं" "इसी से

आनन्द प्राप्त होता है" इत्यादि हजारों असंदिग्ध श्रुतियाँ ब्रह्म के स्वरूप और सारे कार्यों को उसके अंश रूप से प्रतिपादन करती हैं। इसी यह वाक्य भी परमात्म वाची है यही मानना उचित है। सारा जागतिक व्यवहार तन्मूलक है, ऐसा पहिले भी कह चुके हैं। विषयों के स्पर्श में उसी की विज्ञातृता है। इस प्रकार सब कुछ संगत हो जाता है। वाक्य परमात्मा में ही अन्वित है, इसे जीव परक मान कर प्रकृतिवाद की पुष्टि नहीं कर सकते।

प्रतिज्ञासिद्धेर्लिंगमाश्मरथ्यः ।१।४।२०।।

नियत धर्मवादिनामपि मतेन प्रकृते सिद्धान्तं वक्तुं पक्षान्तराव्याह। तत्र जीवो नाम स्वस्य भोग निष्पत्त्यर्थं स्वांशो भगवताकृतो विस्फुलिंग वदित्याश्मरथ्यो मन्यते। अनादि सिद्ध एव जीव श्चैतन्य मात्रं शरीरादि संघाते प्रविष्ट इति चिति तन्मात्रेण प्रवेशे च मोक्ष इति च औडुलोमिराचार्यः। काशकृत्स्नस्तु आसक्त्या विषय भोक्तृ रूपं भगवत एव जीव इति तेऽपि स्वमतानु सारेणात्र परिहारति। तत्र पुत्रादि प्रिय सह वचनाज्जीव प्रकरण मेवैतदित्याशंक्य जीवपक्रमस्यान्यत् प्रयोजनमित्याह। प्रतिज्ञासिद्धेरिति षष्ठी। तस्या लिंगमंशत्वाज्जीवस्य तद भेदेनोपक्रमः प्रतिज्ञासिद्धेर्लिंगं भवति। एक विज्ञानेन सर्वं विज्ञानं प्रतिज्ञा। तस्यैवाग्रे व्युत्पाद्यमान त्वात् तस्या एतत् साधकम्। यथा जीवो भगवानेवं जड इति। एव माश्मरथ्यो मन्यते। श्रोतव्यादि विषयस्तु भगवानेव। तस्मान्नियत धर्म जीव वादेऽपि न जीवोपक्रमोदोषः।

जीव वाद में नियम धर्म मानने वालों के मत से भी अपने सिद्धान्त की पुष्टि पक्षान्तर रूप से प्रस्तुत करते हैं। ब्रह्म वाद में एक देशीय अनेक वाद हैं। भगवान स्वयं अपने अंश जीव से भोग प्राप्त करने के लिए ही अग्नि की चिनगारियों की तरह विभिन्न रूप धारण करते हैं, ऐसी आश्मरथ्य की मान्यता है। औडुलोमि आचार्य का कथन है कि—अनादिकाल से चैतन्य मात्र जीव शरीर आदि संघातों में प्रविष्ट होता आया है, वही चैतन्य रूप जब अपने अंशी परमात्मा में प्रविष्ट हो जाता है तो वह मुक्त हो जाता है। कासकृत्स्न कहते हैं कि आसक्ति से, विषय भोक्ता, भगवान ही, जीव हैं। ये सभी आचार्य अपने-अपने मतानुसार प्रकृतिवाद का परिहार कर रहे हैं।

पुत्र आदि प्रिय जानों के साहचर्य की चर्चा है अतः ये जीव प्रकरण ही है ऐसा संशय करते हुए, परिहार करते हैं कि—प्रकरण में जीवोपक्रम है, वह विशेष प्रयोजन से है। वह प्रतिज्ञा की सिद्धि के लिए है। यह जीव उस परमात्मा का ही अंश है अतः वह अभिन्न है, लिंग प्रायः प्रतिज्ञा सिद्धि के लिए ही होता है एक को जानने से सब कुछ ज्ञात हो जाता है; यही वेदांत दर्शन की प्रतिज्ञा है। उस परमात्मा का ही आगे प्रतिपादन किया गया है उपक्रम उसी का साधक मात्र है, इसमें बतलाया गया है कि जैसा जीव और भगवान् है वैसा ही जड भी है। यही आश्मरथ्य की मान्यता है। श्रोतव्य आदि का विषय तो भगवान् ही है। इस प्रकार नियत धर्म जीव वाद के अनुसार भी जीवोपक्रम में कोई दोष नहीं है।

उत्क्रमिष्यत एवम्भावादित्यौडुलोमिः ।१।४।२१।।

लिंगमित्यनुवर्त्यँते। यदत्र जीवोपक्रमेण भगवतः श्रवणादिकमुक्तं, तत् संसार भावादुत्क्रमिष्यतो जीवस्य लिंगम्। मुक्तो जीवो भगवानेन भविष्यतीति ज्ञापकम्। अन्यथा सैव कथं अमृतो भवेत्। इति शब्दो हेतौ। स्त्रिया विश्वासार्थं गौणप्रिय वैराग्यार्थं च जीवोपक्रमः कर्त्तव्य एवेति औडुलोमि राचार्यौ मन्यते। तस्मद् भिन्न जीव पक्षेऽपि नात्र दूषणम्।

इस प्रकरण में जीवोपक्रम से भगवान के श्रवण आदि की जो चर्चा है वह संसार भाव से उठे हुए जीव से संबंधित है। मुक्त जीव भगवान ही हो जाता है, इसकी ज्ञापक है। यदि ऐसा नहीं मानेंगे तो वही जीव अमृत कैसे हो सकता है? स्त्री को विश्वास दिलाने और गौण प्रिय वस्तु से वैराग्य भाव बतलाने के लिए जीवोपक्रम करना आवश्यक था; ऐसी औडुलोमि आचार्य की मान्यता है। इस प्रकार भिन्न जीव पक्ष से भी दोष नहीं होता।

अवस्थितेरिति काशकृत्स्नः ।१।४ २२।।

लिंगमित्येव। भगवत एवावस्था जीव इति। अतः संसार दशा यामपि जीवो ब्रह्मेति नात्रोत्क्रमणमुपचारो वा। अन्य थाकथपात्मस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति। न ह्यन्यस्य सर्वं प्रियं भवति। मोक्षस्तुज्ञानमेव उत्तरत्र कर्त्तव्या भावात्। अवस्थया व्यवसायात् सिद्धान्ताद् विशेषः इति शब्दे

नैतावदरे खल्वमृतत्वमित्युष संहारो हेतुरस्य पक्षस्येति काशकृत्स्नो मन्यते। तस्माज्जीवोपक्रमो, भगवत एवावस्था विशेषो जीव इत्यस्य लिंगम्। तस्मान्मैत्रेयी ब्राह्मणे नापि जीव द्वारा प्रकृति कारणवा दासिद्धिरिति सिद्धम्।

जीव, भगवान् की ही एक अवस्था है, संसार दशा में भी जीव, ब्रह्म ही है, इसलिए जीवोपक्रम औपचारिक मात्र है। यदि ऐसा नहीं है तो, आत्मा की कामना से सब प्रिय हों, यह कैसे संभव है? परमात्मा के अतिरिक्त किसी अन्य के तो सब प्रिय नहीं हो सकते। ज्ञान दशा ही मोक्ष है, उसके बाद कोई कर्त्तव्य शेष नहीं रह जाता। व्यवसाय से अवस्था विशेष होती है, यही सिद्धान्त है। प्रकरण में किया गया इति का प्रयोग बतलाता है कि वह परमात्मा इतना ही नहीं है, उसका अमृतत्व सिद्ध करते हुए उपसंहार किया गया है, ऐसा काशकृत्स्न का मत है। इससे यही मानना चाहिए कि जीवोपक्रम भगवान की ही अवस्था विशेष है जो कि जीव नाम से कही गई है। इस मैत्रेयी ब्राह्मण से भी जीव द्वारा प्रकृति कारण वाद की सिद्धि नहीं होती।

८ प्रकृतिश्च प्रतिज्ञाऽधिकरणः—

प्रकृतिश्च प्रतिज्ञा दृष्टान्तानुपरोधात्।१।४।२३॥

एवं प्रकृति कारण वाद निराकरणेन ब्रह्मण एव कारणत्वे सिद्धेऽप्यर्द्धजरतीयतयोभयसंस्थापनपक्षं परिहर्त्तुं अधिकरणमारभते।

इस प्रकार प्रकृति कारणवाद के निराकरण से ब्रह्म कारण वाद के सिद्ध होने पर भी अधपके दोनों पक्षों पर चलने वाले मत का परिहार करने के लिए अधिकरण का आरंभ करते हैं।

ननु ब्रह्म कारणतां न निराकुर्यः श्रुति सिद्धत्वात्। किन्तुसमवायिकारणं प्रकृति रेव। कार्यं कारणयोरवैलक्षण्यात्। समवायिकारणानुरोधि हि कार्यम्, अन्यत् सर्वं भगवानस्तु। अपेक्ष्यते च समवायि निमित्तयोर्भेदः। कर्मण्यपि श्रुतिस्मृति समवायो धर्मे। एवं ब्रह्मवादेऽपि स्मृत्युक्ता प्रकृतिः समवायिकारणम्। ब्रह्मनिमित्तकारणम्।

हम ब्रह्म कारणता का निराकरण नहीं करते क्यों कि वह तो श्रुति सिद्ध बात है, किन्तु समवायि कारण तो प्रकृति ही है। क्यों कि कार्य कारण

में भिन्नता नहीं होती, समवायि कारण के अनुरूप ही कार्य होता है। बाकी और सब कारण भगवान् ही हैं। समवायि और निमित्त कारण में भेद अपेक्षित भी है। धर्म शास्त्र का निर्णय कर्म के संबंध में श्रुति और स्मृति दोनों से होता है, ऐसे ही ब्रह्मवाद में भी स्मृति सम्मत प्रकृति को समवायि-कारण मानना चाहिए और ब्रह्म को निमित्त कारण [प्रत्येक कार्य में समवायि, असमवायि और निमित्त तीन कारण होते हैं, जैसे कि घड़ा के निर्माण में मिट्टी, समवायिकारण, डंडा चक्का आदि असमवायिकारण तथा कुम्हार निमित्त कारण होता है। समवायिकारण मिट्टी और कार्य घड़े में वस्तुतः कोई भेद नहीं होता; इसी प्रकार इस पांच भौतिक जगत और प्रकृति में साम्य है इसलिए जगत रूपी कार्य में वही समवायिकारण हो सकती है ब्रह्म तो चिद् रूप है, वह कैसे समवायि कारण होगा ? उसमें और जगत में तो बड़ा भेद है।

इत्येवं प्राप्ते उच्यते—प्रकृतिश्च। निमित्तकारणम्, समवायिकारणं च ब्रह्मैव। प्रकृतिपद प्रयोगात् स्मृति सिद्ध तृतीय सर्व धर्मोपदेशः। चकाराद् यत्रेत्यादि सर्वसंग्रहः। कुत एतद् ? प्रतिज्ञा दृष्टान्तानुपरोधात्। प्रतिज्ञा, "अपि वा तमादेशमप्राक्षो येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतं भवत्यविज्ञातं विज्ञातं भवतीति"। दृष्टान्तो—"यमैकेन मृत् पिण्डेन सर्वं मृण्मयं विज्ञातं स्यात्" इत्यादि। प्रतिज्ञा दृष्टान्तयोरनुपरोधोऽबाधनं तस्मात्। समवायि कारण ज्ञाने हि कार्यं ज्ञानम्। उभयोर्ग्रहणमुपचार व्यावृत्यर्थम्। उपक्रमोप संहारवत्। प्रतिज्ञा मात्रत्वे अदृष्टद्वारापि भवेत्। दृष्टान्तमात्रत्वे त्वनुमान विधया स्यात् तथा सति सर्व समान धर्मवद् ब्रह्म स्यान्न समवायिकारणम्। उभयो ग्रहणे तु प्रतिज्ञाया दृष्टमेव द्वारमिति समवायित्व सिद्धिः।

उक्त मत पर कहते हैं कि प्रकृति का कारण भी ब्रह्म ही है। निमित्त और समवायि दोनों कारण ब्रह्म ही है। प्रकृति शब्द, असमवायिकारण रूप जागतिक सभी प्राकृत पदार्थों का द्योतक है। "यत्र" इत्यादि से इसका व्यापक रूप वर्णन किया गया है। प्रतिज्ञा और दृष्टान्त से इस बात की पुष्टि हो जाती है। प्रतिज्ञा जैसे—"उसको समझ कर अश्रुत वस्तु श्रुत, अमत वस्तु मत तथा अविज्ञात हो जाती है" दृष्टान्त—"जैसे कि एक मिट्टी के ढेले को देखकर समस्त मिट्टी के बने पदार्थों का ज्ञान हो जाता

है" इत्यादि। इस प्रकार प्रतिज्ञा और दृष्टान्त से ये बात अबाध्य हो जाती है। समवायि कारण के ज्ञान से कर्म का परिज्ञान हो जाता है। प्रतिज्ञा और दृष्टान्त दोनों के द्वारा ही सही निर्णन होता है अन्यथा औपचारिक बात ही रह जाती है। जैसे कि—वाक्य के उपक्रम और उपसंहार दोनों से तत्व का सही निर्णय होता है। यदि केवल प्रतिज्ञा मात्र से विचार करें तो अदृष्टा द्वारा भी सृष्टि की बात सिद्ध हो सकती है। और यदि केवल दृष्टान्त से विचार करें तो अनुमान ही अनुमान हो जायगा, यथार्थता न होगी और ऐसा होने से सभी व्यवहार समान हैं, वैसी ही सृष्टि भी है ऐसा निर्णय हो जायेगा, फिर ब्रह्म को समवायिकारण नहीं कह सकते। दोनों के आधार पर निर्णय करने पर प्रतिज्ञा की पुष्टि दृष्टान्त से होगी और समवायी भाव की सिद्धि हो जायेगी।

कार्य कारणयो भेदाभेद मत निराकरणाय पिण्डमणिनरव निकृन्तन ग्रहणम्। तथा सति यत्र क्वचिद् भगवान् ज्ञातः सर्वत्र ज्ञातो भवति. सर्वं च ज्ञातं भवति इति। सामान्य लक्षण प्रत्यासत्ति निराकरणाय च "वाचारम्भणं विकारो नाम धेयम्" इति। अलीकत्व निराकरणाय च "मृत्तिकेत्येव सत्यम्" इति। ब्रह्मत्वेनैव जगतः सत्यत्वं, नान्यथेति। सामान्य लक्षण प्रत्यासत्ति निराकरणं च स्पष्ट मेवाग्रे त्रीणि रूपाणीत्यत्र करिष्यति। अतो ब्रह्म रूपेण सत्य जगतो ब्रह्मैव समवायिकारणम्। देहात्म बुद्धिस्तु सत्यां विकार बुद्धौ दोषः। श्रुति सामर्थ्यं प्रमाणमित्युक्तं। तस्माद् ब्रह्मैव समवायिकारणं न प्रकृतिः।

कार्य और कारण में न अत्यंत भेद है न अत्यंत अभेद इस बात को बतलाने के लिए पिण्ड, मणि नरवनिकृन्तन आदि दृष्टान्त दिये गए हैं। कार्य के ऐसे अवस्था विशेष रूप के ज्ञात हो जाने पर, जहाँ कहीं भी कार्य में भगवान का सर्वत्र आभास होने लगता है, और सारा रहस्य खुल जाता है सब कुछ परमात्मा से अभिन्न प्रतीत होने लगता है। सामान्य लक्षण को निराकरण करते हैं कि—"वाचारम्भणं विकारो नाम धेयम्" तथा अलीकत्व का निराकरण करते हैं "मृत्तिकेव सत्यम्"। जगत् का ब्रह्मत्व स्वीकारने पर ही जगत की सत्यता वाली बात बन सकती है, अन्यथा नहीं। सामान्य लक्षण के निराकरण के लिए ही आगे स्पष्ट रूप से—"त्रीणि रूपाणि" इत्यादि वाक्य कहा गया। ब्रह्म रूप होने से जगत सत्य है इसलिए

ब्रह्म ही जगत का समवायिकारण है। विकार बुद्धि के कारण, देहात्म बुद्धि हो जाती है। श्रुति सामर्थ्य से ही जो प्रमाण दिये गए उससे ब्रह्म ही समवायिकारण निश्चित होता है, प्रकृति नहीं।

अभिध्योपदेशाच्च ।१।४।२४।।

लिंगान्तर माह। 'सोऽकामयत बहुस्यां प्रजायेयं'' इति कामनं तस्याभिध्यानं। आप्त कामत्वान्न कामना। तदभिध्यानं सृष्टावुपदिष्यते। बहु स्यामिति स्वस्यैव बहुरूपत्वामि ध्यानेन सृष्टं स्वयमेव भवति। सुवर्णस्यानेक रूपत्वं सुवर्ण प्रकृतिकत्व एव। अध्यासाभावाद् गौणत्वापत्तेश्च। नहि मुख्यं बहु भवनं योगिनां संभवति। सर्व भवन् सामर्थ्यान्मुख्ये संभवति गौणकल्पनाया अन्याय्यत्वात्। चकारात् "इदं सर्वं यदयमात्मा" इति कार्यस्य ब्रह्मत्व श्रुतिर्ब्रह्म प्रकृतित्वे संभवति, नान्यथा। अथवा "सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शांत उपासीत'' इति तस्य जगद् रूपत्वेनभिध्यानमुपदिश्यते। तद् ब्रह्म समवायित्वे घटत, इति। चकारा देवत्वेन पृथक्त्वेन ''बहुधा विश्वतो मुखम्'' इति।

''उसने कामना की बहुत हो जाऊँ'' यह कामना ब्रह्म की अभिध्या है, वह आप्त काम हैं इसलिए इसे कामना नहो कहते। ये अभिध्या सृष्टि संबंधी है। बहुस्यां में स्वयं ही बहुत रूपों में होने का ध्यान कर स्वयं ही वे सृष्ट हो गए। जैसे कि सुवर्ण के आभूषणादि अनेक रूप होते हैं उनमें सुवर्ण की प्रकृति रहती हैं। वैसे ही ब्रह्म की प्रकृति जगत में है। गौण रूप से जैसे योगी लोग यौगिक कायव्यूह को रचना करते हैं, वो बात परमात्मा के संबंध में नहीं कही जा सकती, क्यों कि— परमात्मा का देहाध्यास नहीं होता। योगी लोग मुख्य रूप से अनेक नहीं हो सकते। सर्वभवन-सामर्थ्य होने से परमात्मा में मुख्य रूप से ही बहुरूपता है, उनके संबंध में गौण कल्पना करना अन्याय है। ''इदं सर्वंयदयमात्मा'' वाक्य में जो कहा गया है वह तभी सही हो सकती है जब कि कार्य का ब्रह्मत्व स्वीकारा जावे। ''सर्वं खल्विदं ब्रह्म'' इत्यादि में परमात्मा की जगत् रूप से अभिध्या बतलाई गई है। इससे ब्रह्म का समवायि होना निश्चित होता है। ''बहुधा विश्वतो मुखम्'' इत्यादि में परमात्मा की भिन्नाभिन्नता बतगाई गई है।

साक्षाच्चोभयाम्नात् ।१।४।२५।।

लिंगमुक्त्वा श्रुतिमेव प्रणाममाह। साक्षाच्छ्रुत्यैव समवायित्वमुच्यते, चकारात् स्मृत्यपि। कथं श्रुत्योच्यते तत्राह—उभयाम्नानात्। ब्रह्मणः सकाशात् ब्रह्मण्येव च सृष्टि प्रलययोराम्नानात्। "सर्वाणि ह वा इमादि भूतान्याकाशादेव सुमुत्पद्यन्त आकाशं प्रत्यस्तं संति" इति। "अहं सर्वस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा" इति च। नहि एतस्मिन् निमित्तत्वे संभवति। सुवर्णादिषु तथोपलब्धे लोक वेदन्याहन साक्षात्त्वम्, तस्माद् भगवान् एव समवायि कारणम्।

लिंग की चर्चा करके अब श्रुति का ही प्रमाण देते हैं। श्रुति स्पष्ट रूप से ब्रह्म को समवायि बतलाती है, स्मृति भी श्रुति ब्रह्म से ही सृष्टि और प्रलय दोनो बतलाती है। "ये सारे भूत समुदाय आकाश से ही हुए और आकाश में ही लीन होते हैं।" मैं ही सारे जगत का उत्पत्ति और प्रलय करने वाला हूँ। "ब्रह्म में निमित्तता संभव नहीं है। वो तो सुवर्णादि में भी उपलब्ध होने लगेगा। लोक और वेद न्याय से निश्चित हुआ कि भगवान ही समवायि कारण हैं।

आत्मकृतेः परिणामात् ।१।४।२६।।

ननु स एव सर्वं सृजति स एवावति हंतिचेतिकर्त्तृत्व प्रतीतेराकाशादि वाक्यमप्यौपचारिकं भविष्यतीति, तन्निराकरणायाह—आत्मकृतेः "तदात्मानं स्वयमकुरुत" इति स्वस्यैव कर्मकर्त्तृ भावात्। सुकृतत्त्ववचनाच्चालौकिकत्वम्। तथापि ज्ञानार्कमुपपत्तिमाह—परिणामात्, परिणमते कार्याकारणेति। अविकृत मेव परिणमते सुवर्णम्। सर्वाणि च तैजसानि वृद्धेश्चालौकिकत्वात् ब्रह्म कारणत्व एव घटते। पूर्वावस्थान्यथा भावस्तु कार्य श्रुत्यनुरोधादंगी कर्त्तव्यः। वक्ष्यति च, श्रुतेस्तु शब्द मूलत्वादिति। अन्यानि च युक्ति दूषणानि परिहरिष्यति। तस्माद् ब्रह्म परिणाम लक्षणं कार्यं मिति जगत् समवायिकारणत्वं ब्रह्मण एवेति सिद्धम्।

"वही सब सृष्टि करता है, वही रक्षा और संहार करता है" इस कर्त्तृत्व बोधक वाक्य से तो आकाशादि वाक्य औपचारिक सिद्ध हो जाता है। इस संशय का निराकरण करते हैं कि—"तदात्मानं स्वयमकुरुत" में स्व को ही

कर्म और कर्त्ता कहा गया है यह उस परमात्मा की अलौकिता का ही द्योतक है फिर भी जानकारी के लिए कहते हैं कि वह परिणमित हो जाता है, बिना कारण के ही कार्य के रूप में परिणमित होता है, जैसे कि सुवर्ण बिना किसी विकार के रूपान्तरित होता है। सभी तैजस पदार्थों की अलौकिक वृद्धि होती है, उसी से ब्रह्म की कारणता निश्चित होती है श्रुति के नियमानुसार मानना होगा कि—पूर्वावस्था के बिना बदले ही कार्य होता है। "श्रुतेस्तु शब्द मूलत्वात्" सूत्र में यही बात सूत्रकार ने कही है। इसमें वे अन्यान्य दूषित युक्तियों का परिहार करते हैं। इससे निश्चित हुआ कि ब्रह्म का कार्य परिणाम स्वरूप है, इसलिए जगत का समवायिकारण ब्रह्म ही है।

योनिश्च हि गीयते ।१।४।२७।।

चेतनेषु किंचिदाशंक्य परिहरति। नन्वस्तु जडानां ब्रह्मैक कारणत्वं, चेत नेषु योनिबीजयोः समवायित्व दर्शनात् पुरुषत्वाद् भगवतो योनिरूपा प्रकृतिः समवायिकारणं भवतु। शुक्र शोणित समवेतत्वाच्छरीरस्येत्याशंक्य परिहरति। योनिश्च ब्रह्मैव शाक्तवाद निराकरणाय चकारः। तत्र युक्ति श्रुती प्रमाणयति। हि गीयते इति। युक्तिस्तावत्—"सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवा द्वितीयम्" इति पूर्वमेव प्रतिज्ञातम्। "आकाशादेव" आनंदाद् हि एव "इत्याद्येव कारैश्चान्यकारणत्वं जगतोऽवगम्यते। इतरापेक्षायां द्वैतापत्तेः। गीयते च 'कर्त्तारमीशं पुरुषं ब्रह्म योनिम्" तद् भूतयोनिं परिपश्यंति धीराः" इति च। "मम योनिर्महद् ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्" इति। "तासां ब्रह्म महद् योनिरहं बीज प्रदः पिता" इति च। अक्षर पुरुषोत्तम भावेन तथा त्वम्। तस्माद् योनिरपि भगवान् पुरुषोऽपि सर्वं वीर्यं जीवश्च सर्वं भगवान् इति। "इदं सर्वं यदयमात्मा" इति सिद्धम्। तस्मात् केनाप्यंशेन प्रकृति प्रवेशो नास्ति इत्य शब्दत्वं सांख्य मतस्य सिद्धम्।

चेतनों के संदंध में कुछ आशंका करते हुए परिहार करते हैं। जड़ वस्तुओं में तो ब्रह्मैक कारणता समझ में आजाती है किन्तु चेतनों में तो योनि और बीज दोनों का समवायित्व देखा जाता है, इसलिए पुरुष रूप भगवान और योनि रूप प्रकृति दोनों ही समवायिकारण होंगे। इस प्रकार शुक्र शौणित के संयोग से शरीर का दृष्टांत देते हुए शंका की गई उसका

परिहार करते हैं योनि भी ब्रह्म ही है। भी कहने का तात्पर्य, शाक्तवाद का निराकरण है। इस विषय में युक्ति और श्रुति दोनों का प्रमाण देते हैं। युक्ति जैसे—"हे सोम्य ! यह सत् ही प्रथम था" यही एक मात्र था इत्यादि श्रुतियों से परमात्मा की पूर्वस्थिति का निश्चय होता है। तथा—"आकाशा-देव" आनंदाद्धयेव ' इत्यादि वाक्यों में एवाकार के प्रयोग से ही जगत् की अनन्यकारणता का निर्णय हो जाता है। जब दूसरे की अपेक्षा होती है तभी द्वैत की बात उठ सकती है। श्रुतियाँ ब्रह्म को योनि रूप से गाती भी हैं--कर्त्तारमीशं पुरुषं ब्रह्म योनिम्" ' यद् भूतयोनिं परिपश्यति धीरा: ।" स्मृति भी जैसे--"ममयोनिर्महद् ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्" तस्माद् योनिरहं बीज प्रदः पिता ।" इन प्रसंगों में योनि और बीज दोनों, एक ही को कहा गया है, वह अक्षर और पुरुषोत्तम भाव से है। भगवान् ही योनि और भगवान् ही पुरुष, भी हैं, सारा वीर्य जीवों के रूप में व्याप्त है इसलिए सब कुछ भगवान् है। "इदं सर्वं यदयमात्मा" यह सार्व भौम वाक्य ऐसा मानने पर ही सिद्ध होता है। इसलिए किसी भी अंश से प्रकृति का प्रवेश नहीं होता, सांख्य मत से संबंधित एक भी शब्द श्रुति में नहीं है।

एतेन सर्वे व्याख्याताः व्याख्याताः ।१।४।२८।।

ब्रह्मवाद व्यतिरिक्ताः सर्ववादा अवैदिका, वेद—विरुद्धाश्चे त्याह। एतेन ब्रह्मवादन स्थापन पूर्वक सांख्यमत निराकरणेन सर्वे पातंजलादि वादा व्याख्याताः। अवैदिका अनुपयुक्ताश्च । वैदिकानां हि वेद प्रमाणम् तस्मिन् व्याकुले भ्रांति प्रतिपन्ना एव सर्वे वादा इति। एतत् सौकर्यार्थं विस्तरेणाग्रे वक्ष्यते। आवृत्तिरध्याय समाप्ति बोधिका।

ब्रह्म वाद के अतिरिक्त सारे वाद अवैदिक और वेद विरुद्ध हैं। ब्रह्म वाद की स्थापना करते हुए सांख्य मत का निराकरण किया, उससे पातंजल आदि वादों का भी निराकरण हो गया। वे सारे वाद अवैदिक और अनुपयोगी हैं। वैदिकों के लिए तो वेद ही प्रमाण है। उसमें किसी प्रकार की गड़बड़ी करने मे भ्रान्ति हो जाती है, ये सारे वाद भ्रांत हैं। आगे और भी सरलता से इसका निर्णय करेंगे। व्याख्याता शब्द की आवृत्ति अध्याय की समाप्ति की परिचायिका है।

प्रथम अध्याय समाप्त

द्वितीय अध्याय

प्रथमपाद प्रारंभ

स्मृत्यनवकाशदोष प्रसंग इति चेन्नान्यस्मृत्यनवकाशदोष प्रसंगात्
।२।१।१।।

प्रथमाध्याये वेदांत वाक्यानां विवादास्पदानां ब्रह्मपरत्वेन समन्वयः प्रतिपादितः । अधुना श्रुतिस्मृत्यविरोधः प्रतिपाद्यते । भ्रान्तिमूलतया सर्वं समयानामयुक्तितः, न तद् विरोधात् वचनं वैदिक शंक्यतांव्रजेत् ।

प्रथम अध्याय में विवादास्पद वेदांत वाक्यों का ब्रह्म परक समन्वय किया गया । अब श्रुति स्मृतियों के अविरोध का प्रतिपादन करेंगे । श्रुति-विरुद्ध स्मृतियां भ्रांतिमूलक हैं, उनकी सभी युक्तियाँ असंगत हैं, उनका विरोध करने से वैदिक वचन संशयित होगा, ऐसा नहीं समझना चाहिये ।

श्रुतिविप्रतिषेधस्त्ववश्यं प्रतिविधेयः । प्रथम चतुर्थपादे सर्वथानुपयोगे प्रतिपादिते स्मृति प्रतिपादिते स्मृतित्ववचनेन प्रामाण्ये च यावत् तदा-प्रामाण्यं न प्रतिपाद्यते तावत् तद्विरोधः परिहर्त्तुमशक्य इति तन्निराकरणार्थं प्रथमतः सूत्रत्रयमाह । तुल्य बलानां परस्परविरोधे न प्रकारान्तरस्थितिरिति ततोयुक्तया श्रुति विप्रतिषेध परिहारः । ततो द्वितीयेपादे वेद बोधकत्वाभा-वेऽपि तैरपि स्वातंत्र्येण कश्चन् पुरुषार्थः सेत्स्यतीत्याशंक्य बाह्याबाह्यमतान्ये-कीकृत्य निराकरोति । भ्रान्तेस्तुल्यत्वात् । ततः सम्यग् वेदार्थं विचारामेव वैदिकपदार्थानां क्रमस्वरूप विचारः पादद्वयेन । अतः संपूर्णेनाप्यध्यायेन अविरोधः प्रतिपाद्यते ।

श्रुति से विपरीत मतों का प्रतीकार आवश्यक है, प्रथम और चतुर्थपाद श्रुतिविरोधी मतों की अनुपयोगिता बतलाई गई है । स्मृति के प्रतिपादन

में, वैराग्य विविक्तात्मज्ञान आदि में स्मृतित्व वचन की प्रमाणिकता जब मानते हैं, तब विरुद्ध स्मृतियों के इन विचारों को अप्रामाणिक नहीं कह सकते, इसलिए उनके विरोध का परिहार नहीं हो सकता, ऐसी मान्यता के निराकरण के लिए प्रथम के तीन सूत्रों की योजना की गई है। तुल्य बल वाली श्रुतियों में जब परस्पर विरोध होता है तब किसी भी प्रकार उसका समाधान संभव नहीं होता उस स्थिति में युक्ति से श्रुति विरुद्धता का परिहार किया जाता है। द्वितीयपाद में, बोधकत्व का अभाव होने पर भी उन सांख्य आदि मतों से किसी प्रकार के विशिष्ट पुरुषार्थ की सिद्धि संभव है ऐसा संशय करते हुए बाह्य अबाह्य मतों को एकत्र कर निराकरण करते हैं। ऐसा वाह्य अबाह्य मतों में समान भ्रान्ति होने पर ही किया गया है। दो पादों से, भली प्रकार से वेदार्थ विचार करने के लिए वैदिक पदार्थों के क्रम स्वरूप पर विचार किया गया है। इस प्रकार संपूर्ण अध्याय से अविरोध का प्रतिपादन किया गया है।

कपिलादिमहर्षिकृतस्मृतेर्न मन्वादिवदन्यत्रोपयोगः, मोक्षैकोपयोगित्वात्। तत्राप्यनवकाशे वैयर्थ्यापत्तेरिति चेन्न। कपिलव्यतिरिक्त शुद्ध ब्रह्मकारण-वाचक स्मृत्यनवकाशदोष प्रसंगः। "अहं सर्वस्य जगत प्रभवः प्रलयस्तथा" इति।

कपिलादि महर्षियों की स्मृतियों का मनु आदि स्मृतियों की तरह कोई और भी उपयोगिता नहीं है, एक मात्र मोक्ष तत्त्व का विवेचन करने के कारण ही मनु आदि की उपयोगिता मानी गई है। यदि कहें कि सांख्य आदि को मान्यता न दी जायेगी तो स्मृतियों की उपयोगिता ही न होगी, सो बात नहीं है कपिल से भिन्न शुद्ध ब्रह्म कारण वाचक स्मृतियों की मान्यता सदा होगी। जैसी कि—"अहं सर्वस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा" आदि स्मृति वाक्यों की मान्यता है।

इतरेषां चानुपलब्धेः ।२।१।२।।

प्रकृति व्यतिरिक्तानां महदादीनां लोके वेदे चानुपलब्धेः। सांख्य स्मृति इसलिए वैदिकों के लिए मान्य नहीं है कि—वेद और स्मृति कहीं भी, प्रकृति के अतिरिक्त महत् आदि का वर्णन नहीं मिलता।

एतेन योगः प्रत्युक्तः ।२।१।३।।

सांख्य स्मृति निराकरणेन योगस्मृतिरपि निराकृता दृष्टव्या योगस्य वैदिकत्वशंकया भेदेन निराकरणम्।

सांख्य स्मृति के निराकरण से योगस्मृति भी निराकृत मान ली गई। योग तो वैदिक तत्त्व है ऐसा संशय होता है तो वह केवल प्रधान कारणवाद मानने से निराकृत है।

२ अधिकरण

न विलक्षणत्वादन्यस्य तथात्वं च शब्दात् ।२।१।४।।

बाधकोऽयं तर्कः। अस्य जगतो विलक्षणत्वादचेतनत्वाच्चेतनं न कारणम्। विलक्षणत्वं च शब्दात्—"विज्ञातं चाविज्ञातं च" इति। प्रत्यक्षस्य भ्रान्तित्वं मन्यमानस्येदं वचनम्॥

प्रायः यह तर्क बाधक होता है कि—यह विलक्षण और अचेतन है, इसलिए इसका कारण चेतन नहीं हो सकता। जगत की विलक्षणता "विज्ञातं चाविज्ञातं च" इत्यादि वाक्यों में स्पष्ट कही गई है। प्रत्यक्ष में भ्रान्ति उत्पन्न करने वाला यह वाक्य है।

अभिमानिव्यपदेशस्तु विशेषानुगतिभ्याम् ।२।१।५।।

"मृदब्रवीत् आपोऽब्रुवन्, तत्तेज ऐक्षत्, तेहवाचमूचुस्त्वं न उद्गाये ति" एवमादिश्रुतिभिर्भूतेन्द्रियाणां चेतनत्वं प्रतिपाद्यत इत्याशंक्य निराकरोति तु शब्देन, तत्तदभिमानिन्य एव देवतास्तथा वदंति। कुतः? वेद एव "विज्ञातं चाविज्ञातं च" इति चेतनाचेतन विशेषोक्तेः। अनुगतत्वाच्च। "अग्निर्वाग् भूत्वा मुखं प्राविशद्" इत्येवमादिविशेषानुगतिभ्यामभिमानित्वमित्यर्थः। देवता पदं च श्रुत्यंतरे।

"मिट्टी बोलती है, जल बोलते हैं, तेज देखता है" इत्यादि श्रुतियों से क्या भूतेन्द्रियों की चेतनता का प्रतिपादन किया गया है? इस आशंका का निराकरण करते हैं कि उनके अभिमानी देवता ही बोलते हैं। वेद से ही उसका निर्णय होता है— "विज्ञातंचाविज्ञातंम्" इत्यादि में चेतन अचेतन दोनों का उल्लेख किया गया है। अनुगत भाव भी बतलाया गया है— 'अग्नि वाणी होकर मुख में प्रविष्ट हुआ" इत्यादि में अनुगति कही गयी है, इससे भी अभिमानित्व की बात निश्चित होती है। "हंताहं देवतास्तिस्रो"

इत्यादि दूसरी श्रुति में स्पष्टतः देवता पद अभिमानी रूप से वर्णन किया गया है।

दृश्यते तु ।२।१।६।।

परिहरति। तुशब्दः पक्षं व्यावर्त्तयति। दृश्यते हि कार्यकारणयोर्वैरूप्यम्। केशगोमयवृश्चिकादौ चेतनादचेतनोत्पत्ति निषेधे तदंशस्यैव निषेधः। तुल्यांशसम्पत्तिश्चेत् प्रकृतेऽपि सदशः।

इस सूत्र में तु शब्द का प्रयोग करते हुए पूर्वपक्ष का निराकरण करते हुए परिहार करते हैं--कहते हैं कि कार्य कारण में वैरूप्यता प्रत्यक्ष देखी जाती है। जैसे शरीर से केश, गोबर से कीड़े इत्यादि, यदि चेतन से अचेतन की उत्पत्ति का निषेध करेंगे तो उसके अंश का भी निषेध मानना पड़ेगा। यदि तुल्यांश में ही संयोग की बात मानते हो तो प्रकृति में भी सदंश विद्यमान है। इसलिए तुम्हारी बात संगत नहीं है।

असदिति चेन्न प्रतिषेधमात्रत्वात् ।२।१।७।।

श्रुतौ कारणत्वेनासदुक्ति इति चेन्न, प्रतिषेधार्थमेव वचनम्। कथमसतः सज्जायेतेति। कार्यस्यवा पूर्वविप्रतिषेधो ब्रह्मकारणत्वाय।

यदि कहो कि श्रुति में कारण रूप से असत् का भी उल्लेख है, सो वह केवल प्रतिषेध के लिए है, उसका तात्पर्य है कि असत् से सृष्टि कैसे हो सकती है? ब्रह्म को कारण बतलाने के लिए कार्य का पूर्व विप्रतिषेध किया गया है।

अपीतौ तद्वत् प्रसंगादसमंजसम् ।२।१।८।।

पूर्वपक्षमाह। अपीतिर्लयः। कार्यस्य कारणलयं तद्वत् प्रसंगः। स्थौल्य-सावयवत्वपरिच्छिन्नत्वाशुद्धत्वादिधर्मसम्बन्धावश्यकत्वादसमंजसम् ब्रह्मकारण-वचनम्।

पूर्वपक्ष कहता है कि—कार्य का जब कारण में लय होता है तो फिर वही समस्या सामने आती है; स्थूल सावयव, परिच्छिन्न अशुद्ध सृष्टि; उस सूक्ष्म निरवयव, अपरिच्छिन्न शुद्ध ब्रह्म से कैसे लीन होती है? यदि होती है तो परमात्मा उसके सम्बन्ध से दूषित होता है, इस प्रकार ब्रह्मकारण वाद में असमंजस उपस्थित होता है।

न तु दृष्टान्त भावात् ।२।१।९॥

नैवास्मदीयेदर्शने किंचिदसामंजस्यमस्तीति तु शब्देन परिहरति। स्वपक्षस्थापन रपक्षनिराकरणयोर्विद्यमानत्वान्नतुवचनम् । तत उत्पन्नस्य तत्र लये न कार्यावस्था धर्मसंबधः शरावरुचकादिषु प्रसिद्धः। भवता परं न दृष्टान्तोऽस्ति ।

हमारे दर्शन में थोड़ा भी असामंजस्य नहीं है अपने पक्ष के स्थापन और पर पक्ष के निराकरण का भाव जब मन में रहता है तो सही बात नहीं निकलती। उत्पन्न वस्तु जब अपने कारण में लय होती है तब कार्यावस्था की विशेषताओं का उससे कोई संबंध नही रहता, मिट्टी के प्याले और सुवर्ण के आभूषण आदि में ये बात प्रत्यक्ष देखी जा सकती है। हमारी दृष्टि में ये दृष्टान्त परिलक्षित होते हैं, क्या आपकी समझ में नहीं आते ?

स्वपक्ष दोषाच्च ।२।१।१०॥

स्वपक्षे चैते प्रतिवादिनः साधारणादोषाः । निर्विशेषात् प्रधानात् सविशेषस्यकार्यता, तस्योत्पत्तिः, लये तद्धर्म सबंधः। असद् कार्यवाद प्रसंगः। तथैव कार्योत्पत्तौ कारणाभावेन नियमाभावः। भावे वा मुक्तानामपि पुनर्बन्ध प्रसंगः।

ये प्रतिवादी जो दोष हमारे मत में दिखला रहे हैं ये दोष इनके अपने मत में साधारण रूप से विद्यमान हैं। निर्विशेष प्रधान से सविशेष कार्य का होना, कार्य की उत्पत्ति और लय में उसके धर्म का सबध, असद् से कार्य की उत्पत्ति कैसे संभव है ? कारण का तो अभाव ही रहेगा, कारण के बिना कार्य होने का नियम कहाँ है ? यदि ऐसा हो भी तो जो मुक्त हो चुके हैं वे पुनः बंधन में आजावेंगे। इत्यादि।

तर्काप्रतिष्ठानादप्यन्यथानुमेयमितिचेदेवमप्यविमोक्षप्रसंगः २।१।११॥

वेदोक्तेऽर्थे शुष्कतर्केण प्रत्यवस्थानमयुक्तं, तर्कस्याप्रतिष्ठानात्। तर्कों नाम स्वोत्प्रेक्षिता युक्तिः। सा एकोक्ता नान्यैरंगीक्रियते। स्वतंत्राणा मतिभेदाद् वस्तुनो द्वैरूप्यासंभवान्नियामकाभावाच्च, अतो न तर्कस्य प्रतिष्ठा। पूर्वपक्षिणः परिहारः। अप्यन्यथाऽनुमेयमिति चेत्। एवमपि अन्यथा वयमनुमास्यामहे। यथा नाप्रतिष्ठादोषो भविष्यति। नहि कोऽपि तर्कः प्रतिष्ठितो नास्तीति वक्तुं शक्यते। व्यवहारोच्छेद प्रसगात्।

"आर्षधर्मोपदेशंच धर्मशास्त्राविरोधिना, यस्तर्केणानुसंधत्ते सधर्म वेद-नेतर:" इतिस्मृते:। सावद्यतर्कं परिहारेण निरवद्यस्तर्क: प्रतिपत्तव्यो भवतीति-चेत् एवमप्यविमोक्ष प्रसंगः। ब्रह्मवादिनो निर्दुष्टतर्क सद्भावेऽपि प्रकृति-वादिनस्तर्कस्य दोषाविमोक्ष प्रसंगः मूलनियमाभावाद् वैमत्यस्य विद्यमान-त्वात्।

वेद सम्मत अर्थ में, तर्क द्वारा समाधान करने की चेष्टा अनुचित है, क्योंकि तर्क का कोई महत्व नहीं माना जाता। अपनी बुद्धि से जो युक्ति प्रस्तुत की जाती हैं उसे ही तो तर्क कहते हैं। वह एक व्यक्ति की सूझ होती है, उसे और लोग तो स्वीकारते नहीं। ऋषियों के स्वतंत्र मति भेद से, वस्तु तो दो हो नहीं सकती उसका सही निर्णय करे भी कौन? इसलिए तर्क की कोई प्रतिष्ठा नहीं है। यही पूर्व पक्ष का परिहार है। यदि कहें कि—दूसरा ही अनुमान किया जायगा, तब तो हम भी दूसरा अनुमान कर सकते हैं, जिससे अप्रतिष्ठा दोष नहीं होगा, न कोई ये कह सकेगा कि तर्क की प्रतिष्ठा नहीं है। किन्तु शास्त्र व्यवहार की परपरा का उच्छेद हो जावेगा। स्मृति का वचन है कि—"ऋषियों के धर्मोपदेश यदि धर्म शास्त्र से अविरुद्ध हों, और वह तर्क से भी समाधित हो सकें वही धर्म हैं, दूसरा कुछ नहीं।" यदि कहें कि गलत तर्क के परिहार से सही तर्क की प्रतिपत्ति करने में क्या हानि है? ऐसा करने में भी तर्क से छुटकारा नहीं मिल सकता, ब्रह्मवादियों के दोष रहित तर्कों के होते हुए भी, प्रकृतिवादियों के तर्क का दोष पीछे पड़ ही जाता है, उससे छुटकारा नहीं मिलता क्योंकि—तर्क में मूलनियम पर तो विचार होता नहीं, वैमत्य की भावना ही बनी रहती है [अर्थात् खंडन करने का ही आग्रह रहता है, इसलिए वस्तु का निर्णय कैसे संभव है?]

एतेन शिष्टा परिग्रहा अपि व्याख्याताः।२।१।१२॥

सांख्यामतस्य वैदिकप्रत्यासन्नत्वात् केषांचिच्छिष्टानां परिग्रहोऽप्यस्ति। अणुमायाकारणवादास्तु सर्वथा न शिष्टैः परिगृह्यंत इति तेषां तर्काः पूर्वोक्त न्यायेन सुतरामेव निरस्ता वेदितव्याः।

सांख्यामत वैदिकमत से अधिक मिलता जुलता है इसलिए कोई इसे शिष्टों के मत में ग्रहण करते हैं, पर जो इसे स्वीकारते है वे अणुमायाकारण वादी ही पूर्ण रूप से शिष्टों में ग्राह्य नहीं हैं इस लिए उनकी मान्यता का क्या महत्व है? उनके तर्क भी, उक्त विचारानुसार उपेक्ष्य हैं।

भोक्त्रापत्तेरविभागश्चेत् स्याल्लोकवत् ।२।१।१३॥

कारणदोषं परिहृत्य कार्यदोष परिहारार्थमारम्भः । भोग्यस्य भोक्त्रापत्तिः ब्रह्मणो निर्विशेषस्य कारणत्वाद् भोक्तुर्भोग्यत्वं भोग्यस्य च भोक्तृत्वमापद्यते । अतो न विभाग इति चेत्; स्याल्लोकवत् । यथा लोके कटक कुंडलादीनां सुवर्णकारणत्वेन सुवर्णानन्यत्वेऽपि न कटकस्य कुण्डलत्वमेवं न भोग्यस्य भोक्तृत्वम् ।

कारण दोष का परिहार करके अब कार्य दोष का पहिार प्रारम्भ करते हैं । कहते हैं कि– भोग्य जगत की भोग्यता कारण में प्रसक्त होगी अर्थात् निर्विशेष कारण ब्रह्म से ही ये भोग्य भोक्ता और भोग तीनों जागतिक तत्व उत्पन्न हुए हैं, इसलिए इनका आश्लेष परमात्मा में भी होगा, क्यों कि वह इनसे अलग तो है नहीं । इसका परिहार करते हैं कि जैसे कटक कुंडल आदि आभूषण सुवर्ण से ही बनते हैं, सुवर्ण से भिन्न नहीं हैं फिर भी कटक को कुंडल नहीं कह सकते, इसी प्रकार भोग्य का भोक्तृत्व संभव नहीं है ।

तदनन्यत्वमारम्भण शब्दादिभ्यः ।२।१।१४॥

श्रुति विरोधं परिहरति । "वाचारम्भणं विकारो नामधेयंमृत्तिकेत्येव सत्यम्" इति । तत्र विकारो वाङ्मात्रेणैवारभ्यते न वस्तुत इत्यर्थः प्रतिभाति । तथा च सति कस्य ब्रह्म कारणं भवेत् ? अतः श्रुति वाक्यस्यार्थमाह- आरंभणशब्दादिभ्यस्तदनन्यत्वं प्रतीयते । कार्यस्यकारणानन्यत्वं न मिथ्यात्वम् ।

श्रुतिवाक्यों मे प्रतीत होने वाली विरुद्धता का परिहार करते है । "वाचारम्भणं विकारो नामधेयं" इत्यादि वाक्य से तो ऐसा प्रतीत होता है कि– विकार केवल नाममात्र का है, वास्तविक नहीं । इस स्थिति में ब्रह्म किसका कारण होगा ? इस पर श्रुति का अर्थ करते हैं कि– आरंभण शब्द से अनन्यता की प्रतीति होती है अर्थात् कार्य की कारण से अनन्यता है । मिथ्यात्व नहीं है ।

ये पुर्नमिथ्यात्वं तामसबुद्धयः प्रतिपादयंति तैर्ब्रह्मवादाः सूत्र श्रुतिनाशनेन तिलाप कृताः वेदितव्याः । अन्तःप्रविष्टचोरवधार्थमेवैष आरम्भः । अलौकिक प्रमेयं सूत्रानुसारेणैव निर्णय उचितः न स्वतन्त्रतया किंचित् परि-

कल्पनम् । तर्काप्रतिष्ठानादिति निराकृतमेव । न वास्मिन्नपि सूत्रे मिथ्या-त्वार्थः संभवति । एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानोपक्रमबाधात् प्रकरणविरोधश्च । अयाविरोधभयपरित्यागेनैकमिदंसूत्रमन्यथा योजयन्नतिधृष्ट इत्यलं विस्तरेण ।

जो तामस बुद्धि वाले मिथ्यात्व का प्रतिपादन करते हैं; वे ब्रह्मवाद के प्रतिपादक श्रुतिसूत्रों को नष्ट करने पर उतारू हैं उन्हें तो तिलांजलि देने में ही सुख है। वे तो वध करने योग्य ऐसे चोर हैं जो घर में घुस कर विश्वसनीय बनकर चोरी करते हैं। अलौकिक तत्व पर तो कम से कम सूत्र के अनुसार ही निर्णय करना उचित है थोड़ी भी स्वतंत्र परिकल्पना करना ठीक नहीं। तर्क की कोई प्रतिष्ठा नहीं इस नियम से ये भी निराकृत हो जाते हैं। इस सूत्र में मिथ्यार्थता कभी भी संभव नहीं है, ऐसा करने से "एक विज्ञानेन सर्वविज्ञान" वाले नियम वाक्य में बाधा होगी तथा प्रकरण से विरुद्धता होगी। अविरोध त्रय के भय का परित्याग करके इस एक सूत्र की अन्यथा योजना करना अतिधृष्टता हैं, इससे अधिक और क्या कहें।

भावे चोपलब्धेः २।१।१५॥

भाव एव विद्यमान एव घटे घटोपलब्धिः । नाभावे चकारान्मृत्यकेत्येव-श्रुतिः परिगृहीताः । वाङ्मात्रेण चोपलम्भे मिथ्यैवात्र घटोप्यस्तीत्युक्तं उपलभ्येत । इदंसूत्रं मिथ्यावादिना न ज्ञातमेव अतएव पाठान्तर-कल्पनमिति ।

घट में घट का भाव होने से ही घटोपलब्धि होती है अभाव से नहीं। सूत्रस्थ चकार "मृत्यकेत्येवसत्यम्" श्रुति की ओर इंगित करता हुआ उक्त तथ्य की ही पुष्टि कर रहा है। "वाङ्मात्रेण" से यदि मिथ्या अर्थ लेंगे तो यह घट मिथ्या है यही कहना पड़ेगा ये सूत्र मिथ्यावाद का ज्ञापक नहीं है। ऐसा अर्थ करने के लिए पांठान्तर की कल्पना करनी पड़ेगी।

सत्वाच्चावरस्य ।२।१।१६॥

अवरस्य प्रपंचस्य सत्वात् त्रैकालिकत्वात् ब्रह्मत्वम् । "सदेव सोम्येदमग्र आसीत्" "यदिदं किंच तत्सत्यम् इत्याचक्षत" इति श्रुतेः ।

ये सारा अवर प्रपंच सत्व और त्रैकालिक होने से ब्रह्मस्वरूप है। "हे सोम्य ! ये पहिले सत् ही था" ये जो कुछ भी है वह सत्य है ऐसा समझो" ऐसा श्रुति का ही प्रमाण है।

असद्व्यपदेशान्नेतिचेन्न धर्मान्तरेणवाक्यशेषात् ।२।१।१६।।

"असद् वाइदमग्र आसीत्" इति श्रुत्या प्रागुत्पत्तेः कार्यस्यअसत्वं बोध्यत इति चेन्न । अव्याकृतत्वेन धर्मान्तरेण तथाव्यपदेशः । कुतः ? वाक्य-शेषात् । "तदात्मानंस्वयमकुरुत" इति स्वस्यैव क्रियमाणत्वात्, इदमासीत्पद प्रयोगाच्च ।

यदि कहें कि—" यह पहिले असत् ही था" इस श्रुति से तो उत्पत्ति के पूर्व कार्य का असत्व ज्ञात होता है ? तो आपका संशय व्यर्थ है, ये असत्व की बात, अव्यक्त और दूसरे रूप में होने की ओर इंगन कर रही है । उक्त वाक्य के अंत में स्पष्ट रूप से "उसने उस समय अपने को स्वयं व्यक्त किया" इत्यादि से स्वयं की क्रियमाणता बतलाई गई है" "इद" और "आसीत्" पद भी सत्ता का ही द्योतन कर रहे हैं ।

युक्तेः शब्दान्तराच्च ।२।१।१८।।

युक्तिस्तावत् – समवेतमेव कार्यं सदुत्पाद्यत इति संबंधस्य द्विनिष्ठत्वा-न्नित्यत्वाच्च कारणान्तरेणापि परंपरया संबंधः असंबद्धोत्पत्तौ तु मिथ्यात्वमेव । प्रवृत्तिस्त्वभिव्यक्त्यर्थमिति । शब्दान्तरं सच्छाब्दादात्मशब्दः "आत्मानं स्वमकुरुत" इति ।

उक्त बात पर युक्ति देते हैं कि—समस्त सत्तात्मक जगत एक साथ उत्पन्न होता है ऐसा मानें तो संबंध की द्विनिष्ठता और अनित्यता होनी है जिससे कारणान्तर से भी परम्परित संबंध निश्चित होता है, असंबद्ध उत्पत्ति में तो मिथ्यात्व है ही । फिर तो अभिव्यक्ति की प्रवृत्ति ही व्यर्थ सिद्ध होगी । इसलिए सत् शब्द को आत्म शब्द का पर्याय मानना चाहिए "आत्मानं स्वयमकुरुते "वाक्य सत् शब्द के पर्याय का ही वाचक है ।

पटवच्च ।२।१।१९।।

यथा संवेष्टितः पटो न व्यक्तं गृह्यते, विस्तृतस्तु गृह्यते, तथाऽविर्भावा-नाविर्भावेन जगतोऽपि ।

जैसे कि—लपटा हुआ कपड़े का थान अच्छी तरह समझ में नहीं आता, फैलाने पर ही समझ में आता है, वैसे ही, यह जगत भी आविर्भूत होने से समझ में आता है ।

यथा च प्राणादिः ।२।१।२०।।

यथा प्राणापानानां नियमने जीवनमात्रम् अनियमने आकुंचनादि । नैतावता प्राणभेदः । पूर्वमसत्वं वा । तथा जगतोऽपि ज्ञानक्रियाभेदात्सूत्र-द्वयम् ।

जैसे कि—प्राण अपान आदि का नियमन जीवन धारण के लिए होता है. अनियमन से आकुंचन आदि होता है, इससे प्राणों में कोई भेद है या ये पहिले नहीं थे, ऐसा नहीं कह सकते । उसी प्रकार जगत सृष्टि की बात है । ज्ञान और क्रिया के भेद से दो सूत्रों में समझाया गया है ।

इतरव्यपदेशाद् हिताकरणादिदोषप्रसक्तिः ।२।१।२१।।

ब्रह्मणो जगत्कारणत्वे, इतरस्य जीवस्यापि ब्रह्मत्वात् तद् हितं कर्तव्यम् । तन्नकरोति इति तदकरणादि दोषप्रसक्तिः । "तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्" अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि,' इति तस्यैव जीव-व्यपदेशात् ।

ब्रह्म, यदि जगत् का कारण है तो, उसका जो दूसरा रूप जीवात्मा है, उसका हित करना ब्रह्म का कर्तव्य है, यदि वह ऐसा नहीं करता तो उसके ऊपर इसका लाञ्छन है क्योंकि—"उसने सृष्टि कर उसमें प्रवेश किया" इस जीवात्मा के आत्मा में प्रवेशकर नामरूप का प्रकाश करूं" इत्यादि वाक्य जीव को उसी का स्थान बतलाते हैं ।

अधिकं तु भेदनिर्देशात् ।२।१।२२।।

तुशब्दः पक्षं व्यावर्त्तयति । यदि ब्रह्म तावन्मात्रं भवेत् तदायं दोषः तत पुनर्जीवाज्जगतश्चाधिकम् । कुतः ? भेदनिर्देशात् । द्रष्टव्यादि वाक्येषु कर्मकर्तृव्यपदेशात् विज्ञानानंदव्यपदेशाद् वा । न हि संपूर्णोंऽशस्य हितं नियमेन करोति । सर्वेन्द्रियव्यापाराभावप्रसंगात् । स्वलीलयैकं तु करोत्येव ।

सूत्रस्थ तु शब्द, उपर्युक्त सूत्र में कहे गए पक्ष को निराकृत करता है । कहते हैं कि—यदि ब्रह्म उतना मात्र ही होता तब उक्त दोष हो सकता था, जीव से अधिक जगत है, वह उसका विशाल रूप है । जगत जीव और ब्रह्म में बड़ी विभिन्नता है जैसा कि—"आत्मा वारे द्रष्टव्य" इत्यादि वाक्य में

स्पष्ट कर्म कर्त्तृ का भेद तथा "विज्ञानानन्द" में ज्ञाता ज्ञेय का भेद कहा गया है। जो जीव जितना कर्त्तव्य करता है तदनुसार फल पाता है, संपूर्ण व्यक्तित्व, अंश का हित नियमत: कर भी नहीं सकता, जैसे कि—मनुष्य अपने अंश केश नख आदि को काटता है, क्या उसे अहित कहा जावेगा ? यदि ऐसा मान लेंगे तो, इन्द्रियों के कार्य ही रुक जावेंगे [अर्थात् बोलने में सहस्रों कीटाणुओं की हत्या होती है, चलने फिरने में भोजन करने में आदि अनेक कर्मों में जीव हिंसा होती है क्या उसे अहित कहते हैं ?] परमात्मा अपनी लीला से हित और अहित को एक कर देते हैं।

अश्मादिवच्च तदनुपपत्तिः ।२।१।२३।।

पार्थिवत्वाविशेषेऽपि हीरमाणिक्यपाषाणानां पलाशचम्पकचन्दनानां उच्चनीचत्वमेवं जीवस्यांशत्वाविशेषेऽपि ब्रह्मादिस्थावरान्तानां उच्चनीचत्वम्। कार्यवैलक्षण्यं तदनुरोधश्चदर्शितः।

सामान्यत: सभी वस्तुएँ पार्थिव हैं किन्तु हीरा माणिक्य और साधारण पत्थर तथा पलाश, चम्पक और चंदन आदि में ऊँचा नीचा भाव है वैसे ही सारे जीव परमात्मा के अंश हैं पर ब्रह्मा से लेकर साधारण जीवों तक में ऊँचा नीचा भाव है। इस प्रकार जगत की जो विलक्षणता है वह, उनकी अधीनता का द्योतक है।

उपसंहार दर्शनान्नेतिचेन्न क्षीरवद्धि ।२।१।२४।।

ब्रह्मैव केवलंजगतकारणमित्युक्तम्। तन्नोपपद्यते। कुलालादेश्चक्रादि-साधनान्तरस्योपसंहारदर्शनात् संपादनदर्शनादिति चेन्न, क्षीरवद्धि, यथाक्षीरं कर्त्तारमनपेक्ष्य दधिभवनसमये दधि भवति, एवमेव ब्रह्मापि कार्यसमये स्वयमेव सर्वं भवति।

ब्रह्म को ही एकमात्र जगत् का कारण कहा गया है। ऐसा नहीं हो सकता, क्योंकि घट के निर्माण में चक्र आदि अनेक साधनों की आवश्यकता होती है, बड़ी निगरानी और कुशलता के बाद घट का निर्माण होता है। ये तर्क सृष्टि के संबंध में नहीं किया जा सकता, सृष्टि तो दूध से होने वाले दही के समान परिणाम वाला है जैसे कि दूध बिना किसी अपेक्षा के स्वयं ही दही की अवस्था को प्राप्त हो जाता है, वैसे ही ब्रह्म भी सृष्टि के समय स्वयं जगत रूप हो जाता है।

देवादिवदपि लोके । १।२५॥

स्वतोऽभिन्नकरणे दृष्टान्तः, यथा देवर्षिपितरो बाह्यनिरपेक्षा एवं स्वयोगबलेन सर्वंकुर्वन्ति, एवं ब्रह्माप्यनपेक्ष्य तत्समवायं स्वतएव सर्वंकरोति ।

दही के दृष्टान्त पर संशय होता है कि दूध को जमाने में जामन की अपेक्षा होती है सृष्टि परिणाम में समवाय कौन है ? उस पर दृष्टान्त देते है कि– जैसे देव ऋषि पितर आदि निरपेक्ष भाव से अपने योग बल से सब कुछ कर लेते हैं वैसे ही ब्रह्म भी निरपेक्ष होकर सब कुछ करते हैं ।

कृत्स्नप्रसक्तिर्निरवयवत्व शब्दकोपो वा । २।१।२६॥

यद्येकमेव ब्रह्म स्वात्मानमेवं जगत् कुर्यात् कृत्स्नं ब्रह्मैकमेव कार्यं भवेत् । अंशांशभेदेन व्यवस्था तथासति निरवयवत्व श्रुतिविरोधः, "निष्कलं निष्क्रियंशान्तम्" इति ।

यदि एक ही ब्रह्म स्वयं जगत रूप हो जाता है तो कहना चाहिए कि ब्रह्म ही कार्य है, इसके मतलब जगत और ब्रह्म में अंशांश भेद है, किन्तु ऐसा मानने से "निष्फल निष्क्रिय शान्त" आदि जो ब्रह्म परक श्रुति है, उसमें विरोधाभास होता है ।

श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात् । २।१।२७॥

तु शब्दः पक्षं व्यावर्त्तयति । श्रुतेः श्रूयत एव द्वयमपि न च श्रुतं युक्त्या बाधनीयम् , शब्दमूलत्वात्-शब्दैकसमधिगम्यत्वात् । अचिन्त्याःखलु ये भावा-न तांस्तर्केण योजयेत्, अर्वाचीनविकल्पविचारकुतर्कप्रमाणाभासशास्त्र कलिलान्तः करण दुरवग्रहवादिनां वादानवसरे सर्वभवनसमर्थब्रह्मणि विरोधा भावाच्च । एवं परिहृतेऽपि दोषे स्वभक्त्याऽनुपपत्तिमुद्भाव्य सर्वसम्भवं वदन् भक्तिः सद्भिरुपेक्ष्यः ।

सूत्रस्थ तु शब्द उपर्युक्त पक्ष का निराकरण करता है । कहते हैं कि– श्रुति को युक्ति से नहीं काट सकते, वह शब्दमूलक है, उसे तो शब्द के सहारे ही समझा जा सकता है, श्रुति के शब्दों के जो दुरूह अचिन्त्य भाव हैं उनमें तर्क की योजना नहीं करनी चाहिए । जो वस्तु प्रकृति से परे होती है वह अचिन्त्य होती है । नए नए विकल्प विचार कुतर्क और प्रमाणों से जो

शास्त्रों के अन्तः करण को दूषित करके दुराग्रह पूर्वक वाद विवाद करते हैं, यह शोभा की बात नहीं है। सबकुछ होने में समर्थ ब्रह्म के संबंध में ये विरोधी भाव हैं। निर्दोष ब्रह्म में, अपनी मति से संशयित भाव रखने, वाले, शास्त्रीय मर्यादा का भंग करने वाले, मंदमति महानुभाव, साधु पुरुषों से उपेक्ष्य है।

आत्मनि चैवं विचित्राश्च हि। २।१।२८॥

सृष्टौ देशकालापेक्षापि नास्ति, आत्मन्येव सृष्टत्वात्। देशकालसृष्टाप्यात्मन्यैव साधिकरणस्य सृष्टत्वाच्च। बहिरन्तश्च जगत् सृष्टिर्वा आह विशेषाभावेन, "अनन्तरोबाह्य" इति। विरोधाभावो विचित्रशक्तियुक्तत्वात् सर्वभवन समर्थत्वाच्च।

सृष्टि में देशकाल आदि की भी अपेक्षा नहीं होती, जैसे कि आन्तरिक स्वप्न सृष्टि में इनकी अपेक्षा नहीं होती जैसा कि स्वप्न सृष्टि का वर्णन आता है– "न तत्र रथा न रथ योगा न पंथानो भवंति अथ रथान् रथ योगान् पथः सृजन्" इत्यादि। इसी प्रकार बाह्य सृष्टि में भी परमात्मा को देश कालादि की अपेक्षा नहीं होती, बाह्याभ्यंतर सृष्टि की एकता को ही "अनंतरोबाह्य" इत्यादि वाक्य में बतलाया गया है। भगवान में विचित्र शक्ति और सबकुछ होने का सामर्थ्य है इसलिए, ऐसा होना असंभव नहीं है।

स्वपक्ष दोषाच्च। २।१।२९॥

प्रधानवादिनोऽपि सर्वपरिणामसावयवत्वाऽनित्यत्वादिदोषो दुष्परिहरः। युक्तिमूलत्वाच्च तस्य। अचिन्त्यकल्पनायां प्रमाणाभावाच्च।

प्रधान कारण वाद में भी सारे परिणाम सावयव और अनित्यता आदि दोषों वाले हैं क्या इनको अन्यथा किया जा सकता है? ये मत तो युक्ति मूलक है, इसमें कोई युक्ति क्यों नहीं भिड़ाते? विचारे करे भी क्या, अचिंन्त्य कल्पना में उन्हे प्रमाण मिले भी कहाँ?

सर्वोपेता च तद्दर्शनात् ।२।१।३०॥

सर्वशक्तिभिरुपेता उपगनः; चकारात् सत्यादिगुणयुक्तश्च कुतः? तद्दर्शनात्, तथा वेदे दृश्यते "यः सर्वज्ञः सर्वशक्तिः सर्वकर्त्ता, सर्वकामः" इत्यादि।

परमात्मा सब शक्तियों से संपन्न और सत्यादि गुण संपन्न हैं, वेद में ऐसा ही उनके स्वरूप का वर्णन मिलता है जैसे कि- -"जो सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान, सर्वकर्त्ता और सर्वकाम है" इत्यादि ।

विकरणत्वान्नेति चेत्तदुक्तम् ।२।१।३१।।

कर्त्ता इन्द्रियवान् लोके । ब्रह्मणो निरिन्द्रियत्वात् कथं कर्त्तृत्वमिति चेन्न । अस्य परिहार: पूर्वमेवोक्त:, श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वादित्यत्र । अनवगाह्य माहात्म्ये श्रुतिरेव शरणं, नान्या वाचोयुक्तिरिति ।

यदि कहो कि—लोक में तो इन्द्रियवान ही कर्त्ता होता है ब्रह्म के तो इन्द्रियाँ हैं नहीं वह कर्त्ता कैसे हो सकता है ? इसका परिहार हम "श्रुतेस्तु शब्द मूलत्वात्" सूत्र में कर चुके हैं । दुरूह माहात्म्य में श्रुति ही प्रमाण है, उसमें वाणी की युक्ति नहीं चलेगी ।

न प्रयोजनवत्वात् ।२।१।३२।।

न ब्रह्मजगत्कारणं, कुत: ? प्रयोजनवत्वात्, कार्यं हि प्रयोजनवद् दृष्टं लोके । ब्रह्मणि पुन: प्रयोजनवत्वं संभावयितुमपि न शक्यते । प्राप्तकामश्रुतिविरोधात् । व्यधिकरणो हेतुर्न समासो वा ।

शंका करते हैं कि—ब्रह्म जगत का कारण नहीं हो सकता, उसे जगत् की सृष्टि करने में प्रयोजन ही क्या हैं ? लोक में प्राय: प्रयोजन से ही कार्य होता है । ब्रह्म में प्रयोजन की संभावना भी नही की जा सकती । श्रुति तो उन्हें आप्तकाम कहती है, यदि उन्हें सृष्टि में कोई प्रयोजन है तो उक्त श्रुति से विरुद्धता होगी ।

लोकवत्तु लीलाकैवल्यम् ।२।१।३३।।

तु शब्द: पक्षं व्यावर्त्तयति । लोकवल्लीला, नहि लीलायां किंचित् प्रयोजनमस्ति । लीलाया एव प्रयोजनत्वात् । ईश्वरत्वादेव न लीलापर्यनुयोक्तुं शक्या । सा लीला कैवल्यं मोक्ष: तस्यलीलात्वेऽप्यन्यस्य तत्कीर्त्तन मोक्ष इत्यर्थ: । लीलैव केवलेति वा ।

सूत्रस्थ तु शब्द पूर्वसूत्रीय पक्ष का व्यावर्त्तक है । सांसारिक राजा राजपुरुष आदि जैसे मृगया आदि खेल करते हैं, उनमें कोई खास प्रयोजन नहीं होता वैसे ही सृष्टि, भगवान् की एक लीला मात्र है, उसमें प्रयोजन

की खोज करना व्यर्थ है। लीला ही प्रयोजन है। जब लौकिक लीला में प्रयोजन की खोज नहीं की जाती, फिर ये तो ईश्वरीय लीला है इसका विचार शक्य है भी नहीं। उनकी यह लीला ही मोक्ष है अर्थात् उनकी लीला का जो लोग कीर्त्तन करते हैं वे मोक्ष प्राप्त करते हैं, अर्थात् इस सृष्टि का विचार करने से मुक्ति प्राप्ति होती है। वह लीला ही स्वयं प्रयोजन है, वही मोक्ष है। उनके सामर्थ्य और स्वरूप के माहात्म्य को बतलाने के लिए सूत्रकार ने कैवल्य पद का प्रयोग किया है।

वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात् तथाहि दर्शयति ।२।१।३४।।

कांश्चित् सुखिनः कांश्चित् दुःखिनश्च प्रलयं च कुर्वन् विषमो निर्घृणश्चेति चेन्न, सापेक्षत्वात्। जीवानां कर्मानुरोधेन सुखदुःखे प्रयच्छतीति। वादिबोधनायैतदुक्तम् वस्तुतस्त्वात्मसृष्टवैषम्यनैर्घृण्यसंभावनैव नास्ति। वृष्टिवत् भगवान् बीजवत्कर्म, श्रुतिरेव तथा दर्शयति—"एष ह्येव साधुकर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषति, एष उ एवासाधु कर्म कारयति तं यमधो निनीषति, पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति, पापः पापेन कर्मणेति च" सापेक्ष्यमपि कुर्वन्नीश्वर इति माहात्म्यम्।

यदि कहें कि संसार में कोई सुखी है कोई दुःखी है, किसी को भगवान् मारते हैं, इससे तो भगवान् में विषमता और निर्दयता का आरोप होता है, सो बात नहीं है, जीवों को अपने कर्मानुसार ही सुखदुःखादि की प्राप्ति होती है, भगवान् तदनुसार ही सुखदुःख देते हैं। यह बात संशय करने वाले के बोध के लिए कही गई, वस्तुतः तो स्वयं अपने को ही जब भगवान सृष्टि के रूप में प्रकट करते हैं तो विषमता और निर्दोषता का प्रश्न ही क्या है? ये बात तो द्वैतभाव में होतीं है। भगवान् वृष्टि के समान हैं और कर्म बीज के समान है जैसा कर्मों का बीज बोया जावेगा भगवान उसको उसी रूप से वृद्धि करेंगे, वे जलवृष्टि के समान तटस्थ उन्नायक हैं। ऐसा ही श्रुति का कथन भी है--"यही साधुकर्म कराते हैं और ऊपर तक ले जाते हैं और यही असाधुकर्म कराकर नीचे गिरा देते हैं। पुण्य कर्म से पुण्य और पाप कर्म से पाप होता है" इत्यादि। कर्मसापेक्ष्य फल देना ही ईश्वर का माहात्म्य है।

न कर्माविभागादिति चेन्नानादित्वात् ।२।१।३५।।

न, कर्मविभागात् कार्योद्गमाद् पूर्वं संभवति, पश्चात्वन्योन्याश्रय इति चेन्न। अनादित्वात्, बीजाकुंरवत् प्रवाहस्यानादित्वात्।

(वाद) आपकी ये बात समझ में नहीं आती, कार्य के उद्गम के पहिले कर्म का विभाग तो हो नहीं सकता [अर्थात् सृष्टि के पूर्व तो कर्म का निर्णय हो नहीं सकता, विषमता आदि तो सृष्टि के प्रारंभ से ही चली आ रही है] यदि सृष्टि के बाद ये व्यवस्था प्रारंभ हुई है तो सृष्टि और कर्म एक दूसरे पर आधारित हैं फिर तो विषमता और निर्दयता का लांछन भगवान पर होगा। ये संशय भी भ्रमात्मक है, सृष्टि अनादि है, इसकी अनादिता बीजांकुर के समान प्रवाह नित्य है।

उपपद्यते चाप्युपलभ्यते च २।१।३६॥

कथमनादित्वमिति चेद् उपपद्यते, अन्यथा कस्य संसारः? कृतहान्यकृताभ्यास प्रसंगः। उपलभ्यते च श्रुतिस्मृत्योः--"अनेन जीवेनात्मनेति" सर्गादौ जीवप्रयोगादनादित्वम् "तपसैव यथा पूर्वं स्रस्टविश्वमिद भवान्" इति च।

यदि कहें कि—अनादित्व कैसे संभव है? सो संभव है, यदि संभव न हो तो फिर संसार कैसा? यदि ऐसा न हो तो कृत हानि और कृताभ्यास जैसी निरर्थक बात हो जायेगी [अर्थात् बनाना बिगाड़ना, बार बार ऐसा ही करते रहना जैसी बिना हेतुक क्रिया होना भी तो, नासमझी कहलायेगी] सृष्टि की अनादिता की बात श्रुति स्मृति में स्पष्ट कही गई है—'अनेन जीवेन" इत्यादि में, सृष्टि के आदि में ही जीव की स्थिति बतलाई इससे अनादिता निश्चित होती है, कर्म के बंधन से ही तो जीवत्व भाव होता है। "आप ने तप के द्वारा, जैसा पहिले था वैसा ही यह विश्व रच दिया" इत्यादि स्मृति से भी यही निश्चित होता है।

सर्वधर्मोपपत्तेश्च ।२।१।३७॥

उपसंहरति। वेदोक्ता धर्माः सर्वे ब्रह्मण्युपपद्यंते सर्वसमर्थत्वादिति।

प्रसंग का उपसहार करते हुए कहते हैं कि-वेदोक्त सारे धर्म ब्रह्म में उपपन्न होते हैं, क्योंकि वे सर्व समर्थ हैं।

द्वितीय अध्याय प्रथम पाद समाप्त।

द्वितीय अध्याय
द्वितीय पाद

१. अधिकरण

रचनानुपपत्तेश्च नानुमानम् ।२।२।१॥

स्वतत्रतया सर्ववादा निराक्रियन्तेऽस्मिन्पादे। लोकानां भूर्भुवादीनां अचेतनेनकेवलेनप्रधानेन रचनानोपद्यच्चते, रचितत्वादेव न परिणामः। सर्वस्यसंश्लेष प्रसंगात्। अतश्चेतन कर्त्तृका रचना नाचेतनेनप्रधानेन कर्त्तुं शक्या। तस्मात्कारणत्वेन प्रधानं नानुमंतव्यं, अन्यथोपपत्त्या बाधितमेवानुमानमिति चकारार्थः।

इस पाद में स्वतन्त्र रूप से समस्त वादों का निराकरण करते हैं। भूः भुव आदि लोक, केवल अचेतन प्रधान की रचना नहीं हो सकते यदि रचना हों भी तो, परिणाम नहीं हो सकते, यदि ये प्रधान के परिणाम होते तो सब परस्पर संश्लिष्ट होते। इसलिए यह रचने चेतन की है, अचेतन प्रधान में इसके रचने का सामर्थ्य नहीं है। इसलिए कारण रूप से प्रधान का अनुमान नहीं करना चाहिये यदि करेंगे तो अनुमान, उपपत्ति से बाधित हो जावेगा।

प्रवृत्तेश्च ।२।२।२॥

भुवनानि विचार्य जनान् विचारयति। सर्वस्य तत्परिणामे प्रवृत्तिर्नोपपद्यते प्रधानस्य वा प्रथम प्रवृत्तिः। यद्यपि प्रधानकारणवादे फल पर्यन्तमंगीक्रियमाणे न किंचिद्दूषणम्। कृतिमात्रस्य प्रधानविषयत्वात्। तथापि वादिनंप्रति लोकन्यायेन वक्तव्यम्। तत्रलोके चेतनाचेतनव्यवहारोऽस्ति, चेतनाश्चतुर्विधाः जीवाः सशरीरा अलौकिकाश्च। अन्ये अचेतनाः। तन्न्यायेन विचारोऽत्रेति न किंचिद् विचारणीयम्।

भुवनों का विचार कर अब जनों का विचार करते हैं। यदि सबको प्रधान का परिणाम मान लें तो उनमें प्रवृत्ति नहीं हो सकती यदि होगी भी तो प्रधान की ओर ही अचेतन प्रवृत्ति होगी। यद्यपि प्रधान कारणवाद में, फल तक स्वीकारने में कोई दोष नहीं है, क्योंकि प्रधान कृतिमात्र हो तो है। फिर भी वादी को लोक न्याय की दृष्टि से कुछ कहना है। लोक में

चेतन अचेतन का व्यवहार है। शरीर धारी और अलौकिक जीव चार प्रकार के चेतन हैं। बाकी सब अचेतन हैं। उनकी दृष्टि से ही यहां विचार करें तो वे प्रधान के परिणाम नहीं हो सकते, इसके अतिरिक्त और किसी पर विचार अपेक्षित नहीं है।

पयोम्बुवच्चेत्तत्रापि ।२।२।३।।

यथा पयो •विचित्रफेनरचनांकरोति, यथा वा नद्यादजलं स्वतएव स्वन्दत इतिचेत् न, तत्रापि दोहनाधिश्रयणे मेघानां चेतनानामेव सत्वात्। व्याख्यानान्तरेत्वन्नाम्बुवदित्युच्येत् । द्वितीयस्य समाधानं नोभयवादि संम्मतम्।

जैसे कि जल विचित्र फेनों की रचना करता है या नदी का जल स्वतः स्पन्दित होता है, वैसे ही यह जगत् प्रधान रचित होकर स्वयं स्पन्दित है, इत्यादि तर्क भी प्रस्तुत नहीं किए जा सकते, ये दोनों ही दृष्टान्त, चेतन द्वारा स्पन्दित वस्तु के हैं, चेतन मेघों का अस्तित्व इनमें विद्यमान है।

व्यतिरेकानवस्थितेश्चानपेक्षत्वात् ।२।२।४।।

प्रधानस्यान्यापेक्षाभावात् सर्वदा कार्यकरणमेव, न व्यतिरेकेण तूष्णीमवस्थानमुचितम्। पुरुषाधिष्ठानस्य तुल्यत्वात् सेश्वरस्यसांख्यमतेऽप्यै-श्वर्यं तदधीनमिति यथास्थितमेव दूषणम्।

प्रकृति के कर्त्तृत्व का निराकरण करके अब उसके स्वतः परिणाम का निराकरण करते हैं—कहते हैं कि गुणत्रय साम्यावस्था वाली प्रकृति को परिणाम के लिए किसी की अपेक्षा अवश्य होती है तभी वह क्षुभित होकर कार्य करती है, यदि वह कार्य नहीं करे तब तो उसका चुप बैठना ही उचित है [अर्थात् यदि वह अपेक्षित शक्ति के बिना कार्य करेगी भी तो वह सुव्यवस्थित न होकर ऊटपटांग होगा, इससे तो न होना ही ठीक है] यदि पुरुष के अधिष्ठान में वह कार्य करती है तो भी वही बात होगी, क्योंकि पुरुष अनन्त हैं, भिन्न रुचि होने से सर्वत्र नियमित कार्य नहीं होगा कहीं कुछ और कहीं कुछ होगा। ईश्वर के अस्तित्व को मानने वाले सांख्य मत में जहां ईश्वर का अधिष्ठान स्वीकार करते हैं उसमें भी दोष वैसा का वैसा ही रहता है, क्योंकि उसमें भी अधीनता तो प्रधान की ही रहती है, ईश्वर को, ब्रह्मवादियों के ब्रह्म की सी स्वतन्त्रता तो रहती नहीं। वह तो प्रकृति के अनुकूल ही सृष्टि कर सकता है, अलौकिक सृष्टि तो संभव नहीं है ;

अन्यत्राभावाच्च न तृणादिवत् ।२।२।५।।

तृणपल्लवजलानि स्वभावादेव परिणमन्त एवमेव प्रध नमिति न मंतव्यम् । अन्यत्र शृंगादौ दुग्धस्याभावात । चकाराच्चेतन क्रियाऽप्यति। ततश्च लोकदृष्टान्ताभावादचेतनं प्रधानं न कारणम् ।

यदि कहें कि–तृण पल्लव जल आदि खाने पर गाय आदि में जैसे वह स्वतः ही दुग्ध के रूप में परिणमित हो जाते हैं, ऐसे ही यह जगत प्रधान का परिणाम है। इसे नहीं स्वीकारा जा सकता, शृंगी आदि में तो तृण से दूध नहीं होता। फिर तृणादि भक्षण में गाय आदि चेतन जीव की क्रिया होती है, स्वतः तो परिणाम होता नहीं। लोक में स्वतः परिणाम का प्राकृत दृष्टान्त मिलता नहीं इसलिए अचेतन प्रधान कारण नहीं है ।

अभ्युपगमेऽप्यर्थाभावात् । २।२।६।।

प्रधान कारणवादांगीकारेऽपि प्रेक्ष्यकारित्वाभावान्न पुरुषार्थः सिद्ध्यति ।

यदि प्रधान कारणवाद को मान भी लें तो भी पुरुषार्थ सिद्धि नहीं हो सकती क्योंकि प्रधान में प्रेक्ष्यकारिता का अभाव है [अर्थात् प्रधान में विचार शक्ति नहीं है, सृष्टि के कौशल को देखकर ज्ञात होता है कि इसका निर्माण विचार द्वारा किया गया है]

पुरुषाश्मवदिति चेत्तथापि । २।२।७।।

प्रधानस्यकेवलस्य कारणवादो निराकृतः। पुरुषप्रेरितस्य कारणत्वमाशंक्य परिहरति। पुरुषः पंगुरंधमारुह्यान्योन्योपकाराय गच्छति, यथा वा अयस्कातं सन्निधिमात्रेण लौहे क्रियामुत्पादयति। एवमेव पुरुषाधिष्ठितं पुरुषसन्निहितं वा प्रधानं प्रवर्त्तयिष्यत इति चेत् तथापि दोषस्तदवस्थः। प्रधान प्रेरकत्वं पुरुषस्य स्वाभाविकं, प्रधान कृतंवा ? आद्ये प्रधानस्याप्रयोजकत्वम् । द्वितीये प्रधानदोषस्तदवस्थः। नित्यसंबंधस्य विशिष्टकारणत्वे अनिर्मोक्षः। अशक्तस्यतु मोक्षांगीकारः सर्वथानुपपन्नः।

केवल प्रधान कारणवाद का निराकरण कर दिया अब पुरुष प्रेरित कारण की संभावना का निराकरण करते हैं। यदि कहो कि– पुरुष और प्रकृति अंधे और लगड़े की तरह एक दूसरे का उपकार करते हुए चलते हैं, या चुम्बक पत्थर के सन्निधिमात्र से लोहे में जैसे स्पंदन होता है वैसे ही पुरुष से अधिष्ठित या पुरुष के नैकट्य से प्रधान, सृष्टि करती है।

तुम्हारा यह विचार भी असंगत है, इस प्रकार भी अव्यवस्था होगी। विचार करना होगा कि– पुरुष जो प्रधान को प्रेरणा देता है वह उसकी स्वाभाविक प्रवृत्ति है या प्रधान की इच्छा से वह ऐसा करता है ? स्वतः तो वह प्रेरणा देगा ही क्यों, उसे प्रयोजन ही क्या है ? यदि प्रधान की इच्छा से देता है तो प्रधान के स्वभावानुसार वह दोषपूर्ण ही होगी, जिससे स्वाभाविक अव्यवस्था होगी। फिर प्रकृति से पुरुष का नित्य संबंध होने तथा सृष्टि में विशेष कारण रूप होने से पुरुष का कभी प्रकृति से छुटकारा तो संभव है नहीं। असक्त व्यक्ति के मोक्ष की बात तो कभी मानी नहीं जा सकती।

अंगित्वानुपपत्तेश्च । २।२।८।

प्रकृतिपुरुषयोरंगांगित्वे भवेदप्येवम्, तच्चनोपपद्यते पुरुषस्यांगित्वे ब्रह्मवादप्रवेशो मतहानिश्च । प्रकृतेरंगित्वेत्वनिर्मोक्षः अनेन परिह्रतोऽपि मायावादो निर्लज्जानां हृदये भासते।

प्रकृति और पुरुष का अंगागीभाव मानने पर भी यही अव्यवस्था होगी अतः वह संभव नहीं है। यदि माया को पुरुष का अंगी मानते हैं तो ब्रह्मवाद में प्रवेश हो जायेगा और तुम्हारी मत हानि होगी। और यदि पुरुष को माया का अंग मानते हैं तो पुरुष का मोक्ष संभव नहीं है। इस प्रकार परिहार हो जाने पर भी यदि मायावाद का आग्रह किया जाय तो वह निर्लज्जता है और कुछ नहीं।

अन्यथानुमितौ च ज्ञशक्तिवियोगात् । २।२।९।।

अन्यथा वयं सर्वमनुमिमीमहे। यथा सर्वेदोषाः परिहृताः भवेयुरितिचेत् तथापि पूर्वज्ञानशक्तिर्नास्तीति मंतव्यम् , तथासति बीजस्यैवाभावान्नित्यत्वानिर्मोक्षइति ।

हम आपकी सब बातें मानलें और आपका मत निर्दोष भी मान लें फिर भी यह तो मानना ही पड़ेगा कि सृष्टि पूर्व में ज्ञान शक्ति नहीं थी (क्योंकि– प्रकृति पुरुष के संयोग से ही तुमने सब कुछ मान रक्खा है।) जब ज्ञान शक्ति नहीं होगी तो बीज के अभाव से सृष्टि की नित्यता सिद्ध होगी और फिर सृष्टि की समाप्ति का प्रश्न ही नहीं उठता।

विप्रतिषेधाच्चासमंजसम् ।२।२।१०।।

परस्परविरुद्धत्वान्तर्वर्तिनां पंचविंशादिपक्षांगीकारात्, वस्तुतस्त्व लौकिककार्ये वेद एव प्रमाणं नान्यदिति ।

सांख्य वाले पच्चीस आदि कई तत्त्व मानते हैं, कोई पचीस, कोई छब्बीस कोई सात कोई पन्द्रह, कोई ग्यारह कोई चार, कोई सत्रह, कोई सोलह, कोई तेरह । इस प्रकार उनमें स्वयं ही परस्पर मतभेद है। वस्तुतः अलौकिक अर्थ में तो वेद ही एक मात्र प्रमाण हैं, कोई दूसरा नहीं ।

२ अधिकरण

महद्दीर्घवद्वा ह्रस्वपरिमण्डलाभ्याम् ।२।२।११।।

इदानीं परमाणुकारणवादो निराक्रियते । तत्र स्थूलकार्यार्थं प्रथमं परमाणुद्वयेन द्वयणुकमारभ्यते, परमाणुद्वयसंयोगे द्वयणुकं भवतीत्यर्थः। तत्रोपर्यधोभावमिलने द्वयणुकं महत् स्यात् द्विगुण परिमाणवत्वात् प्राक्पश्चान्मिलने दीर्घवद् वास्यात् । परमाणु परिमाणं ह्रस्वं परितोमण्डलं च उपहासार्थं तस्य मतस्यानुवादः ।

परमाणुकारणवाद का निराकरण करेंगे । वे लोग स्थूल जगत के निर्माण में सर्व प्रथम दो परमाणुओं के संयोग की बात करते हैं उनका कथन है कि दो परमाणुओं के संयोग से द्वयणुक होता है उसके ऊपर नीचे द्वयणुकों का संयोग होते होते महत् रूप हो जाता है तथा दो-दो द्वयणुकों के आगे पीछे मिलने से दीर्घ रूप होता है । परमाणु परिमाण में ह्रस्व और गोल होते हैं । इनके इस मत की चर्चा केवल उपहास की दृष्टि से की जा रही है ।

किमतो यद्येवमतआह—इसमें आपको क्या आपत्ति है ? उसका उत्तर देते हैं—

उभयथापि न कर्मातस्तदभावः ।२।४।१२।।

उभयथापि न, कुतः ! न कर्म, नकारो देहलीप्रदीपन्यायेनोभयत्र संबद्ध्येत । अतो द्वयणुक भावः । उभयथापिन परमाणु संघट्टनम्, प्रदेशाभावात कल्पना मनोरथमात्रम् । असंयुक्तांशाभावात् तदेवतत् स्यात् । सयोगजनक कर्मापि न संभवति, कारणान्तराभावात् । प्रयत्नवदात्मसंयोगे, अदृष्टवदात्मसंयोगे चाभ्युपगम्यमाने निरवयवत्वात् तदेव तत् स्यात् । विशेषाभावाद् विभागस्याशक्यत्वाच्च, अतो द्वयणुकस्याभावः ।

महत् और दीर्घ दोनों रूप नहीं हो सकते, क्योंकि– परमाणुओं में कोई कर्म तो है ही नहीं। सूत्रस्थ नकार देहली दीपक न्याय से दोनों ओर लगेगा। कर्म न होने से द्व्यणुक भी नहीं हो सकेंगे इसलिए परमाणुओं का संघट्टन दोनों रूपों मे संभव नहीं है उसके लिए संघट्टन का कोई स्थान भी तो नहीं है, यह तो केवल कल्पना मात्र है। जब वे मिल नहीं सकेंगे तो जैसे के जैसे ही रहेंगे। उनमें संयोग करने वाला कोई कर्म भी तो स्वतः संभव नहीं है, उसमें कोई दूसरा कारण तो है नहीं। यदि यह मान लें कि वे स्वतः प्रयास करके आपस में मिल जाते हैं अथवा उनका आपसी मिलन दैवात् हो जाता है, वो भी तो नहीं हो सकता क्यों कि उनमें अवयवत्व भी तो नहीं हैं, वे तो जैसे हैं वैसे ही रहते हैं। न कोई विशेष रूप है और न उनका विभाग ही शक्य है, इसलिए उनमें द्व्यणुक रूप संभव नहीं है।

समवायाभ्युपगमाच्च साम्यादनवस्थितेः। २।२।१३॥

परमाणुद्व्यणुकयो : समवायोऽगीक्रियते, स संबधिनोरवस्थानमपेक्षते संबंधस्योभयनिष्ठत्वात् स च नित्यः सदा संबधिसत्वमपेक्षते, अतोऽपि न द्व्यणुक उत्पद्यते। किंच समवायो नांगीकर्त्तुं शक्यः, संयोगेन तुल्यत्वात्। संबंधत्वात्तस्य। यथा संबंधिनिसंबंन्धान्तरापेक्षा एवं समवायस्यापि तथा सत्यनवस्थितिः।

ये लोग परमाणु और द्व्यणुक में समवाय संबंध मानते हैं, यह संबंध, संबंधी के अवस्थान की अपेक्षा रखता है क्योंकि संबंध उभय निष्ठ होता है, वह भी नित्य और सदा संबंधित्व की अपेक्षा रखता है, इस लिए भी द्व्यणुक की उत्पत्ति संभव नहीं है। समवाय भी नहीं मान सकते क्योंकि इसमें संयोग से तुल्यता होती है। क्योंकि उसका उससे संबंध होता है। जैसे कि— संबंध में, संबंधांतर अपेक्षित होता है, वैसे ही समवाय की भी वैसी स्थिति होती है, उस स्थिति में अनवस्था होगी।

नित्यमेव च भावात्। २।२।१४॥

परमाणोः कारणान्तरस्य च नित्यमेव भावात् सदा कार्यं स्यात्।

परमाणु और अन्य कारण नित्य मानते हो इसलिए सृष्टि भी सदा रहनी चाहिए [किन्तु ऐसा है नहीं]

रूपादिमत्वाच्च विपर्ययोऽदर्शनात् । २।२।१५।।

यद्रूपादिमत् तदनित्यम् । परमाणोरपिरूपादिमत्वात् विपर्ययः । अनित्यत्वपरमाणुत्वं च । न च प्रमाणबलेन तदतिरिक्ते व्याप्तिरिति वाच्यम्, अदर्शनात्, कार्यानुपपत्तिः श्रुत्यैव परिहृता ।

रूपवान् वस्तु अनित्य होती है, प्रमाण भी रूपवान हैं, रूपवान होने से सब उलट जाता है क्योंकि वे अनित्य सिद्ध होते हैं । प्रमाण के बल से उनके स्वरूपान्तर की कल्पना संभव नहीं है क्योंकि वे अदृश्य होते हैं ।

उभयथापि दोषात् २।२।१६।।

परमाणूनां रूपादिमत्वेन तदभावे च दोषः । एकत्रानित्यत्वमन्यत्र कार्यरूपस्यनिर्मूलत्वं च । हरिद्राचूर्णसम्बन्धे रूपान्तरस्य जननाद् विरोधोऽपि चकारार्थः :

परमाणुओं को रूपवान और विनारूपवाला दोनों प्रकार से मानने में असंगति है । यदि वे रूपवान हैं तो एकत्र होने पर उनकी अनित्यता निश्चित होती है. कार्य रूप वस्तु की निर्मूलता (रूप रहितता) कैसे सम्भव है। हरिद्राचूर्ण के संयोग से जैसे रूप बदलता है, वैसा मानने पर भी विरुद्धता होगी ।

अपरिग्रहाच्चात्यंन्तमनपेक्षा ।२।२।१७।।

सर्ववैदिकानामपरिग्रहाच्चात्यन्तं सर्वथा नापेक्ष्यते ।

आचार्य इस मत को दूषित मानते हैं सो बात नहीं है अपितु वैदिक मत भ्रष्ट न हो इसलिए उसकी उपेक्षा करते हैं ।

३ अधिकरण

समुदाय उभयहेतुकोऽपि तदप्राप्तिः ।२।२।१८।।

अतः परं बाह्यमतनिराकरणम् । ते समुदायद्वयं जीवभोगार्थं संहन्यत इति मन्यन्ते । परमाणुसमूहः पृथिव्यादिभूतसमुदाय एकः रूपादिस्कन्ध समुदायश्चापरः । रूपविज्ञानवेदनासंज्ञासंस्कारसंज्ञकाः पंचस्कन्धाः । तदुभयसम्बन्ध जीवस्य संसारः । तदपगमे मोक्षः । तत्र उभयहेतुकेऽपि समुदायजीवस्य अप्राप्तिः । क्षणिकत्वात् सर्वक्षणिकत्वे जीवमात्रक्षणिकत्वे वा तदप्राप्तिः ।

अब बौद्धों के वाह्यार्थानुमेयवाद का निराकरण करते हैं वे लोग जीव भोग के लिए दो समुदाय की सहति मानते हैं। एक तो परमाणुओं के समूह रूप पृथिवी, जल, तेज, वायु का समुदाय दूसरा रूपादि स्कधों का समुदाय। रूप, विज्ञान, वेद ा, संज्ञा और संस्कार नामक पांच स्कन्ध मानते हैं। इन दोनों समुदायों के संबंध से जीव का संसार से संबंध मानते हैं, यदि इन दोनों का संबध जीव से अलग हो जावे तो जीव का मोक्ष हो जावे। किन्तु ये सबको क्षणिक मानते हैं तो ये दोनों समुदाय जीव से संबद्ध हो कैसे सकते हैं, फिर जीव भी तो क्षणिक होगा- उसका संबंध कैसे हो पावेगा ?

इतरेतरप्रत्ययत्वादिति चेन्नोत्पत्तिमात्रनिमित्तत्वात् । २।२।१६॥

क्षणिकत्वेऽपि पूर्वपूर्वस्योत्तरोत्तरप्रत्ययविषयत्वात् कारणत्वात् सन्ततेरेव जीवर ाज्जडत्वाच्च न काप्यनुपपत्तिरितिचेन्न उत्पत्तिमात्रनिमित्तत्वात्। अनुसंधानाभ्युपगमे स्थिरत्वापत्तिः। संबंधवियोगार्थं को वा यतेत्? स्थैर्याभावात् समुदायानुपपत्तिश्च।

क्षणिक होते हुए भी वे परस्पर होने वाले प्रत्येक के कारण होते हैं अर्थात् पूर्व, परमाणु, उत्तरोत्तर क्रम से कारण हैं, पिछला अणु अगले अणु को उत्पन्न कर समाप्त हो जाता हैं, इस प्रकार सन्तति क्रम से जड और जीव की उत्पत्ति विनाश, विनाश और उत्पत्ति होती रहती है इसलिए कोई अड़चन नहीं है। ऐसा करना भी संभव नहीं है, क्योंकि वे केवल उत्पन्न मात्र ही तो करने हैं, संगठन तो नहीं करते। विज्ञान संतति जीव को पूर्व कालीन प्रिथ अप्रिय वस्तुओं की प्रतीत होती है उससे तो स्थिरत्व की बात समझ में आती है यदि स्थिर न मानें तो वेदनादि स्कन्धनात्मक ंसार की सिद्धि कैसे होगी ? दूसरी बात, संतति रूप जीव की क्षणिकता मानने से स्थैर्यता का अभाव होगा तो फिर रूपादि स्कंधं संबंध को समाप्त करने का प्रयास कौन करता है। स्थैर्य नहीं होगा तो समुदाय नहीं हो सकता।

उत्तरोत्पादे च पूर्वनिरोधात् । २।२।२०॥

उत्तरोत्पत्तिरपि न संभवति, उत्पन्नस्य खलूत्पादकत्वम् अत उत्तरोत्पत्ति समये पूर्वस्यनष्टत्वात् उत्पत्तिक्षण एव स्थितिप्रलयकार्यकारणसर्वांगीकारे विरोधादेकमपि न स्यात्।

उत्तरोत्पत्ति भी संभव नहीं है, क्यों कि– उत्पन्न की भी तो उत्पादकता है, इसलिए उत्तरोत्पति के समय, पूर्व तो नष्ट हो चुकता है, उत्पत्ति के समय ही स्थिति और प्रलय, अर्थात् कार्य और कारण एक साथ कैसे मानते हो ? यह तो विरुद्ध बात है, दोनों में से एक भी नहीं हो सकते ।

असति प्रतिज्ञोपरोधो यौगपद्यमन्यथा ।२।२।२१।।

एकाक्षणिकत्व प्रतिज्ञा । अपरा चतुर्विधान् हेतून प्रतीत्य चित्तचैत्ता उत्पद्यन्त इति वस्तुनः क्षणांतरसंबंधप्रथमप्रतिज्ञा नश्यति । असति द्वितीया । द्वितीया चेन्नांगीक्रियते तदा प्रतिबंधाभावात् सर्वं सर्वत्र एक दैवोत्पद्येन ।

एक तो क्षणिकत्व मानते हैं, दूसरे चार प्रकार के हेतुओं की प्रतीति से चित्त और चैत्त की उत्पत्ति मानते हैं । वस्तु के क्षणांतर सम्बन्ध से तो प्रथम प्रतिज्ञा नष्ट हो जाती है । यदि हेतु के बिना फलोत्पत्ति मानें तो द्वितीय प्रतिज्ञा नष्ट हो जाती है । यदि द्वितीया को नहीं मानते तो प्रतिबन्ध का अभाव हो जाता है, फिर तो सब, सब जगह एक साथ उत्पन्न होंगें ।

प्रतिसंख्याप्रतिसंख्या निरोधाप्राप्तिरविच्छेदात् ।२।२।२२।।

अपि च वैनाशिकाः कल्पयन्ति, बुद्धि बोध्यत्रयादन्यत् संस्कृत क्षणिकं चेति । त्रयं पुनर्निरोधद्वयमाकाशश्च । तत्रेदानीं निरोधद्वयांगीकारं दूषयति ।

प्रतिसंख्यानिरोधो नाम भावानांबुद्धिपूर्वको विनाशः विपरीतोऽप्रति संख्यानिरोधः । अयमपि निरुपाख्यम् । निरोधद्वयमपि न प्राप्नोति, संततेरविच्छेदात् । आद्योनिरोधः पदार्थविषयको व्यर्थः । द्वितीयः क्षणिकांगीकारेणैव सिद्धत्वानांगीकर्त्तव्यः ।

सर्वानित्यवादी कल्पना करते हैं कि बुद्धि वोध्य तीन तत्वों के अतिरिक्त सब संस्कृत अर्थात् व्यवहार योग्य और क्षणिक हैं । दो निरोध और एक आकाश ये तीन तत्व हैं । इस जगह दोनों निरोधों की मान्यता का निराश करते हैं । भावों के बुद्धि पूर्वक विनाश का नाम प्रतिसंख्या निरोध है, इससे बिपरीत अप्रतिसंख्या निरोध है । तीनों ही विचारणीय है । दोनों

निरोधों में भी प्राप्ति सम्भव नहीं है क्योंकि इसमें सन्तति का विच्छेद नहीं होता। पहिला निरोध पदार्थ विषयक होने से व्यर्थ है, दूसरा क्षणिक वाद को मानने से ही असिद्ध है इसलिए वह भी मान्य नहीं हो सकता।

उभयथा च दोषात् ।२।२।२३।।

प्रतिसंख्यानिरोधान्तर्गताविद्याविनाशे मोक्ष इति क्षणिकवादिनो मिथ्यावादिनश्च मन्यन्ते। अविद्यायाः सपरिकराया निर्हेतुकविनाशे शास्त्र वैफल्यम्। अविद्यातत्कार्यातिरिक्तस्याभावान्न सहेतुकोऽपि। नहि बन्ध्यापुत्रेण रज्जुसर्पोनश्यते। अत उभयथापि दोषः।

प्रतिसंख्यानिरोध में अविद्या विनाश से मोक्ष की सम्भावना क्षणिक-वादी और मिथ्यावादी दोनों ही मानते हैं। पर वह सपरिकरा अविद्या किन हेतुओं से नष्ट होती है? इसकी कोई चर्चा नहीं है इसलिये यह शास्त्र इसमें असफल है। यदि इनकी अविद्या का किन्हीं हेतुओं से नष्ट होना सम्भव भी हो तो, अविद्या के कार्य के अतिरिक्त तो कोई वस्तु इनकी अविद्या में है नहीं जिसके नाश की बात ये करते हैं। अविद्या के कार्य तो स्वतः ही अल्पकालिक होते हैं, उनके नाश की चर्चा ही क्या है? ये तो वैसी ही बात हुई जैसे कोई मूर्ख कहे कि बन्ध्या के पुत्र ने रस्सी रूपी सर्प का नाश कर दिया इस प्रकार दोनों प्रकार से यह दोषपूर्ण मत है।

आकाशे चाविशेषात् ।२।२।२४।।

यच्चोक्तमाकाशमप्यावरणाभावो निरुपाख्यमिति तन्न आकाशेऽपि सर्वपदार्थवद् वस्तुत्वव्यवहारस्य विशेषात्।

जो यह कहते हैं कि आकाश का आवरणाभाव भी निरूपणीय है, वह असंगत बात है, आकाश में भी सब पदार्थों की तरह साधारणतः वस्तुत्व व्यवहार होता है।

अनुस्मृतेश्च ।२।२।२५।।

सर्वोऽपि क्षणिकवादो बाधितः। स एवायं पदार्थ इत्यनुस्मरणात्। अनुभवस्मरणयोरैकाश्रयत्वमेकविषयत्वं च।

समस्त क्षणिकवाद निरस्त हो चुका, अब उस पर पुनः तत्त्वतः सूक्ष्म विचार कहते हैं। क्षणिक वादी, सब कुछ क्षणिक मानते हुए अनुभविता और अनुभूतिविषय की सादृश्यता बतलाते हैं, यह असंगत बात है, इसमें तो अनुभव और स्मरण दोनों की एकाश्रयता और एक विषयता हो जावेगी।

नासतोऽदृष्टत्वात् ।२।२।२६।।

अपि च। नानुपमर्द्य प्रादुर्भावं वैनाशिका मन्यन्ते। ततश्चासतोऽलीकात् कार्यं स्यात्। तन्न, अदृष्टत्वात्। नहि शशशृंगादिभिः किंचिद् कार्यं दृश्यते।

ऊपर के आठसूत्रों से वैनाशिकों के अभिमत क्षणिकवाद का निराकरण करके अब उनकी अभिमत अभाव से भावोत्पत्ति की बात का निराकरण करते हैं। उन लोगों का एक सूत्र है "नानुपमृद्य प्रादुर्भावात्" उसमें वे अनुमर्द्य रहित प्रादुर्भाव की सिद्धि करते हैं। और ऐसा मान कर वे सारा कार्य असत् और अलीक कहते हैं। ये बात समझ में नहीं आती, ऐसा कहीं देखने में नहीं आता, शशशृंगादि कार्य कहीं देखे नहीं जाते।

एवं सतः कारणत्वं पूर्वपाद उपपाद्यासतः कारणत्वं निराकृत्य व्यास-चरणैः वेदानामव्याकुलत्वे संपादितेऽपि पुनर्दैत्यव्यामोहनार्थं प्रवृत्तस्य भगवतो बुद्धस्याऽऽज्ञया "त्वंचरुद्र महाबाहो मोहशास्त्राणि कारय, अतथ्यानि वितथ्यानि दर्शयस्व महाभुज। स्वागमैः कल्पितस्त्वंच जनान् मद्विमुखान् कुरु" इत्येवंरूपया महादेवादयः स्वांशेनावतीर्य वैदिकेषु प्रविश्य विश्वासार्थं वेदभागान् यथार्थानपि व्याख्याय सदसद्विलक्षणायसदपरपर्यायामविद्यां सर्वकारणत्वेन स्वीकृत्य तन्निवृत्त्यर्थं जातिभ्रंशरूपं संन्यासपाखण्डं प्रसार्य सर्वमेव लोकं व्यामोहितवन्तः। व्यासोऽपिकलहं कृत्वा शंकरं शप्त्वा तूष्णीमास। अतोऽग्निना मया सर्वतः सदुद्धारार्थं यथाश्रुतानि श्रुति सूत्राणि योजयता सर्वो मोहो निराकृतमिति नात्रोच्यते।

भगवान व्यास देव ने प्रथम पाद में सत् कारणवाद का उपपादन करके असत् कारणवाद का निराकरण करके श्रुतियों का सामंजस्य स्थापित कर दिया फिर भी दैत्य मोहन के लिए प्रवृत्त भगवान् बुद्धकी

आज्ञा से हे महाबाहु रुद्र ! तुम मोह शास्त्र बनाओ जिसमें अतथ्य और वितथ्य का प्रदर्शन करो अपने मनः कल्पित आगम की रचना करके लोगों को मुझसे विमुख करो । इस आज्ञासे महादेव ने अपने अंश से (शंकराचार्य के रूप में) अवतार लेकर वैदिकों में घुसकर विश्वास जमाने के लिये वेदों की यथार्थ व्याख्या करके सदसद विलक्षण असद की ही दूसरी मूर्ति अविद्या को सर्व कारण के रूप में स्वीकार कर उसकी निवृत्ति के लिये जाति भ्रंशरूप पाखण्ड मार्ग संन्यास को फैलाकर सारे लोक को व्यामोहित कर लिया। व्यास ने भी उनसे कलह करके शंकर को शाप देकर मौन भाव धारण किया । अब अग्नि रूप मैंने हर प्रकार से सत का उद्धार करने के लिए यथाश्रुत श्रुतिसूत्रों को सुसंगत करके समस्त शंकाओं का निराकरण कर दिया यह जानना चाहिए । प्रथम अध्याय में ही शंकर मत को देते हुए विस्तार से उसका निराकरण कर चुका हूँ इसलिए यहाँ नहीं कर रहा हूँ ।

उदासीनानामपि चैवं सिद्धिः ।२।२।२७ ॥

यद्यभावाद् भावोत्पत्तिरंगीक्रियते तथा सत्युदासीनानामपि साधन रहितानां सर्वोऽपि धान्यादिः सिद्धयेत् अभावस्य सुलभत्वात् ।

यदि अभाव से भावोत्पत्ति मान ली जाय तो साधन रहित आलसियों को भी धान्यादि सब पके पकाये मिल जावेंगें, जिन वस्तुओं के अभाव की बात है वो तो रहेगी नहीं सब कुछ सुलभ रहेगा ।

नाभाव उपलब्धेः ।२।२।२८॥

एवं कारणासत्वं निराकृत्य, विज्ञानवाद्यभिमत प्रपंचासत्यत्वं निराकरोति ।

कारणासत्ववाद का निराकरण करके अब बौद्धों के विज्ञानवादी योगाचार के प्रपंच असत्यत्व का निराकरण करते हैं ।

स च ज्ञानातिरिक्तः प्रपंचोनास्तीत्याह । तन्न अस्य प्रपंचस्य नाभावः, उपलब्धः, उपलभ्यते हि प्रपंचः यस्तूपलभमान एव, नाहमुपलभ इति वदति, स कथमुपादेयवचनः स्यात् ।

वे कहते हैं कि ज्ञान के अतिरिक्त प्रपंच का अस्तित्व नहीं है । ये बात समझ में नहीं आती, इस प्रपंच का अभाव तो है, नहीं इसकी तो प्रत्यक्ष उपलब्धि हो रही है, इसको देखते हुए भी यदि कहें कि नहीं देख रहे हैं तो आपके इस कथन की क्या उपादेयता है ।

वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत् ।२।२।२६॥

ननूपलब्धि मात्रेण न वस्तु सत्वम् । स्वप्नमायाभ्रमेष्यन्यथा दृष्टत्वादिति चेत्, न वैधर्म्यात् स्वप्नादिषु तदानीमेव स्वप्नान्ते व वस्तुनोऽन्यथाभावोपलम्भात् । न तथा जागरिते, वर्षानन्तरमपि दृश्यमानः स्तम्भः स्तम्भ एव । स्वस्य मोक्षे, प्रवृत्ति व्याघातश्चकारार्थः ।

यदि कहें कि—उपलब्धि होने मात्र से वस्तु की सत्यता सिद्ध होती हो ऐसा कोई नियम नहीं है, यह जगत तो, जैसे स्वप्नमाया भ्रमात्मक है, वैसे ही है । यह कथन भी सुसंगत नही हैं, स्वप्न और जागरित दोनों में बड़ा भेद है, जगत की अनुभूति तो जागरित अवस्था में स्पष्ट होती है। स्वप्न दृष्ट वस्तु तो स्वप्नान्त होने से बाद अदृष्ट हो जाती है किन्तु जगत में जो अनुभूति होती है वह तो निरन्तर होती रहती है, आज का देखा हुआ स्तम्भ, एक वर्ष बाद भी स्तम्भ ही देखा जाता हैं । दूसरी बात ये हैं कि अपने मोक्ष में भी ऐसी भ्रमात्मक प्रवृत्ति, घातक होगी [अर्थात् जब सब कुछ असत्य ही है तो, बन्धन ही किसका है जिससे मुक्त होने की बात हो ।]

न भावोनुपलब्धेः ।२।२।३०॥

यदप्युच्यते, बाह्यार्थव्यतिरेकेणापि वासनया ज्ञानवैचित्र्यं भविष्यतीति । तन्न, वासनानां न भाव उपपद्यते । त्वन्मन्ते बाह्यार्थस्यानुपलब्धेः । उपलब्धस्य हि वासना जनकत्वं, अनादित्वेत्वन्धपरंपरान्यायेनाप्रतिष्ठैव । अर्थव्यतिरेकेण वासनाया अभावात् वासनाव्यतिरेकेणाप्यथोपलब्धे रन्वयव्यतिरेकाभ्यामर्थसिद्धिः ।

क्षणिक विज्ञानवादियों का जो यह कथन है कि—जागतिक बाह्य विषयों से भी वासनात्मक विचित्र ज्ञान होता है । उनका यह कथन भी

असंगत है, वासनाओं से भाव नहीं होगा क्योंकि—तुम्हीं तो वाह्य वस्तु को निस्तत्व कहते हो सत्यवान् मानने पर ही वाह्य पदार्थ वासना जनक हो सकते हैं किन्तु वासना तो अनादि है, अतः अन्ध परम्परा की तरह वह कही भी रुकेगी तो है नहीं [अर्थात् जैसे एक अन्धे के पीछे दूसरा और दूसरे के पीछे तीसरा इत्यादि अनेक अन्धे बिना देखे चलते चले जाते हैं वैसे ही बिना किसी साधना के वासनात्मक विचित्र ज्ञान में आबद्ध ये जीव जगत को देखते हुए चले जावेंगे, मुक्त तो हो न सकेंगे] यदि विषयो के व्यतिरेक से वासना होती है तो, स्वप्न में देखी हुई वस्तु जैसे जागरितावस्था में अदृष्ट हो जाती है, वैसे ही, तुम्हारे कथनानुसार जब जगत असत्य है तो तज्जन्य वासना भी झूठी ही है, फिर उससे घबड़ाते क्यों हो ? यदि वासना के व्यतिरेक विषयों की उपलब्धि मानते हो तो विषयों की उपलब्धि अन्वय व्यतिरेक से होगी, अर्थात जब वासना होगी तो विषय होंगे और जब वासना न होगी तो विषय न होंगे। इस प्रकार यह सारा जगत वासना निर्मित ही सिद्ध हुआ, ये क्या अनर्गल प्रलाप है।

क्षणिकत्वाच्च ।२।२।३१।।

वासनाया आधारोऽपि नास्ति, आलयविज्ञानस्य क्षकणित्वात् वृत्ति विज्ञानवत्। एवं सौत्रांतिक विज्ञानवादी न प्रत्युक्तः। माध्यमिकस्तु मायावादिवदसंबद्धभाषित्वादुपेक्ष्य इति न निराकृतः आचार्येण।

वासना का कोई स्थिर आधार भी तो नहीं है, क्योंकि—इनके मत में जैसे वृत्ति विज्ञान क्षणिक है वैसे ही आलय विज्ञान भी क्षणिक है। इस प्रकार सौत्रांतिक विज्ञानवादी भी सही मार्ग पर नहीं है। माध्यमिक, मायावादियों की सी ऊटपटांग बाते करते हैं इसलिए आचार्य ने उनका निराकरण ही नहीं किया।

सर्वथानुपपत्तेश्च ।२।२।३२।।

किं बहुना ? बाह्यवादो यथा यथा विचार्यते तथा तथा असम्बद्ध सैवेत्यलं विस्तरेण। चकाराद् वेद विरोधो मुख्यः।

कहाँ तक कहें, बाह्यवाद पर जितना जितना विचार करो उतना उतना असम्बद्ध प्रतीत होता है इसलिये अब और अधिक विस्तृत विचार नही करेंगे, ये वेद विरुद्ध तो है ही ।

४ अधिकरण

नैकस्मिन्न संभवात् ।२।२।३३॥

विवसन समयो निराक्रियते । ते ह्यन्तर्निष्ठाः प्रपंचे उदासीनाः सप्त विभक्तीः परेच्छया वदन्ति । स्याच्छब्दोऽभीष्टवचनः, अस्तिनास्त्यवक्तव्यानां प्रत्येकसमुदायाभ्यां स्यात्पूर्वकः सप्तप्रकारो भवति, तदेकस्मिन् योजयन्ति । तद् विरोधेनासंभवादयुक्तम् ।

अब निर्वस्त्र जैन मत का निराकरण करते हैं । वे लोग अन्तर्निष्ठ प्रपंच से उदासीन होकर सप्त विभक्ती की बात अवश होकर करते हैं, स्यात् शब्द उन्हे अभीष्ट है । अस्ति नास्ति कहते हुए प्रत्येक समुदाय को वो स्यात् पूर्वक कहते हैं, इस प्रकार उनके सात प्रकार हैं, उन सबको एक में ही जोड़ते हैं । परस्पर विरुद्धतायें एक में कदापि सम्भव नही हैं, इसलिए यह असंगत मत है ।

एवं चात्माऽकार्त्स्न्यंम् ।२।२।३४॥

ननु कथं बहिरुदासीनस्य तद्दूषणमत आह । एवमपि सति त्वात्मनो वस्तु परिच्छेदादकार्त्स्न्यम् सर्वत्वम् ।

अथवा शरीर परिमाण आत्मा चेत तदा सर्व शरीराणामतुल्यत्वादात्मनो न कार्त्स्न्यं न कृत्स्नशरीर तुल्यत्वम् ।

जब वे बाह्य जगत से उदासीन ही हैं तो उनके मत में क्या दोष है ? इस पर कहते हैं कि—उदासीन होने पर भी, आत्मा जब जागतिक वस्तुओं से भिन्न है तो सर्वत्व तो सम्भव है नहीं ।

यदि आत्मा शरीर के आकार का है तो सारे शरीर एक से तो होते

नही अतः आत्मा की समानता की बात नहीं बनती, समान वस्तु शरीर आकार की हो नहीं सकती।

न च पर्यायादप्यविरोधो विकारादिभ्यः।२।२।३५॥

शरीराणामवयवोपचयानुसारेणात्मनोऽपि देवतिर्यङ्मनुष्येषु अवयवोपचयाभ्यां तत्तुल्यता स्यात्। तथासति पर्यायेणाविरोध इति न वक्तव्यम्। तथासति विकारापत्तेः। संकोचविकासेऽपि विकारस्म दुष्परिहरत्वात्।

यदि आत्मा को शरीरानुसार मानेंगे तो शरीरों के अवयवों के अनुसार आत्मा भी देव पशु और मनुष्यों में छोटा बड़ा होगा, ऐसा होने में पर्यायानुसार अविरुद्धता रहेगी यह नही कह सकते, और ऐसा होने में आत्मा विकृत सा हो जायगा। संकोच विकास में विकार को हटाया नहीं जा सकता।

अन्त्यावस्थितेश्चोभयनित्यत्वादविशेषः।२।२।३६॥

अन्त्यावस्थितेमुक्तिसमयावस्थितिस्तस्माद् हेतोः। पूर्वदोष परिहाराय च उभय नित्यत्वं भवेदणुत्वं वा, महत्वं वा। उभयथापि शरीरपरिमाणो न भवतीति न तवार्थसिद्धिः।

जैन अन्तिम मोक्षावस्था में जीव का परिमाण नित्य मानते हैं, जब दोनो ही अवस्थायें नित्य हैं तो वह जीव कहीं अणु परिमाण का और कहीं महत् परिमाण का निश्चित होता है। यह तो कुछ बात न हुई मोक्ष की विशेषता ही क्या होगी ?

४ अधिकरण

पत्युरसामंजस्यात्।२।२।३७॥

पराभिप्रेतांज्जडजीवान्निराकृत्येश्वरं निराकरोति। वेदोक्तादणुमात्रेऽपि विपरीतं तु यद् भवेत्, तादृष्टवा स्वतन्त्रं चेदुभयं मूलतो मृषा। तार्किकादिमतं निराकरोति।

नास्तिकों के जड़ जीव का निराकरण करके अब ईश्वर कारणवाद का निराकरण करते हैं। वैदिक सिद्धान्त से अणुमात्र भी जो मत विपरीत होता है, या उसी प्रकार उससे बिलकुल भिन्न स्वतंत्रमत होता है, वे दोनों ही मूल से ही गलत हैं। इसलिए अब तार्किकों के मत का निराकरण करते हैं।

पतिश्चेदीश्वरस्तस्माद् भिन्नस्तदा विषमकरणात् वैषम्य-नैर्घृण्ये

स्याताम् । कर्मापेक्षायां त्वनीश्वरं युक्तिमूलत्वाद्दोषाः, असामंजस्याद् हेतोर्न पतित्वेनेश्वरसिद्धिः ।

यदि ईश्वर को जीवों का पति मानते हैं तो भिन्न भी मानना होगा, तब विषम सृष्टि करने के कारण उस ईश्वर पर निर्दयता का दोष भी घटित होगा । यदि सृष्टि की विषमता में कर्म को अपेक्षित मानते हैं तो ईश्वरता खंडित होती ह । इस प्रकार यह मत असंगत है । ईश्वर का पतीत्व सिद्ध नहीं होता ।

सम्बन्धानुपपत्तेश्च ।२।२।३८।।

जीवब्रह्मणोर्विभुत्वादज संयोगस्यानिष्टत्वात् पतित्वानुपपत्तिः । तुल्यत्वादप्यनुपपत्तिरिति चकारार्थः ।

जीव और ब्रह्म को विभु मानते हो तो वह अज सिद्ध होते हैं, अज का संयोग अनित्य होता है, अतः ईश्वर का पतित्व सिद्ध नहीं होता । ईश्वर जीव को समान मानने सेभी पतित्व सिद्ध नहीं होता ।

अधिष्ठानानुपपत्तेश्च ।२।२।३९।।

स चेश्वरो जगत् कर्तृत्वेन कल्प्यमानो लौकिकन्यायेन कल्पनीयः । स चाधिष्ठत्त एव किंचित् करोतीतीश्वरे ऽप्यधिष्ठानमंगी कर्त्तव्यम् । तस्मिन् कल्प्यमाने मतविरोधऽनवस्था असंभवश्च ।

यदि उस ईश्वर की जगत के कर्त्ता के रूप में कल्पना करते हो तो लौकिक कर्त्ता की तरह ही कर सकते हो । वह भी अधिष्ठित होकर ही कुछ कर सकता है, इसलिए ईश्वर में भी अधिष्ठान स्वीकारना होगा । उसकी कल्पना में फिर मत विरोध और अनवस्था दोष होगा ।

करणवच्चेन्न भोगादिभ्यः ।२।२।४०।।

करणवदंगीकारे असंबंधदोषः परिहृतो भवति तच्च न युक्तम्, भोगादि प्रसक्तेः ।

यदि ईश्वर को करण की तरह स्वीकार करते हो तो असंबंध दोष हट

जाता है, जो कि ठीक न होगा। उससे ईश्वर में भोगासक्ति सिद्ध होगी।

अन्तवत्वमसर्वज्ञतावा ।२।२।४१।।

ईश्वरः प्रकृति जीव नियमार्थमंगीकृतः। तत्तु तयोः परिच्छेदे स भवति। ततश्च लोकन्यायेन जीवप्रकृत्योरन्तवत्वं भवेत्। ततः च अनित्यातायां मोक्ष शास्त्र वैफल्यम्। एतद्दोष परिहाराय विभुत्वनित्यत्वेऽगीक्रियमाणे सम्बन्धाभावादसर्वज्ञतावा स्यात् तस्मादसंगतस्तार्किकवादः।

तार्किक ईश्वर को केवल जीव और प्रकृति नियमन करने वाला ही मानते हैं। वह नियमन भी जभी संभव है जबकि जीव और जड़ की इयत्ता हो। इसलिए नियमन के लिए उनकी इयत्ता माननी पड़ेगी। इयत्ता मानने से, लौकिक वस्तुओं की तरह इन्हें भी अन्तवान मानना पड़ेगा। अन्तवान वस्तु अनित्य होती है, इसलिए मोक्ष की बात कहना व्यर्थ है। यदि इस दोष का परिहार करने के लिए दोनों का विभुत्व और नित्यत्व स्वीकारो तो ईश्वर का सम्बन्ध विच्छेद हो जायगा और उसकी असर्वज्ञता सिद्ध होगी। इसलिए तार्किक बाद असंगत है।

उत्पत्यसंभवात् ।२।२।४२।।

भागवतमते कंचिदंशं निराकरोति। ते च चतुर्व्यूहोत्पत्ति वदंति। वासुदेवात्संकर्षणस्तस्माद्प्रद्युम्नस्तस्मादनिरुद्धः-इति। तत्रैतेषामीश्वरत्वं सर्वेषामुतसंकर्षणस्यजीवत्वं, अन्यान्यत्वं उत्पत्तिपक्षे, जीवस्योत्पत्तिर्न संभवति। तथासति पूर्ववत् सर्वनाशः स्यात्।

भागवत मत के कुछ अंश का निराकरण करते हैं, वे चतुर्व्यूह की उत्पत्ति बतलाते हैं। वासुदेव से संकर्षण, उनसे प्रद्युम्न उनसे अनिरुद्ध इनमें सब को ईश्वर और संकर्षण को जीव कहते हैं। इसमें जो एक दूसरे से उत्पत्ति की बात है वह समझ में नहीं आती। जहाँ तक उत्पत्ति की बात है जीव की उत्पत्ति तो होती नहीं। यदि ऐसा मानेंगे तो वह अनित्य सिद्ध होगा, फिर मोक्ष मी बात भी असिद्ध होगी सारा मत ही ध्वंस हो जायगा।

न च कर्त्तुः करणम् ।२।२।४३।।

न चकर्त्तुः करणम् ।२।२।४३।।

कर्त्तुः संकर्षण संज्ञात् जीवात् प्रद्युम्न संज्ञकं मन उत्पद्यते इति । तल्लोके न सिद्धम् ; नहि कुलालाद् दण्ड उत्पद्यत इति, चकारादग्रिमस्य निराकरणम् ।

कर्त्ता संकर्षण नामवाले जीव से प्रद्युम्न नामवाले मन की उत्पत्ति कहते हैं, ये बात लौकिक दृष्टि से भी ठीक नहीं है, कहीं भी कुलाल से दण्ड की उत्पत्ति नहीं देखी जाती, यही बात अनिरुद्ध नामक अहंकार की उत्पत्ति में भी है ।

विज्ञानादि भावे वा तदप्रतिषेधः ।२।२।४४।।

अथ सर्वे परमेश्वरा विज्ञानादिमन्त इति, तथा सति तदप्रतिषेधः । ईश्वराणामप्रतिषेधः । अनेकेश्वर त्वं च न युक्तमित्यर्थः, वस्तुतस्तु स्वातंत्र्यमेव दोषः ।

सारे ही ईश्वर विज्ञानादि मान अर्थात् छः ऐश्वर्यों से संपन्न हैं ये तो नियम विरुद्ध बात है, अनेक ईश्वरों की बात कहना असंगत है, वस्तुतः सबको स्वतंत्र मानना ही दोष है ।

विप्रतिषेधाच्च ।२।२।४५।।

बहु कल्पनया वेदनिन्दया च विप्रतिषेधः, चकाराद् वेद प्रक्रिया विरोधः ।

अनेक ईश्वरों की कल्पना करना एक प्रकार का वेद की निन्दा या वेद का प्रतिषेध ही है, यह बात वेद प्रक्रिया के भी विरुद्ध है ।

द्वितीय अध्याय

तृतीयपाद

न वियदश्रुतेः ।२।३।१।।

श्रुतिवाक्येषु परस्पर विरोधः परिह्रियते विप्रतिषेध परिहाराय । मीमांसायास्तदर्थं प्रवृत्तत्वात् । शत्य विरोधाभ्याम् । तथा च ब्रह्म वादे जडजीवयो विरुद्धांश निराकरणाय तृतीय पादारम्भः ।

विप्रतिषेध के परिहार के लिए, श्रुतिवाक्यों में दृष्ट पारस्परिक विरोध का परिहार किया गया । मीमांसा की दृष्टि से ऐसा किया गया, शक्ति की और अविरोध की दृष्टि से भी किया । अब ब्रह्मवाद में जीव और जड़ के विरुद्धांशों के निराकरण के लिए तीसरा पाद प्रारम्भ करते हैं ।

द्विविधाः हि वेदांते सृष्टिः । भूतभौतिकं सर्वं ब्रह्मण एव विस्फुलिंगं-न्यायेनैका । अपरा वियदादि क्रमेण । सा चानामरूपात्मना नामरूपत्ववत्वेनाभि व्यक्तिः । सजडस्यैव कार्य त्वात् तस्य जीवस्य त्वंशत्वेनैव न नाम रूप संबंधः ।

अनित्ये जननं नित्ये परिच्छिन्ने सभागमः ।
नित्या परिच्छिन्नतनौ प्राकट्यं चेति सा त्रिधा ॥

वेदान्त में दो प्रकार से सृष्टि का वर्णन मिलता है। एक तो सारा भूत भौतिक जगत् ब्रह्म से ही अग्नि की चिनगारियों की तरह निकला है, दूसरे आकाश आदि के क्रम से सृष्टि हुई है। वह सृष्टि नाम रूप रहित थी, नाम रूप में अभिव्यक्त हो गई। जड़ सहित ही जीव कार्य रूप है किन्तु परमात्मा का अंश होने से जीव का नाम रूप से कोई सम्बन्ध नहीं है। सृष्टि अनित्य है, । नित्यता के परिच्छिन्न होने पर ही वस्तुएँ संगठित होती हैं, नित्य और अपरिच्छिन्न जीव में ही ब्रह्म का प्राकट्य होता है, इस प्रकार सृष्टि के तीन रूप हैं।

तत्र क्रम सृष्टौ सन्देहः, छांदोग्येहि "सदेव सोम्येदमग्र आसीत् एक मेवा-द्वितीयम्" इत्युपक्रम्य "तदैक्षत तत् तेजोऽसृजतेति तेजोऽवंन्न सृष्टिरुक्तां, न वाय्वाकाशयोः । तैत्तरीयके पुनर्ब्रह्मविदाप्नोति परमित्युपक्रम्य "तस्माद् वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः" इति आकाशादि सृष्टिरुक्ता । उभयमपि क्रम-सृष्टिवाचक मित्येक वाक्यता युक्ता । छांदोग्ये मुख्यतया सृष्टिस्तैत्तरीये गौणी, मुख्यात्वग्रे वक्ष्यते, "सोऽकामयत" इत्यादिना ।

दूसरे प्रकार की जो क्रम सृष्टि है उसका विभिन्न प्रकार से वर्णन मिलता है उसी पर संशय होता है। छांदोग्य में "सदेव सोम्येदमग्र" इत्यादि उपक्रम करके "तत्तेजोऽसृजत" इत्यादि में तेज जल और पृथ्वी की सृष्टि का वर्णन है वायु और आकाश का उल्लेख नहीं है। तैत्तरीयक में "ब्रह्म विदाप्नोतिपरम" इत्यादि उपक्रम करके "तस्माद् वा एतस्माद्" इत्यादि में आकाश आदि सभी की सृष्टि का वर्णन किया गया है। दोनो में ही क्रम सृष्टि का उल्लेख है इसलिए दोनों में एक वाक्यता तो है ही। छांदोग्य में मुख्य रूप से उल्लेख है और तैत्तरीयक में गौण रूप से, इसीलिए मुख्य को आगे "सोऽका मयत" इत्यादि में वर्णन किया गया है।

तत्र संशयः, किमाकाशम् उत्पद्यते न वा ? किं तावत प्राप्तम् । नोत्पद्यत इति, कुतः ? अश्रुतेः, श्रुन्ति वादिनां श्रुत्यैव निर्णयः, श्रुतौ पुनर्मुख्ये क्रम सृष्टौ न श्रूयते ।

अब संशय होता है कि आकाश की उत्पत्ति होती है या नहीं ? क्या माना जाय ? श्रुति मानने वाले तो श्रुति से ही निर्णय करते हैं, श्रुति में जो छांदोग्य का मुख्य सृष्टि क्रम है उसमें तो इसका उल्लेख है नहीं इसलिए आकाश की उत्पत्ति नहीं होती यही मानना ठीक है।

अस्तितु ।२।३।२॥

तुशब्दः पक्षंव्यावर्त्तयति । तैत्तरीयके वियदुत्पत्तिरस्ति, यद्यपि मुख्ये नास्ति तथापि विरोधाभावादन्यत्रोक्तमप्यंगी कर्त्तव्यमेकवाक्यत्वाय । एक विज्ञानेन सर्वं विज्ञान प्रतिज्ञानुरोधाच्च ।

तु शब्द पूर्व पक्ष का निरास करता है। कहते हैं कि तैत्तरीयक में तो आकाश की उत्पत्ति का उल्लेख है ही, यद्यपि मुख्य ऋचा में नहीं है, पर विरोध भी तो नहीं है, इसलिए अन्यत्र कही हुई बात को मानना चाहिए। तभी दोनों की एक वाक्यता संगत होगी। एक के ज्ञान से समस्त का ज्ञान हो जाता है, इस प्रतिज्ञा से भी उक्त बात मान्य है।

गौण्यसंभवात् ।२।३।३॥

वियदुत्पत्तिर्गौणी भविष्यति, कुतः ? असंभवात् । न हि आकाशोत्पत्तिः संभवति, निरवयवत्वात् । व्यापकत्वाच्च मुख्ये चाभावात् । एक विज्ञानेन सर्वं विज्ञान प्रतिज्ञातु तदधिष्ठानत्वेन जीववत् तदंशत्वेन वा तच्छरीरत्वेन वा एक विज्ञान कोटि निवेशात् । लोकेऽप्यवकाशं कुर्वीत् इत्यादौ गौण प्रयोगदर्शनात्

आकाश की उत्पत्ति गौणी होती है, क्योंकि उसकी उत्पत्ति संभव नहीं है, उसके कोई अवयव तो हैं नहीं, वह तो व्यापक वस्तु है, फिर मुख्य वाक्य में उसका उल्लेख भी नहीं है। एक विज्ञान से सर्व विज्ञान का जो नियम है वह तो परमात्मा के अधिष्ठानत्व में लागू होता है, जीव जैसे परमात्मा का अंश है, या उसका शरीर स्थानीय है, इस बात का द्योतक है। लोक में भी "अवकाश करो" ऐसा गौण प्रयोग ही होता है, वस्तुतः अवकाश तो व्यापक है, उसकी उत्पत्ति की बात तो केवल कहने भर की है।

शब्दाच्च ।२।३।४॥

"वायुश्चान्तरिक्षं च एतदमृतम्" इति, आकाशवत् सर्वगतश्च नित्य इति । न हि अमृतस्य ब्रह्म दृष्टान्त भूतस्योत्पत्तिः संभवति ।

"वायु और अन्तरिक्ष दोनों अमृत हैं" इसमें स्पष्टतः नित्य कहा गया है, आकाश की तरह वायु भी सर्वगत और नित्य है। अमृत स्वरूप ब्रह्म से जिसका दृष्टान्त दिया जाय उसकी उत्पत्ति हो भी कैसे सकती है ?

स्याच्चैकस्य ब्रह्म शब्दवत् ।२।३।५।।

ननुकथं वियदुत्पत्ति गौंणी भविष्यति। तत्र हि संभूत इत्येक मेव पदमुत्तरत्रानुवर्त्यते। तथा सत्युत्तरत्र मुख्या आकाशे गौणी इति युगपद् वृत्तिद्वय विरोध इति चेन्न। एकस्यापि स्यात् क्वाचिन्मुख्या क्वचिद् गौणीति। ब्रह्म शब्दो यथा "तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व," तपो ब्रह्म इति। प्रथम वाक्ये मुख्या द्वितीये गौणी। न चात्र प्रयोग भेदोऽस्तीति वाच्यम्। संभूत शब्दोऽप्यावर्तते। नतु तादृशार्थं युक्तोऽपि। आत्मसत्वेनैव तत्सत्वं इति सत्वगुणो वचन हेतुः। तत्ताद भावापन्नं ब्रह्मैव सर्वत्र कारणमिति नानेकलक्षणा। तद्भावापत्ति विशेषण व्यावृत्यर्थमपि न लक्षणा। स्वभावतोऽपि ब्रह्मणः सर्वरूपत्वात् तस्माद् गौणी आकाश संभूति श्रुतिः।

आकाशोत्पत्ति गौणी कैसे हो सकती है, क्योंकि उसके वर्णन के बाद ही "संभूत" ऐसा पद कहा गया है, ऐसा जब स्पष्ट उल्लेख है तो आकाशोत्पति मुख्य प्रतीत होती है, मुख्या और गौणी दोनों बातें एक साथ हों, ऐसी विरुद्धता तो समझ में नहीं आती। ऐसा तर्क भी विषय को न जानने के कारण ही किया जाता है, वस्तुतः एक ही वस्तु कभी गौणी कभी मुख्या हो सकती है, जैसे कि—ब्रह्म शब्द का ही उदाहरण लेलें। "तप से ब्रह्म को जानों" तप ब्रह्म है" इसमें प्रथम वाक्य मुख्या और द्वितीय में गौणी है। यहाँ प्रयोग भेद है ऐसा भी नहीं कह सकते। संभूत शब्द की ही आवृत्ति की गई है। किसी अन्य की नहीं। प्रयोग भेद तो जब माना जाता जबकि तादृशार्थ अर्थात् किसी की किसी से तुलना की जाती। सत्कार्य वाद में उत्पत्ति की पूर्व दशा में कारण भाव से ही कार्य रहता है, आत्मा ही उसमें कारण है, अतः पूर्वदशा में आकाश कारण भाव से रहता है, इसलिए आत्मासत्ता से ही उसकी सत्ता है, उसकी आकाश रूप से पृथक् सत्ता नही रहती। सृष्टिदशा में अन्य कार्य की तरह ब्रह्म से प्रकट आकाश की जो पृथक् रूप से सत्ता होती है वही संभूत पद से गौणी बात कही गई है।

वायु की संभूति का बोधक वाक्य आकाशभावापन्नता का, अभिसंभूति का बोधक वाक्य वायुभावापन्नता का बोधक है क्योंकि सब जगह ब्रह्म ही एकमात्र कारण है इसलिए अनेक लक्षण-नहीं की गई है। तद्भावापत्ति विशेषण के निराकरण के लिए भी लक्षण-नहीं की गई है क्योंकि सब स्वभाव से ब्रह्म रूप ही तो है। इसलिए आकाश संभूति गौणी ही है।

इत्येवं प्राप्ते इदमाह— इस मत पर सूत्र प्रस्तुत करते हैं ।

प्रतिज्ञा हानिरव्यतिरेकाच्छब्देभ्यः ।२।३।६।।

भवेदेतदेवं यदि छांदोग्य श्रुतिर्न विरुद्धयेत कथम् ? एक विज्ञानेन सर्व विज्ञान प्रतिज्ञा बाध्यते । अव्यातिरेकात् । अनुद्गमात् । यदि संबद्धमेव ब्रह्मणा आकाशं तिष्ठेत् तदा ब्रह्म विज्ञानेन आकाश विषयीकरणे तन्नैक विज्ञानम् । आकाशस्य चालौकिकत्वात् तज्ज्ञानं सर्वज्ञता यामपेक्षितमेव न च जीववत्, लौकिकत्वात् । व्यवहार मात्रविषयत्वान्नातीन्द्रियत्वादि चिन्ता । अनुद्गमेऽपि वस्तु सामर्थ्यात् कथं प्रतिज्ञा हीयते इत्यत आह-शब्देभ्यः "येना श्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतं भवत्य विज्ञातं-विज्ञातं भवति" इति शब्दात् प्रकृति विकार भावेनैव ब्युत्पादयति ज्ञानं । शब्देभ्यो हेतुभ्यः प्रतिज्ञा हानिरितियोजना ।

यदि छांदोग्य श्रुति बाधा न डालती तो जो आपने कहा वह हो सकता था । छांदोग्य श्रुति के अनुसार एक विज्ञान से सर्व विज्ञान वाली प्रतिज्ञा बाधा उत्पन्न करती है । यदि स्वरूप सम्बन्ध से अविभक्त रूप ही ब्रह्म आकाश में स्थित है तो ब्रह्म विज्ञान से आकाश का ही बोध होगा, एक मात्र ब्रह्म के ज्ञान की बात तो सधेगी नहीं । क्योंकि आकाश अलौकिक विभु पदार्थ है, इसलिए उसका ज्ञान सर्वज्ञता में अपेक्षित हो जायेगा । वह जीव की तरह अणु और लौकिक तो है नहीं । जीव तो व्यवहार में आने वाला तत्त्व है इसलिए उसमें अतीन्द्रियत्व आदि चिन्ता नहीं होती, उसमें तो एक विज्ञान वाली प्रतिज्ञा लागू करके परमात्मा की सत्ता का अनुमान सहज रूप से किया जा सकता है, आकाश की गौण उत्पत्ति मान लेंगे तो वही ब्रह्म रूप हो जायेगा अतः उसमें प्रतिज्ञा क्या काम देगी ? यदि कहो कि उसकी सृष्टि न मानें तो भी आकाश शब्द तो है ही उसी से ब्रह्म और आकाश की पृथक्ता सिद्ध होती है फिर तो प्रतिज्ञा लागू हो जायेगी । इसका उत्तर श्रुतिशब्दों से ही मिल जाता है "जिसके ज्ञान से अश्रुत वस्तु श्रुत, अमान्य वस्तु मान्य और अज्ञात वस्तु ज्ञात हो जाती है" इसमें प्रकृति विकार भाव से ही ज्ञानोत्पादन की बात कही गई है । जब तक आकाश की मुख्या सृष्टि नहीं मानेंगे तब तक वह प्राकृत विकृत पदार्थ नहीं होगा और न उसमें प्रतिज्ञा ही लागू होगी ।

यावद विकारन्तु विभागो लोकवत् ।२।३।७।।

तु शब्द आकाशोत्पत्य संभावन शंकांवारयति. यद्यद् विकृतं तस्य सर्वस्य विभाग उत्पत्तिः । आकाशमपि विकृतम् । लौकिक ब्यवहार विषयत्वात् । यथा लोके विकृत मात्रमुत्पद्यते ।

तु शब्द आकोशोत्पत्ति के सम्मन्ध में की गई शंका का निव।रक है । जितनी भी विकृत वस्तुएँ हैं सबकी अलग-अलग उत्पत्ति हुई है, आकाश भी विकृत है, यह भी लौकिक व्यवहार का विषय है यह लोक में विकृत मात्र उत्पन्न है ।

आकाशोत्पत्तौ श्रुत्या सिद्धायाम्, "आकाशवत् सर्वमतश्च नित्यः, आकाश शरीरं ब्रह्म" स यथाऽनंतोऽयमाकाशः एवमनन्तात्मा वेदितव्यः आकाशआत्मा "इत्यादि श्रुतयः" समोऽनेन सर्वेण "य आकाशे तिष्ठन् सर्वमात्मा" इत्यादिभिरेक वाक्यतां लम्भते । व्यवहारे त्वज्ञ बोधनं वाक्यानामुपयोगः ।

आकाशोत्पत्ति तो श्रुति से ही सिद्ध है श्रुति में प्रयोग आता है कि "ब्रह्म आकाश की तरह सर्वगत और नित्य है" ब्रह्म आकाश की तरह व्यापक शरीर वाला है" वह ऐसा ही अनन्त है जैसा कि आकाश "ऐसे ही परमात्मा को अनंत जानना चाहिए" आत्मा आकाश की तरह अनन्त है "इत्यादि श्रुतियों और" इसी के समान सब हैं जो कि आकाश में स्थिति सबका आत्मा है" इत्यादि श्रुतियों में एक वाक्यता है । इन श्रुतियों में स्पष्टतः आकाश को ब्रह्म से पृथक् लौकिक विकृत पदार्थ कहा गया है और उसकी व्यापकता अनन्तता आदि विशेषताओं से परमात्मा का सादृश्य बतलाया गया है । व्यवहार में वाक्यों का उपयोग मूढ़ व्यक्तियों के लिए ही करना पड़ता है ।

एतेन मातरिश्वा व्याख्यातः ।२।३।८॥

आकाशोत्पत्ति समर्थनेन मातरिश्वोत्पत्ति समर्थिता । सैषाऽनस्तमिता देवतेति भौतिक वायु व्यावृत्यर्थमलौकिकपदम् ।

आकाशोत्पत्ति के समर्थन से मातरिश्वा की उत्पत्ति का भी समर्थन हो जाता है । ये अनस्तमित देवता हैं, भौतिक वायु नहीं है इस बात को सूचित करने के लिए ही अलौकिक मातरिश्वा पद का प्रयोग किया है ।

असम्भवस्तु सतोऽनुपपत्तेः ।२।३।९॥

ननु ब्रह्मणोऽप्युत्पत्तिः स्यात् । "अकाशवत् सर्वगतश्च नित्यः" इति श्रुतेराकाश न्यायेन सर्वगतत्वनित्यत्वयोरभावे इतीमामाशंकां तुशब्दः परिहरति । सतः सन्मात्रस्योत्पत्तिर्न संभवति । नहि कुंऽलोत्पत्तौ कनकोत्पत्तिरुच्येनाम रूपविशेषाभावात् । उत्पत्तिश्च स्वीक्रियमाणा नोपपद्यते, स्वतो न संभवति । अन्यत स्त्वनवस्था । यदेव च मूलं तदेव ब्रह्मेति ।

सत् की उत्पत्ति के विषय में शंका करते हुए कहते हैं कि ब्रह्म को आकाश की तरह सर्वगत और नित्य कहा गया है तो वह आकाश जैसे नष्ट होता है वैसे ही वह भी नष्ट होता होगा और पुनः उत्पन्न होता होगा। इस शंका का निराकरण तु शब्द से करते हैं। कहते हैं कि सत् की उत्पत्ति नहीं होती, कुंडल की उत्पत्ति से स्वर्ण उत्पन्न हुआ, ऐसा नहीं कहा जाता, क्योंकि उसमें नाम रूप विशिष्टता का अभाव रहता है। उत्पत्ति मानने से भी वह उपपन्न नहीं हो सकता वह स्वतः तो उत्पन्न होगा नहीं, यदि किसी अन्य से उत्पन्न होता है तो उस जनक के जनक की कल्पना करनी पड़ेगी इस प्रकार निर्णय न होने से अनवस्था दोष घटित होगा। जो मूल है वही ब्रह्म है।

तेजोऽतस्तथा ह्याह ।२।३।१०।।

तेजोऽतोवायुतः। तथा ह्याह—वायुरग्निरिति श्रुतेः। हि शब्देनैवमाह—छांदोग्य श्रुतिः प्रतिज्ञा हानि निराकरणार्थं तैत्तरीयकमपेक्षते वाय्वाकाशयोरुत्पत्त्यर्थम्। तथा चोप जीव्यस्य प्राधान्याद् वायुभावापन्नमेव सत् तेजस उत्पादक मिति स्वीकरोति। ब्रह्मण एव सर्वोत्पत्ति पक्षस्त्वविरुद्धः।

"वायुरग्निः" इस श्रुति से ज्ञात होता है कि तेज वायु से उत्पन्न होता है। छांदोग्य श्रुति, प्रतिज्ञा हानि के निराकरण करने के लिए उक्त तैत्तरीयक श्रुति की अपेक्षा करतो है। वायु और आकाश की उत्पत्ति के लिए ही उसे उसकी अपेक्षा होती है। उपजीव्य परमात्मा की प्रधानता से ही ये बात बन सकती है वह सत् ही वायुभावापन्न होकर तेज का उत्पादक है, ऐसी छांदोग्य की मान्यता है। यह पक्ष ब्रह्म से ही सारी उत्पत्ति है ऐसा मानने पर संगत हो सकता है।

आपः ।२।३।११।।

तथा ह्याहेत्येव। इदमेकमनुवाद सूत्रमविरोध्र व्यापकम्। न श्रुत्योः, सर्वत्र विरोधे इति।

जल तेज से हुआ। इसकी उत्पत्ति के विषय में दोनों श्रुतियाँ अविरुद्ध हैं, बाकी सब में कोई न कोई वैमत्य है।

पृथिव्याधिकार रूपशब्दान्तरेभ्यः ।२।३।१२।।

"ताआप ऐक्षन्त बह्वयः स्याम प्रजायेमहि" इति "ता अन्नमसृजन्त" तत्र अन्न शब्देन व्रीह्यदयः, अहोस्वित् पृथिवी इति ? संदेहः। ननु कथं संदेहः पूर्वन्यायेन उपजीव्य श्रुतेर्बलीयस्त्वादिति चेत्। उच्यते "अद्भ्यः पृथिवी पृथिव्या

ओषधय ओषधीभ्योऽन्नम्'' इत्यग्रे वर्त्तते । तथा सति पृथिवीमोषधीश्च सृष्ट्वा आपोऽन्नं सृजंति । आहोस्वित अन्न शब्देनैव पृथवी इति ? नन्वेवमस्तु पृथि कोषधि सृष्ट्यनन्तरमन्न सृष्टिरिति चेत् । न, छांदोग्य श्रुतेरपेक्षा भावान्महाभूत मात्र-स्यैवाभिलषितत्वात् एकपद लक्षणा पेक्षया तत्स्वीकारस्य गुरुत्वात् पूर्वोक्त एव संशयः ।

''उन जलों ने विचार किया अनेक रूपों में उत्पन्न हों'' उन्होंने अन्न की सृष्टि की ''इत्यादि में संदेह होता है कि यहाँ अन्न शब्द ब्रीहि आदि धान्य का बाची है या पृथिवी का ? यदि कहें कि संदेह की क्या आवश्यकता है, पहिले की तरह उपजीव्य श्रुति की बलवत्ता से ही निर्णय कर लो, सो नहीं बनता ''जलों से पृथिवी, पृथिवी से ओषधियाँ, ओषधियों से अन्न हुआ'' ऐसा उसमें आगे स्पष्ट उल्लेख है । इसके अनुसार तो यही निर्णय होता है कि पृथिवी और औष-धियों की सृष्टि कर जल अन्न की सृष्टि करते हैं । क्या अन्न शब्द से पृथिवी भी संभव है ? पृथिवी और ओषधियों की सृष्टि के बाद ही अन्न की सृष्टि हुई ऐसा ही समझ में आता है । ये अनुमान ठीक नहीं है, ऐसा मानने से छांदोग्य से भेद होगा, छांदोग्य के अनुसार ही अर्थ करना चाहिए । उसमें महाभूतों की सृष्टि का ही केवल उल्लेख है, एक पद की लक्षणा की अपेक्षा छांदोग्य को स्वीकारना ही ठीक है क्योंकि उसका गौरव है, यदि ऐसा नहीं करेंगे तो जैसा संशय आकाश आदि के संबंध में था वैसा ही होगा समाधान न होगा ।

तत्र ''अन्नमयं हि सौम्य मन आपोमयः प्राणस्तेजोमयी वाग्'' इति त्याणां सहचारः सर्वतोपलभ्यते । लोक प्रसिद्धिः वर्षण भूयिष्ठ लिंगंच, तस्मात् पृथिव्योष-ध्यन्नानां मध्ये अभेद विवक्षया मत् किंचित् वक्तव्ये अन्नमुक्तम् ।

उक्त प्रसंग में वर्णन आता है कि—''हे सोम्य ! अन्नमय मन, जलमय प्राण, तेजोमयी वाणी है'' इस प्रकार तीनों का साहचार्य वेदांत में सर्वत्र मिलता है । लोक में भी भूमिष्ठवर्षा के रूप में जल का बहुबचन प्रयोग मिलता है । इसलिए पृथिवी औषधि और अन्न इन तीनों को जल के माध्यम से अभिन्न मानकर अन्न शब्द का ही केवल उल्लेख किया गया है ।

इत्येवं प्राप्ते उच्यते, अन्न शव्दे पृथिवी, कुतः ? अधिकार रूप शब्दान्त-रेभ्यः । अधिकारो भूतानामेव, न भौतिकान्यं, नीलं च रूपं पृथिव्या एव, भूत सहपाठात् शव्दान्तम् ''अद्भ्यः पृथिवी'' इति तस्मादन्न शव्देन पृथिव्येव ।

उक्त मत पर सिद्धान्त कहते हैं कि अन्न शब्द से पृथिवी अर्थ ही करना चाहिए, क्योंकि उक्त प्रकरण में भूतों की सृष्टि की ही चर्चा है, भौतिक पदार्थों की नहीं नीलरूप भी पृथिवी का ही है, भूतों के साथ उसका शब्द से वर्णन किया गया है, "अद्भ्यः पृथिवी" यही छांदोग्य का उचित पाठ है। इसलिए अन्न 'शब्द से पृथिवी ही ठीक है।

तदभिध्यानादेवतु तल्लिगात् सः ।२।३।१३॥

आकाशादेव कार्यात् वाय्वादि कार्योत्पत्तिं तु शब्दो वारयति। स एव परमात्मा वाय्वादीन् सृजति। कथं तच्छ-व्दवाच्येततिचेत्, तदभिध्यानात्। तस्यतस्य कार्यस्योत्पादनार्थं तदभिध्या न ततस्तदात्मकत्वं, तेन तद्वाच्यमिति। ननु यथाश्रुतमेव कुतो न गृह्यत इत्यत आह–तल्लिगात्, सर्वकर्त्तृत्वं लिंगं तस्यैव सर्वत्र वेदान्तेष्वगतम् जडतो देवतायावा यत् किंचिज्जामानं तत् सर्वं ब्राह्मण एवेति सिद्धम्।

आकाश रूपी कार्य से वायु आदि कार्यों की उत्पत्ति तथा सूत्रस्थ तु शब्द से निषेध करते हैं। कहते हैं कि वह परमात्मा ही वायु आदि की सृष्टि करते हैं। यदि ऐसी बात है तो आकाश आदि शब्द परमात्म बाचक मानने होंगे, उनकी परमात्मा वाचकता कैसे सिद्ध होगी? इस पर कहते हैं कि उन उन कार्यों को उत्पन्न करने के लिए परमात्मा तदात्म होते हैं, इसलिए वे शब्द परमात्मवाची हैं। आकाश आदि जो शब्द श्रुति में वर्णित है उनको ही मानने में क्या आपत्ति है? इस पर कहते हैं कि-समस्त सृष्टि की चर्चा परमात्मा के द्वारा ही समस्त वेदांत वाक्यों में की गई है, इसलिए उक्त धारणा बनती है। जड़ या देवता से जो कुछ भी सृष्टि होती है वह सब ब्रह्म से ही है यही निश्चित मत है।

विपर्ययेणतु क्रमोऽत उपपद्यते ।२।३।१४॥

यथोत्पत्तिर्न तथा प्रलयः, किन्तु विपर्ययेण क्रमः। अत उत्पत्यनन्तरं प्रलयः। कुतः? उपपद्यते, प्रवेश विपर्ययेणहि तिर्गममम्। क्रमस्त्रष्टावेवैतत्।

जिस क्रम से सृष्टि होती है, प्रलय उस क्रम से नहीं होता अपितु उससे विपरीत कम से होता है। उत्पत्ति के बाद प्रलय होता है। प्रवेश के विपरीत ही निर्गमन होता है, यही सृष्टि का क्रम है।

अन्तराविज्ञानमनसीक्रमेण तल्लिगादिति चेन्नाविशेषात् ।२।३।१५॥

तैत्तरीय के आकाशादि अन्नपर्यन्तमुत्प

---त्तिमुत्त्वा अन्नमयादयो निरूपिता। तत्रान्नमयस्य प्राणमयस्य च सामग्री पूर्वमुत्पन्नोक्ता। आनन्दमयस्तु परमात्मा मध्ये विज्ञान मनसी विद्यमाने क्वचिदुत्पन्ने इति वक्तव्ये।

तैत्तरीयक में आकाश से लेकर अन्न तक की उत्पत्ति बतला कर अन्नभय आदि का निरूपण किया गया है। उसमें अन्नमय और प्राणमय की सामग्री को पूर्व में ही उत्पन्न बतलाया गया। आनन्दमय परमात्मा का अन्तिम उल्लेख है, उसके मध्य में विज्ञानमय और मनोभय की उत्पत्ति कैसे होती है? यह जानना है। इसका प्रसंग में उल्लेख होना चाहिए था।

तत्र क्रमेणोत्पन्ने इति वक्तव्यम् क्रमस्तु प्रातिलोभ्येन, सूत्रे विपर्ययानन्तरकथनात्, अन्तरेति च वचनात्। तेजोऽबन्नानामन्नमये गतत्वात्। वाय्वाकाशयोः प्राण एव गतत्वात्। आकाशात् पूर्वं विज्ञानमनसी उत्पन्ने इति वक्तब्यम्। तयोरग्रे वचनमेव लिंगमिति। अतस्तयोरुत्पत्तिवक्तव्येति चेन्न। अविशेषात्। नामरूपविशेषवतामेवोत्पत्तिरुच्यते, न त्वनयोः। विज्ञानमयस्य जीवत्वात् मनोमयस्य च वेदत्वात् अतो भूत भौतिक प्रवेशाभावान्न तमोरुत्पत्तिर्वक्तव्या।

इनकी उत्पत्ति का क्रम से उल्लेख होना चाहिए था। क्रम भी प्रतिलोभ होना चाहिए, क्योंकि सूत्र में विपर्ययानन्तर वर्णन किया गया है, "अन्तरात्ति च" शब्द यही बतलाता है। "तेजोऽबन्नानाम्" इत्यादि वचन अन्नभय से सम्बन्धित है। वायु और आकाश, प्राणगत तत्त्व मैं आकाश से पूर्व विज्ञान और मन उत्पन्न हुए यही कहना चाहिए। उन दोनों का पहिले ही नाम से उल्लेख है, इसलिए उनकी उत्पत्ति का उल्लेख होना चाहिए ये नहीं कह सकते। नामरूप की उत्पत्ति का विशेषोल्लेख है, इन दोनों का उल्लेख नहीं है। क्योंकि जीवविज्ञानमय है। मन्नमय, ज्ञानस्वरूप है, इसलिए भूत भौतिक में उनका प्रवेश नहीं है इस लिए उनकी उत्पत्ति नहीं कही गई।

चराचर व्यपाश्रयस्तुस्यात् तद्व्यपदेशोभाक्तस्तद्भावभावित्वात् ।२।३।१६॥

ननु विज्ञानमयस्य जीवस्यानुत्पत्तौ सर्वव्यवहारोच्छेदः उत्पत्तिश्तु त्रिविधा निरूपिता। अनित्येजननं नित्ये परिच्छिन्ने समागम इति। तथा च जीवस्य समागम लक्षणाऽप्युत्पत्तिर्न स्यादिति इतीमामाशंकां निराकरोति तु शब्दः। चराचरे स्थावरजंगमेशरीरे तयोः विशेषैणापाश्रयः आश्रयःशरीर सम्बन्ध इति यावत्। सतुस्यात्, न तुस्वत् ननु शरीरस्योत्पत्तौ जीवोऽप्युत्पद्यते। अन्यथा जातकर्मा-

दीनाम भ।व, प्रसंगादिति चेन्न। तद्व्यपदेशस्तस्य शरीरस्य जन्ममरण धर्मवत्वेन जीवव्यपदेशो भाक्तो लाक्षणिक:। कुत: ? तद्भावभावित्वात्। शरीरस्यान्वय-व्यतिरेकाभ्यामेव जीवस्य तद् भावित्वम्। देहधर्मो जीवस्य भाक्त:। तत्सम्बन्धेनै वोत्पत्तिव्यपदेश इति सिद्धम्।

विज्ञानमय जीव की उत्पत्ति न मानने से समस्त व्यावहारिक व्यवस्था का उच्छेद हो जाता है इसलिए तीन प्रकार की उत्पत्ति का निरूपण किया गया है, अनित्य जनन, नित्य परिच्छिन्न, और समागम इत्यादि जीव की समागत लक्षणा उत्पत्ति सम्बन्धी असंभावना का निराकरण तु शव्द से किया गया है। चराचर स्थावरजंगम शरीर में स्थावर जंगम का विशेष रूप से अपाश्रय होने से शरीर सम्बन्ध पर्यन्त आश्रय बतलाया गया है। वह देह सम्बन्ध, उत्क्रमण श्रुति के आधार पर कहा गया है, स्वत: कल्पित नहीं है। शरीर की उत्पत्ति में ही जीव की उत्पत्ति होती है। यदि जीवोत्पत्ति नहीं मानेंगे तो जातकर्म आदि संस्कार किसका होता है? यह प्रश्न सामने आवेगा। इसलिए उत्पत्ति स्वीकारना होगा। शरीर का जन्ममरण होता है, जीव उसके आश्रित रहता है, इसलिए जीव के जन्ममरण की बात भी कही जाती है जो कि लाक्षणिक कथन मात्र है। शरीर की स्थिति में जीव की स्थिति तथा उसके अभाव में जीव का अभाव हो जाता है, इसलिए उसकी उत्पत्ति विनाश की चर्चा की जाती है जीव के देहधर्म की चर्चा भी कथन मात्र है, उसके सम्बन्ध से ही उत्पत्ति की बात कही गई है।

नात्माऽश्रुतेर्नित्यत्वाच्च ताभ्य: ।२।३।१७॥

ननु जीवोऽप्युत्पद्यतां, किमिति भाक्तत्वं कल्प्यत इति चेत्। न, आत्मानोत्पद्यते, कुत: ? अश्रुते:, न हि आत्मन उत्पत्ति: श्रूयते। देवदत्तो जातो, विष्णुमित्रोजात इति देहोत्पत्तिरेव न तु तद्व्यतिरेकेण पृथग् जीवोत्पत्ति: श्रूयते। विस्फुल्लिगवद्व्युच्चरणं नोत्पत्ति:। नामरूप संबंधा भावात्। एतस्य गुणा: स्वरूपं चाग्रेंवक्ष्यते। किंच, नित्यत्वाच्च ताभ्य: श्रुतिभ्य:, अयमात्माऽजरोऽमर:, न जायते म्रियत इत्येव मादिभ्य:।

यदि कहें कि जीव भी तो शरीर के साथ ही उत्पन्न होता है, उसकी उत्पत्ति को कथन मात्र मानने का क्या तुक है? सो कहना ठीक नहीं, जीवात्मा उत्पन्न नहीं होता, आत्मा की उत्पत्ति का श्रुति में स्पष्ट निषेध है

देवदत्त का जन्म हुआ, विष्णु का जन्म हुआ, इत्यादि देहोत्पत्ति के आधार पर ही कहा जाता है जीव की पृथक् उत्पत्ति के आधार पर ऐंसा कहना कठिन है। जीव तो अग्नि की चिनगारी की तरह परमात्मा का प्रस्फुरित अंश मात्र है, उत्पन्न होता है, ऐंसा नहीं कह सकते। उनका न कोई नाम है न कोई रूप। इसके स्वरूप और गुणों का आगे उल्लेख करेंगे। "अयमात्माऽजरोऽमरः" न जायते म्रियेत इत्यादि श्रुतियों में जीवात्मा की नित्यता का स्पष्ट उल्लेख है।

गुणान्निरूपयन् प्रथयतश्चैतन्यगुणमाह—

गुणों का निरूपण करते हुए सर्व प्रथय जीव के चैतन्य गुण को बतलाते हैं—

ज्ञोऽत एव ।२।३।।१८।।

ज्ञश्चैतन्य स्वरूप, अतएव श्रुतिभ्यो विज्ञानमय इत्यादिभ्यः।सर्वविप्लववादी ब्रह्म वाक्यान्युदाहृत्य सूत्रोक्तसिद्धांतमन्यथाकृत्य श्रुतिसूत्रोल्लंघनेनप्रगल्भते। स वक्तव्यः। किं जीवस्य ब्रह्मत्वं प्रतिपाद्यते जीवत्वं वा निराक्रियते इति, आद्ये इष्टापत्तिः, न हि विस्फुल्लिगोऽग्न्यंशो भूत्वा नाग्निः। द्वितीये स्वरूपनाशः। जीवत्वं कल्पितमिति चेन्न अनेन जीवेनात्मनेति श्रुति विरोधात् विरोधात्। न चानादिरयं जीव ब्रह्मविभागो बुद्धि कृतः। प्रमाणभावात्। सदेव सोम्येदमग्र आसीदेक मेवाद्वितीयमिति श्रुति विरोधश्च। न च जीवातिरिक्तं ब्रह्मनास्ति। सर्व श्रुतिनाश प्रसंगात्। यः सर्वज्ञः सर्वशक्तिः, अयमात्मा अपहतपाप्मा, अधिकं तु भेदनिर्देशादित्यादिबाधः। तस्मात् सदंशस्य तद्व्यपदेशवाक्य मात्रं स्वीकृत्य शिष्ट परिग्रहार्थमाध्यमिक स्यैवायमपरावतारो नितरां सद्भिरुपेक्ष्यः।

जीव ज्ञ अर्थात् चैतन्य स्वरूप है, इसीलिए श्रुतियों में विज्ञानमय आदि नामों से, इसका उल्लेख है। सर्वविप्लव वादी (शांकर) ब्रह्मवाक्य को उद्धृत कर सूत्रोक्त सिद्धान्त का भिन्न तात्पर्य बतला कर श्रुतिसूत्रों का उल्लंधन करके अपनी प्रगल्भता दिखलाते हैं। वे जीव के ब्रह्मत्व का प्रतिपादन करते हैं अथवा जीवत्वं का निराकरण करते हैं, ये समझ में नहीं आता। यदि ब्रह्मत्व का प्रतिपादन करते हैं तो इष्टापत्ति होती है। अग्नि की अंश चिनगारियाँ, जो कि अग्नि से छिटक कर अलग हो गई है—उन्हें अग्नि कैसे कह सकते हैं। यदि जीवत्व का निराकरण करते हैं तो स्वरूपनाश मानते हैं। जीवत्व को कल्पित भी नहीं कह सकते, ऐसा मानने से "अनेन जीवेनात्मना" आदि श्रुति से विरुद्धता होगी। यह अनादि जीव ब्रह्म का विभाग काल्पनिक भी नहीं हो सकता,

ऐसा कोई प्रमाण नहीं है। यदि बुद्धिकृत काल्पनिक मानें तो "सदेव सोम्येदमग्र" आदि श्रुति से विरुद्धता होगी। ब्रह्म जीव से अतिरिक्त भी नही है, यदि ऐसा मानेंगे तो समस्त श्रुति सूत्रों की ही अवहेलना हो जावेगी, "यः सर्वज्ञः सर्वशक्तिः, अयमात्मा अपहत पाप्मा अधिकं तु भेदनिर्देशात्" इत्यादि में बोध होगा। इस लिए वैदिक शिष्ट मार्ग में घुसने के लिए सदंश के बोधक वाक्यों को स्वीकारने वाले माध्यमिक बौद्धों के दूसरे अवतार (शंकराचार्य) के मत की वैदिकों को सदैव उपेक्षा करनी चाहिए।

उत्क्रांतिगत्यागतीनाम् ।२।३।१९॥

अतऐवति वर्तते। स यदास्माच्छरीरादुत्क्रामति सहैवेतैः सर्वैरुत्क्रामति। ये के चास्माल्लोकात् प्रयान्ति चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ति इति। तस्माल्लोकात् पुनरेत्यस्मै लोकाय कर्मणे, "श्रुत्युक्तानामुत्क्रांत्यगत्यागतीनां श्रवणाद् यथायोग्यं तस्य परिमाणमंगीकर्त्तव्यम्। यद्यपि आराग्रमात्रो ह्यपरोऽपि दृष्ट इति श्रुत्यैव परिमाणमुक्तं तथापि बहुवादिविप्रतिपन्नत्वात् मुक्तिभिः साधयति। ब्रह्मवैलक्ष-ण्यार्थमुत्क्रांतिपूर्वकत्वमुक्तम्।

"जब वह जीव इस शरीर को छोड़कर जाता है तब उसके ये सभी इन्द्रियाँ प्राण आदि उत्क्रमण करते हैं" जब वे सब इस शरीर को छोड़कर चन्द्रमस मार्ग में जाते हैं "परलोकों से पुनः इस लोक में कर्मानुसार आता है" इत्यादि श्रुतियों में जीव की उत्क्रांति गति और आगति का स्पष्ट उल्लेख है, इससे जीव के परिमाण को स्वीकारना चाहिए। यद्यपि "आराग्रमात्रो" इत्यादि श्रुति में जीव के परिमाण का वर्णन है, फिर भी अनेक प्रकार के वर्णनों से युक्ति से परिमाण का निर्णय किया जाता है। जीव ब्रह्म से भिन्न है, ये बतलाने के लिए ही उत्क्रांति का उल्लेख किया गया है।

स्वात्मना चोत्तरयोः २।३।२०॥

उत्क्रान्तिगत्यागतीनां संबंधे इन्द्रियादिभिः परिष्वंगोऽप्यति, ततः संदेहोऽपि भवेत् किमुपाधित एतेषां संबंधो भवेत स्वतो वेति ? उत्तरयोर्गत्यागत्योः स्वात्मना केवलस्वरूपेण ऊर्णनाभिर्यथा तन्तून सृजते संचरत्यपि जाग्रतस्वप्ने तथा जीवो गच्छत्यागच्छते पुनः। ब्रह्मोपनिषत्। अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य ब्रह्माऽप्येति। कामरूप्यनुसच्चरन्निति वा। अथवा, उत्क्रांतिगत्यागतीनां जीव संबंध एव बोध्यते। नाऽणुत्वम्। स्वात्मनाचोत्तरयोरित्यणुत्वम्। अंगुष्ठ-

मात्रं पुरुषं निश्चकर्ष यमो बलादिति उत्क्रमे गत्यतिरिक्ते स्वात्रंत्र्या-भावात् । स्वात्मना जीव रूपेण चकारादिन्द्रियैश्च गत्यागत्योः संबंधी जीवइत्यर्थः । अतो मध्यम परिमाणमयुक्तमित्यणुरेव भवति ।

उत्क्रांति गति और आगति के वर्णन में जीव के साथ इन्द्रियादि का चिपकाव दिखलाया गया है, इस पर संदेह होता है कि चिपकाव स्वाभाविक होता है या औपाधिक ? ब्रह्मोपनिषद् में तो उल्लेख मिलता है कि—"जैसे ऊर्णनाभि तन्तुओं का सृजन करती और समेटती है वैसे ही यह जाग्रत और स्वप्न में करता है, यह जीव अपने केवल स्वरूप से जाता और आता है इत्यादि "अनेन जीवेना-त्मनाऽनुप्रविश्य" में ब्रह्म का जीव में प्रवेश बतलाया गया है तो क्या ब्रह्म भी जीव के साथ आता है ? अथवा उत्क्रांति गति आगति आदि में जीव संबंध को ही दिखलाया गया है, उसके अणुत्व का वर्णन नहीं है ? विचारने पर समझ में आता है कि--ज्ञ श्रुति और गति आगति श्रुति अणुत्व का हीं प्रतिपादन कर रही हैं । ऐसा भी उल्लेख है कि—अंगुष्ठ मात्र पुरुष को यम बल पूर्वक खींचकर ले जाते हैं, इससे जीव की परतंत्रता निश्चित होजाती है । किन्तु "स्वात्मनाऽनुप्रविश्य" इत्यादि से और इन्द्रियों से संबद्ध जीव की गति आगति के वर्णन से, जीव के स्वरूप का सही निर्णय हो जाता है, उसका अंगुष्ठ-परिमाण मानना ठीक नहीं है, वह तो अणु रूप ही निश्चित होता है ।

नाणुतच्छ्रुतेरितिचेन्नेतराधिकारात् ।२।३।२१॥

जीवो नाणुर्भवितुमर्हति, कुतः ? अतच्छ्रुतेः, अणुत्व विपरीतव्यापवकत्वश्रुतेः, "स वा एष महानज आत्मायोऽयं विज्ञानमय" इति चेन्न, इतिराधिकारात्, इतरः परंब्रह्म तस्याधिकारे महानज इति वाक्यम् । प्रकरणेन शब्दाश्च नियम्यंते अन्य-परा अपि योगेन ब्रह्म परा भविष्यन्ति ।

प्रतिपक्षी तर्क प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि—जीव अणु नहीं हो सकता, "स वा एष महानज" आदि श्रुति तो अणुत्व के विपरीत व्यापकत्व का विवेचन करती है । उनका ये तर्क भी असंगत है, ये व्यापकत्व को बतलाने वाली श्रुति तो परमात्मा संबंधी है, जिस प्रकरण की ये श्रुति हैं वो तो ब्रह्म संबंधी ही है । प्रकरणानुसार ही शब्द का नियमन किया जाता है, यदि शब्द अन्यपरक भी हो तो भी वह प्रकरणानुसार ब्रह्मपरक ही माना जायगा ।

स्वशब्दोन्मानाभ्यां च ।२।३।२२॥

"स्वयं विहृत्य स्वयं निर्माय स्वेन भासा स्वेन ज्योतिषा प्रस्वपति" इति स्व-शब्दोऽणु परिमाणं जीवं बोधयति। नहि स्वप्ने व्यापकस्य वा शरीर परिमाणस्य वा विहरणं संभवति। "बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पित स्यतु भागोजीवः स विज्ञेयः" इति। आराग्रमात्रो ह्यपरोऽपि दृष्ट इति चोन्मानं, चकारात् स्वप्न-प्रबोधयोः संधावागतिदर्शनम्।

"स्वयं विहृत्य स्वयं निर्माय" आदि श्रुति का स्व शब्द के अणु परिमाण को बतलाता है। स्वप्नावस्था की बोधक यह श्रुति है, स्वप्न में व्यापक या शरीर परिमाण वाले जीव का विहरण संभव नहीं है। "बालाग्रशतभागस्य" इत्यादि श्रुति भी जीव की सूक्ष्मता को बतलाती है। उक्त वर्णन स्वप्न और जागृति की संधि का है।

अविरोधश्चन्दनवत् ।२।३।२३।।

अणुत्वे सर्वशरीरव्यापि चैतन्यं न घटत इति विरोधो न भवति चन्दनवत्, यथा चन्दनमेकदेशास्थितं सर्वं देह सुखं करोति। महातप्त तैलास्थितं वातापनि-वृत्तिम्।

जीव यदि अणु है तो समस्त शरीर में चैतन्यता कैसे है? ऐसा संशय भी नहीं किया जा सकता, जैसे कि शरीर के किसी एक स्थान में स्थित चंदन सारे शरोर को सुखकर प्रतीत होता है वैसे ही स्थान विशेष में स्थित चैतन्य जीव समस्त शरीर को चैतन्य रखता है। खौलते हुए तेल में भी चन्दन की एक बूंद पड़ जाने पर तेल की गर्मी शान्त हो जाती है, वही स्थिति जीव की है।

अवस्थिति वैशेष्यादिति चेन्नाभ्युपगमाद्धृदिहि ।२।३।२४।।

चन्दने अवस्थिति वैशेष्यम् अनुपहतत्वचि सम्यक्तया अवस्थानं तस्मात्। त्वच् एकत्वात् तत्र भवतु नाम, न तु प्रकृते तथा संभवतीतिचेन्न। अभ्युपगमात्, अभ्युपगम्यते जीवस्यापि स्थान विशेषः, हृदि हि, हृदि जीवस्य स्थितिः गुहां प्रवि-ष्टाविति हि युक्तिः।

प्रतिपक्षी तर्क प्रस्तुत करते हैं कि—उक्त दृष्टान्त असंगत है, चंदन की स्थिति तो त्वचा के किसी स्थान विशेष में है त्वचा है तो एक ही उसका सबसे संबंध है, जीव के लिए तो ऐसा नहीं कह सकते। ये तर्क भी ठीक नहीं, जीव भी एक ही शरीर के स्थान विशेष में रहता है, हृदय में जीव की स्थिति रहती है "गुहांप्रविष्टौ" इत्यादि में इसका स्पष्ट उल्लेख है।

गुणाद्वाऽलोकवत् ।२।३।२५।।

जीवस्य हि चैतन्यं गुणः, स सर्वशरीरव्यापी, यथामणि प्रवेकस्य कांतिर्बहु देशं व्याप्नोतितद्वत् । प्रभायागुणत्वमेव स्पर्शानुपलम्भात् उदकगतौष्णवत्, न च विजातीयस्यारंभकत्वम्, प्रमाणाभावात् ।

जीव का गुण चैतन्य है, जो कि सारे शरीर में व्याप्त रहता है जैसे कि मणि की कांति बड़ी दूर तक चारों ओर फैली रहती है, उसी प्रकार ये भी है। इसकी प्रभा की प्रतीति स्पर्श से होती है जैसे कि गरम जल की प्रतीति होती है। किसी भी विजातीय वस्तु की प्रतीति नहीं हुआ करती ऐसा कोई प्रमाण नहीं मिलता।

लोक प्रतीतिस्तु सर्वैर्वादिभिरुपपाद्या, तच गुणिकल्पनापेक्षया गुण एव स्थलान्तर आरभ्यत इति कल्प्यताम्, तथैव लोक प्रतीतेः। पुष्परागादेरपि प्रभारूपमेव तावद्देशं व्याप्नोतीति महिस्वभावादेवांगी कर्त्तव्यम् । आरंभकस्य तेजसस्तत्राभावात् । कान्तिः प्रभारूपमिति हि लोके पर्यायः । वा शब्दो यथालोकं युक्तिः कल्पनीयेति सूचयति । ब्रह्मसिद्धान्ते तु यथैव लोके दृश्यते तथैव ब्रह्मणो जातमिति न कल्पना लेशोऽपि ।

लोक प्रतीति का समर्थन तो सभी मतावलम्बियों को करना पड़ेगा, उसमें तो मतभेद का प्रश्न ही नहीं, गुणी के संबंध में कल्पना करने की अपेक्षा गुण ही स्थलान्तर से विभिन्न रूपों में प्रतीत होता है, ऐसी कल्पना करना ही उचित है। पुष्पराग आदि सम्बन्धी जो प्रतीति होती है वह भी प्रभारूप से ही होती है जो कि उस प्रदेश में सुगंध के रूप में प्रतीति होती है वह पृथिवी का गुण है, यही स्वीकार करना चाहिए। उस सुगन्ध में तेज के गुण, रूप की तो प्रतीति होती नहीं किन्तु उसका अस्तित्व तो रहता ही है। कान्ति, प्रभा, रूप में सब लोक में पर्यायवाची शब्द माने जाते हैं। सूत्रस्थ वा शब्द का प्रयोग सूचित करता है कि—लोकानुसार ही ब्रह्मवाद में युक्तिपूर्वक कल्पना करनी चाहिए। ब्रह्मसिद्धान्त में तो यही तर्क समीचीन है कि--लोकानुसार ब्राह्म सृष्टि भी है, कल्पना की तनिक भी आवश्यकता नहीं।

व्यतिरेको गन्धवत् ।२।३।२६।।

सिद्धं दृष्टान्तमाह । यथा चम्पकादिगंधश्चंपकव्यवहितस्थलेऽप्युपलभ्यते । वेदोक्तत्वादस्य दृष्टान्तत्वम् । यथा वृक्षस्य संपुष्पितस्य दूराद्गंधो वात्येवं पुण्यस्य

कर्मणोदूराद् गंधो वातीति । अन्यथा कल्पना त्वयुक्तेत्यवोचाम् ।

सिद्ध दृष्टान्त देते हैं कि जैसे चम्पक आदि पुष्पों की गंध चंपक वृक्ष के निकटस्थ सभी ओर फैलती है, वैसे ही पुण्य कर्म के प्रभाव से जीव की गंध चतुर्दिक फैलती है, यदि ऐसा नहीं है तो जीव के अस्तित्व की कल्पना ही व्यर्थ है।

तथा च दर्शयति ।२।३।२७।।

हृदयायतनत्वमणुपरिमाणत्वंचात्मनोऽभिधाय तस्यैवालोमभ्य आनखाग्रेभ्य इति चैतन्येन गुणेन समस्त शरीर व्यापित्वं दर्शयति ।

श्रुति में जीव का हृदयायतनत्व और अणुपरमाणत्व बतलाकर "आलोमभ्य अनारवाग्रेभ्य" इत्यादि में चैतन्य गुण बतलाते हुए उसकी समस्त शरीर में व्यापकता बतलाई गई है ।

पृथगुपदेशात् ।२।३।२८।।

प्रज्ञया शरीरं समारुह्येति करणत्वेन पृथगुपदेशात् चेतन्यं गुणः ।

"प्रज्ञया शरीरं समारुह्य" इत्यादि श्रुति में जीव को शरीर से भिन्न बतलाया गया है जिससे उसके चैतन्य गुण का निर्णय होता है ।

तद्गुण सारत्वात्तु तद्व्यपदेशः प्राज्ञवत् ।२।३।२९।।

ननु तत्वमस्मादि वाक्यैः परमेव ब्रह्म जीव इति कथमणुत्वमितीमामाशंकां निराकरोति तु शब्दः । तस्य ब्रह्मणो गुणाप्रज्ञाद्रष्ट्त्वादयस्त एवात्र जीवे सारा इति जडवैलक्षण्य कारिण इति अमात्ये राजपद प्रयोगवज्जीवे भगवद्व्यपदेशः । मैत्रेयीति संपूर्णे ब्राह्मणे भगवत्वेन जीव उक्तः ।

तत्वमसि आदि वाक्य तो परब्रह्म को ही जीव बतलाते हैं फिर वह अणु कैसे हो सकता है ? इस आशंका का निराकरण सूत्रकार तु शब्द से करते हैं। कहते हैं कि—ब्रह्म के जो प्रज्ञा दृष्ट्त्व आदि गुण हैं, वे ही जीव में उसकी विशेषता के परिचायक हैं, इन्हीं गुणों के कारण जीव, जड़ से विलक्षण सिद्ध होता है। जैसे कि मंत्री को भी लोक में राजा कह दिया जाता है वैसे ही, जीव को ब्रह्म कहा गया है। संपूर्ण मैत्रेयी ब्राह्मण में जीव का भगवद्रुप से वर्णन किया गया है ।

ननु कथं अन्यस्यान्यधर्मवत्वेन कथनम् ? नहि निरुपणस्थल एवोपचार: संभवति। तत्राह-प्राज्ञवत्, "तद्यथा प्रियया स्त्रिया संपरिष्वक्त" इत्यत्र "एवमेवायं शारीर आत्मा प्राज्ञेनात्मना संपरिष्वक्त" इत्यभिधाय प्राज्ञस्वरूपमाह। "तद् वा अस्मैतदतिच्छन्दो अपहतपाप्माऽभयंरूपमशोकान्तमत्र पिता अपिता भवति" इत्यादि। प्राज्ञश्यच सुषुप्ति साक्षी। नहि तस्यापहतपाप्मत्वमस्ति। ब्रह्मलिंगात्, एवमेव शारीरस्यापि जीवस्य ब्रह्म धर्म बोधिका: श्रुतय:

प्रतिपक्षी कहते हैं कि, अन्य के धर्मों को अन्य के लिए कैसे प्रयोग हो सकता है, निरूपण के स्थल में ऐसा उपचार नहीं हो सकता। इस पर सूत्रकार "प्राज्ञवत्" पद प्रस्तुत करते हैं। कहते हैं कि जैसे—'तद्यथा प्रियमा संपरिष्वक्त" इत्यादि श्रुति में "एवमेवायं शारीर आत्मा प्राज्ञेनात्मना संपरिष्वक्त" इत्यादि वर्णन में प्राज्ञ का स्वरूप कहा गया गया है तथा "तद् वा अस्यैतदतिच्छन्दो" इत्यादि में प्राज्ञ को सुषुप्ति का साक्षी कहा गया है, उसमें अपहत प्राप्मत्व की कमी बतलाई गई है जो कि ब्रह्म का विशेष गुण है। इसी प्रकार शारीर जीव की भी, ब्रह्म धर्मबोधिका श्रुतियाँ हैं।

इहमत्र वक्तव्यम्, सर्वोपनिषत्सु ब्रह्मज्ञानं परंपुरुषार्थ साधनमिति तन्निर्णयार्थं भगवान् व्यासः सूत्राणि चकार। तत्र ब्रह्मसूत्रे विचारं प्रतिज्ञाय जगत्कर्तृत्वाद्य साधारणलक्षणं ब्रह्मणः प्रतिज्ञाय समन्वय निरूपणे जीववाक्यानि दूरीकृत्य अविरोधे ऐक्यैऽप्यहिताकरणादि दोषमाशंक्यं, अधिकंतु भेदनिर्देशादिति परिहृत्य, जीवस्याणुत्वमुपचाराद् ब्रह्मत्वमंशत्वं पराधीनकर्तृत्वादिकं प्रतिपाद्य तस्यैव दक्षिण मार्गेण पुनरावृत्तिमुक्त्वा ससाधनेन ब्रह्मज्ञानेन अर्चिरादि द्वारा ब्रह्म प्राप्तिमुक्त्वा, न स पुनरावर्त्तत इत्यनावृत्ति वदन् शास्त्रपर्यवसानेन सर्वान् वेदान्ता-नव्याकुलतया योजितवान्।

कथन यह है कि समस्त उपनिषदों में परंपुरुषार्थ साधन ब्रह्मज्ञान ही है, उसी का निर्णय करने के लिए भगवान् व्यास देव ने सूत्रों की रचना की है उन्होंने ब्रह्मविचार से ही सूत्रों का प्रारम्भ करते हुए, ब्रह्म के जगतकर्तृत्व आदि साधारण लक्षणों का विवेचन करके, वेदांत वाक्यों का समन्वय ब्रह्म में करके, जीव सम्बन्धी वाक्यों को उससे अलग किया। अविरोधाध्याय में जीव और ब्रह्म की एकता होते हुए भी, ब्रह्म के सम्बन्ध में अहितकारण निर्दयता आदि दोषों की आशंका करते हुए "अधिकं तुभेद निर्देशात्" सूत्र से उसका

परिहार किया। उसके बाद जीव के अणुत्व, औपचारिक ब्रह्मत्व, अंशत्व। पराधीनकर्त्तृत्व आदि का प्रतिपादन करके, दक्षिणमार्ग से जीवपुनरावृत्ति तथा भक्ति साधन युक्त ब्रह्मज्ञान से, अर्चिरादि मार्ग से ब्रह्म प्राप्ति बतला कर "न स पुनरावर्त्तते" इस अंतिम सूत्र से जीव की अनावृत्ति बतला कर समस्त उपनिषद वाक्यों का सुष्ठु समाधान करते हुए संकलन किया है।

तत्र कश्चित् तद्व्यपदेशेन प्रोक्तानि तत्त्वमस्यादि वाक्यानि स्वीकृत्य, जीव मात्रं च ब्रह्म स्वीकृत्य, तदतिरिक्तस्य सर्वस्य कारणांशकार्यरूपस्य मिथ्यात्वं परिकल्प्य तद्बोधक श्रुतीनां अर्थवादत्वेन मिथ्यात्वं स्वीकृत्य सुषुप्ति संपत्त्यो-र्भगवता प्रकटीकृतमानंदरूपत्वं तत्प्रतिपादक वाक्यानां सद्योमुक्तिरूप फलवाचकत्व मुक्त्वा क्रममुक्तिमुपासना परत्वेन योजयित्वा वेदसूत्राणि व्याकुली चकार।

तद्वेदान्तानां ब्रह्मपरत्वं जीवपरत्वं वेति यदत्र युक्तं तत् सद्भिरनु संधेयम्।

इन्हीं सूत्रों के आधार पर किन्हीं महोदय (शंकराचार्य) ने ब्रह्म सम्बन्धी तत्त्वमसि आदि वाक्यों को अपना अभिप्रेत मानकर जीव मात्र को ब्रह्म मानते हुए, उसके अतिरिक्त कारणांशरूप समस्त कार्यजगत को मिथ्या बतलाकर, कार्य प्रतिपादक श्रुतियों को अर्थवाद रूप से मिथ्या मानकर, सुषुप्ति और संपत्ति में भगवान की प्रकट आनंद रूपता के प्रतिपादक वाक्यों की सद्योमुक्ति रूप फल-वाचकता बतलाकर, उपासना परक क्रममुक्ति की योजना करके, समस्त वेद सूत्रों को अस्तव्यस्त कर दिया।

अब सज्जनों को ये अनुसंधान करना है कि—वेदान्त वाक्य ब्रह्म परक हैं या जीवपरक ?

यावदात्मभावित्वाच्च न दोषस्तद्दर्शनात् ।२।३।३०॥

ननु कथमन्यस्य नीचस्य सर्वोत्कृष्ट व्यपदेशोऽपि नहि प्रामाणिकैः सर्वथा अयुक्ते व्यपदेशः क्रियते। न चोक्त तद्गुण सारत्वाद् ब्रह्मण आनंदांशस्य प्राकट्या-दिति वाच्यम्। तथासति प्राज्ञवत् पुनस्तिरोहितं स्यादिति तस्य तद्व्यपदेशो व्यर्थोऽयुक्तश्चेति चेत्, नायं दोषः, कुतः ? यावदात्म भावित्वात्। पश्चात् यावत् पर्यन्तमात्मा, नित्यत्वात्, सर्वदा आनंदांशस्य प्राकट्यात्, तस्य तथैव दर्शनमस्ति, अनावृतैश्वर्यादीनामुक्तत्वात्। प्राज्ञात् चकारात् तस्य चानंदः प्रकटित इति न दूषण गंधोऽपि।

व्यपदेशो वा नात्यन्तमयुक्तस्य, यावदात्मा ब्रह्म भवत्यानंदांश प्राकट्येन तावदेव तद्व्यपदेशः, राज्य ज्येष्ठ पुत्रवत्, एतदेवोक्तम्

"व्यापकत्व श्रुतिस्तस्य भगवत्वेन युज्यते, आनंदांशाभिव्यक्तौ तु तत्र ब्रह्माण्ड कोटयः प्रतीयेरन् परिच्छेदो व्यापकत्वयं तस्य तदिति।"

जीव को ब्रह्म मानने वाले प्रतिपक्षी कहते हैं कि यदि जीव ब्रह्म से बहुत नीचा है तो, उसको, ब्रह्म के समान सर्वोत्कृष्ट गुणों वाला कैसे कहा गया? प्रामाणिक लोग कभी ऐसा कह नहीं सकते। ये कहें कि ब्रह्म के आनंदांश के प्रकट होने से जीव में वे महानतम गुण आते हैं, तो प्राज्ञ की तरह वे फिर तिरोहित भी हो जाते होंगे फिर उनके वर्णन करने का क्या महत्त्व है? उसका उल्लेख ही व्यर्थ और अयुक्त है।

इसके उत्तर में सूत्रकार कहते हैं, 'यावदात्मभावित्वात्" अर्थात् मोक्ष के बाद आत्मा, नित्य और सदा आनंदांश प्रकट रहने से वैसे गुणों वाला रहता है, उसका स्वरूप माया से अनावृत रहता है इसलिए उसके ऐश्वर्य को उन महानतम गुणों से बतलाया गया है प्राज्ञ का आनंद तो प्रकट होता है जो कि सीमित है, किन्तु मुक्त जीव का आनंद निरन्तर प्रकट रहता है। इसलिए इसके विषय में लुप्त होने की सम्भावना भी नहीं है।

अत्यंत छोटे बड़े में बराबरी की भी नहीं जाती। आनन्दांश के प्रकट होने पर जब जीवात्मा, ब्रह्म हो जाता है तभी उसके ब्रह्म के समान गुणों का बखान किया जाता है, जैसे कि राजा के बड़े पुत्र को राजा हो जाने पर राजा के समान गुणों वाला कहा जाता है।

श्रुतियाँ जो ब्रह्म की व्यापकता बतलाती हैं, उससे जगत की भगवत्ता सिद्ध होती है, कोटि ब्रह्माण्डों में उसी की आनंदांशाभिव्यक्ति है तभी वह व्यापक है। अंशांशी भाव से जगत की परमात्मा से सुस्पष्ट भिन्नता प्रतीत हो रही है, उसकी व्यापकता से अभिन्नता भी

पुंस्त्वादिवत्वस्य सतोऽभिव्यक्तियोगात् ।२।३।३१॥

व्यपदेश दशायामपि आनंदांशस्य नात्यन्तमसत्वम्, पुंस्त्वादिवत्। यथा पुंस्त्वं सेकादिसामर्थ्यं बाल्ये विद्यमानमेव यौवने प्रकाशते तथा आनंदांशस्यापि सत एव व्यक्तियोगः।

जैसे कि बाल्यकाल में पुंस्त्व छिपा रहता है यौवन में स्वतः प्रकाशित हो जाता है, वैसे ही परमात्मा का आनंदांश जीव में विद्यमान मुक्त दशा में प्रकाशित हो जाता है ।

नित्योपलब्धि अनुपलब्धि प्रसंगोऽन्यतरनियमोवाऽन्यथा ।२।३।३२॥

ननु कथमेवं स्वीक्रियते, इदानीं संसारावस्थायां सच्चित प्राकट्यमेव । मोक्षे त्वानंदांशोऽपि प्रकट इति, तन्निवारयति । तथासति नित्यमुपलब्धिः स्यादानंदांशस्य । तथासति संसारावस्थोपपद्येत । अथानुपलब्धिः सर्वदा तथा सति मोक्षदशा विरुद्धयेत । अथान्यतर नियमः । जीवो निरानंद एव, ब्रह्म त्वानंदरूपम् । तथा सति "ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येतीति श्रुति विरोधः । तस्मात् पूर्वोक्त एव प्रकारः स्वीकर्त्तव्य इति सिद्धम् ।

जीव में आनंदांश रहता है, ऐसा क्यों मानते हो ? ये क्यों नहीं मानते कि संसार दशा में सत्‌चित् प्रकट रहता है, मोक्षदशा में आनंदांश भी प्रकट हो जाता है । इसका निवारण करते हैं कि ऐसा मानने से आनंदांश की नित्य उपलब्धि होगी, तथा संसार अवस्था भी बनी रहेगी । यदि सदा उपलब्धि नहीं मानें तो मोक्षदशा के विरुद्ध हो जाय । इसलिए दूसरा नियम मानना होगा कि जीव आनंद रहित है और ब्रह्म आनंदरूप है, परन्तु ऐसा मानने से "ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति" इस श्रुति से विरोध होगा, इसविए पूर्वोक्त प्रकार स्वीकारना ही ठीक है ।

कर्त्ता शास्त्रार्थवत्वात् ।२।३।३३॥

सांख्यानां प्रकृतिगतमेव कर्तृत्वमिति, तन्निवारणार्थमधिकरणारम्भः ।

कर्त्ता जीव एव, कुतः ? शास्त्रार्थवत्वात्, जीवमेवाधिकृत्य वेदे अभ्युदयनिःश्रेयसफलार्थं सर्वाणि कर्माणि विहितानि ब्रह्मणोऽनुपयोगात, जडस्याशक्यत्वात्, संदिग्धेऽपि तथैवांगी कर्त्तव्यम् ।

सांख्यमत, प्रकृति को कर्त्ता मानता है । उसका निवारण करने के लिए अधिकरण का प्रारंभ करते हैं ।

कहते हैं कि—कर्त्ता जीव है, शास्त्र में जीव को ही कर्त्ता मानकर अभ्युदय और निःश्रेयस फलावाप्ति के लिए समस्त कर्मों का विधान किया गया है, ब्रह्म का उसमें कोई उपयोग नहीं है । संदेह होने पर भी उक्त मत माना ही ठीक है ।

विहारोपदेशात् ।३।३।३४॥

तस्यैव गांधर्वादिलोकेषु "यद् यद् कामयते तद्तत् भवति" इति विहार उपदिष्टः । ततश्च कर्त्तृत्व भोक्तत्वयोः "साधुकारी साधुर्भवति" इति सामानाधिकरण श्रवणाज्जीव एव कर्त्ता ।

"जो जो कामना करता है, वो वो होता है" इत्यादि में गांधर्व आदि लोकों में, जीव के विहार का ही वर्णन किया गया है तथा "साधुकर्म करने वाला साधु होता है" इत्यादि में कर्त्तृत्व और भोक्तृत्य का समानाधिकरण दिखलाया गया है, इसलिए जीव ही कर्त्ता है ।

उपादानात् ।२।३।३५।।

"तदेषां प्राणानां विज्ञानेन विज्ञानमादाय" इति जीवेन सर्वेषां विज्ञानमुपादीयते । तस्मादिन्द्रियादीनां करणत्वमेव । स्वात्रन्त्यादस्यैव कर्त्तृत्वम् ।

"तदेषां प्राणाना" इत्यादि में बतलाया गया है कि जीव से ही समस्त इन्द्रियाँ विज्ञान प्राप्त करती हैं, इससे इन्द्रियों का करणत्व निश्चित होता है, तथा जीव का ही स्वतन्त्र रुप से कर्त्तृत्व सिद्ध होता है ।

यस्तु मन्यते बुद्धिसंबंधीज्जीवस्य कर्त्तृत्वमिति । स प्रष्टकः किं बुद्धिकर्त्तृत्वं जीवे समायाति ? अथवा जीवगतमेव कर्त्तृत्वं बुद्धि संबंधादुद्गच्छति ? अथवा शशविषाणायितमेव कर्त्तृत्वं संबंधेसमायाति ? नाद्यः जडत्वात् अनंगीकारात् पूर्वं निराकृतत्वाच्च । द्वितीये त्विष्टापत्तिः, उपादान विरोधश्च । तृतीये शास्त्र विरोधः ब्रह्मणिसिद्धत्वाच्च, असत् कार्यस्य निराकृतत्वात् । सर्वविप्लवस्तु माध्यमिकवदूपेक्ष्यः ।

जो लोग बुद्धि के संबंध से जीव का कर्त्तृत्व मानते हैं उनसे पूछना चाहिए कि—बुद्धि के कर्त्तृत्व से जीव कार्य करता है ? अथवा जीव में कर्त्तृत्व है बुद्धि संबंध से वह जागृत होता है ? अथवा शशश्रृङ्ग की तरह बुद्धि के संबंध से वह कर्त्तृत्व अकस्मात् निकल पड़ता है ? बुद्धि का कर्त्तृत्व तो हो नहीं सकता क्यों कि वह जड है, शास्त्र लड़ को कर्त्ता नहीं मानता, उसका पहिले निराकरण भी हो चुका है । बुद्धि के संबंध में कर्त्तृत्व जागृत होता हो सो भी नहीं है वैसा होने से इष्टपत्ति और उपादान विरोध होगा । शशश्रृङ्ग की तरह मानने से शास्त्र की विरुद्धता होगी, असत् कार्यावाद का निराकरण तो पहिले हो चुका । ये मत तो माध्यमिक बौद्धों की तरह उपेक्ष्य है ।

व्यपदेशाच्च क्रियायां न चेन्निर्देशविपर्ययः ।२।३।३६।।

व्यपदेशो "विज्ञानं यज्ञं तनुते कर्माणि तनुतेऽपि च" इति। अत्र सांख्ये बुद्धयादीनामेव कर्त्तृत्वं न जीवस्येति, क्रियायां यागादिकर्मसु, न तु भोगें। जीवस्य कर्त्तृत्वं न चेत्। न तथा सति निर्देशस्य विपर्ययो भवेत "विज्ञानेन विज्ञानमादाय" इति श्रुत्यनुरोधात् प्रकृतेऽपि तृतीयान्तता आपद्येत।

शास्त्र में व्यपदेश है कि—"विज्ञानं यज्ञं तनुते" इसके अनुसार तो सांख्यमत सम्मत बुद्धि आदि का कर्त्तृत्व प्रतीत होता है जीव का नहीं, यागादि कर्मों में ही कर्त्तृत्व कहा गया है भोग कर्मों में नहीं। इसलिए जीव का कर्त्तृत्व नहीं है। विपक्षियों का ये कथन भी असंगत है, ऐसा मानने से उक्त निर्देश से उलटा हो जायगा तथा "विलानेन विज्ञानमादाय" श्रुति से भी विरुद्धता होगी। "विज्ञानं" में जो प्रथमा विभक्ति है वह तो जीव का कर्त्तृत्व ही बतला रही है यदि ऐसा नहीं होता तो "विज्ञानेन" ऐसा तृतीया विभक्ति का प्रयोग ब्रिया जाता।

अथ स्व व्यापारे कर्त्तृत्वं, तथापि पूर्व निर्देशस्य विज्ञानमयस्य विपर्ययः स्यात्, विकारित्वं स्यात्। तच्चासंगतम् त्यच्त्वात्। विज्ञानमादाचेत्यत्र विपर्यय एव एकस्य प्रदेशभेदेनार्थभेदोऽपि। भगवति सर्वे शब्दाः स्वभावत एव प्रवर्तन्ते औपचारिकत्व ज्ञापका भावात्। यज्ञो जायमान इति श्रद्धादीनां शिरस्त्वादिः। तस्माद् विज्ञानमयः जीव एव। जडस्य स्वातन्त्र्याभावान्न कर्त्तृत्वम्।

"स्थालीपचति" काष्ठानि पचन्ति" इत्यादि की तरह स्वव्यापार कर्त्तृत्व मानकर बुद्धि का कर्त्तृत्व मानें तो भी पूर्व निर्दिष्ट विज्ञानमय के विपरीत होगा, विज्ञानमय को बुद्धि मानने से विकृत अर्थ होता, विकृत वस्तु कर्त्ता हो, ये असंगत बात है। त्यच् मानने पर ही विज्ञानमय बुद्धि अर्थ हो सकता है, किन्तु वेद में "द्वयच्छंदसि" नियम है। "विज्ञानमादाय" इत्यादि में भी विपर्यय होगा; एक ही वस्तु के प्रदेश भेद होने से अर्थ भेद भी हो जाता है। केवल भगवान में ही सारे शब्दों का समन्वय हो सकता है औरों में ऐसा संभव नहीं है। "यज्ञो जायमान" इत्यादि में जो श्रद्धा आदि की शिर आदि रूपों से कल्पना की गई है वह विकृत वस्तुपरक नहीं हो सकती। इसलिए यही निश्चित होता है कि जीव ही विज्ञानमय है। जड़वस्तु परतन्त्र है, इसलिए वह कर्त्ता नहीं हो सकती।

उपलब्धिवदनियमः।२।३।३७॥

ननु जीवस्य कर्त्तृत्वे हिताकरणादि दोष प्रसक्तिरितिचेत् न उप-

लब्धिवदनियमः । यथा चक्षुषेष्टमनिष्टं चोपलभते, एवमिन्द्रियैः कर्मकुर्वन्निष्ट मनिष्टं वा प्राप्नोति ।

जीव का कर्त्तृत्व स्वीकारने से उसमें हिताकरणादि दोष लगते हों सो भी बात नहीं है जैसे कि नेत्र से इष्ट अनिष्ट सभी कुछ देखे जाते हैं वैसे ही इन्द्रियों से कर्म करते हुए इष्ट अनिष्ट की प्राप्ति होती है ।

शक्तिविपर्ययात ।२।३।३८॥

नन्वीश्वरवत् स्वार्थमन्यथा न कुर्यादिति चेत्, शक्तिविपर्ययात्, तथा सामर्थ्याभावात् । इतएव दैवादहितमपि करोति ।

जीव ईश्वर की तरह स्वार्थ के अतिरिक्त कुछ और न करे सो भी बात नहीं है, उसमें इतना सामर्थ्य ही नहीं है, जीव तो दैवात् प्रायः अपना अहित ही करता है ।

समाध्यभावाच्च ।२।३।३९॥

जीवस्य क्रिया ज्ञान शक्तिः योगेन सिद्धयतः । समाध्य भावाच्छक्तयभाव इत्यर्थः । चकारात् तादृशमंत्राभावोऽपि ।

जीव की क्रिया और ज्ञान शक्ति स्वतः सिद्ध नहीं है, योग से सिद्ध होती है, क्योंकि उसमें सामर्थ्य का अभाव , वैसा कोई मंत्र भी नहीं है जिससे ये शक्तियाँ सिद्ध हो सकें ।

नच सहजकर्त्तृत्वे अनिर्मोक्षः । पराधीन कतृत्व एवैतदिति सांख्यस्य तन्मतानुसारिणो वान्यस्य भ्रम एव,कर्त्तृत्वे न मुक्ति रिति नपुंसक एवमुच्येतेति वाद्यवत् । निरिन्द्रियस्यैव समाधिरित्यपि करणत्वेन बुद्धिवन्न केनापि दृश्यते । तस्माज्जीवस्य स्वाभाविकं कर्त्तृत्वम् ध्यायतीव लेलायतीवेत्यपि परधर्मानुकरणम् । अयमप्येकोधर्मः स्वाप्ययसंपत्त्ययोर्ह्यन्यपदेशं पुरस्कृत्य सर्वविप्लवं वदन्नुपेक्ष्यः ।

जीव का सहज कर्त्तृत्व मानने से, उसका कभी मोक्ष ही नहीं होगा, ऐसी भी संभावना नहीं है, पराधीन कर्त्तृत्व में ही ऐसी संभावना हो सकती है, सहज-कर्त्तृत्व में नहीं । सांख्य या उनके मतानुसार चलने वाले या अन्य लोगों का ऐसा भ्रम है । कर्त्तृत्व से मुक्ति न हो सके ऐसा तो नपुंसक के लिए ही कह सकते हैं । इन्द्रिय रहित जड़ ही कत्तृत्व हीन हो सकता है, जिसमें इन्द्रियाँ और बुद्धि है, वह तो कर ही सकता है, वह किसी से भी रोका नहीं जा सकता । इसलिए जीव का स्वाभाविक कर्त्तृत्व है, यही मत सही है । "ध्यान सा करता है, पीला

सी करता है" ये प्रयोग, परमात्मा के अनुकरण से, जीव के लिए होते है। ये भी एक विशेषता है, जीव के स्वसामर्थ्य के उदाहरण है। स्वाप्यय और सपत्ति ब्रह्मव्यपदेश को लक्ष्य बनाकर, हर जगह अड़गा लगाने वालो का ये मत भी उपेक्ष्य है।

यथा च तक्षोभयथा ।२।३।४०॥

ननुकर्मकारिणा कर्त्तृत्व भोक्तृत्व भेदो दृश्यते तत् कर्त्तृत्वभोक्तृत्वयोर्भेदो भविष्यतीति चेत्, न, यथा तक्षा रथ निर्माय तत्रारूढो विहरति पीठ वा। स्वतो वा न व्याप्रियते वाश्यादि द्वारेण वा। चकारादन्येऽपि स्वार्थकर्तारः। अन्यार्थमपि करोतीति चेत् तथा प्रकृतेऽपि। सर्वहितार्थं प्रयतमानत्वात्। न च कर्त्तृत्वमात्र दुःस्वरूपं, पयः पानादे सुखरूपत्वात्। तथा च स्वार्थपरार्थं कर्त्तृत्वं कारयितृत्वं च सिद्धम्।

कर्म करने वालों में कर्त्तृत्व भोक्तृत्व का भेद दीखता है, इसलिए कर्त्तृत्व भोक्तृत्व का भेद होगा ऐसा भी नही कह सकते, जैसे कि बढई रथ बना कर उस पर बैठकर घूमता है, या पीठिका बनाकर बैठता है वैसे ही कर्त्ता भोक्ता भी हो सकता है। वह स्वतः न बना कर औजारो से बनाता है, बात एक ही है। वह अपने लिए कर्ता है, परमात्मा औरो के लिए कर्ता है, वह उसका अपना ही है। ससार मे भी तो लोग अपना मानकर दूसरो का कार्य करते है। सभी कर्म दुःखद हो सो बात तो है नही, दूध पीना आदि अनेको सुखद कर्म भी है। इसलिए परमात्मा का स्वार्थ परार्थ कर्त्तृत्व और कारयितृ दोनो ही सिद्ध है।

परात्तु तच्छ्रुतेः ।२।३।४१॥

कर्त्तृत्वं ब्रह्मगतमेव, तत्संबंधादेव जीवे कर्त्तृत्वं तदंशत्वादैश्वर्यादिवत्, न तु जडगतमिति। अतो, नान्योऽतोऽस्तीति सर्वकर्त्तृत्वं घटते। कुत एतत्? तच्छ्रुतेः तस्यैव कर्त्तृत्वकारयितृत्वश्रवणात्। यमधो निनीषति तमसाधु कारयतीति, सर्व-कर्त्ता सर्वभोक्ता सर्वनियन्तेति। सर्वरूपत्वान्न भगवतिदोषः।

कर्त्तृत्व ब्रह्मगत ही है, उनके संबंध से ही जीव में कर्त्तृत्व है, उनका अश होने से जैसे उसे ब्रह्म का सा ऐश्वर्य प्राप्त होता है, वैसे ही कर्त्तृत्व भी। कर्त्तृत्व जड़ का नही है। जब कोई दूसरा कर्त्ता नही है तो ब्रह्म ही कर्त्ता है समस्त कर्त्तृत्व और कारयितृ का वर्णन मिलता है।" जिसको नीचे गिराना चाहता है उससे असाधु कर्म कराता है" इत्यादि से निश्चित होता है कि--वही सर्वकर्त्ता,

सर्वभोक्ता और सर्वनियन्ता है। सारा विश्व ही भगवान का रूप है, इसलिए किसी प्रकार का दोष उनमें घटित नहीं होता।

कृतप्रयत्नापेक्षस्तु विहित प्रतिषिद्धावैयर्थ्यादिभ्यः ।२।३।४२।।

ननु वैषम्य नैघृण्ययोर्न परिहारः। अनादित्वेन स्वस्यैव कारयितृत्वादितिपक्षं तु शब्दो निवारयति। प्रयत्न पर्यन्तं जीवकृत्यं, अग्रे तस्याशक्यत्वात् स्वयमेव कारयति। यथा बालं पुत्रं यतमानं पदार्थगुणदोषौ वर्णयन्नपि तत्प्रयत्नाभिनिवेशं दृष्ट्वा तथैव कारयति। सर्वत्र तत् कारणत्वाय तदानीं फलदातृत्वे या इच्छा तामेवानुवदति। उन्निनीषति अधोनिनीतीति। अन्यथा विहित प्रतिषिद्धयोर्वैयर्थ्यापत्तेः, अप्रामाणिकत्वं च। फलदाने कर्मापेक्षः, कर्मकारणे प्रयत्नापेक्षः, प्रयत्ने कामापेक्षः, कामे प्रवाहापेक्षः इति मर्यादारक्षार्थं वेदं चकार। ततो न ब्रह्मणि दोषगंधोऽपि। न चानीश्वरत्वम्। मर्यादा मार्गस्य तथैव निर्माणात्। यत्रान्यथा स पुष्टिमध्य इति।

जब अनादि काल से परमात्मा ही शुभाशुभ कर्म कराते हैं तो विषमता और निर्दयता दोष उनमें घटित होंगे ही, सूत्रस्थ शब्द इस संशव का निवारण करता है। कहते हैं कि--प्रयास करना तक हीं जीव का वश है आगे उसके वश की बात नहीं उसे परमात्मा ही करवाते हैं, जैसे कि प्रयास करते हुए बच्चे को पिता पदार्थों के गुण दोष बतलाते हुए, उसके प्रयास के अनुरूप उससे कार्य कराते हैं। शास्त्र में सर्वत्र परमात्मा को ही कारण बतलाने के लिए, उनकी फलप्रदानता की इच्छा का वर्णन किया गया है। वही जीव को ऊपर उठाते और नीचे गिराते हैं यदि ऐसा नहीं मानेंगे तो, शास्त्रों के विधिनिषेधात्मक वाक्यों की व्यर्थता सिद्ध होगी और वे अप्रमाणिक हो जावेंगे। फलदान में कर्म अपेक्षित हैं, कर्म करने में प्रयत्न अपेक्षित है, प्रयत्न में इच्छाशक्ति अपेक्षित है, इच्छा में स्वभावापेक्ष होती है इस नियम को ही वेद में दिखलाया गया है। इसलिए जिन दोषों की संभावना ब्रह्म के लिए की गई है, उनकी गंध भी उनमें संभव नही है। और न उनकी अनीस्वरता ही सिद्ध होती है। मर्यादा मार्ग का [illegible] प्रकार का निर्माण उन्होंने किया है। इस मार्ग में आरूढ़ व्यक्ति को ही पुष्टि प्राप्त होती है (भगवत्कृपा प्राप्त होती है)

अंशो नानाव्यपदेशादन्यथा चापि दाशकितवादित्वमधीयतएके ।२।३।४३।।

जीवस्य ब्रह्मसंबंधिरूपमुच्यते। जीवो नाम ब्रह्मणोऽशः, कुतः? नानाव्यपदेशात् "सर्वएवात्मानो व्युच्चरन्ति कपूयचरणा रमणीयचरणा" इतिच।

जीव के ब्रह्मसंबंधी रूप का विवेचन करते हैं। जीव, ब्रह्म का अंश है, वेदांत वाक्यों में परमात्मा के अनेक अंशों का वर्णन है "अच्छे और बुरे आचरणों वाले जीवों में व्याप्त हैं।" इत्यादि

ननु ब्रह्मणो निरवयवत्वात् कथंजीवस्यांशत्वमिति वाच्यम ? नहि ब्रह्म निरंशं सांशमिति वा क्वाचिल्लोके सिद्धम्। वेदैकसमधिगम्यत्वात्। सा च श्रुतिर्यथोपपद्यते तथा तदनुलंघनेन वेदार्थ ज्ञानार्थं युक्तिर्वक्तव्या। सा चेत् स्वयं नावगता, तपोविधेयम् अभिज्ञा वा प्रष्टव्या इति। न तु सर्वविप्लवः कर्त्तव्यः।

विपक्षियों का तर्क है कि--ब्रह्म तो निरवयव है, जीव उसका अंश कैसे हो सकता है ? सो उसके निरंश, सांश होने की बात केवल लौकिक बातों से सिद्ध नहीं हो सकती, उसका ज्ञान तो एकमात्र वेदों से ही होता है। वह श्रुति जैसा कहती है, वैसा ही मानना चाहिए, यदि उसके सिद्धान्त में कहीं उलंघन होता हो तो, वेदार्थ ज्ञान के लिए तत्सम्मत युक्ति का आश्रय लिया जा सकता है। वह युक्ति भी मनमानी नहीं होनी चाहिए, उसके लिए तप अपेक्षित है, तप से ही वेदार्थ का सही परिज्ञान संभव है। वेदार्थ के लिए जिज्ञासा होनी चाहिए, अधिकारियों से जाकर पूछना चाहिए, वेदार्थ में, उलट पुलट करना ठीब नहीं।

तत्रैष। युक्तिः--"विस्फुलिंगा इवाग्नेर्हि जडजीवा विनर्गताः, सर्वतः पाणिपादान्त सर्वतोऽक्षिशिरोमुखात्। निरिन्द्रियात् स्वरूपेणतादृशादिति निश्चयः, संदंशेन जडाः पूर्वं चिदंशेनेतरे अपि। अन्यधर्मं तिरोभावा मूलेच्छातो स्वतंत्रिणः।" इति, ब्रह्मवादे अंशपक्ष एव।

इस विषय में युक्ति ये है कि--"ये सारे जड़ और जीव परमात्मा से ही, अग्नि की चिनगारियों की तरह छिटक कर अलग हुए हैं "सर्वतः पाणिपादान्त सर्वतोक्षिशिरोमुखात्"श्रुति इसी तत्य की पुष्टि कर रही है। निरिन्द्रिय होते हुए भी परमात्मा का सृष्ट हो जाना, उनकी अलौकिकता और भगवत्ता बा सूचक है, उनके सदंश जड पदार्थ हैं तथा चिदंश जीव हैं। परमात्मा की अन्य विशेषतायें जगत में प्रकट नहीं हैं' वह उनकी इच्छा से ही यत्र तत्र प्रकट होती हैं, वे परमात्मा स्वतंत्र हैं।" अतः ब्रह्मवाद में अंशांशीभाव ही है।

ननु अंशत्वे सजातीयत्वमायति। श्रुत्यन्तरे "पुनर्ब्रह्मदाशा ब्रह्मभेकितवाडत" अत्र सर्वस्यापि ब्रह्म विज्ञानेन विज्ञानं प्रतिज्ञानाद् दाशादीनामपि ब्रह्मत्वं प्रतीयते, तत्कार्यत्व एव स्यादिति चेन्न। अन्यथापि प्रकारान्तरेणापि एके शाखिनो दाशकितवादित्वमधीयते शरीरत्वेनअंशत्वेन च। स्वरूपतः कार्याभावेपि प्रकार-

भेदेन कार्यत्वात्, तथा च साजात्यम्। आनदांशस्य तिरोहितवात्। धर्मान्तरेण तु साजात्यम् इष्टमेव।

विपक्षियों का कथन है कि—जीव को अंश मानने से तो ब्रह्म और जीव का जाति संबंध सिद्ध होता है तथा "पुनब्रह्मदाशं" आदि श्रुति से तो, यह भी निश्चित होता है कि—सब कुछ ब्रह्म ही है, दाश आदि का ब्रह्मत्व भी निश्चित होता है, ये सब उसी के कार्य हैं, ऐसा प्रतीत होता है। ये अनुमान भी ठीक नहीं, एमं श्रुति में प्रकारान्तर से भी शरीरत्व और अंशत्वरूप से, ब्रह्म के दाश कितवत्व आदि का प्रतिपादन किया गया। स्वरूप से कार्य न होते हुए भी, प्रकार भेद से कार्यत्व और सजातीयत्व दिखलाया गया ह। जब जीव चित्स्व-रूप है, इस नाते तो ब्रह्म और जीव का साजात्य संबंध ठीक ही है।

मंत्रवर्णात् ।२।३।४४।।

"पुरुष एवेदँ सर्वम्" इत्युक्ता "पादोऽस्य विश्वाभूतानि" इति भूतानां जीवानां पादत्वं, पादस्य स्थितत्वेन वा अंशत्वमिति।

"ये सब कुछ पुरुष है" इसके एक पाद में विश्व के समस्त भूत है" इत्यादि वैदिक मंत्र में, जीवों का पादत्व स्पष्ट कहा गया है, पाद रूप से स्थित होने से अंशत्व निश्चित हो जाता है।

अपि स्मर्यते ।२।४।४५।।

वेदे स्वतंत्रतया उपपाद्य, वेदान्तरेऽपि तस्यार्थस्यानुस्मरणम्। "ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः" इति

वेद में तो स्वतंत्र रूप से अंशत्व का उपादान किया ही गया है, वेदो के अतिरिक्त भी उसी अर्थ का अनुसरण किया गया है जैसे कि—"हे पार्थ ! इस जीव लोक में मेरा सनातन अंश ही जीव है" इत्यादि।

प्रकाशादिवन्नैवंपरः २।३।४६।।

जीवस्यांशत्वे हस्तादिवत् तद्दुखेन परस्यापिदुःखित्वं स्यात् इति चेन्न, एवं परो न भवति, एवमिति प्रकारभेदः, द्विष्ठत्वेनाऽनुभव इति यावत्। अन्यथा सर्व-रूपत्वात् कुत एवम् ? तत्राह—प्रकाशादिवत्, नाग्नेर्हितापो न हिमस्य तत्स्यादिति। प्रकाश ग्रहणं धर्मत्वद्योतनाय। दुःखादयोऽपि ब्रह्मधर्मा इति। अतोद्वैतबुद्धया अंशस्यैवदुःखित्वं, न परस्य। अथवा प्रकाशः प्रकाश्य दोषेण यथा न दुष्टः। पापस्यापि तदंशत्वादिति।

विपक्षी कुतर्क करते हैं कि जीव को अंशत्व माना जाय, तो जैसे शरीर के अंश हस्त आदि के दुःखी होने पर शरीरी को भी दुःख होता है वैसे ही जीव के दुःखी होने पर अंशी परमात्मा भी दुःखी होगा। सो परमात्मा में दुःख की संभावना नहीं है, क्योंकि दोनों में प्रकार भेद है, भेद होने से दुःखानुभव अंशी को नहीं होगा। इस पर भी कहें कि जब परमात्मा ही सर्वरूप है तो ऐसा कैसे न होगा? इस पर सूत्रकार कहते हैं, प्रकाशादिवत् जैसे कि प्रकाश, प्रकाश्य का ही धर्म है किन्तु प्रकाश की प्रतिक्रिया प्रकाश्य पर नहीं होती वैसे ही अंश की प्रतिक्रिया अंशी पर नहीं होती। अग्नि को स्वयं ताप नहीं होता, हिम को स्वयं शीतानुभव नहीं होता। प्रकाश, प्रकाश्य का धर्म है। दुःख आदि भी परमात्मा के धर्म हैं, ब्रह्म जीव में भेद है इसलिए अंश में ही दुःख होता है, अंशी में नहीं। पाप भी अंश से ही होता है।

स्मरंति च ।२।३।४७।।

स्मरंति च ऋषयः। सर्वेऽपि ऋषयोंऽशिनो दुःखा सम्बन्धमंशस्य दुःख संबंधं स्मरंति। "तत्र यः परमात्मा हि स नित्यो निर्गुणः स्मृतः, न लिप्यते फलैश्चापि पद्मपत्रमिवांमसा" इति। "कर्मात्मा त्वपरो योऽसौ मोक्षबन्धैः स युज्येत, एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोक दुःखेन बाह्यः" चकारात् "तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति" इति।

सभी ऋषि अंशी को दुःख से असंबद्ध तथा अंश को दुःख से संबद्ध वर्णन करते हैं जैसे कि— "उन दोनों में जो परमात्मा है वह नित्य निर्गुण है, वह कर्मो के फलों में उसी प्रकार लिप्त नहीं होता जैसे कि कमल पत्र जल से।" दूसरा जीवात्मा मोक्ष और बन्धन से मुक्त है, एक परमात्मा, समस्त भूतों का अन्तर्यामी होते हुए भी दुःख रहित और अलिप्त है। "तयोरन्यः पिप्पलम्" इत्यादि श्रुति भी ऋषियों के इन वचनों का समर्थन करती है।

अनुज्ञा परिहारौ देहसम्बन्धाज्ज्योतिरादिवत् ।२।३।४८।।

ननु जीवस्य भगवदंशत्वे विधि विषय त्वाभावात् कर्म संबन्धाभावेन कथं फल सम्बन्ध:? जीवस्य च पुनरनेकदेह सम्बन्धात् कः शूद्रः, का भार्येति ज्ञानमप्य शक्यम्? अतः कर्ममार्गस्य व्याकुलत्वात् कथं जीवस्यापि दुःखित्वम्? इत्याशंक्य परिहरति।

अब प्रश्न होता है कि जीव जब भगवान् का अंश है तो उसमें तो किसी प्रकार के विधि निषेध का प्रश्न हो नहीं सकता देह वस्तु जड़ है उसमें भी ऐसी

सम्भावना नहीं है, तो फिर वह कर्म से आबद्ध कैसे हो सकता है, और फिर फल से भी कैसे बद्ध हो सकता है ? जीव वस्तु तो एक ही है, अनेक देहों से सम्बद्ध होने से शूद्र और पत्नी आदि भेद क्यों किये जाते हैं ? वस्तुतः तो ऐसा हो नहीं सकता । कर्म मार्ग ही अर्थात् विधि निषेध की व्यवस्था ही जब भगवदंश में संभव नही तो फलस्वरूप दुःख प्राप्ति भी कैसे संभव है ? इसका परिहार करते हैं—

अनुज्ञा परिहारौ विधिनिषेधौ जीवस्य देह संबंद्धात्, यो देहो यदा गृहीतस्तत्कृतौ । यथा शवाग्निश्चांडाल भाँडस्थमुदकं तद् घटादिश्च परिह्रियते, एव मुत्कृष्टं परिगृह्यते, तथा जीवेऽपि देह संबन्धकृतः । संबन्धश्चाध्यासिको भगवत्कृतश्च । अध्यासिको हि ज्ञानान्निवर्तते । द्वितीयो भगवतैव । जीवन्मुक्तानामपि व्यवहारदर्शनात् श्रुतिस्तु भगवत्कृत संबंधमेवाश्रित्याग्नि होत्रादिकं विधत्ते । अन्यथा विद्यां स्व ज्ञानं च बोधयंती कर्माणि न विदध्यात् । शब्द ज्ञानस्य पूर्वमेव सिद्धत्वात् । कथं सिद्धवद् यावज्जीवं विदध्यात् । न्यासोऽपि देह संबंध एव ।

कहते हैं कि विधि और निषेध, जीव के देह के संबन्ध से होते हैं, जो देह जिस समय मिलता है उसके अनुसार होते हैं । जैसे कि-शव की अग्नि और चांडाल के पात्र का जल अशुद्ध और अग्राह्य होता है तथा श्रेष्ठ स्थान और व्यक्ति के पात्र का शुद्ध और ग्राह्य होता है, वैसे ही जीव के देह संबंध से विधि निषेध का नियम है । ये देह संबंध भी आध्यात्मिक और भगवत्कृत है । अध्यास तो ज्ञान से निवृत्त हो जाता है किन्तु संबंध भगवत्कृपा से ही छूटता है । अध्यास रहित जीव-मुक्तों में भी देह संबंध का व्यवहार तो होता ही है । श्रुति ने, भगवत्कृत संबंध के आधार पर ही अग्नि होत्र आदि विधियों का विधान किया है । अन्यथा विद्या और परमात्मज्ञान का उपदेश करने वाली श्रुति कर्म विधि का व्याख्यान न करती । शब्द ज्ञान की सिद्धि तो अध्ययन द्वारा ही हो जाती है, फिर उसकी विधि जीव के लिए की जाय इसका प्रश्न तो उठता ही नहीं । इस लिए कर्म संन्यास की विधि है, वह भी देह संबंध से ही है ।

असंततेश्चाव्यतिकरः ।२।३।४९॥

ननुदेहस्यापि बाल्य कौमारादिभेदात् कथं कर्म काले ब्राह्मणत्वादि, जीवैक्यादिति चेत् देहान्तरेऽपि स्यादिति, तत्राह देहान्तरे सन्ततिरपिनास्ति । बाल्यादि भेदे पुनः संततिरेका । अतः संततिभेदान्न कर्मणां सांकर्यमिति ।

तर्क उपस्थित होता है कि-देह संबंध से जो विधिनिषेध की बात की वह असंगत है, जिस जन्म में जो देह मिली, उस देह को भी नित्य प्रलयानुसार बाल्य कौमार आदि रूपान्तर होते रहते हैं, कर्म करने के समय प्रथम देह का तो अभाव हो जाता है फिर ब्राह्मणत्व आदि जाति का निर्धारण कैसे हो सकता है ? यदि कहें कि-रूपान्तर होने से क्या होता है, जीव तो एक है, तो ये बात तो एक देह को छोड़कर दूसरे देह को प्राप्त करने पर भी हो सकती है।

इस तर्क पर "असंतते" आदि सूत्र प्रस्तुत किया जाता है, कहते हैं कि, देहान्तर में संतति अर्थात् एक क्रम नहीं होता, बाल्यादि रूपान्तरों में एक क्रम रहता है, इसलिए कर्मों का सांकर्म नही होता।

अभास एव च ।२।३।५०॥

ननु सच्चिदानंदस्य ब्रह्मणोंऽशः सच्चिदानंद एव भवेदतः कथं प्रवाहे प्रवेशो भगवतश्च सर्वकार्याणि ? तत्राहअभास एव जीवः। आनंदांशस्य तिरोहितत्वात्, चकारांदाकारस्याप्यभावः। नतु सर्वथा प्रतिबिम्बवन् मिथ्यात्वं, जलचंद्रवदित्येक-स्यानेकत्वे दृष्टान्तः। तथा सत्यध्यासश्च स्वस्य न स्यात्। तत्र वृत्यादि दोष प्रसंगश्च। अतो न मिथ्यात्वरूप आभासोऽत्र विवाक्षितः।

पुनः तर्क प्रस्तुत किया जाता है कि-सच्चिदानंद ब्रह्म का अंश तो सच्चिदा-नंद ही होगा, ये सारा जड़ जगत भगवान् का कार्य कैसे हो सकता है ? जगत तो मिथ्या ही है। इसका उत्तर देते हैं कि-जीव, सच्चिदानंद ब्रह्म का आभास है, सच्चिदानंद नहीं, उसमें आनंदांश छिपा हुआ रहता है तथा चतुर्भुज आदि भगवदाकार भी उसमें नहीं होता। यह आभास वैसा ही है जैसे कि अनाचारी ब्राह्मण में, ब्राह्मणाभास रहता है, यज्ञोपवीत धारण करते हुए भी, ब्राह्मण नामक देवता का तिरोभाव रहता है। जीव और जड़ दोनों की यही स्थिति है। ये जगत प्रतिबिम्ब की तरह सर्वथा मिथ्या नहीं है, जैसा कि मायावादी एक एक चन्द्र का अनेक जलाशयों में प्रतिविम्ब वाला दृष्टान्त उपस्थित करके प्रति-बिम्ब की तरह मिथ्या बतलाते है। यदि ये मिथ्या है तो उसमें अध्यास नहीं हो सकता, मिथ्या वस्तु में अध्यास की बात क्यों की जाती है ? दूसरी बात ये है कि मिथ्या मानने से "द्वासुपर्णा" आदि श्रुति से भी विरुद्धता होती है। इसलिए इस सूत्र में मिथ्या रूप आभास विवक्षित नहीं है, जैसा कि मायावादी अर्थ करते हैं।

अदृष्टानियमात् ।२।३।५१॥

ईशित्वाय नैयायिकाद्यभिमतं जीवरूपं निराकरोति। नानात्मानो व्यवस्थात

इति भोगव्यवस्था जीवनानात्वमंगीकृतम् । तत्रादृष्टस्य नियामकत्वं तन्मते सिद्धम् । देशान्तरवस्तूत्पत्त्यन्यथानुपपत्त्या व्यापकत्वं चांगीकृतम् ।

एवं च क्रियमाणे मूल एव कुठारः स्यात् । सर्वेषामेवजीवानामेकशरीर संबंधात् कस्याहष्ट तद् भवेत्? न च मिथ्या ज्ञानेन व्यवस्था, तत्रापि तथा । न चानुपपत्त्या परिकल्पनम् श्रुत्यैवोपपत्तेः एतेन विरोधात् ऋषि प्रामाण्यमपि निराकृतम् ।

अब हम ईश नियामक है ऐसा मानने वाले नैय्याचिकों के अभिमत जीव स्वरूप का निराकरण करते हैं । वे लोग अनेकता के सिद्धान्त को मानते हैं, और जीवों की अनेक भोग व्यवस्था भी स्वीकारते हैं । साथ ही अदृष्ट दैव को उसका नियामक कहते हैं तथा देशान्तर भावी वस्तु भी दैव वश है क्योंकि अदृष्ट दैव वहाँ भी व्यापक है, इस दृष्टि से जीव को भी विभु मानते हैं । ऐसा मत स्वीकारना तो मूल पर ही कुठाराघात करना है । जब सभी जीव एक हैं तो किस शरीर के जीव का अदृष्ट नियामक कहा जावेगा? मिथ्याज्ञान से तो व्यवस्था होगी नहीं, समस्या ज्यों की त्यों बनी रहेगी । अनुपपत्ति की परिकल्पना तो कर नहीं सकते, क्योंकि-श्रुति में से ही वह उपपन्न है । ऐसा करने से ऋषि प्रामाप्य भी निराकृत होगा ।

अभिसंध्यादिष्वपि चैवम् ।२।३।५२॥

ननु मनः प्रभृतीनां नियामकत्वात् तेजाभीश्वरेच्छया नियतत्वान्न दोष इति चेन्न । पूर्ववदेव दोष प्रसक्तिः । तादृशेश्वर कल्पना च पूर्वमेव निराकृता ।

यदि कहें कि मन आदि का नियामक भी अदृष्ट ही है, वे भी ईश्वरेच्छा से नियत हैं, इसलिए उक्त दोष घटिक नहीं होगा; सो बचाव भी नहीं कर सकते, दोष तो वैसा का वैसा ही होगा, वैसे ईश्वर की कल्पना तो पहिले ही निराकृत हो चुकी है ।

प्रदेशादिति चेन्नान्तर्भावात् ।२।३।५३॥

आत्मनो विभुत्वेऽपि प्रदेशभेदेन व्यवस्था, आत्मनि तादृशः प्रदेश विशेषोऽस्ति येन सर्वमुपपद्यत इति चेन्न, अन्यस्मापि प्रदेशस्तत्रान्तर्भवति, तस्यैव वा देहस्य देशान्तरगमने पूर्व देशस्य त्यक्तत्वात् सोंऽशोऽन्तर्भवेत् तिरोभवेदिति ।

द्वितीय अध्याय का तृतीय पाद समाप्त ।

द्वितीय अध्याय

चतुर्थपाद

तथा प्राणः ।२।४।१।।

जीव शरीर वर्तिनां प्राणदीनां विचारार्थ पादारम्भः । तत्र जीवं निरूप्य तादृश धर्मवत्वं प्राणे अतिदिशति । प्राण शब्द प्रयोगः प्रियत्वाय प्राणा इन्द्रियाणि । मनसो मुख्यत्वादेक वचनम् । उत्क्रांतिगत्यागतीनाभित्यारभ्य, सर्वोपपत्तिरत्रातिदिष्टा, चिदंशस्यापि तिरोभाव इति पृथङ् निरूपणम् । ननु तद्गुणसारत्वादयः कथमुपदिश्यन्त इति चेत्, न, सत्यम् अस्ति तत्रापि, "ये प्राणं ब्रह्मोपासते" इति ।

जीव के शरीर में स्थित प्राण आदि के विषय में विचार करने के लिए इस पाद का प्रारंभ करते हैं । जीव का निरूपण कर चुके अब जीव के समान धर्म वाले प्राण का निरूपण करते हैं । प्राण शब्द का यहाँ इन्द्रियों के अर्थ में प्रयोग किया गया है, क्यों कि---इन्द्रियाँ प्राण के समान ही प्रिय होती हैं । इन्द्रियों में मन मुख्य है इसलिए उसी को इंगित करते हुए, एक वचन का प्रयोग किया गया है (प्राणाः न कह कर केवल प्राण कहा गया है) जीव की तरह, प्राणों की उत्क्रांति, गति आगति आदि का वर्णन करते हुए, उन सब की जीव में उपपत्ति दिखलाई गई है, तथा चिदंश का भी तिरोभाव होता है, ऐसा अलग से बतलाया गया है । प्राण की गुण सारता क्यों कही गई ? क्योंकि उसमें भी सत्य की स्थिति है, प्राण को भी ब्रह्म कहा गया है "ये प्राण ब्रह्मोपासते" इत्यादि ।

गौण्यसंभवात् ।२।४।२।।

ननु उत्क्रांत्यादिश्रुतिर्गौणी भविष्यति । न, गौण्यसंभवात् सा श्रुतिर्गौणि न संभवति, एकैव श्रुतिर्जीवे मुख्या प्राणे गौणीति कथं संभवति ?

प्राणों की उत्क्रांति आदि की निरूपिका श्रुति गौणी हो ये भी नही कह सकते, वह श्रुति गौणी नही हो सकती, एक ही श्रुति जीव की दृष्टि से मुख्य हो, प्राण की दृष्टि से गौण हो ऐसा कैसे हो सकता है ?

तत्प्राक् श्रुतेश्च ।२।४।३॥

जडत्वेनाधिक विचारोऽलक्षियते। सृष्टेः पूर्वमपि प्राणादीनां स्थितिः श्रूयते। "असद् वा इदमग्र आसीत् तदाहुः, किं तदसदासीदित्यृषयो वा व तेऽग्रे, असदासीत्। तदाहुः, केते ऋषय इति, प्राणा वा ऋषय" इति। ननु "सदेव सौम्येदमासीदेकमेवाद्वितीयमिति," विरोध इति चेत, न, स्वरूपोत्पत्तिरेवात्र निषिद्ध्यते। जीववत्, न तूद्गमः। उद्गमात् पूर्वंतु सदेवेति श्रुतिः। चकारान्मोक्षे तस्यापि संपत्तिः श्रूयते स्थालांतरे—एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च" इति श्रुतिर्विस्फुलिंग सदृशी।

ये इन्द्रियाँ जड़ नहीं हैं, श्रेष्ठ हैं, यही विचार यहाँ प्रस्तुत करते हैं। सृष्टि के पूर्व भी इनकी स्थिति का उल्लेख श्रुति में मिलता है।" असद् वा इदमग्र आसीद् तदाहुः केते ऋषयः प्राणः वा ऋषयः" इत्यादि। "सदेव सोम्येदमग्र आसद्" इत्यादि से उक्त कथन की विरुद्धत होती हो सो भी नहीं है, इसमें तो केवल स्वरूपोत्पत्ति मात्र निषेध किया गया है, जैसे कि स्वरूपोत्पत्ति का निषेध है। उद्गम का निषेध नहीं है, उद्गम् के पूर्व की "सदेव" श्रुति है। दूसरी श्रुति में, मोक्ष में इन प्राणों की संपत्ति का भी उल्लेख है। "एतस्मज्जायते प्र.णः" इत्यादि श्रुति, अग्नि विस्फुलिंगों के समान इन प्राणों की उत्पत्ति का वर्णन करती हैं।

तत्पूर्वकत्वाद् वाचः ।२।४।४॥

मनः पूर्व रूपं वागुत्तररूपमिति, तस्य यजुरेव शिर इति तथाच वेदानां स्वत उत्पत्यभावात् तत्पूर्वमनसः कथमुत्पत्तिः।

"तस्य यजुरेव शिरः" इत्यादि में मन को पूर्व रूप तथा वाग् को उत्तर रूप कहा गया है। साथ ही वेदों में स्वतः उत्पत्ति का भी निषेध किया गया है, इस लिए मन की उत्पत्ति कैसे हुई ?

सप्तगतेर्विशेषितत्वाच्च ।२।४।५॥

"तमुत्क्रान्त प्राणोऽनूत्क्रामति प्राणमनुत्क्रान्तं सर्वे प्राणा अनूत्क्रामंति" इति पूर्वोक्तानां चक्षुरादीनां "अधारूपज्ञो भवतीत्येकी भवति न पश्यतीत्याहुः" इत्यादिभिर्जीवगतिः सप्तानां गतिभिर्विशेष्यते। सप्तगतयस्तेन विशेषता एकी भवतीति, अतो जीव समान योगक्षेमत्वाज्जीव तुल्यतेति। चकाराद् तत्तदुपाख्यानेषु चक्षुः प्रभृतीनांदेवतात्वं संवादश्च अतश्चेतन तुल्यत्वम्।

"तमुत्क्रान्तं" इत्यादि में पूर्वोक्त चक्षु आदि की तथा "अधारूपज्ञो भवति" इत्यादि से जीव की, सातों विशेष, गति बतलाई गई है। सातों की गति से जीव की ये विशेषता है कि वो सातों को एक साथ लेकर जाता है। ये सातों जीव के समान योगक्षेम करने से जीव के ही तुल्य हैं। विशेष विशेष उपाख्यानों में चक्षु आदि का देवत्व दिखलाते हुए उनके संवाद का उल्लेख है, इसलिए ये चेतन जींव के ही समान हैं।

केचिदिदं सूत्रम् उत्तरसूत्र पूर्वपक्षत्वेन योजयन्ति। तत्रायमर्थः ते प्राणाः कति ? इत्याकांक्षायां "सप्तप्राणाः प्रभवंति तस्मात् सप्तार्ऽचिषः समिधः सप्त-जिह्वाः "अष्टौग्रहाः अष्टावतिग्रहाः" इति, "सप्त" इति "सप्त वै शीर्षण्याः प्राणा द्वावबांचौ" इति, "नव वै पुरुषेप्राणाः नार्भिर्दशमी" दश वैः पशोः प्राणा आत्मैकादश" इत्येवभादिषु नानासंख्या प्राणानांप्रतीता। तत्र श्रुतिविप्रतिषेधे किं युक्तम् ? इति संशये सप्तैवेति प्राप्तम्। कुतः ? गतेः, सप्तानामेव गतिः श्रूयते "सप्त इह लोका येषु चरन्ति प्राणां गुहाशया निहिताः सप्तसप्तेति" किं च, विशेषितत्वाच्च जीवस्योत्क्रमण समये सप्तानामेव विशेषितवस्। अन्येतु पुनरेतेषा-मेव वृत्तिभेदाद् भेदाः।

कोई इस सूत्र को, पूर्वपक्ष मानकर अगले सूत्र को उत्तरसूत्र के रूप में योजना करते हैं, उसमें दिखलाते हैं कि— वे प्राण कितने हैं ? ऐसी आकांक्षा होने पर "सप्तप्राणाः" अष्टौग्रहाः "नव वै प्राणाः" दश वै पशो प्राणाः आत्मै-कादश" इत्यादि श्रुतियों से प्राणों के अनेक रूप ज्ञात होते हैं, श्रुतियों में परस्पर विरोध होने पर सही क्या ह ? इस संशय पर सात की ही पुष्टि होती है क्यों कि—"सप्त इह लोकाः" इत्यादि में सात की ही गति बतलाई गई है, जीव के उत्क्रमण के समय सातों का ही विशेषाल्लेख है, अन्य तो इन्हीं के वृत्ति मेद होने से विभिन्न संख्यक हैं।

इत्येव प्राप्ते उच्यते—इस मत पर कहते हैं—

हस्तादयस्तु स्थितेऽतो नेवम् ।२।४।६॥

पूर्वसंबंधे उत्सूत्रं पूर्वपक्षः। तु शब्दः पूर्वपक्षं व्यावर्त्तयति। हस्तादयः सप्त-भ्योऽधिकाः। हस्तौ चादातव्यं च, उपस्थश्चानंदयितव्यं च, पायुश्च विसर्जयि-तव्यं च, पादौ च गन्तव्यं चेति।" चक्षुरादिगणनायामेतेऽपि चत्वारि इन्द्रियत्वेन गणिताः। स्थिते सति, श्रुतौगणनया चक्षुरादितुल्यत्वेसनि। अतो हेतोः सप्तैवेति

न किन्त्वेकादश । अपान्तर गणना सूचनयाऽसंभवाभिप्राय। । अधिक संख्याऽन्तः करण भेदादिति । एकादशैवेन्द्रियाणीति । स्थितम् ।

सूत्रस्थ तु शब्द पूर्वसूत्रीय पूर्वपक्ष का निवारण करता है । हस्त आदि,, सात से अधिक हैं जैसा कि—"हाथों से ग्रहण करना चाहिए, उपस्थ आनन्द लेने के लिए है, पायु विसर्जन के लिए है, पैर गमन के लिए हैं" इत्यादि श्रुति से ज्ञात होता है । चक्षु आदि की गणना में इन चारों की भी इन्द्रिय रूप से गणना ह । देह में इनकी स्थिति होने तथा श्रुति में गणना होने से, ये चक्षु आदि के ही समान हैं । इसलिए इन्द्रियाँ सात ही नहीं हैं अपितु एकादश हैं । आठ नौ आदि संख्याओं का जो उल्लेख किया गया है वह असंभव के अभिप्राय का द्योतक है। एकादश से अधिक संख्या का जो उल्लेख है वह अन्तःकरण को जोड़कर बतलाया गया है । इन्द्रियाँ तो एकादश ही हैं

अणवश्च ।२।४।७।।

सर्वे प्राणा अणुपरिमाणाः, गतिमत्वेन नित्यत्वे अणुत्वमेव परिमाण प्रमाणा भावात् पुनर्वचनम् ।

सभी इन्द्रियाँ अणु परमाणु की हैं, गति और नित्यत्व से उनका ऐसा ही निश्चित होता है । वैसे परिमाण का कोई उल्लेख प्रमाण तो है नहीं, इसलिए सूत्रकार ने विशेष सूत्र बना कर उसका निर्णय किया है ।

श्रेष्ठश्च ।२।४।८।।

मुख्यश्च प्राणो नित्यगतिमान् अणुपरिमाणश्च । चकाराद् अतिदेशः । "नासदासीत्" इत्यत्र "आसीदवात् स्वधया तदेकम् इति अननात्मकस्य पूर्वसत्ता प्रदर्शिता ।

मुख्य प्राण नित्यगतिमान ओंर अणु परिमाण का है, सूत्रस्थ चकार ऐसे ही अतिदेश कासूचक है । "नासदासीत्श्रुति आसीदवात्" इत्यादि उल्लेख अननात्मक की पूर्वसत्ता का ही प्रदर्शन कर रही है ।

न वायुक्रियये पृथगुपदेशात् ।२।४।६।।

ननु मुखः प्राणो वायुरेव भविष्यति, इन्द्रियाणाँ क्रिया वा ? एवं हि श्रूयते "यः प्राणः स वायुः" एष वायुः पंचविधः, "प्राणोऽपानो व्यान उदानः समान" इति । सामान्य करण वृत्तिः प्राणाद्याः वायवः पंचेति । तन्त्रान्तरीया आचक्षते,

तदुभयमपि न, कुतः ?पृथगुपदेशात्--"एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च"—"खं वायुर्ज्योतिरापः पृथ्वी विश्वस्यधारिणी" इति प्राणवाय्वोः पृथगुपदेशात् । वृत्तिवृत्तिमतोरभेदेन ततोऽपि पृथगुपदेशाच्च ।

अब प्रश्न होता है कि-मुख्य प्राण, वायु का ही दूसरा नाम है, या इन्द्रियों की क्रिया का नाम प्राण है ? श्रुति तो ऐसी है कि-"जो प्राण है वही वायु है" यह वायु पांच प्रकार का है-प्राण, अपान उदान, व्यान और समान । इन्द्रियों की सामान्य वृत्ति प्राणादि पांच रूपों से है इसलिए वायु के पांच प्रकार हैं । इस लिए इनका प्राणों में अन्तर्भाव किया गया है ।

वस्तुतः न तो प्राण, वायु है और न इन्द्रियों की क्रिया का नाम प्राण है । प्राण आदि का स्पष्टतः भिन्न रूप से उल्लेख किया गया है---"इससे प्राण और इन्द्रियाँ हुई" आकाश, वायु, ज्योति, जल और पृथिवी विश्व धारक हैं" इत्यादि में, प्राण और वायु का भिन्न रूप से वर्णन किया गया है । यदि वृत्ति और वृत्तिमान का अभेद मानें तो भी, भिन्न उल्लेख से इनकी भिन्नता ही निश्चित होती है ।

चक्षुरादिवत्तु तत्सहशिष्ट्यादिभ्यः ।२।४।१०।।

स प्राणः स्वतंत्रः, परतंत्रो वेति विचारे स्वतंत्र इति तावत् प्राप्तम् । सुप्तेषु वागादिषु प्राण एको मृत्युनानाप्तः प्राणः संवर्गो वागादीन् संवृक्ते प्राण इतरान् प्राणान् रक्षति मातेव पुत्रान्" इति । इमामांशंकां निराकरोति तु शब्दः । चक्षुरादिव दयमपि प्राणोऽस्वतंत्र : मुख्यतयो भगवदधीनः, व्यवहारे जीवाधीनः, कुतः ? तत्सहशिष्ट्यादिभ्यः, चक्षुरादिवत् सह शासनात् । इन्द्रियजयवत् प्राणजयस्यापि दृष्टत्वात् । आदि शब्देन जडत्वादयः ।

वह मुख्य प्राण स्वतंत्र है या परतंत्र ? विचारने पर तो स्वतंत्र ही प्रतीत होता है, श्रुति भी ऐसा ही कहती है, "वाग आदि के सो जाने पर एक मात्र प्राण ही जागता है, प्राण संवर्ग वाग आदि सभी एक साथ हैं, मुख्य प्राण इन प्राणों की रक्षा माता के समान करता है" इत्यादि । इस संशय का निवारण तु शब्द से करते हैं, कहत हैं कि चक्षु आदि की तरह यह प्राण भी परतंत्र है, मुख्य रूप से तो यह भगवदाधीन है, व्यवहार में जीवाधीन । चक्षुरादि की तरह साथ साथ इसके शासन की भी चर्चा की गई है । इन्द्रिय जय की तरह इसका जय भी लोक में किया जाता है । आदि शब्द से सूत्र में इसके संयमन की ओर इंगन किया गया है ।

अकरणत्वाच्च न दोषस्तथाहि दर्शयति ।२।४।११॥

ननु प्राणस्य जीवोपकरणत्वेन तदुपकारक व्यापार व त्वमपेक्ष्यते तत्रै कादशैव वृत्तयस्वतंत्रान्तरेऽपि सिद्धाः । "एकादशामी मनसोऽपि वृत्तय आकूतयः पंच-धियोऽभि मानः, मात्राणि कर्माणि पुरंचतासां वदंति चैकादशवीर भूमीः" इति । तथा कश्चित प्राणस्य व्यापारोऽस्तीति चेत् । नैष दोषः, कुतः ? अकरणत्वात्, करणस्यैव हि व्यापारोऽपेक्षितअन्यस्यकार्य मात्रमंपेक्षितम् तत्राह तथाहि कार्यवत्त्वं पुक्तं तच्छ्रुतिरेव दर्शयति, "तस्मिन्नुत्क्रामत्यथेतर" इत्यादि श्रुतिभिः 'प्राणनिमित्तैव शरीरस्थितिः' इति । तस्माद्‌व्यापाराभावेऽपि स्वरूपस्थितिमात्रेण तस्योपकारित्वम् ।

प्राण जीव का उपकरण है इसलिए उसमें जीव के उपकार के लिए कुछ चेष्टा अवश्य होनी चाहिए, उसकी जो एकादशवृत्तियाँ हैं वह स्वतंत्र रूप उपकारक है जैसा कि "एकादशामी मनसोऽपि" इत्यादि से निश्चित होता है । प्राण की कौन सी चेष्टा है ? ऐसा वितर्क करना ठीक नहीं क्योंकि प्राण कोई कारण नही है, चेष्टा तो करण की ही होती हैं, अन्य तो कार्य मात्र की अपेक्षा करते हैं, उसके लिए तो कार्यवान् होना ही उचित है वैसा ही उक्त श्रुति से भी निश्चित होता है । "तस्मिन्नुत्क्रामत्यथेतर" इत्यादि श्रुति से भी सिद्ध होता है कि शरीर की स्थिति प्राण निमित्तक ही है । इसलिए चेष्टा के अभाव में भी स्वरूपस्थिति मात्र से ही उसकी उपकारिता निश्चित होती है ।

पंचवृत्तेर्मनोवद् व्यपदिश्यते ।२।४।१२॥

व्यापारव्यतिरेकेणोपकारित्वमसमंजस मिति चेत् तत्राह-पंचवृत्तेः "अहमेवैतत् पंचधात्मानं विभज्यैतद्‌बाणमवष्टभ्य विधारयामि" इति । यथा मनसो द्वारभेदेनैवै-कादशवृत्तयः स्वरूपत एव । एवमेव प्राणस्यापि पंचधात्मानं विभज्यकार्यकारणं व्यपदिश्यते ।

चेष्टा के बिना उपकारिता संभव न हो, सो भी नहीं है क्यों प्राण पांच वृत्तियों वाला है जैसा कि "मैं ही स्वयं को पाँच रूपों में विभक्त करके इस शरीर में स्थित होकर धारण करता हूँ" इत्यादि श्रुति से ज्ञान होता है । जैसे कि- मन की ही एकादश वृत्तियाँ उसकी ही हैं, इन्द्रियाँ तो उसके व्यवहार के द्वार मात्र हैं इसी प्रकार प्राण भी स्वयं को पाँच रूपों में, कार्यकारण भाव से स्थित करता है ।

अणुश्च ।२।४।१३॥

अतिदेशेन प्राप्तमप्यणुत्वं पंचधात्मानं विभज्येति बचनात् संदिग्धं पुनर्विधीयते, आसन्योऽप्यणुः । चकारात् पूर्वोक्तसर्वसमुच्चयः ।

सारे शरीर प्रदेश में व्याप्त होते हुए भी प्राण अणु है "पंचधात्मानं विभज्य" इत्यादि बचन से उसके विभुत्व का संदेह होने पर ऐसा ही निर्णय करते हैं कि- व्याप्त होने पर भी वह अणु है। उत्क्रांति आदि सभी अर्हतायें इसमें हैं, यही सूत्रस्थ चकार का तात्पर्य है।

ज्योतिराद्यधिष्ठानं तु तदामननात् ।२।४।१४।।

वागादीनां देवताधिष्ठानवतां प्रवृतिः, स्वत एव वा, जीवाधिष्ठान ब्रह्मप्रेरण- योर्विद्यमानत्वादिति संशयः । विशेषकार्याभावान्न देवताऽपेक्षेति पूर्वपक्षं निरोकरोति तु शब्दः वागादीनां ज्योतिरादि अग्न्यादिरधिष्ठानमवश्यमंगीकर्त्तव्यम्, कुतः ? तदामननात् तथा आन्मायते "अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशद्" इत्यादि ।

वागादि इन्द्रियों की प्रवृत्ति, उनमें अधिष्ठित अभिमानी देवताओं के द्वारा होती है या स्वतः होती है ? ऐसा संशय होता है, क्योकि जीव की प्रवृत्ति तो जीव में अधिष्ठित ब्रह्म की प्रेरणा से होती है। इस पर पूर्वपक्ष का कथन है कि इन्द्रियों के कोई विशेष कार्य तो होते नहीं इसलिए देवताओं की कोई अपेक्षा नहीं होती । इसका निराकरण सूत्रकार तु शब्द के प्रयोग से करते हैं, वे कहते हैं कि वाग् आदि की ज्योति आदि (अग्नि आदि) अधिष्ठावृता अवश्य स्वीकारनी पड़ेगी, "अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशद्" इत्यादि श्रुति से निश्चित होता है ।

अयमर्थः—"योऽध्यात्मिकोऽयं पुरुषः सोऽसावेवाधिदैविकः ।
यस्तत्रोभयविच्छेदः स स्मृतो ह्याधिभौतिकः ।।"

इत्याध्यात्मकादीनां स्वरूपं वागादयश्चानुरूपा नित्याः । तत्र यदि त्रैविध्यं न कल्प्येत् तदैकस्मिन्नेव शरीरे उपक्षीणं शरीरान्तरे न भवेत् । कल्प्यमानेतु अग्निर्दे- वता रूपोऽनेकरूप भवन समर्थो वाग्रूपोभूत्वा सर्वत्र प्रविष्ट इति संगच्छते । ते चाग्न्यादयश्चेतना भगवदंशास्तिरोहितानन्दाः सामर्थ्ययुक्ता इति कार्यवशादव- गम्यते ।

कहने का तात्पर्य यह है कि-"जो आध्यात्मिक पुरुष है वहीं आधिदैविक की भी स्थिति है, इन दोनों का विच्छेद हो जाने पर, उसे आधिभौतिक कहा जाता है।" इसलिए आध्यात्मिक आदि का स्वरूप वाग् आदि के अनुरूप नित्य है

ऐसा निश्चित होता है। यदि आध्यात्मिक आदि तीन रूपों की कल्पना न होती तो, इन वागादि की एक ही शरीर में मृत्यु के साथ समाप्ति हो जाती, शरीरान्तर में इनकी स्थिति न होती। सृष्टि में, अग्नि देवता, अनेक रूप धारण करने के सामर्थ्य होने से वाग्रूप हो कर जीवमात्र में प्रविष्ट हो गए। उन अग्नि आदि में जो चेतना है वह, परमात्मा की अंशस्वरूप है, उनमें आनन्द छिपा हुआ है, इसलिए वे सामर्थ्यवान् हैं, कार्य के अनुसार उनकी उपलब्धि होती है।

आध्यात्मिकाधिदैविक योरेकत्वाद् वदनादिकार्यार्थं साध्यात्मिका एव निरूपिताः। उद्गमने "एतस्माज्जायते प्राणः" इत्यादिषु वागादीनां नियमेन तत्तज्जीव सान्निध्यं स्वतश्चानिर्गमनं मृत्युरूपश्रमेणतत्रलयः पुनरुद्गमनं समष्टिव्याष्टिभावश्च नोपपद्येत्।

आधिभौतिक कृतश्चायं भेद इत्यग्रे व्यक्ती करिष्यते एवमेव ब्रह्मणोऽपि "अनेन जीवेनात्मनानु प्रविश्य" इत्यपि निःसंदिग्धं द्रष्टव्यम्, यदज्ञानात सर्वविप्लववादि व्यामोहः।

आध्यात्मिक और आधिदैविक के एक होने से वदन आदि के कार्यों को आध्यात्मिक ही कहा गया है "इससे प्राण हुआ" इत्यादि उद्गमन वाक्य में, वागादि के नियम से, जीव को सानिध्य, स्वत अनिर्गमन, मृत्युरूप श्रम से उनका लय और पुनः उद्गमन तथा समष्टि व्यक्ति भाव की असंभवना बतलाई गई है। आधिभौतिक कृत भेद को आगे व्यक्त करेंगे "अनेक जीवेनात्मनानु प्रविश्य" इत्यादि ब्रह्म के स्वरूप को असंदिग्ध समझना चाहिए, जिस पर अज्ञान वश, सर्व विप्लववादियो को व्यामोह होता है।

प्राणवता शब्दात् ।२।४।१५।।

यदाधिष्ठान मग्न्यादि तत किं स्वतं एव, अन्यसहितं वेति? संदेहः, किं तावत् प्राप्तम्? स्वत एवेति, पूर्वोक्त न्यायेन तावतैव सिद्धेरनवस्थानाच्च देवतात्व व्याधातश्चेत्।

संशय होता है कि जो अग्न्यादि अधिष्ठान है वह स्वतंत्र है अथवा दूसरे के सहयोग से है? विचारने पर स्वतन्त्र ही प्रतीत होता है, पूर्वोक्त नियमानुसार ऐसा ही निर्णय होता है यदि परतंत्र मानें तो अनवस्था दोष तथा देवतात्व का व्याघात होगा।

इत्येवं प्राप्ते उच्यते, प्राणवता अधिष्ठित वागादि, कुत: ? शब्दात् "सोऽयमग्नि: परेण मृत्युनाऽतिक्रान्तो दीप्यते" इत्यादि अयमर्थ: 'द्वयाह प्राजापत्या' इत्यत्राधिष्ठातृत्वं अग्नीनामुक्तम्। देवा इत्यविशेषेणेन्द्रियाधिष्ठाव्योऽन्याश्च। तेषां प्रतिबन्धकाऽसुरति क्रमेण स्वर्गलोके गमनेच्छा बभूव। तत्र यज्ञे नैव स्वर्ग इति। "तत्र जनकोह वैदेह" इति ब्राह्मणे "केनाक्रमेण यजमान: स्वर्ग लोकमाक्रमत" इत्युद्गात्रर्त्विजा वायुना प्राणेनेति" उद्गात्रैवाक्रमणमिति सिद्धम्। तत्रान्योद्गातृत्ववरणे तथोद्गाने यो वाचि भोगस्तं देवेभ्य इत्याम्नातम्। तदनुश्रम रूपपाप्मना वेदानतरम प्रतिरूपं वदतीति निरूपितम्। सोऽपि दोषो देवान्नं प्राप्नोति। तच्छ्रुति विप्रतिषिद्धम्" न" ह वै देवान् पापं गच्छति"इति। तदनु प्राण एवोद्गाता सिद्ध:। तेन अन्येषामपि पाप सम्बन्धो निवारित:। तत: परेण, तस्य चेति सूत्रेण मृत्युमतिक्रान्तो दीप्यत इति। अतो दीप्तमानस्यैवाधिष्ठातृत्वात् प्राणवतैवाधिष्ठानं इति सिद्धम्।

उक्त विचार पर सिद्धान्त बतलाते हैं कि वागादि का आधिष्ठान प्राण के पहयोग से है "सोऽयमग्नि: परेण" इत्यादि श्रुति से ऐसा ही निश्चित होता है। "द्वयाह प्राजापत्या" इत्यादि श्रुति में, अग्नियों की अधिष्ठातृत बतलाई गई है। "देवा इति" ऐसे सामान्य निर्देश से इन्द्रियों के आधिष्ठाना होते हुए भी ये अन्य ही हैं। "इनके प्रतिबन्धक असुर हैं" उनका अतिक्रमण करके स्वर्गलोक में जाने की इच्छा हुई, यज्ञ से ही स्वर्ग मिलना है" इत्यादि "जनकोह वैदेह" श्रुति में कहा गया" यजमान किस क्रम से स्वर्ग लोक को प्राप्त करता है "ऐसा प्रश्न करने पर" उद्गाता ऋत्विक प्राण वायु से" इत्यदि उत्तर दिया गया जिससे उदगाता का क्रम सिद्ध होता है। किसी अन्य को उद्गाता रूप से वरण करने और उद्गान में जो वाणी का भोग होता है, उसे देवताओं का बतलाया गया है। उसके अनुश्रम रूप पाप से, वेदभिन्न प्रतिकूल भाषण होने का उल्लेख किया गया है, उसका दोष भी देवताओं को ही प्राप्त होता है "न हवै देवान् पापं गच्छति" ऐसा श्रुति ने स्पट निषेध किया है। इस सवर्णन से प्राण ही उद्गाता सिद्ध होता है। इस वर्णन से औरों के पाप सम्बन्ध का भी निवारण हो जाता है। इस सूत्र के बाद "तस्य च" इत्यादि सूत्र में मृत्यु का अतिक्रमण करके प्राण की ही प्रांजलता बतलाई गई है यह प्रांजलता अग्नि की अधिष्ठवृता से ही है, दोनों ही एक दूसरे के सहयोगी है, इससे वाणवान् का अधिष्ठान सिद्ध होता है।

तस्य च नित्यत्वात् ।२।४।१६॥

अग्न्यादे: प्राण सम्बन्धो नित्य इति सर्वदाधिष्ठातृत्वं प्राणस्य तत्संबंधस्य चेति चकारार्थ:। प्राण सहायेनैव यथोचित् वर्णोद्गम इति लोके स्वामि-

भृत्यभावेन जीवे भोगः फलिष्यति ।

अग्न्यादि का प्राण संबंध नित्य है। उनकी अधिष्ठातृता प्राण का और उसका संबंध दोनों नित्य हैं । प्राण की सहायता से ही सही वर्णो का उच्चारण होता हुआ देखा जाता है, स्वामि सेवक भाव से ये, जीव को भोग प्रदान करते हैं ।

तादिन्द्रियाणितद्व्यपदेशादन्यत्र श्रेष्ठात् ।२।४।१७।।

इदमत्र विचार्यते, इन्द्रियाणां प्राणाधीन सर्वव्यापारत्वात् तन्नाम कपदेशाच्च, प्राणवृत्तिरूपाणीन्द्रियाणि तत्वान्तराणि वेति संशयः। तत्त्वान्तराण्येवेति सिद्धान्तः। तानि इन्द्रियाणि तत्त्वान्तराणि, कुतः ? तद्व्यपदेशात् इन्द्रिय शब्देन व्यपदेशात् । "एतस्माज्जायते प्राणः मनः सर्वेन्द्रियाणि च" इति भिन्न शव्दवाच्यानांक्वचिदेक शब्दवाच्यत्वेऽपि नैकत्वम् । आसन्येऽपि तर्हि भेदः स्यादित्यत आह, अन्यत्र श्रेष्ठात्, तस्यते यौगिकाः शव्दा इति ।

अब विचारते हैं कि इन्द्रियों की सारी चेष्टायें प्राणाधीन हैं और उनके नाम सुस्पष्ट उल्लेख है तो क्या इन्द्रियाँ, प्राणवृत्ति ही हैं। अथवा प्राण से भिन्नतत्त्व हैं ? सिद्धान्ततः ये प्राण से भिन्न ही तत्त्व हैं । इन्द्रिय शब्द मे उनका सुस्पष्ट उल्लेख है, इसलिए भिन्न ही हैं "इससे प्राण मन और सारी इन्द्रियाँ हुई" इत्यादि । इन्द्रियाँ भिन्न भिन्न नाम वाली हैं, कहीं कहीं केवल इन्द्रिय शब्द से ही उन सबका उल्लेख कर दिया गया है, फिर भी वे एक नहीं है। प्राण में भी प्राण, अपान, उदान, व्यान, समान आदि भिन्न भिन्न नाम हैं किन्तु तत्त्वतः एक हैं, ये सारे शब्द यौगिक हैं ।

भेद श्रुतेः ।२।४।१८।।

यत्रापि प्राणशब्द प्रयोगस्तत्रापि भेदेन श्रूयते । "तमुत्क्रांतं प्राणोऽनुत्क्रामन्ति प्राणमनूत्क्रान्तं सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ति" इति ।

जहां कहीं भी प्राणशब्द का प्रयोग किया गया है वहाँ भिन्न रूप से ही किया गया है। "उस जीव के उत्क्रमण करके वह प्राण अनुत्क्रमण करता है, प्राण के अनुत्क्रमण करने पर सभी प्राण अनुत्क्रमण करते हैं" इत्यादि ।

वैलक्षण्याच्च ।२।४।१९।।

वैलक्षण्यं च प्राणस्य चेन्द्रियाणां च। सुप्तेषु वागादिषु प्राणो जागर्त्ति, स्वामि सेवकवच्चानेकं वैलक्षण्यम् ।

प्राण और इन्द्रियों की परस्पर विलक्षणता भी हैं, वागादि इन्द्रियों की सुप्तावस्था में भी प्राण जागता रहता है, स्वामि सेवक भाव की तरह उनमें अनेक विलक्षणतायें हैं।

संज्ञामूर्त्तिक्लृप्तिस्तु त्रिवृत्कुर्वत उपदेशात् ।२।४।२०॥

भूत भौतिक सृष्टिः परमेश्वरादेवेति निर्णीय नाम रूप व्याकारणमपि परमेंश्वरादेवेति निश्चयार्थमधिकरणारम्भः। लोके नामरूपकरणं कुलालादिजीवेषु प्रसिद्धमिति। अलौकिकेऽपि स्थावरजंगमे मयूरादि संज्ञां मूर्त्तिं च जीवादेव हिरण्यगर्भा देर्भविष्यतीति बन्ह्यादि देवानां जीवरूपाणामेव वागादिरूपेणानु प्रवेशात् तत्साहचर्येण नामरूपयोरपि जीव एव कर्त्ता भवतीत्याशंकां निराकरोति तु शब्द :।

भूत भौतिक सृष्टि परमेश्वर से ही है, इसका निर्णय करके, नामरूप का व्याकरण भी परमेश्वर से ही है, इसका निर्णय करने के लिए अधिकरण का प्रारंभ करते हैं। लोक में नाम रूपकरण कुम्हार आदि जीवों के प्रसिद्ध है। अलौकिक स्थावरजंगम मयूर आदि नाम और स्वरूप हिरण्यगर्भ आदि जीवों से ही किये गए हो सकते हैं, वन्हि आदि देवता भी जीव रूप ही हैं जों कि वाग आदि रूप से जीवों की इन्द्रियों में प्रविष्ट हैं उनके सहयोग से जीवात्मा नाम रूप का कर्त्ता सिद्ध होता है। इस विचार का निराकरण सूत्रकार तु शब्द से करते हैं।

संज्ञामूर्त्योः क्लृप्तिनामरूपयोर्निमाणम्। त्रिवृत्कुर्वतः, यस्त्रिवृतकरोति-तस्मात्। "सेयं देवतैक्षत हंताऽहमिमास्त्रिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मनाऽनु प्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि इति। "ता सांत्रिवृतंमेकैकं करवाणि" इति। त्रिवृत् कर्त्ता परश्मेवरः, स एव नाम रूपयोरपि कर्त्ता, कुतः उपदेशात्। उपसमीपे एक वाक्ये उभयकरणस्य प्रतिज्ञानात्। जीवस्य तु त्रिवृत् करणानन्तरं शरीर संबंधे कर्त्तृत्वात्। तस्मान्नामरूप प्रपंचस्य भगवानेव कर्तेति सिद्धम्।

सूत्रकार सिद्धान्त बतलाते हैं कि—नाम रूप का निर्माता, त्रिवृत्करण करने वाला परमात्मा है जैसा कि—"उस देवता ने विचारा कि—तीन देवताओं के रूप से जीवात्मा में प्रवेश कर नाम रूप का विस्तार करूँ "उसने एक एक के तीन तीन रूप किये" इत्यदि वाक्यों से निश्चित होता है कि—त्रिवृत्कर्त्ता

परमेश्वर ही है, वही नाम रूप का भी कर्त्ता है, उपरोक्त एक ही वाक्य में त्रिवृत्करण और नाम रूपकरण दोनों के संकल्प की चर्चा की गई है। जीव तो त्रिवृत्करण होने के बाद शरीर संबंध से कर्त्ता कहा जा सकता है। नामरूप प्रपंच का भगवान ही कर्त्ता है।

मांसादिभौमं यथा शब्दमितरयोश्च ।२।४।२१॥

इदमिदानी विचार्यते। "अन्नमशितं त्रेधाविधीयते तस्य यः स्थविष्ठो धातुस्तत् पुरीषं भवति, यो मध्यमस्तन्मासं, योऽणिष्ठस्तन्मनः। आपः पीतस्त्रेधा विधीयंते, तासाँ यः स्थविष्ठो धातुस्तन्मूत्रं, योमध्यमस्तल्लोहितं, योऽणिष्ठः स प्राणः। तेजोऽशितं त्रेधाविधीयते. तस्य यः स्थविष्ठो धातुस्थदस्थि भवति, यो मध्यमः सा मज्जा, योऽणिष्ठः सा वाक्। अन्नमयं हि सोम्या मन आपोमयः प्राणस्तेजोमयी वागिति।" तत्र संशयः, वाक्प्राणमनांसि किं भौतकानि, आहोस्वित् स्वतंत्राणि? एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च" इति श्रुतिविप्रतिषेधात् संशयः। त्रिवृत्करण प्रसंगेनोदिता माशंकां निराकरोति।, तत्र पूर्वपक्षमाह—मांसादि भौमं, पुरीषमांसादि तेजोऽवन्न प्रकृतिकम्। कुतः? यथा शब्दम् अन्नमशितमित्यादि श्रुतितो निःसंदिग्धं प्रतिपादनात्। किमतो यद्येवं तदाह—इतरयोश्च, वाचितुल्यत्वान्न संदेहः। इतरयोर्मनः प्राणयोरपि भौतिकत्वं यथाशब्दं, उद्गम श्रुतिस्तु स्तुतित्वेनानुवाद परा भविष्यति। उपपादकश्रुति बाधात्, तस्माद् भौतिकान्येव मनः प्रभृतीनि।

अब विचारते हैं कि—"खाया हुआ अन्न तीन रूपों में परिणत होता है, उसका स्थूलांश, विष्ठा बनता है, मध्यमांश मांस तथा सूक्ष्मांश मन बनता है। पिये हुए जल का स्थूलांश मूत्र, मध्यमांश रक्त, सूक्ष्मांश प्राण बनता है। खाये हुए तैजस पदार्थ का स्थूलांश हड्डी, मध्यमांश मज्जा और सूक्ष्मांश वाणी बनता है। हे सोम्य! अन्नमय मन, जलमय प्राण और तेजोमय वाणी है।" इत्यदि को पढ़ कर संशय होता है, मन प्राण और वाणी, भौतिक हैं अथवा स्वतन्त्र? ऐसा संशय "एतस्माज्जायते प्राणोः मनः सर्वेन्द्रियाणि च" श्रुति के आधार पर होता है क्योंकि इसमें तो इन तीनों की स्वतन्त्र रूप से उत्पत्ति कही गई है। त्रिवृत्करण के प्रसंग में की गई आशंका का निराकरण करेंगे। इस पर पूर्वपक्ष का कहना है कि—मांस आदि सब भौतिक ही हैं, ये तेज जल अन्न आदि प्राकृत वस्तुओं से होते हैं, त्रिवृत्करण को बतलाने वाली श्रुति तो ऐसा स्पष्ट कह रही हैं। वाणी के विषय में तो दोनों वाक्यों में एक सा हीं उल्लेख है इसलिए संदेह नहीं करना चाहिए मन और प्राण को भौतिक कहा गया सो ठीक है,

"एतस्माज्जायते" आदि उद्गम श्रुति तो स्तुतिपरक हैं अतएव उसे अनुवाद मात्र ही मानना चाहिए । मन आदि भौतिक ही हैं ।

वैशेष्यात्तु तद्वादस्तद्वादः ।२।४।२२।।

अन्नादिभिर्विशेष्यते, मनः प्रभृति सम्यक् कार्यक्षमं भवति । तथा दर्शनात् उपादानाच्च । अतो वैशेष्यादेव हेतोरन्नभयत्वादि वादः । ननु कथमेतदवगम्यते ? वैशेष्याद् गौणोवाद इत्युच्यते । अथात्मनोऽन्नाद्यमागायदित्यत्र प्राण एव सर्वस्यान्न स्यात्ता निर्दिष्टः स कथं तत्परिमाणमकार्यं स्यात् । वागादयश्च तत्रान्नार्थं मनुप्रविष्टाः सृष्टौ प्रथमतो भिन्नतया निर्देशात् । अतो न भौतिकानि मनः प्रभृतीनि, किन्तु तत्त्वान्तराणीति सिद्धम् । तद्वाद इति वीप्सा अध्याय समाप्ति सूचिका ।

अन्न आदि भक्षण से, मन आदि विशेषरूप से बल प्राप्त करते हैं, कार्य क्षमता प्राप्त करते हैं यही त्रिवृत्करण की श्रुति का तात्पर्य है, उत्पन्न होते हैं ऐसा तात्पर्य नहीं है । अन्नमय आदि का सिद्धान्त यही है । सिद्धान्त, विशेष से गौण ही होता है । "अथात्मऽन्नाद्यभागायत" इत्यादि में प्राण को ही सभस्त अन्न का भोक्ता कहा गया है, इसलिए वह भोक्ता, अन्न आदि का परिणाम कार्य कैसे हो सकता है ? वागादि को उक्तवर्णन में अन्न के लिए अधुप्रविष्ट वतलाया गया है, सृष्टि में इनको अन्न आदि से स्पष्ट रूप से भिन्न बतलाया गया है । इसलिए मन आदि भौतिक नहीं हैं अपितु अन्नादि भिन्न तत्व हैं ।

द्वितीय अध्याय समाप्त

---:०:---

तृतीय अध्याय

प्रथमपाद

तदन्तर प्रतिपातौ रंहति संपरिष्वक्तः प्रश्ननिरूपणाभ्याम् ।३।१।१।।

सर्वोपनिषदां सिद्धो ह्यविरोधे समन्वयः, कथं बोधकता तासां सा तृतीये विचार्यते । एकं वाक्यं प्रकरणं शाखाः सर्वा सहैव वा एकां विद्यामनेकां वाजनयन्नीति चिन्त्यते । स साधनो हि पुरुषे जन्मना कर्मणा शुचौ, केवलेवा यथायोगे प्रथमं तद् विचार्यते । विचारपूर्वकं तस्य ब्रह्म भावाप्ति योग्यता, अधिकारे ततः

सिद्धे विषयाव धृतिस्ततः । अंतरंग विचारेण गुणानामुपसंहृतिः, बहिरंग विचारेण कर्मणामिति सा द्विधा ।

तस्मादधिकारिणो जन्म निर्द्धारः। तदनु तस्य ब्रह्मभावयोग्यता, ततो गुणोपसंहारः ततोऽङ्कविचार इति । तत्र प्रथमपादे जीवस्य ब्रह्मज्ञानोपयिकं जन्म विचार्यते ।

प्रथम और दूसरे अध्याय में उपनिषदों के समन्वय और अविरोध की सिद्धि की गई, इस तीतरे अध्याय में उपनिषदों की बोधकता कर विचार करते हैं। उपनिषदों के वाक्य, प्रकरण, शाखा में भिन्न भिन्न विद्याओं का उपदेश हैं अथवा सब मिलकर एक ही विद्या का समर्थन कर रहे हैं, इस पर विचार किया जा रहा है । इसमें सर्व प्रथम यह विचार किया गया कि श्रवण मनन निदिध्यासन आदि साधनों के साथ शास्त्र चिन्तन करने से जन्म कर्म के बन्धन मुक्त होत हैं अथवा केवल ज्ञान योग से ही मुक्त हो जाते हैं द्वितीय पाद में, शास्त्र विचार पूर्वक भक्तिसाधना से ब्रह्मभावाप्ति योग्यता का वर्णन किया गया है। तृतीय पाद में, अधिकार का निर्णय हो जाने पर विषय की अवधृति बतलाई गई है। अंतरंग विचार करने से गुणों के उपसंहार होने पर तथा बहिरंग विचार से कर्म के उपसंहार होने पर वह अवधृति दो प्रकार से होती है। इस अधिकारी के जन्म का निद्धारण, उसकी ब्रह्मभाव योग्यता, गुणों का उपसंहार और अंश का विचार किया गया है। प्रथमपाद में जीव के ब्रह्मज्ञान के उपयोगी जन्म पर विचार करते हैं।

तत्र पूर्व जन्मनि निष्काम यज्ञ कर्त्तुज्ञान रहितस्य मरणे ज्ञाना भावेन यज्ञाभिव्यक्त्यभावाद भूतसंस्कारक एव यज्ञोजात इति निष्कामत्वाच्च तदधिकारिदेवाधीनान्येव भूतानि इति ते देवास्तत्र तत्र हुत्वा तस्य शरीरं संपादयन्ति इति पंचम्यामाहुतावापः पुरुष वचसो भवंति" इति श्रुतिः ।

तत्र जीवेन्द्रियाणां होमाभावेनाशुद्धिभाशंक्य तेषामपि होमं वक्तुमिदमधिकरण मारभते । न च पंचाहुतयो धूममार्ग एव, तत्र गमनागमनयोर्बहुविशेष श्रवणात् । "तद् य इत्थं विदूर्ये चेमे श्रद्धा तप इत्युपासते, तेर्ऽचिषभमिसंभवतीति तज्ज्ञानवतोऽपि यत्रार्चिः प्राप्तिस्तत्र तथा देवहुतानां कथं सा न स्यात् । ज्ञानार्थमेव च तथोत्पत्तेः । पुनरावृत्तिः परंतुल्या । अथवा निष्काम एव धूममार्गः ।" योगी प्राप्य निवर्तते" इति स्मरणात् । भोगार्थ मेव धूमादि लोकाः । निष्पत्तिस्तु

पंचाग्नावेव । अन्ने प्रविष्टानामन्येषामपि रेतो द्वारा योनित उत्पत्तिरिति कपूय-चरण वर्णनम् । "एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभंते" इति काम-नायां भिन्न एव प्रकारः पृथगुपदेशात् । तस्माद्योग्यशरीरनिष्पत्तये स्वयमेव गच्छति भूतसहितः ।श्रद्धाहोमानन्तरं सोमभावे वा संबंध इति संशयः । भिन्नपक्षे योनौ वेति । तत्र श्रौतेऽर्थेश्रौतन्यायेनैव निर्णयस्योचितत्वादाहुतावपां गौणत्वा पत्तेः । संस्कृतभूतानामपामुपस्थापकत्वाभावाच्छरीर वियोगे देवानां च तावद् बिलम्बे कार-णांभावाच्च श्रद्धारूपा आप एव हूयन्ते, अतो न तैः परिष्वक्तो गच्छति ।

जो जीव पूर्व जन्म में निष्काम यज्ञ करते हैं, वे ज्ञानरहित होते हुए भी, मृत्यु के समय ज्ञान के अभाव से यज्ञाभिव्यक्ति रहित भूत संस्कार यज्ञ द्वारा जन्म लेते हैं । निष्काम होने से वे यज्ञाधिकारी देवताओ के अधीन रहते हैं, जैसा कि—"वे देवता उन उन स्थानो में हवन कर उसके शरीर का संपादन करते हैं, इस प्रकार वह पाँच आहुतियों द्वारा पुरुष नाम वाला होता है ।" इस श्रुति से स्पष्ट होता है ।

उक्त यज्ञ में जीव स्वतः तो ज्ञान रहित होने से अपने को हुत करता नहीं, देवताओं द्वारा किया जाता है, इसलिए यह कृति अशुद्ध है, इत्यादि संशय उपस्थित करते हुए, उनका भी होम होता है, इसका निर्णय करने के लिए अधिकरण प्रारम्भ करते हैं ।

(पूर्वपक्ष) पंचाहुति धूममार्ग तो है नहीं, क्यो कि—उसमें गमन और आ-गमन का विशेष वर्णन मिलता है । "जो उसे इस प्रकार जानकर श्रद्धा और तप से उसकी उपासना करता है वो अर्चिरादि गति प्राप्त करता है" इत्यादि में ज्ञानवान की भी अर्चिरादि प्राप्ति कही गई है, वहाँ देवताओं के द्वारा आगति क्यों नहीं की जाती ? ज्ञान के लिए ही तो पंचहुत उत्पत्ति होती है । पुरुष रूप की प्राप्ति तक पुनरावृत्ति तो दोनों में समान ही होती है ।

धूममार्ग का वर्णन निष्काम कर्म वाले के लिए भी हो सकता है "योगी प्राप्य निवर्त्तते" स्मृति वाक्य से ऐसा ही समझ में आता है । धूमादि लोक भोगार्थक ही हैं, पंचाग्नि आहुति से ही उनकी निष्पत्ति होती है । आहुति रहित अन्य जीवों का अन्न प्रवेश और वीर्य द्वारा स्त्री के गर्भ में प्रवेश कर योनि द्वारा उत्पन्न होना इत्यादि को निकृष्ट बतलाया गया है । "एवं मयी धर्म मनु प्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते" इत्यादि में कामना का भिन्न ही प्रकार बतलाया गया

है, इससे तो यही समझ में आता है कि—योग्य शरीर की प्राप्ति के लिए जीव स्वयं ही भूत सहित गमन करता है। श्रद्धाहोम के बाद जीव सोमभाव को प्राप्त करता या सोमसंबंध प्राप्त करता है अथवा सोम योनि ? इस संशय पर, श्रौत अर्थ को तो श्रौतन्याय से ही निर्णय करना उचित है' उसमें तो उपाहुति प्राप्त रूप को गौण कहा गया है। शुद्ध संस्कृत भूतों को जल में स्थापन करना असंभव है, अतः शरीर वियोग के समय तभी तक देवताओं के साहचर्य का विलम्ब रहता है जब तक कारण का अभाव नहीं हो जाता, कारण के अभाव होने से वे देवता श्रद्धा रूप जल की ही आहुति देते हैं। इससे निश्चित होता है कि, जीव, सोम आदि रूपों से संश्लिष्ट होकर नहीं जाता।

इत्यैवं प्राप्ते उच्यते—तदन्तर प्रतिपत्तौ रंहति सपरिष्वक्तः प्रश्न निरूपणाभ्याम्। तस्य जीवस्य यज्ञादिकर्त्तुरन्तर प्रतिपत्तौ; अन्तरे मध्ये मुख्य प्रतिपत्तेर्मोक्ष-लक्षणाया अर्वाग् योग्यशरीरं निष्पत्यकर्म। नहि वस्तुनो यज्ञान्नामिदं फलं भवति, अतो मुख्ये विलम्बात् प्रतिपत्तिरेषा। तस्य मुख्य फलस्य वा अन्तरे या प्रतिपत्तिः तदर्थं वा तत्कारणभूतैः संपरिष्वक्त एव रंहति ' मराणान्तरमेव कर्म समाप्तेः। सम्यग् भूतानि तदैव संस्कृतानि प्रतिदिन संस्कारार्थं च नैकट्यमपेक्षन्ते, अतः सम्यगेव च परिष्वक्तः। पूर्वं शरीरेण व्यवधानाच्छरीर दाहे वा तद् गतानि भूत सूक्ष्माणि सम्यक् तमेवासक्तानि। तं विधाकर्मणी समन्वारभेते पूर्व प्रज्ञा चेति। जीव पक्षे ज्ञानकर्मणी। कर्मणो हि स्वरूपभूता आपः। तत्र हेतुः प्रश्ननिरूपणाभ्याम्। "वेत्थ यथा पंचम्यामाहुतावापः पुरुष वचसो भवन्ति" इतिप्रश्न "असौ वाव लोको गौतमाग्निस्तस्यादित्य एव समित्" इति निरूपणम्। प्रश्ने हि पुरुषत्वं वदति न देह मात्रं तज्जीवाधिष्ठितानामेव भवति। सिद्धवत्कारवचनाच्च। निरूपणेऽपि चन्द्रो भवतीति। तत्रापि सोमो राजा चेतनः। न ह्यन्याधिष्ठाने ह्यन्यस्य शरीरं भवेत्। तथान्नरेतोगर्भाश्च। अन्यथापि विनियोग संभवात्। जीव साहित्येऽप्यपामेव मुख्यत्वम्। शरीरवत्। अयं होमस्तत्र तथा तं जनयन्तीति न दुःख-हेतुः। तस्मात् प्रश्न निरूपणान्यथानुपपत्त्या परिष्वक्त एव संस्कृतैर्भूतै रंहतीति सिद्धम्।

उक्त मत पर कहते है कि—प्रश्न और निरूपण से तो यही निश्चित होता है कि—संश्लिष्ट होकर ही जाता है। यज्ञ करने वाले जीव, मोक्ष प्राप्त करने के प्रथम, निर्वाह के लिए सोमादि शरीरों से संसक्त होकर रहते हैं। ये शरीर इन्हे यज्ञ के फलस्वरूप मिलते हों सो बात नही है, अपितु मोक्ष प्राप्ति तक

व्यवधान मे ये स्वत. प्राप्त होते है। मोक्ष प्राप्ति तक तो जल आदि के साथ जीव का चिपकाव होता है उसी के सहारे वह तद्भूत होकर गमन करता है। मरण के बाद ही उसे उन रूपो की प्राप्ति हो जाती है उस पवित्र जीव के साथ समस्त भूत, स्वय पवित्र होने के लिए उससे सलिष्ट होना चाहते है। इसलिए हृदरूप से चिपक जाते है। पूर्व शरीर के छूटने अथवा शरीर के दाह हो जाने पर, जीव सबद्ध भूत सूक्ष्म ही उससे आश्लिष्ट हो जाते है। इसी का वर्णन वृहदारण्यक के शरीर ब्राह्मण मे "त विद्याकर्मणी हमन्वारर्भते पूर्व प्रज्ञा च" इत्यादि किया गया है। यज्ञ कर्त्ता जीव के लिए "ज्ञान कर्मणी" कहा गया है कर्म ही स्वरूपभूत जल है ऐसा—"वेत्थ भया पचभ्यामाहुता वाप. पुरुष वचहो भवन्ति" इत्यादि प्रश्न तथा "असौ वावलोको गौतमाग्नि" इत्यादि निरूपण से निश्चित होता है। प्रश्न मे पुरुषत्व प्राप्ति की बात कही गई है, जिनमे जीव का अधिष्ठान होता है ऐसे देह की चर्चा नही है। सिद्धवत प्रयोग किया है। निरूपण मे भी "चन्द्रो भवति" इत्यादि का सिद्धवत् प्रयोग है। वहाँ पर भी, चेतन का राजा सोम है इसी भाव से ऐसा प्रयोग किया गया है। अन्य के आश्रय मे अन्य का शरीर तो हो नही सकता। अन्न, वीर्य आदि के गर्भ मे जीव रहता है। और तरह भी रह सकता है। जीव साथ मे रहता है फिर भी जल को ही मुख्य कहा गया है, जैसे कि जीव के शरीर को मुख्य माना जाता है। यह होम ही जीव को उनरूपो मे जन्म देता है इसलिए दु ख का कारण नही है।

त्र्यात्मकत्वात्तु भूयस्त्वात् ।३।१।२॥

ननु कथ भूतसस्कारमात्रत्वमवगम्यते यावता प्रश्न निरूपणाभ्यामाप एवावगम्यन्ते। न च तावन्मात्र सस्कार कत्वम्। नियामकाभावात्। "अस्थि चैव तेन मास च यजमान. सस्कुरुत" इति विरोधश्चेति शका निराकरोति तु शब्द.।

अयामेव ग्रहणेन तेजोऽबन्नानि गृहीतानि ज्ञातव्यानि कुत. ? त्र्यात्मकत्वात्, लोकादिनिर्माणानन्तर भावित्वात्, ता आपस्त्रिवृत् कृता एव, अतस्त्रयोऽपिगृहीता अपा ग्रहणेन, उपलक्षणत्वेऽप्यपामेव ग्रहणे हेत्वन्तरमाह। भूयस्त्वात्, शुद्धत्वाद् विशेषाभावान्मध्यभावाच्च दीक्षित तुल्यत्वेन भारुपत्वेनाग्रे वक्तव्यत्वात्। शुद्धायामेवेद शरीर बहुहेतुकत्वमेव भूयस्त्वम्, बहुधा परिणामाच्च द्रव्यभूयस्करत्व च। तस्मान्नि यामकाना भूयस्त्वादपामेव ग्रहणम्।

प्रश्न और निरूपण से जीव की, भूत सस्कार मानता ही कैसे निश्चित करली ? उसके इतने होने मात्र से तो सस्कारकता सिद्ध होती नही क्यो कि

संस्कारता के लिए नियामक होना आवश्यक है, सो तो इसमे है नही। तथा "अस्थि चैव तेन मासं च यजमान सस्कुरुत" इस विधिवाक्य से विरुद्धता भी होती है। इस तर्क का निराकरण तु शब्द से करते है। केवल जल मे ग्रहण से ही तेज, जल और पृथ्वी का ग्रहण हो जाता है, क्यो कि जल ही समस्त सृष्टि में त्र्यात्मक होकर व्याप्त है इसलिए जल के ग्रहण से तीनो का ग्रहण हो जाता है, जल के ग्रहण में उपलक्षण भी एक कारण है। जल परिमाण मे अधिक भी है साथ ही शुद्ध भी। वह सभी में व्याप्त है, इसे प्रकरण मे आगे परपपवित्र करने वाली शक्ति कहा गया है, शुद्ध होने से ही इसे जीव का शरीर कहा गया है, अनेको जीवों का हेतु होने से इसका वाहुल्य है, यह द्रव्यों का भी विस्तार करता है, इसलिए अनेक नियामकों के स्थान पर इस जल को ही एकमात्र नियामक कहा गया है।

प्राणगतेश्च ।३।१।३॥

वैदको युक्तिमुक्त्वा लौकिकीमाह, प्राणस्य गतिः प्राणगतिः तमुत्कातं प्राणोऽनूत्क्रामतीति प्राणाप्यायनजनकत्वादपाम् । प्राणो गच्छन् स्वाप्यायक ग्रहीत्वैन गच्छन्ति । जलौकावदन्यत्र देहसंवधः मुक्तौ न प्राणा गच्छन्ति । क्रममुक्तावपि देह सवंध इति पौराणिकाः देहभाव इत्यौपनिषदा. । अतो दूरे प्राणगतिरत्रैव । अतोऽप्या संश्लेषो वक्तव्यः । चकाराद् विद्याकर्मणी समन्वारमेते पूर्व प्रज्ञा चेति स्वकर्म सहभावं बोधयति श्रुतिः । तस्माददभिः परिष्वक्तो गच्छति ।

वैदिकी युक्ति बतलाकर लौकिकी युक्ति बतलाते है। प्राण की गति से भी जल की प्रधानता सिद्ध होती है, क्यों कि प्राण का आधार, जल ही है। प्राण जव उत्क्रमण करते हैं तो वे अपने रक्षक के साथ ही गमन करते है। जलौक की तरह ये प्राण, अन्यत्र देह संवंध होने पर भी जल को नही छोड़ते उसी के साथ जाते है पौराणिक लोग क्रममुक्त में देह सवंध मानते है, औपनिषद् देह-मानते है सद्योमुक्ति को छोड़कर सभी में देह संबंध रहता है इसलिए प्राणगति के साथ जल का संलेष रहता है, ऐसा मानना चाहिए। "विश्राकर्मणी" आदि श्रुति स्वकर्म सहभाव बतलाती है। जल संसक्त होकर ही जीव जाता है यह मानना ठीक है।

अध्यादिगतिश्रुतेरिति चेन्न भाक्तत्वात् ।३।१।४॥

श्रुति विरोधं परिहरति। परस्पर विरोधे व्यवस्था वा बोध्यते। ननु "यत्रास्य पुरुषस्य मृतस्याग्निर्वागप्येति वा तं प्राणः" इत्यादिना अग्न्यादिगतिः प्राणानां श्रूयते। न च ओषधीर्लोमानि वनस्पतीन् केशा इत्यत्र प्रत्यक्ष विरोधात् बाधितविषयेयं श्रुतिरिति वाच्यम्। आध्यात्म केन्द्रियमध्यपाताल्लोभकेशा अप्याध्यात्मिका एव ग्राह्याः यैः कण्डूलावण्य प्रतीतिः, दृश्मानानितु गोलकस्थानानि। तस्मात्प्राणोत्क्रमणश्रुतिरग्न्यादिभावश्रुत्या बाध्यत इति चेन्न। भाक्तत्वात्, प्रकरण व्यतिरेकेणामुक्त विषये प्रवृक्ता भाक्ता भवति। "अथ हैनं जारत्कारब आर्तभागः पप्रच्छ" इत्यत्र ग्रहनिरूपणानन्तरं मृत्युं पृष्ट्वा म्रियमाण प्रश्ने नामैव न जहात्यन्यज्जहातीति प्रतिज्ञाते, प्राणोत्क्रमण प्रश्ने नेतिप्रति वचने वागा दीनाभग्न्यादि भावानुवादः। ततो मंत्रणाज्जीवस्य ब्रह्मभावोऽव गम्यते, सामग्या गतत्वात्। "तौ ह्यद्चतुरिति" कर्मप्रशंसा भिन्न प्रश्नोत्तरा।उपयोवंचन विधानात् ब्रह्मविद्या च गोप्या उत्क्रमण श्रुति स्तु, "स यत्रायँ शरीर आत्मा" इति ब्राह्मणे, जीवस्य "परलोक विहारार्थं निष्क्रामति" चक्षुषो मूर्ध्नो"वेत्यादिना प्राणानां विहार साधकानां निर्गमनमाह। अतोमुक्तामुक्त विषय भेदस्य व्यस्थापकस्य विद्यमानत्वादग्न्यादिभाव श्रुति र्नोत्क्रमण श्रुति बाधिका। तस्मादन्यत्र सिद्धो धर्मोऽन्यत्रावस्था साम्याद् योज्यमानो भाक्तो भवति। अतः प्राणोत्क्रमणमस्ति। तस्मात् संपरिष्वक्तो गच्छतीति सिद्धम्।

श्रुति की विभिन्नता का परिहार करते हैं। परस्पर विरोध में व्यवस्था देते हैं। "यत्रास्य पुरुषस्य मृतस्यग्निर्वागर्ब्यति" इत्यादि में तो प्राणों की अग्न्यादि गति बतलाई गई है? इस पर कहते हैं कि "अजधित्योमानि" इत्यादि में तों प्रत्यक्ष विरोध है, इसलिए यह श्रुति बाधित कही जा सकती है? वस्तुतः आध्यातमिक इन्द्रियों के साथ वर्णन होने से लोम केश आदि भी आध्यात्मिक ही मानने चाहिए, लोक में लोम केश आदि से लावण्य की प्रतीति होती है इसलिए अध्यात्म में भी उनका वर्णन किया गया है इस लिए,प्राणोत्क्रमण श्रुति, अग्न्यादि भाव श्रुति से बाध्य है, ऐसा नहीं कह सकते अग्न्यादिभाव श्रुति भाक्त है। यह श्रुति, अभुक्त जीव का वर्णन कर रही है, प्रकरण से अलग है, इसलिए भाक्त है। "अथ है नं जारत्कारव" इत्यादि प्रश्न और निरूपण के बाद मृत्यु सबंधी प्रश्न करने के बाद, म्रियामाण संबंधी प्रश्न में कहा गया कि नाम ही नहीं छोड़ता और सब भी छोड़ देता हैं, ऐसी जानकारी हो जाने पर जब प्राणोत्क्रमण सबंधी प्रश्न किया गया तब उसमें नकारात्मक उत्तर देकर कहा कि वागादि का, अग्न्यादि भाव होता

है। उक्त मन्त्र से जीव के ब्रह्म भाव की जानकारी होती है, 'ब्रह्म, जीव में निहित भी तो है। "नौह यद्वतु." इत्यादि भिन्न प्रश्नोत्तर है। दोनो बचनो में विधि पूर्वक ब्रह्मविद्या गुप्त है। "स यत्रायँ शारीर आत्मा" इत्यादि मे ब्रह्म सम्बन्धी चर्चा उत्क्रमण श्रुति करती है तथा "चक्षुषोवा मूर्ध्नोवा" इत्यादि से जीव के परलोक विहार की चर्चा करते हुए विहार के साधक प्राणो का निर्गमन बतलाती है। इस प्रकार मुक्त और अमुक्त सम्बन्धी व्यवस्था करने से अग्न्यादिभाव श्रुति, उत्क्रमश्रुति की बाधिका नही होती। अन्यत्र सिद्ध धर्म को अन्यत्र अवस्था साम्य से जोडने से वह भाक्त हो जाता है। प्राणोत्क्रमण होता है, जीव उससे ससक्त होकर जाता है, यही निश्चित बात है।

प्रथमेऽश्रवणादितिचेन्न ता एव ह्युपपत्तेः ।३।१।५।।

किंचिदाशंक्य परिहरति "असौवा व लोको गौतमाग्नि." इत्यत्र "देवाः श्रद्धा जुह्वति श्रुतेरापो न सँकीर्तिता.। अपाहि पचम्यामाहुतौ पुरुषवचनम्। श्रद्धा मनो धर्म, स कथ हूयत इति चेन्न। मनसा सह भविष्यति। तथाप्यरुणान्यायेन धर्ममुख्यत्वम्। तर्हि कथ प्रश्नोपसंहारो परोक्षवादाद् भविष्यति, चमसवत् "श्रद्धावा आप इति श्रुते शुद्ध हेतुत्वसाम्यात्। "चन्द्रमा मनसो जातः" इति श्रुतिश्चेत्येव पराभविष्यति तस्मात् प्रथमा हुतावपामश्रवणान्न ताभिः सपरिष्वक्तो गच्छतीति चेन्न ता एव आप एव श्रद्धा शब्देनोच्यते। हियुक्तोऽयमर्थः। यथा कर्मकाडे आपः श्रद्धाशब्देनोच्यन्ते तथा प्रकृतेऽपि। पर नोपचारः, उपपत्तेः उपक्रमोपसहारयोर्वलीयस्त्वात्। ननु मध्ये श्रुतेन श्रत्ताशब्देनोपक्रमोपसहारावन्यथाऽवन्ययाकर्त्तु युक्तौ। श्रद्धासहभावः सस्कारेण सस्कृतेपु भूतेपु सिद्धः। तेन मनःस्थाने आप एव वाच्याः।

कुछ आशंका करते हुए परिहार करते है, कहते है कि "असौवा व लोको" "इत्यदि श्रुति मे तो "देव-श्रद्धा जुह्वति" कहा गया है, जल का तो नाम भी नही है। जल ही पाचवी आहुति में पुरुष नाम वाला होता हे, ऐसा प्रमाण है जो ठीक भी है, पर ऊपर की श्रुति मे श्रद्धा की आहुति कैसे हो सकती है? ऐसी शंका उचित नही है, श्रद्धा की आहुति का तात्पर्य है, मनोयोग से दी गई आहुति। जैसे कि "अरुणा सोमक्रीणाति" इत्यादि ज्योतिष्टोम प्रकरणीय वाक्य मे अरुणिमा गुण द्योतक है वैसे ही श्रद्धा शब्द मे धर्म मुख्यता है। इस पर पुनः शंका करते है कि यदि श्रद्धा पद मनोयोग का

द्योतक है आपवाची नही है तो, प्रकरण के उपक्रम और उपसंहार में जो आप शब्द का स्पष्ट उल्लेख है उसकी श्रद्धा पद के साथ कैसे संगति होगी ? इस पर कहते हैं कि जैसे कि "अर्वाग्विलश्च" इत्यादि में शिर आदि को चमस शब्द से परोक्षवाद रूप में कहा गया है वैसे ही यहाँ भी श्रद्धा और जल का शुद्धि हेतुक साम्य होने से जल के स्थान पर श्रद्धा शब्द का परोक्षवाद रूप से प्रयोग किया गया है। पुनः शंका होती है कि श्रद्धा पद को जल पूरक मान लेने से, ,,श्रद्धां जुह्वति तस्या आहुतेः सोमो राजा संभवित" इत्यादि में जो श्रद्धा के परिणामरूप से सोम की अधिष्ठातृता कही गई है उससे विरुद्धता होगी ? इसका समाधान करते हैं कि "चन्द्रमा मनसो जात :" श्रुति मन और श्रद्धा की एकता का प्रतिपादन कर रही है इसलिए विरुद्धता का प्रश्न ही नहीं उठता। फिर प्रश्न होता है कि प्रथम आहुति में तो जल का वर्णन है, उससे संलग्न होकर जीव जाता है ऐसा उल्लेख तो है नहीं, फिर जीवोत्पत्ति का प्रकरण कैसे कह सकते हैं ? इसका समाधानकरते हैं कि उस जल का जो श्रद्धा शब्द से प्रयोग किया गया है उसी से जीव की संलग्नता सिद्ध हो जाती है। श्रद्धा शब्द का प्रयोग जीव के लिए उपयुक्त ही है। जैसे कि कर्मकाण्ड में आय को श्रद्धा कहते हैं, वैसे ही लौकिक प्रयोग भी होता है। श्रत् शब्द का अर्थ निघण्टु में सत्य किया गया है, जीव सत्यरूप है उसे जो धारण करे उसे ही श्रद्धा कहते हैं (श्रत् सत्यं दधातीत श्रद्धा) श्रद्धा, जल के समान ही पवित्र है इसलिए जल के स्थान पर उसका जो प्रयोग किया गया वह औपचारिक नही है। उपक्रम और उपसंहार में तो स्पष्ट ही जल शब्द का प्रयोग है इसलिए मध्य में वर्ण्य श्रद्धा शब्द, जल वाची ही है यही मानना चाहिए उसका अन्यथा अर्थ करना ठीक नहीं है। श्रद्धा सहित किये गए संस्कार से ही, पदार्थों की शुद्धि होती है। इसलिए मन के स्थान पर पवित्रतावाची जल शब्द का प्रयोग किया गया है। "चन्द्रमा मनसो जातः" इत्यादि तो ईश्वरीय सृष्टि का वर्णन है। सकाम यज्ञ करने वाले को फलस्वरूप श्रद्धा प्राप्त होती है, यही बात श्रद्धा शब्द के प्रयोग से दिखलाई गई है, कर्म में श्रद्धा करने से तो निष्काम भाव की सिद्धि होनी है। ,,यो यच्छ्रद्धः सा एव सः" इत्यादि गीतोक्त वाक्य में कर्त्ता को, स्पष्ट रूप से श्रद्धा का आश्रय बतलाया गया हैं। इससे सिद्ध होता है कि जल सुसंस्कृत होकर जीव नामधारी होता है। श्रद्धा का आश्रय तदनुरूप हो जाता है, इसी भाव से सर्वप्रथम श्रद्धा के स्थान पर जल शब्द का प्रयोग किया गया है।

अश्रुतत्वादितिचेन्नेष्टादिकारिणां प्रतीतेः ।३।१।६॥

स्थितमेतज्जीवः संपरिष्वक्तो रंहतीति । तत्र विचार्यते । सर्वे जीवाः संपरिष्वक्ता गच्छन्त्याहोस्विज्ज्ञानोपयोगिन इति विमर्शः । तत्र पंचाहुति ब्राह्मणेनाधिकारिणः श्रुताः । वेदंहि श्रुतानुसारिणी कल्पना । अतो विशेषस्या श्रुतत्वात् सर्वेषामेव पंचाहुति प्रकार इति चेन्न । इष्टादिकारिणां प्रतीतेः । इष्टादिकारिणः प्रतीयन्ते । श्रद्धापदेन देवकर्त्तृत्वेन च । सोमभावसाम्याच्च । इष्टादिकारिणां धूममार्गव्युत्पादेन सोमभाव उक्तः । अत्रापि प्रथमाहुति फलं सोमभाव उच्यते । अतः श्रुति साम्यादपि इष्टादिकारिणो रहंतीति सिद्धम् ।

यह तो निर्णय हो गया कि प्राणों से संलग्न जीव जाता है । अब विचारते हैं कि सभी जीव जाते हैं अथवा ज्ञानोपयोगी जीवों के जाने की चर्चा की गई है । पंचाहुतिब्राह्मण में अधिकारी की बात नहीं है, वेद की कल्पना श्रुतानुसारी ही होती है । विशेष अधिकारी की बात न होने से तो, पँचाहुति प्रकार सभी जीवों के लिए समझ में आता है ।

इस पर सूत्रकार कहते हैं कि श्रद्धापद और देव कर्त्तृत्व के वर्णन से तो, इष्ट (यज्ञ) कारी की ही प्रतीति होती है, सोमभाव साम्य की बात से भी उक्त बात की पुष्टि होती है । इष्टादि करने वालों का ही धूममार्ग में जाने पर सोमभाव बतलाया गया है । उक्त प्रकार में भी प्रथमाहुति का फल सोमभाव बतलाया गया है । इस प्रकार श्रुति साम्य से भी इष्टादि करने वालों की गति सिद्ध होती है ।

भाक्तं वाऽनात्मवित्वात्तथाहि दर्शयति ।३।१।७॥

किंचिद् दूषणं परिहरति । ननु यदि श्रुति साम्येन सोमभावादिष्टादिकारिणो रहंतीत्युच्यते तदा सोमभावे तेषामप्यनिष्टं श्रूयते । "तद्देवानामन्नं ते देवा भक्षयन्ति" इति समान श्रुतौ "चाप्यायवापक्षीयस्वेत्येववमेतांस्तत्र भक्षयंति" इति चंद्र दृष्टान्तेन तेच भक्षयंते ततश्चदेवाः स्वान्नं पर्जन्येऽग्नौ कथं जुहुवुः ? अतः पंचाहुत्यभाव इत्याशंक्य परिहरति वा शब्दः । तेषां सोमभावो गौणः भक्षणं च । प्रकृतेऽप्यांगरत्वाच्चन्द्रमसः कथमाहुतिफलंभवेत् सोमभावस्य भाक्तत्वमग्रे निरूपयिष्यामः । इदानी भक्षणस्य गौणत्वं निरूपयति । अन्नभावेहि मुख्यं भक्षणं भवति । तदन्यान्न भावो नोपपद्यते । ब्रह्मज्ञानेतु भवति, स सर्वं भवति । तद्वैतत् पश्यन् ऋषिर्वामदेवः प्रतिपेदे अहं मनुरभवं सूर्यश्चेति" । प्रकृतेतु तन्न । अनात्म-

वित्वात् । तथा सति मोक्ष एव भवेत् । अतो भक्षणमपि गौणम् । तथाहि श्रुतिरेव गौणभावं शब्दस्य बोधयति "अथयोऽन्यां देवतामुपास्ते" इत्यत्र यथा पशु शब्द एव मत्रापि भक्षणं सहक्रीडनं सेवकभाव: । चन्द्र तुल्यापदेशाय तथा वचनम् । तथा सति तेषाममरत्वेन तथा स्तुति: । चन्द्रस्य भक्षणन्तु क्षमादनु मीयते श्रुत्या "प्रथमां पिबते वह्निरित्यादि रूपया । देवानाम भक्षणं भगवदवयवानामेव अशनानशने तस्याविरुद्धे । आधिभौतिकानां देवानामशनमेव, तस्माद भक्षणस्य गौणत्वात् सोमभावे न काचिच्चिन्ता ।

कुछ दोष का परिहार करते हैं। यदि श्रुति साम्य के आधार पर सोम-भावादि की प्राप्ति इष्टादिकारियों की ही मानते है तो सोमभाव में उनके अनिष्ट की बात भी "तद्देवानामन्नं ते देवा भक्षयंति" इत्यादि श्रुति से ज्ञात होती है, "चाप्यायस्व" इत्यादि चंद्रदृष्टान्त वाली समान श्रुति भी उसी की पुष्टि करती है । इनमें देवताओं द्वारा इष्टकर्त्ताओं के भक्षण की बात कही गई है, वे देवता अपने अन्न को, पर्जन्य रूप से अग्नि में कैसे हवन कर सकते हैं ? पंचाहुति वाली बात नहीं हो सकती । इस संशय का वा शब्द से परिहार करते हैं। कहते हैं कि इष्टकर्त्ताओं के सोमभाव की बात गौण है और भक्षण की बात भी गौण है । स्वभावत: चन्द्रमा अंगार के समान है, वह आहुति का फल कैसे हो सकता है। सोमभाव की गौणता का निरूपण आगे करेंगे । अभी तो भक्षण की गौणता पर विचार करते हैं। भक्षण की बात तो, अन्नभाव में ही बन सकती है किसी अन्य वस्तु में तो अन्नभाव में तो अन्न-भाव हो नहीं सकता । ब्रह्मज्ञान हो जाने पर तो सब में अन्नभाव होना संभव है, उस स्थिति में तो सब कुछ संभव है जैसा कि "तदेवैतत् पश्यन ऋषिर्वाम देव:" इत्यादि वर्णित वामदेव के वृत्तान्त से निश्चित होता है। यह अप्राकृत दृष्टान्त है, प्रकृति में तो ऐसा होना सम्भव नहीं है। क्योंकि प्रकृति में आत्म-ज्ञान नहीं रहता । अप्राकृति अवस्था में तो मोक्ष ही होता है, चान्द्रमसी आदि गति नहीं होती । इसलिए भक्षण की बात गौण ही है । भक्षण का गौण भाव श्रुति के शब्दों से ही परिलक्षित होता है। जैसे कि "योऽन्यांदेवतामुपास्ते" इत्यादि में पशु शब्द गौण है वैसे ही यहाँ भी भक्षण शब्द गौण है, यहाँ भक्षण शब्द क्रीडत (भोग) अर्थ में प्रयुक्त है [जैसे कि "स्त्रियंभुक्ते" में भोगार्थक है] चन्द्र के समान भोग करता है, यही भक्षण का तात्पर्य है । इससे जीव की अमरता दिखलाई गई है, अतएव भक्षण शब्द स्तुति परक है अनिष्ट सूचक

नहीं। चन्द्र के लक्षण की बात तो उसके क्षय से ही अनुमति हो जाती है "प्रथमांपिबते बान्हि :" इत्यादि श्रुति भी इसकी पुष्टि करती है। जीव के सोमभाव का तात्पर्य है कि जैसे कि चन्द्र घटता बढ़ता है, वैसे ही जीव भी पुन: पुन: आवागमन को प्राप्त होता हुआ अमरता को प्राप्त करता है। देवता, भगवान के अवयव हैं, इसलिए भोग नहीं करते, इत्यादि भाव अनशन श्रुति में दिखलाये गए हैं। भगवान न भोग करते हुए भी भोग करते हैं, वैसे ही देवताओं के लिए भक्षण की चर्चा ठीक ही है। भक्षण तो गौण बात है, इसलिए जीव की सोमभाव प्राप्ति चिन्तनीय नहीं है।

कृतात्ययेऽनुशयवान दृष्टस्मृतिभ्यां यथेतमनेवं च ।३।१।८॥

प्रथमाहुतिः सफला विचारिता। द्वितीयां विचारयितुमधिकरणारम्भः। सोमस्यपर्यन्य होमे वृष्टित्वमिति। सोमाद् वृष्टिभावे रूप रसादीनां हीनतया प्रतीयमानत्वाद यागस्यावान्तर फलं तत्र भुंक्त इति निश्चितम्। तत्र संशयः, किं सर्वमेनावान्तर फलं तत्र भुंक्ते, आहोस्वित् अनुशयबान वृष्टिर्भवतीति ?

प्रथम आहुति के संबंध में सफल विचार हो गया अब दूसरी आहुति के विचार के लिए अधिकरण का प्रारम्भ करते हैं। सोमका मेघ में होम होने से वृष्टि होती है। सोमभाव प्राप्त होने के बाद वृष्टि भाव को प्राप्त होने तक रूप रस आदि के न रहने से जीव केवल यज्ञ के अवान्तर फल को भोगता है, यह तो निश्चित ही है। अब संशय होता है कि जीव उस अवस्था में समस्त अवान्तर फल को भोग लेता है तब वृष्टि रूप होता है अथवा वृष्टिरूप होने के बाद अवान्तर फल का भोग करता है।

सदबासनयाऽग्रिमजन्मनि सदाचार युक्त एव स्यादिति। "आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः" इति बाधोपलब्धेः। अतोविचार उचितः। तत्रावान्तरफलस्याव शेषे अवान्तरफलत्व बाधाज्ज्ञानोपयिक शरीरभावादेव सदाचार सिद्धेः प्रयोजनाभावाच्च निरनुशय एव वृष्टि भावं प्राप्नोतीत्येवं प्राप्ने।

सद् वासना के अनुसार ही अग्रिमजन्म में जीव सदाचार युक्त होता है, यह निश्चित बात है। यदि ऐसा नहीं मानते तो "आचार हीनं न पुनंति वेदाः" श्रुति बाधक होती है इसलिए उक्त विचार ही ठीक है। अवान्तर फल का भोग कर लेने पर ही अवान्तर फल की क्षीणता होगी और तभी ज्ञानोपयोगी शरीर प्राप्त होगा जिससे सदाचार हो सकेगा, इससे निश्चित होता है कि जीव के

लिए जब कुछ भी भोगने को अवशिष्ट नही रहता तभी वह वृष्टि भाव को प्राप्त होता है।

उच्यते, कृतात्ययेऽनुशयवान्, कृतस्य सोमभावस्यात्यये नाशे सति अनुशयवान अवान्तरफल साधकलेश सहित एव वृष्टि भावं प्राप्नोति। कुत: ? दृष्टस्मृतिभ्याम्। दृष्टं तावद् भोगसाधक मूल द्रव्यनाशेऽपि भोग साधक तादृशय देह वस्त्रा दिसहित एव तस्मात् स्थानादपगच्छति। अन्यथा सद्य एव देह पात: स्मात्। अतो यथा लोके सानुशमस्तथाऽत्रापि। स्मृतिश्च—"यद्यत्र न: स्वर्ग्यसुखावशेषितं स्विष्टस्य दत्तस्य कृतस्य शोभनं, तेनाजनाभे स्मृतिमज्जन्म न: स्यात् वर्षे हरिर्यद भजतां शंतनोति" इति देवगाथा। अतो ज्ञानौपयिक जन्म अनुशयवत एव भवति। अन्यथा पूर्व जन्म स्मृत्यभावे विषयासक्ति: प्रसज्यते।

उक्त विचार पर निर्णय करते हैं कि सोमभाव के समाप्त हो जाने पर अवान्तर फल साधक संस्कार सहित ही वृष्टिभाव की प्राप्ति होती है। प्रत्यक्ष भी ऐसा देखा जाता है तया स्मृति रूप मे ऋषियों का भी ऐसा ही मत है। प्राय: देखा जाता है कि भगवदाराधन से, भोग के साधक मूल कर्मों का नाश हो जाता है फिर भीं, प्रारब्ध कर्मवश, भोग साधक शरीर वस्त्र आदि सहित मुक्तात्मा, सांसरिक व्यवहार करता हैं। यदि ऐसा न हो, अर्थात् कर्मलेश न रह जाय तो शरीर का तत्काल ही पात हो जाना चाहिए। इस प्रकार जैसे लोक में भोगवशेष मुक्ति होतीं है, वैसे ही वृष्टिभाव में भी भोगावशेष रहता है। "यद्यत्र न: स्वर्ग्य सुखावशेषित" इत्यादि देवगाथा भी इसी बात की पुष्टि करती है। इससे निश्चित होता है कि अनुभवोपयोगी शरीर अवशिष्ट भोग की अनुभूति के लिए ही प्राप्त होता है। यदि ऐस न हो तो, पूर्व जन्म स्मृति न होने पर भी, विषयासक्ति हो जाती।

ननु अनुशय सहकृत एव जीवो नाद्भि: परिष्वक्तो भवेत् अत आह-यथेतम, यथागतम्। अन्यथा प्रश्न निरूपणयोर्बाधस्यात्। तर्हि तावदवान्तर फल साधक सहित: स्यादत् आह अनेवंच। एवम्प्रकार मुक्तागमनं नास्ति। भोगस्य जातत्वात्। चकाराद् वैराग्य सहितोऽपि। तस्मादनुशयवान् भिन्न प्रकाराद्भि: परिष्वक्तो देवकृपासहितो वृष्टिर्भवतीति।

अब संशय होता है कि यदि जीव के भोगवृष्टिभाव में भी शेष रह जाते हैं तो वह जल से संसक्त नहीं हो सकता। इस पर कहते हैं कि संसक्त होने वाली

बात सही है, यदि उसे सही नहीं मानेंगे तो, प्रकरणस्थ प्रश्न और निरूपण दोनों ही गलत हो जावेंगे। पुनः तर्क देते हैं कि यदि जीव प्रारम्भ से अंत तक जल से ही संसक्त रहता है तब तो अवान्तर फल साधक अंतिम रूप भी उसका जल रूप ही होगा। इस पर कहते हैं नहीं, आगमन इस रूप में नहीं होता, वह तो भोगानुसार होता है। देवकृपा से अपने अपने भोगानुसार, जल से संसक्त जीवों की भिन्न प्रकार से वृष्टि होती है।

चरणादितिचन्नोपलक्षणार्थेति कार्ष्णाजिनिः ।३।१।६।।

किंचिदाशक्य परिहरति। ननु नात्रोत्तमजन्मार्थमनुशयोऽपेक्ष्यते, चरणादेव भविष्यति। "तद् य इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत् ते रमणीयां योनिमापद्येरन्" इत्यादित्य यः पूर्वं जन्मनि विहिताचरणं करोति स उत्तमं जन्म प्राप्नोति, यस्तु निषिद्धाचरणं करोति स श्वादियोनिं प्राप्नोति इति "साधुकारी साधुर्भवति" इत्यादि श्रुत्या च प्रतिपाद्यते। प्रकृते तु तस्य रमणीयचरणस्य चरणादेव तस्य सम्यग्जन्म भविष्यति। किमनुशय सहभावेनेति चेद् न। चरण श्रुतौ या योनिरुक्ता सा उपलक्षणार्था, अनेन पूर्व जन्मनि समीचीनं कृतमितिज्ञापिका न तु तस्मिन् जन्मनि समीचीन करणे नियामिका। अन्यथा ब्राह्मणानां निषिद्ध करणं न स्यात्। तस्मादनुशयोऽपेक्ष्यते ज्ञानोपयोगार्थमिति कार्ष्णाजिनिराचार्यो मन्यते।

कुछ आंशका करते हुए परिहार करते हैं। कहते हैं कि उत्तम जन्म के लिए तो अनुशय अपेक्षित होगा नहीं, उसमें तो पूर्व जन्म का आचरण ही कारण होगा जैसा कि "तद्य इह रमणीय चरणः इत्यादि श्रुति कहती है। इससे तो यही निश्चित होता है कि जो पूर्वजन्म में शास्त्र विहित सदाचरण करता है वह उत्तम जन्म प्राप्त करता है और जो शास्त्र विरुद्ध सदाचरण करता है वह श्व आदि निम्नयोनियों को प्राप्त होता है। "साधुकारी सानुभंवति" इत्यादि से भी इसी का प्रतिपादन किया गया है। लोक में तो यही मानना ठीक है कि सदाचरण वाले का, उस आचरण के बल से ही, उत्तम जन्म होता है, अनुशय की अपेक्षा ही क्या है? इसका उत्तर देते हैं कि चरण श्रुति में जो योनि की चर्चा की गई है वह उपलक्षणार्थक है। इस उ[illegible] व्यक्ति ने पूर्व जन्म में सही आचरण किया है, इसी की ज्ञापिका वह श्रुति [illegible]। वर्त्तमान जन्म के सही कर्म की नियायिका नहीं है। यदि नियायिका होती [illegible] ब्राह्मणों के निषिद्ध कर्मों की चर्चा श्रुतियों में न की जाती। इसलिए ज्ञानोपयोग के लिए अनुशय अपेक्षित हैं ऐसा कार्ष्णाजिनि आचार्यों की मान्यता है।

कार्ष्णाजिनि ग्रहणं पंचाग्नि विद्यायां भिन्न प्रकारत्व ज्ञापनार्थं । तस्मादस्य स्वमते भिन्नत्वान्न शंका न चैस्तरम् नहि पंचाग्नि विद्यायां पुरुषादन्य भाव: सम्भवति । प्रकरण परिगृहीता श्रुतिर्नान्यत्र न्याय संपादिका ।

पंचाग्नि विद्या में प्रकार भेद है, इसी बात को बतलाने के लिए सूत्रकार ने कार्ष्णाजिनि का नामोल्लेख कर दिया । सूत्रकार के अपने मत में विद्या का प्रकार भिन्न है, अत: अपनी ओर से न शंका है न उत्तर । पंचाग्नि विद्या में स अन्तत: पुरुष भाव के अतिरिक्त, कोई अन्य् पशु आदि भाव संभव भी नहीं है, जिसमें उक्त प्रकार की आचरणानुसार निम्नयोनि प्राप्ति की बात उठाई जा सके । प्रकरण में जिस श्रुति का उल्लेख है, उसके अतिरिक्त दूसरी जगह की श्रुति से उसका निर्णय हो भी नहीं सकता, न प्रकरणस्थ श्रुति, अन्यत्र की निर्णायिका हो सकती है ।

आनर्थक्यमिति चेन्न तदपेक्षत्वात् ।३।१।१०॥

नन्वेवं सति चरण श्रुतिरनर्थिका । ज्ञापनायां प्रयोजना भावात् । अतो विधायकत्वं श्रुतेनिष्टानिष्ट फल वोधक श्रुतिवत् अत: कर्मतारतम्येन फलविधा-नान्निष्कामकर्मकर्तु र्ज्ञानोपयोगि देहविधानं भविष्यतीति अनुशय सहभावोव्यर्थ इतिचेत्

यदि ऐसी बात है कि चरण श्रुति ज्ञापिका मात्र है तो वह निरर्थक है, ज्ञापन में उसका प्रयोजन ही क्या है [ज्ञापन हो जाने से इस जन्म में उसकी उपयोगिता ही क्या है] इसलिए इष्ट अनिष्ट फल बोधक श्रुति की तरह, इस श्रुति की विधायकता मानना ही ठीक है । कर्म के तारतम्यानुसार फलविधान होने से, निष्काम कर्म करने वाले को स्वत: ही ज्ञानोपयोगी शरीर प्राप्त हो जावेगा, अनुशय सहभाव की बात भी व्यर्थ ही है ।

न, तदपेक्षत्वात् धूमादि मार्गस्य तस्या: श्रुतेरपेक्षत्वात्, काम्येष्टादिकारिण: फल भोगानतरमुत्पत्तौ सुखानन्तरं दु:खमितिन्यायेन पापस्यैवोपस्थितत्वादसमीचीन शरीर प्राप्तिर्मा भवत्विति रमणीयानुष्ठातृणां, रमणीय शरीर प्राप्तिरेव बोध्यते, न न्यायेनासमीचीन शरीरमिति । तस्मादन्य निषेधार्थं सार्थकत्वान्नानुशय प्रतिषेधिका ।

उक्त तर्क का प्रतिषेध करते हैं कि चरण श्रुति की अपेक्षा है, इसलिए वह सार्थक है, धूमादिमार्ग में उसकी अपेक्षा है। इष्टापूर्त आदि काम्य कर्म करने वालों को, फल भोग के बाद उत्पत्ति होने पर सुख प्राप्ति होती है सुख के बाद दु:ख होता है इस नियमानुसार पाप के कारण उन्हें अशुभ शरीर की प्रप्ति नहीं होती। रमणीय अनुष्ठान करने वालों को रमणीय शरीर की ही प्राप्ति होती है, यही उक्त श्रुति का कथन है। इस नियम से अशुभ शरीर नहीं मिलता। अन्यन्य पापों की प्राप्ति का निषेध करने से यह सार्थक है, प्रारब्ध भोग का निषेध इसमें नहीं किया गया है।

किंच, रमणीय योनि: किमाकस्मिकी, सकारणा वा ? नाद्या वेदवादिनाम्। द्वितीयेतु "स्वकर्मणा पितृलोक" इति वस्वादित्यरूपता च वक्तव्या। "प्रजामनु प्रजायन्तें श्मशानान्त क्रियाकृत" इति च। त्रैविद्या मा सोमपा" इत्यादिना इन्द्र लोकभोगानन्तरं तथैव पुनर्भवनं च वक्तव्यम्। नच सर्वेषामैक्यम्। भिन्नरूपत्वात् तस्मात् कर्मकर्तृ वैचित्र्येण श्रुतिस्मृतिभेदा, समर्थयितव्या, न त्वेकमपरत्र निविशते उपरोध प्रसगात्। तथा च प्रकृतेऽपि अनुशयाभावे भक्षण भवनयोर्नियमो न स्यात्। ब्राह्मणा दीनामप्यन्ने वलिहरणे स्वचाण्डालयोर्भक्षणम्। अनुशयस्य, नियामकत्वे तुषादिष्वन्नभाव एव यावत् समीचीन रेतोभाव:। तस्मादुपलक्षणतैव चरणश्रुतेर्युक्ता। तस्मादनुशय सहित एव वृष्टिभावं प्राप्नोतीति सिद्धम्।

प्रश्न होता है कि यदि अनुशय नहीं मानते तो रमणीय योनि आकस्मिकी होती है या सकारणा ? वैदिक लोग आकस्मिकी तो मानते नहीं। अत: स्वकर्म से होती है यही मानना चाहिए। "स्वकर्मणा पितृलोक" इत्यादि में स्वकर्म से वसु आदित्य आदि रूपों की प्राप्ति कही गई है। "प्रजामनु प्रजायन्ते" इत्यादि में भी स्वकर्मानुसार जन्म की पुष्टि की गई है। "त्रैविद्या मां सोभवा" इत्यादि में इन्द्रलोक भोग के बाद पुन: जन्म की बात कही गई है। इन सबों में एकता नहीं है, सबका भिन्न भिन्न रूप है। इसलिए कर्मकर्त्ता की विभिन्नता के अनुसार श्रुति स्मृति के भेद का समर्थन करना चाहिए। एक श्रुति दूसरी में संगत नहीं हो सकती, एक दूसरे से मिलाने में उपरोध होगा। प्रकृत में भी अनुशय के बिना, भोग और जन्म नहीं होता। कर्मानुसार ब्राह्मणादि ऊँची जाति वाले भी बलि करके कुत्ते चाण्डालों की तरह मांस भक्षण करतें हैं। ब्राह्मणों के द्वारा खाकर किए गए मल को शूकर खातें हैं। कर्मभोगानुसार

जब लोग शुद्ध अन्न खाते हैं तो उत्तम शुद्ध रस बन कर उत्तम सदाचारी संतान होती है। इसलिए चरण श्रुति उपलक्षण मानना ही ठीक है। वृष्टिभाव, अनुशय युक्त ही होता है, यही निश्चित मत है।

सुकृतेदुष्कृते एवेति तुबादरिः ।३।१।११।।

फलांश एवानुशय इति तु स्वमतम्। कर्मफलंच द्वयमेवेश्वरेच्छया नियतम्। कर्म पुन भंगवत्स्वरूपमेव ब्रह्मवादे। सोऽपि व्यक्तः फलपर्यन्तं तदादि संयोग इति स्वमतम्। अंत संयोग पक्षमा हैक देशित्व ज्ञापनाय।सुकृत दुष्कृते एव विहित निषिद्धकर्मणी अनुशय इति बादरिराचार्यो मन्यते। तेन मोक्षपर्यन्तमनुशयोऽनुवर्त्ति-ष्यत इति सूत्र फलम्। तुशब्देन निरनुशय पक्ष शंकैव नास्तीत्युक्तम्। एवं द्विती-याहु तिर्निर्द्धारिता।

सूत्रकार अपने मतानुसार अनुशय का अर्थ फलांश करते हैं, उनके मत से शुभाशुभ दोनों ही प्रकार के कर्मफल ईश्वरेच्छा से होते है[भगवान ने द्वितीय स्कंध में ब्रह्माजी से स्पष्टतः कहा भी है "द्रव्यं कर्मं च कालं च स्वभावी जीव एव च, वाशुदेवात् परोब्रह्मन् न चान्योऽर्थोऽस्तितत्वतः"] वे परमात्मा आदि से लेकर अंत तक फलपर्यन्त अभिव्यक्त होकर विराजते हैं, संपूर्ण फल प्राप्त हो जाने पर तिरोहित हो जाते हैं, यही बादरायण का अभीष्ट मत है। फलपर्यन्त प्रभुसंयोग की बात बादरि भी मानते हैं, ये बात सूत्रकार नाम निर्देश करते हुए कहते हैं। सुकृत और दुष्कृत, शास्त्र सम्मत और शास्त्र विरुद्ध कर्म को ही कहते हैं वे ही अनुशय रूप हैं, ऐसा बादरी आचार्य मानते हैं। अनुशय मोक्षपर्यन्त रहता है, यही सूत्र का कथन है। निरनुशय पक्ष की शंका करनी ही नहीं चाहिए, ऐसा तु शब्द से बतलाते हैं। इस प्रकःर द्वितीय आहुति का निर्णय हो गया।

अनिष्टादिकारिणामपि च श्रुतम् ।३।१।१२।।

तुल्यत्वेन च विचारे ऐक्येवा पंचाहुति धूममार्गयोः सोमभावं गतस्य पुनरा-वृत्यु पसंहारे उपलक्षणेनापि पापाचारवतामुपसंहार दर्शनात् तेषामप्याहुति संबंधो धूममार्गश्च प्राप्नोति। तन्निराकरणार्थ मधिकरणारम्भः।

पंचाहुति और धूममार्ग दोनों को एक मानें या समान, दोनों ही स्थिति में, सोमभाव और पुनरावृत्ति ब[illegible]ाई गई हैं। उपलक्षण मानते हुए भी पापियों की पुनरावृत्ति देखी जाती है, इसलिए उनको भी पंचाहुति संबंध और धूममार्ग

प्राप्ति होती है, इस विचार के निराकरण के लिए, अधिकरण प्रारम्भ करते हैं ।

ननु अनिष्टादि कारिणामपि सोमभावः श्रूयेत । इष्टादिकारि व्यतिरिक्तानां "ये वैके चास्माल्लोकात् प्रयांति चंद्रमसेवते सर्वेगच्छति" इति कौषीतकिनः समामनन्ति । "अत्र चकपूयां योनिमापद्यन्ते" इति पर्यवसानम् । तेन सर्वे चन्द्र मसंगच्छन्ति, अयमाशयः । कर्माकर्मविकर्मेति त्रिविधकर्म विधायको वेदः । "अग्नि होत्रं जुहुयात् ।" यस्य वेदश्च वेदी च विच्छिद्येते त्रिपूरुषम्" "न हिंस्याद् भूतजा-तानि ।" ब्रह्मणा दीनामपि त्रिविधकरणं संभवति । नहि सर्वोऽप्येकान्ततो विहितं वा प्रतिषिद्धं वा करोति ततोविहितकर्त्तु रपि त्रयसंभवाज्ज्ञानाभावेन फलभोग नैयत्यात् सोमभावानन्तरमेवाकर्मविकर्म भोगोवक्तव्यः । अत एवाविशेषोपसंहारो । तस्मात् सोमभावानन्तरमेव सर्वेषांजन्मेति प्राप्तम् ।

(पूर्वपक्ष) पाप करने वालों को भी सोमभाव प्राप्त होता है ऐसा "और जो लोग (पापात्मा) इस लोक से जाते हैं, वे सभी चन्द्रभाव को प्राप्त करते हैं" कौषीतकि ब्राह्मणीं का कथन है । इस प्रकरण के अवसानम् में और भी स्पष्ट करते हैं कि "यहाँ आकर अधम योनियाँ प्राप्त करते हैं" कहने का तात्पर्य है कि वे सभी चान्द्रयसी गति प्राप्त करते हैं वेद में, कर्म अकार्म विकर्मआदि तीन प्रकार के कर्मों का वर्णन किया गया है जैसे कि कर्म "अग्निहोत्रयज्ञ करना चाहिए ।" अकर्म जैसे "जिसकी तीन पीढ़ियों में वेद और वेद ज्ञाताओं का विच्छेद हो जाता है ।" विकर्म जैसे-"प्राणि मात्र की हिंसा मत करो ।" ब्रह्म आदि के भी तीनों कर्म संभव हैं । कोई भी केवल, शास्त्र विहित या शास्त्र निषिद्ध कर्म नहीं कर सकता । शास्त्र सम्मत कर्म करने वाले भी अनजान में अकर्म और विकर्म करते हैं, फलभोग अवश्यम्भावी है, अतः सोमभाव प्राप्ति के बाद अकर्म विकर्म का भोग कहा गया है । इन दोनों का अवसान भी सुकर्म के ही संमान है, कोई अंतर नहीं है । सोमभाव के बाद ही सबका जन्म होता है ।

संयमने त्वनुभूयेतरेषामारो हावरो हौतदगतिदर्शनात् ।३।१।१३।।

तु शब्दः पक्षं व्यावर्त्तयति । विहित व्यतिरिक्तकर्त्तॄणां संयमने यम संनिधाने सुखं दुःखं वा अनुभूय आरोहावरोहौ । अनुभवार्थमारोहोऽनुभूयावरोहो । कुतः ? तद्गति दर्शनात् । तेषां गतिर्विसदृशी दृश्यते वेदेहि प्रथमं विहिताद्वेधागतिः, सकामा निष्कामा चेति । सकामा, यथा काममनंतविद्या । निष्कामा ज्ञानरहिता

द्विविधा, वैदिक गृह्यष्मार्त भेदेन । तत्र गृह्यस्मार्त्ते यमः । श्रौते सोमभावः । तत्र त्रेताग्निविधानेन निष्कामानामदंभानां पुण्यं स्यादित्यधिकारिविशेषणात् । विशेषतः सामान्यतश्च प्रायश्चित्त विधानात् । "यदर्वाचीनमेनो" भ्रूणहत्यायास्तन्मामृच्चत इति । तरति ब्रह्महत्यामिति च सर्व प्रायश्चित्त विधानात् ब्रह्मानुभवाभावे सोमगतिरेव ।

सूत्रस्थ तु शब्द, पूर्वपक्ष खण्डन करता है । शास्त्र विहित कर्म के विपरीत कर्म करने वाले नर्क में यम के समक्ष सुख दुःख का अनुभव कर, चन्द्रम-सी गति प्राप्त कर पुनः लौटते हैं । उनका जाना आना अनुभवानुसार ही होता है । उन लोगों की गति का, शास्त्र विहित कर्म करने वालों से भिन्न वर्णन मिलता है । वेद में प्रथम, दो प्रकार की गति का उल्लेख है, सकाम गति और निष्काम गति । अनंत कामनाओं के अनुसार विविध उपासनाओं के फलस्वरूप सकाम गति अनंत प्रकार की होती है [जिस देवता की उपासना की जाती है, तदनुनार लोक की प्राप्ति होती है] निष्काम, ज्ञानरहित गति है, उसके दो भेद हैं, वैदिक और गृह्यस्मार्त । गृह्यस्मार्त्त गति में यम लोक जाना होता है । श्रौत में सोम-भाव प्राप्ति होती है । उसमें त्रेताग्नि का विधान होता है । निष्काम गति दंभ-रहित जीवों की होती है, अधिकारी विशेष को इसमें पुण्यलोक प्राप्त होता है । इसमें, विशेष और सामान्य दो प्रकार के प्रायश्चित का विधान है । विशेष प्राय-श्चित का विधान "यदर्वाचीनमेनो" इत्यादि श्रुति में दिया गया है, जिसमें भ्रूण-हत्या से मुक्ति बतलाई गई है ।" तरति ब्रह्महत्याम्" इत्यादि श्रुति में सामान्य प्रायश्चित्त का विधान दिया गया है । ब्रह्मानुभव के अभाव में सोमगति होती है ।

पूर्वजन्मधर्मस्य चित्तशुद्धावुपयोगः । तदानीन्तनस्य गंगास्नानादेः श्रौतां-गत्वम् । अतः पापस्याभावात् पुण्यस्योपक्षीणत्वात् तस्य पंचाग्नि प्रकार एव । ज्ञानस्योपयोगिजन्मनि पापसंश्लेषाभावोपायमग्रेवक्ष्यति । पितृमेध प्रथमाहुतिमंत्रस्तु मंत्रत्वाच्चमसवन्न गति नियामकः । त्रेताग्नि विद्यारहितानां पुण्यपापोपभोगो यम एव । "वैवस्वते विविच्यन्तो यमे राजनि ते जनाः । ये चेह सत्येनेच्छंते य उचाऽनृतवादिनः ।"इति, यमगतेः पंचाग्निविद्यायाश्चैषा व्यवस्था । चित्तशुद्धिभावाऽभा-वाम्यां वा अवश्यं काण्डद्वय व्यवस्था । एकस्यैतद् वक्तव्यम् । सकामनिष्काम भेदो वा वेदान्तिनामपि पापार्थं यमापेक्षणात् सा गतिवक्तव्यै व, तस्मान्न सर्वेषां सोमगतिः ।

पूर्व जन्मनीय धर्म चित्तशुद्धि में उपयोगी होता है उस समय में किये गये, गंगा स्नान आदि, श्रौतांग धर्म हैं। पाप के अभाव होने और पुण्य के उपक्षीण होने से उन लोगों की पंचाग्नि प्रकार की गति होती है। ज्ञानोपयोगी जन्म में पाप संश्लेष का अभाव, कैसे संभव है, वैसे उपाय का आगे वर्णन करेंगे। "पितृमेध" इत्यादि प्रथम आहुति का मंत्र "अर्वाग्विलश्चमसऊर्ध्वबुध्न" इत्यादि मंत्र की तरह सिद्धार्थ बोधकमात्र है, आहिताग्नि मात्र का बोधक नहीं है, अतः यम गति का नियामक नही है। त्रेताग्नि विद्या से रहित जीवों के पुण्य पाप का भोग, यम द्वारा ही होता है। "वैवस्वते विविच्यन्तो यमेराजनि" इत्यादि में, यमगति संबंधी पंचाग्नि विद्या की व्यवस्था का उल्लेख है। जिसकी चित्तशुद्धि हो चुकती है, उत्तर काण्डोक्त पंचाग्नि विद्या व्यवस्था है जिस स्थिति में चित्तशुद्धि का भाव अभाव रहता है, उसमें दोनों काण्डों की व्यवस्था हो सकती है। "वैव-स्वते विविच्यन्तो" इत्यादि में तो एक ही प्रकार की व्यवस्था दी गई है। सकाम निष्काम का भेद तो वेदांती भी स्वीकारते है, पाप के लिए यम की अपेक्षा उन्हें स्वीकार्य है अतः उस गति का वे भी उल्लेख करते हैं। इससे निश्चित होता है कि सभी की सोमगति नहीं होती।

स्मरन्ति च ।३।१।१४।।

स्मरन्ति व्यासादयः "यमेन पृष्ट स्तत्राह देवदेव जगत्पते, पूर्वत्वमशुभ भुंक्ष्व उताहो नृपते शुभम्।" इत्यादि चकाराल्लोक प्रसिद्धिः।

यमगति की चर्चा व्यासादि ने भी की है- -"यमेन पृष्ट स्तत्राह" इत्यादि। लोक में भी यम प्राप्ति की बात प्रसिद्ध है।

अपिसप्त ।३।१।१५।।

चेत्यनुवर्त्तते। पापोपभोगार्थ यमालय गमनं अंगीकर्त्तव्यम्। यस्तत्र नरकाः सप्त सन्ति रौरवादयः। सप्तसंख्या संख्याभेदेष्वरकक्षा। सर्वथा निराकरणाभा-वाय सप्तग्रहणम। तस्माद् यमगतिरस्ति।

पाप के उपभोग के लिए यमालय में गति होती हैं यह स्वीकारना चाहिए। यमालय में रौरवादि सात नर्क हैं। नर्कों की विविध संख्या में, सात की संख्या तो विशिष्ट है। नरकों की अस्वीकृति के निराकरण के भाव से केवल विशिष्ट सात नरकों की संख्या बतला दी गई है। जिससे यमगति है, ऐसा निश्चित होता है।

तत्रापि च तद्व्यापारादविरोधः ।३।१।१६।।

किंचिदाशंक्य परिहरति । ननु नरकेषु चित्रगुप्तादयो भिन्ना एवाधिकारिणः संति । तथा सति तृतीयः पक्षः स्यादत आह । तत्र नरकादिषु ये अधिकारिणस्ते यमायत्तास्तत्सेवकाः । अतोयमस्यैव तत्रापि व्यापारान्न तृतीय पक्ष प्राप्तिः । चकारात् सुखदुःख योगेऽपि । तृतीय पक्ष एव विरोधः अथवा यम गतेर्मन्त्रलिंगसिद्धे पापस्य च पौराणिकत्वे चन्द्रगतिरेकैव स्यादिति विरोधः । तेषां यम सेवकत्वे तु मंत्रलिंगपोषकत्वान्मार्ग दृयसिद्धेरविरोधः । तस्माद् यमगतिरतिस्तीति सिद्धम् ।

कुछ संशय करते हुए परिहार करते हैं । कहते हैं कि नरकों में चित्रगुप्त आदि भिन्न अधिकारी हैं, तो फिर यमगति की बात कैसे कही जाती है ? उसका उत्तर देते हैं कि नरकादि में जो अधिकारी हैं वे सब यम के अनुचर सेवक हैं, इसलिए जो भी यातनायें दी जाती हैं वे सब यम सम्मत होने से यम की ही कहलाती हैं ।.सुख-दुःख को भोग का आधार मानें तो भी यम का अधिकार निश्चित होता है । इस यम गति को चन्द्रगति के अवान्तर नहीं कह सकते क्योंकि—श्रुतियों में इसका नाम देकर उल्लेख किया गया है, पाप के नियमन की बात पुराणों में भी कही गई है । चित्रगुप्त आदि का यम सेवक होना भी श्रुतिमंत्रों से सिद्ध है अतः दो पृथक मार्गों की बात निश्चित हो जाती है । और यमगति का अस्तित्व भी निश्चित हो जाता है ।

विद्याकर्मणोरिति तु प्रकृतत्वात् ।३।१।१७।।

साधारणत्वाभावाय पूर्वोक्तार्थसाधकमधिकरणमारभते । ननु—"ये के चास्माल्लोकात् प्रयान्ति चन्द्रमसेव तेसर्वे गच्छन्ति" इत्यस्या श्रुतेः का गतिः ? पंचाग्नि विद्या प्रस्तावे वा यमगतिः कुतो नोक्ता ? तस्माद् वेद विरोधान्न तृतीय पक्ष सिद्धिः इत्याशंकां परिहरति तु शब्दः । अत्र वेदान्ते गौणमुख्यफलदेहार्थं विद्याकर्मणोरेव हेतुत्वेन निरूपणं, विद्ययादेवयानं, कर्मणा सोमभाव इति । तयोरेव प्रकृतत्वात्, कारणत्वात । तेन कौषीतक्रि ब्राह्मणेऽपि प्रकृतत्वात् कर्मिण एव सर्व शब्देनोक्ताः । अत्रापि न यम मार्ग उक्तः । तस्माद् विद्याकर्मणोर्मुख्यत्वान्मार्गद्वयमेवोक्तम् । नैतावतातृतीय बाधः ।

यम गति की विशेषता दिखलाने के लिए नए अधिकरण का प्रारंभ करते हैं । प्रश्न होता है कि—"ये के चास्माल्लोकात्" इत्यादि श्रुति में, किस गति का उल्लेख है ? पचाग्नि विद्या के विवरण में यमगति का उल्लेख क्यों नहीं किया

गया ? इससे ये यमगति वेदविरुद्ध होने से, असिद्ध है। इस शंका का निराकरण करते हुए कहते हैं कि वेदांत में, गौणमुख्य फलस्वरूप देह प्राप्ति में, विद्या और कर्म को हेतु बतलाया गया है। विद्या से देवयान तथा कर्म से सोमभाव कहा गया है। दोनों को ही स्वाभाविक कारण कहा गया है। इसीलिए कौपीतकि ब्राह्मण में भी स्वाभाविक रूप से कर्म को ही, [चाहे वो लौकिक हो या भगवत्संबंधी] कारण मानकर "सर्वे गच्छंति" ऐसा प्रयोग किया गया है। इस प्रसंग में भी यम मार्ग का उल्लेख नहीं किया गया। विद्या, कर्म को मुख्य मानकर दो मुख्य मार्गों का उल्लेख कर दिया गया इससे, यमगति का निराकरण तो नहीं हो जाता।

न तृतीयेऽतथोपलब्धेः ।३।१।१८॥

ननु द्वयोस्तुत्यर्थं यस्तृतीयो मार्ग उक्तः, अथैतयोः पथोर्नकतरेण च न "तानीमानि क्षुद्राण्यसकृदावर्तीनि भूतानि भवन्ति" इत्यादिना जुगुप्सेतेत्यन्तेन तृतीय निन्दया द्वयोः स्तुतिरिति स एव तृतीयोऽस्तु किं यम मार्गेण ? इत्यत आह—न तृतीये मार्गे तथा पुण्यपापयोरुपभोग उपलभ्यते। यतः समान ब्राह्मणे कीट, पतंगो, यदि दंदशूकमिति योनौ निवृत्तेर्विद्यमानत्वान्नमहापापोपभोगः। नापि कीटादिषु महासुखोपभोगः। एकवाक्यता चोभयोर्युक्ता यद्यपि महाराजादि-राजदंडादिषु तथोपभोगः संभवति तथापि, रंभादिसंयोगे नरके च यथा, तथा न संभवति। जड़े तु पंचम्यामाहुतिर्भरत एव हीश्वरेच्छया जन्मद्वयमधिकम्। त्रिभिरिति वचनात् भरतोऽहमिति प्रतीतेश्च। ततः पूर्वस्मरणात् बाल्यादिव-देवजन्मत्रयम्। "तस्माज्जायस्व" इत्यादि वैलक्षण्यादतिरिक्तो यम मार्गः। पंचाहुति नियमाभावस्तु ज्ञानोपयोगि देहेऽप्यंशावतरणे पुष्टिमार्गत्वान्न तत्र दोषः।

(तर्क) दोनों मार्गों की महत्ता दिखलाने के लिए जो तीसरा मार्ग बतलाया तथा "तानीमानि" इत्यादि से अन्त में तृतीय मार्ग को जुगुप्सित बतलाते हुए उसकी निन्दा करके दोनों की स्तुति की, वही तीसरा मार्ग है, फिर यम माग की क्या विशेषता है ? इसका समाधान करते हैं कि तृतीय मार्ग में, यममार्ग की तरह पाप पुण्योपभोग की व्यवस्था नहीं है। जैसे कि, कीट, पतंग, अपने शरीर को छोड़कर दंदशूक आदि योनि को प्राप्त करलें तो उनका कोई महापापोप-भोग नहीं हो जाता और न कीट आदि को महासुखोपभोग ही होता है। "तानि इमानि" इत्यादि एक ही वाक्य में, देवयान और पितृयान का उल्लेख कर दिया गया वह उचित है, जो कि कीट पतंग आदि रूपों से होने वाली गतियों से श्रेष्ठता का द्योतक हैं। संसार में महाराज पदवी प्राप्त व्यक्ति को जो सुख तथा

राजदण्ड भोगी व्यक्ति को जो दुःख होते हैं, वह यम लोक में प्राप्त दुःख या स्वर्ग में प्राप्त रंभासंयोग से प्राप्त सुख के समान नहीं होते। ईश्वरेच्छा से जड भरत ने ही, पंचाहुति विधि के बिना दो अधिक जन्मों को प्राप्त किया, उनके तीन जन्मों का स्पष्ट उल्लेख मिलता है, उन्हें बाद के जन्मों में, भी "मैं भरत हूँ" ऐसा आभास बना रहा। पूर्वस्मृति बनी रहने से, उनके वे तीन जन्म, बाल्यादि अवस्थाओं के समान ही थे। "तस्माज्जायस्व" इत्यादि से स्पष्टतः यम मार्ग की विलक्षणता दिखलाई गई है। महाराज भरत ने पंचाहुति के नियम से वे शरीर नहीं प्राप्त किये तो कोई अनहोनी या अनियमित बात नहीं है, ज्ञानपयोगि देह में भी प्रभु का अंश विद्यमान रहता है क्योंकि पुष्टिमार्ग अर्थात् भक्ति मार्ग का अवलम्ब ले लेता है इसलिए, मर्यादा अर्थात् शास्त्रीय मार्ग में घटित ऐसी घटनायें अनहोनी नहीं हैं। इन्हें गलत भी नहीं कह सकते।

स्मर्यतेऽपि च लोके ।३।१।१९।।

साधकान्तरमाह। अपि च लोकेऽपि मूर्च्छादिषु यम लोक गमन संभाषण पुनरागमनानि स्मर्यन्ते।

प्रायः ऐसे भी उदाहरण देखने को मिलते हैं कि रुग्ण व्यक्ति मूर्च्छावस्था में यमलोक गमन, यमदूत संभाषण, और पुनः लौटकर आना आदि अनुभव करता है, तथा मूर्च्छा दूर होने पर उन अनुभूतियों को बतलाता है।

दर्शनाच्च ।३।१।२०।।

यम पुरुषा दृश्यन्तेऽपि कैश्चिदजामिल प्रभृतिभिः चकारात् तेषां वाक्यादि श्रवणम्। तस्माद् वैवस्वतमार्गे न किमपि बाधकमिति सिद्धम्।

अजामिल आदि को यमदूत प्रत्यक्ष दीखे भी और उन्होंने उनका संभाषण भी सुना। इससे यममार्ग की बात निर्बाध सिद्ध होती है।

तृतीयेशब्दावरोधः संशोकजस्य ।३।१।२१।।

तृतीयामाहुतिं विचारयति। तत्र वृष्टेरन्नमिति तृतीयाहुतिः सफला। पूर्वद्वयं शब्दैक समधिगम्यम्। वृष्टेन्नमिति साधनफलयोः प्रत्यक्षत्वान्न वृष्टिमात्रेणान्नं भवति बीजव्यतिरेकेण। बीजस्य हि फलम्। न निमित्तमात्रेण तद्भावो वक्तुं शक्यते, तस्माद संगतम् वृष्टेरन्नम्। इत्याशंक्याह--तृतीये शब्दावरोधः, तृतीयाहुतौ शब्देन, शब्द सांम्येन कारणभूतस्य जलस्य अवरोधो ग्रहणम्। "सदेव सोम्येदमग्र आसीत्" इत्यत्र "तत्तेज ऐक्षत्", बहुस्यां प्रजायेय" इति, "तदपोऽसृजत्"

"तस्माद्यत्र क्वच शोचति स्वेदते वा पुरुषस्तेजस एव तदध्यायो जायन्ते "इत्यत्र कारण रूपायां निरूपणे शोकजत्वमपामुक्तम् । अग्रे च "तस्माद् यत्र क्वच वर्षति तदेव भूयिष्ठमन्नं भवति" इति । अतः पंचाग्निविद्यायामपि देव होमात् कारण भूतैव वृष्टिर्जातेति नात्र बीजान्तरापेक्षा । शोक पदेन "यदश्रवश्रीयत तद्रजतं हिरण्यमभवत्" इति सहायः सूचितः । यद्यपितत्रान्न शब्देन पृथिवी, तथाप्यत्र, पृथिव्या अग्निसमिद्रूपत्वादन्नमेव तस्मात् कारणशक्तियुक्ताया वृष्टेरन्नं भवति, इति न काप्यनुपपत्तिः ।

अब तीसरी आहुति के सम्बन्ध में विचार करते हैं । इस आहुति में वृष्टि से अन्न होता है, इसलिए इसे सफल आहुति कहना चाहिए । पिछली दो आहुतियों की जानकारी तो शास्त्रों से ही होती है, किन्तु इसमें तो, वृष्टि और अन्न, इन दो साधन और फल का, प्रत्यक्ष होता है । बिना बीज के केवल वृष्टिमात्र से अन्न नहीं होता, बीज का ही फल होता है । केवल निमित्त कारण रूपजल से, अन्न हो जाता हो ऐसा नहीं कह सकते । इसलिए "वृष्टि से अन्न हुआ" ऐसा कथन असंगत है । इस संशय पर कहते हैं कि तृतीय आहुति में वृष्टि का शब्द साम्य होने से, कारणभूत जल का ही ग्रहण होगा । "सदेव सोम्येदमग्र" तत्तेज ऐक्षत् "बहुस्यां प्रजायेय" तदपोऽसृजत् "तस्मद्यत्य क्वच" इत्यादि सृष्टि बोधक श्रुतियों में जिन कारणों का निरूपण किया गया है, उसमें जल को सहायक रूप से दिखलाया है। आगे तो स्पष्ट रूप से कहा गया कि "जहाँ कहीं वर्षा होती है वहाँ बहुत अधिक अन्न होता है ।" इससे निश्चित होता है कि पंचाग्नि विद्या में भी कारणभूत देव होम से ही वृष्टि होती है, उसमें किसी अन्न की अपेक्षा नहीं रहती । "यदश्रवश्रीयत" इत्यादि में शोक पद से सहायक वस्तु का बोध होता है । यद्यपि उक्त सृष्टि प्रसंग में अन्न शब्द, पृथिवी का बोधक है, किन्तु इस पंचाग्निविद्या में पृथिवी को अग्नि रूप तथा जल को समिधा रूप दिखलाया गया है, इसलिए अन्न शब्द अन्न का ही बोधक है। कारण शक्तियुक्त वृष्टि से, अन्न होता है, इसलिए असंभवता नहीं है ।

साऽभाव्यापत्ति रुपपत्तेः ।३।१।२२॥

किंचिदाशंक्य परिहरति । ननु कारण जलरूप वृष्टिरत्र वक्तुं न शक्यते । यतः समान धूममार्ग श्रुतौ वृष्टेरन्नभावेऐक्ये वा "तस्मिन् यावत् संपातमुषित्वा अथैत-मेवाध्वानं पुनर्निवर्तते, ययेतमाकाशम्" इत्यादिना "तिलमापा जायन्ते" इत्यन्तेन !

तत्र यथेतामित्याकाशा एव ।" आकाक्षाच्चन्द्रमसमिति" पूर्वमुक्तत्वादाकाशस्य मार्गतैव । "वायुर्भूत्वा धूमोभवति" इत्यादिषु तत्तद्भावः श्रूयते, तेच विकृताः तदनन्तरभावित्वात् वृष्टिरपि विकृतैव । तस्मान्नकारणत्वमित्याशंक्य परिहरति सा वाय्वादिरूपापत्तिराभाव्यापत्तिरेव । वायुवदाभा आभानं मध्ये वायुमंडल मागच्छन्ति आहुतिर्वायु भवन शब्देनोच्यते । आकृतेरेव पदार्थत्वात् व्यापत्ति शब्देन च तेजोभावापन्नस्य जलभावापत्तौ कांतिनाशान्नाश इवद्योतयति । कुतः ? उपपत्तेः । तथैवोपद्यते । चित्रतुरगादिषु विकारस्य विकारन्तरापत्तावियमेव व्यवस्था । उपासनायां न तदपि, न च भूत्वाश्रुतेर्बाधः । प्रतिनियत पदार्थाहि ते । भवनावरोहनाभ्यामेव तथा वचनात् । अन्यस्यान्यभावं वदंती श्रुतिरेव गौणत्वं वदति । कारणांशभाव व्यतिरेकस्थले तथैव प्रतीतेः तस्मात् तदाकृतिमात्रेण न स्वरूपान्यथाभावः ।

कुछ संशय करते हुए परिहार करते हैं । इस पंचाहुति प्रकरण में, कारण जल की ही वृष्टि होती है, ऐसा नहीं कह सकते । धूममार्ग का वर्णन करने वाली श्रुति में जिसमें कि इसी के समान वृष्टि से अन्नभाव बतलाया गया है। "तस्मिन् यावत् संपातम्" से लेकर "तिलमापाजायन्ते" तक जो प्रक्रिया बतलाई गई है उसमें "यथेतम्" इत्यादि से आकाश मार्ग से ही संचरण कहा गया है। "आकाशाच्चंद्रमसम्" इत्यादि में भी पहिले आकाश मार्ग का ही उल्लेख किया गया है । "वायु होकर धूम हुआ" इत्यादि में भी उन उन रूपों में होना बतलाया गया है, वे सारे ही रूप विकृत हैं, मूल तो कह नहीं सकते, इसलिए उन्हीं में गिनाई गई वृष्टि भी विकृत ही है ऐसा मानना पड़ेगा, उसे मूल जल रूप तो कह नहीं सकते । इत्यादि संशय करते हुए परिहार करते हैं कि जो वायु आदिरूप होने की बात है वो, आभाव्यापत्ति मात्र है अर्थात् वायु की सी आभा जब वायु-मण्डल में आती है तो, उस आहुति रूप आभा को वायु होना कहा गया है। आकृति ही पदार्थ है, इसलिए, तेज भाव को प्राप्त वस्तु, जब जलभाव को प्राप्त होती है तो उसकी पूर्वकान्ति नाश हो जाती है इसलिए उसका वह पूर्वरूप नष्ट सा प्रतीत होता है [वस्तुतः मूल तत्त्व तो नष्ट होता नहीं उसकी आभामात्र नष्ट होतीं हैं] प्रायः चित्र में चित्रित घोड़ा आदि अन्य चित्रित वस्तुओं के सांकर्य से दूसरे रूप में ही समझ में आते हैं, वैसे ही उक्त व्यवस्था भी है । उपासना मार्ग में उक्त बाधा भी नहीं है, और न "भूत्वा" श्रुति में ही बाधा है । वहाँ तो सभी पदार्थ जैसे के तैसे ही हैं, जन्म, आरोह और अवरोह इत्यादि का भी वैसा ही उल्लेख मिलता है । अन्य वस्तु का अन्य रूप बतलाने वाली श्रुति, वस्तुतः गौण ज्ञापन करती है । कारणांशभाव के अतिरिक्त स्थल पर उसकी गौण प्रतीति ही

होती है। इसलिए, आकृति मात्र से, स्वरूप का बदलना होता हो, सो बात नहीं है।

नातिचिरेण विशेषात् ।३।१।२३।।

उपपत्त्यन्तरमाह। तद्रूपता च नातिचिरेण, न बहुकालं तद्रूपता। कुतः? विशेषात्, अन्नभावापन्नस्यैव बहुकाल श्रवणात्, अतो वैखलु दुर्निष्प्रपतरमिव, प्रापतरं प्रपतरं वा। वर्णलोपश्छान्दसः। अतस्तृतीयाहुतौ न चिरेणेत्यायाति। बहुकालस्थितौ हि तद्रूपता। कारणवशाद् देवानां मनुष्यभाववत्। भिन्न पक्षे न कोऽपि दोषः। ऐक्यपक्षेऽपि ज्ञानवतो गृहस्थस्य दुर्लभत्वादेवं वचनम्। तस्माद् वृष्टेरन्नं भवतीति सिद्धम्।

प्रथमाहुति से लेकर तृतीयाहुति तक संचरण का काल बहुत लम्बा नहीं होता। अन्नभाव को प्राप्त होने पर ही बहुकाल का वर्णन किया गया है। उस स्थिति से छुटकारा कठिनाई से मिलता है। इसलिए तृतीयाहुति में आते समय अधिक विलम्ब नहीं होता। अधिक समय रुकने में ही मूल वस्तु तद्रूप होती है। जैसे कि किन्हीं शाप आदि कारणों से देवता, मनुष्यभाव को प्राप्त होते हैं वैसे ही, अन्नभाव को प्राप्त कर, जीव अधिक समय बिताता है। पंचाहुति और धूममार्ग को भिन्न मानें तो भी इस प्रक्रिया में कोई अन्तर नहीं आता। यदि दोनों को एक मानें तो भी, ज्ञानवान गृहस्थ को ये भाव नहीं प्राप्त होता, ये तो अज्ञानी की प्राप्ति का वर्णन है। इससे निश्चित होता है कि-वृष्टि से अन्न होता है।

अन्याधिष्ठिते पूर्ववदभिलापात् ।३।१।२४।।

चतुर्थीआहुतिर्विचार्यते। ननु "संसर्गजैः कर्मदोषैर्याति स्थावरतांनर" इति, कथमस्यान्नत्वम्? अपूर्वान्नत्वेऽपि कण्डनपाकादिषु क्लेशेन जीवस्यापगमात् कथं रेतोभावः? चर्वणौदर्यपाकस्त्वावश्यक एव, न च जीवस्य जडभावः, मर्यादाभंग प्रसंगात् तस्मात् कथमन्नस्य रेतोभावः? इत्याशंक्य परिहरति। अन्याधिष्ठिते वृष्टेरन्नभाव समय एव अन्यैर्जीवैरधिष्ठितो व्रीह्यादिस्तस्मिन्नपूर्ववत् तद्भावापत्तिः, अतिथिवत्, पूर्ववैलक्षण्येन वा। कुतः? अभिलापात् "व्रीहियवा ओषधिवनस्पतयस्तिलमाषाः" इति पूर्तवत् तत्तद्भाव मात्रं न वदति, किन्तु जगति स्थित व्रीह्यादिभाव एवाभिलप्यते। तथासति यथाऽन्येषु व्रीह्यादिषु तदधिष्ठातृदेवतया नियुक्ता जीवास्तानात्मत्वेनाभिमन्यन्ते, एवमत्रापीति न कोऽपि दोषः। अधिष्ठानेहि वेदना मरणानन्तरं कृमिभावस्य दृष्टत्वात्। तस्मादन्नस्य रेतोभावो युक्तः।

अब चौथी आहुति पर विचार करते हैं। वर्णन तो ऐसा मिलता है कि "मनुष्य संसर्गज कर्मदोष से स्थावर योनि प्राप्त करता है", फिर पंचाहुति में उसे अन्न रूप की प्राप्ति किसलिए होती है ? फिर अकस्मात् अन्न रूप होकर वह पिसाई और पकाई होने पर तो अवश्य ही जीव रहित हो जाता होगा फिर वीर्य तक कैसे पहुँचता है ? और जब भोजन को चबाकर खाया जाय तो उदर की जाठराग्नि में भी उसका पाक निश्चित ही होता है, ऐसा तो है नहीं कि उन स्थितियों में जीव जडभाव प्राप्त कर लेता हो इसलिए नष्ट न होता हो, यदि जीव जड़ हो जाय तब तो प्राकृतिक मर्यादा ही नष्ट हो जाय। अतः इन कठिन यातनाओं के बाद भी क्या जीव रेत भाव को प्राप्त हो जाता है ? इत्यादि संशय करते हुए परिहार करते हैं कि बोये हुये बीज पर जब जलवृष्टि होती है, उसी समय जलभावापन्न जीव वृष्टि के साथ बीज में प्रविष्ट हो जाता है, बीज में जो प्रथम से ही जीव रहता है, उसी में घुसकर तद्‌रूप हो जाता है, वायु आदि पूर्व अवस्थाओं की तरह छायारूप नहीं रहता। जैसे कि कोई अतिथि किसी के घर जाकर रहने लगता है। वैसे ही जीव भी बीज में घुसकर बीजस्थ जीव के साथ रहने लगता है। "व्रीहिर्यवा" आदि श्रुति स्पष्ट रूप से, जीव का, पहिले की तरह तद्‌तद्‌भाव मात्र ही नहीं बतलाती, किन्तु जगत में स्थित उनका व्रीहि आदि रूप में वर्णन करती है। जैसे कि व्रीह्यादि में अधिष्ठातृ देवता रूप से नियुक्त जीवों को आत्मीय माना जाता है वैसे ही अन्नभाव में भी होता है [अर्थात् जैसे अन्न से हवन किया जाता है, वहाँ अन्न के अधिष्ठातृ देवता की चतन्यता का स्थायित्व स्वीकारते हैं वैसे ही इस अन्न भाव में भी स्वीकारना चाहिए। बीज में अधिष्ठित मान लेने से ही समाधान होता है, इस स्थिति वेदना मरण आदि के बाद भी, जीव वीर्य के छोटे छोटे कीटाणुओं के रूप में देखा जा सकता है। इसलिए अन्न का वीर्यभाव होना असम्भव नही मानना चाहिए।

अशुद्धमिति चेन्न शब्दात् ।३।१।२५।।

किंचिदाशंक्य परिहरति। ननु अन्याधिष्ठानेंऽगीकृते यातनाजीवानामशुद्ध त्वादशुद्ध मन्नंस्यात्, तथा कथं योग्यदेह इति चेन्न। शब्दात् "देवा अन्नं जुह्वति तस्या आहुते रेतः संभवति" इति देवैराहुतिरूपेण होमवचनाच्छुद्धत्वम् अन्यस्य हि संस्कारेणैव शुद्धिः। अन्यथा यावज्जीवं का गतिः स्यात् ? तस्मात् संस्कारशब्दा च्छुद्धमेवान्नम्।

कुछ संशय करते हुए परिहार करते हैं। कहते हैं कि अधिष्ठान स्वीकारने से, यातना से जीव अशुद्ध हो जाते होंगे अतः संसर्ग से अन्न भी अशुद्ध हो जाता

होगा, फिर योग्य उत्तम शरीर कैसे हो सकता है ? इस पर कहते हैं कि अन्न अशुद्ध नहीं होता, ऐसा "देवता अन्न की आहुति देते है उस आहुति से वीर्य बनता है" इत्यादि देवताओं द्वारा आहुति रूप अन्न का उल्लेख मिलता है, अतः वह अन्न शुद्ध ही रहता है। जो जीव पंचाहुति विधान से अन्न से वीर्य भाव को प्राप्त होते हैं, उनकी संस्कार से शुद्धि होती है। यदि संस्कारों का विधान न होता तो जीवों की क्या गति होती ? संस्कार शब्द का भी स्पष्ट उल्लेख है। अतः अन्न शुद्ध ही रहता है।

रेतः सिग्योऽथ ।३।१।२६।।

पंचमीमाहुतिं विचारयति। ननु कथं पुरुषेऽन्नहोमाद् रेतो भावः। बाल्यकौमार वार्द्धकेषुव्यभिचारात्। तारुण्येऽपि न हि सर्वमन्नं रेतो भवति। जातमपि न नियमेन योनौ सिच्यते। नापि देवापेक्षा। पुरुषप्रयत्नस्य विद्यमानत्वादित्याशंक्य परिहरति-रेतः सिग्योगः। पुरुष शब्देन पौरुषधर्मवानुच्यते, पौरुषं च देशकाल संविधानेन मंत्रवद्रेतः सेक सामर्थ्यम्। न ह्येतत् सार्वजनीनं सार्वत्रिकं वा। तदर्थं देवापेक्षा। तथा सति न कोऽपिव्यभिचारः कथं पुरुष शब्द मात्रेण च ज्ञायते ? तत्राह-अथ आनन्तर्यात् शरीरार्थमेव देवैस्तत्र तत्र होमः कृतः। तत् कथं पंचमाहुतावेवान्यथा भवेत्। तस्मादानंतर्यात् पुरुषाहुतिर्नात्ररेतःसिग्योगः। योग शब्देनात्रापि अन्याधिष्ठानेन रेतः सिग्योगाभावः।

अब पांचवी आहुति पर विचार करते हैं। संशय करते हैं कि पुरुष में अन्न के होम से रेत कैसे होता है ? यदि ऐसा होता तो बाल्य, कौमार और बद्धिक्य में क्यों न दीखता। तारुण्य में भी सारा का सारा अन्न तो रेत (वीर्य) बन नहीं जाता। जो भी बनता है, वह सारा ही तो योनि में सींचा नहीं जाता। इस सिंचन कार्य में देव की अपेक्षा भी नहीं देखी जाती। सिंचन तो पुरुष के प्रयास से ही होता देखा जाता है। इत्यादि शंका करते हुए परिहार करते हैं। कहते हैं कि-सिंचन करने से वीर्य ही पुरुष नामवाला होता है। पुरुष के प्रयास की जो बात कही सी, पौरुष धर्मवान् को ही पुरुष कहा गया है। देश काल के अनुसार, मंत्र शक्ति की तरह, वीर्य सिंचन के सामर्थ्य को ही पौरुष कहते हैं। यह सामर्थ्य सार्वजनीन और सार्वत्रिक नहीं होती। इसमें देव की अपेक्षा रहती है, बिना इन्द्रिय के अधिष्ठातृ देवता की कृपा के ये सामर्थ्य संभव नहीं है। देव कृपा से कोई अड़चन नहीं रहती। विवरण में तो केवल पुरुष होने मात्र का उल्लेख हैं, समस्त अन्न वीर्य कैसे बन जाता है इसका तो कोई उल्लेख है नहीं ? इसका उत्तर देते हैं कि होम के बाद वह अन्न धीरे-धीरे वीर्य बनता है, शरीर के

लिए ही देव अन्न का होम करते हैं । प्रश्न होता है कि पांचवी आहुति में ही वह कैसे बदल जाता है ? उस पर कहते हैं कि अन्न आहुति से ही पुरुष रूप नहीं होता, अपितु बाद में जो वीर्य सिंचन योग होता है, तब अंतिम आहुति होती है आहुत अन्न में तत्काल वीर्य सिंचन योग नहीं होता । योग शब्द से यहाँ दिखलाया है कि इसमें भी अन्य देवता का अधिष्ठान रहता है, बिना उनके अनुग्रह के वीर्य सिंचन योग संभव नहीं होता है ।

योनेः शरीरम् ।३।१।२७।।

हूयमानं निरूप्य फलं निरूपयति । तस्या आहुतेर्गर्भः संभवतीत्युच्यते । तत्र संदेहः, योनावन्तःस्थितमेव फलं, वहिर्निर्गतंवा ? तत्र गर्भ शब्देनांतः स्थित एव, शरीरपरत्वे श्रुतिबाधः स्यात् । उपसंहारोऽप्यग्रे कर्त्तव्यभावादुपपद्यते । ततश्च षड्मासानन्तरं गर्भेज्ञान संभवाज्जननान्तरं न गुरूपसत्यादि कर्त्तव्यम् ? इत्याशंक्य परिहरति—योनेर्निर्गतं शरीरं गर्भशब्देनोच्यते । अग्नेरुत्थितस्यैव फलरूपत्वात् । मध्यमावस्थाप्रयोजकत्वात् । मातृपरिपाल्यत्वाय गर्भवचनम् कलिलादिभावे पुरुष वचनत्वाभावादुपसंहारानुपपत्तिश्च । शरीरशब्देन वैराग्यादियुक्तः सूचितः । न तु स्वयं तदभिमानेन जात इति । तस्माद् योग्यदेहः साधन सहितो ब्रम्हज्ञानार्थं निरूपितः ।

हूयमान वस्तु का निरूपण कर अब उसके फल का निरूपण करते हैं । इस विषय में एक संशय होता है, कि योनि के अन्दर वीर्य का पहुँच जाना ही अंतिम फल है, अथवा बाहर निकलने के बाद उसको फल कहते हैं ? श्रुति में जो गर्भ शब्द का प्रयोग किया गया है उससे तो अन्दर प्रवेश का ही अर्थ प्रतीत होता है, शरीर अर्थ मानने से तो उक्त श्रुति का बाध्य होता है । उक्त श्रुति के उपसंहार में भी आगे चलकर, कर्त्तव्य की इतिश्री वहीं तक कही गई है, उससे भी उक्त बात की पुष्टि होती हैं । छः महीने के बाद गर्भ में ज्ञान होता है, जन्म के बाद, ज्ञान के लिए उसे किसी गुरु की आवश्यकता होती हो, सो तो है नहीं, इत्यादि शंका करते हुए परिहार करते हैं कि योनि से निकले हुए शरीर को ही गर्भ शब्द से उल्लेख किया गया है । योनि तो एक अग्नि वेदिका के समान है, अग्नि से उत्थ वस्तु ही फल कहलाती है, इसलिए योनि निर्गत शरीर को ही फल समझना चाहिए । योनि प्रवेश और योनि निर्गमन के मध्य की स्थिति का यज्ञीय दृष्टि से कोई प्रयोजन नहीं है । बालक का शरीर माता द्वारा पालित होता है, इसलिए उसे गर्भ कहा गया है । वीर्य प्रविष्ट होने के बाद, अंदर कलिल बुद्बुद्, कर्कन्धू आदि रूपों में विकसित होता है, उसे पुरुष नहीं कहा

जा सकता, उसे पुरुष मानने में, श्रौत उपसंहार की बात भी नहीं बनती। "शीर्यते इति शरीरम्" इस निरुक्तीय परिभाषा के अनुसार शरीर शब्द से, वैराग्य आदि युक्त वस्तु विशेष का बोध होता है। योग्य देह, ब्रम्हज्ञान के लिए, साधनों सहित प्राप्त होता है, यही पंचाहुति विज्ञान का सिद्धान्त है।

तृतीय अध्याय

द्वितीय पाद

सन्ध्ये सृष्टिराह हि ।३।२।१।।

पूर्वपादे अधिकारि योग्यदेहो निरूपितः। द्वितीये जीवस्य मुक्तियोग्यता निरूप्यते। तत्र प्रथमं स्वप्नं निरूपयति। स्वप्नस्य सत्यत्वे तत्कृत गुणदोष संबंधो जीवस्य भवेत्। ततश्च निरूपिता शुद्धिर्व्यर्थास्यात्। अतः स्वप्नस्य मिथ्यात्वं प्रदर्शयितुमधिकरणारम्भः।

पूर्वपाद में अधिकारी योग्य देह का निरूपण किया गया, अब द्वितीय पाद में जीव की मुक्ति योग्यता का निरूपण करते हैं। सर्वप्रथम स्वप्नावस्था का निरूपण करते हैं। स्वप्न को सत्य मानने से, उससे संबद्ध गुण दोष जीव को भी लगेंगे, अतः उसके लिए कही गई शुद्धि वृथा हो जायगी। इसलिए स्वप्न के मिथ्यात्व को दिखलाने के लिए अधिकरण का आरंभ करते हैं।

तत्र पूर्वपक्षमाह--सन्ध्ये स्वप्न सृष्टिराह --"तस्य वा एतस्य पुरुषस्य द्वे एव स्थाने भवत् इदं च परलोक स्थानं च सन्ध्यं तृतीयं स्थानम् "इत्युपक्रम्य" न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो भवंत्यथरथान् रथयोन पथः सृजन्" इत्यादिना सृष्टिराह संध्ये स्थाने सृष्टिरस्ति, यतः श्रुतिः स्वयमेवाह। युक्तश्चायमर्थः। यथाश्रुतिर्वदति तथैव स्वप्ने दृश्यते। देवादिवाक्यानां प्रबोधेऽपि बाधाऽभावात्। न चेयमेव सृष्टिस्तत्र दृश्यते। न तत्र रथा इत्यादिना निषेधात्। श्रुतिवादिनां श्रुतिरेव प्रमाणम्। किम्पुत्ररनुभवसेवादिनी, तस्मात् स्वप्ने सृष्टिरस्ति।

उक्त विषय पर पूर्वपक्ष रूप से सूत्र प्रस्तुत करते हैं "संध्ये स्वप्न सृष्टिराह" कहते हैं कि—"तस्य वा एतस्य" से लेकर "न तत्र रथा रथयोगाः" इत्यादि तक स्वाप्न सृष्टि का वर्णन किया गया है। जागरण और निद्रा की

संधि में स्वप्न होता है उसकी सृष्टि सत्य है, ऐसा उक्त श्रुति में स्पष्टत: कहा गया है। जैसा की श्रुति कहती है, ठीक वैसा सब कुछ स्वप्न में दीखता है। जैसा कि—नैय्यायिक कहते हैं कि—स्वप्न में, इसी सृष्टि को देखा जाता है सो उनका कथन असंगत है। प्राय: सोकर उठने पर, लोग देखे गए स्वप्न का स्मरण करते हैं, उससे सन्ध्य सृष्टि की पुष्टि हो जाती है। "न तत्र रथा" इत्यादि का जो निषेध किया गया और पुन: उनकी सृष्टि की चर्चा की गई उससे भी सृष्टि का निश्चय होता है। श्रुतिवादियों के लिए श्रुति ही प्रमाण होती है अनुभव की बात करना तो व्यर्थ है। स्वाप्न सृष्टि का अस्तित्व है, यही मानना चाहिए।

निर्मातारं चैके पुत्रादयश्च ।३।२।२॥

काठकेचतुर्थवल्ल्यां श्रूयते "य एव सुप्तेषु जागर्ति कामं-कामं पुरुषो निर्मिमाण:, तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदेवाऽमृतमुच्यते" इतिनिर्मातारमेके वदंति। यद्यपि सुप्त्युत्क्रान्त्योर्भेदेनेत्यत्र, न तत्र रथा इत्यपि ब्रह्म प्रकरणं तथापि नियत धर्मपक्षे जीव एव कर्त्तेति प्रतिभाति। तदर्थं नि:संदिग्धं वचनमुदाहरति। भगवन्निर्मितत्वात् स्वप्नस्थस्यापिसत्यत्वम्। न हि कर्त्तु: स्वापोऽस्ति येन भ्रम: स्यात्। जागर्तीति वचनात्। इच्छापूर्वकं च सर्वं सृजति।" शतायुष: पुत्र पौत्रानिति कामविषया: पुत्रादय उक्ता:। "ते च निर्मिता: परलोक साधका" इति लोकत्रय कल्पना। चकारद्वयेन कार्यकारण गता सर्वे धर्मा उक्ता:। तस्माच्छ्रुत्युपपत्तिभ्यां स्वप्न प्रपचस्य सिद्धत्वात् तत्कृत गुणदोष संबंधे पूर्वोक्त देह निर्माणं व्यर्थम् इत्येवं प्राप्तम्।

काठक संहिता की चतुर्थ वल्ली में एक वाक्य आता है—"य एष सुप्तेषु जागर्ति" इत्यादि इसके अनुसार तो समझ में आता है कि—स्वप्न का कोई निर्माता है। यद्यपि ये सुषुप्ति और उत्क्रान्ति से भिन्न अवस्था है, "न तत्र रथा" इत्यादि से ब्रह्म प्रकरण निश्चित होता है, फिर भी इसमें धर्म पक्ष नियत है इसलिए इसका कर्त्ता जीव ही प्रतीत होता है। किन्तु कर्तृत्व निश्चित करने के लिए—"य एष सुप्तेषु" इत्यादि असंदिग्ध वचन उद्धृत कर दिया। अत: ये भगवन्निर्मित है अतएव स्वप्न भी सत्य है। क्योंकि उस स्थिति में कर्त्ता ब्रह्म तो स्वप्न देखता नहीं जिससे इसे भ्रम कहा जा सके। जागर्ति आदि वचन से उसका जागना निश्चित होता है। वह इच्छा पूर्वक सब सृष्टि करता है। जीव स्वयं इच्छापूर्वक अपने लिए अनिष्ट स्वप्न की कल्पना नहीं कर सकता। शतायुष:

पुत्र पौत्रान् वृणीष्व" इत्यादि जो आशीर्वचन है उससे भी ब्रह्म कर्त्तृत्व निश्चित होता है। "ते च निर्मिताः परलोक साधकाः" इत्यादि में तो स्पष्टतः त्रिलोक कल्पना की चर्चा कर ब्रह्म का कर्त्तृत्व निश्चित किया गया है। सूत्र में दो चकारों का प्रयोग कर निर्देश किया गया कि कार्य कारण आदि सभी धर्म ईश्वरीय हैं। श्रुति और उपपत्ति से स्वप्न प्रपंच की सिद्धि होती है, उसके गुण दोष के संबंध में, पूर्वोक्त देहनिर्माण संबंधी सिद्धान्त व्यर्थ ही हो जाता है।

मायामात्रं तु कार्त्स्न्येनानभिव्यक्त स्वरूपत्वात् ।३।२।३॥

तु शब्दः पक्षं व्यावर्त्तयति। स्वप्नसृष्टिर्मायामात्रं तत्र हेतुः? कार्त्स्नेनाभिव्यक्त स्वरूपत्वात्। कृत्स्नत्वेन यस्य यादृशं स्वरूपं देशकालवस्तुसापेक्षं तथाऽभिव्यक्तिः, कार्त्स्न्येनाभिव्यक्तिस्तदभावात्। अयम आशयः, श्रुतिः सृष्टिमेवाह, न तस्य सत्यत्वमपि। "यथैतदात्म्यमिदं सर्वं तत् सत्यम्" इति "आत्मानं स्वयमकुरुत" "तत् सत्यम्" इत्याचक्षते। "कथमसतः सज्जायेत्" इत्यादि श्रुतिसहस्रेभ्योऽस्य सत्यत्वं प्रतीयते। नैवं स्वप्नप्रपंचस्य श्रुतिराह। सत्य प्रयोजनाभावाच्च। स्वमात्र विहारस्तु महामायावित्वान्मायय़ापि सिद्धयति। नापि भिन्नः प्रपंचः। जीवस्यैकत्वात्। अविद्या मन्यते इति वचनान्न तत्सुखदुःखःभोगार्थमपि सत्यत्वमंगीकर्त्तव्यम्। स्थानद्वय प्रतिज्ञा च विरुद्ध्येत्। "जीवतो मृतांश्च पश्यति" इति जीव द्वयदर्शनम् अतो लोकद्वयप्रतिज्ञायरूपत्वान्मायया क्रीडायामन्यानुरोधाभावेनातिसुखत्वात् भगवत्कृतमावाचकत्वाच्च श्रुतेरतिरिक्त कल्पनायां प्रमाणाभावांज्योतिः शास्त्र नियमाभावाच्च मायामात्रेण स्वप्न इति न तत्कृतगुण दोष संबंधः। दीक्षितस्यान्नभोजनादि प्रायश्चित्तं तु भगवत्क्रीडायामपि प्रतिच्छायत्वात् क्रियते। तदानीं कर्त्तृत्वस्यारोपात्। अन्यदा कर्त्तृत्वस्याशास्त्रत्वान्न धर्माधर्म जनककत्वम्। देवताज्ञादिस्तु जीवब्रह्मणोर्विद्यमानत्वात् युक्ता। अलौकिक ज्ञाने हि प्रतिच्छायत्वात् संवादः। क्वचिद् भगवदावेशे ईषत् संवादोऽपि। तस्मात् स्वतंत्र सत्यतायां प्रमाणाभावान्मायामात्रं स्वप्न प्रपंच इति सिद्धम।

तु शब्द से पूर्वपक्ष का निराकरण करते हैं। कहते हैं स्वप्न सृष्टि मायामात्र है, क्योंकि—देशकाल वस्तु सापेक्ष स्वरूप का इसमें अभाव रहता है, अर्थात् स्वप्न में ऊटपटांग ही दीखता है। जैसे कि जादूगर, लोगों को चकित करने के लिए तमाशा करता है वैसे ही ईश्वर जीवों को व्यामोहित करने के लिए मायामयी स्वप्न सृष्टि करते हैं, उसमें कुछ भी सत्यता नहीं होती। कहने का तात्पर्य है कि—श्रुति में, स्वप्न सृष्टि का उल्लेख मात्र किया गया है,

उसको सत्य तो नहीं कहा गया है। जैसा कि—जगत सृष्टि संबंधी "यदैत-दात्म्यमिदं सर्वम्" तत्सत्यम् "आत्मानं स्वयमकुरुत" तत्सत्यमिवाचक्षते" "कथमसतः संज्जायेत्" इत्यादि हजारहों श्रुतियों में उसकी सत्यता का स्पष्ट उल्लेख किया गया है, वैसा स्वप्न सृष्टि को बतलाने वाली श्रुति में नही है। स्वप्न सृष्टि में सत्य के प्रयोजन का भी अभाव है, जैसे कि—नट माया से विहार करता है, वैसे ही ईश्वर महामाया का ज्ञाता है अतः वो माया से स्वप्न सृष्टि का विस्तार करता है, अतः उसे सत्य नहीं कह सकते। स्वप्न में जो जीव के विहार की चर्चा की गई वह, ईश्वर के लिए करना असंभव नहीं है। स्वप्न प्रपंच, जगत् प्रपंच से स्वरूप से भिन्न नहीं होता, क्योंकि—दोनों प्रपंचों का उप-भोक्ता जीव तो एक ही है। "अविद्यया मन्यते" इत्यादि वचन के अनुसार, स्वप्न सृष्टि में भुक्त सुख दुःखों को भी सत्य नहीं मानना चाहिए। यदि स्वप्न प्रपंच को सत्य मानेंगे तो "तस्य वा एतस्य पुरुषस्य द्वे एव स्थाने भवत् इद च परलोकं स्थानं च" इत्यादि में जो जीव के दो ही स्थान बतलाए गए हैं, उससे विरुद्धता होगी। स्वप्न सृष्टि को सत्य मानना मानो जीव के लिए तृतीय स्थान स्वीकारना है। स्वप्न वर्णन के प्रसंग में आता है कि-"जीवित ही वह अपने को मृत देखता है" इस प्रकार स्वप्न दृष्टा का अपने को दो रूपों में स्वतः देखना भी विलक्षणता का द्योतक है, जो कि-इहलोक परलोक उपभोक्ता के लिए केवल मायामात्र तमाशा ही है। दोनों लोकों की प्रतिच्छाया स्वप्न में रहती है तथा माया से क्रीडा होने पर इसमें किसी प्रकार का अनुरोध तो रहता नहीं इसलिए इसमें सुख भी पर्याप्त मिलता है। इसे ईश्वर निर्मित कहा गया, श्रुति के अतिरिक्त इसका कहीं और तो उल्लेख है नहीं तथा इसमें ज्योतिष शास्त्र के नियमानुसार दिन-रात काल ग्रह नक्षत्र की प्रतिच्छाया भी नहीं है, केवल या मायामात्र तो है ही इसलिए इसमें किये गये गुण दोष, जीवात्मा से संबद्ध हो ही कैसे सकते हैं ? अब प्रश्न ये होता है कि-यदि स्वप्न मिथ्या वस्तु है तो, स्वप्न में भोजनादि करने पर जो प्रायश्चित्त का विधान शास्त्रों में किया गया है, उसका क्या तात्पर्य है ? इसका उत्तर देते हैं कि-यद्यपि वहाँ स्वप्न भोजन नहीं किया जाता फिर भी स्वाप्निक भगवत्क्रीडा में भोजन सदृश सुख जीव अनुभव करता है, इससे उसमें कर्त्तृत्व का आरोप हो जाता है इसलिए उसके प्रायश्चित्त का विधान किया गया है। जैसे कि-व्रीही के अभाव में नीवार से काम चलाया जाता है, वैसे ही इसमें आरोपित कर्त्तृत्व के कारण अपराध की सिद्धि हो जाती है। स्वप्न कर्त्तव्य शास्त्र मर्यादा में आबद्ध नहीं है, इसलिए वह

धर्माधर्म जनक नहीं हो सकता । प्रश्न होता है कि-यदि स्वप्न सत्य नहीं हैं तो स्वप्न में देव दर्शन और जो देवाज्ञा होती है क्या वह सत्य है ? उसका उत्तर देते हैं कि-इंद्रादि जीव विशेषों और ब्रह्म दोनों में ऐसा विशिष्ट सामर्थ्य है कि वे स्वप्नादेश करते हैं, समाधि अवस्था की तरह स्वप्न मेंवे हृदय में प्रविष्ट होकर दर्शन आज्ञा आदि देते हैं, उस समय बुद्धि जागती रहती है अतः स्वप्न द्रष्टा जीव प्रत्यक्ष अनुभव करता है । इस प्रकार की जो अनुभूति होती है, वह लौकिक नहीं होती, क्योंकि-उनमें इन्द्रियों की संलग्नता नहीं रहती, अपितु आत्मज्योति रूप से अलौकिक प्रतीति होती है । जिस समय भगवदादेश होता है उस समय कभी-कभी संवाद भी होता है । वैसे स्वप्न की स्वतंत्र सत्यता का कोई प्रमाण नहीं मिलता, इससे निश्चित होता है कि स्वप्न प्रपंच मायामात्र ही है ।

सूचकश्च हि श्रुतेराचक्षते च तद्विदः ।३।२।४।।

ननु तर्हि जीवसाक्षिकमेकदेशेन किमिति सृजति तत्राह-सूचकः शुभाशुभ फलसूचको भवति स्वप्नः । चकारात् क्वचिदाज्ञाविशेषदानम् । कलिकालादेः प्रत्यक्षे बाधकत्वात् युक्तश्चायमर्थः । प्रातः सूचक फलस्यैव दृष्टत्वान्न तु स्वप्न पदार्थस्य । सूचकत्वे प्रमाणमाह "यदाकर्मसु काम्येषु स्त्रियं स्वप्नेषु पश्यति, समृद्धिं तत्र जानीयात् तस्मिन् स्वप्ननिदर्शनः" इत्यादि श्रुतेः किंच । आचक्षते च तद्विदः, स्वप्नाध्यायविदः तथैवाचक्षते । आरोहणं गोवत्सकुंजराणामित्या-दिना । तस्मात् सूचनार्थं जीव प्रदर्शनमिति ।

प्रश्न होता है कि यदि परमात्मा स्वक्रीडा के लिए स्वप्न सृष्टि करता है, तो उन जीवों के साक्षिक पदार्थों को निरर्थक ही क्यों रचता है ? यह तो एक प्रकार का ब्रह्म के लिए दोष हो गया । इस पर कहते हैं कि स्वप्न शुभाशुभ फल सूचक होते हैं । कभी कभी जीवोत्कर्ष के लिए विशेष आज्ञा भी स्वप्न द्वारा परमात्मा देते हैं । क्योंकि कलिकाल में प्रत्यक्ष कहना नहीं होता । स्वप्नों का सूचक रूप मानना ही ठीक है । प्रातःकाल में देखे गए, सूचकफल सत्य होते हैं, स्वप्नगत पदार्थ सत्य नहो होते । सूचकत्व का प्रमाणश्रुति में जैसे कि "जब काम्य कर्मों के अनुष्ठान में संलग्न होने पर स्वप्न में स्त्री दिखलाई दे तो, उससे समृद्धि जाननी चाहिए" इत्यादि । स्वप्नाध्याय के ज्ञाता स्वप्नों के फलों को कहा करते हैं । गो, वृक्ष, कुंजर इत्यादि पर चढ़ कर यात्रा आदि स्वप्न का फल भिन्न-भिन्न कहा जाता है । इससे निश्चित होता है कि परमात्मा जो जीव को स्वप्न दिख-लाते हैं, वह निरर्थक नहीं है, अपितु भावी सूचक है ।

पराभिध्यानात्तु तिरोहितं ततोह्यस्य बंधविपर्ययौ ।३।२।५।।

किञ्चिदाशक्य परिहरति । ननु जीवाय भगवान् सृष्टि करोति, प्रदर्शयति च स्वस्य सर्वलीलाम् । अशश्चायम्, कथमस्य दु खित्वम् ? इत्याशक्य परिहरति तु शब्द: । अस्य जीवस्यैश्वर्यादि तिरोहित, तत्र हेतु: पराभिध्यानात्, परस्य भगवतोऽमितो ध्यान स्वस्यतस्य च सर्वतो भोगेच्छा, तस्मादीश्वरेच्छया जीवस्य भगवद्धर्म तिरोभाव: । ऐश्वर्य तिरोभावाद्दीनत्व, पराधीनत्वम् । वीर्य तिरोभावात् सर्वदु.खसहन । यशस्तिरोभवात् सर्वहीनत्व । श्री तिरोभावाज्जन्मादिसर्वापद्विषयत्व । ज्ञान तिरोभावाद्देहादिष्वह बुद्धि सर्वविपरीतज्ञान चापस्मरसहितस्येव । वैराग्यतिरोभावाद् विषयासक्ति. । बन्धश्चतुर्णां कार्यो विपर्ययो द्वयोस्तिरोभाव,देवैवमन्यथा । युक्तोऽयमर्थ. । एकस्यैकाश प्राकट्येऽपि तथा भावात् आनदाँशस्तु पूर्वमेव तिरोहितो, येन जीवभाव. । अतएव काममय: । अकामरूपत्वादानन्दस्य । निद्रा च सुतरा तिरोभावकर्त्री भगवच्छक्ति: । अतो अस्मिन् प्रस्तावे जीवस्य धर्मतिरोभाव उक्त अन्यथा भगवदैश्वर्यादि लीला निर्विषया स्यात् । तस्मान्न जीव स्वरूपपर्यालोचनया किञ्चिदाशकनीयम् ।

कुछ शका करते हुए परिहार करते है । प्रश्न होता है कि-परमात्मा जीव के लिए सृष्टि करते है, या स्वप्न सृष्टि दिखलाते है, वह उनकी अपनी लीला का विस्तार ही तो माना गया है, तथा यह सृष्टि परमात्मा का अश ही तो है, फिर इसमे दु.ख प्राप्ति क्यो होती है ? इस सशय का परिहार तु शब्द से करते हुए कहते है कि-जीव के दु.ख प्राप्ति का कारण, उसमे ऐश्वर्य आदि गुणो का न होना है । इन गुणो के तिरोभाव का कारण है कि परमात्मा का ध्यान छोडकर जीव इस जगत को हर प्रकार से भोगने की इच्छा करता है। इसलिए ईश्वरेच्छा से जीव के भगवद्धर्मो का तिरोभाव हो जाता है । ऐश्वर्य के तिरोभाव से जीव मे दीनता अर्थात् पराधीनता का भाव होता है । वीर्य के तिरोभाव से सारे दु:ख सहने पडते है । यश के तिरोभाव से सर्वहीनता आती है । श्री के तिरोभाव से जन्म आदि समस्त आपत्तियाँ आती है । ज्ञान के तिरोभाव से, देह आदि मे अह बुद्धि होती है जिसके फलस्वरूप, सब कुछ विपरीत ही अनुभव होता है तथा सोचता भी विपरीत ही है । वैराग्य के तिरोभाव से विषयासक्ति होती है । ऐश्वर्यादि चारो के तिरोभाव से जीव क बधन तथा ज्ञान वैराग्य के तिरोभाव से विपर्यय होता है । यही अर्थ ठीक है । केवल एक ऐश्वर्य अश के प्रकट होने मात्र से बन्धन की मुक्ति सभव है । जीव का आनदाश तो पहिले ही से तिरोहित रहता है, तभी तो उसका जीव भाव होता है ।

जीव दो प्रकार के कहे गये हैं सदा मुक्त और बंधनयोग्य । इनमें पहिली श्रेणी के सेवायोग्य होते हैं क्योंकि उनमें स्वरूपानंद मात्र का तिरोभाव रहता है धर्मरूप का तिरोभाव नहीं होता और न ऐश्वर्यादि का ही । दूसरे प्रकार के जीवों में सभी का तिरोभाव रहता है । आनंदांश के तिरोभाव से ही जीव काममय होते हैं तथा आनंदांश के सद्भाव से निष्कामभाव में रहते हैं । निद्रा ही परमात्मा की तिरोभाव करने वाली प्रबल शक्ति है । इसलिए निद्रा के प्रसंग में जीव के तिरोभाव की चर्चा की गई । अन्यथा भगवान की ऐश्वर्यादि लीला निर्विषया है । इसलिए जीव स्वरूप की पर्यालोचना से किसी प्रकार की शंका नहीं करनी चाहिए ।

देहयोगाद् वा सोऽपि ।३।२।६॥

ईश्वरेच्छयैश्वर्यादितिरोभावं स्वमते निरूप्य, मतांतरेणापि नियत-धर्मवादेन निरूपयति । देहयोगाद् वा, देहसंबंधादेवास्य सर्वतिरोभावः, विपर्ययो वा, अपिशब्दादन्यत् । अस्मिन पक्षे देहवियोग एव पुनरैश्वर्यादि प्राप्तिः । पूर्वस्मिन् कल्पे विद्यमानेऽपि इति शेषः । न त्वीश्वरेच्छया विकल्पः ।

ईश्वरेच्छा से ऐश्वर्यादि तिरोभाव की बात अपने मतानुसार कहकर अब मतान्तर से नियत धर्मवाद का निरूपण करते हैं, कि सूक्ष्मदेह संबंध होने से ही इनका तिरोभाव या विपर्यय, या सब कुछ होता है । इस मत से देहवियोग हो जाने पर ऐश्वर्यादि की पुनः प्राप्ति हो जाती है । पूर्व मत से विद्यमान में भी प्राप्ति हो सकती है । इसमें ईश्वरेच्छा का विकल्प नहीं है ।

कश्चित परशब्देन देहादिमाह । तदा अभिध्यात योगराकस्मिकता स्यात् "सर्वस्यवशी सर्वस्येशान" इति विरोधाश्च । काश्चित्तु "तस्याभिध्यानात्, तृतीयं देह भेद" इति श्रुत्यनुरोधेन जीवकर्त्तृकाभिध्यानं मत्वा, अतिरोहितमिति कल्पयति । विपर्ययशब्देन च मोक्षम । बह्वध्याहारेण च सूत्र द्वां योजयति । तद् ब्रह्मवाद परिज्ञानादसंगतेश्च साधनोपदेशस्य भ्रान्तोक्तमित्युपेक्ष्यम् । निद्राया विवेक ज्ञानाभावावसऽत्वाद् यथा व्याख्यार्थ एवार्थः ।

कोई पर शब्द से देह आदि अर्थ करते हैं । वहाँ तो अभिध्यान योग आकस्मिक होगा तब "सर्वस्य वशी सर्वस्येशान" इत्यादि ईश्वर को नियन्ता बतलाने वाली श्रुति ही व्यर्थ हो जायगीं । अतः वह मत उपेक्ष्य है ।

कोई (शंकर और भास्कर) "ज्ञात्वादेवं सर्वपाशापहानिः" "तस्माभिध्यानात्-तृतीयं देहभेदे" इत्यादि श्रुति के अनुसार अभिध्या को जीवकर्तृक मानकर जीव की ब्रह्मभूत होने की कल्पना कर-ऐश्वर्यादि के अतिरोभाव का समर्थन करते हैं। उक्त श्रुति में पराभिध्यान का अर्थ परमेश्वर विषयक ध्यान किया गया है, शब्द साम्य होने से वे पराभिध्यान को जीवकर्तृक मान बैठे और पूर्व तिरोहित गुणों को पराभिध्यान के बल से अतिरोहित मानने लगे। उन्होने कहा कि ईश्वर के परिज्ञान न होने से बंधन तथा उनके परिज्ञान हो जाने से विपर्यय अर्थात् मोक्ष होता है। वस्तुतः उन्हें ब्रह्मवाद का परिज्ञान नहीं है, इसीलिए ऐसी असंगत बात उन्होंने कही, साधनोपदेश करने वाली श्रुति की उन्होने भ्रान्त कल्पना की है। इसलिए ये मत भी उपेक्ष्य है। निद्रा में विवेक ज्ञान का अभाव रहता है, इसलिए तिरोधान की व्याख्या भी कर दी गई।

तदभावो नाडीषु तच्छ्रुतेरात्मनि च ।३।२।७॥

प्रसंगाज्जीवस्याज्ञानं निरूप्य सुषुप्तौ केवलमज्ञानं निरूपयितुं स्थानस्वप्नाभावे निरूपयति।

प्रसंग से जीव की अज्ञानावस्था का निरूपण करके अब सुषुप्ति में केवल अज्ञान का निरूपण करने के लिए स्थान स्वप्नाभाव का निरूपण करते हैं।

एवं श्रूयते-"नाडीरनुक्रम्य, तासु तदा भवति यदा सुप्तः स्वप्नं न कंचन पश्यति। अथास्मिन् प्राण एवैकधा भवति, तथा प्राज्ञेनात्मना संपरिष्वक्तो न बाह्यं किंचन् वेद नान्तरमिति।" तत्र संशयः, स्वप्नवत् प्रपंचसृष्टि मायिकी-मपि भगवान् करोति, न वा? इति संशयः।

श्रुति में कहते हैं कि-"नाडी का अनुक्रमण करके उनमें लीन होकर जब सोता है तो स्वप्न नही देखता, इसमें उसके प्राण एकीभूत हो जाते हैं, उस स्थिति में वह प्राज्ञ आत्मा से संलग्न होकर न बाहर की बात जानता है न भीतर की।" इस पर संशय होता है कि-भगवान् निद्रा अवस्था में भी स्वप्न की तरह मायिक प्रपंच सृष्टि करता है क्या?

तत्र "य एष सुप्तेषु जागर्ति" इत्यत्र जीवस्वापमात्रे भगवत्सृष्टेरुक्तत्वात्, "स्वप्नं न कंचन पश्यति" इत्यत्रापि दर्शन मात्र निषेधात "न बाह्यं किंचन् वेद नान्तरमिति च" जागरण स्वप्न प्रपंचयोरविशेषेणादर्शक वचनात् सुषुप्तावपि

प्रपंचनिर्माणमस्तीत्यवगंतव्यम् । ततश्च कस्यामप्यवस्थायां प्रपंचव्यतिरेकाभावान्मुक्तावपिस्यात् । स्वाप्यसंपत्त्योरज्ञान मात्र विशेषात् सति "सम्पद्य न विदुः" सति संपद्यामह इति । तस्माद् वाह्य सत् संपदोर्विद्यमानयोरपि यथा ज्ञानाभावात् अग्रहणम् एवं प्रपंचस्यापीत्येवं प्राप्ते ।

उक्त प्रकरण में—"य एषु सुप्तेषु जागर्ति" में जीव की निद्रा मात्र में, भगवत् सृष्टि बतलाई गई है । "स्वप्नं न कंचन पश्यति" में दर्शनमात्र का निषेध किया गया है । "न वाह्यं किंचन वेद नान्तरं में जागरण और स्वप्न प्रपंच दोनों में सामान्य रूप से कुछ भी न देखने की बात कही गयी है जिससे ज्ञात होता है कि सुषुप्ति में प्रपंच निर्माण रहता है । इससे ये भी ज्ञात होता है कि किसी भी अवस्था में प्रपंच व्यतिरेक का अभाव हो जाय तो मुक्ति भी हो सकती है । स्वरूप और संपत्ति मे अज्ञान मात्र ही विशेष रूप से रहता है, जैसा कि "संपद्य न विदुः सति" इत्यादि से ज्ञात होता है । इससे निश्चित होता है कि बाह्य सत् संपत्ति के विद्यमान रहते हुए भी जैसे ज्ञान का अभाव नहीं माना जाता वैसे ही निद्रा में प्रपंच सृष्टि का भी अभाव नहीं है ऐसा मानना चाहिए ।

उच्यते—तदभावो नाडीषु, तस्य स्वप्नस्याभावो नाडीषु, तथा आत्मनि च कुतः ? तच्छ्रुतेः, प्रपंचाभावश्रुतेः कामनया हि प्रपंचः । सुषुप्तावस्थाया अकामरूपत्व श्रुतेः । "तद् वा अस्यैतदात्मकाममाप्तकाममकामं रूपमिति ।" नाडीषु आत्मनि चेत्ति ग्रहणात् सुषुप्तिर्द्विविधेति सूचयति । तथा हि हिता नाम नाड्यः पुरीतत्यन्ता हृदय देशाद् बाह्या, 'आभ्यंतर परमात्मा, हृदय देशस्तु जीवस्य इन्द्रियाणां च स एव देशः । तत्र निद्रया भगवच्छक्त्या बहिर्दृष्ट्याच्छादने भगवल्लीलायां तां पश्यति तत्राप्याच्छादने गाढ मृतो ज्ञान रहितः क्रिया शक्त्या अन्तर्भगवन्तं वा प्रविशति । बहिर्नाडीषु वा समायाति । अतएव वृहदारण्यक षष्ठे "यत्र सुप्तो न कंचनकामं कामयत" इति वाग्द्वयमाह, "ता वा अस्यैता हिता नाम नाड्यः, तद्वा अस्यैतदात्मकाम्" इति भेदेन । सुषुप्तिस्तूभयत्र ज्ञानशक्तेः सर्वथा तिरोधानात् । तस्मात् सुषुप्तौ न प्रपंच सृष्टिः ।

उक्त संशय का निराकरण करते हैं कि नाड़ियों में स्वप्न नहीं होता और आत्मा में भी नहीं होता, ऐसा श्रुति से ही निश्चित होता है । प्रपंच कामना से होता है । सुषुप्त अवस्था में जीव की निष्कामता श्रति में स्पष्ट बतलाई गई है "तद्वा अस्यैतदात्मकाम', इत्यादि । निद्रा दो प्रकार की होती है, नाड़ियों

में और आत्मा में [निद्रावस्था में जीव नाड़ियों या आत्मा में प्रवेश करके रहता है] हिता नाम की जो नाड़ियाँ पुरीतत हृदय देश से बाहर रहती हैं [या तो जीव उसमें विश्राम करता है अथवा] हृदय के भीतर जहाँ परमात्मा का निवास है, जीव और इन्द्रियों का भी वही स्थान है [उसमें विश्राम करता है] जब वह हृदय में विश्राम करता है वह भगवत् शक्ति से बाह्य दृष्टि से रहित होकर, अन्तर्दृष्टि से भगवल्लीला में सम्मिलित होकर उसका अनुभव करता है। गाढ़ निद्रा में निमग्न वाह्य ज्ञान रहित वह क्रिया शक्ति से हृदयस्थ परमात्मा में प्रवेश करता है, अन्यथा वहिस्थित नाड़ियों में समा जाता है। इसीलिए वृहदारण्यक के षष्ठ अध्याय में-"वह इन हिता नाड़ियों में" अथवा वह इस आत्मा में "इत्यादि दो विभिन्न रूपों के अनुसार "जहाँ सोकर वह कुछ कामना नहीं करता" इत्यादि वाक्य दो बार कहा गया है। सुषुप्ति की दोनों ही अवस्थाओं में ज्ञानशक्ति का सर्वथा अभाव रहता है। इससे निश्चित होता है कि सुषुप्ति में कोई प्रपंच नहीं होता।

अतः प्रबोधोऽस्मात् ।३।२।८।।

प्रबोधे संदेहः "प्रतियोन्याद्रवति बुद्धान्तायैवेति" जीव समान धर्म प्रकरणे निरूपितम्। ततो नाडीभ्यः पुनर्हृदयदेशं गत्वा भगवतो वा समागत्य जागर्ति? इति, आहोस्वित् यत्र स्थितस्तत एव जागर्ति? इति, तत्र श्रुत्यनुरोधाद् हृदयदेश मागत्य जागर्ति इत्येवं प्राप्ते।

अब जागरण के विषय में भी संदेह करते हैं। वृहदारण्यकीय ज्योतिर्ब्राह्मण में उल्लेख है कि "वह जीवात्मा सुषुप्ति में उस परमात्मा के साथ मरण कर के आनन्द भोगकर, जैसे कि-जीवात्मा अन्य लोकों में भोगकर पुनः लौटकर आता है वैसे ही जागने पर भी पुनः इस लोक में लौट आता है" इत्यादि निरूपण किया गया है। संदेह इस बात का है कि-नाड़ियों से, हृदय देश में जाकर भगवान की लीला अनुभव करके जागता है अथवा नाड़ी से ही जागता है? उक्त श्रुति के वर्णन से तो ज्ञात होता है कि-वह हृदय देश में पहुँचने के बाद ही जागता है।

उच्यते—नाडीभ्य एव प्रबोधः। गर्तपतितस्य प्रबोधेहि ततो गमनं। प्रतियोन्याद्रवणन्तु भगवत इति। किंच, प्रबोधोऽस्मात् अस्मादात्मनः सकाशादेव प्रबोध: प्रियमेव संपरिष्वक्तस्य बोधाभावे कथमागमनम्? अतएव संपरिष्वक्तो निविड निद्रः। तस्माद् यत्रैव तिष्ठति तत एव प्रबोध इति सिद्धम्।

उक्त संशय पर कहते हैं कि-नाड़ियों में विश्राम करने पर नाड़ी से ही जागना होता है। जैसे कि गड्ढे में गिरा हुआ उठकर बाहर आता है वैसे ही नाड़ियों से उठकर आता है। योनियों में भोगकर आने के समान तो, हृदयस्थ निद्रा में ही होता है। उस निद्रा में तो आत्मा से ही जागरण होता है। प्रिया की तरह चिपटकर सोने वाले का जागने पर कैसे आगमन हो सकता है? परमात्मा से चिपट कर ही गहरी निद्रा होती है। इससे निश्चित हुआ कि-जिस स्थान पर निद्रा में जीव स्थित रहता है वही से उठना भी है।

स एव तु कर्मानुस्मृति शब्द विधिभ्यः।३।२।९॥

किंचिदाशंक्य परिहरति। ननु प्रिययेव प्राज्ञेनात्मना परिष्वक्तस्य ब्रह्मलोकं गतस्य प्रबोधेन ज्ञाने मुक्त एव भवेन्न तु पुनरागच्छेत। अतो भगवदिच्छया देह-निर्वाहाय तत्स्थाने नियुक्तोऽन्य एव जीवः समायातु। अन्यतः प्रबोधे तु स एव। व्यवहारस्तु तावता सेत्स्यति। मुक्त्यर्थं प्रयत्नस्तु न कर्त्तव्यः? इत्याशंक्य परि-हरति तु शब्दः। अस्मादपि प्रबोधे स एव, कुतः? कर्मानुस्मृति शब्दविधिभ्यः। चत्वारोहेतवः। लौकिक वैदिक ज्ञानकर्मभेदात्। तत्र लौकिके कर्मणि सामिकृत कर्मणः शेष समापनात्। नहि कश्चिदपि सुषुप्त प्रतिबुद्धः सामिकृतं न समापयतीति क्वचित् सिद्धम्। तथाऽनुस्मृतिः। नहिपूर्वदृष्टं न स्मरतीति क्वचित्। सिद्धम् शब्दाश्च--"पुण्यः पुण्येन कर्मणा भवति, पापः पापेन क्वैष तदाऽभूत् कुत एत दागाति?" इति। तथा सति सम्पद्येत्यादयश्च विधयश्च"श्वोभूते ब्रह्माण वृणीत, श्वोभूते शेषं समापयात् एक एव यजेत्, द्वादशरात्रीर्दीक्षितः स्यात् "इत्यादि।" यः कामयेत् वीरो न आजायेत" इत्यादयः। भगवतैव मर्यादा रक्षार्थं तथा करणम्। पूर्वपक्षेयुक्तयो दुर्बलाः। तस्मात् स एव प्रतिबुद्ध्यते।

कुछ आशंका करते हुए परिहार करते हैं। प्रश्न ये है कि प्राज्ञ परमात्मा से प्रिया की तरह चिपटे हुए ब्रह्म लोक को प्राप्त जीव को तो प्रबोध होने पर भी मुक्त ही हो जाना चाहिए, उसके पुनः लौटने की बात तो समझ में नही आती, वह तो वहाँ से लौट नही सकता। हो सकता है, देह निर्वाह के लिए उस स्थान पर नियुक्त कोई और जीव भगवत् प्ररणा से लौटता होगा। कुछ और लोग कहते हैं कि प्रबोध में वही जीव लौटता है। जागा हुआ जीव, सोने के पूर्व व्यवहार को ही करता है, इसलिए वही जीव होना चाहिए, सो तो अन्य जीव से भी वैसा व्यवहार संभव है, भगवान के द्वारा उसे वैसे व्यवहार की प्रेरणा मिल सकती है। निद्रा में ही जब भगवान से साक्षात्कार संभव है तो

मुक्ति के लिए प्रयत्न करना भी व्यर्थ है। इत्यादि संशय करते हुए तु शब्द से परिहार करते हैं। कहते हैं कि वही जीव जाग उठता है। इसका निर्णय चार प्रकार से हो सकता है कर्म, अनुस्मृति, शब्द और विधि। ये ज्ञान कर्म के भेद से लौकिक और वैदिक हैं। लौकिक कर्म में अधूरा किया हुआ कर्म पूर्ण होने पर ही माना जाता है। कोई भी सोया हुआ व्यक्ति जागकर यह नहीं समझता कि मेरा अधूरा कर्म पूरा हो चुका। ऐसा भी नहीं है कि उसे सोने के पूर्व की देखी हुई वस्तु की अनुस्मृति न रहती हो [लौकिक, कर्म और अनुस्मृति की कसौटी पर निर्णय करके अब वैदिक शब्द और विधि की दृष्टि से निर्णय करते हैं कि] "पुण्य कर्म से पुण्य तथा पाप कर्म से पाप होता है" इत्यादि वाक्य में पुण्य पापात्मक चर्चा भी उक्त बात की ही पुष्टि करती है। "यह उस समय कहाँ था कहाँ से आ गया" इत्यादि वाक्य में भी एक ही व्यक्ति के सोने उठने कीं बात सिद्ध होती है जहाँ वेद में विधि का उल्लेख है कि "कल होने पर शेष कर्म को समाप्त करेगा" अकेले ही भजन करना चाहिए "बारह रात्रि के लिए वह दीक्षित है" इत्यादि से भी उक्त मत की पुष्टि होती है। सांसारिक मर्यादा की रक्षा के लिए, भगवान ने ही वैसा नियम बना रक्खा है, सोया हुआ जीव ही मर्यादा पालन के लिए, सोकर उठने के बाद तत्पर हो जाता है। पूर्वपक्ष की उक्तियाँ दुर्बल हैं।

मुग्धेऽर्द्धसंपत्तिः परिशेषात् ।३।२।१०॥

किंचिदाशंक्य परिहरति। ननु यत्र कर्मानुस्मृतयो न सन्ति तत्राऽन्यो भविष्यति। क्वचिन्मूर्छादिविशेषे सर्व स्मृतिनाशेन मुग्धभावदर्शनात्। तत्र यथा लौकिक वैदिक व्यवहारास्तथाऽन्यत्रापि भविष्यन्ति। अनुस्मरणादयश्च बुद्धि-वृत्तयः। गंगा प्रवाह जलस्य गंगावद् य एव चिदंशस्तत्रायाति स एव तथा भवतु, किं स एवेति ? निर्बन्धेत्याशंक्य परिहरति। मुग्धे मुग्ध भावे अर्द्ध संपत्तिरेव, न सर्वा। न हि मुग्धस्य यज्ञादावधिकारोऽस्ति पूर्व प्रवित्तानि तु जीवनाधिकारात् क्रियन्ते। लौकिक व्यवहारोऽपि नापूर्वः सिद्ध्यति। पूर्वोक्त हेतु सद्भावे तु न कोऽपि दोषः। अतो मुग्धे अर्द्धसंपत्तिः पूर्वैव, नोत्तरा। कुत एतत् ? परिशेषात् स एव वा न वेति निश्चय प्रमाणानामभावात् अर्थात् संदेहोऽवशिष्यते। तस्मात् संदेहान्मुग्धे अर्द्ध प्रतिपत्तिः। न तत्र प्राणायन विघातकृता मूर्छाविचार्यते। तस्याः प्राणधर्मत्वात। यथा बाल्यं शरीर धर्मः। व्यर्थश्च विचारः। जीवावस्था एव हि विचार्यन्ते केवल साक्षिवादस्तु न ब्रह्मवादः। तस्मादेक एव जीवः स्वप्नादि दोष संबंध रहितस्तादृशजन्मयुक्तो भगवज्ज्ञान रहितो ज्ञानाधिकारीति सिद्धम्।

कुछ आशंका करते हुए परिहार करते हैं। प्रश्न होता है कि जहाँ अनुस्मृति नहीं रहती वहाँ कुछ और हो सकता है। कभी-कभी मूर्च्छा आदि विशेष अवस्थाओं में समस्त स्मृति के नाश हो जाने से मुग्ध भाव देखा जाता है, जैसे कि मूर्च्छा विशेष के बाद अतिमुग्ध अमरुक राजा के शरीर में शंकराचार्य के जीव के प्रवेश की बात अति प्रसिद्ध है। जैसे मुग्धावस्था में लौकिक वैदिक व्यवहार होता है वैसे ही सुषुप्ति में भी अन्य जीव का प्रवेश हो सकता है। अनुस्मृति आदि बुद्धि की वृत्तियाँ हैं वो जागृत अवस्था में बढ़ जाया करती हैं। जैसे कि गंगा प्रवाह में पतित जल को गंगा ही कहा जाता है. वैसे ही वह चिदंश है उसमें बुद्धि वृति प्रवाहित होने लगती है। और वही पूर्व कर्म को समाप्त करने वाला भी होता है। इत्यादि शंका करते हुए परिहार करते हैं। कहते हैं मुग्धभाव में अर्द्ध संपत्ति ही रहती है, पूर्ण सपत्ति नहीं रहती। मुग्धव्यक्ति का यज्ञादि में अधिकार नहीं है। मुग्धभाव के पूर्व होने वाले अग्निहोत्र आदि तो जीवनाधिकार से होते हैं। लौकिक व्यवहार भी सामान्यत: होता रहता है। मुग्धावस्था के पूर्व घटित तथ्यों का मुग्धावस्था के बाद भी अस्तित्व रहता है, इसलिए किसी प्रकार का दोष घटित नहीं होता। मुग्धावस्था में अर्द्ध संपत्ति रहती है, उसके बाद की अवस्था पूर्वावस्था की तरह होती है "स एव वा न वा" इत्यादि से निश्चय और प्रमाणों का अभाव प्रतीत होगा है जिससे संदेह उपस्थित होता है, इस संदेह से ही मुग्धावस्था में अर्द्धसंपत्ति की बात निश्चित होती है। उक्त प्रसंग में प्राणायान विघात करने वाली मूर्छा का उल्लेख नहीं है। वह तो प्राण का एक धर्म मात्र है जैसे कि बाल्यकाल शरीर का एक धर्म है। इसलिए उस पर विचार करना व्यर्थ है। इसलिए जीवावस्था पर ही विचार किया गया है। यह साक्षिवाद है ब्रह्मवाद नहीं है। इस विवेचन से निश्चित होता है कि जो जीव स्वप्नादि दोषों के संबंध से रहित है, वही प्राक्तन कर्म के अनुसार, भगवद् ज्ञाना रहित, ज्ञानाधिकारी भी होता है।

न स्थानतोऽपि परस्योभर्यालिगं सर्वत्र हि ।३।२।११॥

इदानीं विषय निर्द्धारार्थं ब्रह्म स्वरूपं विचार्यते तत्रप्रथम मन्योन्य विरुद्ध-वाक्यानां निर्णयः क्रियते। तदर्थमेतावत सिद्धम्। समन्वयाविरोधाभ्यामेकमेव ब्रह्म प्रतिपाद्यत इति। तत्र यथा कार्यविरोध परिहृत एवं ब्रह्म धर्म विरोधोऽपि परिहरणीयः अन्यथाऽबोधकता स्यात्। तत्र स्वगतधर्माणामविरुद्धानामग्रिमे पादे विचारः। जड जीवधर्मत्वेन प्रतीतानामत्र विचारः क्रियते। तत्र क्वचित् जड जीव धर्मा भगवति बोध्यन्ते, क्वचिन्निषिध्यन्ते। यथा सर्वकर्मा सर्वकामः। न चैते जीव धर्मा एव न भवन्तीति वाच्यम्। उच्चावच कर्मणां कामानां च जीव-

गतत्व प्रतीतेः। नेतरोऽनुपपत्तेरिति सर्वत्र वैलक्षण्यस्योक्तत्वात्। कार्य विशेष धर्माणां कारणे वक्तुमशक्यत्वात्। न च कारण धर्मा एव सर्वे कार्ये अंशे वा प्रतीयन्त इति वाच्यम् अस्थूलमनण्वित्यादिवाक्यैः प्रापंचिक सर्वधर्म वैलक्षण्यस्योक्तत्वात्।

अब विषय निर्द्धारण के लिए ब्रह्म स्वरूप का विचार करते हैं। इसमें सर्व प्रथम अन्योन्य विरुद्ध वाक्यों का निर्णय करते हैं। अर्थात ज्ञानाधिकारी के संबंध में विचार करने के बाद ज्ञान विषय का निर्द्धारण करना युक्त ही है। उसके लिए ब्रह्म के स्वरूप का विचार करेंगे इससे ब्रह्म के बोधकता का प्रकार ज्ञात होगा। सब कुछ ब्रह्म ही है ऐसा निर्धारण करने के लिए अधिकरण प्रारंभ करते हैं। समन्वय और अविरोध दोनों से एक ब्रह्म का ही प्रतिपादन किया गया है। जैसे कि कार्य विरोध का परिहार किया वैसे ही ब्रह्म धर्म विरोध कापरिहार भी आवश्यक है। यदिऐसा नहीं करेंगे तो, यह निर्णय कठिन होगा कि वह सधर्मक है या अधर्मक अथवा जीव की तरह सदोष है अथवा सर्वथा दोष रहित है। ब्रह्म के अविरुद्ध स्वगत धर्मो का अग्रिम पाद में विचार किया गया है। उपनिषदों में जो जड़जीव संबंधी विवेचन है उनमें कहीं जड़जीव धर्मों से भगवान का बोध होता है, कहीं उनका उनमें निषेध है। उसी पर इस अधिकरण में विचार करते हैं। जैसे कि "सर्वकर्मा सर्वकामः" इत्यादि। ये सब जीव के धर्म ही न हों, ये नहीं कहा जा सकता। ऊँचे नीचे कर्मों और कामनाओं की जीव में चेष्टायें देखी जाती हैं। "नेतरोऽनुपपत्तेः" सूत्र में ब्रह्म की विलक्षणता बतला चुके हैं। कार्य विशेष के धर्मों की कारण में स्थिति हो ऐसा कहना कठिन है। और न कारण धर्म ही, सब कार्यों या अंश में रहते हैं, यही कहा जा सकता हैं। "अस्थूल अनणु" इत्यादि स्वरूपाव बोधक वाक्यों से ब्रह्म की, प्रापंचिक जगत के समस्त धर्मों से विलक्षणता सिद्ध की गई है।

अत्र केचिदविरोधमेवमाहुः। सर्वत्र कारणत्वात् भगवानस्ति ततश्च अस्थूले अस्थूलोऽनणावनणुरुच्चावचकर्तर्युच्चावचकर्त्ता उच्चावचकामे उच्चावचकामः पृथिव्यां सर्वगन्धो जलादावगन्धः। एवं रसादिषु। एवं स्थानतः परस्योभयलिंगमुपपद्यते। अथवा कारण एव रूपमरूपं चावच्छेदेभेदेन अचिन्त्य सामर्थ्याद् वा। अन्यथा असतः सज्जन न प्रसंग इति अपिना संगृहीत इति। एतदुभयमपि न। कुतः ? सर्वत्र हि, सर्वत्रैवैतादृशे रूपं भगवत उपदिश्यते। हि युक्तोऽयमर्थः भगवत्स्वरूप प्रतिपादिकानि हि एतानि वाक्यानि, न त्वनुवादकानि, वैयर्थ्यापत्तेः अचिन्त्यत्वे ज्ञानानुदयः "तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति" भक्त्या मा मभिजानाति" यावान्

यश्चास्मि यादृशः", ततो मां तत्त्वतः ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्" इति वाच्यम् । शास्त्रानारम्भ प्रसंगात् । अयं च विरोधः परिहरणीयः । सर्वेहि विरोधा अत्र चिन्त्यन्ते नापि तत्तदुपादानभूत प्रदेश विशेषेणाविरोधः । अनुवादकत्वेनवैयर्थ्यपित्तेः । न च भगवति भेदोऽस्ति । प्रत्यारम्भमेकमेवाद्वितीयमिति वचनात् । अल्प-कल्पनायामपि श्रुति विरोधः सिद्धः । श्रुत्यविरोधार्थमेव हि प्रवृत्तेः तस्मान्न मतान्तरानुसारेण जडजीव धर्माणां सत्त्वासत्त्वे परिहर्तुं शक्ये ।

कोई ब्रह्मवादी ऋषि उपनिषदों से वर्ण्य भगवान के विरुद्ध धर्मों को अविरुद्ध बतलाते हैं । सारे जगत में भगवान विद्यमान हैं, क्योंकि वे ही सबके कारण हैं । जैसे कि पार्थिव पदार्थों की कारण रूप पृथिवी, घटपट स्तम्भ आदि कार्यों में निमित्तानुसार उन उन रूपों को धारण करती है वैसे ही भगवान भी अस्थूलादि द्रव्यों में और रसादिकों में तथा गुणों में उन उन रूपों को धारण करते हैं । स्थान धर्मरूप वे चिन्ह परमात्मा में भासित होते हैं । इसलिए परमात्मा की दोनों परस्पर विरुद्ध विशेषतायें संगत होती हैं; इत्यादि एक मत है । दूसरा मत है कि कारण ब्रह्म ही प्रदेश भेद से, रूप और अरूप होता है, क्योंकि उसमें अचिन्त्य सामर्थ्य है । यदि उक्त बात न मानी जाय तो प्रश्न होता है कि वे विशेषतायें उन उन वस्तुओं में कहाँ से आ जाती हैं ? यदि कारण में ये विशेष-तायें न रहें तो, असत् से सत् की उत्पत्ति कैसे संभव है ? यही बात सूत्र में "अपि" शब्द से बतलाई गई है । ये दोनों ही मत असंगत हैं, ऐसा सूत्रस्थ "न" शब्द लक्ष्य कर रहा है । उपनिषदों में सभी जगह भगवान के ऐसे ही विलक्षण रूप का वर्णन किया गया है । जो कि ठीक ही है । भगवत्स्वरूप के प्रतिपादक "अनणु अस्थूल" आदि वाक्य केवल अनुवादक मात्र नहीं हैं, यदि उन्हें ऐसा मान लेंगे तो वे निरर्थक सिद्ध होंगे । यदि ब्रह्म की ये विशेषतायें औपाधिक मान ली जायें तो, उनके ज्ञान से मुक्ति प्राप्ति की संभावना तो हो नहीं सकती । "उसे जानकर मृत्यु का अतिक्रमण करता है" "मुझे भक्ति से जानता है" मुझे तत्त्व से जानकर मुक्त हो जाता है "इत्यादि वाक्य स्पष्ट रूप से, भगवद् ज्ञान के उपरान्त मोक्ष प्राप्ति की चर्चा करते हैं । "यस्या मतं तस्य मतं" "अविज्ञातं विजानतां" इत्यादि वाक्यों में जिस अचिन्त्यता का उल्लेख है उससे सुखपूर्वक ज्ञानोदय संभव नहीं है । यदि संभव हो जाय तो, विचार शून्य व्यक्तियों को भी ज्ञान हो सकेगा, फिर विचार शास्त्र (वेदांतशास्त्र) की उपादेयता समाप्त हो जायगी । इसलिए उक्त विरोध का परिहार आवश्यक है । उक्त प्रकार की सभी विरुद्धताओं पर यहाँ विचार करते हैं । यदि इन वाक्यों को अनुवाद माना जाय तो

उनकी व्यर्थता सिद्ध होती है। भगवान में भेद भी नहीं है, सृष्टि विषयक वाक्यों में स्पष्ट रूप से उसकी अद्वैतता का उल्लेख है "एकमेवाद्वितीयम्" इत्यादि। यदि उनके भेद कीं थोड़ी भी कल्पना की जायगी तो श्रुति विरोध होगा। भगवान व्यास देव श्रुति वाक्यों की अविरुद्धता सिद्ध करने के लिए ही सूत्रों की रचना में प्रवृत्त हुए हैं। इसलिए किन्हीं भी मतों के आधार पर, जीव और जड़ धर्मों के सत्त्व और असत्त्व का परिहार करना संभव नहीं है।

न भेदादिति चेन्न प्रत्येकमतद्वचनात् ।३।२।१२॥

प्रकारान्तरेण समाधानमाशंक्य परिहरति। न भवदुक्तोविरोधः संभवति। भेदात्। कारणकार्येषु सर्वत्र भेदांगीकारात्। प्रपंचविलक्षणं ब्रह्म भिन्नम्। प्रपंच धर्मवद् ब्रह्मभिन्नन् तथाऽज्ञातं ज्ञातंच। एकस्य भेदस्यांगीकारे सर्वमुपपद्यत इति चेन्न। प्रत्येकमतदवचनात्, अभेदवचनात्। इयं पृथिवी सर्वेषां भूताना माध्वंति ब्राह्मणे अयमेव स योऽयमिति सर्वत्राभेदवचनात् कार्यकारणरूप प्रकाराणां भेद-निषेधात्। तस्मान्न भेदांगीकारेण श्रुतयो योजयितुं शक्याः।

प्रकारान्तर से समाधान के प्रयास का परिहार करते हैं। समाधान करते हैं कि आपने जो विरोध की बात कही सो असंभव है, क्योंकि कारण और कार्यों में भेद है, प्रपंच जगत से विलक्षण ब्रह्म भिन्न है। प्रपच धर्म की तरह, ब्रह्म भी भिन्न है। जैसा कि "अज्ञातं ज्ञातं" इत्यादि से निश्चित होता है। एक के भेद स्वीकारने से सब कुछ समाधान हो जाता है। (उक्त समाधान का परिहार करते हैं कि) उक्त कथन असंगत है, क्योंकि सभी जगह अद्वैत का प्रतिपादन किया गया है। "इयं पृथिवी सर्वेषां भूतानां मधु" अयमेव स योऽयम्" इत्यादि सभी वाक्यों में अभेद कहा गया है। इनमें कार्य कारण के रूप और प्रकार भेदों का निषेध किया गया है। इसलिए भेद स्वीकारने से श्रुतियों का सामंजस्य नहीं कर सकते।

अपिचैव मेके ।३।२।१३॥

भेदांगीकारे बाधकमाह। अपि च, एवमेवाभेदमेव भेदनिषेधेनैकेशाखिनो वदन्ति। "मनसैवेदमाप्तव्यम्," नेहनानास्ति किंचन "मृत्योः स मृत्युमाप्नोति या इह नानेव पश्यति" इति भेद दर्शन निन्दा वचनात्। तस्मान्न भेदांगीकारः

कर्त्तुं शक्यः । इव शब्दो, बहुस्यामिति व्यावृत्यथः । तस्मादुपनिषत्सु सर्व प्रकारो-ऽविरोधः सिद्धः ।

भेद स्वीकारने में होने वाली बाधा बतलाते हैं कि वृहदारण्यक के शारीर ब्राह्मण में अभेद का स्पष्ट उल्लेख है, जिसमें भेद का निषेध किया गया है। "मन से ही इसे प्राप्त किया जा सकता है" इस जगत् में कोई विभिन्नता नहीं है" जो इसमें विभिन्नता देखता है वह, मृत्यु प्राप्त करता है" इत्यादि में भेद दृष्टि की निन्दा की गई है। इसलिए भेद नहीं स्वीकार सकते। "नानेव" में जो इव शब्द का प्रयोग किया गया है वह "बहुस्याम्" पद का व्यावर्त्तक है। इस प्रकार उपनिषदों में समस्त प्रकारों का अविरोध सिद्ध होता है।

अरूपवदेव हि तत्प्रधानत्वात् ।३।२।१४।।

एक देशि मतेन समाधानमाह। कथमत्र संदेहो विरोधो वा ? जडजीव धर्माणां विधिनिषेधयोर्जडजीवयोर्हि जडजीवधर्माः भवन्ति। अन्यत्रनूपदिश्यमाना उपासनार्था भवंति। ननूक्तो भेदाभावः, सत्यम. तथापि कार्यकारणांशभावकृतस्य भगवद् विहारार्थं जातस्य भेदस्य निषेद्धुमशक्यत्वात। तस्माद् ब्रह्मणि जडजीव धर्माणां निषेधोयुक्तः। उपचारात्तु सर्वकर्मादयः। विपरीतं किन्नस्यात् ? अत आह अरूपवदेव, रूप्यतेनिरूप्यते व्यपह्रियते, इति रूपं व्यवहार विषयत्वं, तद्युक्तं रूपवद् विश्वम्। ब्रह्म तु तद्विलक्षणम कार्यकारणां शांशिनोर्वैलक्षण्यस्य युक्तत्वात्। नन्ववैलक्षण्यमपि युक्तम्, कारणत्वादत आह, तत्प्रधानत्वात्। तस्य ब्रह्मणः प्रधानत्वान्मुख्यत्वात्। यत्र हि तत् प्रतिपाद्यते तत्र तस्य मुख्यत्वम्। ब्रह्म प्रतिपादने ब्रह्म धर्माणामेव मुख्यत्वं, नान्य धर्माणाम। यथा प्रशासनस्य मुख्यत्वं, तथा सर्वकर्मेति लौकिककर्मानुवादेन भगवत्संबंधे स्पष्टमेवामुख्यत्वम्। विशिष्ट-बोधनेऽपि सर्वशब्दस्य प्रसिद्धानुवादकत्वादतिरिक्त कल्पनायां गौरवात् प्रमाणा-भावाच्च यथाकथंचिद्धर्मवत्वेन ज्ञानस्यैवोपयोगाल्लोक धर्मानेवानूद्य वैशिष्ट्य बोधनमुचितम्। अरूपमिति वक्तव्ये अरूपवदिति वचनं, भिन्न धर्माणामेवैवं निर्णयो, न तु प्रशासनवद् भगवद्धर्माणाम्। तस्मात् कार्यवत् तद् धर्माणामपि कार्यत्वाद् भगवत्वं न भगवद्धर्मत्वमिति।

अब एक देशीय मत से समाधान करते हैं, प्रश्न करते हैं कि परस्पर विरुद्ध विशेषताओं के संबंध में पूरा संदेह है, अथवा ब्रह्म में जडजीव धर्मों की विधि-

निषेधपरक विरोधात्मक प्रवृत्ति पर है ? तथा जो विरोध है वह भी क्या उभय लिग श्रवण से है अथवा दोनों के भेद से संबद्ध है ? विधिनिषेधपरक विरोधात्मक प्रवृत्ति संबंधी संशय का उत्तर देते हैं कि, जडजीव धर्मों की जो विधिनिषेध चर्चा है वह तो, जडजीव की, जडजीव धर्मों के आधार पर है अतः उसमें विरुद्धता का प्रश्न ही नही उठता । इसके अतिरिक्त अन्यत्र जहाँ कही भी विधिनिशेधात्मक प्रवृत्ति है, वह उपासना से संबंधित है । विरोध मबंधी उत्तर देते हुए अपना स्वमत उपस्थित करते हें कि जो हमने भेद का निराकरण किया है, वह ठीक है फिर भी कार्यकारणाश भावकृत, भगवद् विहार के लिए किया गया जो भेद है, उसका निषेध करना सम्भव नही है । इसलिए ब्रह्म के सम्बन्ध में, जडजीव धर्मों का जो निषेध है, वह उचित है । "सर्वकर्म" आदि जो उपाधियाँ परमात्मा के लिए बतलाई गई हैं वो औपचारिक मात्र है । यह जगत परमात्मा के स्वरूप से नितान्त विपरीत है अतः परमात्मा की कृति नही हो सकता । इत्यादि संशय पर सिद्धान्त रूप से "अरूपवदेव" इत्यादि सूत्र प्रस्तुत करते है । कहते है कि मर्वव्यवहार योग्य विश्व रूपवान है, ब्रह्म उससे विलक्षण है, कार्य और कारण में अशाशी सम्बन्ध होता है अतः उनमें विलक्षणता होना स्वाभाविक हैं । उनमे अविलक्षणा भी स्वाभाविक है, क्योकि कारण ही तो कार्यरूप मे परिणत होता है, वही नो कार्य का प्रधान वास्तविक रूप होता है । जगत का कारण ब्रह्म, प्रधान मुख्य है । जिमका प्रतिपादन जहाँ किया जाय, वही उस जगह मुख्य होना है । ब्रह्म के प्रतिपादन में, ब्रह्म के धर्मो की ही मुख्यता हे । "सर्वकर्मा इत्यादि जो विशेषतायें हैं वो लौकिक कर्मो की अनुवादमात्र है, इसलिए भगवान के मम्बन्ध में वह निश्चित ही गौण है । सर्व शब्द विशिष्ट अर्थ का द्योतक है फिर भी लोक प्रसिद्ध "समस्त प्रपंच" का अनुवादमात्र है, इस शब्द की इससे अधिक गौरवपूर्ण अर्थ की कल्पना का कोई प्रमाण भी नही मिलता, परन्तु किसी प्रकार परमात्मा के गुण के रूप में, लोकधर्मो का साकेतिक अर्थ मान लिया जाय तो वह वैशिष्ट्य बोधक हो सकता हे । सामान्य विशेषताओ मे तो हम उक्त प्रकार का निर्णय कर सकते है, किन्तु भगवद् गुणो के सम्बन्ध मे ऐसा प्रशासकीय निर्णय नही कर सकते । इसलिए, कार्यरूप जगत की तरह, जागतिक विशेषताओ की भगवत्ता स्वीकार सकते है, क्योकि वे भगवान के ही कार्य है, पर उन्हे भगवान की विशेषताये नही मान सकते ।

प्रकाशवच्चावैयर्थ्यात् ।३।२।१५।।

ननु सर्वव्यवहारातीते शास्त्र वैफल्यम् । "मनसै वैतदाप्तव्यम्" इति विरो-

धश्च न परिहृतः।" ते त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि, "यतोवाचो निवर्त्तन्त" इति चेत् ? अत आह'प्रकाशवत् यथा सौर प्रकाशो व्यवहार्योऽव्यवहार्यश्च नहि स्वतः सपादयितु शक्यते स्थापयितु वा। आगते तु सूर्ये मेघाद्यभावे च सान्निध्यमात्रेण व्यवहारः कर्त्तु शक्यते। तथा लौकिकवाङ्मनोभिर्न शक्यते व्यवहर्त्तु ईश्वर सन्निधाने तु शक्यत इति द्वयमाह श्रुति.। कुत एतदवगम्यते ? तत्राह'अवैयर्थ्यात् अन्यथा शास्त्र व्यर्थ स्यात्। चकाराद्धर्माणा तथात्व विरोधः परिहृतः।" आसीनो दूरं व्रजति, अपाणिपादो जवनो ग्रहीता, पश्यत्यचक्षु. स शृणोत्यकर्णः इत्यादावलौकिका भगवद्धर्मा उच्यन्ते। अकारणक कार्यवचनात् ब्रह्म धर्माणांचाकार्यत्व बोधयति, तस्मादव्यवहार्योऽपि न शास्त्र वैफल्यम।

शंका की जाती है कि यदि परमात्मा के गुणो को समस्त व्यवहारो से अतीत मान लेंगे तो भगवत्प्राप्ति के वाचक शास्त्र वचन व्यर्थ हो जावेंगे "इसे मन से ही प्राप्त कर सकते है" इत्यादि विरोधो का भी परिहार नही हो सकेगा। "तुमसे औपनिषद पुरुष के विषय मे पूछता हूँ" जिसे न पाकर वाणी लौट आती है" इत्यादि वाक्यो का समाधान कैसे होगा ? इस पर प्रकाशवत् आदि सूत्र प्रस्तुत करते है। कहते है कि जैसे सूर्य का प्रकाश व्यवहार्य और अव्यवहार्य होता है, वह स्वतः अपने को न तो सपादन कर सकता है न स्थापित कर सकता है। सूर्योदय होने पर, मेघादि का अभाव होने पर ही सान्निध्यमात्र से उसका उपयोग किया जा सकता है, वैसे ही परमात्मा को लौकिक वाणी और मन से नही जान सकते। ईश्वर के सन्निधान से ही उन्हे जान सकते है यही "ते त्वौपनिषदे" "यतो वाचो" आदि दोनो श्रुतियो से ध्वनित होता है। यदि ऐसा अर्थ नही करेंगे तो शास्त्र व्यर्थ हो जायेगा। सूत्रस्थ चकार के प्रयोग से सशयित विरोध का परिहार करते है, सूत्रकार का कथन है कि---"बैठा हुआ दूर जाता है, बिना हाथ पैर का भागता और पकड़ता है, बिना नेत्र से देखता और बिना कान के सुनता है" इत्यादि भगवान के अलौकिक गुणो का वर्णन है। ऊपर जो अकारणक कार्य की चर्चा की गई है, उससे भगवान के गुणो का अकार्यत्व द्योतन होता है। इस प्रकार अव्यवहार्य होते हुए भी, शास्त्र की विफलता नही होती।

आह च तन्मात्रम्।३।२।१६॥

किंचिदाशंक्य परिहरति। नन्वलौकिकानीन्द्रियाणि रोधाभावाय कथं न कल्प्यन्ते। अन्यथा अकारणक कार्यत्वं तस्य च f त्वमलौकिकत्वं, ततश्च पश्यत्यचक्षुरिति विरोध इत्याशंक्य परिहरति। आह च श्रुतिः स्वयमेव तन्मात्रं

प्रज्ञानघनमात्रं "स यथा सैन्धवघनोऽनन्तरऽवाह्यः कृत्स्नो रस एवं वा अरे-ऽयमात्माऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञान धन एव" इति स्वरूप· रिक्तानामिन्द्रिया-णामभावात् । न च क्रियाभावोऽपि । वेदविरोधेन तथा ॱ यितुमशक्यत्वान् । वेद निःश्वासायन भूतसमुत्थानादेरुक्तत्वाच्च । अतो नेन्द्रियाणां परिकल्पना । किन्तु सर्वाकार स्वरूपं वस्त्वेव तादृशमिति मंतव्यम्, कृत्स्न वचनात् । चकारात् "सर्वेन्द्रियविवर्जितम्" इति स्मृतिरपि । नस्मान्नेद्रिय कल्पना विरोधः ।

कुछ संशय करते हुए परिहार करते हैं। कहते हैं कि "पश्यत्यचक्षुः" इत्यादि में जो इन्द्रियों का वर्णन है, उसे लौकिक इन्द्रियों से विरुद्ध अलौकिक क्यों नही मान लेते, ऐसा मानने से स्वतः ही विलक्षणताओं का समाधान हो जावेगा । अलौकिक न मानने से, अकारणकार्यत्व, नित्य अलौकिकत्व आदि संभव नहीं है, "पश्यत्यचक्षुः" इत्यादि विरोध का परिहार भी सम्भव नहीं है। इस संशय का परिहार करते हैं कि इसका समाधान तो श्रुति ही कर रही है वह उसे प्रज्ञानघन मात्र ही कहती है।" जैसे कि नमक की डली बाहर से भीतर तक एकरस है, वैसे ही वह यह आत्मा भी बाहर से भीतर तक प्रज्ञानघन है" इसमें स्वरूपातिरिक्त इन्द्रियों का निषेध किया गया है। वस्तुतः परमात्मा में लौकिक अलौकिक किसी भी प्रकार की इन्द्रियाँ नहीं हैं। और न उनमें क्रियाभाव ही है। वेद विरुद्ध इस प्रकार की कल्पना की भी नहीं जा सकती। वेदों में संसार की सृष्टि और विनाश आदि का जो उल्लेख मिलता है उनमें भी कहीं भगवान की इन्द्रियों का उल्लेख नहीं है। इसलिए इन्द्रियों की परिकल्पना नहीं करनी चाहिए अपितु यही मानना चाहिए कि समस्त साकार वस्तुएँ उन्ही की स्वरूप हैं, वही परमात्मा की साकार मूर्ति है। "सर्वेन्द्रिय विवर्जितम्" इत्यादि स्मृति भी है। इसी भाव से इन्द्रिय कल्पना का विरोध भी नहीं है।

दर्शयति चाथोऽपि स्मर्यते ।३।२।१७॥

पुनः प्रकारान्तरेण विरोधमाशंक्य परिहरति । ननु ब्रह्म जगत्कारणमिति सिद्धम् । तच्च समवायि निमित्तं चेति च । कारण धर्मा एव हि कार्यो भवन्ति । असंभावनायां त्वन्यथा कल्पनम् । कामादयो धर्माश्च श्रुतौ विहिता । ते ब्रह्मण एव भवितुं युक्ताः । निषेधिकाऽपि श्रुतिः । न हि वेदवादिनामणुमात्रम-प्यन्यथा कल्पनमुचितमित्याशंक्य परिहरति । दर्शयति श्रुतिरेव जडजीव धर्माणां भगवत्यभाव इति । "द्वेवाव ब्रह्मणोरूपे"इत्युपक्रम्य द्वेधा पंचभूता न्युक्त्वा "अथात् आदेशो नेति नेति" इत्याह । इति शब्दः प्रकरणवाची । ब्रह्म पंच महाभूतानि भवति । न त्वेवं प्रकारकम् तत साधयति । न भवत्येव ब्रह्म तादृशम् ।

हियुक्तोऽयमर्थः। एतस्माज्जातमिति। नहि कार्यकारणयोरेकः प्रकारो भवति। अतो नेति नेतीति प्रकारनिषेधोपसंहारः। स तु समवायित्व मात्रत्वम्। किन्त्वन्यत् परमस्तीति रूपं निरूप्य नाम निरूपयति "सत्यस्य सत्यम्" इति। तेन प्रपंचातिरिक्त ब्रह्मणो विद्यमानत्वात् प्रपंच धर्मवचनं तस्मिन्नौपचारिकमेवमुक्तम्। श्रुत्यैव तथा प्रतिपादनात् चकारः पूर्व युक्त्यनुसंधानार्थः। अथो इति प्रक्रम भेदोऽपि। अथात आदेश इति भिन्न प्रक्रमेणाह। श्रुतेरन्यार्थता निराकरणायाह। अपि स्मर्यते "अनादिमत परंब्रह्म न सत् तन्नासदुच्यत" इति सदसतोः क्षेत्रत्वात्। ज्ञेय निरूपणे निषेधः। प्रपंचधर्मा भगवति उच्यन्ते वेदादौ, नतु तद्धर्मा भवन्तीति ज्ञापयति। तस्माच्छ्रुतिस्मृतिभ्यामेव तथा निर्णयः।

पुनः प्रकारान्तर से विरोध प्रस्तुत करते हुए उसका निराकरण करते हैं। कहते हैं कि—ब्रह्म जगत् का कारण है, यह तो निश्चित ही है। वह समवायि और निमित्त दोनों ही कारण है। कारण की विशेषतायें ही कार्य में होती हैं। कार्य की विशेषतायें यदि कारण में न हों तो श्रुतिविरुद्ध कल्पना की भी जाय। काम आदि गुणों को तो श्रुति भी मानती है, वो ब्रह्म में संभव भी है। इसके विपरीत निषेध करने वाली श्रुति भी है। वेदवादियों को वेद के विरुद्ध अणुमात्र भी अन्यथा कल्पना करना उचित नहीं है। इसका परिहार करते हैं कि श्रुति ही परमात्मा में जडजीव धर्मों का अभाव बतलाती है। "द्वेवाव ब्रह्मणो रूपे" ऐसा उपक्रम करके अधिदैवत और अध्यात्म भेद से पंचभूतों का निरूपण करके "अथात आदेशोनेतिनेति" कहते हैं। इस प्रसंग में नेति शब्द प्रकारवाची है, जिससे तात्पर्य होता है कि समवायिकारण होने के कारण ब्रह्म स्वयं पंचभूत रूप होता हो सो बात नहीं है। ब्रह्म वैसा रूप वाला नहीं होता यही मानना सही है "एतस्माज्जायते" इत्यादि में स्पष्टतः उक्त बात का निषेध किया गया है। कार्य और कारण का एक प्रकार नहीं होता। इस प्रकार नेति नेति कहते हुए प्रकार निषेध करते हुए प्रसंग का उपसंहार किया गया है। द्वितीय नेति शब्द परमात्मा के समवायित्व मात्र का निषेधक है, उससे यह ध्वनित होता है कि वह केवल समवायि ही नहीं है कुछ और भी है। इस प्रकार प्रकरण में रूप का निर्णय करके "सत्यस्य सत्यम्" इत्यादि नाम का निरूपण करते है। इससे यह निर्णय हुआ कि प्रपंच से भिन्न ब्रह्म, प्रपंच जगत में विद्यमान तो है ही इसलिए प्रपंच सम्बन्धी विशेषताओं का उसके लिए जो प्रयोग किया जाता है वह औपचारिक है। श्रुति में ऐसा ही प्रतिपादन किया गया है। पूर्व युक्ति के अनुसंधान के लिए ही उक्त विचार प्रस्तुत किया गया है ऐसा सूत्रस्थ चकार से द्योतित होता है। सूत्रस्थ "अथोऽपि" पद सूचित करता है कि

इसमें प्रक्रम भेद भी है, अर्थात् श्रुति का अन्यार्थ नही है, ऐसे निराकरण के लिए उक्त पद का प्रयोग किया गया है। "अनादिमत् परं ब्रह्म" इत्यादि स्मृति भी है। इसमें ब्रह्म को सदसत् से विलक्षण कहा गया है। सदसत् में क्षेत्रत्व है, ज्ञेय के निरूपण में इनका निषेध है। वेदादि में, प्रापंचिक धर्मों को भगवान में बतलाया गया है, वे धर्म उनमें हैं ऐसा नहीं कहा गया है। श्रुति स्मृति दोनों से यही निर्णय होता है कि प्रापंचिक ब्रह्म में स्वाभाविक नही हैं, अपितु औपाधिक हैं।

अतएव चोपमा सूर्यकादिवत् ।३।२।१८॥

प्रपंचधर्मा भगवत्युच्यन्त इत्यत्र निदर्शनान्तरमाह। अतएव इममेव निर्णयमाश्रित्य "समः प्लुषिणा समो नागेन समोमशकेन सम एभिस्त्रिभिर्लोकैः समोऽनेन सर्वेण" इति निरुपमस्य भगवतो यदुपमानं तत् तद्धर्मसबंधात्। न चात्र स्वतंत्रता दृशधर्मवत्त्वं ब्रह्मणो वक्तुं युक्तम्। नन्विदमपि विरुद्धमित्याशंक्य दृष्टान्तमाह सूर्यकादिवत्। सूर्येण सहितंजलं सूर्यकम्। "यथा ह्ययं ज्योतिरात्मा विवस्वान् अपो भिन्ना बहुधैकोऽनुगच्छन्, एकधा बहुधा चैव दृश्यते जल चन्द्रवत्" इति यथेतर संश्लिष्टस्योपमानत्वमेवं, समः प्लुषिणेत्यपि। चकारस्तु विरोधाभावो वक्तव्योऽधिकरणंच सपूर्णमेकदेशिन इति सूचयति तस्माज्जड़जीव धर्माणां भगवत्युपचारो, निषेधस्तु मुख्य इति।

प्रपंच धर्म, भगवान के हैं, इस पर दूसरा निदर्शन प्रस्तुत करते हैं। उक्त निर्णय के आधार पर तो "समः प्लुषिणा समो नागेन" इत्यादि में निरुपम भगवान के जो उपमान दिए गए हैं वे उनके धर्म के संबंध से ही हैं। इससे तो यह निश्चित नहीं होता कि ब्रह्म ऐसा धर्मवाला स्वतंत्र है, यहाँ स्पष्ट विरुद्धता है। इत्यादि संशय पर दृष्टान्त देते हैं—"सूर्यकादिवत्" "जैसा कि सूर्य विभिन्न जलाशयों में अनेक रूप वाला दीखता है, तथा चंद्र एक होते हुए भी जलाधारों में अनेक दीखता है वैसे ही ये ज्योति स्वरूप आत्मा समस्त विश्व में प्रतिबिंबित है" इस उदाहरण में इतर संश्लिष्ट उपमान है उसी प्रकार "समः प्लुषिणा" इत्यादि में भी है। सूत्रस्थ चकार विरोधाभाव तथा सारा अधिकरण एकदेशीय है, इसका सूचक है। इससे निश्चित होता है कि जडजीव के धर्म भगवत्संबंध में औपचारिक हैं, उनका निषेध ही मुख्य है।

अम्बुवदग्रहणात्तु न तथात्वम् ।३।२।१९॥

मुख्य सिद्धान्तं वक्तुमेकदेशिनं दूषयति । तु शब्दस्तथा सिद्धान्तं व्यावर्तयति । तथात्वं समवायातिरिक्तस्य तद्धर्मयोगात् जडजीव धर्मयोगात् सर्वकामत्वादयो न भवंति, कुतः ? अम्बुवदग्रहणात् सर्वपरस्य हि प्रतिबिम्बेऽधिकरण धर्मवत्त्वम् । तन्न रूपरहितं तत्र विद्यमानं च न प्रतिबिम्बत इति वक्तव्यम् । तथापि स्वमतविरोधादम्बुवदग्रहणमिति । स्वच्छमम्बू प्रतिबिम्बं गृहणाति. नहि तथा धर्माग्रहीतुं शक्नुवन्ति । धर्मत्वाच्च, सर्वाधारत्वेन तथोच्यमाने वैयर्थ्यमिति पूर्वमवोचाम् । न च भ्रमात्, कल्पनं वेदेनोच्यते, अप्रतारकत्वात्, सर्वज्ञत्वाच्च । विप्लवादिनं एनं वचनं, न वैदिकस्य । पृथिव्यां तिष्ठन्नित्यादि विरोधश्च । तस्माद् ब्रह्म धर्माएव सर्वकामादयो न तूपाधिसंबंधौपचारिका इति ।

मुख्य सिद्धान्त बतलाने के लिए एक देशीय मत का निराकरण करते हैं । तु शब्द उपर्युक्त सिद्धान्त की विरुद्धता का सूचक है । उक्त सिद्धान्त मानने वाले, सर्वकामत्व आदि धर्मों को जो समवायि से भिन्न, जडजीव के योग से मानते हैं, वो असंगत है । जल और प्रतिबिम्ब का जो उदाहरण परमात्मा और जगत के संबंध में दिया गया वो भी असंगत है । समस्त जगत में, परब्रह्म के प्रतिबिम्ब को मानते हुए, आधार धर्मवाला मानना, एक देशीय मत है । रूपरहित ब्रह्म का, रूपवान जगत में प्रतिबिम्बित होना संभव नहीं है । वे लोग तो ब्रह्म और जगत को विलक्षण मानते हैं और फिर स्वयं ही अपने मत से विरुद्ध, जल प्रतिबिम्ब का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं, ये समझ में नहीं आता । दूसरी बात ये है कि स्वच्छ जल ही प्रतिबिम्ब ग्रहण कर सकता है । जल और जगत का ऐक्य हो भी नहीं सकता । जगत, जल के समान स्वच्छ तो है नहीं, फिर वह स्वच्छतम परमात्मा के धर्मों को कैसे ग्रहण कर सकता है ? और फिर तीसरी बात ये है कि ये जगत तो परमात्मा का ही कार्य है, कार्य में समवायिकारण का प्रतिबिम्ब कहीं भी देखा नहीं जाता । परमात्मा को सर्वाधार मानते हुए, फिर उन्हें जगत में प्रतिबिम्बित मानना, यह तो निरर्थक मत है, ऐसा हम पहिले भी कह चुके हैं । वेद से ऐसी भ्रमात्मक कल्पना नहीं की जा सकती, क्योंकि वेद, अप्रतारक (स्वयं अपने विरुद्ध न बोलने वाले) और सर्वज्ञ हैं "यथा ह्ययं ज्योतिरात्मा" इत्यादि वचन विप्लवादियों के ही हैं, वैदिक नहीं हैं । उक्त मत को मानने से "पृथिव्यांतिष्ठन्" इत्यादि वेद वचन से विरोध भी होता है । इससे निश्चित होता है कि सर्वकाम आदि गुण ब्रह्म के ही हैं । वे गुण उनमें औपाधिक या औपचारिक हों सो बात नहीं है ।

वृद्धि ह्रासभाक्त्वमन्तर्भावादुभयसांमजस्यादेवम् ।३।२।२०।।

सिद्धान्तेन विरोध परिहारमाह। विरोधो हि परिहारणीयः लोकवेदाभ्यां तदनुसारेण। "महानवकाशोऽल्योऽवकाशो, यथावकाशं" दश चमसान्" इति लौकिक वैदिक व्यवहारो वस्तु धर्म विरुद्धो दृश्यते। व्यापकत्वं वृद्धिह्रासौ च आकाशस्यैव। तत्र यथा करके प्रविष्ट आकाशस्तथा व्यपदिश्यते। तथा सत्युभय सामंजस्यम् भवति। अन्यथा एकतरबाधो भवति। एवं तत्तद्नुप्रवेशात् ब्रह्माऽप्येवम्। न चौपाधिकत्वम्, जपाकुसुम लौहित्यवदन्यधर्मत्वाभावात्। अन्यानुविधायित्वेऽपि स्वधर्मा एव ते, कारणत्वादिवत्।

न चागन्तुकत्वात् तद्धर्मा एव न भवतीति वाच्यम्। अन्य धर्मत्वे प्रमाणाभावात्। तद्गतत्व प्रतीतेश्च दृष्टत्वाच्चाविरोधः अविरोध प्रकारोऽयम्। यथोभय सांमजस्यं भवति प्रकारोऽपि तस्यैव तथा वक्तव्यः। तस्माद् यथा आकाशस्य वृद्धि ह्रासभाक्त्वं करकादिष्वन्तर्भावात् तथैवोभय सामंजस्यादेवं ब्रह्मापि वृद्धिह्रास पदेन शरीरे आकाश जीवयोरेकमुदाहरणं बोधयति।

सिद्धान्तानुसार विरोध का परिहार करते हैं। लोक वेदानुसार विरोध का परिहार करना चाहिए। महान अवकाश, अल्पावकाश यथावकाश आदि लौकिक "दशचमसान्" इत्यादि वैदिक व्यवहार, वस्तु धर्म से विरुद्ध देखे जाते हैं। व्यापकत्व, वृद्धि और ह्रास आकाश के ही बतलाये गए हैं वस्तुतः आकाश तो शून्य होता है उसमें बड़े छोटे का प्रयोग तो औपचारिक मात्र है, जैसे कि करक में प्रविष्ट आकाश उसी परिमाण का कहा जाता है। इस प्रकार का विचार करने से परमात्मा सम्बन्धी विलक्षण गुणों का सामंजस्य हो जाता है। अन्यथा एक पक्ष का बाध हो जाता है। जैसे आकाश विभिन्न स्थलों में विभिन्न परिमाण वाला कहलाता है, वैसे ही ब्रह्म भी विभिन्न स्थलों में प्रविष्ट होकर विभिन्न नामवाला होता है। ब्रह्म और जागतिक पदार्थों की औपाधिक एकता नहीं हैं। इनकी एकता तो जपाकुसुम और उसकी लालिमा के समान वास्तविक है। जैसे कि जपाकुसुम में अन्य धर्मत्व का अभाव है, वैसे ही जगत में भी अन्य धर्मत्व का अभाव हैं। सर्वकाम आदि गुणो का औरों के लिए प्रयोग किया जाता है, फिर भी वे परमात्मा के ही गुण हैं, क्योंकि सबके कारण तो वे ही हैं। ये भी नहीं कह सकते कि औरों के लिए प्रयोग किये गए वे धर्म आगन्तुक हैं, इसलिए वे परमात्मा के नहीं हैं। वास्तव में इन विशेषताओं को, परमात्मा के अतिरिक्त किसी अन्य का माना गया हो, ऐसा प्रमाण भी नहीं मिलता। इन गुणों की परमात्मगत प्रतीति भी होती है और प्रत्यक्ष देखा भी जाता है कि ये विशेषतायें

हरेक में नहीं होती, इसलिए विरोध समाप्त हो जाता है। अविरोध का यही प्रकार है। जिससे दोनों प्रकार की विशेषताओं का सामंजस्य हो सके वैसे ही प्रकार की योजना करनी चाहिए। जैसे कि आकाश के वृद्धि और ह्रास कहने मात्र को है, करक आदि में निहित होने के कारण उसकी विभिन्न संज्ञायें होती है, वैसे ही ब्रह्म भी वृद्धिह्रास आदि से रहित होते हुए भी जगत के विभिन्न पदार्थों के आकारों में व्याप्त है, इसी से उसकी उभयविध विशेषताओं का समाधान हो जाता है।

दर्शनाच्च ।३।२।२१॥

हेत्वन्तरमाह भगवति सर्वे विरुद्धधर्मा दृश्यन्ते न हि दृष्टेऽनुपपन्नंनाम, व्याघातात्। तादृशमेव ब्रद् वस्त्विति त्वध्यवसायः प्रामाणिकः। चकारादुलूखल-बंधनादि प्रत्यक्षमेवोभयसाधकं दृष्टमिति। अथो अमुष्यैव ममार्भकस्येति च। तस्मात् श्रुतिस्मृतिप्रत्यक्षैः सर्वविरुद्ध धर्माश्रयत्वेन ब्रह्म प्रतीतेर्न विरोधः।

उक्त समाधान में दूसरा हेतु प्रस्तुत करते हैं। भगवान में सारे विरुद्ध धर्म देखे जाते हैं, फिर भी वे सब उनमें असंगत नहीं होते, उसका कारण ये है कि परमात्मा वस्तु के अनुसार वैसा ही अध्यवसाय करते हैं, जैसे कि उलूखलबंधन आदि लीलाओं में उन्होंने स्वल्पता और महत्ता, दोनों ही प्रकारों को व्यक्त किया। फिर भी यशोदा उनको अपना अबोध बालक ही मानती रहीं। इस प्रकार हम देखते हैं कि श्रुतिस्मृति में परमात्मा को विलक्षण गुणों वाला दिख-लाया गया है, इसलिए उनमें विरुद्धता का प्रश्न ही नहीं उठता।

प्रकृतैतावत्वं हि प्रतिषेधति ततो ब्रवीति च भूयः ।३।२।२२॥

परमार्थतो विरोधं परिहृत्य युक्त्यापि प्रतिषेधति। ननु सर्व विशेष धर्माणां अस्थूलादिवाक्यैर्निषेधात् कथमविरोधः प्रत्येतव्य इति चेत्? तत्राहततोब्रवीति च भूयः, तत्रैववाक्ये पूर्व निषेधति तस्मिन्नेव वाक्ये पुनस्तमेव विधत्ते "यतोवाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह, आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्" इति। तथा अस्थूल वाक्येऽपि" एतस्यैव प्रशासने गार्गि, एतद् विदित्वा, आकाश ओतश्च प्रोतश्च" इति। चकारादेकवाक्योपाख्यानभेदौ संगृहीतौ। सर्वत्र लौकिकं प्रतिषेधत्य-लौकिकं विधत्ते इति युक्तया निर्णयः। तस्माद् युक्त्याप्यविरोध।

परमार्थ रूप से विरोध का परिहार करके अब युक्ति से भी करते हैं। यदि कहें कि परमात्मा के समस्त विशेष धर्मों का अस्थूलादि वाक्य से निषेध कर

दिया गया फिर अविरोध का निर्णय कैसे करते हैं ? उसका उत्तर सूत्रकार देते हैं।

प्रकृतैतावत्वं हि प्रतिषेधति। प्रकृते यदेतावत् परिदृश्यमाना यावन्तः पदार्था लौकिकास्तेषामेव धर्मान् निषेधति। प्रतीतस्यैव हि निषेधात्। अतोजगद्वैलक्षण्यमेवास्थूलादि वाक्यैः प्रतिपाद्यते नतुवेदोक्ता ब्रह्म धर्मा निषेद्धुं शक्यते। कुत एतदवगम्यते ?

उक्त गार्गि प्रश्न के प्रसंग में लौकिक दीखने वाले जितने भी पदार्थ हैं, उन्हीं के धर्मों का निषेध किया गया है। प्रतीत का ही निषेध हो सकता है। अस्थूलादि वाक्य में, जगद् से विलक्षण रूप का प्रतिपादन किया गया है, वेदोक्त ब्रह्म धर्मों का निषेध करना तो संभव ही नहीं है। यदि पूछें कि ये कैसे जाना ? उस पर सूत्रकार कहते हैं—तत्राह "ततो ब्रवीति च भूयः" अर्थात् उसी वाक्य में पहिले तो निषेध किया गया है किन्तु बाद में उसी का समाधान भी किया गया है जैसे कि "जिसे वाणीमन सहित पा नहीं सकी लौट आई, आनन्द ब्रह्म को जानकर विद्वान किसी से नहीं डरता ' इत्यादि, इसी प्रकार अस्थूल वाक्य में भी" हे गार्गि ! इसी के प्रशासन में इसे जानकार-आकाश इसी में ओत प्रोत है" इत्यादि। एक ही वाक्य में, उपाख्यान भेदों का संग्रह किया गया है। सभी जगह लौकिक धर्मों क. प्रतिषेध और अलौकिक धर्मों का समर्थन है, इसी युक्ति से निर्णय करना चाहिए, युक्ति से भी अविरोध सिद्ध हो सकती है।

तदव्यक्तमाह हि।३।२।२३॥

शब्दबल विचारेण विरोधं परिहृत्यार्थबलविचारेणाविरोध प्रतिपादनायाधिकरणमारभते। सर्वाणि विरुद्धवाक्यान्युदाहृत्य चिन्त्यन्ते।" न चक्षुषागृह्यते, "कश्चिद् धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षत्," "नापिवाचा," सर्वे वेदायद्पदमामनन्ति अप्राप्य मनसा सह," "मनसैवैतदाप्तव्यम्," अस्पर्शमगंधमरसम् "सर्वरूपः सर्वगंधः सर्वरसः" "अपाणिपाद" इत्यादि। "विश्वतश्चक्षुः" इत्यादि। "निर्गुणश्च" "यः सर्वज्ञः सर्वशक्तिः" "इत्यादि विरुद्ध वाक्यानि। न हि वस्तु द्विरूपं संभवति। वाक्यद्वयमपि प्रमाणम्। तथा सति प्रमाणान्तरानुरोधेनैकस्य स्वार्थे प्रामाण्यमन्यस्योपचरितार्थत्वमिति युक्तम्। तत्र प्रत्यक्षानुरोधेन निर्णयो विचार्यते। तत्र पूर्वपक्षमाह-तदव्यक्तम्। तद् ब्रह्म अव्यक्तमेव भवितु मर्हति। कुतः ? आह हि श्रुति प्रत्यक्षाभ्याम्। "नेतिनेत्यात्मा अग्राह्यो" "न हि गृह्यत्" इति। न हि गृह्यत इति अनुभव साक्षिकं प्रमाणं

श्रुतिराह। न हि केनचिदपि चक्षुषा मनसा वा ब्रह्म दृष्टमस्ति। सर्वरूपत्वे हि सर्वैरेव द्रष्टुं शक्येत। तस्मात् सर्व धर्मवत्वेन प्रतिपादकान्युपचरितार्थान्येव। अनुभवविरोधादित्येवं प्राप्तम्।

शब्द बल के विचार से विरोध का परिहार कर अब अर्थ बल के विचार से अविरोध का प्रतिपादन करने के लिए अधिकरण का प्रारम्भ करते हैं। सभी विरुद्ध वाक्यों को प्रस्तुत करते हुए विचार करते हैं जैसे कि "नेत्र से नहीं देख सकते," कोई धीर ही प्रत्यगात्मा को देखता है," "वाणी से नहीं कह सकते," सारे वेद जिस पद को प्राप्त करते है," "मनसहित-न पाकर," "इसे मन से ही जान सकते हैं," "यह अस्पर्श, अगंध और अरस है," वह सर्वरूप, सर्वगंध और सर्वरस है," उसके हाथ पैर नही फिर भी दौड़कर पकड़ता है "इत्यादि," विश्व के नेत्रों से देखने वाला "निर्गुण भी," जो सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान है, इत्यादि विरुद्ध वाक्य हैं। वस्तु दो रूपों वाली तो हो नहीं सकती। वाक्य दोनों प्रकार के ही प्रामाणिक हैं। इसका निर्णय तो ऐसे ही सकता है कि दोनों में से एक को वास्तविक प्रमाण माना जाये और दूसरे को औपचारिक। प्रत्यक्ष प्रमाण जिसके पक्ष में हो उसी के पक्ष में निर्णय करना चाहिए। इस पर पूर्वपक्ष वाले कहते हैं कि वह ब्रह्म अव्यक्त ही हो सकता है, श्रुति और प्रत्यक्ष दोनों से ही उसकी अव्यक्तता सिद्ध है। "आत्मा ऐसा भी नहीं, ऐसा भी नहीं, वह तो अग्राह्य है" इस वैदिक उक्ति को ही हम प्रत्यक्ष में चरितार्थ पाते है क्योंकि हम परमात्मा को पकड़ नहीं पाते। आज तक किसी ने भी नेत्र या मन से ब्रह्म को देखा नहीं है। यदि वह जगत की तरह सर्वरूप होता तो सबसे देखा जा सकता। इसलिए, परमात्मा का जो सर्वधर्म रूप से प्रतिपादन किया गया है वह औपचारिक है। अनुभव से विरुद्ध होने से ऐसा ही निश्चित होता है।

अपि संराधने प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् ।३।२।२४।।

अपीति पूर्वपक्ष गर्हायाम्। सर्वथा मूर्खः पूर्वपक्षवादी यतः संराधने, सम्यक् सेवायां भगवत्तोषेजाते दृश्यते। 'श्रद्धाभक्ति ध्यानयोगादवेहि' यमेवैष वृणुते तेनलभ्यः 'भक्त्यात्वनन्यय‍ाशक्य अहएवंविधोऽर्जुन' ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्वेन प्रवेष्टुं च परंतप 'इति। द्विविधमपि रूपं दृश्यते। ततस्तु 'तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः 'अनेकबाहूदर वक्त्रनेत्रं पश्यामित्वां सर्वतोऽनन्तरूपम्' 'इति। संराधकस्य स्वानुभवो ध्रुवादीनामुपपादकत्वंच। तस्मात् प्रत्यक्षानुमानाभ्यां, श्रुति स्मृति,

र्भ्यां वा ब्रह्म साकारमनन्तगुणपरिपूर्णं चेति नाव्यक्तमेवैति निश्चयः ! अतो लौकिका लौकिक प्रत्यक्ष विषयत्वादुभयवाक्यार्थ रूपमपि ब्रह्म ।

सूत्रस्थ अपिशब्द पूर्वपक्ष की गर्हणा कर रहा है। उससे द्योतित होता है कि—पूर्वपक्षवादी पूर्णरूप से व्यामोहित है, क्योंकि—संराधना अर्थात् विधिवत सेवा से भगवान के प्रसन्न हो जाने पर उनको देखा जा सकता है। 'श्रद्धा भक्ति और ध्यान योग से प्राप्त करो' जिसे प्रभु वरण करते हैं, उन्हीं से वे प्राप्त हैं, 'अर्जुन ! मेरे इस रूप को अनन्य भक्ति से ही देखा जा सकता हैं, इत्यादि से निश्चित होता है कि वह सगुण निर्गुण रूप होते हुए भी दृश्य हैं। जैसा कि 'ध्यान करने वाला उस निराकर को देखता है 'मैं आपको सब जगह अनेक हाथ, पेट, मुख और नेत्रों वाले अनंत रूपों को देख रहा हूँ' इत्यादि वाक्यों से स्पष्ट है। संराधक के स्वानुभव और ध्रुव आदि के उदाहरण से उक्त कथन की पुष्टि हो जाती है। प्रत्यक्ष और अनुमान, तथा श्रुति और स्मृति सभी से यही निर्णय होता है कि ब्रह्म, सगुण साकार है, अव्यक्त नहीं है। लौकिक अलौकिक दोनों ही रूपों का प्रत्यक्ष होने से, ब्रह्म का जो रूप उभयविध वाक्यों में कहा गया वह ठीक है।

प्रकाशादिवच्चावैशेष्यं प्रकाशश्च कर्मण्यभ्यासात् ।३।२।२५।।

पुनः प्रकारान्तरेण पूर्वोक्तमेव स्थिरीकर्त्तुमधिकरणन्तरमारभाते । तत्र सूत्रद्वयेन पूर्वपक्षद्वयमाह । ननु प्रत्यक्षानुरोधेनोभयविधवाक्य समाधानं नोपपद्यते वक्तुशत्क्यैव निर्णय उचितः । न तु श्रुतिप्रत्यक्षाभ्याम् । यथा प्रकाशजलसुवर्णा दीनामनेकविधत्वं नांगीक्रियते । सूर्यचन्द्रमणिप्रकाशादिषूष्णसीतानुभवरूप स्पर्शाः प्रतीयन्ते न हि तेजसि तावन्तः स्पर्शा अंगी क्रियन्ते । जले च हिमतप्त कुण्डादिषु तथा सुवर्णे वर्णभेदाः । न हि सर्वे स्वाभाविकाः । तेजस्त्वादि स्वभाव-हानि प्रसंगात् । तथा ब्रह्मणोऽप्यवैशेष्यमंगीकर्त्तव्यम् । निर्विशेषं हि ब्रह्मेति सर्व प्रसिद्धिः । चकारादेवं साधका अग्राह्यो न हि गृह्यत इत्येवमादयः । ननूक्तं भक्तस्य तथा साक्षात्कारात् तादृश श्रुतेश्च नैकविधत्वमंगीकर्त्तुं शक्यत इति । नैष दोषः । प्रकाशश्च कर्मणि तपः प्रणिधानादिकर्मणि भगवतः प्रकाशः । तत्र यथा तेषां कामस्तथा प्रकटीभवति चकारादप्रकाशान्यथा प्रकाशौ । तत्र हेतुः अभ्यासादावृत्तेः यद्येकवारं प्रकटः स्यात् तदातत्तद्रूपत्व-मंगीक्रियेतापि । प्रतिभक्तं प्रतिकर्म चाविर्भावः । अतः प्रकाशोऽपि कृत्रिम एवं, दीपप्रकाशवत् । अन्यथा सर्वदा स्यात् । तस्मान्न भक्त प्रत्यक्षेण निर्णयः ।

पुनः प्रकारान्तर से पूर्वोक्त बात की पुष्टि करने के लिये दूसरा नया अधिकरण प्रारम्भ करते हैं। उपर्युक्त दो सूत्रों से दो पूर्व पक्षों को दिखलाया गया। अब संशय करते हैं कि—प्रत्यक्ष प्रमाण के आधार पर उभयविध वाक्यों का समाधान नहीं हो सकता। वाक्य शक्ति से ही निर्णय करना उचित है। जैसे कि—प्रकाश, जल, सुवर्ण आदि के प्रकार नहीं माने जा सकते। सूर्य कान्तमणि चन्द्रकान्तमणि, प्रकाशादि में जो उष्ण, शीत आदि स्पर्श की अनुभूति होती है, तेज में वैसे स्पर्श की अनुभूति नहीं होती। जल में हिम तप्तकुण्डादि में स्पर्शानुभूति होती है, तथा सुवर्ण में अनेक वर्ण होते हैं। ये सब स्वाभाविक नहीं है। वैसे ही ब्रह्म का अवैशेष्य मानना चाहिये, निर्विशेष ब्रह्म की ही सर्वत्र प्रसिद्धि है।' अग्राह्यो न गृह्यत' इत्यादि वाक्य उक्त तथ्य की ही पुष्टि करते है जो यह कहा कि—भक्त आराधना द्वारा प्रभु का साक्षात्कार करता है ऐसा श्रुति का प्रमाण है, इसलिए एक मात्र निर्विशेष स्वरूप को ही नहीं मानना चाहिए। सो तो बात यह है कि—तप प्रणिधान आदि कर्म में भगवान का प्रकाश होता है, जिस भक्त की जैसी कामना होती है, प्रभु उसके समक्ष वैसे ही रूप से प्रकाशित होते हैं। कभी-कभी भक्त को प्रकाश दीखता भी नहीं कभी दूसरे प्रकार का प्रकाश दीखता है, ये तो अभ्यास के ऊपर निर्भर करता है। जिसका जैसा अभ्यास होगा वैसी अनुभूति होगी। जिसके सामने जो रूप एक बार प्रकाशित हुआ भक्त उसी रूप को स्वीकार कर पुनः पुनः उसी रूप को प्राप्त करने के लिए अभ्यास करता है। हर भक्त की अपनी अलग-अलग प्रक्रिया होती है उसी के अनुरूप प्रकाश का आविर्भाव भी होता है। इससे निश्चित हुआ कि ये प्रकाश कृत्रिम होता है, जैसा कि—दीप का प्रकाश। यदि ऐसा नहीं है तो, वो प्रकाश सदा रहना चाहिए। इसलिये भक्त के प्रत्यक्ष से परमात्मा के स्वरूप का निर्णय करना उचित नहीं है।

अतोऽनन्तेन तथाहि लिंगम् ।२।२।२६।।

फलितमाह—अतः, अभ्यासादनन्तेन अनंत रूपेण अविर्भावः। न ह्येकंवस्तु प्रतिक्षणमन्यादृशं भवति निमित्त भेद व्यतिरेकेण। क्वचिद् भक्त कामश्च निमित्तत्वेन प्रतीयते। न हि निमित्त भेदेन जायमानं वस्तु भवति। किन्तु तथा मति लिंगं विग्रह एव भवति। युक्तश्चायमर्थम। 'यद्धिया त उरुगाय विभावयन्ति तत्तद् वपुः प्रणयसे सदनुग्रहाय 'इति अतः श्रुत्या प्रत्यक्षेण वा तथा निर्णयः कर्त्तुं शक्यः। तस्मात् सर्वागोचरमेव ब्रह्मत्येवं प्राप्तम्।

अभ्यास से भगवान का अनन्त रूप से आविर्भाव होता है, निमित्त भेद से कोई वस्तु प्रतिक्षण रूप नही बदलती है, कभी ही भक्त की कामनानुसार निमित्त रूप से प्रतीत होती है। निमित्तभेद से जायमान वस्तु नहीं होती अपितु विग्रह ही होती है (अर्थात् जायमान प्रकाश में विभिन्नता नहीं होती अपितु विग्रहों में विभिन्नता होती है) यही विचार सही है। जैसा कि वर्णन भी है 'जो जिस बुद्धि से परमात्मा की आराधना करता है, उसके प्रणय के अनुसार कृपा करके परमात्मा, वैसे ही शरीर धारण करते है इसलिए श्रुति और प्रत्यक्ष से उक्त निर्णय हो सकता है इससे, निश्चित होता है कि ब्रह्म, सर्वसाधारण से गोचर नहीं है।

उभय व्यपदेशात् त्वहिकुण्डलवत् ।३।२।२७।।

तु शब्दः पक्षंव्यावर्त्तयति। नैवं केवल युक्त्या लोक दृष्टान्तेन निर्णयः शक्यते कर्त्तुं, अन्यथेदं शास्त्रं व्यर्थमेव स्यात्। अत्रहि वेदादेव ब्रह्मस्वरूपज्ञानम् ततकथं स्वरूप शक्त्या निर्णयः ? ब्रह्म तूभयरूपम् उभय व्यपदेशात्, उभय रूपेण निर्गुणत्वेनानन्तगुणत्वेन सर्व विरुद्ध धर्मेण रूपेण व्यपदेशात्। तर्हि कथमेकं वस्त्वनेकधा भासते ? तत्राह—अहिकुण्डलवत्—यथा सर्प ऋजुरनेकाकारः कुण्डलश्च भवति तथा ब्रह्म स्वरूपं सर्वप्रकारं भक्तेच्छया तथा स्फुरति। कल्पनाशास्त्रे होदं बाधकम्—अनेक कल्पनागौरवं चेत। न तु केवलं श्रुत्येकसमधिगम्ये। नचशास्त्र वैफल्यम्, एवं साधनार्थत्वात्। अत्रैव हि सूरिव्यामोहादन्यशास्त्रोत्पत्ति। अतः सर्वविरुद्ध धर्माणां आश्रयो भगवान न हि प्रमाणश्रुत दृष्टे अनुपपत्तिरस्ति यदर्थं युक्तयपेक्षा। लोकेऽपि शरीरान्तःकरणादीनि परस्पर विरुद्ध दयामारकत्वादीनि विषय भेदेनैकस्मिन् क्षणे प्रतीयन्ते। तस्मात् सकल विरुद्धधर्मा भगवत्येव वर्त्तन्त इति न कापि श्रुति रुपचरितार्थेति सिद्धम्।

तु शब्द से उपर्युक्त पक्ष का निरास करते है। केवल युक्ति या लोक दृष्टान्त से निर्णय नहीं किया जा सकता। ऐसा करने से शास्त्र वचन विफल हो जावेंगे। वेद से ही ब्रह्म स्वरूप का सही ज्ञान होता है। ब्रह्म दोनों ही प्रकार के रूपों का है, उसके दोनों ही प्रकार के रूपों का स्पष्टोल्लेख है, निर्गुण और अनंत गुण, जोकि परस्पर विरुद्ध है, दोनों ही भगवान् के धर्म कहे गये हैं। एक ही वस्तु अनेक कैसे हैं ? इस पर सूत्रकार कहते हैं—जैसे सर्प के दो रूप

होते हैं, जैसे वह कभी लम्बा फैलकर एक आकार का प्रतीत होता है और कभी अनेक लपेटों में विभिन्न आकारों का प्रतीत होता है, वैसे ही ब्रह्म भी, भक्त को कामनानुसार अनेक आकारों मे स्फुरित होता है। ये दृष्टान्त, कल्पना शास्त्र और अनेक क्लिष्ट कल्पनाओं का निराकरण करता है, केवल श्रुति से तो शास्त्र कल्पनाओं का निराकरण होता नहीं। इस प्रकार विचार करने से वचन भी सार्थक सिद्ध होता है। इस स्थान पर ही विद्वान मनीषी व्यामोह में पड़ जाते है और अनेक काल्पनिक शास्त्रों की रचना कर बैठते है। उक्त प्रमाण से निश्चित हुआ कि समस्त विरुद्ध धर्मो के आश्रय भगवान है। सही बात तो ये है कि जब श्रुति प्रमाण से समस्या का हल न हो, तब तो युक्ति का सहारा लिया जा सकता है, अन्यथा युक्ति की क्या अपेक्षा है? प्रायः लोक में भी देखा जाता है कि—एक ही व्यक्ति एक ही समय परिस्थिति वश दया क्रूरता आदि परस्पर विरुद्ध व्यवहार शरीर और मन मे करता है। फिर भगवान में विरुद्धताओं को मानने में कौन-सी अड़चन है, उनमें दोनों बातें विद्यमान है, श्रुति का कथन नितान्त सत्य है।

प्रकाशाश्रयवद्वा तेजस्त्वात् ।३।२।२८।।

धर्मरूप विचारेण पूर्वोक्त पक्ष द्वयं स्थापयितुमधिकरणारम्भः ननु धर्मा नाम के ब्रह्मणो भिन्नास्तत्कार्यरूपा आहोस्वित् ब्रह्मैवेति संशयः? तत्र लोके कार्यस्यैव पट रूपादेस्तद्धर्मत्वात् समवेतत्वात् तन्नित्यतायां प्रमाणाभावात् स्वाभाविकत्वमात्रेण नित्यत्वकल्पनायां गौरवापत्तेः 'एक मेवाद्वितीयम्' इति श्रुति विरोधाच्च। धर्माः प्रपंचवत् कार्याः। तथासति ब्रह्म सर्वकल्पना रहितमेव सेत्स्यतीत्येवं प्राप्ते इदमुच्यते—'प्रकाशाश्रयवद्वा' शब्द पक्षं व्यावर्त्तयति, यथा प्रकाशाश्रयाः सूर्योदयः प्रकाशेन न भिन्नाः पृथक् स्थित्यभावात्, समवेतत्वाच्च, मूलविच्छेद रूपेण तदाधारतयास्थितत्वाच्च। नापि सूर्य एव, भिन्न प्रतीतेर्विद्यमानत्वाच्च, तादृशमेव तद् वस्तूत्पत्ति सिद्धिमिति मंतव्यम्। कल्पनायामपि यथा सूर्यप्रकाशयोः कल्पना एवं ब्रह्म धर्मयोरपि न ह्यन्यथा वेदे प्रवृत्ति निषेधशेषता सत्यज्ञानानन्ताऽनंद पदानां सामानाधिकरण्यं वा संभवात्। लक्षणायांतु सुतरामेव धर्मापेक्षा। अतो विशिष्ट पदार्थ एव तादृशो वेद सिद्ध इति मंतव्यम् तत्र हेतुः? तेजस्त्वात्, तेजः शब्द वाच्यत्वात्। बहुदूरव्याप्त्यर्थमेव हेतु रुक्त; आतपादेर्धर्मत्वेन धर्मित्वेन च प्रतीतेः। अपूर्ववदेत्र दृष्टत्वात् श्रुतत्वाच्च न धर्मेष्वपि युक्त्यपेक्षा। तस्मात् सिद्धम् यथा श्रुतमेव ब्रह्मेति।

धर्म के विचार से पूर्वोक्त दोनों पक्षों को स्थापित करने के लिये नया

अधिकरण प्रारम्भ करत हैं। संशय करते है कि—धर्म क्या भगवान से भिन्न उनके कार्य हैं अथवा ब्रह्म से अभिन्न है ? लोक में तो पट रूप आदि कार्यों को ही धर्म कहा जाता है, विभिन्न सूत्रों के समवेत रूप को ही धर्म कहते है, परन्तु वह समवेत रूप नित्य हों ऐसा कोई प्रमाण नहीं मिलता, यदि स्वाभाविक मानकर उन्हे नित्य माना जाय तो वह क्लिष्ट कल्पना होगी और ब्रह्मपक्ष में 'एकमेवाद्वितीयम्' इस अद्वैत श्रुति से विरुद्धता होगी। ब्रह्म धर्मों को प्रपंच की तरह कार्य मानने सें, ब्रह्म समस्त कल्पनाओं से रहित हो जायगा ! इस मत पर कहते हैं कि जैसे प्रकाश के आश्रय सूर्य आदि प्रकाश से भिन्न नहीं है, उनको पृथक् स्थिति दीखती भी नहीं एक साथ ही उनकी प्रतीति होती है, अविच्छिन्न रूप से अपने मूल आधार में ही प्रकाश रहता है। सूर्य भी प्रकाश के बिना कभी नहीं देखा जाता, इससे यही मानना चाहिए कि—वह वस्तु वैसी ही (प्रकाशवान ही) होती है। जैसी सूर्य प्रकाश की स्थिति है 'वैसी ही ब्रह्म और उसके धर्म की भी है। यदि स्वाभाविक धर्मवत्ता न मानकर ब्रह्म को सर्व विशेष शून्य मानेंगे तो 'अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद् ऋग्वेद 'इत्यादि जो चेतन धर्मरूपा वेद प्रवृत्ति का उल्लेख हैं, वह निरर्थक सिद्ध होगा। तथा 'अथात् आदेश' इत्यादि में जो, पराभिमत निषेधशेषता का उल्लेख किया गया है, वह भी निरर्थक होगा। इसी प्रकार 'सत्य ज्ञानमनन्तं ब्रह्म 'जो स्वरूप-लक्षण श्रुति है उसकी तथा 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' इत्यादि श्रुति की जो सत्यादि-पदों की एक वाचकता है, वह भी नहीं होगी। यदि कहें कि हम लक्षणा द्वारा उक्त असंभावनाओं का परिहार कर लेंगे, सो भी संभव नही होगा क्योंकि—लक्षणा में तो धर्म की अपेक्षा अनिवार्य होती है। इसलिए यही मानना चाहिए कि वेद, धर्म विशिष्ट ब्रह्म को ही मानते हैं। श्रुति में ब्रह्म को तेज स्वरूप कहा गया है जैसे कि—"तद्देवा ज्योतिषां ज्योतिः' 'भारूप तस्य-मासा सर्वमिदं विभाति' इत्यादि। इसमें ज्योति धर्म वाले ब्रह्म का निरूपण किया गया है, इनका ये धर्म सूर्य के प्रकाश व्यापकता तथा तिरोभाव दशा में उनकी दूर से ही व्याप्ति रहती है। जैसे कि सूर्य की धूप दूर से ही लोगो को तप्त करती है वैसे ही परमात्मा का प्रकाश जगत को तेज प्रदान करता है। उनके उस तेज को लोग अनुभव करते हैं, 'वेद भी उनके तेज स्वरूप का वर्णन करते हैं, इसलिए इसमें युक्ति की कोई अपेक्षा नहीं है। ब्रह्म, वेद में जैसा कहा गया है, वैसा ही है, यही सिद्ध होता है।

पूर्ववद् वा ।३।२।२६।।

एक दैशिक मतेनापि सर्व समाधानमाह अथवा अरूपवदेव हीत्यादि पंच-सूत्र्या यः सिद्धान्तः कथितस्तादृशंवा ब्रह्म प्रतिपत्तव्यम्। अयमाशयः, वेदस्थापनार्थं हि प्रवृत्तिः तत्र यथा अक्षरमात्रस्यापि बाधो नभवति तथा वक्तव्यम्। यदर्थमुभय रूपता अंगीकृता तत्र धर्माणां स्वरूपनिर्वाहार्थमवश्यं ब्रह्म वैलक्षण्य मंगीकर्त्तव्यम्। तथा सति 'एकमेवाद्वितीयमिति बाधः प्रसज्येत्। तथा चोत्पत्त्या विचारे निर्द्धर्मकमेव पूर्व-ब्रह्मेति प्रतिपत्तव्यम्। उपपत्यापि विचारः पूर्वानुरोधे नैव कर्तव्यः : तत्र धर्माणामापि ब्रह्मत्व 'एक विज्ञानेन सर्व विज्ञानम्'' उपपद्यते, नान्यथा। ततश्च प्रथमं ब्रह्म स्वधर्मरूपेण भवति, तदनुक्रियादिरूपेण च तावतैव सर्ववेदार्थं सिद्धेः। न च लौकिकी युक्तिस्तत्रापेक्ष्यते, येन तादृशस्य कथं सर्वभाव इति पर्यनुयोगो भवेत्। धर्मकल्पनायामपि नैषा तर्केण मतिरापनेयेति समानम्। उत्पत्या चोपपत्या च विचार द्वयम्। उपपत्या पूर्वनयनं स्वसिद्धान्तः। एक देशिनस्तद् विपरीतम्। उभयमपि सूत्रकारस्य संमतमिति।

एक देशीय मत से भी सब समाधान हो जाता है। अथवा "अरूपवदेव" से लेकर "तदव्यक्तमाह हि" तक पाँच सूत्रों में जो सिद्धान्त कहा गया है, वैसी ही ब्रह्म की प्रतिपत्ति करनी चाहिए। कहने का तात्पर्य यह है कि— वैदिक मार्ग के स्थापन मे ही प्रवृत्ति होनी चाहिए, जिस आशय से ब्रह्म के उभय रूप का वर्णन किया गया है, उनके धर्मों के स्वरूप निर्वाह के लिए ब्रह्म का वैलक्षण्य अवश्य स्वीकारना होगा। वैसा मानने से "एकमेवाद्वितीयम्" वाक्य वाध्य हो जायगा। तथा उत्पत्ति के विचार में, ब्रह्म के प्रवं रूप को, धर्मरहित ही मानना चाहिए पूर्वानुरोध से ही उपपत्ति का विचार भी करना चाहिए। तभी धर्मों की ब्रह्मता हो सकेगी और तभी "एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानं" वाली प्रतिज्ञा भी सुसंगत हो सकेगी, अन्यथा असंगत हो जायगी। ब्रह्म का प्राथमिक रूप स्वधर्म समन्वित तथा द्वितीय रूप क्रियात्मक होता है, ऐसा मानने से ही समस्त वेदार्थ संगत हो सकेगा। इस विचार में लौकिक युक्ति से वैसा सर्वभाव नहीं सिद्ध हो सकता जैसा कि श्रुति को अभिप्रेत है। धर्म कल्पना में भी ऐसी युक्तिपूर्ण तर्क म ति नही लगानी चाहिए। उत्पत्ति और उपपत्ति ये दो विचार इस विषय में करने चाहिए। उपपत्ति से पूर्व नीति का स्वसिद्धान्त निश्चित होता है। एक देशीय मत उससे विपरीत है। उक्त दोनों हो विचार सूत्रकार के संमत है।

प्रतिषधाच्च ।३।२।३०।।

एकदेशिमते उपपत्त्यन्तरमाह—एकमेवेत्युक्त्वा पुनरद्वितीयमिति द्वितीयं प्रतिषेधति । स एवकारेणैव सिद्धो कार्यः सन् धर्म निषेधमपि सूचयति । ऐक्षतेति वचनात् तदुत्पत्तिः । चकारादेक विज्ञानेन सर्वविज्ञानोपक्रमः परिगृहीतः । तस्मान्न ब्रह्मणि कश्चित् विरोध इति सिद्धम् ।

एक देशीय मत से उपपत्ति का प्रकार कहते हैं । "एकमेव" ऐसा निर्देश करके पुनः जो "अद्वितीयम्" कहा गया है उसमें द्वितीय का निषेध है । इसके प्रयुक्त "एव" पद से ही पूर्व सिद्ध मत की व्यर्थता निश्चित होती है, यह पद धर्म निषेध को भी सूचित करता है । "ऐक्षत्" इत्यादि वचन से उत्पत्ति का उल्लेख किया गया है । सूत्रस्थ चकार "एक विज्ञानेन सर्व विज्ञान" की ओर इंगित करता है । इसलिए ब्रह्म में कुछ भी विरुद्धता नहीं है, यह सिद्ध होता है ।

परमतः सेतून्मानसम्बन्ध भेदव्यपदेशेभ्यः ।३।२।३१।।

धर्मि धर्म विरोधः परिहृतः । धर्म्यन्तरविरोध परिहारार्थमधिकरण मारभते । तत्र पूर्वपक्षमाह—परमतः, अतोऽपि ब्रह्मणः परमन्यदुत्कृष्टं फलमस्ति तत्र वैदिक हेतवः, सेतून्मान सम्बन्ध भेद व्यपदेशेभ्यः । यद्यपि समन्वय एवैते दोषाः परिहृताः तथापि स्वरूप विरोध परिहार प्रस्तावात् पुनरुच्यन्ते । सर्व वाक्य प्रतिपाद्यमेकमेवेत्यपि न सिद्धम् । एतैर्हेतुभिः परिच्छेदेन धर्मिभेदे सिद्धे, न पूर्वाधिकरण सिद्धान्त विरोधः ।

धर्मि धर्म के विरोध का परिहार कर चुके अब, धर्म्यन्तर विरोध के परिहार के लिए अधिकरण का प्रारम्भ करते हैं । इसके पूर्वपक्ष को बतलाते हैं— संशय होता है कि जैसे ज्ञेय ब्रह्म से उसका फलस्वरूप उत्कृष्ट है, उससे कोई और उत्कृष्ट है या नहीं ?" अक्षरात् परतः परः, पुरुषान्न परं किंचित् सा काष्ठा सा परागतिः" इत्यादि वैदिक व्यपदेश हैं, सेतु आदि के और भी व्यपदेश हैं । यद्यपि इन दोषों का समन्वय करते हुए परिहार किया जा चुका है, फिर भी स्वरूप विरोध परिहार की दृष्टि से इन पर पुनः विचार करते हैं । सभी वाक्य प्रतिपाद्य हैं, सभी एक हैं, ऐसा सिद्ध नहीं किया गया इसलिए

पुनः विचार कर रहे हैं। सैतु आदि हेतुओं के परिच्छेद से धर्मि का भेद सिद्ध होने पर भी, पूर्वाधिकरण सिद्धान्त से विरोध नहीं होगा।

ननु समन्वयेन ब्रह्मत्वमुत्तरपादे नैक्यं पूर्वाधिकरणेनाविरोध इति व्यर्थमिदमधिकरणम् इति चेन्न, अर्थबल विचारोऽयं समन्वये चोत्तरपादे च शब्द बल विचारः। धर्मि विचारान्न पूर्वेण गतार्थत्वम्। फलतः साधनेभ्यश्च प्रमेयाच्च प्रमाणतः, विचारेणाद्वृहत् तच्चेत् कोऽन्यः साधायितुं क्षमः।

यदि संशय करें कि समन्वय से ब्रह्मत्व, उत्तरपाद से ऐक्य और पूर्व अधिकरण से अविरोध का निर्णय कर चुके तब इस नए अधिकरण का क्या प्रयोजन है ? सो आपका संशय व्यर्थ हैं, इस अधिकरण में अर्थबल पर विचार करेंगे, समन्वय और उत्तरपाद में तो केवल शब्द बल पर विचार किया गया है। पूर्वाधिकरण में तो धर्म और ब्रह्म के सम्बन्ध में जो भेद विचार था उसका निवारण किया गया है, इस अधिकरण में धर्म्यन्तर सम्बन्धी संशय का निवारण किया जायगा। फल, साधन, प्रमेय और प्रमाण इन चार के सहारे उक्त तथ्य पर विचार किया जायगा, इनके अतिरिक्त, निर्णय करने के कोई और साधन नहीं हैं।

अतो हेतून बाधकानाह, — एकदेश बाधकत्वात तत्रफलतोऽबाध हेतुमाह — सेतुव्यपदेशात् "अर्थ य आत्मा स सेतुर्विधृतिः" इति। दहर उत्तरेभ्य इत्यत्र ब्रह्मत्वमस्य सिद्धम्।" अथ य इह आत्मानमनुविद्य ब्रजन्ति" इत्युपक्रम्य "सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति" इत्युक्त्वा कामानुपपाद्याज्ञान व्यवधानं ज्ञान प्रशंसार्थमुक्त्वा ज्ञानानन्तरं संसार सम्बन्धाभावाय सेतुत्वं वदति। पापाब्धितरणार्थं "यश्च तरति तद् गताश्च दोषा गच्छन्ति" इति च। अतः संसारफलयोर्मध्ये विद्यमानत्वात् तीर्णस्यैव फल श्रवणात फलरूपं वस्तु किंचिदन्यदस्तीति ज्ञायते। निधित्वेन फलवचनमवान्तरफलपरं भविष्यति एतमानन्दभयभात्मानमुपसंक्रम्येत्यप्यत्रोदाहरणम्। तथा—उन्मान व्यपदेशात्। तत्रैव "यावान् वा अयमाकाशस्तावानेषोऽन्त हृदय आकाश" इति साधन मुक्ति प्रश्ने उन्मानेन परिच्छेदं निरूपयति। दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकत्वेन ज्ञानं साधनम्। तत्र बहिराकाश ज्ञानमपि साधनं भवति। चतुष्पाच्च ब्रह्म, भूतादि पादाश्च ज्ञातव्याः। तथा सम्बन्ध व्यवदेशात्। तत्रैव प्रमेय निरूपण प्रस्तावे उभावस्मिन्नित्यादिना आधाराधेय सम्बन्धो निरूपितः। अत्र च वस्तु

परिच्छेदो निरूपितः "प्राज्ञेनात्मना संपरिष्वक्त "इति च तथा भेद व्यपदेशात् —"य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्यमयः पुरुषो दृश्यते", य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते" इत्यत्र स्थान द्वयस्थितयोः पुरुषयोः परस्परं धर्मातिदेशमाह। अक्षिस्थितनिरूपकमतिदेशः प्रमाणमिति। धर्म्यभेदेतु "स एवायम्" इति वदेत्। अतो देशकालवस्तुस्वरूपपरिच्छेदाच्चतुर्विध परिच्छेद रहितमन्यत् किंचिदस्तीति प्रतिपत्तव्यम् इत्येवं प्राप्तम्।

अब उक्त हेतुओं की बाधकता बतलाते हैं। ये एक देशीय बाधक हैं। सर्व प्रथम फल हेतु पर विचार करते हैं। सेतु के व्यपदेश से स्वरूप निरूपण किया जाता हैं। "दहरउत्तरेभ्य" सूत्र में इस सेतु ब्रह्म की सिद्धि की गई है। "अथ य इहात्मानमनुविद्य व्रजन्ति" से प्रारम्भ करके "सर्वेषुलोकेषु कामचारो भवति" कह कर काम का उपपादन करके, ज्ञान प्रशंसा के लिए, अज्ञात व्यवधान बतलाकर, ज्ञान के बाद संसार सम्बन्ध का अभाव होता है, उसके निमित्त सेतुत्व का वर्णन किया गया। पाप सागर से पार होने के लिए सेतु का आश्रय कहा गया "जो तरता है, उसके दोष समाप्त हो जाते हैं" इत्यादि संसार और फल के मध्य में सेतु की स्थिति कही गई है, तरना ही फल कहा गया है' जिससे ज्ञात होता है कि—फलरूप वस्तु कुछ अन्य है। निधि का अर्थ रूप होने से ये, श्रेष्ठ पुरुषार्थ स्वरूप अवान्तर फल हो सकता है "एतमानन्दमयमात्मानम्' ऐसा उपक्रम करते हुए इसका उदाहरण प्रस्तुत किया गया है।

उन्मान के व्यपदेश से भी स्वरूपनिरूपण हो सकता है उक्त दहर प्रसंग में ही "जितना यह भूताकाश हैं उतना ही ये हृदयस्थ आकाश है "इत्यादि, साधन युक्ति के प्रश्न के उत्तर में उन्मान से परिच्छेद का निरूपण किया गया है दृष्टान्त और दार्ष्टान्त भाव, ज्ञान का साधन है। इसलिए जगत में व्याप्त आकाश का ज्ञान भी साधन है। ब्रह्म चार पाद वाला है, उसके भूतादिपाद है, ऐसा जानना चाहिए।

सम्बन्ध व्यपदेश से भी निरूपण होता है। उक्त दहर वाक्य में ही प्रमेय निरूपण के प्रस्ताव में 'उभावस्मिन्' इत्यादि से आधार आधेय सम्बन्ध का निरूपण किया गया है। तथा "प्राज्ञेनात्मना संपरिप्वक्त" इत्यादि से वस्तु परिच्छेद का भी निरूपण किया गया है।

भेदव्यपदेश से भी निरूपण हुआ है । "जो इस सूर्य में हिरण्मय पुरुष दीखता है" जो इस नेत्र में पुरुष दीखता है" इत्यादि दो स्थानों के पुरुष का परस्पर धर्मातिदेश दिखलाया गया है । नेत्रस्थित निरूपक अतिदेश ही प्रमाण है । धर्म्यभेद "स एवायम्" में दिखलाया गया है । इस विवेचन से निश्चित होता है कि—देशकाल वस्तु स्वरूप आदि चतुर्विध परिच्छेदों से रहित कुछ और भी विवेचनीय वस्तु है ।

सामान्यात् तु ।३।२।३२।।

तु शब्दः पक्षं व्यावर्त्तयति । समानस्य भावः सामान्यम् सेत्वाकाशादि-शब्दास्तद्धर्मातिदेशार्थमुच्यन्ते, नतु तद्गतं दोषमपिकल्पयन्ति । संसारसागरोत्तरणोपायत्वात् सेतुत्वं निर्लेपायकाशत्वं, कामादिभिर्दोहाय चतुष्पात्वम्, अमृतत्वाय षोडशकलत्वम्, अदुर्लभत्वाय सम्बन्धः । दिव्यत्वाय धर्मातिदेशः । कुण्डपायिनामयने मासाग्नि होत्रवद् गुणार्थमेव वचनं, न दोषार्थमिति न ततोऽन्य शंकोत्पादनीया । तस्मान्न पूर्वोक्ता दोषाः ।

तु शब्द उक्त पक्ष का निवारक है । सेतु आदि शब्द सामान्य अर्थात् समानभाव के द्योतक हैं, सेतु आकाश आदि शब्द परमात्म धर्म के रूप में अतिदिष्ट हैं, उनके दोषों की कल्पना नहीं करते । संसार सागर से पार लगाने वाले उपाय के रूप में सेतुत्व रूप को, निर्लेपता दिखलाने के लिए आकाशत्व रूप को, काम आदि अभिलाषाओं की पूर्ति के लिए चतुष्पात्व रूप को, अमृतत्व प्राप्ति के लिये षोडशकलत्व को, अतिदिष्ट किया गया है, इन सब का सम्बन्ध अदुर्लभता का द्योतक है । दिव्यता प्रदर्शन करने के लिए धर्मातिदेश किया गया है । जैसे कि कुंड पायी अयन में मासाग्नि होत्र की तरह, गुणार्थ वचन है, दोषार्थक नहीं हैं वैसे ही सेतु आदि भी है, इस सम्बन्ध में किसी प्रकार की भी शंका नहीं की जा सकती ।

बुद्ध्यर्थः पादवत् ।३।२।३३।।

अन्य समानधर्मवत्वं कुत्रोपयुज्यत इत्यत आह बुद्ध्यर्थः तथा व्यपदेशो बुद्ध्यर्थः बुद्धेरेव प्रयोजनंयस्य । तथोपासनार्थमयुक्तमित्याशंक्य दृष्टान्तमाह । यथा भूतदीनां पादत्वज्ञानमुपासार्थं, तथा तत्तद्गुणवत्वेन ज्ञानार्थं स्वधर्म प्रशंसार्थमेवमुच्यते ।

इन सबकी समान धर्मता का उपयोग कहाँ है ? इसका उत्तर देते है कि—बुद्धि के लिए इनका व्यपदेश किया गया है, बुद्धि ही इनका प्रयोजन है। संशय करते है कि—उन रूपों में उपासना संभव नही है। इस पर दृष्टान्त देते है कि—जैसे भूत आदि की चतुष्पादता उपासना के लिए है, वैसे ही उन गुणवान परमात्मा के स्वरूप ज्ञान के लिए, उनकी स्वधर्म प्रशंसा के लिए इनका वर्णन किया गया है।

स्थान विशेषात् प्रकाशादिवत् ।३।२।३४।।

ननु "स एवायम्" इत्यतिदेशेऽपि तथा बुद्धिः संपद्येतैवेति व्यर्थो धर्मातिदेश, इत्याशंक्य, तथोक्तेऽपि समानधर्मत्वज्ञानाभावे हेतुमाह—स्थान विशेषात् इति। धर्म्यैक्येऽपि स्थान विशेष प्राप्त्या न समान धर्मवत्वं दृश्यते। अन्यत्रापि न तथात्वमायास्यतीत्यतिदेशो धर्माणामपि कृत इत्यर्थः। अस्मिन्नर्थे दृष्टान्तमाह—प्रकाशादिवत् इति, "यदादित्यगतं तेज" इति वाक्यादादित्य चन्द्राग्नि गत तेजसामैक्येऽपि न समान प्रकाशत्वं यथा तथात्रापीति ज्ञानसंभवादित्यर्थः आदि पदादेकस्यैव कालस्य यथोपाधिविशेष संबंधादुत्तरायण त्वाद्युत्तम धर्मवत्वं तद् विपरीत धर्मवत्वं तथेत्यपि संगृह्यते।

शंका करते है कि—बुद्धि का प्रयोजन तो "स एवायम्" इत्यादि में किये गए अतिदेश से भी सिद्ध हो जाता है फिर सेतु आदि धर्मातिदेश की क्या आवश्यकता है ? वे तो व्यर्थ ही है। इस पर कहते है कि पूर्व अतिदेस में धर्मत्व ज्ञान का अभाव है, धर्म्यैक्य होते हुए भी, स्थान विशेष में "स एवायम् इत्यादि अतिदेश में समान धर्मवत्ता नही है। अन्यत्र भी कही किसी प्रसंग में वैसी बात नही आती, इसलिए धर्मो का भी अतिदेश किया गया है। इस संबंध में दृष्टांत देते है "प्रकाशादिवत्" जैसे कि —"यदादित्य गतं तेज" इस वाक्य से ज्ञात होता है कि — सूर्य चन्द्र अग्नि में तेज साम्यैक्य होते हुए भी समान प्रकाशता नहीं है, वैसे ही उक्त अतिदेश में ज्ञान संभव की विशेषता है। सूत्रस्थ आदिपद से, एक ही काल के उपाधि विशेष सम्बन्ध से उत्तरायण सूर्य की उत्तम धर्मता और उससे विपरीत निकृष्ट धर्मता का भी विवेचन हो जाता है।

उपपत्तेश्च ।३।२।३५।।

किंच मत्यज्ञानाद्युक्त धर्म विशिष्ट ब्रह्मणोऽन्य उत्तमोऽस्तीतिवदता तत्रेत

दुत्कृष्ट धर्मवत्वंवाच्यम् । तच्चाशक्यम्, प्रमाणाभावात् । साम्येपि तथा विशेषाभावोऽद्वैत श्रुति विरोधश्च तस्मादितः परस्यानुपपन्नत्वादुक्त रूपमेव परमकाष्ठापन्नं वस्तु इति उपपद्यत इत्यर्थः ।

सत्य ज्ञान आदि धर्म विशेषों से युक्त ब्रह्म से विशेष कोई उत्तम है, ऐसा मानकर उत्कृष्ट धर्मवाच्यता का समर्थन करना शक्य नहीं है, उसका कोई प्रमाण भी नहीं मिलता है। साम्य की दृष्टि से भी, वैसी विशिष्ट वस्तु का कोई अस्तित्व नहीं है, यदि किसी विशिष्ट वस्तु का अस्तित्व स्वीकारेंगे तो अद्वैत श्रुति के विरुद्ध होगा। इससे भिन्न कोई भी वस्तु श्रेष्ठ नहीं है, ब्रह्म का उक्त रूप ही, परमकाष्ठापन्न वस्तु है, यही निश्चित होता है।

तथाऽन्य प्रतिषेधात् ।३।२।३६।।

यथा सेत्वादयः श्रुत्युक्तास्तथैव, "न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यत" इति श्रुत्यैव ततोऽधिकस्य प्रतिषेधात् त्वयाऽप्यस्मदुक्त एव मार्गोऽनुमर्त्तव्य इत्यर्थः । अवतार काले पूर्वं स्वशक्त्याविर्भावमकृत्वा पश्चात् तदाविर्भावे कुतोलोकानां पूर्वावस्थातो भगवत्येवाधिक्यमिव प्रतीतं भवति इत्यभिप्रायेण अन्यपदोपादानम् ।

जैसे कि सेतु आदि धर्म श्रुति सम्मत हैं, वैसे ही "उसके समान या अधिक कोई नहीं दीखता" इत्यादि श्रुति भी किसी अन्य अधिक वस्तु का प्रतिषेध करती है। अतः तुम्हें भी हमारे कहे मार्ग का अनुसरण करना चाहिए। अवतार के समय, पहिले अपनी शक्ति को प्रकट न करके, बाद में उसके प्रकट करने पर, लोक को प्रतीत होता है कि ये निश्चित ही भगवान हैं, क्योंकि इनमें कुछ प्रकर्ष हुआ है, इस अभिप्राय से ही श्रुति में अन्य पद का उपादान किया गया है।

अनेन सर्वगतत्वमायामशब्दादिभ्यः ।३।२।३७।।

प्रकरणमुपसंहरन फलितमर्थमाह । अनेन सेत्वादिव्यपदेशानां मुख्यार्थकत्वनिराकरणेन व्यापकत्वं ब्रह्मणः सिद्धमित्यर्थ इति केचित् । तन्न, जन्माद्यस्य यत इत्यादिना सर्वदेशगतकार्यकर्त्तृत्वमुक्तमिति तेनैव व्यापकत्वस्य सिद्धत्वात् न चाविरोध साधन प्रकरणत्वात् पूर्वसिद्धं सर्वगतत्वमनेनोक्त ग्रन्थेनकृत्वा, सेत्वादिवाक्यैः सर्वमविरुद्धमित्यर्थमितिवाच्यम् अग्रिमपद वैयर्थ्यापत्तेरिति चेत् । अत्रैवं ज्ञेयम्, नोक्तकर्त्तृत्वेन व्यापकत्वमेकान्ततो ब्रह्मणिरोद्धुं शक्नोति । योग्यसिद्ध

दूरश्रवणयदिवत् परिच्छिन्नेनाप्यनेनदेशगत कार्यकारण सामर्थ्य विशेषस्य वक्तुं शक्यत्वात् । अन्यथा पूर्वसिद्धव्यापकत्व विरोधेन सेत्वादि व्यपदेशैः परिच्छिन्नत्वेन ब्रह्मणोऽन्यस्य परत्वं न शंकेत् । विरोध परिहाराय तु सामान्यात त्वविरोध इति वदेत् ।

प्रकरण का उपसंहार करने के लिए फलितार्थ बतलाते हैं । कोई इन सेतु आदि के मुख्यार्थत्व को निराकरण करके, इनसे ब्रह्म की व्यापकता सिद्ध करते हैं, सो उनका ये प्रयास असंगत है । "जन्माद्यस्ययतः" इत्यादि सूत्रों से ही परमात्मा का सर्वदेशगत कार्य कर्त्तृत्व बतलाया गया है उसी से उनकी व्यापकता सिद्ध होती है । ये भी नहीं कह सकते कि अविरोध साधन प्रकरण से, पूर्वसिद्ध सर्वगतत्व को उक्त ब्रह्मसूत्र में दिखलाकर सेतु आदि वाक्य से सामंजस्य किया गया है इसलिए, कोई विरुद्धता नहीं है। उनके इस कथन को न स्वीकारने से अग्रिम पद व्यर्थ हो जायगा ये कथन भी असंगत है। इसमें एक विशेष ज्ञातव्य बात ये है कि उक्त कर्त्तृत्व से ही केवल, ब्रह्म की व्यापकता को नहीं रोक सकते। योगसिद्ध दूरश्रवण आदि की तरह, परिच्छिन्न भी वह, अनेक देशगत कार्यकारण सामर्थ्य विशेष वाला है । यदि ऐसा न होता तो पूर्वसिद्ध व्यापकता के विरुद्ध, सेत्वादि के व्यपदेश से परिच्छिन्न ब्रह्म, की अन्यपरता की शंका न की जाती । उक्त विरोध के परिहार के लिए, सामान्य भाव से अविरोध सिद्ध किया गया ।

तस्मादेवं सूत्रार्थो ज्ञेयः । अनेनब्रह्मणोऽन्यस्य परत्व निरासेनायामशब्दादिभ्यो व्यापकत्ववाचक श्रुतिवाक्यादिभ्यः साक्षात् सर्वगतत्वाप्रतिपादकेभ्य एव सर्वगतत्वं सिद्धयति, न तु गौतमीयानमिव कर्त्तृत्वाद्यनुपपत्त्येत्यर्थः । ते च शब्दा "आकाशवत् सर्वगतश्च नित्यः," ज्यायान्दिवो ज्यायान् आकाशात्, वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्" इत्यादयः । आदिपदात् "सर्वतः पाणि पादान्तं सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्, सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति" इत्यादि स्मृतयः संगृह्यन्ते । अनेन ब्रह्मणि श्रुतिरेव मुख्यं प्रमाणम् अनुगानं तु विलम्बोपस्थिकत्वेन साध्यसिद्धिपराहतमपीच्छाविशेषेण जननीयं चेदभ्युच्चयमात्रं पर्यवसस्यतीति भावः ।

इसलिए इस सूत्र का अर्थ ये जानना चाहिए कि इससे ब्रह्म के अन्य परत्व का निरास हो जाता है, तथा आयाम आदि शब्दों से ही उमकी व्यापकता सिद्ध हो जाती है । यद्यपि व्यापकत्व प्रतिपादक श्रुति वाक्यों से उसकी साक्षात् व्यापकता का प्रतिपादन नहीं किया गया है । वे व्यापकता सूचक शब्द ये हैं—

"वह आकाश की तरह सर्वगत नित्य हैं" वह दिव और आकाश से भी ज्यादा व्यापक हैं "वृक्ष की तरह स्थिर रूप से दिव में स्थित पुरुष ही इस जगत में व्याप्त है" इत्यादि। आदि पद से "सब जगह व्याप्त हाथ पैर वाले, नेत्र, शिर, मुख वाले, कानों वाले, सब कुछ घेर कर स्थित हैं" इत्यादि स्मृतियाँ भी गृहीत होती हैं। ब्रह्म के सम्बन्ध में श्रुति ही मुख्य प्रमाण हैं, अनुमान तो विलम्ब से वस्तु को प्रभाणित करता है, जिससे साध्य वस्तु की सिद्धि पराहत हो जाती है, यदि कहें कि फिर भी इच्छा विशेष से वस्तु अवगति संभव हैं, सो उसमें केवल अनुमान मात्र ही रहता है।

फलमत उपपत्तेः ।३।२।३८॥

एवं सर्वोत्तमत्व निरूपणेनोत्तमाधिकारिणाँ भजनीयत्व प्रयोजकं रूपमुक्त्वा तदितराधिकारिणांतदाह ते हि फलप्रेप्सव एव भजिष्यन्ति। तच्च फलदातृत्व एव संभवति इति तदाह। अत ईश्वरादेव फलं भवति यत् किंचित् ऐहिक पारलौकिकं वा। कुतः ? उपपत्तेः "सर्वस्य वंशी सर्वस्येशान्" इति श्रुतिर्वस्तु-मात्रेशितृत्वमसंकुचितमाह। न ह्यन्यस्य वस्त्वन्यो दातुं समर्थोऽतो भगवानेव तथेत्यर्थः। केचित्त्वत्रैव कर्मणस्तत्कार्यापूर्वस्य च फलदातृत्वमाशंक्य तत्रानुपपत्ति मन्नोपपत्तित्वेन व्याकुर्वन्ति। तत्त्वग्रे जैमिनिमतोपन्यासस्वमतोपन्यासाभ्यां व्यास एव व्यक्ती करिष्यति इत्यधुनैवाप्राप्त निराकरणमग्रिम सूत्रद्वयवैयर्थ्यं स्यादिति चिन्त्यम्।

इस प्रकार सर्वोत्तमत्व के निरूपण में उत्तम अधिकारियों के भजनीयत्व प्रयोजक रूप को बतलाकर अब अन्य अधिकारियों के उपास्य रूप को बतलाते हैं। और लोग प्रायः फलेच्छा से भजन करते हैं, उस परमात्मा में फलदातृत्व भी है, उस ईश्वर से ऐहिक और पारलौकिक फलावाप्ति होती है। "सर्वस्य वशी सर्वस्येशान" इत्यादि श्रुति, परमात्मा के सार्वभौम स्वामित्व को स्पष्ट रूप से बतलाती है। किसी अन्य में, सर्वदातृत्व शक्ति नहीं हैं, एकमात्र भगवान ही ऐसे सर्व समर्थ हैं। कोई व्याख्याता, इस सूत्र से, कार्य और उसके कार्य की अपूर्व फलदातृत्व सम्बन्ध असंभावना का निरास करके उक्त शक्ति का समर्थन करते हैं। इस बात को स्वयं व्यास ही जैमिनि और अपने मत की व्याख्या करते हुए स्पष्ट करेंगे यदि इसी सूत्र में उसे निर्णय करेंगे तो अगले दो सूत्र व्यर्थ ही हो जायेंगे।

श्रुतत्वाच्च ।३।२।३९।।

पूर्वसूत्रेण श्रुतमीशितृत्वं फलदान उपपत्तित्वेन निरूपितम्, इह तु साक्षात् श्रुतिमेव फलदातृत्व वाचिकां प्रमाणयति साच—स वा एष महानज आत्माऽन्नादो वसुदान" इत्यादि रूपा । चकारात् "सुखदुःखं भवोभाव" इत्युपक्रम्य "भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधा" इत्यादि रूपा स्मृतिः संगृह्यते ।

पूर्व सूत्र से, ईशत्व प्रतिपादिका श्रुति से भगवान की फलदातृता का निरूपण किया, अब श्रुति की फलदातृत्व सम्बन्धी स्पष्टोक्ति का उल्लेख करते हैं "सवा एव महानज आत्माऽन्नादो वसुदान" इत्यादि । सूत्रस्थ चकार "सुखं दुःखंभवो भावो" इत्यादि स्मृति की ओर भी इंगन कर रहा है ।

धर्मं जैमिनिरत एव ।३।२।४०।।

अत्र कर्मवादी प्रत्यवतिष्ठते । ननु कर्मण एव फलमिति पक्षेऽप्युपपत्ति श्रवणे तुल्ये - तथाहि—ईश्वरवादिनामपि कर्मनिरपेक्षेण तेन फलमिति न वक्तुं शक्यम् । विधिवैयर्थ्य प्रवृत्त्यनुपपत्तिप्रसंगाभ्याम् । तत्सापेक्षत्वे तदेवास्तु कृतं तत्सापेक्षेण तेन । न चाचेतनंचेतनाधिष्ठितमेव कार्यक्षममिति केवलेन तेन न फलं संभवतीति वाच्यम् । कर्म स्वरूपं स्वर्गादिकं च न लोकसिद्धम् किन्तु श्रुति सिद्धम् तत्र च स्वर्गादिफल साधकत्वेनैवोत्पत्तिवाक्येष्वर्थवादेषु चाग्निष्टो-मेन स्वर्गकामो यजेत । "अग्निहोत्रं जुहोति प्रजाकाम" इत्यादि । "दर्शपूर्ण-मासाभ्यां स्वर्ग कामो यजेत, परमेष्ठिनो वा एष यज्ञो ऽग्र आसीत्तेन स परमां काष्ठामधिगच्छति" इत्यादिषु कर्म श्रूयते । स च तत्साध्यत्वेनैव । एवं सति लोकेऽन्यथा दर्शनेऽपि धर्मिग्राहक प्रमाणेन तथैव सिद्धत्वान्नात्र काचन शंका । ईश्वरवादिनौ नित्यज्ञानादिमत्व इव । आमुष्मिक फलत्वेन तत्प्रतिबन्धकापगमे भवति इत्यावयोस्तुल्यम । तस्याशुतरविनाशित्वेऽपि श्रुतिसिद्धकारणता निर्वाहाय तदऽव्यापारो पूर्वकल्प्यते । अविषमादीश्वरात् विषमफलोत्पत्त्यनु-त्पत्तिर्वैषम्यनैर्घृण्ये च स्याताम् । अतः कर्मण एव फलमिति जैमिनिर्मनुते ।

फलदातृत्व के सम्बन्ध में कर्मवादी सामने आते हैं । कर्म से ही फल मिलता है, इस मत में भी, उपपत्ति और श्रवण दोनों समान हैं । उनका कथन है कि ईश्वरवादी भी कर्म निरपेक्ष फल प्राप्ति की बात नहीं कह सकते । यदि ऐसा कहेंगे तो, शास्त्रीय विधि की व्यर्थता और लोक में प्रवृति हीनता हो जावेगी ।

यदि कर्म की अर्हता स्वीकारते हैं तो उमी से कर्म की प्रधानता सिद्ध होगी। न यही कह सकते कि, चेतनाधिष्ठित अचेनन कार्यक्षम है, केवल उससे फलावाप्ति संभव भी नहीं है। कर्म का स्वरूप और स्वर्गादि केवल लोक प्रसिद्ध ही नहीं है, अपितु शास्त्र सम्मत भी हैं। अर्थवाद स्वरूप उत्पत्ति वाक्यों में, कर्मो का स्वर्गादिफलसाधक रूप से ही कहा गया है "स्वर्ग की कामना से अग्निष्टोम यज्ञ करना चाहिए "संतान की कामना से अग्निहोत्र यज्ञ करता है" दर्श और पूर्णमास यज्ञों से स्वर्ग की कामना करनी चाहिए "यज्ञ पहिले भी था ब्रह्म इसके द्वारा ही पराकाष्ठा प्राप्त करते हैं" इत्यादि में कर्म की श्रेष्ठता कही गई है उक्त कर्म, फलसाध्यता के लिए ही कहा गया है। लोक में इसके विपरीत भी यदि फल देखा जाय तो भी धर्मिग्राहक के प्रमाण से उसका शास्त्र सम्मत फल ही होता है, उसके सम्बन्ध में किसी प्रकार की शंका नहीं करनी चाहिए। ईश्वरवादी, नित्यज्ञानी की तरह फल पाते हैं। उनके मत से अलौकिक फलावाप्ति में किसी प्रकार का बंधन नहीं रहता इसमें हम और वे एकमत हैं। वे लोग भगवत्भक्ति से कर्मों का नाश मानते हुए भी, श्रुतिसिद्ध कारणता के निर्वाह के लिए, अपूर्व कर्म व्यापार की कल्पना करते हैं। अविषम ईश्वर से, विषम फल की प्राप्ति मानने से वैषम्य नैर्घृण्य दोष, परमात्मा में घटित होंगे। कर्म से ही फल होता है यही जैमिनि का मत है।

पूर्वं तु बादरायणो हेतुव्यपदेशात् ।३।२।४१।।

तु शब्दः पूर्वपक्ष व्युदासार्थः । बादरायणस्त्वाचार्य इतः पूर्वोक्तमीश्वरमेव फलदत्वेन मनुते । कुतः ? हेतुव्यपदेशात् । हेतुत्वेन श्रुतौ व्यपदेशादित्यर्थः । "एष उ एवासाधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीयत, एष उ एवासाधु कर्म कारयति यमधो निनीयत" इति श्रुतौ न केवलं कर्मकारयितृत्वमुच्यतेऽपि तु फलदित्सया तया तथात्वमतः फलदत्त्वमीश्वरस्यैव व्यपदिष्टं भवतीति नानुपपत्तिः काचित् । नन्वीश्वरस्य स्वतः फलदाने समर्थस्य फलदित्सायां सत्यां कर्मकारणे को हेतुः ? कार्य वैचित्र्यं च कथमित्यादि चोद्यं निरस्तम् (विद्वन्मण्डने श्री विट्ठलेन च) अतः सकामैरपि स एव भजनीयोनान्य इति सिद्धम् ।

तु शब्द, पूर्वपक्ष के निरास के लिए प्रयोग किया गया है। बादरायणाचार्य तो इसके पूर्व भी ईश्वर को ही फलदाता मानते रहे हैं। श्रुति के व्यपदेश से ही उनकी ऐसी मान्यता है। श्रुति में ईश्वर को हेतु बतलाया

गया है—"वही जिससे साधु कर्म कराते हैं उसे यम लोकों से ऊपर उठाते हैं, और जिससे असाधु कर्म कराते हैं उसे नीचे यम लोक में गिराते है" इस श्रुति में ब्रह्म को केवल कर्म कराने वाले ही नहीं कहा गया है अपितु कर्मानुसार फल दातृत्व भी उन्ही का बतलाया गया है, इसलिए कोई असंगति नहीं होती। संशय हो सकता है कि ईश्वर जब स्वयं फलदान में समर्थ हैं तो उसमें कर्म को कारण मानने का क्या तात्पर्य है ? इसका निराकरण "कार्यवैचित्र्यं च कथम्" इत्यादि शंका में कर चुके हैं [विद्वन्मण्डन में श्री विट्ठल ने भी किया है] इसलिए सकाम भाव से भी वे ही भजनीय हैं, कोई और दूसरा नहीं है।

तृतीय अध्याय द्वितीय पाद समाप्त

ये अनुवाद चौखम्बा संस्कृत सिरीज से प्रकाशित अणुभाष्य मूल के सन् १९०६ के संस्करण के अनुसार किया गया है, उसमें "विद्वन्मंऽने श्री विट्ठलेन च" ऐसा पाठ मूल भाष्य में दिया हुआ है पूज्य अनुवादक महोदय ने मूल के अनुसार उक्त वाक्य को भी दे दिया है पर उनका मत है कि ऐसा पाठ महाप्रभु बल्लभाचार्य की लेखनी से संभव नहीं है, क्योंकि आचार्य के गोलोकवास के समय श्री विट्ठलनाथ जी अल्पवयस्क थे, उस समय विद्वन्मण्डन ग्रन्थ बना भी नहीं था प्रसिद्धि तो ये है कि "विद्वन्मण्डन" ग्रन्थ गोस्वामी जी ने अपने विद्वान पुत्र गिरिधर जी की प्रार्थना पर मधुसूदन सरस्वती के ग्रन्थ "अद्वैतसिद्धि" के निरास के लिए रचा था, जिसमें पूर्वपक्ष स्वयं गिरधर जी ने ग्रहण किया था। इसलिए हमने उक्त वाक्यांश को [ ] कोष्ठबद्ध ही छापा है। प्रसिद्धि है कि अणुभाष्य के अगले अन्तिम डेढ़ अध्याय का भाष्य गोस्वामी विट्ठल जी ने किया है।

—सम्पादक

तृतीय अध्याय

तृतीय पाद प्रारम्भ

१ अधिकरण :—

सर्ववेदान्त प्रत्ययं चोदनाद्यविशेषात् ।३।३।१।।

पूर्वपादे जडजीव धर्म निराकरणेन शुद्धस्यैव सच्चिदानन्द विग्रहरूपत्वं ब्रह्मणो निरूपितम्। इह तु ब्रह्मगता एव धर्मा विचार्यन्ते। ते चेद् एकस्मिन् वाक्य एव सर्वे पठिता भवेयुस्तदा न विचारणीया भवेयुर्विरोधाभावात्। पठिताश्च तत्तदुपासना प्रकरणेषु क्वचित् त एव क्वचिद् भिन्नाः। यथा वाजसनेयिनः पंचाग्नि विद्यां प्रस्तुत्य षष्ठमन्यमग्निं पठन्ति— "तस्याग्निरेवाग्निः" इति। छंदोगास्तु पंचसंख्यैवोपसंहरन्ति—"अथ य एतानेवं पंचाग्नीन् वेद" इति। तथा प्राण संवादे मुख्य प्राणादन्यांश्चतुरः प्राणान् वाक् चक्षुः श्रोत्र-मनांसि पठन्ति। वाजसनेयिनस्तु तमपि पञ्चमं पठन्ति।

पूर्वपाद में जड जीव धर्मों का निराकरण करते हुए ब्रह्म के शुद्ध सच्चिदानन्द रूप का निरूपण किया गया। अब इस पाद में ब्रह्म गत धर्मों पर विचार करते है। यदि उनके वे सारे धर्म एक ही वाक्य में एक ही स्थान पर वर्णित होते तो विचार करने की आवश्यकता नहीं थी, क्योंकि उनमें तो कोई विरुद्धता होती नहीं, किन्तु वे तो भिन्न उपासनाओं के प्रकरणों में कहीं एक से कहीं भिन्न रूप से वर्णित हैं। जैसे कि वाजसनेयी संहिता में पंचाग्नि-विद्या का उल्लेख करते हुए "तस्याग्निरेवाग्निः" इत्यादि में एक छठी विशेष अग्नि का वर्णन किया गया है। जब कि छांदोग्योपनिषद् में "अथ य एतानेवं पंचाग्नीन वेद" इत्यादि में पाँच ही संख्या का उल्लेख करके उपसंहार करते है। ऐसे ही, प्राण संवाद में मुख्य प्राण से अतिरिक्त चार प्राणों, वाक चक्षु श्रोत्र मन आदि का उल्लेख किया गया है किन्तु वाजसनेयी में उन्हें भी पांच प्रकार का कहा गया है।

अपरंच, अथर्वोपनिषत्सु। क्वचिद् गोकुल वृन्दाकानन सचरद् गोपरूप-मनल्पकल्पद्रुमप्रसूनविरचित विचित्रस्थालीक कालिन्दी सलिलकल्लोल —संगिमृदुतरपवनचलदलकविराजमान गण्डमण्डलद्युतिमंडितकुण्डलप्रभानुभावित वामांसमिलन्मूर्द्धन्य महामणिका मुरलिकामुखावलीमिलदतितरल कर कमलयुगलांगुलीवशंवदविविधस्वरमूर्च्छनामोदिनब्रजवरीनितम्बिनिकदंबकटाक्ष-कुवलयार्चितम्। क्वचित् कोदण्डमण्डितभुजदण्डखण्डितप्रचण्डदशमुण्डमति विचित्र चरित्राभिरामं राम स्व-स्वरूपम। क्वचित् करालवदनीवत्रासित-कमलाकमलासनवृषभाऽसनादिकं नृकेसरिरूपं, क्वचिदुरुक्रमादि रूपंच निरूप्यते।

कहीं अथर्ववेदीय गोपालतापनीयोपनिषद् में, गोकुल वृन्दावन में विहार करते हुए, अनेक वनपुष्पों से आच्छादित कालिन्दी के जल से संस्पृष्ट शीतल मृदुतर सुगंधित वायु से हिलते हुए बालों वाले, कुंडलों की कान्ति से अत्यु-ज्ज्वल कपोल वाले, बायें कंधे पर झुके हुए मुखारविंद से महामणि की मुर-लिका को फूंकते हुए, अत्यंत कोमल कर कमल की चिकनी अंगुलियों से विविध स्वर मुर्च्छना की ध्वनि से मोहित ब्रजवनिताओं के कुवलय कटाक्ष से अर्चित गोपकुमार श्रीकृष्ण का वर्णन है। कहीं धनुषवाण से सुसज्जित, प्रबल रावण के उद्धारक विचित्र चरित रामस्वरूप का वर्णन है। तो कहीं, कराल भयानक मुख से भीत कमला, ब्रह्मा और शंकर आदि से स्तुत नृसिंह रूप का वर्णन है, और कहीं वामन आदि रूपों का वर्णन है।

तथा च द्रव्य देवता भेदात् यागभेदवद् धर्माणां आवापोद्वापाभ्यां दृष्टादृष्टफल भेदाच्च वेद्य भेदे प्राप्ते ब्रह्मानेकत्वापत्तौ श्रुति विरोधात् विनिगमकाभावात् सर्वेषामुपासनाविषयाणामब्रह्मत्वमापतितम्।

इसी प्रकार, देवताओं के स्वरूप भेद से, याग भेद की तरह, उन देव-ताओं के धर्मो के आवाप और उद्वाप से दृष्ट अदृष्ट फल का भेद होने से वेद्य तत्व में भी निश्चित भेद होता है, जिससे अनेक ब्रह्म निश्चित होते हैं, जो कि श्रुति विरुद्ध बात है इस प्रकार समस्त उपासना विषयों का अब्रह्मत्व सिद्ध होता है।

ननूपासनाविषयाणामौपाधिकत्वात् तेषांचाविद्याकल्पितत्वात् तद् विशिष्टानां तथात्वं युक्तमेव। न चैवंतन्निरूपकाणां वेदांतानामब्रह्मपरत्वं

प्रसंग :। शुद्धस्य ब्रह्मणो दुर्ज्ञेयत्वेनोपाधिविशिष्योपासनया चित्तशुद्धो सत्यां स्वत एव तज्ज्ञानं भविष्यति इत्येतत् तात्पर्यकत्वादिति चेत् ।

उक्त मत पर एक पक्ष वाले कहते हैं कि—ब्रह्म तो निर्विषय है, उसे तो एक मात्र ज्ञान से ही जान सकते हैं। इसलिए उपासना के जो विषय हैं वे तो औपाधिक हैं जो कि अविद्याकल्पित हैं अतः उन-उन विशिष्ट ब्रह्म रूपों का अब्रह्मत्व मानना ठीक ही हे। उन रूपों के निरूपक वेदान्तों का अब्रह्मत्व नहीं है, क्योंकि शुद्ध ब्रह्म तो दुर्ज्ञेय है, उपाधिविशिष्ट रूप की उपासना से चित्त शुद्ध होने पर स्वतः ही, उनका ज्ञान हो सकता है, इसी तात्पर्य से वेदान्तों ने उन विशिष्ट रूपों का उल्लेख किया है।

मैवम्, समन्वयविरोधापत्तेः, तासां ब्रह्मविद्यात्वहानेश्च अपरंच—"योऽन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा प्रतिपद्यते, किं तेन न कृतं पापं चौरेणात्मापहारिणा" इत्यन्यथाज्ञानं निन्दंती श्रुतिः कथं फलसाधकत्वेन तत्तदुपासनांवदेत् स्पष्टार्थानां श्रुतिवाक्यानां निर्णयमकृत्वा संदिग्धार्थानां ज्योतिराकाशादि शब्दानां तद्वाचकत्वं न निर्णीयात् भगवान व्यासः। एवं च सत्युक्तरीऽया यागवत्तेषां परस्परं भेदश्चावश्यक इत्युभयतः पाशारज्जुः इति प्राप्ते ।

उक्त पक्ष पर द्वितीय पक्ष के लोग कहते हैं कि—आपका कथन ठीक नहीं है, आपके कथनानुसार तो समन्वय विरोध हो जायगा। और उनका ब्रह्मविद्यात्व भी नष्ट हो जायेगा। फिर दूसरी बात ये है कि 'जो अन्यथा स्वरूप आत्मा का अन्यथा रूप से प्रतिपादन करता है उस आत्मघाती चोर ने कौन सा ऐसा पाप है जो नहीं किया हो" इत्यादि श्रुति अन्यथा ज्ञान की निन्दा कर रही है, वही श्रुति उन-उन उपासनाओं को, फलसाधक रूप से कैसे बतला सकती है? भगवान् वेदव्यास ने, रामकृष्ण आदि नामों का स्पष्ट उल्लेख करने वाली श्रुतियों का कुछ भी निर्णय न करके, संदिग्ध अर्थ वाले ज्योति आकाश आदि शब्द उनके वाचक हैं, ऐसा भी निर्णय नहीं किया है। इस प्रकार श्रुति विरोध और व्यासाशय विरोध दोनों ही होते हैं, जिससे याग की तरह उन विद्याओं का परस्पर भेद आवश्यक हो जाता है। ये तो दोनों ओर से ही फांसी का फंदा दीखता है।

अभिधीयते—सर्ववेदान्त प्रत्ययम्, अनेक रूप निरूपकैः सर्व वेदांतैः प्रत्ययो ज्ञानं यस्य तत्तथा। ब्रह्मणोऽनन्त रूपत्वेऽपि यानि यानिरूपाणि बिविधैर्जीवै-

रूपासित्ुं शक्यानि तानि तानि रूपाणि तैस्तैर्वेदान्तैर्निरूप्यन्त इति तावद् रूपात्मकमेव ब्रह्मेत्यर्थः। चोदनाद्य विशेषात् इति। चोद्यते कर्तव्यत्वेन बोध्यतेअनेनेति चोदना विधिवाक्यमिति यावत्। तस्याविशेषादित्यर्थः। यथै-कस्मिन्नाग्निष्टोमे शाखाभेदेऽपि चोदना तथैव भवत्यग्निष्टोमेन यजेत" इति तथेहापि सर्वेषु वेदांतेषु ब्रह्मत्वेनोपासना विधियत इति तथा। आदि पदात् साक्षात् परम्पराभेदेन मोक्षफलकत्वकथनमप्यूपासनानामविशिष्टमिति प्रयोजन संयोगः संगृह्यते।

उक्त मतों पर सूत्रकार का विचार प्रस्तुत करते हैं—कहते हैं कि अनेक रूपों के निरूपक वेदाँतों का ज्ञान ईश्वरार्थक ही है। ब्रह्म के अनेक रूपों का वर्णन का कारण ये है कि विविध जीवों को सरलता से उपासना करके ब्रह्म प्राप्ति हो सके, जीवों की रुचि के अनुसार ब्रह्म के विविध रूपों का वेदांतों में निरूपण किया गया है, वैसे ब्रह्म तो एक ही है। कर्तव्य रूप से प्रेरित करने वाले विधिवाक्यों की तरह ये वेदांतवाक्य भी हैं, जिनका रूप भी भिन्न है, पर विधिका रूप सभी में एक है "अग्निष्टोमेनयजेत्" इत्यादि। इसी प्रकार समस्त वेदाँतों में ब्रह्म के विभिन्न रूप होते हुए भी उपासनायें ब्रह्मत्वभाव से एक हैं। साक्षात् या परम्परा भेद से सभी उपासनायें मोक्षफल की ही वाचक है, इसलिए उनमें कोई बड़ी छोटी नहीं है, इसी बात को सूत्रस्थ आदि शब्द सूचित कर रहा है।

भेदान्नेति चेदकस्यामपि ।३।३।२।।

ननु द्रव्यदेवता भेदात् यागभेदवदुपास्यानां धर्म भेदे नमिथो भेदादुक्त हेतु-त्वसिद्धि भेदान्नेति चेदित्यनेनांशंक्य तत्परिहारमाह सूत्रकार—एकस्याम-पीति सूत्रावयवेन। यथैकस्यामपि गृहीत षोडशिकायाः सकाशाद् गुणाधिक्येऽपि नातिरात्रभिन्न यागत्वं, अतिरात्रलक्षण कर्मैवाधिकृत्य तत्तद्ग्रहणाग्रहणयोर्विधानादेवमिहापि ब्रह्मैवाधिकृत्य तत्तद् धर्म वैशिष्ट्या वैशिष्ट्योरुक्तत्वान्न ब्रह्मोपासनभिन्नत्वत्वमुपासनासु। तथा च ब्रह्म धर्मत्वेनाभेदस्य विवक्षितत्वात् त्वदुक्तहेत्वसिद्धिः। एवं सति यथैक स्मिन्नुपास्ये रूपेऽन्यस्माद् रूपादधिकागुणा उच्यन्ते, तत्र तेषामुपसंहार उचित इतिभावः। अत्रायं विशेषोज्ञेयः। उपासना विषयेप्यखिलेष्वविशिष्टं ब्रह्मत्वं ज्ञात्वैतेष्वेकतरं रूपं य उपास्ते। तस्य तत्र सर्वे गुणा उपसंहर्त्तुमु-

चिता: । यस्त्वनंतेषुविभूतिरूपेण "ऊँइत्येतदक्षरब्रह्म" इति ज्ञात्वोपास्ते तस्य शाखान्तरीया अप्येतदक्षरोपासनप्रकरणोक्ता एवोपसंहृत्तुंव्या, नान्ये। तद्रूपमधिकृत्यैव तेषां गुणानांकथनात् अन्यथाऽतिप्रसंगात् । इयंतूपासना-मार्गीया व्यवस्थौक्ता। भक्तिमार्गीयात्वेतद्विलक्षणा, साऽग्रेवाच्येति।

द्रव्य देवता भेदवाले—यागभेद की तरह, उपास्यों के धर्म भेद से जो परस्पर भिन्नता है उससे उक्त हेतु की सिद्ध नहीं होती अतः भेद नहीं है, इत्यादि आशंका का सूत्रकार परिहार करते हैं "एकस्यामपि"। जैसे कि—एक षोडशिका के द्वारा अतिरात्रयाग होता है, यदि और भी षोडशिकायें उसमें ग्रहण की जायें तो उसमें गुणाधिक्य होगा किन्तु वह याग अतिरात्र के अतिरिक्त कोई दूसरा न कहलायगा । अतिरात्र याग के लक्षण और कर्म के अनुसार ही वस्तुओं के ग्रहण और अग्रहण का विधान होता है, वैसे ही ब्रह्म के विशिष्ट और अविशष्ट गुणों के अनुसार उपासनाओं की भिन्नता है वैसे तत्वतः उन उपासनाओं में कोई भेद नहीं है। ब्रह्म धर्म होने से अभेद निश्चित होता है जिससे उक्त संशयित हेतु की असिद्धि हो जाती है। इस प्रकार यदि एक उपासना के रूप में, किसी अन्य उपासना के रूप से अधिक गुण हैं तो उनका उनमें उपसंहार करना उचित है। इस सम्बन्ध में विशेष ज्ञातव्य बात ये है कि—सभी उपासना विषयों में अवशिष्ट ब्रह्मत्व ही विशेष है, इस एक मान्यता के आधार पर जो एक मात्र उसकी उपासना करते हैं, उन्ही समस्त गुणों का उपसंहार करना उचित ही है। जो अनंत विभूति रूपों में "ऊँ इत्येतदक्षरं ब्रह्म" ऐसा मान कर उपासना करते हैं उन्हें उसकी अन्य शखाओं में जो गुणों का वर्णन है उन्हें अक्षरोपासना के प्रकरण में ही उपसंहृत करना चाहिए अन्यथा नहीं। क्योंकि—उस रूप के आधार पर ही गुणों का वर्णन किया गया है। यदि इस व्यवस्था को नहीं मानेगें तो अति प्रसंग उपस्थित होगा। ये उपासनामार्गीय व्यवस्था है, भक्तिमार्गीय व्यवस्था इससे विलक्षण है, उसे आगे बतलावेंगे।

ननु अग्निष्टोममेवोद्दिश्य यावन्तो धर्मास्तैत्तरीये पठ्यन्ते तावन्तो वाज सनेयके। तथा च त्वदुक्तरीत्या वाजसयिनां तद्धर्मोवसंहारोपि न्याय्योभवेन्न त्वेवं सः । शिष्टाचारादिविरोध तथा पंचाग्निविद्याधिकृत्योक्तोऽपि षष्ठोऽग्निर्न छंदोगैः शक्यत उपसंहृत्तुंम् । तथैवाथर्वणिकैर्नैकस्मिन् रूपे रूपान्तरधर्मा इति प्राप्ते उत्तरं पठति—

संशय करते हैं कि अग्निष्टोम के उद्देश्य से जितने धर्म तैत्तरीयक में बतलाये गए हैं, उतने ही वाजसनेयक में भी हैं, आपकी बतलाई हुई व्यवस्था के अनुसार तो उनके धर्मों का उपसंहार भी उचित हैं, पर वैसा नहीं किया जाता, उसे शिष्टाचार से विरुद्ध मानते हैं। वैसे ही पंचानि विद्या के आधार पर, षष्ठाग्नि को वैदिक लोग कभी उपसंहार नहीं कर सकते। उसी प्रकार, आथर्वणिक में भी धर्मों के रूप में, अन्य रूपों के धर्म का उपसंहार नहीं किया जा सकता। इस पर उत्तर देते हैं—

स्वाध्यायस्यतथात्वेन समाचारेऽधिकाराच्च सवच्चतन्नियमः ।३।३।३ ॥

स्वाध्यायो वेदः स एकमेव कर्म शाखाभेदेन भिन्न भिन्न प्रकारकं बोधयति, इति तत्प्रयुक्तः सभ्यग्भूतेऽग्निष्टोमादि लक्षण आचारे तत्तदंगाचारऽन्यूनात्रधिक-करणलक्षण इत्यर्थः। तावद्भिरेवांगैर्योगसंपत्तेरधिकरणस्याप्रयोजकत्वात् तावतामेवांगानांकरणम्। ननूक्तं तद्धर्माणामप्युपसंहारस्त्वदुक्तरीत्या संभवति, इत्यत आह-अधिकारादिति। सर्वेषांशाखिनां स्वस्वशाखोक्त कर्मण्येवाधिकारो न परशाखोक्तेऽप्यतोऽपि तथा नियमः। चकारात् स्वशाखोक्तात् कर्मणाऽति-रिक्ततत्करणेन्यूनकरणे च "यदस्य कर्मण" इत्यादि प्रायश्चित्त श्रवणमपि तन्नियमे हेतुः समुच्चीयते। अत एव क्वचित् परशाखोक्तमपि व्यवस्थित विकल्प विषयत्वेन कल्पसूत्रे उच्यते। विकल्पे तूभयस्याशास्त्रार्थत्वमुपसंहारे तूभयस्यापि शास्त्रार्थत्वमतोऽपि नात्रोपसंहार शंका। अत्र दृष्टान्तमाह-सववच्च इति, यथा सवा, होमा : सप्तसूर्यादयः शतौदनपर्यन्ता वेदान्तरोदितत्रेताग्न्यना-भिसम्बन्धादथर्वणोदितैकाग्निसंबंधाचाथर्वणिकानामेव कार्यत्वेन नियम्यन्ते। तथा तत्तच्छाखायास्तथात्वात्वात्तत्तदुक्त एव कर्मणि तत्तच्छाखिनामधिकाराच्च स्वस्वशाखोक्तादन्यूनानतिरिक्त कर्मकरण नियम इत्यर्थः।

स्वाध्याय अर्थात वेद, एक ही कर्म को शाखा के भेद से भिन्न-भिन्न प्रकार से बतलाता है, यही उसकी शैली है, विधिपूर्वक किए गए अग्निष्टोम आदि के आचार में, उन उन अंगों के आचार नियम में थोड़ी भी घट बढ़ नहीं होगी। उतने ही अंगों से याग की पूर्ति की जायगी, थोड़ी भी अधिकता का उसमें प्रयोजन नहीं है, अतः उतने ही अंगों का आचरण किया जाता है। यदि ऐसी बात है तो, उपर्युक्त उपासना व्यवस्था के अनुसार क्या उनके धर्मों का उपसंहार संभव है ? इस प्रश्न का उत्तर देते हैं—"अधिकारादिति" अर्थात्

सभी शाखाओ का, अपने-अपने शाखोक्त कर्म मे ही, अधिकार रहता है, पर शाखा मे नही रहता, यह नियम उस व्यवस्था के अनुकूल ही है। यदि अपनी शाखा से भिन्न किसी अन्य शाखा के कार्य का आचरण किया जाता है अथवा घट बढ की जाती है तो उसके लिए "यदस्यकर्मण" इत्यादि मंत्र मे प्रायश्चित्त की व्यवस्था की गई है, उन शाखोक्त नियमो के पालन मे कारणो का भी उल्लेख किया गया है। कही-कही दूसरी शाखा के कर्मो की आचरण व्यवस्था भी कल्पसूत्र मे, विकल्प से दी गई है। विकल्प व्यवस्था के अनुसार दोनो शास्त्रीय शाखाओ के धर्मो का उपसंहार स्वभावतः हो सकता है, क्यो कि दोनो के आचरण मे एकता हो जाती है इसलिए उनके उपसंहार के सम्बन्ध मे शंका नही करनी चाहिए। इसके सम्बन्ध मे दृष्टात देते है—"सववच्च" जैसे कि सप्तसूर्यादि से लेकर शतौदन पर्यन्त होम, अन्य वेदांत वाक्य मे उल्लेख त्रताग्नि से भिन्न होने से तथा, अथर्वण मे उल्लेख एकग्नि से सम्बन्धित होने से आथर्वणिक मे ही कार्य रूप से नियम्य हो सकते है, वैसे ही भिन्न-भिन्न शाखाओ मे बतलाये गये उन उनके कर्मों मे उन्ही शाखाओं का अधिकार है, अपनी-अपनी शाखाओ मे बतलाये कर्मो मे थोडी भी घट बढ करने का नियम नही है।

प्रकृतेऽपि तद्‌रूपोपासना प्रकरणे यावन्तो धर्माउक्तास्तस्मिन् रूपे तावद्ध-र्मत्वेनैवोपासना कार्या, तद्‌बोधकप्रमाणानुरोधाद्, ननु रूपान्तरोपासन प्रकर-णोक्तो साधारण धर्मत्वेनापि तथासति मत्स्योपासकस्य चापशरादिकमपि भावनीयं स्यात्: पुरुषरूपोपासकस्य च लक्षयोजनायमश्रृंगादिकम्। नन्वाथर्वणो-पनिषत्सु श्री रामोपासनाया—"यो वैपे मत्स्यकूर्माद्यवतारा भूर्भुवः सुवस्तस्मै वै नमोनम" इति वाक्येन तदितरावताररूपत्वमुच्यते। तेन तद्धर्मवत्वमप्या-क्षिप्यते ? सत्यमाक्षिप्यते तद्‌धर्मवत्वम्। तत्रायमाभिसंधिः। परमकाष्ठापन्नं "ब्रह्म स्वरूपं इदं" इति ज्ञात्वा हि उपासना कार्या। तेनैतस्यैवान्येऽवतारास्तत्तः द्‌रूपेण तानि तानि कर्माण्ययमेव कृतवान् इति ज्ञेयं परम्। न तु तस्मिन्नेव रूपेऽन्यावतार धर्मत्वपीति। तथा च तस्मिंस्तस्मिन्नवतारे तत्तद् धर्मवान् इति श्रुत्या बोध्यते, नतु सर्वत्रापि। तत्र बाधकमुक्तमेव। प्राणाद्युपासनास्वेतावान् विशेषो, यथा कर्मण्यतिरेके प्रायश्चित्त श्रवणं बाधकम्। श्रीरामस्वरूपाद्युपास-नासु च तेनावतारेणाकृतकर्मणस्तत्र भावनेऽपराधो बाधको, "योऽन्यथा संतमा-त्मानम्" इत्यादि वाक्यंच।" न तथा प्राणाद्युपासनासु अधिकगुणस्येतरत्रोप-संहारे किंचिदबाधकं दृश्यत् इति सत्कर्त्तुं शक्यते इति।

वेद के अनुरूप प्रकृत उपासना मे भी, जैसे रूप की उपासना का वर्णन किया गया है, उसमें जिन धर्मों का उल्लेख है, उस रूप में उन्ही धर्मो के अनुसार उपासना करनी चाहिए, क्योंकि उनके विषय में वैसा ही शास्त्र प्रमाण मिलता है, रूपान्तरोपासना के वर्णनानुसार छोटे से छोटे धर्म का पालन भी उक्त उपासना में हानिकर होगा। इस व्यवस्था के अनुसार, मत्स्योपासक, धनुष वाण आदि की भी भावना कर सकता है, पुरुषोत्तम का उपासका लाख योजन वाली श्रृंग की भी भावना कर सकता है। अथर्ववेदीय रामतापनीयोपनिषद् में श्री राम की उपासना में स्पष्टतः "जो कि मत्स्य कूर्म आदि अवतार धारण कर भूर्भुवसुवः में व्याप्त हैं उन्हें नमस्कार है" इत्यादि में श्रीराम को अन्य अवतारों के रूप में बतलाया गया है। ऐसा करने से दूसरे अवतारों के धर्म भी उन अवतारों में आक्षिप्त होंगे ? ठीक है वो तो होंगे ही, उसमें ऐसा ही नियम हैं। परमकाष्ठा को प्राप्त ब्रह्म के स्वरूप को पहचान कर ही उपासना करनी चाहिए उस रूप के ही ये अन्य अवतार भी हैं, उन अवतारों में विभिन्न कार्य भी इन्ही ने किये हैं, ऐसा समझ लेने से कोई अड़चन नहीं होगी। उस रूप में अन्य अवतारों के धर्म है ऐसी बात नहीं है अपितु उपर्युक्त बात ही है ? उन अवतारों में ही उन धर्मो की चर्चा श्रुति में की गई है, सब जगह उनकी चर्चा नहीं है प्राण आदि की उपासना में ये विशेषता है कि कर्म में भिन्नता-आने पर प्रायश्चित्त की व्यवस्था समक्ष उपस्थित होती हैं। श्री राम आदि स्वरूपों की उपासनाओं में उन अवतारों के कर्मो को न करने पर, उस भावनानुसार अपराध होता है, "योऽन्यथासंतमात्मानम्" इत्यादि वाक्य भी, पापापत्ति की बात कहता है। प्राणादि उपासनाओं में अधिक गुणों का दूसरे में उपसंहार करने में वैसी बाधा नही है, उन्हें किया जा सकता है।

ननु पुरुषादिरूपस्य विग्रहस्यैव शुद्धब्रह्मत्वादयमेवावतारान्तरेष्वपि लीलाकर्त्तेति ज्ञानमनुपपन्नमिति चेत्। मैवम्, धर्मिग्राहकमानेनैकस्यैव शुद्ध स्यैवानंतरूपत्वेन सिद्धत्वात्। वस्तुन एव तथात्वान्न काचिच्छंका। यथैकस्यैवान्योन्याभावस्यानंतभावप्रतियोगिकतद्रूपत्वं, तावत् प्रतियोगिकात्यन्ता भावरूपत्वं प्रतियोगिकान्योन्याभावात्यन्ताभावरूपत्वं चाभावाभावरूपत्वेऽप्यभावरूपत्वमेव चांगिक्रियते, तथेहाप्यस्तु। अभावत्वस्याप्रयोजकत्वात्। धर्मिग्राहकमानस्यैव तथात्वात्। तच्च तैत्तरीयोपनिषत्सु "अतः परं नान्यदणीयसँहि, परात् परं यन्महतो महान्तम्। यदेकमव्यक्तमनंतरूपं विश्वं पुराणं तमसः परस्तात्" इत्यादि श्रुतिरूपं प्रसिद्धमेव।

यदि कहें कि पुरुष आदि रूप विग्रह ही शुद्ध ब्रह्म है और वही अन्य अवतारों में लीलाकर्त्ता हैं, ऐसा ज्ञान जमता नहीं। वह तो जभी जम सकेगा जबकि धर्मि के आधार पर चला जाय तभी, एक ही शुद्ध ब्रह्म की अनन्तरूपों में कल्पना की जा सकती है। वह मूल वस्तु ही अनेक रूपों में व्यक्त होती है इसलिए किसी प्रकार की शंका नहीं हो सकती। जैसे कि एक ही वस्तु के अन्योन्याभाव का अनंतभाव प्रतियोगी, उसका रूप होता है, उस प्रतियोगी का वही अत्यंताभाव है; और उस अभाव रूप प्रतियोगी का अन्योन्याभाव अत्यंताभाव रूप होता है, इस प्रकार भावाभाव रूप होते हुए भी वह, अभावरूप में ही ग्रहण किया जाता है, वैसे ही उक्त ब्रह्म की बात भी है। जैसे कि वस्तु का अभाव प्रयोजन रहित होता है, वैसे ही, धर्मि की आधार मान्यता भी वैसी ही है। इसी बात को तैत्तरीयोपनिषद् में स्पष्ट कहा गया है—"इससे छोटा कोई और नहीं हैं, और इससे बड़ा भी कोई नहीं है ये सबसे महान है, इसका अव्यक्त अनंतरूप विश्व में प्राचीनतम है, अन्धकार से श्रेष्ठ प्रकाशवान् है।" इत्यादि।

अपरंच सर्वासामुपासनानां हि ब्रह्मविज्ञान साधनत्वेन श्रुतौ निरूपणं क्रियते। यत्प्रकारिकोपासना विज्ञान हेतुः स प्रकारं च निरूप्यते। एवं प्रत्येकस्यां शाखायाँ कतिपय गुण निरूपणं तदितरस्यां शाखायां तदतिरिक्ता नामपि गुणानामित्यत्र को हेतुः? इति पृच्छामः उपसंहारेण प्राप्तिमनिरूपेण हेतुं चेद् ब्रवीषि, तत्रवदामः एवं सति न्यूनगुणनिरूपिका श्रुतिः स्वोक्तानपि गुणान् न वदेत। तथाहि—उपासनानां ब्रह्मविज्ञान फलकत्वस्य निर्णीतत्वात् तस्य चैकजातीयत्वात् धटवत् क्लृप्तशेष साधना साध्यत्वाद् अशेष तन्निरूपिकैव श्रुतिर्निरूपयेद्। अन्यातूपासनाया नामोत्क्वोपासीतेत्येतावदेव वदेत्। गुणानाक्षेपलभत्वान्नवदेत्। उपसंहार्यानपि वा वदेत्। निरूपयतिच गुणान्नोपसंहार्यान्।

सही बात तो ये है कि—श्रुति में सभी उपासनाओं को ब्रह्म विज्ञान की साधनिका के रूप में निरूपण किया गया है, जिस प्रकार की उपासना, विज्ञान की हेतु है वैसे ही उसका निरूपण किया गया है। यदि ऐसी बात है तो एक शाखा में कतिपय गुणों का निरूपण किया गया, फिर दूसरी शाखा में अतिरिक्त गुणों का भी निरूपण क्यों किया गया? यदि कहें कि—निरूपण न करने से उपसंहार, किसका होगा? तब तो इसका तात्पर्य यह हुआ कि—

न्यून अधिक गुणों की निरूपिका श्रुति, स्वेच्छा से गुणों का बखान नहीं करती। तथा यह भी निश्चित हुआ कि—उपासनायें जब ब्रह्म विज्ञानफलक हैं तो वे सब एक जातीय हैं, तो घट की तरह सभी साधनों की पूर्ति करने की क्षमता उनमें विद्यमान है, श्रुति को उनका इसी रूप में निरूपण करना चाहिए। किन्तु श्रुति तो कहती है कि "नामोक्त्वोपासीत्" इत्यादि। गुणो के आक्षिप्त रूप का वर्णन नहीं करती, उपसंहार की चर्चा करती हों सो भी तो नहीं है "गुणान्नोपसंहार्यान्" ऐसा स्पष्ट निरुपण करती हैं।

न च स्वस्वशाखामात्राध्येतृणां उपासनासिद्ध्यर्थं सर्वशाखासूपासन प्रकारोक्तिरिति वाच्यम्। परशाखा ज्ञानेन तदुक्तगुणोपसंहारस्याप्यसंभ-बेनो पासनाया एवासंभवापातात्। तस्मात् स्वस्वशाखोक्तप्रकारिको-पासनायामेव सर्वेषामाधिकारात्तयैव ब्रह्मविज्ञानं भवति। तैतरीयाणां वाजसनेयि प्रभृतीनां चाग्निष्टोम संपत्त्या स्वर्ग इव प्रकृते ब्रह्मैक्यात्तत्तद्विज्ञानं ब्रह्मविज्ञानयेव। न हि रूपरसगंधादिमत्यां भुवि पुरुषर्भेदेनैकस्यैव चैकैक प्रकारकं तद्भूज्ञानम्' न तद्भूज्ञातम् एतेनानंतधर्मवत्वं ब्रह्णि ज्ञापितम्। तदुक्तं "परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञान बल क्रिया च" इति अत्र स्वाभाविकीति विशेषणादविद्या कल्पितत्वं शक्तीनां निरस्तम्।

एक मात्र अपनी-अपनी शाखाओं के पाठ करने वालों की उपासना की सिद्धि के बिए, समस्त शाखाओं में उपासना प्रकार का वर्णन किया गया हो, सो भी कहना कठिन है। दूसरे की शाखा के ज्ञान से उनके गुणोपसंहार का भी ज्ञान हो जाय ऐसा भी असंभव है, इसलिए उपासना भीं असंभव ही है। इसलिए अपनी अपनी शाखा में बतलावी गयी उपासना के प्रकार के अनुसार की गयी उपासना में ही सबका अधिकार है, उसी से ब्रह्मज्ञान भीं संभव है। जैसा कि वाजसनेयी और तैत्तरीय आदि में वतलाये गये अग्निष्टोम के प्रकार का होने वाले स्वर्ग की तरह, समस्त उपासनाओं में एकमात्र उपास्य ब्रह्म ही है अतः उन उपासनाओं के विज्ञान ब्रह्म विज्ञान ही हैं। पृथ्वी में रूप रसगंध आदि की संवेदनाओं के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकार का ज्ञान होता है, एक को जैसा ज्ञान होता है दूसरे को वैसा नहीं होता। इससे ही निश्चित होता है कि, ब्रह्म में अनंत धर्म विद्यमान हैं, उसी के लिए श्रुति कहती हैं—"परमात्मा की अनेक शक्तियाँ सुनी जाती हैं,स्वा-भाविकी, ज्ञान बल क्रिया आदि" इसमें स्वभाविकी कह कर अविद्याकल्पित शक्तियों को निरस्त किया गया है।

केचित्वाथर्वणिकानां विद्यां प्रति शिरोव्रतापेक्षणादन्येषां तद नपेक्षणाद् विद्याभेद इति प्राप्त, उच्चते—स्वाध्यायस्यैव धर्मो न विद्यायाः। कथमिदम-वगम्यत यतस्तथात्वेन स्वाध्याय धर्मवत्वेन समाचारे वेदव्रतोपदेशनपरे ग्रन्थे आथर्वणिका इदमपि वेद व्रतत्वेन समामंनति। "नैतदचीर्ण व्रतोऽधीत" इति चाधिकृतविषयादेतच्छब्दादध्ययनशब्दाच्च स्वोपनिषदध्ययन धर्म एवैष इति निर्द्धायिते। तस्मादनवद्यं विद्यैकत्वमिति सूत्रार्थं वदंति।

कोई इस आथर्वणिक विद्या को शिरोव्रत की विद्या से अपेक्षित मानकर, अन्यों से अन्यों से अपेक्षित न मानकर, धर्मभेद से कर्मभेद की आशंका करते हैं। उस पर सूत्रकार कहते हैं कि उक्त विद्या के धर्म केवल स्वाध्याय (वेदपाठ) मात्र के हैं, कार्य सन्बन्धी स्वाध्याय धर्म के रूप में, जहां वेदव्रतों का उपदेश दिया गया है वहाँ इस आथर्वणिक का भी वेदव्रत रूप से उल्लेख किया गया है। "नैतच्चीर्णव्रतोऽधीत्" इत्यादि वाक्य में अधिकृत रूप से "एतद्" शब्द का प्रयोग किया है, इससे और अध्ययन शब्द से भी उपनिषद् के अध्ययन धर्म के रूप में ही इसका निर्णय होता है। अतः इसे सूत्र से निश्चित होता है कि सभी विद्यायें एक हैं।

स चिन्त्यते, न ह्यस्य विद्याधर्मत्वं, विद्याभेदकम् उक्तन्यायेनान्यत्रापि तदुपसंहारस्य वक्तुं शक्यत्वात्। न चाऽनुसंहारार्थमेवातद्धर्मत्वं बोध्यत इति वाच्यम्। उपक्रमोपसंहाराभ्यां विद्यैकत्वनिर्णयस्यैव दृश्यमानत्वादुपेक्ष्य इव भाति। ननु तदुक्तिर्यथा तथाऽस्तु। अतद्धर्मत्वबोधनस्यानुपसंहारार्थकत्वे कानुपपत्तिरिति चेत्। उच्चते–सूत्रस्य तदुक्तार्थत्वे हि तत्तात्पर्य कल्पना, स एव त्र न साधीयान्। तथाहि "स्वाध्यायोऽध्येतव्य" इत्यादिषु स्वाध्याय शब्द-स्य वेदवाचकत्वं प्रसिद्धम। समाचार शब्दस्य विहित क्रिया वाचकत्वं च। तत्रोभयोरपि मुख्योऽर्थो बाध्यते। तस्मिन् संभवति तद्बाधस्त्वयुक्तः। किं चैवं नत्वग्निष्टोम एवोद्दिस्येत्यादिनोक्ता शंकाया अनिवृत्तिरिति।

इस विषय पर युक्त अयुक्त का विचार करते हैं। कहते हैं कि ये विद्या धर्म नहीं हो सकते विद्याभेद के निवारण के लिए ही इस शिरोव्रत के विद्या धर्मत्व का निवारण कर अध्ययन धर्मत्व की स्थापना की गयी है। इससे निर्णय होता है कि इसकी विद्याधर्मता नहीं है किन्तु विद्या अभेदकता तो है ही। उक्त न्याय के अनुसार अन्यत्र भी धर्मों का उपसंहार कर सकते हैं।

ऐसा नहीं कह सकते कि अनुपसंहार के लिए हो विद्याधर्मत्व का निर्णय हो जाता है उसी से उपेक्ष्य की तरह प्रतीत होता है। यदि कहें कि उसमें जो कुछ कहा गया है वो ठीक ही होगा, पर अनुपसंहार के लिए ही विद्या धर्मत्व का निषेध मानने में क्या बनता-बिगड़ता है? इसका उत्तर देते हैं कि सूत्र का अर्थ उसके अनुसार मानने से ही उसका सही तात्पर्य निकल सकता है। तथा "स्वाध्यायोध्येतव्यः" इत्यादि में स्वाध्याय शब्द की वेदवाचकता प्रसिद्ध है तथा समाचार शब्द की विहित क्रिया वाचकता भी प्रसिद्ध है। ये दोनों ही मुख्यार्थ का बाध करते हैं। इसलिए इन अर्थों के विपरीत विचार करना असंगत है। अग्निष्टोम को लेकर, उक्त प्रकार की शंकाओं की निवृत्ति नहीं हो सकती।

ननु आथर्वणोपनिषत्सु पठ्यते "स होवाचाब्जयोनिर्यो अवताराणां मध्ये श्रेष्ठोऽवतार को भविता येन लोकास्तुष्टा देवास्तुष्टा भवंति, यं स्मृत्वा मुक्ता अस्मात् संसाराद् भवंति कथं, चास्यावतारस्य ब्रह्मता भवति। स हो वाच तं हि नारायणो देव" इत्युपक्रम्य मथुरा स्वरूपं निरूप्य निगद्यते "यत्रासौ संस्थितः कृष्णः स्त्रीभिः शक्तया समाहित" इति तेनास्यावतारस्याशेषावताराणां मध्ये श्रैष्ठ्यं निरूप्यते। श्रीमद्भागवतेऽपिच "एतेचांशकलापुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयमिति गीयते। पूर्वोक्त रीत्या तु सर्व तुल्यता प्रतीयत इति नैकतर निर्द्धारः संभवति। किं च ब्रह्मणो निरवयवत्वे नैकस्यांशित्वमन्येषां तदंशत्वमित्यपि वक्तुमशक्यम् इति प्राप्ते। अभिधीयते—"सत्वं यस्य प्रिया मूर्तिः विशुद्ध सत्वं तव धामशान्तम्" इत्यादि वाक्यैरप्राकृतो भगवत्स्थान भूतः सत्वनामा भगवद्धर्म रूप एव कश्चनास्ति। यादृशेन रूपेन भगवान् कार्यं कर्त्तुमिच्छति-तादृग्रूपं तं प्रकटीकृत्य तस्मिन् स्वयमाविर्भूयाऽयः पिण्डे वह्विवत्तत्तत्कार्याणि करोति, यस्मिन् यस्मिन्नवतारे स सोंऽश इत्युच्यते। तत्र हि विग्रहस्तत्राविर्भूतं ब्रह्म स्वरूपं च प्रतीयते विग्रहस्य सत्वात्मकत्वेन धर्मरूपत्वात् तत्राविर्भूतस्यैव ब्रह्म-त्वात् समुदितस्यावतारत्वेन गणनात् तत्रैकस्यैवांशस्य तद्रूपत्वं यत तदेवांश-त्वम्। यथाधिष्ठानमनपेक्ष्य स्वयमेव शुद्धं साकारं ब्रह्माविर्भवति भक्तयर्थं स स्वयं पूर्णो भगवान् उच्यते। एत देव च श्रैष्ठ्यम् अत एव सर्वतः पाणिपान्तत्वं स्वस्मिन् स्फुटं ज्ञापयितुं तोकादिभावे नाविर्बभूव तेन यादृग्यादृग्लीला विशिष्टं यद्यद्बाल्य पौगण्डाद्यवस्थाविशिष्टं तत्तद्रूपं नित्यमेवेति वयं जानीमः।

आथर्वणोपनिषद् में वर्णन है कि "उसने कहा कमलनाभि के अवतारों, में श्रेष्ठ अवतार कौन सा है, जिससे लोक और देवता प्रसन्न होते हैं, जिनका

स्मरण कर संसार से मुक्त होते हैं। ऐसे अवतार की ब्रह्मता कैसे है ? इसपर उन्होंने उत्तर दिया ऐसे देवता नारायण देव" इत्यादि उपक्रम करके मथुरा का निरूपण करते हुए कहते हैं—"ये जो शक्ति स्वरूपा स्त्रियों से आवृत कृष्ण विराजमान हैं" इत्यादि से, उनके उनके अवतारों में, इस अवतार की श्रेष्ठता बतलाई गई। एते चांशकलापुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्" इत्यादि-श्रीमद्-भगवत, में भी कहा गया। पूर्वोक्त रीति मानने से तो सभी की तुल्यता निश्चित होगी किसी की विशेषता निश्चित न होगी। अब प्रश्न होता हैं कि ब्रह्म तो निरवयव है, उसे अंशी और सबको उसका अंश कहना कहाँ तक ठीक है ? इसका भी समाधान उपनिषद् में ही किया गया है "सत्व ही जिसकी प्रिय मूर्ति हैं, ऐसे आपका विशुद्ध सत्व शान्त तेज है" इत्यादि में अप्राकृत भगवत्स्वरूप में सत्व संपन्न कोई भगवद्धर्म है, ऐसा बतलाया गया है। जिस रूप में भगवान कार्य करना चाहते हैं, वैसा रूप प्रकट करके, उसमें, स्वयं लोहे के गोले में अग्नि के समान आविर्भूत होकर उन-उन कार्यों को करते हैं। जिन जिन अवतारों से उक्त प्रकार की लीलायें होती हैं वे अवतार उनके अंश कहलाते हैं। उस अवतार विग्रह में आविर्भूत ब्रह्म-स्वरूप की प्रतीति होती है, वह विग्रह सत्वात्मक होने से, आविर्भूत ब्रह्म की धर्म रूपा होती है, चैतन्यस्वरूप वह विग्रह ही अवतार मानी जाती है, उस ब्रह्म के ही एक अंश से उस सत्व विग्रह का प्राकट्य होता है इसलिए वह ब्रह्मांश कही जाती है। जब किसी भी अधिष्ठान की अपेक्षा न करके स्वयं शुद्ध साकार ब्रह्म आविर्भूत होते हैं, तो भक्तों के लिए वे स्वयं पूर्ण भग-वान कहलाते हैं। यही उनकी श्रेष्ठता है। सब जगह ऊनके हाथ पैर व्याप्त हैं (इस तथ्य को पुष्ट करने के लिए), अपने में उसका स्फुरण दिख-लाने के लिए शरीर आदिर्भाव में प्रकट होते हैं, उस देह से जो विशिष्ट लीला में, बाल पौगण्ड आदि रूपों में करते हैं, उन्हें हमें नित्य मानना चाहिए।

न चैवं सच्चिदानंदविग्रहोक्तिः सर्वत्र विरुद्धा भवेदिति वाच्यम्। सत्वस्यापि भगवद्धर्मत्वेन सच्चिदानंदरूपत्वादनिरोधात्। मंत्राद्याधिष्ठातृ रूपाणि तु विभूतिरूपाणि। एतच्च यथा तथा भक्तिहंसे प्रपंचितम् तत्वंच प्रकाशाश्रयवद्वा तेजस्त्वादितिन्यायेन भगवद्धर्माणामपि सच्चिदानंदरूप त्वाहीनाधिकारिणामप्युपासकानां फलप्रेप्सूनां तत्तत्फल दानार्थमैश्वर्यादिरूपेण तत्र तत्र स्थितत्वमेव।

यह नहीं कह सकते कि सच्चिदानंद विग्रह सम्बन्धी बात हर जगह विरुद्ध होगी। सत्व भी, एक भगवद्धर्म है जो कि सच्चिदानंद विग्रह से अविरुद्ध है। मंत्रादि के द्वारा अधिष्ठातृ तो विभूति रूप हैं। इस विषय को ससुचित रूप से हमने भक्तिहंस में बतलाया है। तत्व तो "प्रकाशाश्रय की तरह है, क्योंकि उसमें तेज व्याप्त होता है" इस न्याय से भगवद्धर्म भी सच्चिदानंद रूप हैं, अतः वे परमात्मा, फलेच्छु उपासकों को उनकी ऊँची नीची उपासनाओं के अनुसार फल देने के लिए ऐश्वर्य आदि रूपों में स्थित होते हैं।

नन्वेकस्यैव शुद्धस्यैवानंतरूपत्वं भवतैवोक्तमतो मत्स्यादिरूपेष्वपि नाधिष्ठानत्वेन सत्वंवक्तुं शक्यम्, किंचैवं निराकार स्वाभात्वंब्रह्मणः सिद्धयतीति सत्वाव्यवहितप्राकट्योक्तिरप्युपपन्न इति चेत्। मैवम् सत्वाधिष्ठानत्वस्य प्रमाणसिद्धत्वेनानपनोद्यत्वात्। तच्चोक्तं "यदेकमव्यक्तमनंतरूपम्" इत्यादि। प्राकट्यं हि भक्ति निमित्तम्। सा तु बहुविधेति तदनुरूपं प्राकट्यमपि तथा। सर्गादिकार्येष्वधिकृतानां भक्तानांमतिरासक्तिरप्यस्ति इत्युपाध्यन्तरित स्नेहवत्वात् चानंतरूपत्वेन मत्स्यादि रूपोऽपि तदर्थं तद्व्यवहित एव प्रकटी भवति।

यदि शंका करें कि—एक ही शुद्ध ब्रह्म की अनंतरूपता आपके कथनानुसार मत्स्यादि रूपों में भी, अधिष्ठान रूप से नहीं हो सकती क्योंकि ब्रह्म की निराकार स्वभावता प्रसिद्ध है इसलिए सत्व से अव्यवहित प्राकट्य की बात नहीं बन सकती। उक्त शंका भी असंगत है, सत्वाधिष्ठान प्रमाण सिद्ध है उसको झुठला नहीं सकते "यदेकमव्यक्तमनंतरूपम्" इत्यादि में स्पष्टतः कहा गया है। प्राकट्य तो भक्ति के लिए होता है। भक्ति अनेक प्रकार की है, प्राक्ट्य भी उनके अनुरूप होता है सर्गादि कार्यो में अधिकृत भक्तों में अन्यत्र भी आसक्ति रहती है इस स्नेह से प्रभु ने अपने बने मत्स्यादि अनंत रूपों में उनको भावनानुसार प्रकट कर दिया। जो एक मात्र भगवत्स्वरूप में आसक्त थे उनके लिए प्रभु स्वयं प्रत्यक्ष प्रकट हो गए।

एतेनैव निराकारत्वाशंकापि निरस्ता। एतेन सोपधस्नेहवदर्थमेव मत्स्यादि रूप प्राकट्यस्य प्रमाणसिद्धवात् निरुपधिततदर्थमेव श्री ब्रजनाथ प्राकट्यस्यापि तथात्वात् सोपाधिस्नेहवत्स्वपि पुरुषार्थदानस्यानुषंगिकत्वात् "पुरुषविध" इति श्रुतेश्चैतदेवरूपम", रसो वै सः" इत्यादि श्रुति प्रतिपाद्ये

निरुपधि स्नेहवतां विषयः। इदमेव च श्रैष्ठ्यम्। मत्स्यादि रूपं तु सौपधित-द्वतामेव तथा। ताहक् तद्वतामर्थ एव प्राकट्यादित्यवमीयते। एवं सति गुणभेदकस्याऽप्रयोजकेत्वात् सर्व वेदांतप्रत्ययत्वं ब्रह्मणो निष्प्रत्यूहम्।

उपर्युक्त समाधान से निराकारता की शंका भी निरस्त हो जाती है। इसी से सोपधिस्नेहवश होने वाले मत्स्यादिरूपों की बात भी प्रमाणित होती है, स्वाभाविक रूप से होने वाला श्री ब्रजनाथ का प्राकट्य भी, उक्त मतानुसार सिद्ध है। अस्वाभाविक स्नेहवश स्वयं पुरुषार्थ दान की बात आनुषंगिक है, "पुरुषविध" इत्यादि श्रुति ऐसे ही रूप का उल्लेख करती है।" "रसो वै सः" इत्यादि श्रुति प्रतिपाद्य स्वरूप, स्वाभाविक स्नेहवान प्रभु का है। यही श्रेष्ठ स्वरूप है। मत्स्यादि रूप तो औपाधिक भक्तों के लिए है। उनकी कामनानुसार ही प्राकट्यादि हुए। इस प्रकार, गुणभेद की अप्रयोजकता निश्चित होती है तथा ब्रह्म की सर्ववेदान्त प्रत्ययता भी निश्चित होती है।

दर्शयति च ।३।३।४।।

वेद्यैकत्वेन विद्यानामेकत्वं श्रुतिर्दर्शयति "सर्वेवेदायत्पदमामनंति" इत्यादिना। उपासनाप्रकारभेदेनोपास्यभेददर्शने दोषं च दर्शयति। "यदाह्येवैष एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुते अथ तस्य भयं भवति" इति। उदित्यव्ययमप्यर्थकम्। तथाचारमल्पमप्यन्तरं कुरुत इत्यर्थः।

"सर्वे वेदा यत्पदमामनंति" इत्यादि श्रुति वेद्यवस्तु एक है उसी के आधार पर समस्त विद्याओं की एकता का प्रतिपादन करती है। "यदा ह्येवैष एतन्मिन्नुदरम्" इत्यादि श्रुति उपासना प्रकार के भेद से उपास्य भेद दृष्टि, को दूषित बतलाती हैं। इस प्रकार अव्यय शब्द भी अर्थवान सिद्ध होता है उपासना भेद से आचार में अल्पान्तर करना चाहिए यही उक्त श्रुतियों का तात्पर्य है।

उपसंहारोऽर्था भेदाद् विधिशेषवत् समाने च ।३।३।५।।

ननु पूर्वसूत्रोक्तरीत्या गुणोपसंहारो न क्वचिदपि प्राप्तावसर इति सिद्धम्। दृश्यतेचोपसंहारः श्री रामोपनिषत्सु "यो वे ये मत्स्यकूर्माद्यवतारा" इत्यादिनोक्तावतार रूपत्वस्य श्री रामे" नमस्ते रघुवर्माय रावणान्तकराय च" इत्यादिषु ते इति युष्मच्छब्द विषये श्री ब्रजनाथे रघुवर्यत्वादेरित्याशंक्य तत्प्रयोजकं रूप-

माह । उपसंहार इत्यादिना । उक्त स्थलादिषु यः उपसंहारः सत्वर्यस्य पदार्थस्य भगवल्लक्षणस्योभयत्राप्यभेदादित्यर्थः ।

पूर्व सूत्र की रीति के अनुसार तो कभी भी गुणोपसंहार का अवसर नहीं मिल सकता, जब कि रामोपनिषद् में स्पष्ट उपसंहार दीखता है—"यो वै ये मत्स्यकूर्माद्यवताराः" इत्यादि "नमस्ते रघुवर्याय" इत्यादि में राम के अवतार रूप के वर्णन है, उक्त वाक्य में ते शब्द श्री व्रजनाथ के रघुवर्यत्व का द्योतक है क्या ? इस संशय पर प्रयोजक रूप को सिद्ध करते है—"उपसंहार इत्यादि उक्त स्थलों में जो उपसंहार है, वह सत्व वाची भगवल्लक्षणयुक्त पदार्थ है, इसलिए दोनों ही अभिन्न हैं, (अर्थात् राम और कृष्ण में कोई भेद नहीं है ।)

नन्वेवं सति मत्स्ये शर चापादिकं, पुरुषे च शृंगादिकं भावनीयं स्यात् इति चेत्-तत्राह-विधिशेषवता इति यथा विधिशेषाणामग्निहोत्रादीनामग्निहोत्रत्वादि लक्षणे धर्मे समानेऽपि सति स्वस्वशाखोक्त प्रकारस्यैव करणं । नान्यशाखोक्त धर्मोपसंहार, एवमिहापि तत्तदवतारोपासकस्य तत्तदसाधारणधर्मवत्वेनैवो-पासनं, नान्यावतारधर्मवत्वेनापीत्यर्थः । यद्वा मत्वर्थीयो वत् प्रत्ययोऽत्र । तथा च विधिशेषोऽर्थवादस्तद्वत् समानं च भवति यत्तत्र चोपसंहार इत्यर्थः ।

यदि अभिन्नता की बात मान ली जाय तो, मत्स्य में शरचाप आदि की तथा पुरुष में शृंग आदि की भावना होगी । इसका समाधान करते हैं "विधिशेषवत्" जैसे कि विधिशेष अग्निहोत्र आदि के अग्निहोत्र आदि लक्षण धर्मों में समानता होते हुए भी अपनी-अपनी शाखाओं के प्रकारों का ही उप-संहार करने का प्रचलन है, अन्य शाखा का नहीं है, वैसे ही यहाँ भी उन-उन अवतारों के उपासकों को उन-उन अवतारों की विशेषताओं की उपासना करनी चाहिए अन्य अवतारों के धर्मों की उपासना विहित नहीं है । उक्त सूत्र में वत् प्रत्यय मत्वर्थीय है, उसी के अनुसार सूत्रार्थ करना चाहिए । विधिशेष केवल अर्थवाद है, उसी के समान उक्त उपासनाओं में अन्य अवतारों के धर्म की बात भी है इसलिए उपसंहार करने में कोई अड़चन नहीं है ।

अत्रैवं ज्ञेयम् एकस्यां श्रुतौ यस्य कर्मणो यत् फलमुच्यते तदितरस्यां तस्याँ तस्यैव कर्मणस्तदितरत् फलमुच्यते । एवं सति द्वितीय श्रुत्युक्त फल कामनयाऽपि तदेव कर्म कर्त्तकं भवतीति तत्फलसाधकत्वस्योपसंहारः । यथा

"यद् वैश्वदेवे न यजते प्रजा एव तद्यजमानः सृजत" इत्येना श्रुतिरस्य यागस्य प्रजाफलकत्वमाह। "यद्वैश्वदेवेन यजते अग्निमेव तत्संवत्सरमाप्नोति, तस्माद् वैश्वदेवेन यजमानः संवत्सरीणां स्वस्तिमाशास्ते" इत्याशासीतेति द्वितीया श्रुतिराह। तत्रोक्तरीतिरिति। यत्तू विधिशेषांणामग्निहोत्रादि धर्माणां तदेवैकमग्निहोत्रादिकर्म सर्वत्रेत्यर्थाभेदादुपसंहार इति। तन्न साधु अग्नि होत्रादेस्तत्तच्छाखिनां स्व स्व शाखोक्त प्रकारस्यैव करणादतिरेके प्रायश्चित्तश्रवणानांऽन्य शाखोक्त धर्मोपसंहारः शक्यवचनः। प्राणाद्युपासनास्वधिकगुणस्येतरत्रोपसंहारे न किंचिद् बाधकं दृश्यते इति तत्र स कर्त्तु शक्यत इति चकारेण तदादयः संगृह्यन्ते। वस्तस्तु पूर्वं समुच्चयार्थश्चकारः। शाखान्तरोक्त धर्मोपसंहार प्रयोजनाभावस्य, बीजमनेन सूत्रेणोक्तम्।

उक्त प्रसंग में विशेष ज्ञेय बात ये है कि एक श्रुति में जिस कर्म का जो फल बतलाया गया है, उससे भिन्न श्रुति में, उस कर्म का वैसा ही फल नहीं कहा गया है उससे भिन्न फल कहा गया है। इस प्रकार द्वितीय श्रुति में कहे गए फल की कामना से वही कर्म करना उचित है, उसके फल के साधकत्व गुणों का ही उपसंहार होगा। जैसे कि "जो वैश्वदेव से भजन करता है, उस यजमान को प्रजा प्राप्ति होती है" ऐसी एक श्रुति इस यज्ञ का, प्रजा प्राप्ति फल बतलाती है। "यद वैश्वदेवेन यजते अग्निमेव संवत्सरमाप्नोति" इत्यादि द्वितीय श्रुति आर्शीर्वादक है। इसमें उपर्युक्त रीति ही दृष्टिगत होती है। जो विशेष अग्निहोत्र धर्मों के एक ही अग्निहोत्र आदि कर्मों को सब जगह प्रयोग करते हैं, वे अर्थभेद से उपसंहार करते हैं। वह शिष्टाचार के विरुद्ध बात है, अनादरणीय है। अग्नि होत्र आदि कर्मों को, उन उन शाखाओं के अनुसार, अपनी-अपनी शाखा के प्रकार से ही प्रयोग करना चाहिए, उसके विपरीत करने में प्रायश्चित का विधान किया गया है, अतः अन्यशाखोक्त धर्मोंका उपसंहार नहीं कर सकते। प्राण आदि उपासनाओं में अपने से अधिक कहे गए गुणों का दूसरे में उपसंहार करने में कोई बाधा नहीं दीखती इसलिए वहाँ तो किया जा सकता है। सूत्रस्थ चकार पूर्व समुच्चयार्थक है। अन्य शाखा में कहे गए धर्मों के उपसंहार के प्रयोजन के भाव क "स्वाध्यास्य तथात्वेन" इत्यादि से निरूपण किया गया है। उपसंहार का बीज इसी सूत्र में कहा गया है।

अन्यथात्वं शब्दादितिचेन्नाविशेषात् ।३।३।६।।

ननूपासनासूक्तन्यायेन गुणोपसंहारो ह्युपास्यानां ब्रह्मत्वेनैक्ये सति भवति। मिथे विरुद्धानां गुणानां शान्तत्वक्रूरत्वतपोभोगादीनामुपसंहारे

क्रियमाणे स्वरूपाणामन्यथात्वं अब्रह्मत्वं स्यादित्यर्थः। तत्र हेतुः, शब्दादिति एकत्वैकरसत्वादि धर्मनिरूपक श्रुतेरित्यर्थः । समाधत्ते-नाविशेषादिति-एक रसत्वं यथा श्रुतिबलान्निर्णीयते तथा विरुद्ध धर्मवत्वमपि तत एव तथेत्यर्थः। तेन वस्त्वेव तत्तादृङ्मन्तव्यमिति भावः।

उक्त नियम के अनुसार उपासनाओं में ब्रह्मैक्य के कारण, गुणोपसंहार संभव है किन्तु एक साथ शान्ति, क्रूरता, तप, भोगादि बिरुद्ध गुणों के उप-संहार करने में स्वरूप भेद और अब्रह्मत्व होगा। एक श्रुति प्रायः एक रस धर्मों का ही निरुपण करती है। उक्त संशय का समाधान करते हैं कि जैसे श्रुति के आधार पर एक रस धर्म का निर्णय करते हैं वैसे ही विरुद्ध धर्मों का भी उसी प्रकार निर्णय (सामंजस्य) कर लेना चाहिए। अर्थात् वह वस्तु ही ऐसे विरुद्ध स्वभाव की है ऐसा मान लेना चाहिए।

न वा प्रकरण भेदात्परोवरीयस्त्वादिवत् ।३।३।७।।

पूर्व सूत्रोक्ताशंका निराकरणं वा विकल्पेन पूर्वोक्तात् प्रकारान्तरेण कर्त्तव्यमित्याह। न चेति, तमेवाह, प्रकरण भेदादिदि। अत्रायं भावः। श्रुति प्रामाण्याद् यावत्तदुक्त धर्मवत् ब्रह्मेति मंतव्यम्। एवं सति यादृशोऽधिकारिणो यादृग्वेद्यं रूपं तादृशस्य तस्य तादृक् तन्निरूपयति प्रकरण भेदेन। तथा च ज्ञान प्रकरणे ज्ञानाधिकारिणो यादृग्रूपं ज्ञेयं तादृग् तस्मै निरूपयत्यदृश्यग्राह्य-मित्यादिरूपा श्रुतिः। भक्ति प्रकरणेतु भक्तेर्बहुविधत्वात् यादृग्ग्यादृग्भक्तानां यादृग्यादृग् तदनुभवविषयस्तादृग्तादृग् तन्निरूपयति अथर्वणोपनिषदिति। तत्र दृष्टान्तमाह "परोवरीयस्त्वादिवदिति" अस्मिन् में लोकेत्दर्धुकँ स्यादिति कालवत आराग्रावान्तरदीक्षा पूर्वमुक्ता। "तदग्रे परोवरीयसीमऽवान्तरदीक्षा मुपेयाद् यः कामयेतामुष्मिन् में लोकेऽद्र्धुकँ स्यादिति चतुरोग्रेऽथ त्रीनथ द्वाव-थैकमेषा वै परोवरीयस्यवान्तरदीक्षैति पठितम्। अस्य दीक्षा प्रकरणे पठित-त्वात् दीक्षां विनोक्तरीत्या ब्रतेतु न परोवरीयस्त्वमेवं भक्ति प्रकरणीयाना-मथर्वणोपनिषदाद्युक्यरूपाणां न भक्तिरहितोपास्यत्वम्। ज्ञानसाधनत्वेन विष्णुस्मरणादावपि क्रियमाणे भक्तित्वं नेति। अथवा पूर्वसूत्रेण सर्वरूपेषु मिथः सर्वधर्माणामुपसंहारः प्राप्तः।

पूर्व सूत्रोक्त शंका का निराकरण ही उचित है अथवा विकल्प से पूर्वोक्त कथन को प्रकारान्तर से कहना उचित है। इस पर कहते हैं नचेति इत्यादि

इसका भाव ये है कि श्रुति के प्रमाण से जितना कुछ निश्चित होता है उसी में कहें गए धर्मो की तरह ब्रह्म को मानना चाहिए। इस नियम के अनुसार, जिस अधिकारी की अर्हता के अनुसार जैसा वेद्य रूप है, उसये अनुसार प्रकरण भेद से वैसे ही रूप का निरूपण किया गया है। जैसे कि ज्ञान प्रकरण में ज्ञानाधिकारी के लिए जैसा रूप ज्ञेय है, वैसा ही उसमें निरूपण किया गया है "अदृश्यमग्राह्यम्" इत्यादि। भक्ति प्रकरण में तो भक्ति के अनेक रूप होने से, जैसे-जैसे भक्तों के जैसे-जैसे उनके अनुभव के विषय है वैसे-वैसे रूपों के निरूपण अथर्वोपनिषदों में किये गए हैं। उस पर दृष्टान्त देते हैं "परोवरीयस्त्वादिवत् "अस्मिन् में लोके" इत्यादि में आराग्र आवान्तरदीक्षा का उपदेश दिया गया। उसके बाद "परोवरीयसीम" इत्यादि में परोवरीय की अवान्तर दीक्षा की बात कही गई। इस दीक्षा प्रकरण के पाठ से यह निर्णय हुआ कि दीक्षा के विना उक्त रीति के व्रत का परोवरीयत्व नहीं हो सकता, उसी प्रकार भक्ति प्रकरणीय अथर्वणोपनिपदों में पठित रूपों की उपासना, बिना भक्ति के संभव नहीं है। ज्ञान के साधन विष्णुस्मरण आदि में, भक्तित्व नहीं है। अथवा पूर्वसूत्र के अनुसार, सब रूपों में आपस में समस्त धर्मों का उपसंहार प्राप्त है ही।

स चैकान्तिक भक्तानुभव विरुद्ध इत्रत्य व्यवस्थित विकल्पमाह नवेत्यादिना, सर्वेष्ववतारेषु भगवदवतारत्वेन साधारणी भक्तिर्यस्य स सर्वत्रोपसंहारं करोतु नाम। यस्त्वेकान्ती तस्य स्नेहोत्कर्षेणान्तः करणमेकस्मिन्नेव रूपे पर्यवसितमिति रूपान्तरमंतःकरणारूढं न भवेत्येवेति नोपसंहार संभावनापीति। तदेतदुच्यते न वेत्यनेन, तत्र हेतुः प्रकरणभेदादिति। श्रुत्यादिषु तत्तदधिकारिणमुद्दिश्य तत्तत्प्रकरणमुक्तम्। तेनात्र प्रकरणभेदेन अधिकार उच्यते। एवं सत्युपासकादिभ्य उक्तरीत्योत्कृष्टाधिकारादित्यर्थः संपद्यते। परोवरीयस्त्वादिवदिति, परस्मात्परश्च, वराच्च वरीयानीति परोवरीयांनुद्गीथः। तथाचाक्ष्यादित्यादिगत हिरण्यश्मश्रुत्वादि गुणविशिष्टोपासनाया अप्युद्गीथो पासनात्वेन साम्येऽपि सर्वोत्कृष्टत्वेनैवोद्गीथो भासत इति, न हिरण्यश्मश्रुत्वादि गुणोपसंहारः। परोवरीयस्त्वगुणविशिष्टोद्गीथोपासनायामेवं प्रकृतेऽपीति।

जो एक निष्ठ भक्त हैं, उन्हें, परस्पर गुणोपसंहार अनुभव विरुद्ध प्रतीत होता हैं। इसपर व्यवस्थित विकल्प उपस्थित करते हैं "न वा" इत्यादि।

सभी अवतार भगवद्वतार हैं इसलिए जिनकी सामान्य भक्ति है जो वे सर्वत्र परस्पर गुणोपसंहार कर सकते हैं। जो एकान्ती भक्ति करते हैं, स्नेहोत्कर्ष से उनका अन्तः करण एक ही रूप में डूबा रहता है, इसलिए उनका अन्तः करण किसी अन्य रूप में आरूढ़ नहीं होता। इसलिए उपसंहार की संभावना नहीं है। यही बात न वा इत्यादि से सूत्रकार कहते हैं। प्रकरण भेद भी इसी तथ्य के द्योतक हैं, श्रुतियों में अधिकारी भेद से प्रकरणों की भिन्नता है। इस नियम से उपासकों के उत्कृष्टाधिकार की बात सिद्ध होती है। जैसे परोवरीय कीं उपासना उत्कृष्टाधिकार की परिचायिका है। जो पर से पर वर से वर है वही परोवरीय है उसे उद्‌गीथ कहा गया है। यद्यपि, नेत्र आदित्य आदि में स्थित हिरण्यश्मश्रु आदि रूप गुणों से विशिष्ट उपासना भी, उद्‌गीथ उपासना के समान हैं, किन्तु सर्वोत्कृष्टरूप से उद्‌गीथ ही मानी गई है इसलिए हिरण्यगर्भ आदि गुणों का उपसंहार उसमें नहीं होगा, परोवरीयत्व का तात्पर्य है गुणविशिष्ट उद्‌गीथ उपासना, उसके समान ही प्रकृत उपासना में भी है।

संज्ञातश्चेत्तदुक्तमस्ति तु तदपि ।३।३।८।।

एकान्त्यनेकान्तिनोरपि श्री रामोपासकत्वादि संज्ञा त्वविशिष्टेत्येकान्तितोऽप्युपसंहारों युक्त इत्याशंकोत्तरं तु, न वा प्रकरण भेदादित्यनेनैवोक्तम्। संज्ञा तु लौकिकी, अधिकारस्त्वान्तरः स एव बलीयानिति। संज्ञैकत्वस्य हेतोरन्वयव्यभिचारमाह। अस्ति तु तदपीति। प्रमितभेदेष्वप्युपासनेषु परोवरीयस्त्वादिषु संज्ञैकत्वमुद्‌गीथोपासनेऽप्यस्तीत्यर्थः।

उपासना एकान्तिक और अनैकान्तिक है ये बात सही है फिर भी श्रीरामोपासक आदि संज्ञायें तो सामन्य ही हैं, इसलिए एकान्तिक उपासना में भी उपसंहार करना उचित है इस शंका का उत्तर तो "न वा प्रकरण भेदात्" इत्यादि से दे दिया गया। संज्ञा तो लौकिकी होती है, किन्तु अधिकार में भिन्नता होती है, संज्ञा से अधिकार ही वलवान् होता है। एक संज्ञा मानने में अन्वय व्यभिचार होगा, "अस्ति तु तदपि" इत्यादि यही बतलाते हैं। प्रभित भेदवाली उपासनाओं, परोवरीस्त्व आदि में संज्ञैकत्व है, उद्‌गीथ उपासना में भी है किन्तु वह गौण है।

व्याप्तेश्च समंजसम् ।३।३।६।।

अथेदं विचार्यते। उपास्येषु बाल्यपौगण्डादिकमप्युच्यते। तथा सति विगते

न्यूनाधिकभाव आपतीति, तत्रोक्तं सच्चिदानंदत्वमनुपपन्नं स्यात् तेषां सदैक रूपत्वात्। प्राकृतत्वे च सर्वमसमंजस्यं स्यादिति प्राप्त आह— व्याप्तेरिति। "सर्वतः पाणिपादान्तं" इत्यादिस्मृतेः साकारमेव व्यापकमिति चकारात् सर्वरस इति श्रुत्या रसात्मकत्वेन भक्तानां यादृग्रूपेण लीलानुरसानुभवस्तादृग्रूपक्रमेण योगमायापसारणेन प्रकटीकरोति इति बाल्यादि भावोपपत्तेः सर्वमुपपन्नमित्यर्थः। तेन यावदुक्त धर्मवद् ब्रह्मेति सिद्धम्।

अब ये विचार करते हैं कि उपास्य रूपों में बाल्यपौगड कुमार आदि अवस्थाओं का भी तो उल्लेख है। उसके अनुसार तो विग्रह में न्यूनाधिक भाव होता है। इसलिए प्रभु के सच्चिदानंद रूप में भी कमी आती है, क्योंकि वे तो एकमात्र सत्तत्व के ही रूप हैं। इस प्रकार उपास्य के प्राकृत रूप मान लेने से सब कुछ गड़बड़ हो जाता है, इसका उत्तर देते हैं, "व्याप्तेः" "सर्वतः पाणिपादान्त" स्मृति के अनुसार साकार भी व्यापक है 'सर्वरसः" इत्यादि श्रुति से भी उसकी सर्वरसात्मकता निश्चित होती है, भक्तों को जिस प्रकार की लीलारसानुभूति होती है, प्रभु, योगमाया से अपने को उन्हीं रूपों में प्रकट करते हैं। प्रकरण में कहे धर्म की तरह ही ब्रह्म है, ये ही सिद्ध बात है।

ननु ब्रह्मधर्मत्वेन ते सर्वे नित्या वाच्याः। ते च तत्तद्भक्ति विशिष्टाः। तत्र चैकस्यैव भक्तस्य पौर्वापर्येणानेकलीलासंबंधित्वं श्रूयते। तथा च पूर्व लीलाया नित्यत्वेन तत्संबंधिभक्तस्यापितथात्वंवाच्यम् एवं सति तस्यैवाग्रिमलीला संबंधोऽशक्यवचनः। तथा वचने तु पूर्वलीलाया नित्यत्वं भज्येत्। नित्यत्वे त्वग्रिमलीला संबंधिनो भिन्नत्वं स्यात्। तच्चानुभवतदावेदकमानविरुद्धमित्यत उत्तरं पठति—

संशय करते हैं कि जो भी ब्रह्मधर्म हैं वे तो नित्य ही कहलावेंगे, क्योंकि वे नित्य ब्रह्म के धर्म हैं। और वे विशेष विशेष भक्ति के अनुसार विशिष्ट हैं, एक ही भक्त का पौर्वापर्य क्रम से अनेक लीलाओं से संबंध देखा जाता है, अतः पूर्वलीला की नित्यता के अनुसार उससे संबंधी भक्त को भी वैसा ही कहना चाहिए, फिर उसका अग्रिम लीला से संबंध भिन्न हो जायगा इस दुविधा को दूर करने के लिए सूत्र प्रस्तुत करते हैं—

सर्वाभेदादन्यत्रेमे ।३।३।१०।।

लीलामध्यपातिनां सर्वेषां पदार्थानां ब्रह्मणा सहाभेदाद् ब्रह्मणश्चैकत्वात् पूर्वलीलातोऽन्यत्रोत्तरलीलायामपीमे पूर्वलीला संबंधिन एव त इत्यर्थः।

अत्रेदमाकूतम् । "रसौ वै सः" इतिश्रुत्या "सर्वरसः" इति श्रुत्या च सर्वरमात्मकत्वं ब्रह्मणो निर्णीतम् । तथा च यस्य रसस्य ये विभावानुभावरूपास्तैः स रसः सम्पद्यते । आतानवितानात्मक तन्तुभिः पटइव अतस्तत्तदात्म्यं रस स्येति सर्वाभेदो निष्प्रत्यूह इति ।

लीला में घटित सभी पदार्थ ब्रह्म से अभिन्न होने से ब्रह्म के समान एक हैं। पूर्वलीला से, बाद की लीला तक जो भो धर्म हैं वे सब एक दूसरे से संबंधित होने से एक हैं।" रसौ वै सः" श्रुति और "सर्वरसः" श्रुति दोनों ही, ब्रह्म की रसात्मकता का निर्णय करती है। जिस रस के जो विभावानुभाव होते हैं उन्हीं से उस रस की निष्पत्ति होती है। आतानवितानात्मक तन्तुओं से निर्मित होंने वाले पट की तरह, विभिन्न विभानुभावों से विभिन्न रसों की निष्पत्ति होती है किन्तु वे सब तादात्म्य संबंध से रस ही हैं, उन में कोई भेद नहीं है।

ननु विरुद्ध दिक्कयोरेकजातीयभाववतोर्भक्त्यातिशयेन युगपदेकजाती यलीलासहित भगवत्प्रादुर्भावे भगवतो व्यापकत्वे नैवं प्रादुर्भावस्योपपन्नत्वे पि लीला पदार्थानांमव्यापकत्वाद्युगपदाविर्भावोनुपपन्नः । भक्तयोः समानत्वाद्-भक्तिमार्ग विरोधापाताद् विनिगमकाभावाच्चैकत्र मायया प्रदर्शयतीति च न वक्तुं युक्तमिति शंकाप्येताभ्यां निरस्तेति ज्ञेयम् । ब्रह्मणोव्यापकत्वाल्लीला-याश्च तेन सहाभेदात्तथात्वादेकस्मै भक्ताय यथा ब्रह्मणा सह लीला पदार्था आविभवन्ति तथैव तदैवान्यत्रापि भक्त समानदेश आविर्भवन्तीति सर्व सामंजस्यात् ।

विभिन्न दिशाओं वाले एक जातीय भावों का तो भक्त्यातिशय से, एक साथ एक जातीय लीला के साथ भगवत्प्रादुर्भाव में सामंजस्य सम्भव है किंतु भगवान की अव्यापकता में प्रादुर्भाव के समय उत्पन्न इन लीला पदार्थों की अव्यापक होने से, एक साथ आविर्भाव सम्भव नहीं है (अर्थात् लीला पदार्थ तो लीला तक ही सीमित हैं, व्यापक ब्रह्म के साथ वे कैसे अभिन्न भाव से उपस्थित रह सकते हैं ?) इस संशय का उत्तर देते हैं कि भक्त तो सभी समान होते हैं, भक्तिमार्ग की विरुद्धता का भी कोई प्रमाण नहीं मिलता, तथा परमात्मा एक साथ माया से सब प्रदर्शन करते हैं, ऐसा भी नहीं कह सकते; इन दो बातों के विचार से ही शंका का निराकरण हो जाता है।

ब्रह्म के समान लीला भी व्यापक हैं अतः उनमें स्वाभाविक अभिन्नता है, इसलिए एक भक्त के लिए जैसे, ब्रह्म के साथ लीला पदार्थ प्रकट होते हैं, वैसे ही सभी समान भक्तों के लिए प्रकट होते हैं, ऐसा सुसंगत मत है।

ननु व्यापकत्ववत् पूर्णानन्दैश्वर्यवीर्यादयोऽपि धर्मास्तेषु प्रतीताभवेयुः। न चैवमस्ति। दुःख संभवनायां प्रभुमेव प्रार्थयंति यतः। एवं सति व्यापकत्वमपि न वक्तुं शक्यम् तुल्यत्वादत उत्तरं पठति—

जैसे कि परमात्मा व्यापक हैं वैसे ही परमात्मा के पूर्ण आनन्द ऐश्वर्य वीर्य आदि धर्मों की भी प्रतीति होनी चाहिये पर नहीं होती। दुःखी होने पर ही भक्त प्रभू की प्रार्थना करते हैं। इसलिये धर्मों की व्यापकता कहना भी कठिन है ? इस शंका का उत्तर देते हैं—

आनन्दादयः प्रधानस्य ।३।३।११॥

पूर्णानन्दैश्वर्यादयः प्रधानस्य धर्मिणो ब्रह्मण एव धर्माः। लीला पदार्थास्तु ब्रह्म धर्मत्वेन व्यापका उच्यन्ते। व्यापकस्य धर्मिणोऽनागंतुक धर्मस्य व्यापकत्व नियमात्। नहि धर्मेषु पूर्णानन्दत्वादयः संभवंति। धर्मित्वापत्या धर्मत्वव्याहतेः। अत एवाच प्रधानपदमुपात्तं, धर्मगुणभावेन लीला पदार्थानामाविर्भाव इति ज्ञापयितुम्

पूर्णानन्द ऐश्वर्य आदि प्रधान धर्मी ब्रह्म के ही धर्म हैं। लीला पदार्थ ब्रह्म और भक्त दोनों के लिये हैं। किन्तु ब्रह्म के धर्म होने में उन्हे व्यापक कहा गया है। व्यापक धर्मी के अनागंतुक धर्म की व्यापकता स्वभावतः ठीक है। लीला धर्मो में पूर्णानन्द आदि की गणना नहीं कर सकते। यदि ऐसा करेगें तो, धर्मित्व की हानि में धर्मत्व की भी हानि हो जायगी। इसलिये इन्हें प्रधान धर्मी ब्रह्म के ही धर्म कहा गया है ये नित्य धर्म हैं। लीला पदार्थों में धर्म के गुण विद्यमान हैं इसलिए उनका आविर्भाव कहा गया है।

प्रियशिरस्त्वाद्यप्राप्तिरुपचयापचयौहिभेदे ।३।३।१२॥

नन्पासकस्य प्रियत्वादिप्रकारज्ञानक्रममादाय प्रियत्वादि धर्माणां शिरस्त्वादि ज्ञानस्यरूपत्वमानंदमयाधिकरणे निरूपितमिति लीलास्थानामपि प्रियत्वादि ज्ञानस्य सत्वादत्रापि स्वरूपोपासकस्य प्रियशिरस्त्वादि धर्माणां उपसंहारः कार्य इत्याशंक्य परिहरति। प्रियशिरस्त्वाद्य प्राप्तिरिति। चितशुद्धितारतम्य

हेतुक प्रियत्वादिज्ञानं लीलास्थानां चित्तशुद्ध्यपेक्षाऽभावान्न संभतीति न तेषा-मत्रोपसंहारः कार्य इत्यर्थः ।

उपासक के, प्रियत्व आदि ज्ञान प्रकार के आधार पर प्रियत्व आदि धर्मों का शिरस्त्व आदि रुपों में आनन्दमयाधिकरण में निरूपण किया गया है, लीला में भी इनकी स्थिति हैं अतः प्रियत्व आदि ज्ञान कीं सत्ता वहाँ भी है इसलिये लीला में भी, स्वरूपोपासक के प्रियत्व आदि धर्मों का उपसंहार करना चाहिए, इस संशयित मत का निराकरण करतेहैं—"प्रियशिरस्त्वाद्यप्राप्तिः" इत्यादि । चित्त शुद्धि तारतम्य के हेतुक प्रियत्वादि ज्ञान की, लीलास्थ धर्मों में चित्त शुद्धि अपेक्षित नहीं है इसलिए भीं संभावना नहीं है अतः उसके उपसंहार का प्रश्न ही नहीं उठता ।

अथवा नन्वानंदमयोपासनामथर्वणोपनिषदुक्त पंचरात्राद्यागमोक्त प्रकारेण कुर्वतः पुरुषरूपे पक्षाद्युपसंहारस्य अयुक्तत्वादानंदमयाधिकरणे तद् रूपस्यैवोक्त-त्वात् पुरुष रूपः कथमानन्दमयः ? तथात्वे वा कथं नोक्तोपसंहारः ? अपरंच मोदप्रमोदयोरुपचितानुपचितानन्दरूपयोर्युगपत्सत्वेन देशभेदेनापि भिन्नत्वा-न्नित्यानन्दैकरसे ब्रह्मणि तादृग् रूप कथनं अनुपपन्नम् इति चेत् ।

शंका करते हैं कि—अथर्वणोयनिषदुक्त आनन्दमयोपसना को, पाँचरात्र आदि आगम में कहे गये प्रकार से करने पर, पुरुष रूप में पक्ष आदि रूपों का उपसंहार असंगत होगा, आनन्दमयाधिकरण में उपास्य का पक्षि रूप ही बतलाया गया है ? इसलिए पुरुष रूप कैसे आनन्दमय हो सकता है ? यदि उपास्य का वैसा रूप स्वीकार लें तो उपसंहार करने में क्या आपति है ? दूसरी बात ये है कि—पक्षिरूप में दो पक्षों के रूप में मोद और प्रमोद रूपी उपचित और अनुपचित दोनों आनन्दो की एक साथ स्थिति दिखलाई गई है, देश भेद से भी दोनों भिन्न वस्तु हैं, नित्यानंदैकरस ब्रह्म में, ऐसे रूप की कल्पना ठीक नहीं है ।

परिहरति—प्रियशिरस्त्वादीति—यद्यथर्वणोपास्यात् प्रियशिरस्त्वादि विशिष्टस्य भेद स्यात् तदा तदप्राप्तिः स्यान्न च तथेति प्रियशिरस्त्वादिकमु-पासना मार्गीयस्याप्याथर्वणिकादेरुपसंहार्यमेवेत्यर्थः । चित्तशुद्धितारतम्यहेतुकं प्रियत्वादिज्ञानमिति पक्षे, परोक्षवाद पक्षेऽपि तत्र भेदाभावान्मोदप्रमोदयोर्न त्वदुक्तरूपत्वमित्यर्थः । ब्रह्मधर्मा एव भिन्ना इत्युपासनार्थं तानादाय शिरः

पाण्यादि निरूप्यत इति तत्रैव निरूपितमस्माभिः । यद्यप्यानंदमयाधिकरण एवास्यार्थस्योक्तत्वान्नेयं शंका संभवति । तथापि गुणोपसंहार प्रसंगे मिथ्यावादिन आपाततः शंका संभवति, इत्याचार्येणोक्त्वा निरस्ता ।

उक्त शंका का परिहार करते हैं—"शिरस्त्वादि" इत्यादि । यदि अथर्वणोपनिषद् के उपास्य का आश्रय लेते हैं तो, प्रियशिरस्त्व आदि विशिष्ट प्रकार के भेद हैं, उसके विषय में किसी प्रकार के संशय का स्थान नहीं है । प्रिय शिरस्त्वादि के रूप की उपासना करने वालों को भी आथर्वणिक उक्त धर्मों का उपसंहार करने में कोई अड़चन नहीं है वे कर सकते हैं । प्रियत्वादि ज्ञान को चाहे चित्त शुद्धि के तारतम्य का हेतु मानें, या परोक्षवाद मानें, उस स्थिति में भी अभेद ही सिद्ध होगा, आपके कल्पित मोद प्रमोद का रूप नहीं सिद्ध होगा । ब्रह्म धर्म ही भिन्न हैं, उपासना की दृष्टि से उनका शिर हाथ आदि के रूप में निरूपण किया गया है, हमें भी वैसा ही निरूपण करना चाहिए । यद्यपि आनंदमयाधिकरण के अनुसार ही अर्थ करने पर उक्त शंका उठ ही नहीं सकती । फिर भी गुणोपसंहार के प्रसंग में मिथ्यावादियों के मत से, ये शंका पूरी तौर से उठ सकती है, ऐसा आचार्य पहिले ही बतलाकर निराकरण कर चुके हैं ।

ननूपास्यरूपस्याविरुद्धा एव गुणा उपसंहर्त्तव्या, न तु विरुद्धाः । तथा च पुरुषरूपे पक्षादिविरुद्धमिति न तदुपसंहार्यमित्याशंक्याह—

उपास्य रूप से जो गुण अविरुद्ध हैं, उन्हें उपसंहार कर सकते हैं, विरुद्ध गुणों को भले ही न करें । पुरुष रूप में पक्ष आदि रूप विरुद्ध है, उसे उप संहार नही करना चाहिए, ऐसा मत प्रस्तुत करते हुए समाधान करते हैं—

इतरेत्वर्थसामान्यात् ।३।३।१३।।

इतरे पुरुषरूपे विरुद्धत्वेन ये भासमानाधर्मास्तेऽप्युपसंहर्त्तव्याः । तत्र विरोधव्यवच्छेद ज्ञापनाय तु शब्दः । तत्रहेतुः अर्थसामान्यात् इति । अर्थः पदार्थ आनंदमयत्वलक्षणस्तस्य समानत्वादेकत्वादित्यर्थः ।

आनंदमय से भिन्न, पुरुषरूप में, विरुद्ध रूप से प्रतीत होने वाले जो धर्म हैं, उनका उपसंहार करना चाहिए । सूत्रस्थ तु शब्द विरोध निरास का ज्ञापक है । आनंदमय लक्षण वाला पदार्थ और पुरुष पदार्थ एक ही है, इसलिए उपसंहार कर सकते हैं ।

अथानंदमयाधिकरण उक्त प्रकारेण ये प्रियत्वादिधर्माः तेषामेवोपसंहारः कार्यो, नतु पुरुषरूपे पक्षादीनामपीत्यग्रिमं पठति।

आनंदमयाधिकरण के प्रियत्व आदि जो धर्म हैं उन्हीं का उपसंहार करना चाहिए, पुरुष रूप में, पक्ष आदि रूप का उपसंहार नहीं करना चाहिए, इसे अग्रिम सूत्र में कहते हैं।

अध्यानाय प्रयोजनाभावात् ।३।३।१४।।

आनंदस्वरूपस्य यावन्तो धर्माः भक्तिमार्गीयाः परोक्षवादेन उच्यन्ते, प्रियत्व प्राधान्यादयस्तेषां सर्वेषां, ध्यानमासमन्ताद् ध्यानं, तदर्थं ये धर्मा उपयुक्तास्त एवोपसंहर्त्तव्याः नान्ये । तत्र हेतु-प्रयोजनाभावादिति । ध्यान पदार्थस्य तावद्भिरेव सिद्धेरधिकोपसंहारे तथात्वादित्यर्थः ।

आनंद स्वरूप के जितने धर्म भक्ति मार्ग के लिए परोक्षवाद रूप से कहे गए हैं, उनमें प्रियत्व आदि ही प्रधान हैं ध्यान के लिए वे ही उपयोगी हैं, उन्ही का उपसंहार करना चाहिए ध्यान में उतने मात्र से ही प्रयोजन है, अधिक से नहीं इसलिए उससे अधिक उपसंहार की आवश्यकता नहीं है।

अन्येषामनुपसंहारे हेत्वन्तरमप्याह—

अन्य धर्मों के अनुपसंहार में अन्य हेतु भी बतलाते हैं—

आत्मशब्दाच्च ।३।३।१५।।

प्रियमेवेत्यादिना परोक्षवादेनोक्तानां प्रियप्राधान्यादीनामेव भावना कार्या, न तु यथा श्रुतानां शिरः पक्षादीनां तेषामविवक्षितत्वात् । तत्र हेतुरात्म-शब्दादिति । आनंद आत्मा इत्यनेन पूर्वोक्तानां प्रियप्राधान्यादीनां रसात्म-कानामात्मा स्वरूपमानंद इत्युक्तम् । अग्रे 'रसो वैस' इति वक्ष्यमाणत्वात् तस्य च स्थायिभावात्मकत्वात्तस्यैवानंदमयत्वाच्च प्रियबिषयकलीलामध्यपाति-भक्त ज्ञानप्रकाराणामपि रसात्मकत्वेनानंदरूपत्वात् तेषामुपासनात्तूत्तमाधि-काराभावाच्छिरः पक्षादिरूपेण कार्येति भाववती श्रुतिस्तथान्यरूपयत् । एतेन यत्परम्परा संबंधेस्प्युपास्यत्वं तदस्य महत्वं किमदवधि वाच्यमिति ज्ञाप्यते । एवं सत्युपासनामार्गीयस्योपास्यं विभूतिरूपं, न तु मूलरूपम् । 'यन्न योगेन' इति वाक्यादिति ज्ञेयम् ।

'प्रियमेव' इत्यादि में जो, परोक्षवाद रूप से प्रिय प्राधान्य की भावना है, उन्हीं का आश्रय लेना चाहिये शिरपक्ष आदि की भावना नहीं करनी चाहिये, उनका कोई प्रयोजन नहीं है । 'आनन्द आत्मा' इस वाक्यांश से, पूर्वोक्त प्रिय प्राधान्य आदि रसात्मक वस्तुओं का आत्मा आनन्द को कहा गया है । उसके आगे 'रसो वैस' 'इत्यादि से रस के स्थायिभावात्मक उसी आनंदमय की व्याख्या हैं । प्रिय बिययक लीला के मध्य में डूबते उतराते भक्त को रसात्मक अनुभूतियाँ भी आनन्द रूप ही है ? ऐमी अनुभूतियाँ उत्तम अधिकारियों को ही होती है, इसी भाव को श्रुति ने ध्येय के शिरपक्ष आदि रूपों से निरूपण किया है । उक्त प्रकरण से भी ज्ञापन होता है कि —उक्त रूप की जो क्रमिक उपास्यता है, उसका अल्प कालीन ही महत्व होता है, अतः उपासना मार्गीय उपास्य विभूति रूप है, मूल रूप नहीं है । 'यन्न योगेन' इत्याधि वाक्य से यही स्पष्ट होता है ।

तैत्तरीयकेऽन्नमयादि निरूपणे पुरुषविधत्वं तेजां निरूप्य 'तस्यैष एवं शारीरात्मा यः पूर्वस्य' इति सर्वत्र निगद्यते । तन्नानंदमयपर्यन्तं शारीरात्म कथनात् भवति संशयः । शरीराभिमानी जीव एव कश्चिदुत ब्रह्मैव ? तन्न शारीरपदाज्जीव एवं भवितुमर्हति । तथा सत्यानंदमयस्यापि ब्रह्मत्वं नोपपद्यते ।

उच्यते च 'भार्गव्यां विद्यायामापन्नं ब्रह्मेति व्यजानात्' इत्यन्तया श्रुत्या ब्रह्मत्वं इत्युभयतः पाशारज्जुरिति प्राप्तः ।

तैत्तरीयकोपनिषद में जहाँ अन्नमय आदि का निरूपण किया गया है वहाँ उन्हे पुरुष रूप से बतलाकर 'इसका वही शारीर आत्म है जो पूर्व का है' इत्यादि सब जगह कहा गया आनन्दमय के वर्णन तक उक्त प्रकार से दी शारीरात्मा की बात दोहराई गई है । इससे संशय होता कि—शाराभिमानी जीव है या ब्रह्म ? शारीर पद से तो जीव होने की ही संभावना अधिक है क्यों कि उसे ही इस नाम से कहा जाता है । यदि शारीर जीव है तो आनन्दमय का ब्रह्मत्व भी संभय नहीं है । ऐसी भी श्रुति हैं—'भार्गव्य विद्या में उल्लेख्य को ब्रह्म ही जानों" इत्यादि से प्रारम्भ करके आनन्दमय तक कहते हुए अंत में कहते हैं कि—"आनन्द ब्रह्म है ऐसा जानो" इससे तो ब्रह्मत्व की ही सिद्धि होती है । दोनों ओर से ही फासी का फन्दा लटका दीख रहा है । समस्या द्विविधापूर्ण है ।

आह—इतरबज्जीववदात्मगृहीतिरात्मग्रहणम् "तस्यैष एवं शारीर आत्मा "इति यदुत्तरात्, "यः पूर्वस्य" इति सर्वभोक्तत्वात सर्वेभ्य आनन्दमयस्त-

तस्माद् हेतोरित्यर्थः । अन्नदमयादिषु सर्वेष्वानंदमयस्यैवोक्तत्वात् तत्तच्छ-रीराभिमानित्वात् तथा । एतद्यथा तथाऽनंदमयाधिकरणे प्रपंचितमस्माभिः अथवाऽन्योन्तर आत्मा इत्यन्नमयादन्यत्र सर्वत्रोक्तत्वात् पूर्वं निरूपितो "यः स इतर" इत्युच्यते । तथा च "यः पूर्वस्येति" श्रुत्येतरवत् पूर्वं निरूपितवत् प्रकृतस्याप्यात्मग्रहण कथनं यदुत्तरादिति पूर्ववत् ।

उक्त द्विविधा का निराकरण करते हैं—इतर जीव की तरह परमात्मा का, आत्म शब्द से उल्लेख किया गया। "यही शरीर आत्मा है" यह उत्तरस्थ वस्तु के लिये कहा गया हैं "जो पूर्व का है" इस सव जगह की उक्ति से ऐसा ही समझ में आता है, क्योंकि सबके उत्तर से 'आनन्दमय' ही है, उसी को सब का आत्मा कहा गया प्रतीत होता है । अन्नमय आदि सभी में, उन शरीरों के अभिमानी रूप से आनन्दमय को ही बतलाया गया है। इसका विश्लेषण आनन्दमय अधिकरण में भी हमने किया है । "अन्योऽन्तरात्मा" ऐसा भी सब जगह कहा गया है, अन्नमय को छोड़ दिया गया है, पूर्व निरूपित वस्तु को ही 'यः स इतर" ऐसा कहा गया है तथा—"यः पूर्वस्य" इत्यादि श्रुति इतर की तरह अर्थात् पूर्व निरूपित की तरह, प्रकृत वस्तु को आत्मा बतला रही है, जिससे भी यह निर्णय होता है कि—जो उत्तरस्थ है वही पूर्व की तरह है ।

अन्वयादिति चेत् स्यादवधारणात् ।३।३।१७।।

ननु सर्वत्राऽन्योन्तर आत्मेतिश्रुत्य-प्रत्येकमन्नमायादीनां भेदनिरूपणाच्छारीर पदाच्च भिन्नो भिन्नो जीव एवात्मा शरीराभिमानी सर्वत्रोच्यते। आनन्दमयेऽपि तथोक्तिर्यासात्वानंदमयस्य ब्रह्मत्वेन व्यापकत्वेन सर्वत्रान्वयात् । सर्वेषु शरीरेषु संबंधात् इत्याशंक्य तन्निरासायोक्तेऽर्थ उपपत्तिमाह—स्यादित्यादिना, आनन्दमय एवोक्त सर्व शरीराभिमानी भवतीत्यर्थः तन्न हेतुरवधारणादिति । एष एवेत्येवककारेणेतरनिषेधपूर्वकमानंदमयस्यैवात्मनिर्द्धारादित्यर्थः ।

(संशय) अन्नमय से लेकर आनन्दमय पर्यन्त हर जगह, अन्योत्तर आत्मा है इत्यादि श्रुति से तो यही ज्ञात होता हैं कि—अन्नमयादि सभी भिन्न हैं और शरीरपद से शरीराभिमानी भिन्न-भिन्न जीव ही आत्मा है। आनन्दमय में भी वैसी ही उक्ति है, जिससे ब्रह्मत्व रूप से व्यापक आनन्दमय का सब जगह

अन्वय करते हैं। सब शरीरों में तो जीव का सम्बन्ध ही प्रतीत होता है, इस संशय के निराश के लिये, उक्ति के अर्थ की उपपत्ति करते हैं :—आनन्दमय ही सब शरीरों का अभिमानी आत्मा हो सकता है। उक्त प्रकरण में स्पष्ट रूप से "एष एव" ऐसा निर्द्धारणात्मक प्रयोग किया गया है, जिससे दूसरे का निषेध और आनन्दमय का ही आत्मा होना निश्चित होता है।

३ अधिकरण :—

कार्याख्यानादपूर्वम् ।३।३।१८।।

तैत्तरीयके पठ्यते—"तस्माद् वा एतस्मादात्मन् आकाशः संभूतः" इत्युपक्रम्य महाभूत सृष्टिमुक्त्वाम्नायते—"पृथिव्या ओषधयः, ओषधीभ्योऽन्नम्, अन्नात् पुरुषः, स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः" इति, एतदग्रेऽन्नस्यउत्पत्तिस्थिति-लयहेतुंत्वमुक्त्वा अग्रे—"योऽन्नंब्रह्मोपासते" इत्युच्यते। भृगुवरुण संवादे च "अन्नं ब्रह्मेति व्यजानात्" इत्युच्यते। तत्र "स वा एव पुरुषोऽन्नरसमयः" इत्यनेन पुर्वोक्त एव पुरुष उच्यते, उत तद्भिन्नः ? इति भवति संशयः। किमत्र युक्तम् ? पूर्वोक्त एवेति—यतः पूर्वोक्तस्यैव, "स वा एष" इत्यनेन प्रत्यभिज्ञानं प्रतीयते, तत्र ब्रह्मत्वेनोपासनाकार्या इत्यभिप्रायेण "ब्रह्मत्वेन स्तूयते" इति प्राप्तः।

वैत्तरीय में—"तस्माद् वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः" ऐसा उपक्रम करते हुए महाभूत सृष्टि बतलाकर कहते हैं कि—"पृथ्वी से औषधियाँ, औषधियों से अन्न, अन्न से पुरुष हुआ, यही पुरुष अन्नरसमय है।" इसके बाद अन्न को उत्पत्ति स्थिति और लय को कारण रूप से बतलाकर—"जो अन्न ब्रह्म की उपासना करते हैं" ऐसा कहा गया। भृगुवरुण संवाद में भी "अन्न को ब्रह्म ही जानो" इत्यादि कहा गया। इस पर संशय होता है कि—"स वा एष पुरुषोऽन्न-रसमयः' इत्यादि से पूर्वोक्त पुरुष का ही उल्लेख है अथवा उससे भिन्न का ? सही क्या है ? विचारने पर तो पूर्वोक्त का उल्लेख ही समझ में आता है। पूर्व का ही 'स वा एष' इत्यादि प्रत्यभिज्ञा से उल्लेख किया गया प्रतीत होता है। ब्रह्मत्वभाव से उपासना करनी चाहिए इस अभिप्राय से ही वहाँ "ब्रह्मत्वेन स्तूयते" इत्यादि कहा गया है।

आह—"कार्याख्यानादपूर्वम्" इति। पूर्वस्यान्नकार्यस्य पुरुषस्याख्यानात्, "स वा एष" इत्यनेन अग्रिम श्रुतिभिर्ब्रह्मत्वेन प्रतिविपादयिषितमन्नरूपमेवोच्यते,

न तु पूर्वमित्यर्थः । "स वा एष" इति प्रतिभिज्ञानमिति यदुक्तं, तन्न । "अन्नात् पुरुषः' इति अनेन आधिभौतिक तन्निरूपणात् । 'स वा एष' इत्यनेन आध्यात्मिक तन्निरूपणादुभयोश्चभेदात् । अत एव संशयाभावायाह—वै निश्चयेन एष वक्ष्यमाणः पुरुषः स आध्यात्मिकत्वेन "प्रसिद्धोऽन्नरसमयः" इति अन्यथा ब्रह्मात्मकतयोपलक्षण साधनेनाधिकारे संपन्ने "अन्नं ब्रह्मेति व्यजानात्" इति न वदेत् । न च तदपि तथात्वेन स्तूयत इति वाच्यम् । श्रुतेः प्रतारकत्वापत्तेः । आनंदमयान्तमेव निरूपणाच्च । अत एतस्याऽध्यात्माग्रे निरूपितो यः पूर्वस्येति । स त्वाधिदैविक आनंदमयः ।

उक्त संशय पर "कार्याख्यानादपूर्वम्' सूत्र प्रस्तुत करते हैं । पूर्व में अन्न कार्य पुरुष के रूप में जिसका व्याख्यान है उसे ही "स वा एष" इस अग्रिम श्रुति से, ब्रह्मरूप से प्रतिपादन करने के लिए अन्नरूप से बतलाया गया है । पूर्व वस्तु की प्रधानता दिखलाई गई हो सो बात नहीं है । जो यह कहा कि—'स वा एष' पूर्व वस्तु की प्रत्यभिज्ञा ज्ञापन करता है, सो भी गलत है । क्योंकि—'अन्नात् पुरुषः' इस वाक्य में आधिभौतिक रूप से निरूपण किया गया है, तथा "स व एष" में अध्यात्मक रूप से निरूपण किया गया है, दोनों में भेद है । संशय की निवृत्ति के लिए ही 'स वा एष' कहकर निश्चयात्मक रूप से पुरुष की पुष्टि की गई, जिसका तात्पर्य ये है कि—आध्यात्मिक रूप से जिसका उल्लेख है वही प्रसिद्ध पुरुष अन्नरसमय है । यदि ऐसे अर्थ से उक्त बात न कही होती तो, ब्रह्मात्मकतयोपलक्षण साधनाधिकार के संपन्न होने पर "अन्नं ब्रह्मेति व्यजानात्' इत्यादि न कहते । और न उस रूप में उसकी स्तुति का ही उपदेश देते । ऐसा अर्थ नहीं स्वीकारते तो, श्रुति छलाव करती है, यही निश्चित होगा ? प्रकरण में अन्त में आनन्दमय का उल्लेख किया गया, उससे भी उक्त बात की ही पुष्टि होती है । जो पूर्व का आत्मा है वही आगे बतलाया गया है, वह आधिदैविक आनन्दमय है ।

अथवा वाजसनेयिशाखायामात्मेत्येवोपासीतेत्युपक्रम्य—"तदेतत्प्रेयः पुत्रात् प्रेयोवित्तात् प्रेयोऽन्यस्मात् सर्वस्मादन्तरतरं यदयमात्मा" इत्येतदग्रेऽन्यस्य प्रियत्वं निराकृत्य—"ईश्वरो हि तथा स्यादात्मानमेव प्रियमुपासीत्" इति पठ्यते । अत्रात्मौपाधिकत्वात् सर्वत्र प्रियत्वस्यात्मपदेन जीवात्मन एव प्रियत्वेनोपासना-विधीयते ? उत ईश्वरपदात् परमात्मनः इति भवति संशयः । किमत्र युक्तम् ? जीवात्मन एवेति, कुतः ? यथा पुत्रादेरात्मोपाधिक प्रियत्वोक्त्या जीवात्मन एव

प्रियत्वमुच्यतेऽन्यत्रश्रुतौतथेहापि 'प्रेयः पुत्रात्' इत्यादिकथनाज्जीवात्मैव भवितु-मर्हति इति प्राप्तः ।

अथवा—वाजसनेयिशाखा में—"आत्मेत्येवोपासीत्" ऐसा उपक्रम करके—"जो यह, पुत्र से भी प्रिय, धन से भी प्रिय, अन्य सभी से प्रिय सबसे भिन्न है, वही यह आत्मा है" इत्यादि में सभी के प्रियत्व का निराकरण करके "ईश्वर ही वह प्रिय आत्मा है उसकी उपासना करनी चाहिए' इत्यादि पाठ है। अब संशय होता है कि—उक्त प्रकरण में जो आत्मौपाधिक रूप से सर्वत्र जिस प्रियतम आत्मा का उल्लेख है, वह जीबात्मा का ही प्रियतम रूप से उपासना का विधान है, अथवा, प्रियतम को ईश्वर पद से संबोधित किया गया है इसलिए परमात्मा की उपासना का विधान है ? सही क्या है ? विचारने से तो जीवात्मा की ही प्रतीति होती है। आत्मीय पुत्र आदि का प्रियत्व बतलाकर जीवात्मा की प्रियता बतलाई गई प्रतीत होती है, अन्य श्रुति में और यहाँ भी "पुत्र से अधिक प्रिय" उल्लेख है, जिससे जीवात्मा ही हो सकता है ।

आह—कार्याख्यानादपूर्वमिति । इतः पूर्वमाम्नायते—"प्राणन्नेव प्राणो प्राणोनाम भवति वदन् वाग्रूपंपश्यंश्चक्षुः शृण्वंछोत्रं मन्वानोमनस्तान्यस्यैतानि कर्मनामान्येव" इति। तथा च प्राणवदनादिकार्यैः कृत्स्नप्राणवागादित्वेनैक-स्यैवात्मन् आख्यानात् कथनादपूर्वं पूर्वं तु पुत्रवित्ताद्यभिमान दशायां "न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवति" इत्यादिना यत् प्रियत्वेनोच्यते तस्माद् भिन्नमात्मशब्दवाच्यमत्रेत्यर्थः लोकेति प्राणवायुवागिन्द्रियादीनामेव तत्तच्छब्द-वाच्यता, न तु जीवस्यात् एवाग्रे श्रुतिराहेश्वरोहि तथा स्यादिति। अतएव प्रेयोऽन्यस्मात् "सर्वस्मादन्तरतरं यदयमात्मा" इत्याह। अन्तरो जीवात्मा ततोऽप्यतिशयेनान्तरमन्तरतरं पुरुषोत्तम स्वरूपमेव भवितुमर्हति । एतेन विग्रहस्यैवात्म रूपत्वं सिद्धयति। तेन अविकृतत्वपरमानंदत्वादयोऽपि धर्माः उपसंहर्त्तव्याः ।

उक्त संशय पर—"कार्याख्यानादपूर्वम्" सूत्र प्रस्तुत करते हैं, कहते हैं कि—उक्त प्रकरण में उक्त प्रसंग के प्रथम—'प्राणन्नेव प्राणो' इत्यादि में, बोलना देखना सुनना आदि कार्य एक परमात्मा के ही बतलाये गए हैं। इस वाक्य के भी पहिले, पुत्र वित्त आदि की अभिमान दशा में—"अरे पति की कामना से पति प्रिय नहीं होता" इत्यादि से जिस प्रियत्व का उल्लेख किया

गया है, उससे भिन्न आत्मा नामधारी तत्व का "आत्मेत्येवोपासीत्" में उल्लेख है। लोक में प्राण वायु इन्द्रिय आदि भिन्न-भिन्न नामों से पुकारे जाते हैं, जीव के प्राण हैं जीव की आँख है, इत्यादि नहीं कहा जाता। इसलिए श्रुति आगे ईश्वर शब्द का स्पष्ट उल्लेख करती है। इसीलिए उक्त आत्मा को सर्वश्रेष्ठ प्रियतम कहा गया है—"सर्वस्मादन्तरतरं यदयमात्मा" इत्यादि। पुत्र आदि से भिन्न तो जीवात्मा है उससे भी अतिशय भिन्न पुरुषोत्तम स्वरूप ही हो सकता है। इस विग्रह से ही, ईश्वर की आत्मरूपता सिद्ध होती है। इसलिए, निर्विकार, परमानन्दत्व आदि धर्मों का उपसंहार करना चाहिए।

ननु विग्रहे चक्षुः श्रोत्रादीना वैलक्षण्य प्रतीतेरात्मनश्चैकरसत्वादुक्त कर्मनामवत्वं ब्रह्मण्यनुपपन्नमित्याशंक्योत्तरं पठति ।

उक्त विग्रह के अनुसार तो, चक्षु श्रोत्र आदि की विलक्षणता प्रतीत हो रही है, आत्मा तो एकरस है, उक्त देखना सुनना आदि कर्म ब्रह्म में हो नहीं सकते ? ऐसी आशंका उपस्थित करके उत्तर देते है।

समान एवंचाभेदात् ३।३।१९।।

चोऽप्यर्थे। तथा चैवमपि सति श्रोत्रचक्षुरादि, वैलक्षण्य प्रतीतावपि सति समान एक रूप एव, न तु विषमः। तत्र हेतुरभेदादिति। चक्षुरादीनां ब्रह्मत्वेन परस्परमभेदादित्यर्थः। अत्रेदमाकूतम्। "तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि" इति श्रुतेरुपनिषद्वेद्यमेव ब्रह्मस्वरूपम्। ताश्च "प्राणन्नेव प्राणो भवति वदन वागित्यादिरूपाः।" प्रतिनियतेन्द्रियग्राह्यात् अर्थात् स्वरूपेणैव गृह्णत् ब्रह्म तत्तच्छब्दवाच्यं भवतीति वदंति। तद्वाच्यता च व्यवहार्यत्वे। सच, "तदेत्प्रेयः पुत्रात्" इत्यादि वाक्यैकवाक्यतया निरुपधिस्नेहवतामेव व्यवहार्य इति ज्ञाप्यते। स चाविर्भूतेऽवताररूप एव संभवति। एवं सति तत्र भक्तैः भगवद् विग्रहे तत्तदवयवेषु भेदेन यथा यथा व्यवह्रियते तथा तथैव तदेकमेवाखण्डसच्चिदानंद रूपं ब्रह्मेत्यर्थः संपद्यते। एवं विधो लोके न प्रसिद्ध इत्यसंभावना स्यात्, तदभावायाग्रे श्रुतिराहेश्वरो हि तथा स्यादिति।

सूत्र में च शब्द अपि अर्थ में प्रयोग किया गया है, जिसका तात्पर्य होता है कि—नेत्र श्रोत्र आदि की विलक्षणता होते हुए भी वे सब समान रूप से एक हैं, विषम नहीं हैं, क्योंकि इनमे ब्रह्मत्वेन एकता है। "तं त्वौपनिषदं पुरुषं

पृच्छामि'' इत्यादि श्रुति से निश्चित होता है कि ब्रह्मस्वरूप उपनिषद् वेद्य ही है। ''प्राणन्नेव प्राणोभवति'' इत्यादि से निर्देश किया गया कि—प्रत्येक इन्द्रिय-ग्राह्य अर्थों को स्वरूपानुसार ही ग्रहण करना चाहिए, उन-उन नामों से ब्रह्म ही का बोध होता है। उनकी जो वाच्यता है वह व्यवहार के लिए है। ''यह पुत्र से भी अधिक प्रिय है'' इत्यादि वाक्यों में एक वाक्यता है, जो कि—सहज स्नेही लोगों की व्यवहार्यता को बतलाता है। यह आविर्भूत अवतार रूप में ही संभव है। भक्त लोग भगवान के अवतार विग्रह में उन-उन नेत्र आदि अवयवों का उपासना में व्यवहार करते हैं वो सब मिलाकर सच्चिदानंद रूप ब्रह्म है। लोक में ऐसी संभावना नहीं है—इसी बात को प्रकरण मे आगे ''ईश्वर'' पद से दिखलाया गया है।

एतेनाविर्भूत रूपे व्यापकत्वैकरसत्वमच्चिदानंदत्वादयो धर्मा उपसंहर्त्तव्या अनाविर्भूतेपीति स्थितम्। एवं सत्याविर्भावेऽनाविर्भावेऽपीश्वरः समानः न हि आविर्भावे कांश्चन् आगंतुकान् धर्मानादायाविर्भवतीतिवक्तुं शक्यम् अनाविर्भूतस्यापि एवमाविर्भूत प्रकारेणैवाभेदादित्यपि सूत्रार्थः सूत्रकाराभिमत इति ज्ञातकम्। चकारेण विरुद्ध सर्वधर्माश्रयत्वं समुच्चीयते। एवं साक्षात् आविर्भूत भगवद् रूपे पूर्णानन्तधर्मास्तदुपासके नोपसंहर्त्तव्या इति सिद्धम्।

इस आविर्भूत रूप में व्यापकत्व एकरसत्व, सच्चिदनन्दत्व आदि धर्मों का उपसंहार करना चाहिए, ये धर्म अनाविर्भूत रूप में भी रहते हैं। इस प्रकार आविर्भाव और अनाविर्भाव दोनों में ईश्वर समान है। ऐसा नहीं कह सकते कि किन्हीं आगंतुक धर्मों को लेकर आविर्भाव-होता है, अनाविर्भूत में भी आविर्भूत की तरह उक्त धर्म अभेद रूप से रहते हैं, यही उक्त सूत्र में सूत्रकार का अभिमत है। चकार का प्रयोग कर सूत्रकार बतलाते हैं कि—सारे विरुद्ध धर्म भी प्रभु के आश्रित रहते हैं। इसलिए, साक्षात् आविर्भूत भगवान के रूप में पूर्ण अनन्त आदि धर्मों का उपसंहार भक्तों को करना चाहिए।

अथ यत्र कार्य चिकीर्षया जीवे स्वयमाविशति तदा आवेशात्तद्धर्मा अपि केचित, तस्मिन्नाविर्भवन्ति। तत्रोपासकेनाखिलब्रह्मधर्मोपसंहारः कर्त्तव्यो, न वेति शंकासमाधानं विकल्पेन्नाह सूत्राभ्याम्। तत्रादौ विधिपक्षमाह।

जब विशेष कार्य सम्पादन की इच्छा से प्रभु, जीव में स्वयं प्रवेश करते हैं, उस समय आवेश से उनके कुछ धर्म भी उस जीव में आविर्भूत होते हैं। आवे-

शित उस रूप में, उपासक को ब्रह्म के समस्त धर्मों का उपसंहार करना चाहिए या नहीं ? ऐसा विकल्प से शंकासमाधान दो सूत्रों से करते हैं। पहिले विधिपक्ष का उल्लेख करते हैं—

सम्बन्धादेवमन्यत्रापि ।३।३।२०।।

अन्यत्रापि जीवेऽप्येवं ब्रह्मणोवोपासना कार्या । तत्र हेतुः सम्बन्धादिति । अयोगोलके बह्निरिव तस्मिन्नावेश लक्षणः संबंधोऽस्तीति, तत्वेन व्यवदेशाच्च तथेत्यर्थः । अत्रैवं ज्ञेयम् अयंतु जीवोऽत्राविष्टं भगवन्तमहमुपास इति जानाति चेत् तदा न सा जीवगामिन्युपासना, किन्तु ब्रह्मगामिन्येव । तत्राखिल धर्मोपसंहारे न किंचिद् बाधकम् । यत्र ब्रह्मत्वेनैव ज्ञात्वोपास्ते तत्रापि तं यथायथोपासते तथैव भवति तद् हैतान् भूत्वाऽवतीति श्रुतेर्गुर्वादौ जीवत्वबुद्धि निषेधाच्च, तथा तत्र यादृगुपासकस्तदुपासना सिद्ध्यर्थं तत्फलदानार्थं च तादृग्रूपो भगवान आविशति इति च तथा ।

भगवदावेश से आवेशित जीव में भी ब्रह्म की तरह उपासना करनी चाहिए, जैसे कि—लोहे के गोले में अग्नि का आवेश होता है तो वह अग्नि रूप ही हो जाता है, वैसे ही जीव भी, परमात्मा का आवेश सम्बन्ध होने से वैसा हो जाता है, उस रूप से तत्व का उपदेश देने से वह वही होता है। वस्तुतः उपासक, जब यह समझ लेता है कि—इस जीव में आविष्ट भगवान की मैं उपासना कर रहा हूँ तो, उसकी वो उपासना जीवगामिनी न होकर ब्रह्म गामिनी ही होती है । उस स्थिति में समस्त ब्रह्म धर्मों का उपसंहार करने में कोई बाधा नहीं है जहाँ ब्रह्मत्व ज्ञान से उपासना की जाती है वहाँ जिस जिस भावना से उपासना करते हैं, उपास्य का वैसा ही स्वरूप. हो जाता है। "तद्हैतान् भूत्वा अवति" इस श्रुति में गुरु आदि में जीवत्व बुद्धि का निषेध किया गया है, इससे भी उक्त बात की ही पुष्टि होती है । जैसा उपासक होता है, उसकी उपासना की सिद्धि के लिये भगवान उस रूप में आविष्ट होकर फल देते हैं ।

यस्त्वन्तरंगं भगवद्भक्तं हृदि आविर्भूत भगवत्कं ज्ञात्वा एतद्भजनेन अहं भगवन्तं प्राप्स्यामि इति ज्ञात्वातमेवभजते स भक्तिमार्गीय इति भक्त हृद्याविर्भूत रूपे उपसंहारो धर्माणां तेन कार्य इत्यग्रिमं पठति ।

जो लोग उक्त प्रकार के भगवदाविष्ट महापुरुषों के महत्व को जान लेते है, वे सोचते है कि हम तो इनके भजन से ही भगवान को प्राप्त कर लेंगे, इस लिए वे उन्ही का भजन करते है, वे ही भक्तिमार्गीय है उन भक्तों को, भक्त के हृदय में आविभू'त रूप में धर्मों का उपसंहार नहीं करना चाहिए यही आगे के सूत्र में बतलाते है।

न वाऽविशेषात् ।३।३।२१।।

अनुपसंहारे हेतुरविशेषादिति। अस्य भक्त भक्तत्वेन तद्भजन रसास्वादनेन विस्मृततदाविष्ट भगवन्कत्वेन तन्निरपेक्षत्वेन बा तदाविष्ट भगवति गुणोपसंहारेऽनुपसंहारे वा भक्तोपासनायां विशेषाभावादित्यर्थः। अनुपसंहारस्यात्र बाधकत्वाभाव ज्ञापनाय वा शब्दः। विशेषादिति वा। पूर्व विहितत्वेन भगवदाकारादिषु भजनं कुर्वन्नप्युक्त रूप भक्त संगेन तद्भजनेन च पूर्वस्माद् विशिष्टं रसमनुभूतवानिति रसास्वादे विशेषात् गुणोपसंहारं स न करोतीत्यनुवादः। विहितत्वेन गुणोपसंहार पूर्वकोपासनायां नीरसत्वेनाऽनादर ज्ञापनाय बा शब्दः। भगवदवताररूपोऽपि बादरायणः प्रासंगिकेऽपि भक्तिमार्ग स्मरणे तदीयरसावेश परवशस्तद्भाव स्वभावमनूक्तवान्।

अनुपसंहार में, अविशेष हो कारण है। भगवान के भक्तों के जो भक्त है वे भजन के रसास्वाद से आत्मविभोर भावापन्न होकर आनंदित रहते है, उन्हें भागवत धर्मों की भी अपेक्षा नहीं रहती। अतः उनके हृदय में आविष्ट भगवत्स्वरूप में, भगवदीय धर्मों का उपसंहार हो या न हो कोई महत्व की बात नही है, भक्तोपासना में तो विशेष भाव ही महत्वपूर्ण है। अनुपसंहार की बाधा के अभाव का द्योतक सूत्रस्थ वा शब्द है। अर्थात् विशेष भाव की स्थिति में, उपसंहार हो या न हो कोई अन्तर नहीं आता। शास्त्रविहित भगवदाकार आदि के चिन्तन में लीन भक्त भी, उक्त प्रकार के रसोपासक भक्तों के साहचर्य से जब उनकी भजन प्रणाली का आश्रय लेते है तब उन्हें पूर्व से अधिक रसानुभूति होती है, विशेष रसास्वाद में लीन होने से वे भगवदीय धर्मों का उपसंहार नहीं करते। यद्यपि गुणोपसंहार पूर्वक उपासना शास्त्र विहित है, किन्तु वह नीरस है इसलिये अनादरणीय है, यही सूत्रस्थ वा शब्द ज्ञापन कर रहा है। भगवान के अवतार होते हुए भी बादरायण जी ने, भक्ति मार्ग स्मरण में प्रासंगिक गुणोपसंहार को महत्व नहीं दिया क्योंकि वे स्वयं प्रभु के रसावेश से परवश थे।

अपि च उपसंहारो हि तत्रानुक्तानां अन्यत्रोक्तानां गुणानां तत्र सत्वेन ज्ञान मात्रम् । उक्त रूप भक्ताय तु तद् भजनीये भक्त एवालौकिकाननुभावान् भगवान् प्रत्यक्षं दर्शयतीति न तत्रोपसंहारापेक्षागंधोऽपीत्युत्तरं पठति—

एक बात और भी है कि—उपसंहार तो, प्रकरण या अन्यत्र प्रकरणों में कहे गये गुणों की सत्ता ज्ञान के लिये ही किया जाता है। रसोपासक भक्त के लिये तो उनका भजन ही उद्देश्य होता है (अर्थात् वे भजन के लिए भजन करते हैं) उन भक्तों के अलौकिक भाव को जानकर भगवान् उन्हें प्रत्यक्ष दर्शन देते हैं। इस भक्ति के प्रकार में तो उपसंहार की गन्ध भी नहीं रहती यही आगे बतलावेंगे—

दर्शयति च ।३।३।२२॥

ननु भक्त भक्तः स्व सेव्येत्यलौकिकं वीर्यं दृष्ट्वा तदाविष्टे भगवति तत्सं-भारकत्वस्येन्द्रादीनामपि तदाज्ञापेक्षितं दृष्ट्वा द्युलोक व्यापकत्वस्योपसंहारं करिष्यतीत्याशंक्याह—

प्रायः भक्तों के भक्त तो, अपने सेव्य भक्त की अलौकिक लीलाओं को देखकर, उनमें आविष्ट भगवान् में इंद्रादि आधिपत्य को अनुभूति करते हैं, और उनमें द्युलोक व्यापकत्व आदि गुणों का उपसंहार करते है; इस संशय का उत्तर देते हैं—

संभृतिद्युव्याप्त्यपि चातः ।३।३।२३॥

राणायनीयानांखिलेषु पठ्यते—"ब्रह्मज्येष्ठा वीर्या संभृतानि ब्रह्माऽग्रे ज्येष्ठं दिवमाततान् ब्रह्मभूतानां प्रथमं तु जज्ञे तेनार्हति ब्रह्मणा स्पर्द्धितुं कः" इति। अस्यार्थस्तु-अन्यैर्हिपुरुषैः सहायानपेक्ष्य विभ्रमाः संभ्रियन्ते। तेन सत्पराक्रमाणां तु ब्रह्मैव ज्येष्ठमनन्यापेक्षं सृष्टयादि करोतीत्यर्थः। एवं मति ब्रह्म ज्येष्ठं येषां तानि ब्रह्मज्येष्ठानि वीर्याणि। अत्र छंदसि बहुवचनस्यऽादेशः किचान्येषांवीर्याणां बलवद्भिर्मध्ये भंगोऽपि भवति। तेन ते स्व वीर्याणि न संबिभ्रति। ब्रह्म वीर्याणि तु ब्रह्मणा संभृतानि निष्प्रत्यूंह संभृतानीत्यर्थः। तच्च ज्येष्ठं ब्रह्माग्रे इन्द्रादिजन्मनः प्रागेव दिवं स्वर्गमातनान व्याप्नुवन्नित्यमेव विश्वव्यापकमित्यर्थः।

राणायनीय उपनिषद् के अन्तिम भाग में पाठ है कि—"ब्रह्म ज्येष्ठा वीर्या संभृतानि" इत्यादि। इसका तात्पर्य है कि अन्य ब्रह्मा इन्द्र आदि, परम पुरुष की सहायत्ता से ही अपना विक्रम दिखलाते हैं, अर्थात् उन पराक्रमी देवताओं में ब्रह्म ही सर्वश्रेष्ठ है, उन्हीं की अपेक्षा से वे सब सृष्टि आदि कार्य करते हैं। अन्य के पराक्रमों का पुरुष के बिना, भंग भी हो सकता है, इससे ये निश्चित हुआ कि वे अपना पराक्रम नहीं रखते, वे सब ब्रह्म वीर्य हैं, ब्रह्म से ही प्रेरित बलवान हैं। वो ज्येष्ठ ब्रह्म, इन्द्र आदि के जन्म के प्रथम ही दिव्य स्वर्ग में व्याप्त हैं, नित्य ही विश्वव्यापक हैं।

देशतोऽपरिच्छेदमुक्त्वा कालतोऽपि तमाह, ब्रह्मेतिभूतानामाकाशादीनां पूर्वमेवजज्ञे, आविर्बभूवेत्यर्थः। एतेनवीर्यसंभृतिद्युव्याप्तिभृति माहात्म्यमुक्तं भवति। तथा च संभृतिश्चद्युव्याप्तिश्च तयोः समाहारस्तथा। एतावत्यपि सति तत्र नोपसंहार इति। तत्र हेतुः, न वा विशेषादि सूत्रोक्त एवेत्यतिदिशत्यत एवेति। एतद्यथा तथा तत्रैवोक्तम्।

परमात्मा की देश संबंधी अपरिच्छिन्नता बतलाकर काल अपरिच्छिन्नता "ब्रह्मभूतानां प्रथमं तुजज्ञे" इत्यादि से बतलाते हैं अर्थात् वे "आकाशादि के प्रथम ही प्रकट थे।" इसी से उनके वीर्यसंभृतिद्युव्याप्ति आदि माहात्म्य सिद्ध होते हैं। इन समस्त विशेषताओं का भी आविष्ट स्वरूप में उपसंहार नहीं होगा, "न वा विशेषात्" सूत्र में किये गये एव के अतिदेश से ऐसा निश्चित होता है, इस पर जो कुछ भी वक्तव्य था वो कही चुके हैं।

विषयवाक्योत्तरार्द्धोक्त धर्मानुद्देशेनैवं ज्ञायते, भक्तस्यैहिकपारलौकिकोप योगिधर्मोपलक्षणार्थं द्वयोरेवोद्देशः कृत इति। चकारेण दर्शनमप्युक्तं समुच्चीयते। अन्यच्च स्पर्द्धाकृति संभावनायां हि तद्योग्यता निषेधः संभवति। सा चाविर्भूत एव भगवति संभवति इत्यखिलशक्ति आविर्भावपूर्वकमाविर्भूतस्य तस्य एतया श्रुत्या माहात्म्यमुच्यत इति गम्यते। एवं सत्येतद् वाक्योक्त धर्मयोरेवानुप संहार्यत्वेन यत् कथनं तत्तु भक्तहृद्याविर्भूतं ब्रह्माऽप्येवं भूतमेवेति ज्ञापनायाऽतो युक्त एवानुपसंहारः।

विषय वाक्य के उत्तरार्द्ध में कहे गये धर्मों के उद्देश्य से ये ज्ञात होता है कि भक्त के ऐहिक पारलौकिक उपयोगी धर्मों के उपलक्षण के लिए ही दोनों उद्देश्य हैं चकार का प्रयोग बतलाता कि भक्त के हृदय में दर्शन

होता भी है या नहीं ये संदिग्धता है [अर्थात् प्रभु के अलौकिक धर्मों का आरोप करने वाले भक्त के हृदय में दर्शन की बात संदिग्ध ही है] परमात्मा के अलौकिक धर्मों के प्रति स्पर्धा करने की जहाँ सम्भावना भी होती है, वहां उक्त साक्षात्कार होने की बात का निषेध किया गया है, अर्थात् उस स्थिति में साक्षात्कार नहीं होता। उक्त अलौकिक धर्मों के उपसंहार की बात तो भगवान के अवतारोंमें ही सम्भव हो सकती है। परमात्मा समस्त शक्ति के सहित ही प्रकट होते हैं, उनके माहात्म्य को ही इस श्रुति से बतलाया गया है। अत: उक्त वाक्य में कहे गये धर्मो के अनुपसंहार के विषय में जो कहा गया है, वह भक्त हृदय में आविर्भूत ब्रह्म से संबंधित है। इसलिए उक्त प्रकार में अनुपसंहार मानना सुसंगत है।

४ अधिकरण :—

पुरुष विद्यायामिव चेतरेषामनाम्नानात् ।३।३।२४॥

तैत्तरीयके—"सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रा पात् ,सभूमिं विश्वतोवृत्वा अत्यतिष्ठद् दशांगुलम्, पुरुष एवेदं सर्वं यदभूतं यच्च भव्यं" इत्यादिना पुरुष विद्या निरूप्यते । तत्रैव "ब्रह्मविदाप्नोति परम्" इति प्रश्ने "सवा एव पुरुषोऽन्नरसमय" इति आरभ्य प्राणमयमनोमय-विज्ञानमयानंदमयात्मकब्रह्म स्वरूपं निरूप्यते । तत्र सर्वत्र "सचपुरुषा-विधएव" इति च पठ्यते अत्रान्नमयादिषु पुरुष सूक्ते च पुरुष पद श्रवणात् अन्नमयादिषु सहस्रशीर्षवत्त्वद्युपसंहार कर्त्तव्यो न वेति भवति संशयः। किमत्र युक्तम्? उप संहर्त्तव्यमेवेति, कुतः? सर्वत्र ब्रह्मणएवोपास्यत्वादत्राप्युपासनोक्ते ब्रह्मत्वपुरुषत्वयोरविशेषाद् विद्यैक्यात् इति प्राप्तः।

तैत्तरीयक में—"सहस्र शिर, सहस्राक्ष, सहस्र पैर वाला पुरुष चारों ओर से विश्व को, दस अंगुल में ही आवृत करके स्थित है। इस सारे जगत में यह पुरुष ही था, और रहेगा" इत्यादि से पुरुष विद्या का निरूपण किया गया है। उसी स्थान पर "ब्रह्मविद परम पुरुष को पाता है" इस प्रश्न पर यह ब्रह्म ही अन्नरसमय पुरुष है" इत्यादि से प्रारम्भ करके प्राणमय मनोमय विज्ञानमय और आनंदमयात्मक ब्रह्म का निरूपण किया गया है। उस प्रसंग में हर एक वर्णन में "सच पुरुष बिधएव" ऐसा भी कहा गया है। इस विषय में संशय होता है कि— अन्नमयादि और पुरुष सूक्त में

"पुरुष" पद आता है, तो अन्नमय पुरुष में सहस्रशीर्ष आदि धर्मों का उपसंहार करना चाहिए या नहीं ? सही क्या है करें या न करें ? करने में हानि क्या है ? क्योंकि दोनों ही जगह ब्रह्म ही उपास्य है, ब्रह्मत्व और पुरुषत्व में कोई भिन्नता तो है नहीं, इसलिए दोनों विद्यायें एक हैं।

उच्यते-पुरुष विद्यायामिवेति। अन्नमयादिषु सहस्रशीर्षवत्त्वादिकं नोपसंहर्त्तयम् । कुतः ? पुरुषविद्यायां यथा पुरुषस्वरूपं निरूप्यते । न तथेतरेषां अन्नमयादीनां विज्ञानमयान्तानां स्वरूपं तत्प्रकरणे निरूप्यते । अत्र हि पुरुषत्वमुच्यते सहस्रपदमनेकत्वोपलक्षकम् । अन्यथक्षणांशिरोभ्यो द्वैगुण्यं वदेत् तेन साकार व्यापकत्वमुक्तंभवति। तत्र पुरुषविधत्वं सचाध्यात्मिकरूपस्तच्छरीराभिमान्यात्मा चान्य आधिदैविक उच्यते न तथात्र।

उक्त मत पर सूत्रकार कहते हैं कि—अन्नमयआदि में सहस्रशीर्षआदि धर्मों का उपसंहार नहीं करना चाहिए, क्यों कि पुरुष विद्या में जैसा पुरुष का रूप वर्णन किया गया है वैसा रूप वर्णन अन्नमय आदि से लेकर ज्ञानमय तक नहीं है। पुरुष विद्या में जो पुरुषत्व का वर्णन सहस्र शीर्षा आदि से किया गया है वह, अनेकता का उपलक्षक है। यदि ऐसा न होता तो, आँख कान आदि को शिर से दुगना बतलाते, जिससे कि उसकी साकारता और व्यापकता निश्चित होती। अन्नमय आदि में जो पुरुष रूप है वह आध्यात्मिक रूप है जो कि अन्नमय आदि शरीरों का अभिमानी आत्मा है उसका दूसरा आधिदैविक रुप है। वैसा वर्णन पुरुष विद्या में नहीं है।

किंच "पुरुषएवेदं सर्वम्" इत्यादिना प्रपंचात्मकत्वं मुक्तिदातृत्वं चोक्त्वा नैतावन्मात्रस्य माहात्म्यमितोऽपि महन्माहात्म्यमस्तीति वक्तु प्रपंचरूपं तद्विभूतिरूपम् इति, "एतावानस्य महिमा" इत्यनेनोक्त्वा तत आधिक्यमाह —"अतोज्यायाँश्चपूरुषः" इति । एवमतिवैलक्षण्यात् पुरुषपदमात्र साधर्म्येण नैकविधत्वं वक्तुं शक्यं, नचोपसंहार इति ।

पुरुष बिद्या में "यह सब कुछ पुरुष है" इत्यादि से पुरुष की प्रपंचात्मकता मुक्तिदातृता बतलाकर, उसका केवल इतना ही माहात्म्य नहीं है, इससे भी महान् माहात्म्य है, इस बात को दिखलाने के लिए प्रपंच रूप को उसका विभूति रूप "एतावानस्य महिमा" इत्यादि से बहलाया गया है। उसके बाद

"अतोज्यायांश्च पुरुषः" इत्यादि से उसके आधिक्य का निरूपण किया गया है। ऐसे विलक्षण स्वरूप को, पुरुष पद के साम्य के आधार पर अन्नमय पुरुष से एक नहीं कह सकते और न उक्त विलक्षण धर्मों का उपसंहार ही कर सकते हैं।

चकारात् "अम्भस्यपारे भुवनस्य मध्येनाकस्य पृष्ठे महतो महीयान्" इत्यादिश्रुतयः "सर्वतः पाणिपादान्तम्" इत्यादि स्मृतयश्च संगृह्यन्ते। एतेत् यत् किंचिधर्मसाम्येऽपि न मूलभूतब्रह्म रूपत्वम् अतएव न तत्रोपास्यता तथात्वेनेति ज्ञापितम्। अतएव भृगूपाख्यानेऽन्नमयादि ब्रह्मज्ञानेऽपिजिज्ञासैवोक्ता। भृगौरानंदरूप पर ब्रह्म ज्ञाने तु नोक्ता। तेनाशेषगुणपूर्णं ब्रह्मेत्युक्तं भवति अत उत्तमाधिकारीभिस्तदेवोपासनीयं, न विभूति रूपमितिज्ञापितम्।

चकार से "समुद्र के पार भुवन के मध्य स्वर्ग के पीछे वह महानतम् है। इत्यादि श्रुति "सब जगह उसके हाथ पैर हैं।" इत्यादिस्मृति की ओर इंगित किया गया है। कहा गया है कि इनसे और पुरुष विद्या के धर्मों में कुछ समता है फिर भी इसमें मुलभूत ब्रह्म रूपता नहीं है इसलिए वैसी उपासना सम्भव नहीं है। इसलिए भृगूपाख्यान में, अन्नमय आदि के ब्रह्म ज्ञान होते हुए भी, जिज्ञासा की गई है। जब कि भृगु ने आनन्दरूप परब्रह्म ज्ञान के संबंध में नहीं की है। इससे निश्चित होता है कि आनन्दमय ही समस्त गुणों से पूर्ण-ब्रह्म है। उत्तम प्रधिकारियों से वही उपास्य है। विभूति रूप उपास्य नहीं है।

अथ निर्दोषत्वं ज्ञात्वा भजनीयमिति ज्ञापयितुमधिकरणान्तरमारभते।

इस प्रकार निर्दोषता बतलाकर, भजनीयता बतलाने के लिए दूसरे अधिकरण को प्रारम्भ करते है।

५ अधिकरण :—

वेदाद्यर्थभेदात् ३।३।२५।।

वाजसनेयिशाखायां "द्वयाहप्रजापत्या" इत्युपक्रम्य तेषां मिथः स्पर्द्धामुक्तवोच्यते—"ते ह देवा ऊचुर्हन्ता सुरान् यज्ञ उद्गीथेनात्ययामेति तेह वाचमूचुस्त्वं न मुद्गायेति तथेति तेभ्यां वागुद्गायत योवाचि भोगस्त्वं देवेभ्य आगात्

यत् कल्याणं वदति तदात्मने ते बिदुरनेन वैन उद्गात्रात्येश्यन्तीति तमभिद्रुत्य पाप्मनाविध्यत् स यः स पाप्मा, यदेवेदमप्रतिरूपंवदति स एवपाप्मा'' इति। एवमेव प्राणचक्षुः श्रोत्र प्रभृतिषु पापवेधमुक्तवोच्यते—''अथैनमासन्यं प्राणमूचुस्त्वं न उद्गायेति तथेतितेभ्य एष प्राणउद्गायत्ते विदुरनैन वै न उद्गात्रात्येष्यन्तीनि तमभिद्रुत्य पाप्मनाविध्यत् स यथास्मानम् भृत्वा लोष्ठो विध्वंसेतैवँ हवै विध्वंसमाना विष्वंचो विनेशुरिति'' । छांदोग्येऽपि प्राणादिष्वेवमेव पाप्मवेधमुक्तत्वाऽसन्येन तथेत्युच्यते एतावान् परं विशेषो वाजसनेयिनां गानकर्त्तृत्वं, सामगानामुद्गीथत्वेनोपास्यत्वमुच्यते वाक् प्राणादीनामिति । अत्र देह संबंधित्वगानकर्तृयोरूपास्यत्वस्यचाऽविशेषेऽपिवागादिषु पाप्मवेधआसन्य प्राणे कुतो नेति ? भवति जिज्ञासा ।

वाजसनेयि की एक शाखा में ''द्वया ह प्रजापत्या'' इत्यादि से देव दानवों की पारस्परिक स्पर्द्धा का उल्लेख करते हुये कहते हैं ''देवताओं ने कहा—हम यज्ञ में उद्गीय द्वारा असुरों का अतिक्रमण करें, 'उन्होंने वाक् से कहा'—तुम हमारे लिये उद्गान करो'' वाक् बहुत—अच्छा 'कह कर उनके लिए उद्गान किया' उसमें जो वाणी का योग था उसे देवताओं के लिये आगान किया और जो शुभ भाषण करती थी, उसे अपने लिये गाया। तब असुरों ने जाना कि इस उद्गाता के द्वारा देवगण हमारा अतिक्रमण करेंगे, अतः उन लोगों ने उसके पास जाकर उसे पाप से विद्ध कर दिया। यह वाणी जो अनुचित भाषण करती है वही पाप है।'' इसी प्रकार प्राण चक्षु श्रोत्र आदि के पाप वेध की बात कह कर कहते हैं—''फिर अपने मुख में रहने वाले प्राण से कहा—''तुम हमारे लिये उद्गान करो 'बहुत अच्छा' कह कर प्राण ने उनके लिए उद्गान किया, असुरों ने उसके पास जा कर उसे पापविद्ध करना चाहा किन्तु जैसे पत्थर से टकरा कर मिट्टी का ढेला नष्ट हो जाता है, वैसे ही वे विध्वस्त होकर अनेक प्रकार से नष्ट हो गये।'' इत्यादि, छांदोग्योपनिषद् में भी इसी प्रकार प्राण आदि के पापवेध की बात बताकर, मुखस्थ प्राण की बात भी वैसी ही कही गई हैं। इसमें वाजसनेयि के उद्गाताओं से एक विशेषता है कि इसमें सामगान को उद्गीय होने के नाते उपास्य कहा गया है। जिज्ञासा होती है कि—वाग् आदि का देह संबंध, उद्गान शक्ति उपास्यता आदि सब कुछ प्राण के समान है किन्तु वे पापविद्ध हुये और मुख्यस्थ प्राण पापविद्ध नहीं हुआ, ऐसा क्यों ?

नचासन्योपासनाया विधेयत्वात्तत् स्तुत्यर्थमन्येषु पाप्मवेध उच्यतेऽस्मिन्नेतिवाच्यम् । नहि प्रयोजना, असन्तमप्यर्थं बोधयति श्रुतिरिति वक्तुं-

शक्यम् । प्रमाणत्वव्याहृति प्रसंगात् । एकत्व प्रतारकत्वे सर्वत्रापि तच्छंकया तदुक्ते कोऽपि न प्रवर्त्ततेतापि साक्षात् क्रियार्थत्वाभावऽपिनासन्निरूपकत्व मर्थवादानाम् । वस्तुतस्तु "यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा वा तदेव वीर्यवत्तंर भवति" इतिश्रुतेः "ज्ञात्वा ज्ञात्वा च कर्माणि जनोऽयमनुतिष्ठति, विदुषः कर्म सिद्धिः स्यात् तथा नाविदुषोभवेत् "इत्यादि वाक्यै यं एवं वेदत् इति वाक्यैश्चार्थवादोक्त स्वरूपं ज्ञात्वा कर्म करणे पूर्ण फलमन्यथा नेत्यर्थवादानां फलोपकार्यांगनिरूपकत्वान्नानर्थक्यमत उक्तेऽर्थे हेतुं न पश्यामः ।

ये भी नहीं कह सकते कि—इसमें, मुखस्थ उपासना की विधि है, इस लिये प्राण की स्तुति के लिये अन्यों की पापविद्धता दिखलाई गई है । बिना प्रयोजन के श्रुति कोई निरर्थक बात नहीं कहती, इसलिये उक्त कथन असंगत है । उक्त कथन से तो श्रुति की प्रामणिकता नष्ट हो जायेगी । एक जगह श्रुति की प्रवंचना सिद्ध हो जाने पर, हर जगह उसके कथन पर, प्रवंचना की ही शंका बनी रहेगी अतः कोई विश्वास न करेगा, । साक्षात् क्रियार्थता के अभाव में भो अर्थवाद वाक्यों की निरूपकता नहीं होती । वस्तुतः तो बात ये हैकि "श्रद्धा ज्ञान और विद्या से जो कुछ भी किया जाता है वही प्रबल होता है, इस श्रुति से तथा—"कर्म को भली भाँति उपासना करते है" ऐसे विद्वान् को ही कर्म सिद्धि होती है, अविद्वान की नहीं होती" इत्यादि वाक्यों से ज्ञान की महत्ता ज्ञात हो जाने पर, अर्थवाद में कहे गये स्वरूप का परिज्ञान हो जाता है तभी किये हुये कार्य का फल होता है, अन्यथा नहीं होता, अर्थवाद वाक्य फलोपकारी अंग के रूप में निरूपण करते हैं इसलिये निरर्थक नहीं होते । इस लिये उक्त कथन में कोई हेतु नहीं समझ में आता ।

इति प्राप्ते तमेवाह—वेधादिति । वाक् प्राणादिषु यः पाप्मवेध, आदिपदात् दुष्ट विषय सम्बन्धश्चतत्रहेतुरर्थभेदः । अर्थो भगवांस्तस्माद् भेदादित्यर्थः । "आसन्यस्तु य एवायं मुख्यः प्राणः तमुद्गीथमुपासीत् "इति छांदोग्य उपास्यत्वेनोक्तः । सर्व वेदांत प्रत्ययमि त न्यायात् वेदांतेषूपास्यम् ब्रह्मातिरिक्त नोच्यते इत्यासन्योऽपि ब्रह्मभिन्नोऽत एवापहतपाप्मा ह्येष इति सामगैः षठ्यते अतस्तत्र न पाप्मवेधं इति भावः । ब्रह्मणः स्वतंत्र पुरुषार्थत्वज्ञापनायार्थपदेनोक्तिः । एतेन विभूतिरूपेऽपि यत्रैवं तत्र मूलभूत ब्रह्मणि निर्दोषत्वं किं वाच्यम् ? इति ज्ञापितम् । अथवाऽर्थः प्रयोजनं विषय इति यावत्, तद्भेदादित्यर्थः ।

उक्त मत पर सूत्रकार, 'वेदाद्यर्थभेदात्' सूत्र उपस्थित करते हैं, अर्थात् वाक् प्राण आदि में जो पापविद्ध होने की बात कही गई है, वही मुख्य हेतु है। आदि पद से दुष्ट विषय संबंध भी उसका अर्थ भेद में हेतु है। 'जो मुखस्थ प्राण है, उस मुख्य प्राण की उद्गीथरूप से उपासना करनी चाहिए' इत्यादि छांदोग्य श्रुति में इसी प्राण को उपास्य बतलाया गया है। सर्व वेदांत प्रत्यय न्याय के अनुसार, वेदांतों में, ब्रह्म के अतिरिक्त किसी अन्य को उपास्य नहीं कहा गया है, अतः मुखस्थ प्राण भी ब्रह्म से अभिन्न सिद्ध होता है। साम वेदीय उपनिषद् में ब्रह्म को अपहतपाप्मा कहा गया है, इसलिए प्राण के लिए-पापाविद्ध होने की बात नहीं कही गई। सूत्रस्थ अर्थ पद, ब्रह्म के स्वतंत्र पुरुषार्थ का ज्ञापक परमात्मा का विभूति रूप ही जब निर्दोष है, तो मूल ब्रह्म की निर्दोषता के संबंध में कुछ भी कहना शेष नहीं रह जाता। अथर्वोपनिषद् का अर्थ प्रयोजन विषयक है अर्थात् भिन्नता प्रयोजक है (वाक् आदि से प्राण की भिन्नता बतलाता है।

अत्रेदमाकूतम्—देवाहि स्वास्यासुरजयाय गानार्थं वागादीनूचुस्त्वं न उद्गायेति गानानन्तरं यो वाचि भोगस्तं देवेभ्य आगायदिति। एवं सति देवार्थमेवैतद्गानं न तु भगवदर्थम्। यद्यप्यासन्ये अप्येवमुच्यते तेभ्य एष प्राण उद्गायदिति, तथापि यथा वागादिषु स्वनिष्ठ भोगं देवेभ्य आगायदित्युक्तं तथा नासन्ये। तेनोक्तमानैर्ब्रह्मात्मकत्वेनासुरजयहेतुर्भगवत्संबंध एवेति ज्ञात्वा तथैवागायदासन्य इति ज्ञायते। अतएवान्यत्र वेध उक्तोऽत्र तत्करणेच्छायामप्यासुराणां नाश उक्तः। अग्रे च 'भवत्यात्मना परास्यं द्विषन् भ्रातृव्यो भवति य एवं वेद' इति पठ्यते। तेन परब्रह्म निर्दोषमिति किमु वाच्यम्। यत्र यद् विभूति रूपासन्यस्योक्तरूपतां यो वेत्ति सोऽपि गुणयुक्तो दोषरहितश्च भवति इति कैमुतिक न्यायः सूचितो भवति। एतेन लोके दोषत्वेन ये धर्माः प्रतीयन्ते त एव धर्माः भगवति निरूप्यमाणा न दोषत्वेन ज्ञेयाः किन्तु गुणत्वेनैव वस्तुन एव तथात्वादिति भावो ज्ञाप्यते।

उक्त प्रकरण का रहस्य ये है कि देवताओं ने अपने को असुरों से विजयित होने के लिए वागादि से उद्गान करने को कहा। गान के बाद जो यह कहा कि तुम उद्गान मत करो, उसका तात्पर्य है कि—उसका जो भोग है वो देवों को प्राप्त हो। इससे ये ज्ञात होता है कि—उक्त उद्गान देवों के निमित्त था, भगवद् परक नहीं था यद्यपि मुखस्थ प्राण के लिए भी उद्गान की चर्चा है,

किन्तु वाग् आदि ने जैसे अपना भोग देवताओं को प्रदान किया वैसे प्राण के भोग की बात नहीं है, उसमें तो असुरों के जय के लिए, ब्रह्मात्मक भोग की चर्चा है। इसलिए अन्य के तो बेध की बात आई है। प्राण के बेध करने पर असुरों के नाश की चर्चा है। उक्त प्रसंग के आगे पाठ है कि—'जो इस प्रकार जानता है वह प्रजापति रूप में स्थित होता है और उससे द्वेष करने वाले भ्रातृक (सौतेले भाई) का पराभव होता है।' इससे अधिक ब्रह्म की निर्दोषता के विषय में क्या कहा जा सकता है। भगवान् के विभूतिरूप मुखस्थ प्राण को जो जानता है वो भी गुण युक्त और दोष रहित होता है, ऐसा कैमुतिक न्याय से निश्चित होता है। इससे ये भी निश्चित होता है कि—लोक में जो धर्म दोष रूप से प्रतीत होते हैं, वे भगवान के लिए यदि कहे गए हों तो उन्हें दोष रूप से नहीं जानना चाहिए। किन्तु उन्हें गुणरूप से ही मानना चाहिए। अर्थात् गुण और दोष वस्तु के स्वरूपानुसार ही माने जाते हैं।

एवं भगवत्संबंधाभावे दोषसंबंधमुक्त्वा तथासति गुणहानिं च वदंस्तत्र विशेषमाह—

इस प्रकार दोष सम्बन्ध से भगवत् सम्बन्ध का अभाव बतलाकर उस सम्बन्ध में गुण हानि को विशेष रूप से बतलाते हैं।

हानौतूपायन शब्द शेषत्वात् कुशाच्छंदः स्तुत्युपगानवत् तदुक्तम् ।३।३।२६।।

"तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरंजनः परमं साम्यमुपैति इत्याथर्वणिकैः पठ्यते। परंपदेन ब्रह्मोच्यते। तथाच सकार्याऽविद्यारहित परममुपैति, तदनन्तरं साम्यमुपैतीति योजना। तत्रेदं विचार्यते-साम्यं हि समान जातीय धर्मवत्वं, तच्च कतिपय धर्मैर्वा भवति? तत्रान्त्यः पक्षो ब्रह्मणासमं न सम्भवति। "न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते" इति श्रुति विरोधादत आद्य एव पक्षोऽनुसर्त्तव्यः। तत्र कैः धर्मैः साम्यमिहोच्यते? इत्याकांक्षायामाह—हानाविति। ब्रह्मणः सकाशाद् विभागोजीवस्य हानि शब्देनोच्यते, तथा च तस्यां सत्यां ये धर्मा जीवनिष्ठा आनन्दांशैश्वर्यादयो भगवदिच्छया तिरोहितास्ते ब्रह्म सम्बन्धे सति पुनराविर्भूता इति तैरेव तथेत्यर्थः। भगवदानंदादीनां पूर्णत्वाज्जीवानंदादीनां अल्पत्वान्नाम्नैव समैः धर्मैः कृत्वा ब्रह्म साम्यं जीव उपचर्यते। साम्यमुपैतीति वस्तुतस्तु नैतैरपि धर्मैः साम्यमिति भावः अतएव न तत्सम इति श्रुतिरविरुद्धा। अतएव सूत्रकृता साम्यमुपैतीति

साम्योपायन शब्दमात्र नतु साम्य पदार्थः स्वारसिकोऽत्रास्तीति भाव प्रकटनाय शब्द शब्द उक्तः। न तु तैरेव धर्मैः साम्यं नेतरैरित्यत्र को हेतुरित्याकांक्षायामाह उपायन शब्दशेषत्वादिति। परमुपैतीति य उपायन शब्दस्तच्छेषत्वात् साम्योपायनस्येत्यर्थः। ब्रह्म सम्बन्ध हेतुकत्वादानंदांशाद्याविर्भावस्य तदैव साम्योपायन कथनात्तैरेव धर्मैः साम्यमभिप्रेतमिति भावः।

आथर्वणिक में पाठ है कि—"तब विद्वान पुण्य पाप को छोड़कर परम निरंजन की समता प्राप्त करता है" इसमें परम्पद से ब्रह्म की चर्चा की गई है। तथा बतलाया गया है कि—सक्रिय अविद्या से रहित, परम को प्राप्त करता है, उसके बाद साम्य प्राप्त करता है। इस पर विचारते हैं कि—साम्य का तात्पर्य समान जातीय धर्मता से है या उनमें से कुछ धर्मों से है? दूसरी बात मानने से तो, ब्रह्म समानता होती नहीं। "उसके समान या अधिक नहीं दीखता" इस श्रुति से विरोध होने से पहिली बात का ही आश्रय लेना चाहिए। उक्त श्रुति में—किन धर्मों की समता बतलाई गई है? इस आकांक्षा पर कहते हैं—"हानौ" ब्रह्म से जीव का जो विभाग हुआ है उसे हानि कहते हैं। उस स्थिति में जो आनंदैश्वर्य आदि जीवनिष्ठ धर्म हैं जो कि भगवदिच्छा से तिरोहित हो जाते हैं, ब्रह्म संबंध हो जाने से वो पुनः आविर्भूत हो जाते हैं, उन्हीं को समता प्राप्ति कहा गया है। भगवान् में आनंदादि पूर्ण रूप से हैं तथा जीव में अल्परूप से हैं, केवल नाम से ही उनकी धर्म समता मानकर जीव के ब्रह्मसाम्य की चर्चा की गई है। वस्तुतः इन धर्मों की पूर्ण समता की चर्चा नहीं है। इस प्रकार "न तत्सम" इत्यादि श्रुति भी अविरुद्ध हो जाती है। इसीलिए सूत्रकार ने "साम्यमुपैति" के साम्य शब्द को उपायन शब्द मात्र माना है, साम्य पदार्थ का स्वारस्य नहीं स्वीकारा है। इसी भाव को सूत्रकार शब्द, शब्द से दिखलाते हैं। उन्हीं धर्मों की समता नहीं होती न दूसरे धर्मों की ही होती है, इसका क्या कारण है? इस आकांक्षा पर सूत्रकार कहते हैं—"उपायन शब्द शेषत्वात्" अर्थात् परमुपैति में जो उपायन शब्द है उसकी शेषता से ही साम्योपायन का अर्थ ध्वनित होता है। ब्रह्म संबंध होने से आनंदादि अंशों के आविर्भाव की बात साम्योपायन से ध्वनित होती है, उन्हीं धर्मों की समता उक्त कथन में अभिप्रेत है।

नन्वानंदादीनां ब्रह्म धर्मत्वात् तत्साम्य कथनं तदभेदमेव गमयतीत्याशंक्य तद् धर्मवत्वमात्रस्य न तदभेदसाधकत्वमित्यत्र दृष्टान्तमाह—कुशेत्यादि।

कुशा औदुम्बर्यः समिधस्ना अग्निष्टोमादि यागेषु प्रस्तोत्रा स्थाप्यन्ते । तदा तत्संबंधि यच्छन्दः स्तुत्युपगानं तद्वद् इत्यर्थः । तत्राभित्वा शूरनोनुमो दुग्धा इव धेनव इत्यृचि मे वर्णास्तेषामच एवोपसंहृत्य भकारेणैव गानं क्रियते । नहि तदार्चिक वर्णधर्माणामचामुपसंहारोऽस्तीति तद्गात्मत्वं भकारस्य संभवति । एवं प्रकृतेऽपि ब्रह्मधर्म प्राकट्येन न तदात्मकत्वं जीवस्य संभवति । ननु तत्वमस्यादि वाक्यैरत्राभेदबोधनादस्तु तथेति चेत्तत्राह —तदुक्तमिति—जीव-ब्रह्माभेद-बोधनतात्पर्यमुक्तमित्यर्थः । तद्गुणसारत्वात्तु तद्व्यपदेशः प्राज्ञवदिति सूत्रेणेति शेषः ।

संशय होता है कि—आनंद आदि तो ब्रह्म के धर्म हैं, उनकी समता का अर्थ तो वे धर्म ही हुए? उनमें भेद ही क्या है? इस पर "कुशाच्छंद" इत्यादि सूत्रांश प्रस्तुत करते हुए बतलाते हैं कि—उन धर्मों के होने मात्र से अभेद नहीं हो सकता जैसे कि—कुश औदुंबरसमिधा आदि को अग्निष्टोम आदि यज्ञों में प्रस्तोता स्थापित करके उस समय उनसे संबंधित जिस छंद से उपगान करते हैं उसी प्रकार उक्त धर्मों की बात भी है। "तत्राभित्वा शूरनोनुमो दुग्धा इव धेनवः" इत्यादि ऋचा में जो वर्ण है उनका अच् में उपसंहार करके केवल भकार से ही गान करते हैं। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि—ऋचा के वर्ण धर्मों का अच् में उपसंहार हो जाता है, इससे भकार का ऋचा से आत्मत्व हो जाता है। इसी प्रकार ब्रह्म धर्म प्राकट्य होने मात्र से जीव की तदात्मता नहीं हो जाती है। यदि कहें कि—तत्वमसि आदि वाक्यों के आधार पर यहाँ भी अभिन्नता मानने में क्या आपत्ति है? इस पर "तदुक्तम्" सूत्रांश उपस्थित करते हैं। कहते हैं कि—परमात्मा के गुणों के अंश जीवात्मा में होने से उसका ब्रह्मवत् व्यपदेश किया गया है। "प्राज्ञवत्" सूत्र से भी इसका निर्णय कर चुके हैं।

अपि च, श्रुतौ ब्रह्मोपायनस्य साम्योपायन हेतुत्वोक्त्या तदनुपायवत्नस्य साम्यानुपायने हेतुत्वमिति ज्ञाप्यते । तथा च पराभिध्यानात्तु तिरोहितं ततो ह्यस्य बन्ध विपर्ययाविति सूत्रे जीवस्य ब्रह्मांशत्वेनानंदैश्वर्यादिब्रह्मधर्मवत्वात् ब्रह्मणः सकाशाद्विभागे सति तदिच्छया तद् धर्म तिरोधानस्य संसारित्वे हेतुत्वमुक्तं यत्तदपि तदुक्तमित्यनेनस्मार्यत इति न विस्मर्त्तव्यम् । यथान्यशाखोक्त धर्मा अप्येकस्यां विद्यायामुपसंह्रियन्त एवं ब्रह्मनिष्ठा धर्मा जीवेऽप्येतया श्रुत्या बोध्यन्त इत्येतावत साम्यमस्तीत्युपसंहार प्रकरण एतस्य निरूपणं कृतम् ।

श्रुति में जो, साम्योपायन को ब्रह्मोपायन का हेतु बतलाया गया है उससे, साम्यानुपायन से ब्रह्म के अनुपायन की बात भी निश्चित होती है। अर्थात् अनुपायन में भी वही हेतु है। तथा—'परामिध्यानात् तु तिरोहितं'' ''ततोह्यस्य बंधविपर्ययौ'' इन दो सूत्रों में—जीव, ब्रह्म का अंश है इसलिए आनंद ऐश्वर्य आदि धर्म वाला है, ब्रह्म से अलग हो जाने पर, परमात्मा की इच्छा से उनके धर्मों से रहित होकर संसार दशा को प्राप्त करता है, इत्यादि निर्णय किया गया है, उसे नही भूलना चाहिए, ''तदुक्तम्'' पद से यही ध्वनित होता है। जैसे कि—अन्य शाखा में कहे गए धर्मों का एक ही विद्या में उपसंहार करते हैं, वैसे ही ब्रह्मनिष्ठ धर्मों का जीव में उपसंहार करते हैं, यही उक्त श्रुति से ज्ञात होता है। इतना ही साम्य है उपसंहार प्रकरण में इसका निरूपण किया गया है।

६ अधिकरण :—

सम्पराये तर्त्तव्याभावात्तथा ह्यन्ये ।३।३।२७।।

वाजसनेयि शाखायां—''स एष नेति नेतीत्यात्मा'' इत्युपक्रमं 'न व्यथते'' इत्यन्तेन ब्रह्मस्वरूपमुक्त्वा यत् एतादृक ब्रह्मातस्तद्विदपि विवक्षितरूप इत्यभिप्रायेणाग्रे पठ्यते—''अतः पापमकरवमतः कल्याणमकरवम् इत्युभे एष तरत्यमृतं'' इत्यादिना अग्रिम—''यैष नित्यो महिमा ब्राह्मणस्य'' इत्यृचा च ब्रह्मविदो माहात्म्यमुक्त्वा पठ्यते—''तस्मादेवं विच्छान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः श्रद्धावित्तो भूत्वाऽत्मन्येवात्मनं पश्येत सर्वमेनं पश्यति सर्वोऽस्यात्माभवति सर्वस्यात्मा भवति सर्वं पाप्मानंतरति, नैवं पाप्मा तरति'' इत्यादि उक्त्वा अन्ते पठ्यते—''य एवं वेद'' इति। अत्र हि पाप्मतरणादि रूपं ब्रह्मज्ञानमाहात्म्यमुच्यते ज्ञानस्य संसार मुक्ति हेतुत्वात्। अथर्वणोपनिषदादिषु तु भगवद् भक्तेर्मुक्ति हेतुत्वमुच्यते। ''परं ब्रह्मैतद् यो धारयति'' इत्युपक्रम्य भजति सोऽमृतो भवति'' इति। अग्रेऽपि ''मुक्तो भवति। संसृतिः'' इति। एतद् विषय व्यवस्था तु पुरैवोक्ता इति नात्रोच्यते। एतावान् परं संदेहः ''य एवं वेद स पाप्मानं तरति'' इति वचनात् ज्ञानदशायामपि पापसत्वं वाच्यम् अन्यथा तरणासंभवापत्तेः। एवं सति भक्तिदशायामप्येवमेव, नवेति भवति? संशयः। तत्र श्रुतावविशेषेण पापनाशश्रवणान्मुक्तिपूर्व काले पापनाशावश्यम्भावादेकत्र निर्णीतः, शास्त्रार्थोऽपरत्रापि तथेति न्यायेन भक्त्या पापनाशादत्रापि तथैव।

वाजसनेयी की एक शाखा में "स एष नेति नेति" इत्यादि से उपक्रम करके "न व्यथते" इस अन्तिम वाक्य तक ब्रह्म का स्वरूप बतलाकर जो ऐसे ब्रह्म स्वरूप का ज्ञाता है, वह कृतार्थ होता है इस अभिप्राय से आगे कहते हैं—"अतः पापमकंरवमतः" इत्यादि । इसके बाद "यैष नित्यो महिमा ब्राह्मणस्य" इत्यादि ऋचा से ब्रह्मवेत्ता का माहात्म्य बतलाकर कहते हैं कि — "इस प्रकार जानकर व्यक्ति शान्त दान्त, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा आदि प्राप्त कर आत्मा में ही आत्मा को देखता है सभी को ब्रह्मरूप से देखता है" इत्यादि कह कर अन्त में कहते हैं "य एवं वेद" इत्यादि । इस प्रकरण में, ज्ञान को संसार से मुक्त होने का हेतु मानकर, पापों से पार होने का उपाय ब्रह्म ज्ञान को मान कर उसका माहात्म्य वर्णन किया गया है । अथर्वणोपनिषद् आदि में तो मुक्ति का हेतु भगवद्भक्ति को माना गया है । "इस परब्रह्म को जो धारण करता है" जो भजन करता है वह अमर हो जाता है "वह संसार से मुक्त हो जाता है" इत्यादि । इस संबंध में जो व्यवस्था की उसे तो पहिले ही बतला चुके हैं, इसलिए यहाँ कुछ नहीं कहेंगे । संदेह तो केवल इतना है कि—"जो इस प्रकार जानता है वह पापों से मुक्त हो जाता है" इस वाक्य में ज्ञानदशा में भी पाप का अस्तित्व माना गया है, यदि ऐसा नहीं है तो उद्धार किससे होगा ? यही बात भक्ति दशा में भी घटित होती है या नहीं ? संशय इस बात का है । भक्ति संबंधी श्रुति में तो सामान्य रूप से पापनाश की बात कही गई है । मुक्ति के पूर्वकाल में, पाप का नाश अवश्यम्भावी है, ऐसा एक जगह निर्णय कर चुके है । शास्त्रार्थ दूसरे प्रकार का भी हो सकता है इसलिए भक्ति दशा में भी पापस्थिति रहती है और उसका नाश होता है, ऐसा ही निर्णय होता है ।

इति प्राप्त आह —सम्पराय इत्यादि । संपरायः परलोकस्तस्मिन् प्राप्तव्ये सतीत्यर्थ । अथवा पर पुरुषोत्तमः तस्यायो ज्ञानम् । तथा च सम्यग् भूतं पुरुषोत्तम ज्ञानं येन स संपरायो भक्तिमार्ग इति यावत् । अथवा परे पुरुषोत्तमे अयनं अयो गमनं प्रवेश इति यावत्तथा च सम्यक्परायो येन स तथा भक्तिमार्ग इत्यर्थः । ज्ञानमार्गेऽक्षरप्राप्तया, भक्तिमार्गे पुरुषोत्तम प्राप्तया, तस्माद् विशेषमत्र ज्ञापयितुमेवं कथनमतो भक्तेः पूर्वमेव पापनाशो युक्त इति भावः । ब्रह्मभूतस्य भक्तिलाभानन्तरं "भक्तयामामभिजानाति" इति भगवद् वाक्यात् पुरुषोत्तम स्वरूप ज्ञानस्य भक्त्यैकसाध्यत्वात् तथा । एवं सति—

"मुक्तानामपिसिद्धानां नारायण परायणः, सुदुर्लभः प्रशान्तात्माकोटिष्वपि महामुने जन्मान्तर सहस्रेषुतपोध्यान समाधिभिः, नराणां क्षीणपापानां कृष्णो भक्तिः प्रजायते जन्मान्तर सहस्रेषु समाराध्यवृषध्वजम् वैष्णवत्वं लभेत् कश्चित् सर्वपापक्षयादिह" इत्यादि वाक्यैः पापनाशानन्तरमेव भक्ति संभवाद् भक्तस्यतत्त्व्यपापादेरभावान्न ज्ञानमार्गीय तुल्यता इत्यर्थः।

उक्त प्राप्त मत पर "सम्पराय" इत्यादि सूत्र प्रस्तुत करते हैं। सम्पराय अर्थात् परलोक अथवा परपुरुषोत्तम का आय अर्थात् ज्ञान पूर्णरूप से पुरुषोत्तम ज्ञान है जिससे वह संपराय अर्थात् भक्ति मार्ग है। अथवा पर पुरुषोत्तम में अयन अर्थात् गमन प्रवेश, पूर्ण रूप से ब्रह्म प्राप्ति का मार्ग अर्थात् भक्ति मार्ग है। इत्यादि व्याख्याओं से उक्त सूत्र का तात्पर्य होता है कि—ज्ञानमार्ग में अक्षर प्राप्ति तथा भक्तिमार्ग में पुरुषोत्तम प्राप्ति होती है। इस विशेषता को बतलाने के लिए ही सूत्रकार ने "सम्पराय" आदि सूत्र की योजना की है। उक्त सूत्र का तात्पर्य है कि—भक्ति के पूर्व ही पापनाश हो जाता है। "मुझे भक्ति से जानता है" इस भगवद् वाक्य से यह निश्चित होता है कि—भक्ति लाभ के बाद पुरुषोत्तम स्वरूप ज्ञान होता है, इसलिए भगवान् एकमात्र भक्ति से ही साध्य हैं। जैसा कि—"हे महामुनि करोड़ों मुक्त सिद्ध प्रशान्तात्माओं में कोई एक नारायण परायण दुर्लभ भक्त होता है। हजारों वर्षो तक किए गए तपध्यान समाधि से जब मनुष्यों के पाप क्षीण हो जाते हैं तब कृष्ण भक्ति होती है। हजारों जन्मों तक वृषध्वज के भजन करने के बाद ही समस्त पापों के क्षय हो जाने पर वैष्णवता प्राप्त होती, है।" इत्यादि वाक्यों से निश्चित होता है कि—पाप नाश के बाद ही भक्ति होती है, भक्त के लिए, पार होने योग्य पाप का अभाव रहता है, इसलिए ज्ञानमार्ग के साथ उसकी समानता नहीं हो सकती।

ननु य एवं वेदेति सामान्यवचनात् पुरुषोत्तमविदो अपि एवमेवति चेत्त्राह—तथाह्यन्ये, तथा ज्ञानानन्तरमिति पापवन्तोऽन्ये भक्तिमार्गीयेभ्योऽन्य इत्यर्थः। उक्त वचन रूपोपपत्तिर्हि शब्देन ज्ञाप्यते।

यदि कहें कि—"य एवं वेद" इस सामान्य वचन से तो पुरुषोत्तम को जानने वाले की भी ज्ञानमार्गी के समान व्यवस्था होगी? उस पर सूत्रकार "ह्यन्ये" पद का प्रयोग करते हैं अर्थात् उक्त वचन भक्तिमार्गियों से अन्य

पापयुक्त ज्ञानमार्गियों से ही संबंधित है। हि पद से उक्त वचन के स्वरूप की उपपत्ति होती है।

ननु भक्तिमार्गीयाणामपि गोपस्त्रीणां "दुःसहप्रेष्ठ विरह तीव्रताप-धुताशुभाः, ध्यानप्राप्ताच्युताश्लेष निवृत्या क्षीण मंगलाः" इति वचनेन दुष्कृतसुकृतयोरपि हानि श्रवणात् पूर्वोक्त वचनैर्विरोध इत्याशंकायामुत्तरं पठति—

भक्तिमार्गीय गोपियों के विषय में भी उल्लेख आता है कि "भगवान के अत्यन्त असह्य विरह के तीव्र ताप से उनके अशुभ धुल गये तब उन्हें ध्यान में अच्युत का आश्लेष प्राप्त हुआ जिससे उनके शुभ भी क्षीण हो गये" इस वचन में सुकृत और दुष्कृत के नाश होने का स्पष्ट वर्णन है जो कि—उपर्युक्त कथन के विरुद्ध है। इस संशय का उत्तर देते हैं—

छन्दत उभयाविरोधात् ।३।३।२८।।

छन्द इच्छा तथा च भक्तिमार्गीयाणामपि पूर्वं पापनाशो यः स भगवदि-च्छा विशेषतोऽनो भक्तेः पूर्वमेव पापनाश निरूपकाऽतन्नाश निरूपक वचन योरविरोधात् हेतोर्भक्तेः पूर्वमेव पापनाश आवश्यक इत्यर्थः। एवं सति भक्तेः पूर्वमेव तन्नाश औत्सर्गिकः। स क्वचिद् विशेषेच्छयाऽपनोद्यत इति भावो ज्ञापितो भवति। अत्रेच्छा विशेषे वक्तव्य बहुत्वेऽपि किंचिदुच्यते—चिकीर्षित लीला मध्यपाति भक्तान् सोपधिस्नेहवत्यो न सगुणविग्रहा, न वा सुकृतादियुक्ता इति ज्ञापयितुं कतिपय गोपीस्तद् विपरीत धर्मयुक्ताः कृत्वा तस्यां दशायां स्वप्राप्तौ प्रतिबन्धं कारयित्वा स्वयमेव तां दशां नाशाय स्वलीलामध्य पातिनीः कृतवान् इति। न ह्येतावता सार्वदिकं एवाऽयं भावो भवति। नहि मन्त्र प्रतिबद्ध शक्तिराग्निदाहक इति तत् स्वाभावत्वमेव तस्य सार्वदिकमिति वक्तुं शक्यम्। एतच्च श्री भागवत दशमस्कंध विवृतो प्रपंचि-तमस्माभिः।

छन्द अर्थात् इच्छा, भक्तिमार्गीय जीवों के पूर्व पापनाश का प्रसंग भगवान् की विशेष इच्छा पर ही निर्भर है पूर्वपापनाश के निरूपक और नाश न होने के निरूपक वचनों की विरुद्धता भगवदिच्छा मानकर ही निरस्त होती है। भक्ति के पूर्व पापनाश आवश्यक है। भक्ति पूर्व जो पापनाश है वह औत्सर्गिक

है। वह नाश कभी भगवान् की विशेष इच्छा से होता है, ऐसा भाव उक्त सूत्र से ज्ञापित होता है। भगवान की विशेष इच्छा के सम्बन्ध में वक्तव्य तो बहुत है, किन्तु कुछ कहेंगे। प्रभु ने अपनी अभीप्सित लीला में सम्मिलित भक्तों को, जो कि सहज अलौकिक प्रेम युक्त और सगुण विग्रह रहित होते हैं जिनमें सुकृतदुष्कृत कुछ भी नहीं होते। महात्म्य को दिखलाने के लिये जो गोपियाँ उक्त प्रकार से विपरीत सगुण और सकाम प्रेम वाली थीं उनको उस रूप में अपनी प्राप्ति में प्रतिबन्ध करके स्वयमेव उनकी दशा का नाश कर, अपनी लीला में सम्मिलित कर लिया। यह विशेष भाव सदा नहीं होता। यह नहीं कह सकते कि, मन्त्र प्रतिबद्ध शक्ति, अग्नि की तरह दाहक होती है वही उसका स्वभाव है, इसलिए वह सदा वैसी ही रहती है। इस सबका, हमने, श्री मद्भागवत के दशम स्कन्ध में विशेष रूप से विवेचन किया है।

गतेरर्थवत्वमुभयाथाऽन्यथाहि विरोधः ।३।३।२९।।

ननु "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" योवेद निहितं गुहायां परमेव्योमन् इति "तमेवे विद्वानमृत इह भवति" नान्यः पन्थाविद्यते अयनाय "इत्यादि श्रुतिभि रुक्त रूप ब्रह्मज्ञाने सत्येव मोक्ष इत्युच्यते। "यमेवैपवृणुते तेन लभ्यः" इति श्रुत्या आत्मीयत्वेनांगीकारात्मक वरणस्य भक्ति मार्गीयत्वात् तस्मिन् सति भक्तिमार्गे प्रवेशात् भक्तयैव स इत्युच्यते। किंच "भक्त्या मामभिजनाति इत्युक्वा "ततो मां तत्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्" इति भगवतोक्तमिति भक्ति मार्गेऽपि पुरुषोत्तम ज्ञानेनैव मोक्ष उच्यते, ज्ञानमार्गेत्वक्षरज्ञानेनेति विशेषः। "तस्मान्मद्भक्तियुक्तस्य योगिनो वै मदात्मनः, न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेदिह" इति वचनेन भक्तिमार्गीयस्य ज्ञाननैरपेक्ष्यम-प्युच्यते। तथा चैवं मिथः श्रुत्योः स्मृत्योश्च विरोधान्नैकतर निर्द्धारः संभवति न च ज्ञानेनैव मोक्ष उभयत्रापि तथोक्तेः। ज्ञाननैरपेक्ष्योक्तिस्तु भक्ति स्तु-त्यभिप्रायेति वाच्यम्। विषयभेदेन ज्ञानभेदान्मुक्ति साधनं कतमज्ज्ञानमित्य निश्चयात्। न च श्रौतत्वाविशेषात् समुच्चय इति वाच्यम् ज्ञानिनोऽक्षरे भक्तस्य पुरुषोत्तमे लयात् समुच्चयासंभवात्। तर्ह्येवं विरोधाभावादुपपन्नं सर्वमिति चेत्। न, पूर्वं ज्ञानमार्गीय ज्ञानवतः पश्चाद् भक्तिमार्गीय ज्ञान-वतः लयस्थान निर्द्धारासंभवात्। अपरंच—"ततो मां तत्वतो ज्ञात्वा" इति वचनात् भक्तिमार्गे तत्त्वतो भगवज्ज्ञानमेव प्रवेश साधनमिति मन्तव्यम्। तथा

च "मत्कामारमणंजारं मत्स्वरूपाविदोऽबलाः ब्रह्म मां परमं प्रापुः संगाच्छत सहस्रशः "इति वाक्यात् ज्ञानमार्गीय भक्तिमार्गीय ज्ञानरहितानामपि भगवत् प्राप्तेः तत्साधनत्व निरूपक श्रुति विरोधः। तथा च क्वचित्ज्ञानं मुक्तिसाधन-त्वेनोच्यते, क्वाचिद् भक्तिः, क्वचिन्नोभयमपि इत्येकतर साधन अनिश्चयान् मुक्ति साधने मुमुक्षोः प्रवृत्यसंभवः।

"ब्रह्म, सत्य ज्ञान और अनन्त स्वरूप है" जो हृदयस्थ गुहा के परमा-काश में निहित को जानता है। "उसे जानकर यहीं अमृत हो जाता है" "इसे जानने का इसके अतिरिक्त कोई दूसरा उपाय नहीं है" इत्यादि श्रुतियाँ उक्त रूप ब्रह्म ज्ञान से मोक्ष बतलाती है।" जिसे वह परमात्मा वरण करता है उसे ही परमात्मा की प्राप्ति होती है" इत्यादि आत्मीय रूप से स्वीकारात्मक वरण की बात भक्ति मार्ग की पुष्टि करती है, भक्तिमार्ग में प्रवेश करने से भक्ति द्वारा ही मोक्ष की बात निश्चित होती हैं। "मुझे भक्ति से जानता है" "मुझे तत्व से जानकर ही प्रविष्ट होता है" इत्यादि भगवद् वाक्य, भक्तिमार्ग में भी पुरुषोत्तम ज्ञान से ही मोक्ष बतलाता है। ज्ञानमार्ग में अक्षरज्ञान से मुक्ति बतलाई गई है। "मेरी भक्ति से युक्त मुझ में आसक्त योगियों को बिना ज्ञानवैराग्य के भी प्रायः "मोक्ष प्राप्त हो जाता है" इत्यादि वचन से, भक्तिमार्गीय के लिये, ज्ञान की निरपेक्षता भी ज्ञात होती है। इस प्रकार श्रुति और स्मृति की परस्पर विरु-द्धता से किसी एक बात का निर्द्धारण संभव नहीं है। ऐसा भी नहीं कह सकते कि—दोनों ही जगह ज्ञान की चर्चा है इसलिये ज्ञान से ही मोक्ष होता हैं, तथा ज्ञान निरपेक्षता, भक्ति स्तुति के अभिप्राय से कही गई है, इत्यादि। क्योंकि विषय भेद से ज्ञान भेद होता है, अतः कौन सा ज्ञान मोक्ष का साधक हैं, ऐसा निर्णय करना कठिन है। ऐसा भी नहीं; कह सकते कि—श्रौत ज्ञान सामान्य है इसलिये सभी प्रकार का ज्ञान मोक्ष साधक है, क्योंकि—ज्ञानी का अक्षर में तथा भक्त का पुरुषोत्तम में लय बतलाया है, इसलिये समुच्चय ज्ञान की बात भी व्यर्थ है। यदि कहें कि समुच्चय बोधक मानने से ही विरु-द्धता का निराकरण होगा और तभी सब कुछ सुसंगत हो सकता है, सो भी असंगत बात है, पहिले ज्ञानमार्गीय ज्ञान को जानकर बाद में भक्ति मार्गीय ज्ञान से लय स्थान का निर्द्धारण करना असम्भव है। "ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा" इत्यादि कथन से निश्चित होता है कि—भक्तिमार्ग में तत्व रूप से भगवान् का ज्ञान ही एक मात्र प्रवेश का साधन है। "मत्कामरमणंजारं"

इत्यादि से ये भी ज्ञान होता है कि ज्ञानमार्गीय और भक्तिमार्गीय यदि ज्ञान रहित भी हों तो उन्हे भगवत् प्राप्ति हो सकती है, ये वाक्य साधनत्व निरूपक श्रुति से विरुद्ध हैं। कहीं कहीं ज्ञान को मुक्ति के साधन के रूप में कहा गया है कहीं भक्ति को कहा गया है, कहीं दोनों को नहीं कहा गया अतः किसी एक साधन के निश्चय न होने से, मुक्ति की साधना में मुमुक्षु की प्रवृत्ति होना कठिन है।

इति प्राप्ते आह—गतेरर्थवत्वमित्यादि। गतेर्ज्ञानस्य अर्थवत्वं फलजनकत्वमुभयथा मर्यादा पुष्टि भेदेनेत्यर्थः। अत्रायमाशयः "एष उ एव साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषति" इत्यादि श्रुतिभ्यो भगवान् सृष्टि पूर्वकाल एवैतस्मै जीवायैतत्कर्म कारयित्वैतत्फलं दास्य इति विचारितवानिति तथैव भवति। तत्रोक्तरीत्या मुक्तिसाधनानुगमे हेतुरवश्यं वाच्यः। एवं सति कृतिसाध्यं साधनं ज्ञानभक्तिरूपं शास्त्रेण बोध्यते। ताभ्यां विहिताभ्यां मुक्तिः मर्यादा। तद्रहितानामपि स्वरूप बलेन स्व प्रापणं पुष्टिरुच्यते। तथा च यं जीवं यस्मिन् मार्गे अंगीकृतवांस्तं जीवं तत्र प्रवर्त्तयित्वा तत्फलं ददातीति सर्वं सुस्थम् अतपुष्टिमार्गे अंगीकृतस्य ज्ञानादिनैरपेक्ष्यं मर्यादायामंगीकृतस्य तदपेक्षित्वं युक्तमेवेति भावः। अत्र साधकत्वेन विपक्षे बाधकमाह। अन्यथा हि विरोध इति। अन्यथा मर्यादा पुष्टिभेदेन व्यवस्थाया अकथने विरोधात् हेतोस्तथेत्यर्थः। विरोधस्तु पूर्वपक्ष ग्रन्थ उपपादितः। एतेनैव, ननु श्रवणादिरूपा प्रेम रूपा च भक्तिरविशेषेण पापक्षय एवोदेत्युत कश्चिद् विशेषोऽस्ति? तत्राधुनिकानामपि भक्तानां दुःखदर्शनाच्छ्रवणादेः पापनाशकत्व श्रवणाच्चाविशेष पक्षस्त्वसंगतः। अथ श्रवणादिरूपा, पापे सत्यपि भवति। प्रेम रूपातु तन्नाश एवेति विशेषो वाच्यः। सोऽपि प्रेमवतामपि अक्रूरादीनां मणिप्रसंगे भगवता समं कापट्य कृतिश्रवणान्न साधीयानित्यपि शंका निरस्ता वेदितव्या। तथाहि मर्यादा पुष्टिभेदेनांगीकारे वैलक्षण्यादाद्यायामंगीकृतानां मुमुक्षयैव श्रवणादौ प्रवृत्तिस्तद्दातृत्वेनैव भगवति प्रेमापि, न तु निरुपधिः। कदाचित् वस्तु स्वभावेन मुक्तीच्छानिवृत्तावपि तद्भक्तेः साधनमार्गीयत्वात् "अनिच्छतो मे गतिमण्वीं प्रयुंक्त" इति वाक्यादन्ते मुक्तिरेव भवित्री। अस्मिन् मार्गे श्रवणादिभिः पापक्षये प्रेमोत्पत्तिस्ततो मुक्तिः।

उक्त प्राप्त मत पर—'गतेरर्थवत्वम्'' इत्यादि सूत्र प्रस्तुत करते हैं। गति अर्थात् ज्ञान की फलजनकता पुष्टि और मर्यादाभेद से दो प्रकार की

है। उक्त कथन का तात्पर्य है कि—"परमात्मा उससे अच्छा कर्म कराते हैं जिसे यमलोक से ऊपर उठाना चाहते हैं" इत्यादि श्रुति से ज्ञात होता है कि—भगवान् सृष्टि के प्रथम ही निर्णय कर लेते हैं कि—"इस जीव से ऐसा कर्म कराकर ऐसा फल देना चाहिए" इसके अनुसार ही होता है। उक्त रीति से तो मुक्ति साधनानुगम में हेतु अवश्य मानना होगा। इस प्रकार से कृति, साधन और साध्य, ज्ञान और भक्तिरूप है, ऐसा शास्त्र से ज्ञात होता है। उन दोनों से विहित मुक्ति, मर्यादा है। उन दोनों से रहित भी, स्वरूप बल से प्राप्त कराने वाली मुक्ति, पुष्टि है। जिस जीव को प्रभु, जिस मार्ग से स्वीकारते हैं, उस जीव को उस मार्ग में प्रवृत्त कर तदनुसार फल प्रदान करते हैं, ऐसा मानने से ही उक्त बात सुसंगत हो सकती है। पुष्टि मार्ग में अंगीकृत जीव के लिए ज्ञान आदि अपेक्षित नहीं होते, मर्यादा मार्ग में अंगीकृत जीव के लिए वे अपेक्षित होते हैं, यही बात सही है। साधकत्व रूप से दोनों मार्गों में भिन्नता दिखलाई गई है। यदि उक्त बात नहीं मानेंगे तो शास्त्र कथन में विरुद्धता होगी। अर्थात् मर्यादा पुष्टि भेद की व्यवस्था न मानने पर ही विरुद्धता होगी। विरोध का उपपादन पूर्वपक्ष ग्रन्थ में कर चुके हैं। प्रश्न होता है कि—श्रवणादिरूपा और प्रेमरूपा भक्ति सामान्य रूप से एक समान ही पापक्षय करती हैं अथवा किसी में कोई विशेषता भी है? आजकल के भक्तों को दुःखी देखा जाता है, शास्त्रों में श्रवण आदि से पापनाश की बात कही गई है, इसलिए सामान्यतः पापनाश की बात मानना असंगत है। देखने से तो ऐसा ही निश्चित होता है कि—श्रवण आदि रूप भक्ति पाप की स्थिति में भी होती है। प्रेमरूपा भक्ति, पापनाश होने पर ही होती है, ये उसकी विशेषता है। प्रेमी भक्त अक्रूर ने स्यमन्तक मणि के प्रसंग में भगवान के साथ कपट किया, इससे ये शंका भी समाप्त हो जाती है कि—पापनाश के बिना भक्ति नहीं होती। मर्यादा पुष्टि भेद को स्वीकारने से दोनों की विलक्षणता निश्चित हो जाती है, अतः मर्यादा मार्ग में अंगीकृत जीवों की मुमुक्षु भाव से ही प्रवृत्ति होती है, तथा भगवान के द्वारा दिये जाने से प्रेमा भक्ति की प्रवृत्ति होती हैं, अकारण प्रवृत्ति नहीं होती। कभी-कभी मुक्ति की इच्छा न होते हुए भी, भक्ति साधन में संलग्न भक्तों को, उस भक्ति से ही मुक्ति हो जाती है, "अनिच्छतो मे गतिमण्वीं प्रयुंक्ते" इत्यादि वाक्य में मुक्ति को भक्ति का स्वभाव बतलाया गया है। इस मार्ग में, श्रवण आदि से पापक्षय हो जाने से प्रेमोत्पत्ति होती है और फिर मुक्ति हो जाती है।

पुष्टिमार्गे अंगीकृतेस्त्वत्यनुग्रह साध्यत्वात् तत्र च पापादेरप्रतिबंधकत्वाच्छ्रवणादि रूपा प्रेमरूपा च युगपत् पौर्वापर्येण वा, वैपरीत्येन वा भवत्येव। अत्र श्रवणादिकमपि फलरूपमेव। स्नेहेनैव क्रियमाणत्वान्नविधिविषयः। न हि अविद्यादि मुक्तत्यन्तरूपभजनानन्दान्तराय रूपाऽंकषाविरलविविधमहातरु गहनानां दहने लोलुपस्याऽनुग्रहानलस्य तदान्तरालिकपापतूलं प्रतिबन्धकमिति वक्तुं शक्यम्। तदुक्तं—श्रीभागवते—"स्वपापमूलं भजतः प्रियस्य त्यक्तान्यभावस्य हरिः परेशः, विकर्म यच्चोत्पतितं कथंचिद् दुनोति सर्वं हृदि सन्निविष्टम्" इति। विकर्म प्राक्तनं तद् दुःखदमिति, स्वयं च हरित्वेन दुःखहर्त्तेति धुनोति। उक्त विशेषण विशिष्टस्य स्वतो विकर्मकृत्यसंभवात् सांसर्गिकं मत्तो भूतं, नतु मयाकृतं इतिवद् वा यत् कृतं विकर्म तत् कथंचिदुत्पतितमित्युच्यते। त्यक्तान्यभावत्वेन भगवत्सेवाव्यासंगेनेन्द्रद्युम्नाख्य पाण्ड्यराजवन्महदागमनाद्यज्ञानं वा वक्ता उक्तरूपे भक्ते विकर्मोक्तावरुचिज्ञापनाय वा कथंचिदित्युक्तवान् तेन तर्कितं विकर्मात्राभिप्रेतमिति ज्ञायते। एतादृशस्यापि यदि विकर्म भवेत् तदा तन्निवृत्यर्थं न तेनान्यत् कर्त्तव्यम्। भगवान् एव हृदिनिविष्टस्तद् धुनोति यत् इति। कदाचित् स्वभक्ति वलस्फूर्त्या सदोषमपि जनं कृतार्थी करिष्यामीत्यंगी कुर्याच्चेद्भक्तस्तदैव हृदिस्थैव तत्संसर्गजं दोषमस्यैतदंगीकारेण तद् दोषमपि धुनोतीति सर्वं पदेनोच्यते। चिरकालभोग्यमपि तत्क्षणेनैव नाशयति। तन्नाशने कालादेरप्रतिबंधकत्वामित्यपि ज्ञापयितुं परस्य कालादेरीशत्वमुक्तम्। अत्र भजनादि हृन्निवेशान्तानां स्पष्ट एव विकर्मणि सत्यपि संभव इति।

पुष्टिमार्ग में अंगीकृत जीव भगवान के अत्यनुग्रह से अनुग्रहीत होते हैं, उनके लिए पाप आदि का कोई प्रतिबन्ध नही रहता, उनमें श्रवण आदिरूपा और प्रेमरूपा भक्ति कभी एक साथ, कभी आगे पीछे, कभी पहिले प्रेमरूपा और बाद में श्रवणादिरूपा भक्ति होती है। इस मार्ग में श्रवण आदि भी फलरूप होते हैं। क्योंकि—ये स्नेहपूर्वक किए जाते हैं, इसलिए ये विधि के विषय नहीं होते। ये नहीं कह सकते कि—अविद्या आदि से मुक्त भजनानंद के, अन्तराय पापों के बन को, दहन करने वाले भगवदनुग्रह रूप अनल के बीच में, पापतूल प्रतिबन्धक हो सकता है। (अर्थात् जो प्रभुकृपा पाप के बड़े-बड़े गहन बनों को भस्म कर सकती है पापतूल उससे कैसे बच सकते हैं?) वैसा ही श्रीमद्भागवत में कहा भी है—"अपने चरण कमल के भजन करने वाले प्रिय भक्त से जो विकर्म हो जाते हैं, उन्हें प्रभु हृदय में प्रवेश कर नष्ट कर देते हैं।" वकर्म, प्राक्तन कर्म स्वरूप होते हैं जो कि दुःखदायी होते हैं, स्वयं हरि दुःखहर्त्ता

होकर उनको नष्ट करते हैं। भक्त कहलाने के बाद जीव स्वयं ही विकर्म नहीं कर सकता, कुसंगवश यदि कुछ कर भी बैठता है तो उसे वह अपना न मानकर, किसी प्रकार हो गया, ऐसा ही कहता है अन्यान्य कर्मों का त्यागकर एकमात्र भगवत्सेवा में संलग्न पांड्यदेश के राजा इन्द्रद्युम्न को पूज्य अगस्त्य ऋषि के आगमन की प्रतीति नहीं हुई, उक्त प्रकार के भक्त की विकर्म में अरुचि हो, इस भाव को दिखलाने के लिए ही, पांड्यराज के प्रसंग में—"स्वपादमूलं इत्यादि श्लोक कहा गया है तथा यह दिखलाया गया है कि जैसे पाण्ड्य नरेश द्वारा विकर्म होने पर भी उन्होंने भक्ति का त्याग नहीं किया वैसे ही प्रत्येक भक्त को भक्ति का आश्रय कदापि नहीं छोड़ना चाहिए, भगवान स्वयं ही विकर्मजन्य पाप का नाश कर मुक्त करेंगे अपनी भक्ति वल की स्फूर्ति से, दोष युक्त व्यक्ति को भी, प्रभु, "इसे कृतार्थ करूँगा" ऐसा विचार कर उसके हृदय में विराजे हुए ही, संसर्गज दोष को, उक्त प्रकार के अंगीकार के आधार पर ही नाश कर देते हैं, यही भाव "धुनोति" इत्यादि पद से दिखलाया गया है। चिरकाल भोग्य को भी प्रभु, उसी क्षण नाश कर देते हैं। उस नाश में काल आदि का प्रतिबन्ध नहीं रहता इससे ही, परमात्मा को काल आदि का स्वामी कहा गया है। इस प्रसंग में ये सिद्ध कर दिया गया है कि—विकर्म की स्थिति में, भजन आदि हृदय में रहते हैं।

८. **अधिकरण :—**

उपपन्नस्तल्लक्षणार्थोपलब्धेर्लोकवत् ।३।३।३०।।

ननु मुक्तेरेव सर्वत्र फलत्वमुच्यते, युक्तं चैतत्, संसृतेर्दुःखात्मकत्वात्, तन्निवृत्तेः सर्वेषानिष्टत्वात् । पुष्टिमार्गीय भक्तानां तदनपेक्षितत्वमुच्यते। तदुक्तमथर्वणोपनिषत्स्वष्टादशार्णमंत्रस्वरूपमुक्त्वा पठ्यते "परब्रह्मैतद्यो धारयति" इत्यादेरन्ते "सोऽमृतोभवति" इत्यादि। एतदग्रे—"किं तद् रूपं किं रमनम् कथमेतद् भजनम् ?" इत्यादि प्रश्नोत्तरं पठ्यते—"भक्तिरहस्य भजनं तदिहामुत्रोपाधिनैराश्येनैवामुष्यात्मनः कल्पनमेतदेव नैषकर्म्यम्" इति। एतदत्र विचार्यते—मंत्रवृत्ति तदधिष्ठातृ रूपध्यानादेरमृतत्वफलमुच्यते। भजनस्वरूपं च यावत् फलनैराश्येन भगवत्यात्मनः कल्पनमित्युच्यते। न च फलनैराश्येन भजतेऽप्यन्ते मुक्तिरेव भवित्रीति वाच्यम्। "तं यथा यथोपासते तथैव भवति तद् हैतान् भूत्वा अवति" इति श्रुतेर्मुक्ति साधनत्वेन ज्ञात्वा भजतः सैव फलम्। स्वरूपस्यैव स्वतंत्र पुरुषार्थत्वमनुभवन् यो भजते तस्य तदेव फलमिति यतो

निर्णयः संपद्यते । "ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैवभजाम्यहम्" इति भगवद् वाक्याच्च । अत एव रहस्य भजनं लक्ष्यमुक्तम् ।

सब जगह मुक्ति को ही फलरूप से बतलाया गया है, जो कि ठीक ही है, क्योंकि सृष्टि दुःखात्मक है, उससे सभी छूटना चाहते हैं । पुष्टिमार्गीय भक्तों को उसकी भी अपेक्षा नहीं होती । अथर्वणोपनिषद् में अष्टादशाक्षर मंत्र के स्वरूप का वर्णन करते हुए लिखते हैं—"इस रीति से जो परब्रह्म को धारण करता है" इत्यादि के अन्त में "वह अमृत होता है" इसके बाद प्रश्न हुआ कि—"भगवान का रूप कैसा है ? उनके नामामृत का रसास्वादन कैसे होता है ? उनका भजन कैसे होता है ?" इसका उत्तर देते हैं—"उनकी भक्ति ही भजन है, इस लोक तथा परलोक के समस्त भोगों की कामना का सर्वधा त्याग करके एकमात्र श्रीकृष्ण में ही इन्द्रियों सहित मन को लगा देना ही नैष्कर्म्य है ।" इस प्रसंग में विचार किया गया है कि—मंत्रावृत्ति और मंत्र के अधिष्ठातृ देवता के रूप के ध्यान से अमृतत्व प्राप्ति होती है । फल की आकांक्षा से रहित भगवान में आत्मभाव का चिन्तन ही भजन का स्वरूप है । फलाकांक्षा रहित भजन के अन्त में मुक्ति ही होगी ये नहीं कह सकते । "उस परमात्मा को जिस भाव से उपासना करता है वैसा ही होकर उसे प्राप्त करता है" इस श्रुति से मुक्ति साधन रूप से जानकर भजन करने वाले को वैसी ही प्राप्ति होगी । स्वरूप को ही स्वतन्त्र पुरुषार्थ मानकर जो भजन करता है उसे, स्वरूप प्राप्ति होती है, यही उक्त वाक्य में निर्णय किया गया है । "जो मुझे जिस भाव से भजता है, मैं उसे उसी भाव से भजता हूँ" इस भगवद् वाक्य से भी उक्त बात की पुष्टि होती है । एकमात्र भजन को ही लक्ष्य बतलाया गया है ।

तथा च श्रौतत्व भगवत्संबंधित्वयोरविशेषात् "कतमोगरीयान् ?" इति संशये गुढाभिसंधिः पठति । मुमुक्षोः सकाशाद्रहस्यभजनकर्त्तैवोपपन्नः । उपपत्ति युक्तः । तमेवोद्घाटयति-"तल्लक्षणार्थोपलब्धेः इति । तल्लक्षणो भगवत्स्वरूपात्मकोयोऽर्थः । स्वतंत्र पुरुषार्थरूपस्तदुपलब्धेः । स्वाधीनत्वेनतत्प्राप्तेरित्यर्थः । यद्यपि पुरुषोत्तमे प्रवेशेतदानन्दानुभवो भवति तथापि न प्रभोस्वदधीनत्वम् । भक्तितिरोभावात्, प्रत्युत वैपरीत्यम् । भजनानंदस्य तताधिक्यंतु "मुक्तिं ददाति कर्हिचित् स्म न भक्तियोगम्"—दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनंजनाः —"नारायणपरा "इत्युपक्रम्य "स्वर्गापवर्गनरकेष्वपि तुल्यार्थ दर्शिनः "इत्यादि वाक्यैरध्यवसीयेत । अतएव सामीप्यवाच्युपसर्ग उक्तः । तेन दासीत्वेन दासत्वेन लीलायां सुहृत्वेन प्रभुनिकटे स्थितिरुक्ता भवति ।

शास्त्रज्ञान और भगवत्सम्बन्ध दोनों ही समान हैं इनमें कोई बड़ा छोटा नहीं है। "कौन बड़ा है?" इस संशय पर दोनों की गूढाभिसंन्धि का उल्लेख किया गया है। मुमुक्षु भाव से ही अनन्य भक्ति करने का भाव हो सकता है। इस बात को "तल्लक्षणार्थोपलब्धेः "इत्यादि में कहा गया है। तल्लक्षण अर्थात् भगवत्तत्त्वरूपात्मक जो अर्थ है, स्वतन्त्र पुरुषार्थ रूप से उसकी उपलब्धि होती है। उसको प्राप्ति स्वतन्त्र रूप से होती है। यद्यपि सायुज्य मोक्षावस्था में जीव का प्रवेश पुरुषोत्तम में होता है और उसमें आनंदानुभूति भी होती है, किन्तु प्रभु, उस जीव के वशंगत नहीं होते क्योंकि उस जीव में भक्ति का तिरोभाव रहता है। अपितु प्रभु उससे विपरीत हो जाते हैं। भजनांनन्द की विशेषता तो—"भगवान् मुक्ति तो दे भी देते हैं, भक्ति किसी-किसी को ही देते हैं "भक्त लोग मुक्ति दिये जाने पर भी मेरी सेवा के अतिरिक्त उसे ग्रहण नहीं करते "सब कुछ नारायण परक ही है" इत्यादि उपक्रम करके "भक्त लोग स्वर्ग अपवर्ग नर्क आदि सभी को समान भाव से देखते हैं" इत्यादि वाक्यों में स्पष्ट रूप से कही गई है। इसीलिए सूत्र में सामीप्यवाची उपसर्ग का प्रयोग किया गया है। जिससे दासी भाव, दासभाव ओर लीला में सौहार्द भाव से प्रभु की निकटता की स्थिति लक्षित होती है।

न च महत्पदार्थ स्वरूपाज्ञानादल्प एवानन्दे यथा सर्वाधिक्यं मन्वानः पूर्वोक्तं न वांच्छन्ति तथाऽत्रापीति वाच्यम्। दीयमानात्रामर्थानां स्वरूपाज्ञाना सम्भवात्। अनुभवविषयी क्रियमाणत्विस्यैवात्र दीयमान पदार्थत्वात् तदज्ञाने स्वर्गादित्रये तुल्यदर्शित्वासंभवश्च। "मुक्ति ददाति कर्हिचित् स्म न भक्तियोगम् इति वाक्ये भक्तेराधिक्यं स्पष्टमेवोच्यते। तस्मात्न्यूनार्थ जिघृक्षोः सकाशत् पूर्णार्थवान् महान् इति युक्तमेवास्योपपन्नत्वम्। इममेवार्थ दृष्टान्तेनाह—लोकवदिति। यथा स्वाधीन भर्तृका नायिका तदवस्थाऽननुगुण गृहवित्तादिकं दीयमानं अपि नोरीकरोति तथेत्यर्थः।

ऐसा नहीं कह सकते कि—बड़ी वस्तु के स्वरूप का ज्ञान न होने से जैसे लोग छोटी वस्तु के आनन्द से तृप्त हो जाते है, वैसे ही स्वर्गादि के स्वरूप का ज्ञान न होने से भजनानन्द को बड़ा मान लिया गया है। दिये जाने वाले पदार्थों का स्वरूप ज्ञान न हो, ऐसा असंभव है। अनुभूत पदार्थों की ही, दिये जाने पर छोटे बड़े रूप में परख कर स्वीकृति होती है। यदि उनका ज्ञान न

होता तो स्वर्ग आदि तीनों की भजनानन्द से तुलना करना असम्भवथा, अनुभूत वस्तु की तुलना होती है। न्यूनार्थ को जानने वाला ही पूर्णार्थ महान् का वरण कर सकता है। इसी बात का उदाहरण देते हैं—"लोकवत्"। जैसे कि—लोक मे स्वाधीन भर्तृका नायिका सम्भोगावस्था के आनन्द के अतिरिक्त अन्य वस्तुओं को तुच्छ मान कर, घर धन आदि को भी दिये जाने पर नही स्वीकारती वैसे ही भक्त की उक्त बात भी है "मुक्तिं ददाति "इत्यादि मे स्पष्ट रूप से भक्ति की विशेषता बतलाई गई है।

अथवा स भगवानेव लक्षणमसाधारणो धर्मोयस्य स तल्लक्षण उद्भट भक्तिभावः स एवार्थः स्वतन्त्रपुरुषार्थ रूप, इत्यग्रे पूर्ववत्। भगवत् प्राकट्यवानेव हि भक्तो भक्तत्वेन ज्ञायते इति तथा। एतेन ज्ञाप्यं हि ज्ञापकादधिक भवति, एवं सति यज्ज्ञापकं परम काष्ठापन्न वस्तु पुरुषोत्तम स्वरूपं सर्वफलरूपं तन्महत्वं कथं वक्तुं शक्यं इति सूच्यते।

उक्त सूत्र की व्याख्या इस प्रकार भी की जा सकती है कि—भगवान् ही असाधारण धर्म है जिनका भक्ति भाव उद्भव ही स्वतन्त्र पुरुषार्थ रूप है, इसके आगे की व्यख्या पूर्ववत् होगी। भक्त, भक्ति के बल से ही जान सकता है कि—भगवान प्रकट होते है इस स्थिति में, ज्ञापक से ज्ञाप्य अधिक होता है, ज्ञापक के लिये जो परम काष्ठापन्न वस्तु पुरुषोत्तम स्वरूप है जो कि समस्त फलरूप है, उनका महत्व कैसे कहा जा सकता है।

९. अधिकरण

अनियमः सर्वासामविरोधः शब्दानुमानाभ्याम् ।३।३।३१॥

अथर्वणोपनिषत्सु पठ्यते—"परब्रह्मैतद् यो धारयति रसति भजति ध्यायते प्रेमति शृणोति श्रावयत्युपादिशत्याचरति सोऽमृतो भवति सोऽमृतो भवति" इति। तत्र धारणादीनां समुदितानां एवामृत साधकत्वमुत प्रत्येकमपि? इति भवति संशयः। अत्र धारणादि साधनकलापमुक्त्वा फलमुच्यत् इति समुदितानामेव मुक्तिसाधकत्वमुपलक्षणं चैतच्छ्रवणादि नवविध भक्ती नामप्येवमेव तथात्वमिति पूर्वपक्षे सिद्धान्तमाह—"अनियमः इति। समुदितानामेव तेषांफलसाधकत्वमिति नियमो नास्तीत्यर्थः। अत्रोपपत्तिमाह—"सर्वासामविरोधः" इति। "चिन्तयँश्चेतसा कृष्णं मुक्तो भवति संसृतेः इति श्रुत्या

चिन्तन मात्रस्य तथात्वमुच्यते। "पंचपदींजपन्" इत्यादि उक्त्वा "ब्रह्म संपद्यते ब्रह्म संपद्यते" इति श्रुत्या कीर्तन मात्रस्य तथात्वमुच्यते। तथा च प्रत्येकपक्ष एव सर्वासां श्रुतीनमविरोधः स्यात्। एवं सति "परब्रह्मैतद् यो धारयति" इत्यादिषु "सोऽमृतो भवति" इति पदं प्रत्येकं सम्बध्यते इति-ज्ञेयम्।

अथर्वग गोपालतापनी उपनिषद् में पाठ है कि—"जो कृष्ण नामक पर-ब्रह्म का ध्यान करता है, प्रेम करता है, नाम श्रवण करता है, नाम सुनता है, नाम का उपदेश करता है, तथा इन सबका आचरण करता हैं, वह अमृत होता है अमृत होता है।" अब इस पर संशय होता है कि—धारणा आदि सब मिल कर अमृत साधक हैं अथवा ये अलग अलग भी अमृत साधक हैं? उक्त प्रसंग में धारण आदि साधन कलापों का वर्णन कर फल का उल्लेख किया गया है जिससे सभी साधन मुक्ति के साधक ज्ञात होते हैं, इसी प्रकार श्रवण कीर्तन आदि नवविध भक्ति साधन भी मुक्ति के अलग अलग साधक कहें गये हैं। इस पूर्वपक्ष पर सिद्धान्त बतलाते हुए कहते हैं। "अनियमः" अर्थात् उक्त सारे साधन मुक्ति साधक हों ऐसा कोई नियम नहीं है।

अर्थात् सब मिलकर ही मुक्ति साधक हों ऐसा नियम नहीं है। इस पर प्रमाण देते हुए कहते हैं "सर्वासामविरोधः।" कृष्ण का चित्त से चिन्तन करने से संसार से मुक्ति होती है "इस श्रुति से तो केवल चिन्तन मात्र से मुक्ति बतलाई गई है। "पंचपदी जपन्" इत्यादि कहकर "ब्रह्म संपद्यते ब्रह्मसंपद्यते" इत्यादि श्रुति से केवल कीर्तन से भी मुक्ति बतलाई गई है। इस प्रकार सभी साधनों से सबंधित श्रुतियाँ है, अतः सभी अविरुद्ध है।' "जो इस प्रकार परब्रह्म की धारणा करता है इत्यादि में "वह अमृत होता है" इस पद का सम्बन्ध होगा।

ननु यथा दण्डादीनां प्रत्येकं घट हेतुत्वोक्तावपि नैकस्यैव तज्जनकत्व-मेवमत्राप्येकैकस्य चितन्मदेस्तथात्वोक्तावपि फलसाधकत्वं समुदितानामेव तेषामिति चेन्नैवम् योऽर्थो यत्प्रमाणैकसमधिगम्यः स तेन प्रमाणेन यथा सिद्ध-यति तथा मंतव्यः। दण्डादेस्तथात्वं प्रत्यक्षेण गृह्यत इति तत्र तथाऽस्तु, प्रकृतेतु तेषां तथात्वमलौकिक शब्दैक समधिगम्यम्। श्रुतिस्तूक्तैव। न चोक्त न्यायः श्रुतिष्वपि तात्पर्यं निर्णायको भवतीति वाच्यम्। अलौकि-केऽर्थे लौकिकस्यासामर्थ्यात्। अन्यथा ब्रह्मणा मनसैव प्रजाजनने निषेकादिक-

मपि कल्प्येत् । स्मृतिरपि—"केवलेन हि भावेन गोप्योगावः खगामृगाः येऽन्ये-मूढधियो नागाः सिद्धामामीयुरंजसा, एतावान् सांख्ययोगाभ्यां" इत्युपक्रम्य "अन्तेनारायणस्मृतिः इत्यादि रूपैवमेवाह । इममेवार्थं हृदिकृत्वाह सूत्र-कारः शब्दानुमानाभ्याम्" इति । श्रुतिस्मृतिभ्यामित्यर्थः । तेचोक्ते । एतेने सूत्राकारस्यान्यो अप्यनुशयोऽस्तीति भाति । यत्रोक्त साधनस्तोमसंपत्तिकस्मिन् भक्तोऽस्ति तत्रैकेनैवमुक्तावितरसाधनत्व बोधक श्रुतिविरोधाच्छ्वणकीर्तन स्मरणानां मुक्त्य व्यवहितपूर्वक्षणे युगपदपि सम्भवादन्यथासिद्धिसंभवे विनि-गमकाभावादेकेनैव मुक्तिरिति न नियमोऽतः प्रत्येक साधकत्व बोधिकानां सर्वासां श्रुतीनां मिथोविरोधः तर्हि एकत्र तथात्वे सर्वत्रैव तथाऽस्तु इत्याशंक्य तत्र बाधकमाह शब्दानुमानाभ्यामिति । पूर्ववत् । तत्र प्रत्येकमपि मुक्तिहेतु-त्वमुच्यत् इति न तथेत्यर्थः । यत्र प्रत्येकमपि तथात्वं तत्र किमुवक्तव्यं समु-दितानां तथात्व इति भावः तेनश्लिष्टः प्रयोगोऽयमिति ज्ञेयम् ।

यदि कहें कि—दण्ड चक्र आदि प्रत्येक घट के हेतु हैं फिर भी कोई भी अकेले घट का निर्माण नहीं कर सकते, वैसे ही श्रवण आदि मुक्ति के साधक होते हुये भी अकेले साधक नहीं हो सकते, सब मिल कर ही मोक्ष प्रदान कर सकते हैं। ये कथन असंगत है—जो अर्थ जिस प्रमाण में लागू होता हैं, उसी में उसकी सार्थकता होती है, उसी प्रकार श्रबण आदि के सम्बन्ध में भी मानना चाहिये दन्ड आदि की समवेत उपादेयता तो प्रत्यक्ष दृष्टिगत होती है अतः उसे तो वैसा ही मानना चाहिये, किन्तु श्रवण आदि साधनों की मुक्ति प्रदानकता अलौकिक वस्तु हैं, जो कि एक मात्र शास्त्र से ही ज्ञात होती हैं। जैसा श्रुतियों से ऊपर जान चुके हैं। ये नहीं कह सकते कि—श्रुतियाँ भी उक्त न्याय से ही निर्णायक होती है। अलौकिक तत्व में, लौकिक नियम से निर्णय करना संभव नहीं है। यदि ऐसा न होता तो प्रजा की सृष्टि में ब्रह्मा, मन से निषेक आदि की भी कल्पना करते। "केवलेन हि भावेन" इत्यादि में स्पष्ट रूप से उक्त बात का ही ससर्थन किया गया है। इसी बात को हृदय से मानकर सूत्रकार ने कहा शब्दानुमानाभ्याम् "अर्थात् श्रुति स्मृति से ऐसा ही निर्णय होता है। इस सूत्र कार की उक्ति में दूसरा भाव भी परिलक्षित होता है कि—मान लीजिये कोई एक भक्त श्रवण कीर्तन आदि सभी साधनों को करता है, उसकी मुक्ति किसी एक ही साधन से हो जाय तो अन्य साधनों की महत्ता बतलाने वाली श्रुति की बात निस्तत्व हो जायेगी, मुक्ति के पूर्व के क्षण तक श्रवण कीर्तन स्मरण आदि यदि एक साथ होते रहें तो ये कहना कठिन होगा कि—किस

साधन से मुक्ति मिली, इसलिए नियम नहीं है कि—कोई एक साधन ही मुक्ति प्रदान करता है, ऐसा मानने से प्रत्येक साधनों की महत्ता बतलाने वाली श्रुतियों में परस्पर विरुद्धता भी होगी, इसलिए सब मिलकर एकसाथ मुक्त करते है ऐसा ही मानना चाहिये उसी से सब कुछ संगत हो जाता है। इस संशय को निवृत्ति के लिये भी सूत्रकार—"शब्दानुमनाभ्या" पद का प्रयोग करते है। सूत्रकार का कथन है कि—प्रत्येक साधन को श्रुति स्मृति में, मुक्ति का साधक कहा गया है। सबको एक साथ मिलकर समवेत साधक नहीं कहा गया है। जब प्रत्येक में मोक्ष प्रदानकता है, तो वे सब मिलकर भी कर सकते है इसमें कहने की क्या बात है ? अर्थात् वह तो स्वतः सिद्ध बात है। सूत्रकार ने जो उक्त पद का प्रयोग किया है उसे श्लिष्ट प्रयोग जानना चाहिये।

१०. **अधिकरण :—**

यावदधिकारनवस्थितिराधिकारिकाणाम् ।३।३।३२।।

पूर्वं मुमुक्षुभिर्मुक्तिसाधनत्वेन क्रियमाणानां भगवद्धर्माणां मुक्तिसाधन प्रकारो विचारितः। अधुना तु भगवान् स्वविचारितकार्यं लौकिकै मर्यादि अशक्यं ज्ञात्वा स्वैश्वर्यादिकं दत्वा येन जीवेन तत् कारयति स जीवः तैः धर्मैः मुक्तो भवति न वा ? इति विचार्यते।

पूर्व अधिकरण में मुमुक्षुओं द्वारा मुक्ति के साधन के रूप में किये जाते श्रवण कीर्त्तन आदि भागवत धर्मो के मुक्ति साधन पर विचार किया गया। अब ये विचार करेंगे कि—भगवान्, स्वविचारित कार्य लौकिक ऐश्वर्य आदि को अशक्य जानकर जिन जीवों को स्वऐश्वर्य आदि देकर भोग कराते हैं, वे जीव उनसे मुक्त होते हैं या नहीं ?

तत्र जीवकृत भगवद्विषयक धर्माणां यत्र तत् साधकत्वं तत्र भगवदीयानां धर्माणां तत्साधकत्वं सुतरामेव। तेषां स्वकृत्यऽसाध्यत्वेनाविधेयत्वात्तत्साधनेष्व-प्रवेशेऽपीति संदेहे निर्णयमाह—यावदित्यादि। यस्मिन् जीवे यत् कार्य साधनार्थ-मधिकारो भगवता दत्तस्तत् कार्यं साधनक्षमास्तस्मिन् ये स्वधर्मा भगवता स्थापितस्ते आधिकारिका इत्युच्यन्ते। तत्कार्यं संपत्तिरेव तदधिकारप्रयोजनमिति तावदेव तेषां तस्मिन् स्थितिरित्यर्थः। एवं सतितत् संपत्तौ सोऽपि निवर्त्तत इति तत्संबंधिनो धर्मा अपि निवर्त्तन्त इति मुक्तिपर्यन्त न तेषां व्यापार संभवो

भगवता तथैव विचारितत्वान्मुक्ति भक्त्यैवेति भावः। यच्च—"ब्रह्मणा सह ते सर्वे संप्राप्ते प्रतिसंचरे, परस्यान्ते कृतात्मानः प्रविशंति परं पदम्" इति वाक्यं, तत्त्वाकल्पान्तं येषामधिकारः सप्तर्षि प्रभृतीनां तद्विषयकमिति ज्ञेयम्। अन्यथा भगवद्दत्ताधिकार सामर्थ्यस्य भरतस्य स्वाधिकार समाप्तौ मुक्ति न वदेत्। कृतात्मान इतिपदात्तेषामपि भगवति कृतान्त करणानामेव परस्य भगवतः पर पदेव्यापि वैकुण्ठे प्रवेश उच्यते न त्वाधिकारिक गुणैः।

दो बातें हैं, एक तो जीव के द्वारा किये गए भगवद् विषयक धर्मों की मोक्ष साधकता, दूसरे भगवदीय धर्मों की मोक्ष साधकता, इन दोनों में भगवदीय धर्म तो असाध्य है अतः उनका विधान तो संभव नही है, उनकी साधनों में गणना हो भी कैसे सकती है। इसका निर्णय "यावत्" इत्यादि सूत्र से करते है। कहते हैं कि—जिस जीव में जिस कार्य के साधन के लिए भगवान ने जो अधिकार दे रक्खा है, जीव उसी को कर सकता है, उनमें भी जो स्वधर्म भगवान ने निश्चित किये हैं वे ही आधिकारिक कहे जाते हैं। उनके करने से ही भक्ति होगी, वही उन कार्यों के अधिकार का प्रयोजन है, भक्ति पर्यन्त ही उन कार्यों में जीव की संलग्नता रहती है। उसके बाद साधक उनसे निवृत्त हो जाता है अतः उससे संबद्ध धर्म भी निवृत्त हो जाते है। मुक्ति पर्यन्त उनका व्यापार संभव भी नहीं है, भगवान ऐसा विचार कर साधक को भक्ति प्रदान करते हैं, वही उसकी मुक्ति है। जैसा कि—"वे सब प्रति सृष्टि में ब्रह्मा के साथ रहते हैं, फिर वे कृतार्थ होकर परं पद को प्राप्त कर लेते है" इत्यादि में कल्पपर्यन्त अधिकार वाले सप्तर्षियों के विषय में जो कहा गया है, इसस भक्त के अधिकार की बात निश्चित होती है। यदि ऐसा नहीं मामेंगे तो, भगवत् प्रदत्त अधिकार प्राप्त समर्थ भरत की स्वाधिकार की समाप्ति हो जाने पर जो मुक्ति गाथा प्रसिद्ध है, वह सुमंगत न हो सकेगी। उक्त उदाहरण में जो "कृतात्मानः" पद दिया गया है उससे ज्ञात होता है कि—उन सप्तर्षि आदि के अन्तःकरण में जो भगवद् भक्ति है उसी के आधार पर वे भगवान के परमपद को प्राप्त हो जाते है। उक्त वाक्य मे आधिकारिक गुणों की चर्चा भी नहीं है।

११. अधिकरण :—

अक्षरधियांत्वविरोधःसामान्यतस्तद्भावाभावाभ्यामौपसदवत्तदुक्तम्। ३।३।३३॥

ननूक्ताऽथर्वणोपनिषद्वाक्यैर्भगवद् धर्माणां मुक्तिसाधनत्वमुच्यते।

श्रुत्यन्तरेषु "तमेवविदित्वाऽतिमृत्युमेति", नान्यः पन्था विद्यते अयनाय "ज्ञाना-देवनुकैवल्यम्", तरतिशोकमात्मवित्, "ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति", इत्यादिषु ज्ञानस्यैव मुक्तिसाधनत्वमुच्यते । श्रुतित्वाविशेषादुभयोस्तथात्वे कारण वैजात्ये कार्यवैजात्यस्यावश्यकत्वान्मुक्तौ च तदसंभवात् 'भक्त्या मामभिजानाति" इति वाक्याद् भक्तो ज्ञानस्यापि संभवात् ज्ञानेनैव मुक्तिरिति पूर्वपक्षे, ज्ञानसाधनत्व निरूपक श्रुति तात्पर्य निरूपयन् पुरुषोत्तम प्राप्तेरेव मुक्तिपद वाच्यत्वात्तद्भजन-स्यैव तत्प्रापकत्वमिति हृदिकृत्वाह—"अक्षरधियाम्" इत्यादि । तुशब्दः पूर्वपक्ष निरासे । वाजसनेयके श्रूयते—"एतद् वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदंति अस्थूलम्" इत्यादि । तथाथर्वणे च—"अथपरा यया तदक्षरमधिगम्यते" इति तन ज्ञानमार्गेऽक्षरविषयकाण्येव ज्ञानानि निरूप्यन्ते, पुरुषोत्तम विषयकाणि नेति निश्चीयते । "ब्रह्मविदाप्नोति परम्" इति श्रुतावक्षर ब्रह्मविदोऽक्षरात् परस्य प्राप्तिरुच्यते । "अक्षरादपि चोत्तमः" इति भगवद् वाक्याच्चाक्षरातीतः पुरुषोत्तमः। "भक्त्यामामभिजानाति" इति वाक्ये "माम्" इति पदात् पुरुषोत्तम विषयकं ज्ञानमुच्यते, न त्वक्षरविषयकम् ।

उक्त अथर्वणोपनिषद् वाक्य से भगवद् धर्मों की मुक्ति साधनता बतलाई गई। अन्यान्य—"उसे जानकर मृत्यु का अतिक्रमण करता है। ज्ञान के अतिरिक्त, उसे जानने का कोई दूसरा मार्ग नहीं है, वह एकमात्र ज्ञान से ही प्राप्य है। आत्मविद ही शोक से मुक्त होता है, ब्रह्म को जानकर ब्रह्म ही हो जाता है", इत्यादि श्रुतियों मे ज्ञान को ही मुक्ति का साधन बतलाया गया है। दोनों ही प्रकार की श्रुतियाँ समान है, दोनों मे कोई विशेषता तो है नही दोनो से ही मुक्त होने की बात कही गई है, दोनों को ही कारण मानने से एक बात उठती है कि—मुक्ति रूपी कार्य किसके अनुरूप है, कारण और कार्य के प्रकार मे तो भेद हो नहीं सकता, ऐसा होने से तो मुक्ति संभव नही है। "भक्ति से मुझे जानता है" इस वाक्य से ज्ञात होता है कि—भक्ति से ज्ञान होता है, उस ज्ञान से ही मुक्ति होती होगी, ऐसा मानने से उक्त शंका का समाधान हो जाता है। इस पर ज्ञान साधनता की निरूपक श्रुति के तात्पर्य का निरूपण करने के लिए, पुरुषोत्तम प्राप्ति ही मुक्ति है जो कि भजन से ही प्राप्त होती है, इस बात को विचार कर सूत्रकार "अक्षरधियाम्" इत्यादि सूत्र प्रस्तुत करते है। सूत्र का तु शब्द पूर्वपक्ष का निरास करता है। वाजसनेयक का पाठ है कि—"एतद् वैतदक्षरं" इत्यादि तथा अथर्वण का पाठ है—"अथ परा यया तदक्षरं" इत्यादि, इन दोनों में ज्ञानमार्ग से अक्षर प्राप्ति की बात कही गई है, पुरुषोत्तम प्राप्ति

की बात नहीं है । "ब्रह्मविदाप्नोतिपरम्" श्रुति में भी, अक्षर ब्रह्म के ज्ञाता की, अक्षर से पर तत्व की प्राप्ति बतलाई गई है । "अक्षरादपि चोत्तम" इस भगवद् वाक्य से, अक्षर से अतीत पुरुषोत्तम हैं ऐसा ज्ञात होता है । "भक्त्या मामभिजानाति" इत्यादि वाक्य में "माम्" पद से पुरुषोत्तम विषयक ज्ञान की बात कही गई है, अक्षर विषयक ज्ञान की नहीं ।

किं च ब्रह्मभूतस्य भक्ति लाभोक्तेस्तस्य चानंदांशविर्भावात्मकत्वात्तस्य चाविद्यानाशजन्यत्वात्तस्य चाक्षर ज्ञानजन्यत्वात् पूर्व कक्षा विश्रान्तमेवाक्षर ज्ञानम् । एवं सत्यक्षरविषयिणा धियां श्रुतौ मुक्ति साधनेषु योऽवरोधः प्रवेशनं गणनेति यावत् स सामान्यत्वभावाभ्यां हेतुभ्यां पुरुषोत्तमसंबंधि संबंधे मुक्तिरिति सामान्यम् । मर्यादामार्गे अंगीकृतानां "ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति, समः सर्वेषुभूतेषु मद्भक्ति लभते पराम्" इति वाक्यात् ब्रह्मभावानन्तर-मेव भगवद्भाव संभवात्तेन पुरुषोत्तमे प्रवेशात्तत्र परम्परोपयोगी ब्रह्मभावत्तयेत्यु-भाभ्यां हेतुभ्यां तथेत्यर्थः । वस्तुतस्तु पुरुषोत्तम प्राप्तिरेव मुक्तिरिति भावः ।

"ब्रह्मभूत व्यक्ति को भक्तिलाभ होता है" इस उक्ति से ज्ञात होता है कि, ब्रह्मभूत में परमात्मा के आनंदांश का आविर्भाव हो जाता है जिससे उसकी समस्त अविद्या का नाश हो जाता है, ये स्थिति अक्षर ज्ञान होने पर ही होती है, इससे निश्चित होता है कि अक्षर ज्ञान, मुक्ति मार्ग का प्रथम विश्राम स्थल है । अक्षर विषयक बुद्धि से, जिस श्रुति में, मुक्ति साधनों में अवरोध दिखलाया गया है, वो प्रवेश की दृष्टि से ही है । ज्ञान और भक्ति इन दो हेतुओं से पुरुषोत्तम संबंधी मुक्ति ही सामान्य रूप से बतलाई गई है । मर्यादा मार्ग को स्वीकारने वाले भक्तों की तो—"ब्रह्मभूत व्यक्ति प्रसन्न रहता है, न कुछ सोचता है न आकाँक्षा करता है, प्राणिमात्र में समभाव रखता है और मेरी परा भक्ति प्राप्त करता है" इत्यादि वाक्य से ब्रह्मभाव के बाद ही भगवद् भाव की प्राप्ति बतलाई गई है । पुरुषोत्तम में प्रवेश पाने के लिए प्रथम ब्रह्मभाव प्राप्ति आवश्यक है, अतः ज्ञान और भक्ति दोनों ही इस दृष्टि से समान हैं । वस्तुतः तो पुरुषोत्तम प्राप्ति ही मुक्ति है, यही निश्चित मत है ।

नन्वक्षरस्याविशिष्टत्वेन तदुपासकानामपि तथात्वत्केषांचित् तत्रैव लयः, केषांचिद् भक्तिलाभ इति कथमुपपद्यत इत्यांशक्य तत्र हेतुं दृष्टान्तेनाह—

"औपसदवत्" इति । उपसदाख्ये कर्मणि तानूनप्त्रस्पर्शाख्यमौपसदं कर्मास्ति— "तत्रातिथ्यायां ध्रौवात् स्रुचि चमसे वा यदाज्यं चतुरवत्तं वा समवद्यति तत्रानूनप्त्रम्" इत्युच्यते "अनाधृष्टमसीति" मन्त्रेण षोडशाप्यृत्विजो यजमानेन सह "तानूनप्त्रं समवमृशन्त्यनु मे दीक्षाम्" इति मंत्रेण यजमानस्तत्समवमृशन् यम ऋत्विजं कामयेताऽयंयज्ञं यशसमृच्छेदिति तं प्रथममवमर्शयेदिति श्रूयते श्रुतौ कल्पे च । अत्र सर्वेषामृत्विजां तानूनप्त्रत्वाविशेषेऽपि यस्मिन् स्नेहातिशयेन तथेच्छा तत्रैव तथा कृतिर्नेतरेषु । न हि तत्राविशिष्टेषु कथमेवं कृतिरिति पर्यनुयोगः सम्भवत्येवमिहापि इत्यर्थः ।

अब संशय होता है कि—अक्षर तत्त्व सामान्य है तो उसके उपासकों को उसकी प्राप्ति हो जाती है और उनका उसी में लय हो जाता है, उनमें से कुछ भक्ति कैसे प्राप्त कर लेते हैं ? इस आशंका पर हेतु दृष्टान्त उपस्थित करते हैं कि—जैसे उपसद नामक यज्ञीय कर्म में "तानूनप्त्र स्पर्श" नामक कर्म होता है, उसमें "आतिथ्यायां ध्रौवात् स्रुचि" इत्यादि कहा जाता है तथा "अनाधृष्टमसि" इस मंत्र से सोलह ऋत्विज यजमान के साथ पढ़ते हैं । "तानूनप्त्रं समवमृशन्ति अनु मे दीक्षाम्" इस मंत्र से यजमान, ऋत्विज को समवमृशन् करने की कामना करता है इस पर "अयं यज्ञं यशसमृच्छेत्" इत्यादि प्रथम परामर्श, ऋत्विज यजमान को देता है । इस कर्म का उक्त प्रकार श्रुति और कल्प दोनों में मिलता है । इस कर्म में तानूनप्त्र कर्म, सामान्य रूप से, सभी ऋत्विजों का अभिप्रेय है । जिस विधि में जिसका अतिस्नेह हो वह स्वेच्छा से उस विधि के अनुसार तानूनप्त्र कर्म करे उसे पूरी विधि करना आवश्यक नहीं है । उन उन सामान्य विधियों में अमुक प्रकार ही कैसे कार्य सिद्धिकर सकेगा ? ऐसा संषय जैसे उक्त कर्म के विषय में किया जा सकता है, वैसा ही संशय अक्षर के संबन्ध में भी है । [जो कि निरर्थक है]

ननु श्रवणादेर्यथा पुरुषोत्तम संबंधित्वेन तत्प्राप्तिहेतुत्वमेवमक्षरस्याप्यस्ति इत्याशंका तु निखिलासुरजीवतमः पुंजनिरासकेन यदुवंशोदयाचालचूड़ामणिनैव निरस्तेति न स्वतोवक्तुमुचितेत्याशयेनाह-तदुक्तम इति- भगवदगीतास्विति शेषः । तथा "यदक्षरंवेदविदोवदंति" इत्युपक्रम्य "सयाति परमांगतिम्" इत्यन्तेन अक्षर प्राप्त्युपायमुक्त्वा "अनन्य चेताः सततम्" इत्यादिना स्वप्राप्त्युपायं वैलक्षण्यं चोक्त्वा भक्त्येकलभ्यत्वं स्वस्य वक्तुं पूर्वं क्षराक्षरयोः स्वरूप माह । "सहस्र युगपर्यन्तं" इत्युपक्रम्य "प्रभवत्यहरागमः" इत्यन्तेनक्षर स्वरूप

मुक्त्वा, "परः तस्मात्तु भावोऽन्यः" इत्युपक्रम्य "तद्धाम परमं मम" इत्यन्तेन अक्षर स्वरूपमुक्तम्। अत्र पूर्वं क्षरस्वरूपमुक्तम् इति परस्तमात्विस्त्यत्र क्षरादेव परत्वमुच्यते। तच्छब्दस्य पूर्णपरामर्शित्वात्तस्यैव पूर्वमुक्तत्वादतएवाक्षरव्यावर्त्तकस्तु शब्दः उक्तः। एतेन नित्यत्वेन क्षरणाभावात् अक्षर शब्देन जीव एवोच्यते, न तु पुरुषोत्तमाधिष्ठानभूतो जीवातीत इति निरस्तम्। यं प्राप्य न निवर्त्तन्ते" इतिवाक्याज्जीवे तथात्वासंभवात्। नित्यमुक्तत्त्वापत्या शास्त्रवैफल्यापत्तेश्च। इतएव ज्ञानमार्गिणां तत् प्राप्तिरेव मुक्तिरिति ज्ञेयम्। ततोऽनिवृत्तेः। 'पुरुषः स परः पार्थ" इत्यनेनाक्षरात् परस्य स्वस्य भक्तयेकलभ्यत्वं उक्तम्। तेन ज्ञानमार्गीयाणाम् न पुरुषोत्तम प्राप्ति इति सिद्धम्। "यस्यान्तः स्थानि" इत्यनेन परस्यलक्षणमुक्तम्। तच्चमृत्साादि प्रसंगे श्री गोकुलेश्वरे स्पष्टमुच्यते। तेनाक्षरोपासकानां न पुरुषोत्तमोपासकत्वम्। तद्विषयक श्रवणादेरभावादिति भावः। "अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमांगतिम्" इति वाक्यात् "स याति परमागतिम्" इतिवत्याक्षरमेव यातीत्यर्थो ज्ञेयः।

जैसे कि श्रवणादि साधनों को पुरुषोत्तम संबन्धी होने से उनकी प्राप्ति के हेतु बतलाया गया, वैसे ही उन्हें अक्षर प्राप्ति के हेतु मानने में क्या प्रतिपत्ति है? इस संसय का उत्तर, आसुरी जीवों के अज्ञानांधकार की निवृत्ति के लिए उदित यदुवंशीयाचल चूडामणि भगवान श्री कृष्ण द्वारा ही दिया जा चुका है, मेरा कुछ कहना उचित नहीं है। इस भाव से सूत्रकार कहते हैं—तदुक्तम्, अर्थात भगवान भगवदगीता में स्पष्ट कह चुके हैं। गीता में—"यदक्षरं वेदविदोवदंति" से लेकर "स याति परमांगतिम्" तक अक्षर प्राप्ति का उपाय बतलाकर "अनन्य चेताः सततम्" से अपनी प्राप्ति के उपाय की विलक्षणता कह कर, अपनी भक्तयेकसम्यता को बतलाने के पूर्व क्षर और अक्षर का स्वरूप बतलाते हैं। "सहस्रयुगपर्यन्तम्" से लेकर "प्रभवंनि अहरागमः" तक क्षर का स्वरूप बतलाकर "परस्तस्मात्तु भावोऽन्यो" से लेकर "तद्धाम परमं मम्" तक अक्षर का स्वरूप बतलाया। इसमें पहले क्षर का स्वरूप बतलाया 'परस्तमात्तु" इत्यादि में क्षर को अक्षर से श्रेष्ठ बतलाया। तत शब्द से पूर्व परामृष्ट क्षर से श्रेष्ठ वक्षर को बतलाने के लिए तु शब्द से पूर्व वस्तु का निराकरण किया गया है। नित्य और क्षर से रहित होने के कारण अक्षर शब्द जीव वाची है, पुरुषोत्तम अधिष्ठान भूत जीवातीत का वाची नही है। "यं प्राप्य न निवर्त्तन्ते" इस वाक्य से निश्चित होता है कि जीव में वैसी क्षमता नहीं है। अक्षर शब्द को जीव वाची मानने से "नित्य उक्ति" में वाधा पड़ेगी और शास्त्र भी निर-

र्थक हो जायेगा। ज्ञानमार्गियों को, अक्षर प्राप्ति रूप, मुक्ति ही होती है । "पुरुषः स परः पार्थ" इत्यादि वाक्य से भगवान, अक्षर से पर अपने को, एक मात्र भक्ति से ही लभ्य बतलाते हैं। इससे निश्चित होता है कि ज्ञानमार्गियों को पुरुषोत्तम प्राप्ति नहीं होती। "यस्यान्तः स्थानि" इत्यादि से पर का लक्षण बतलाया है, मृत्सादि के प्रसंग में गोकुलेश्वर ने स्पष्ट कहा है। इसलिए अक्षरोपासकों को पुरुषोत्तम उपासक नहीं कह सकते अक्षरोपासकों के लिए श्रवण आदि साधनों का कहीं उल्लेख नहीं है। "अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्माहुः परमांगतिम्" इस वाक्य से "स याति परमागतिम्" वाक्योल्लेख्य अक्षर तत्व का ही बोध होता है।

किञ्च तैत्तरीयोपनिषत्सु पठ्यते—"यस्मिन्निदं संच विचैति सर्वं यस्मिन् देवा अधिविश्वे निषेदुः, तदेवभूतं तदुभव्यम इदं तदक्षरे परमेव्योमन्। येनावृतं खंच दिवं महीं च येनादित्यस्तपति तेजसा भ्राजसा च यमन्तः समुद्रे कवयो वयन्ति यदक्षरे परमे प्रजा।" इति अत्राक्षरात्मकत्वेन क्षरात्मकादाकाशात् परमेव्योम्नि भक्तानां हृदयाकाश इति यावत्। तत्र प्रकाशमानमित्यर्थात्। अतएव "ब्रह्मविदाप्नोति परम्" इत्युपक्रम्य "सत्यं ज्ञानमनंतं ब्रह्म" यो वेद निहतं गुहाया परमे व्योमन्" इत्येदतदुपनिषत्स्वेवपठ्यते। "यदक्षरे परमे प्रजा" इति पद्मवयन्तीत्यनेन संबंध्यते। अत्र प्रजा पदात् व्यापि वैकुण्ठात्मको लोकोऽक्षर पदेनोच्यते इत्यवगम्यते। अतएव न यत्र मायेत्यादिना श्री भागवते तत्स्वरूप मुच्यते। कतेनाक्षरस्य पुरुषोत्तमाधिष्ठानत्वं निश्चीयते। इतोऽक्षरातीतः पुरुषोत्तम इत्यवगम्यते। एवं सति सामान्यं भगवद् विभूतिरूपत्वं तद्भावस्तस्य पुरुषोत्तमस्य भावः सत्ता उक्तरीत्या तत्र स्थितिरिति यावत् ताभ्यां हेतुभ्यां तथेत्यप्यर्थो ज्ञेयः।

तैत्तरीयोपनिषद् में "यस्मिन्निदं संच" इत्यादि में, अक्षरात्मक रूप से, क्षरात्मक आकाश से श्रेष्ठ, परमव्योम भक्तों के हृदय आकाश का वर्णन किया गया है। उसे प्रकाशमान बतलाया गया है इसलिए "ब्रह्मविदाप्नोति परम् सत्यं-ज्ञानमनंतं ब्रह्म "यो वेदनिहतंगुहायां परमे व्योमन्" इत्यादि रूपों में उसका उल्लेख किया गया है। "यदक्षरे परमे प्रजा" इत्यादि पद भी उक्त तत्त्व से ही संबंधित प्रतीत होता है। प्रजापद से व्यापक वैकुण्ठ लोक ही अक्षर पद से कहा गया है। "नयत्र माया" इत्यादि से श्रीमद्भागवत में उसके स्वरूप का उल्लेख किया गया है। इससे अक्षर तत्व की पुरुषोत्तमाधिष्ठानता

निश्चित होती है। और इसी से अक्षरातीत पुरुषोत्तम तत्त्व भी अवगति होती है। सामान्य रूप से अक्षर भगवद् विभूति रूप है, क्यों कि वह पुरुषोत्तम भाव को प्राप्त कर लेता है, उसकी स्थिति इसी प्रकार से रहती है इसलिए ज्ञान और भक्ति दोनों ही हेतु इसमें भी हो सकते हैं।

इयदामननात् ३।३।३४॥

ननु संसार निवृत्यानंदाविर्भावयोरविशेषादक्षरे ब्रह्मणि लये पुरुषोत्तमेप्रवेशात् न्यूनतोक्तो को हेतु ? इत्याकांक्षायामाह–"इयद्ः" इति। परिमाणवचनम्, तस्य श्रुतौ कथनादित्यर्थः। अत्रेदं ज्ञेयम्। तैत्तरीयोपनिषत्सु—"सैषाऽनंदस्य मीमाँसा भवति" इत्युपक्रम्य मानुषमानंदमेकं गणयित्वा तस्मादुत्तरोत्तरं शतगुणमानंदं गंधर्वानारभ्य प्रजापतिपर्यन्तस्योक्त्वोच्यते—"ते ये शतं प्रजापतेरानंदाः स एकोब्रह्मण आनंदः" इति। एवं सति इयत एतावदक्षरानंदस्य सावधिकत्वेन श्रुतौ कथनादानंदमयत्वेन निरवध्यानंदात्मकत्वस्य पुरुषोत्तमे कथनात्तथोक्तिरिति।

प्रश्न होता है कि—अक्षर प्राप्ति और पुरुषोत्तम प्राप्ति, दोनों ही स्थितियों में संसार निवृत्ति तो हो ही जाती है उस निवृत्ति में सुख तो है ही फिर अक्षर ब्रह्मलय को पुरुषोत्तमलय से न्यून कहने का क्या कारण है? इसका उत्तर "इयद्" इत्यादि सूत्र से देते हैं। इसका मुख्य कारण इयत्ता अर्थात् परिमाण है, जो कि श्रुति के कथन से निश्चित होता है। तैत्तरीयोपनिषद् में आनंद संबंधी मीमांसा की गई है, उसमें सर्वप्रथम मानुष आनंद को बतलाकर उसके बाद अन्यान्य आनंदों को सौ गुना बतलाते हुए गंधर्व से लेकर प्रजापति तक आनंद की विशेषता बतलाते हुए कहते हैं कि—"जो सौ प्रजापति के आनंद हैं उतना केवल ब्रह्म का आनंद है।" इस प्रकार अक्षरानंद की सीमा निर्धारित करते हुए ब्रह्म को सीमा रहित आनंदमय पुरुषोत्तम बतलाया गया है, इसी से अक्षरानंद को न्यून कहा गया है।

१२ अधिकरण :—

अन्तराभूतग्रामवत् स्वात्मनः ।३।३।३५॥

अथ ज्ञानमार्गे यथा स्वात्मत्वेन ब्रह्मणो ज्ञानं तथा भक्तिमार्गेऽपि, भक्त्या-पुरुषोत्तम ज्ञाने स्वात्मत्वेन पुरुषोत्तम ज्ञानं भवति ? न वा, इति विचार्यते।

सर्वान्तरत्वेन श्रुतौ कथनाद् भवतीति पूर्वः पक्षः तथात्वेऽपि "सर्वस्यवशी सर्वस्येशानः" इत्यादि श्रुतिभिरेवमेव ज्ञानं न तु तथेति सिद्धान्तः। अत्र तथा ज्ञानाभावस्यावश्यकत्वार्थं विपरीतै बाधकमाह। पूर्वस्मिन् सूत्रे ब्रह्मानन्दाद्-भजनानंदस्याधिक्यं निरूपितम् स तु भगवद्दत्तस्तद्व्यवधायकोऽर्थश्च प्रभुणा न संपाद्यते। स्वात्मत्वेन ज्ञानं च भजनानंदान्तरायरूपम्। यद्येतत् संपादयेत्तं न दद्यादग्रेऽन्यथा भावादतः स्वात्मत्वेन ज्ञानं भक्तिमार्गीयस्य न संभवतीत्याशयेनाह-अन्तरा स्वात्मन् इति। भगवता भक्तिमार्गे स्वीयत्वेनांगीकृतो य आत्मा जीवस्तस्य यदात्मत्वेन ज्ञानं तद्भजनानंदानुभवे अन्तरा व्यवधानरूपम् इति भगवता तादृशे जीवे तन्न संपाद्यत इत्यर्थः। तत्संपादनस्य सर्वथैवासंभावितत्वं हीनत्वं च ज्ञापयितुं दृष्टान्तमाह—भूतग्रामवदिति उक्त भक्तस्य विग्रहोऽप्यलौकिक इति तत्र लौकिको भूतग्रामो न संभवति, हीनत्वात्तथेत्यर्थः। अथवा लौकिको भूतग्रामः स्त्री पुत्र पश्वादिब्रह्मानंदानुभवे बाधकस्तथा भजनानंदानुभवे स्वात्मत्वेन भगवत् ज्ञानमित्यर्थः।

ज्ञान मार्ग में जैसे अपने आत्मा के रूप में ब्रह्मज्ञान होता है वैसा ही भक्ति मार्ग में भी, भक्ति से पुरुषोत्तम ज्ञान में अपने आत्मा के रूप में, पुरुषोत्तम ज्ञान होता है या नहीं? इस पर विचार करते हैं। परमात्मा सर्वान्तर्यामी हैं इस श्रुति के अनुसार तो होता है, ऐसी एक मान्यता है। सर्वान्तर्यामी होते हुए भी "सर्वस्यवशी सर्वस्येशानः" इत्यादि श्रुति से निश्चित होता है कि—अपने आत्मा के रूप में पुरुषोत्तम ज्ञान हो नहीं सकता, ये सिद्धान्त की बात है। पुरुषोत्तम भाव में तो ज्ञानाभाव होना आवश्यक है, उसमें तो आत्मत्व ज्ञान, विपरीत और बाधक है। पूर्व के सूत्र में ब्रह्मानंद से भजनानंद की अधिकता बतलाई गई है, वह भी भगवान द्वारा दिया जाता है, अतः उसमें अड़चन डालने वाली वस्तु (आत्मज्ञान) प्रभु, नहीं दे सकते। अपने आत्मा के रूप में होने वाला ज्ञान तो भजनानंद का बाधक है यदि उस ज्ञान की अनुभूति प्रभु कराते हैं तो वे भजनानंद नहीं दे सकते हैं, भजनानंद देकर बाद में उससे विपरीत भाव नहीं दे सकते। इससे निश्चित होता है कि—भक्तिमार्गीय साधक को अपने आत्मा के रूप में पुरुषोत्तम प्राप्ति नहीं होती। इसी आशय से—"अन्तरा स्वात्मन्" इत्यादि सूत्र कहा है। भगवान भक्तिमार्ग में आत्मीय रूप से स्वीकार किये गए जिस जीवात्मा को भजनानंद में लगा देते हैं, उसे उस मार्ग की व्यवधान रूप आत्म ज्ञान रूप तुच्छ वस्तु से संलग्न नहीं कर सकते। वैसा करना नितान्त असंभव और हीनता का ज्ञापक है इस पर दृष्टान्त देते हैं कि उक्त

भक्त की विग्रह अलौकिक होती है उसमें लौकिक भूत समुदाय की अनुभूति संभव नहीं है, वैसा होना बहुत ही छोटी बात होगी। लौकिक भूत समुदाय स्त्री पुत्र पशु आदि, ब्रह्मानंदानुभव, में बाधक हैं, वैसे ही भजनानंदानुभव में अपने आत्मारूप से होने वाला भगवद् ज्ञान बाधक है।

अन्यथा भेदाऽनुपपत्तिरितिचेन्नोपदेशान्तरवत् ।३।३।३६।।

ननु भक्तेष्वप्युद्धवादिषु ज्ञानोपदेशः श्रूयते। स चात्मब्रह्माभेद ज्ञानफलक इत्यात्मत्वेन ज्ञानाभावे तदभेदोपदेशानुपपत्तिः स्यादिति तन्मन्तव्यमेव। एवं सति भक्तिमार्गात् ज्ञानमार्गस्योत्कर्षश्च सिद्धयति, इत्याशंक्य परिहरति—उप-देशान्तरवदिति। न ह्यत्राभेद ज्ञानायोपदेशः, किन्तु यथाग्रिमस्वर्गापवर्गाख्य पारलौकिकानन्द फलक अलौकिके कर्मणि अधिकार रूप संस्कारार्थं गायत्र्युपदेशः क्रियते, तत्संस्कार संस्कृत तच्छरीरादिकमपि भूतादिभिरपि नोपहतं भवति। यथा वा योगोपदेश संस्कृतस्य वपुरग्न्यादिभिर्नोपहन्यते तथा प्रकृते भक्तिभावस्य रसात्मकत्वेन संयोग विप्रयोगभावात्मकत्वाद् द्वितीयस्य प्रलयानलादतिकरालत्वेन कदाचिद् भावोदये तेन भक्तवपुरादेस्तिरोधानेऽग्रिमभजनानंदानुभवप्रतिबन्धः स्यादिति, तन्निवृत्यर्थं ज्ञानोपदेश संस्कार संस्कृतं तद् वपुरादिकं भगवता क्रियते, नत्वात्माभेद ज्ञानं भगवतोऽभिप्रेतमित्यर्थः अन्यथोपदेशानन्तरं वदरीं गच्छन् विदुरं प्रति "इहागतोऽहं विरहानुरात्मा" इति न वदेत्। एवमेवान्येष्वपि भक्तेषु ज्ञेयम्।

उद्धव आदि भक्तों में ज्ञानोपदेश सुना जाता है, जो आत्मा और ब्रह्म के अभेद का प्रतिपादक था, आत्मत्व ज्ञान के अभाव में उस अभेदोपदेश की बात नहीं बन सकती, वही उस उपदेश का मन्तव्य था। इससे तो, भक्तिमार्ग से ज्ञानमार्ग का उत्कर्ष सिद्ध होता है। इस संशय का परिहार करते हुए कहते है "उपदेशान्तरवत्" इत्यादि। कहते हैं कि—उद्धव को जो ज्ञानोपदेश दिया गया वह अभेद परक नहीं था, अपितु जैसे कि आगे प्राप्त होने वाले, स्वर्गापवर्ग पारलौकिक आनंदफलक, अलौकिक कर्म में अधिकार प्राप्त कराने वाले संस्कार के रूप में गायत्री का उपदेश दिया जाता है, उस संस्कार से संस्कृत उस साधक के, शरीरादि और भूतादि उपहृत नहीं होते। अथवा जैसे योगोपदेश से संस्कृत साधक का शरीर अग्नि आदि से उपहृत नहीं होता, वैसे ही, संयोगविप्रयोग रसात्मक भक्तिभाव वाले उद्धव का शरीर कहीं अतिकराल प्रलयानल से दग्ध होकर होने वाले भजनानंदानुभव में बाधक न हो, इस संभावना के निवारण के

लिए भगवान ने उसके शरीर को ज्ञानोपदेश संस्कार से संस्कृत कर दिया [इस प्रसंग में शरीर का तात्पर्य सूक्ष्म शरीर से है] भगवान को आत्मा और परमात्मा के अभेद का ज्ञान अभिप्रेत नहीं था, यदि उन्हें ये अभिप्रेत होता तो उपदेश के बाद बदरी जाते हुए उद्धव, विदुर से ये न कहते कि—"विरह से आतुर आत्माव ला मैं यहाँ आया हूँ।" इमी प्रकार अन्य भक्तों को दिए गए ज्ञानोपदेश का तात्पर्य भी समझ लेना चाहिए।

अत्रोपदेशान्तर पदं प्रस्तुतोपदेशभिन्नमुपदेशान्तरमाहेति प्रस्तुत्य तस्यान्यस्याभावादभेदपदेनाभेदोपदेश एवोच्यते। एतेन भगवान् स्वीयानां भक्तिभाव प्रतिबन्ध निरासार्थैव सर्वं करोतीति ज्ञापितं भवति। अथवोपदेशान्तरवदित्यस्यायमर्थः। शरीराद्यध्यासवतस्तदभिन्न आत्मा तत्वं, न तु शारीरादिरित्युपदेशो ज्ञानमार्गे यथा क्रियते तेन शरीरादावात्मबुद्धया यः स्नेहादिः सोपगच्छति। तथाऽत्र सर्वेषामात्मनो ह्यात्मा "य आत्मनि तिष्ठन्" इत्यादि श्रुतिसिद्धो जीवात्मनोऽप्यात्मा पुरुषोत्तम इति बोध्यते। तेन पुरुषोत्तमे निरुपधिः स्नेहस्तत्संबंधित्वेनात्मनि स सिद्धयति। यद्यप्येवं भावः पूर्वमप्यादेव, तथापि सहजस्य शास्त्रार्थत्वेन ज्ञानेऽतिप्रमोदो दार्ढ्यंच भवतीति तथा। नैतावता जीवाभेद आयाति। अग्रे जीवन संपत्तिरेवोपदेशकार्यं, न तु तेन पूर्वभावोपमर्दः संभवतीति सारम्। तेन ज्ञाने सर्वाधिक्यं मन्वानाय भक्ति बलप्रदर्शनं च सिद्धयति।

सूत्र में जो उपदेशान्तर पद दिया गया है, वह प्रस्तुत उपदेश से भिन्न दूसरे उपदेश का द्योतक है, उसमें अन्य के अभाव का अर्थ निहित है, सूत्रस्थ अभेद पद अभेदोपदेश का द्योतन कर रहा है। इस प्रकार सूत्र का तात्पर्य होता है कि भगवान, अपने भक्तों के भक्तिभाव के प्रतिवन्ध के निरास के लिए ही सब कुछ करते हैं। अथवा उपदेशान्तर की तरह ही यह अर्थ है। शरीर आदि अध्यास की तरह उससे अभिन्न, आत्मा तत्व भी है, ज्ञानमार्ग में शरीरादि में आत्मबुद्धि से स्नेह प्राप्त होता है, वैसा उपदेश यहाँ नहीं है। यहाँ तो अभेदोपदेश में, सभी आत्माओं का आत्मा उसे बतलाया गया है। "य आत्मनितिष्टन् "इत्यादि श्रुति से सिद्ध जीवात्मा का भी आत्मा पुरुषोत्तम निश्चित होता है। इससे पुरुषोत्तम में, आत्मा का स्वाभाविक स्नेह सिद्ध होता है। यद्यपि उसका स्नेह भाव पहिले से ही रहता हैं, शास्त्रार्थ से जो उसके सम्बन्ध में सहज ज्ञान होता है उससे वह स्नेह अतिदृढ़ हो जाता है। इतने

मात्र से जीव और परमात्मा का अभेद नहीं सिद्ध होता। अग्रिम जीवन को आनन्दपूर्ण बनाना ही, उपदेश का कार्य है, उससे पूर्वभात्र का उपमर्दन नहीं हो सकता। उससे भक्ति की प्रबलता सिद्ध होती है, और ज्ञान में भक्ति सा उत्कर्ष आता है।

व्यतिहारो विशिषन्ति हीतरवत् ३।३।३७।।

ननु "तद् योऽहं सोऽसौ योऽसौ सोऽहं" इति ऐतरेयके तैत्तरोयके च "अहमस्मि ब्रह्महमस्मि" इति पठ्यते। अत्र मध्यस्थं ब्रह्मपदमुभयत्र सम्बध्यते तेनावृत्या व्यतिहारोऽतो ब्रह्माभेदः सिद्धयति। तथा लीलामध्यपाति भक्तानाभपि "कृष्णोऽहं अहंकृष्ण" इति भाव उल्लेखश्च श्रुयते। अतस्तदभेदज्ञानं भक्तिफलमिति पंफुल्यमानं प्रतिवादिनं तत्स्वरूपं बोधयति। रसात्मकत्वाद् भक्ते संयोग विप्रयोगात्मकत्वात् द्वितीय भावोद्रेके यथेतरेऽश्रुप्रलापादयो व्यभिचारिभावाः तथातिगाढ भावेन तद्भेदस्फूर्तिरप्येक स च न सार्वदिकस्तदा स्वात्मानं तत्वेन विशिषंति तं च स्वात्मत्वेन। सोऽत्रव्यतिहार पदार्थ इत्यर्थः।

अपरंच—उद्देश्यविधेयभावस्फूर्तौ नहि अद्वैतज्ञानमस्ति किन्तु भावनामात्रं भक्तानां तु विरहभावे तदात्मकत्वमेवाखण्डस्फुरति येन तल्लीलां स्वतः कुर्वान्ति एतद्यथा तथा श्री भागवत दशमस्कन्ध विवृत्तौ प्रपंचितमस्माभिः। एवंसति मुख्यं यदद्वैतज्ञानं तद्भक्तिभावैकदेशव्यविचारिभावेष्वेकतरदिति सर्षपस्वर्णाचलयोरिव ज्ञानभक्त्योस्तारतम्यं कथंवर्णनीयमिति भावः।

तैतरीयक और ऐतरेय में पाठ है कि—"अहमस्मि, ब्रह्माहमस्यि "योऽहं सोऽसौ सोऽहं "इत्यादि। इसमें मध्यस्थ ब्रह्म पद दोनों ओर से सम्बन्धित है। आवृत्ति के विनियम से ब्रह्म आभेद सिद्ध होता है। तथा लीला में संलग्न भक्तों में भी "कृष्णोऽहं अहंकृष्णः "इत्यादि भाव का उल्लेख सुना जाता है। इससे ज्ञात होता है कि भक्ति का फल भी अभेद ज्ञान ही है, प्रसन्न प्रतिवादियों की धारणा है। सही बात तो ये है कि—संयोगविप्रयोगात्मक रसस्वरूपा भक्ति में जब अनुभाव का उद्रेक होता है तो अश्रुप्रलाप आदि व्याभिचारि भावों की विक्रिया होती है उसी स्थिति के प्रगाढ़ भाव होने पर अभेद स्फूर्ति भी होती है। वह स्थिति सदा तो रहती नहीं जिससे कि ये कहा जाय कि—भक्त स्वात्म भाव से तत्व को समझता है। वही बात "योऽहं सोऽसौ, इत्यादि उलट फेर

से कहे गये वाक्यों के सम्बन्ध में भी समझना चाहिये, ये भावोद्रेक अवस्था के प्रलपमात्र है, वास्तविकता नहीं।

दूसरी बात ये हैं कि—उद्देश्य विधेय भाव की स्फूर्ति में, अद्वैतज्ञान नहीं रहता, किन्तु भावना मात्र रहती है। भक्तों के विरह भाव में, अखण्डतदात्मकता का स्फुरण होता है, जिससे वे भगवान की लीलाओं को स्वतः करते हैं, इस तथ्य को हमने भागवत दशमस्कन्ध की विवृति में भलीभाँति समझाया है। अतः जो मुख्य अद्वैत ज्ञान है, वह भी भक्ति भाव के संचारी भावों में से एक भाव है सरसों और स्वर्णाचल के तुल्य ज्ञान और भक्ति की तुलना कैसी की जा सकती है।

कामादीतरत्र तत्र चायतनादिभ्यः ।३।३।३८।।

पूर्वसूत्रे—शास्त्रोक्ताखिलसाधनरूपत्वंभक्तेरुक्तम् तद्दार्ढ्यार्थमधुना मुक्ति प्रतिबन्धकत्वेन हेमत्वेनोक्तानां कामादीनामपिभगवत्सम्बन्धान्मुक्ति साधक-त्वमुच्यते। भक्तिस्तु विहिताऽविहिता चेति द्विविधा। माहात्म्यज्ञानयुतेश्वरत्वेन प्रभौनिरुपधिस्नेहात्मिकाविहिता। अन्यतोऽप्राप्तत्वात् कामाद्युपाधिजा सात्व-विहिता। एवमुभयविधाया अपितस्या मुक्तिसाधकत्वमित्याह। इतरत्र विहितभक्तेरितिशेषः। कामाद्युपाधिस्नेहरूपायां कामाद्येव मुक्तियाधन-मित्यर्थः। भगवतिचित्तप्रवेशहेतत्वात्। आदिपदात् पुत्रत्वसम्बन्धित्वादर्थः स्नेहत्वाभावेऽप्यविहितत्वभगवद्विषयकत्वयौरविशेषाद् द्वेषादिरपि संगृह्यते तेन भगवत् संबंधमात्रस्य मोक्षसाधकत्वमुक्तं भवति तत्र विहित भक्तावित्यर्थः। शास्त्रे सर्वथा हेयत्वेमोक्ता गृहाः। सर्वं निवेदन पूर्वकं गृहेषु भगवत्सेवां कुर्वतां तदुपयोगगित्वेन तेभ्यएव मुक्तिर्भवतीत्यर्थः। एतादृशानां गृहा भगवद् गृहा एवेति ज्ञापनायायतनपदम्। तेषुतथा प्रयोग प्राचुर्यात्। आदिपदेन स्त्रीपुत्र पश्वादयः संगृह्यन्ते। एतेन ज्ञानादिमार्गादुत्कर्षउक्तो भवति। बाधकानपि साधकत्वात्। माहात्म्यज्ञान पूर्वकस्नेहे सत्येव भर्तृत्वेन ज्ञाने कामोऽपि संभव-तीति ज्ञापनाय चकारः।

पूर्व सूत्र में—शास्त्रोक्त अखिल साधन के रूप में भक्ति को बतलाया गया, उसी को दृढ करने के लिए अब, मुक्ति के प्रतिबन्धक हेय रूप से प्रसिद्ध काम क्रोध आदि का भी भगवत सम्बन्ध हो जाने से मुक्ति साधकरूप से वर्णन करते हैं। भक्ति विहिता और अविहिता भेद से दो प्रकार की है। माहा-

त्म्यज्ञान युक्त ईश्वरत्व भाव से जो प्रभू में सहज स्नेह किया जाय वह विहिता भक्ति है। किसी भी अन्य भाव से भगवान् प्राप्त नहीं हो सकते, अतः काम क्रोध आदि भावों को भी भगवान् में लगातार चलने को अविहिता भक्ति कहते हैं। दोनों ही प्रकार की भक्ति को मुक्ति साधन बतलाया गया है, ये दोनों ही विहित भक्ति है। कामादि उपाधि से होने वाले स्नेह से ये काम आदि ही मुक्ति के साधन हैं, इन्हीं साधनों से भगवान में चित्त लग जाता हैं। पुत्र आदि स्नेह भी इन्हीं के समकक्ष है। स्नेह के अभाव में भी, अनुचित होते हुये भी भगवद् विषयक होने से सामान्य द्वेष आदि को भी इनके समकक्ष माना गया है शास्त्रों में काम आदि को बहुत हेय दृष्टि से देखा गया है। सब कुछ निवेदन करते हुये घर में भगवत् सेवा करने में यदि काम क्रोध आदि उनके उपयोगी साधन के रूप में प्रयोग किये जायें तो वे ही मुक्ति के साधक होंगे। उक्त प्रकार के घर भगवान के ही घर हैं अतः उन्हें आयतन कहा गया है, इसी नाम का प्रयोग अधिकता से मिलता है (आयतन शब्द अग्नि के स्थान, पवित्र स्थान और देव स्थान के रूप में ही प्रायः प्रयोग किया जाता है) स्त्री, पुत्र पशु आदि सभी भगवत् सेवोपयोगी हों यही उक्त प्रकार की भक्ति रीति है। इसे ज्ञान आदि मार्गों से उत्कृष्ट बतलाया गया है। काम क्रोध आदि बाधक भी साधक हो जाते हैं माहात्म्यज्ञानपूर्वक स्नेह होते हुए भी पति रूप से भगवान को मानकर काम भाव संभव है, यही बात चकार के प्रयोग से स्पष्ट की गई है।

सैवहि सत्यादतः ३।३।३९।।

अथेवं विचार्यते, प्राप्त भक्तेः पुरुषस्य सत्यशमदमादयो विधीयन्ते न वेति। फलोपकार्यन्तरंग साधनत्वाच्छुद्धौ सत्यामेव चित्ते भगवत् प्रादुर्भाव संभवात् विधीयन्त इति पूर्वपक्षः। तादृशस्य तेन विधीयन्त इति सिद्धान्तः। तत्र हेतु-माह—हि यस्माद् हेतोः सैव भक्तिरेव सत्यादि सर्वसाधन रूपा। तस्या सत्यां सत्यापदयो ये ज्ञानमार्गे विहितत्वात् कष्टेन क्रियन्ते मुमुक्षुभिस्ते भक्तहृदि भगवत्प्रादुर्भावात् स्वतएव भवन्तीतिभिर न विधिम पेक्षन्त इत्यर्थः।

अब विचार करते हैं कि—भक्ति युक्ति पुरुष को शमदम आदि की साधन करनी चाहिये या नहीं? फलोपकारी अंतरंग साधनों के रूप में इन शमदम आदि की साधना करने पर चित्त के शुद्ध हो जाने पर ही चित्त में भगवत् प्रादु-र्भाव सम्भव है अतः उनका साधन भक्तिमार्ग में आवश्यक है ये पूर्वपक्ष

हैं। जैसा उनकी साधना का उल्लेख है, उस रूप में उनकी साधना भक्ति मार्ग में आवश्यक नहीं है, यह सिद्धान्त की बात है। वह भक्ति ही सत्य आदि साधन रूपा है। उसके प्रादुर्भूत होने पर, जो सत्य आदि ज्ञान मार्ग में विहित होने के कारण बड़े कष्ट से मुमुक्षुओं द्वारा पालन किये जाते हैं, वे ही भक्त के हृदय में, भगवान् के प्रकट हो जाने पर स्वतः ही आ जाते हैं इसलिये भक्ति मार्ग में उनका साधन अपेक्षित नहीं है।

आदरादलोपः ।३।३।४०।।

ननुनित्यानांवर्णाश्रमधर्माणां भगवद्धर्माणां चैककाले प्राप्तौ युगपद्भयोः करणासम्भवादन्यतरवाधे प्राप्ते कस्य स्यान्न कस्येति स्यात् संशयः। तत्र कर्मणां स्व स्वकाले विहितानामकरणे प्रत्यवाय श्रवणात् इतरत्राऽतथा श्रवणाद् अन्यदापि तत्कृतिसम्भवात् सावकाशत्वेन तेषामेव बाधोयुक्तो, नतु निरवकाशानामिति पूर्व पक्षः।

संशय होता है कि—नित्य वर्णाश्रम धर्म और भगवद्धर्म एक साथ तो पालन किये नहीं जा सकते, एक का पालन करने पर दूसरे का बाध तो होगा तो कौन सा धर्म पालन किया जाय कौन सा नहीं? वर्णाश्रम धर्मों के विषय में तो शास्त्रों में समयानुसार न करने पर प्रत्यवाय बतलाया गया है, भगवद्धर्म के विषय में तो ऐसी कोई बात शास्त्रों में कही नहीं गई हैं, भक्ति धर्म का तो फिर कभी भी पालन किया जा सकता है उनमें कोई बाधा नहीं आती, वर्णाश्रम धर्म पालन में कोई और समय नहीं है, निर्धारित काल में ही उनका आचरण करना चाहिए ये, पूर्वपक्ष है—

तत्र सिद्धान्तमाह—आदरादिति। ब्रह्मयज्ञप्रकरणे तैत्तरीये पठ्यते—"ओमिति प्रतिपद्यत एतद्वै यजुस्त्रयीं विद्यां प्रत्येषा वागेतत्परममक्षरं तदेतत्त्त्रृचऽभ्युक्तमृचो अक्षरे परमेव्योमन् यस्मिन् देवा अधिविश्वेनिषेदुर्यस्तन्न वेद किं ऋचा करिष्यति य इतविदुस्त इमे समासते" इति। अत्र ऋक्संबंधित्वेन वर्णात्मके, वस्तुतस्तु परमव्योमात्मके अक्षरे, ब्रह्मण्योंकारे वर्त्तमान तल्लोकवेदप्रसिद्धं परं ब्रह्म यो न वेद स किम् ऋचाकरिष्यतीत्यनेन तदज्ञाने वेदाध्ययनस्य निष्फलत्वमुच्यते। एवं सति तदुक्त कर्मणोऽपि तथात्वमायाति। एतेन "भक्तया मामभिजानाति "इति वाक्यात् परब्रह्म स्वरूप ज्ञानं भक्तयैवेति भक्ताः सन्तः पुरुषोत्तम विदो ये तेषामेव वेदाध्ययनादिकं फलप्रदं नान्येषा

इत्युक्तं भवति। अतएव श्रीमद्भागवतेऽप्युक्तम् ऋषयोऽपिदेवयुष्मत् प्रसंग-विमुखा, इह संचरंति संसरन्तीति वा। अन्वये निदर्शनं ये इत् ईश्वरत्वेन तत्पूर्वोक्तं परं ब्रह्म विदुस्त इमे भक्ताः सर्वापेक्षया सम्यक् प्रकारेण भगवन्निकटे श्री गोकुलवैकुण्ठादिष्वासत् इति। तेनाऽन्येषा सम्यगऽसत्वमर्थाक्षिप्तं भवति। पुरःस्थितार्थवाचीदं शब्दप्रयोगेणचान्येषामसन्तुल्यत्वं श्रुतेरभिमतं इति ज्ञायते। ऋक्शाखयामपि "तमुस्तोतारः पूर्व्यं यथाविद्ऋतस्य गर्भं जनुषां पिपर्त्तन, आस्यजनन्तोनाम चिद् विविक्तन महस्ते विष्णोसुमति भजामह "इत्यादि ऋगभिरन्येभ्यो धर्मेभ्यः सकाशात् भगवद्धर्मेष्वादरः श्रुयते इति तेषाम् अलोप एवेत्यर्थः। एतेनाकरणे प्रत्यवायश्रवणादित्यादियदुक्तं तदपि प्रत्युक्तं वेदितव्यम्। करणेऽपि वैयर्थ्यात्तंदपरिहारात्। एवं सति यदकरणे प्रत्यवायकथनं, तेन तस्मादवकाशं प्राप्य गौणकालेऽप्यकरणे तथेति तस्याशय इति ज्ञायते।

उक्त मत पर सिद्धान्त रूप से "आदरात्" इत्यादि सूत्र प्रस्तुत करते है, तैत्तरीयक में ब्रह्मयज्ञ के प्रकरण में "ओमितिप्रतिपद्यत एतद् वै,' इत्यादि पाठ आता है, उक्त ऋचा ऋग्वेदीय है जो कि वर्णात्मक मात्र है, यदि परमव्योमात्मक अक्षर ब्रह्म ओंकार में वर्तमान लोक वेद प्रसिद्ध परब्रह्म को जो नही जानता उसे केवल ऋचा पाठ से प्राप्त हो सकता है, उस परब्रह्म ज्ञान के बिना वेदाध्ययन निष्फल है, यही उक्त तैत्तरीक वाक्य का तात्पर्य है इस प्रकार उसमें कहा हुआ कर्म भी उसी प्रकार बिना परब्रह्म ज्ञान के निरर्थक सिद्ध होता है। इससे यह निश्चित होता है कि—"भक्त्या मामभिजानाति" इस वाक्य से, एक मात्र भक्ति से ही ब्रह्मस्वरूप ज्ञान होता है, ऐसा निर्णय होता है अतः भक्त होकर जो पुरुषोत्तम को जानते है वेदाध्ययन आदि उन्हीं के लिये फलप्रद है अन्यो के लिए नही ! ऐसा ही श्रीमद्भागवत में भी कहा गया है—"हे देव ! आपकी भक्ति से बिमुख ऋषि भी भ्रमण करते है "इत्यादि ! जो ईश्वर रूप से परब्रह्म को जानते है वे भक्त औरों से श्रेष्ठ है वे ही गोकुल वैकुण्ठ आदि मे भगवान का सानिध्य प्राप्त करते हैं। प्रत्यक्ष स्थिति सूचक अर्थ वाले इदं शब्द के प्रयोग से अन्यों की असमानता का भाव निकलता है, वही श्रुति का अभिमत ज्ञात होता है। इसी प्रकार ऋग्वेदीय शाखा की—"तुमस्तोतारः पूर्व्य" इत्यादि ऋचा से, अन्य धर्मों से भगवद् धर्मः का आदर दिखलाया गया है। इससे भगवद्धर्म की ही मुख्य रूप से पालन करने की बात निश्चित होती है। वर्णाश्रम धर्म के न करने से प्रत्यवाय की बात

जो कही गई, वह भी गौण बात है। भगवद्धर्म के पालन के बाद अवकाश मिलने पर तत्कालीन वर्णाश्रम धर्म के पालन न करने पर ही प्रत्वाय होता है भगवद्धर्म पालन के समय वर्णाश्रम धर्म पालन का कोई महत्व नहीं है।

नन्वेतत्तात्पर्यकत्वे श्रुतेरुपनयनादिवत् कर्मोपयोगित्वं भक्ति तज्ज्ञानयोः स्यादिति कर्मण एव प्राधान्यं, नतु भक्तेः सिद्धयति, इत्याशंक्य भक्ति तज्ज्ञानावश्यकत्व प्रबोधक श्रुतितात्पर्यमाह—

यदि श्रुति का उक्त प्रकार का तात्पर्य निकालेंगे तो, उपनयन आदि की तरह, भक्ति और भक्तिजन्य ज्ञान की भी, कर्मोपयोगिता सिद्ध होगी, जो कि एक प्रकार से कर्म की ही प्रधानता हुई, भक्ति की नहीं ? इस शंका पर भक्ति और भक्तिजन्य ज्ञान की आवश्यकता की प्रतिबोधक श्रुति का तात्पर्य बतलाने के लिये सूत्र प्रस्तुत करते हैं—

उपस्थितेऽतस्तद्वचनात् ।३।३।४१।।

तयोर्युगपतकरणेऽनुपस्थितेऽपि यदि पूर्वं भगवद् धर्मकरणमुच्येत् तदात्वदुक्तं स्यान्नत्वेवं किन्तूभयोर्युगपत्करण उपस्थिते बलाबलविचारे क्रियमाणेऽत् आदराद्हेतोस्तद्वचनात भगवत् धर्माणां बलवत्वेनालोपवचनान्न कर्मांगत्वमेतेषां सिद्धयतीत्यर्थः।

वर्णाश्रम धर्म और भगवद् धर्म एक साथ उपस्थित न भी हों तो भी पहिले भगवद् धर्म करने की बात श्रुति में कही गई, उससे भी तुम्हारी बात कट जाती है। यदि दोनो कर्तव्य एक साथ सामने आ जावें तो उसके बलाबल पर विचार कर करने की बात सामने आती है, उसमें भी भगवद् धर्म का विशेष आदर है, उसके पालन मात्र से सब कुछ पूरा हो जाता है, वर्णाश्रम धर्म का लोप नहीं होता, तथा भगवद् धर्म केवल क्रियामात्र है, ऐसा नहीं कह सकते।

तन्निर्द्धारिणानियमस्तद्दृष्टेः पृथग्ध्य प्रतिबंधः फलम् ।३३।४२।।

अत्रेदं विचार्यते—पुरुषोत्तमविदः कर्मकर्त्तव्यं न वा ? तत्रमार्गत्रयफलात्मके तस्मिन् संपन्ने पुनस्तस्य स्वतोऽपुरुषार्थस्य करण प्रयोजकमिति न कर्त्तव्य मेवेति पूर्वपक्षः।

अब बिचार करते हैं कि पुरुषोत्तमविद भक्त को वर्णाश्रम धर्म का पालन करना चाहिए या नहीं ? इस पर पूर्वपक्ष वालों का कथन है कि—भक्ति योग से, ज्ञानकर्म आदि सभी मार्गों का फल तो प्राप्त हो ही जाता है, फिर भक्ति योग स्वयं ही पुरुषार्थ है अतः अन्य पुरुषार्थों के करने का प्रयोजन ही क्या है ? अतः अन्य धर्मों का पालन नहीं करना चाहिए ।

तत्र सिद्धान्तमाह—तन्निर्द्धारणेत्यादिना— अत्रेदमाकूतम्—भक्तिमार्गेहि मर्यादापुष्टिभेदेनास्ति द्वैविध्यम् । तत्र मर्यादायां पुष्टौ चैतादृशस्य न कर्म-करणं संभवति । अतएव तैत्तरीयकोपनिषत्सु पठ्यते—"आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान न विभेतिकुतश्चन" इति । एतं ह वाव न तपति किम हे साधुना-करवं किमहं 'पापकरवमिती" तिश्रूयते चोभयविधानामपि कर्मकरणमम्बरी-षोद्धवपाण्डवादीनाम् । एवं सत्युभय विद्यानांमध्ये "ममकर्मकरणे प्रभोरि-च्छाअस्ति" इति यो निर्द्धारयति सकरोति । य एतद् विपरीतं स न करोति । यथा शुकजडादिः । एतन्निर्द्धारश्च भगवदधीनोऽतो भक्तेष्वपितन्निर्द्धारण नियमोऽतः कर्म कर्त्तव्यमेवातन्निर्द्धारणेत्वाधुनिकानाम् । एवं सतीच्छाज्ञान-वता तत्संदेहवता च कर्म कर्त्तव्यमिति सिद्धम् ।

सिद्धान्त रूप से "तन्निर्द्धारण" इत्यादि सूत्र प्रस्तुत करते हैं । भक्ति मार्ग में मर्यादा और पुष्टि रूप दो भेद हैं । जिन्होंने मर्यादा और पुष्टि मार्ग में पदार्पण कर लिया है, उनसे ये कर्म होते ही नहीं । इसीलिए तैत्तरीयक में कहा है कि—" आनन्द ब्रह्म का ज्ञाता किसी से नहीं डरता" इत्यादि । वर्णा-श्रम और भक्ति संबंधी दोनों प्रकार के कर्म अम्बरीष उद्धव पाण्डव आदि करते थे । " मेरे कर्म करने में प्रभु की इच्छा है" ऐसा निश्चय करने वाले ही दोनों प्रकार के कर्म करते हैं जो लोग इस विचार से भिन्न विचार रखते हैं वे लोग नहीं करते हैं, जैसे शुकदेव जडभरत आदि । उक्त प्रकार के कर्मो का निर्द्धारण भगवान ने ही किया है, इसलिए भक्त लोग भी उसी भाव से कर्म का पालन करते हैं, उन्हें वे कर्त्तव्य मानते हैं । आधुनिक लोग उन्हें ईश्वर निर्द्धारित नहीं मानते इसलिए, शास्त्रीय कर्म पर आस्था नहीं रखते । किन्तु ईश्वरेच्छा मानने वाले और संदेह करने वाले दोनों को ही कर्म करने चाहिए यही, निश्चित होता है ।

तत्रोभयोः फलम् वदन्नादावाद्यस्याह—तद्दृष्टेः, तस्याः भगवदिच्छाया दृष्टि ज्ञानं यस्य स तथा । तस्य जीव कृतकर्मफलात् प्रथग् भिन्नमीश्वरकृत कर्मणो

यत् फलं वेद मर्यादारक्षा लोकसंग्रहश्चतत फलमित्यर्थः। हिशब्देन "सक्ताः कर्मण्यविद्वासो यथा कुर्ववन्तिभारत, कुर्याद् विद्वान तथाऽसक्तश्चिकीर्षुलोकि संग्रहम्" इति भगवद्वाक्य रूपोपपत्तिः सूचितो द्वितीयस्य मध्यमाधिकारात् काम संगादिजनितचित्तमालिन्येन भगवत् सानिध्ये प्रतिबंधः स्यात् तन्निवृत्तिस्तत् कृतकर्मणः फलमित्यर्थः। अथवा पूर्व सूत्राभ्यां भगवद्धर्मकृतेरावश्यकत्व-मुक्तम्। सर्वात्मभाववतो—"न ज्ञानं न च वैराग्यं प्राप्तः श्रेयो भवेदिह" इति भगवद्वचनात् विधेयाभावादसंभवाच्च कर्मज्ञानयोर्विहित भक्तेश्च करणं न संभवतीतितस्य किंफलमित्याकांक्षापूरणाय तदनुवदति। तन्निर्द्धारणेत्यादिना-तस्मिन् धर्मण्येव, न तु धर्मण्वपि दृष्टिः यस्य स तथा। दृष्टि पदेन ज्ञान-मात्रमुच्यते। तेन अन्यविपयक दर्शन श्रवणादि ज्ञानाभाव उक्तो भवति। एतादृशस्य प्रभुसंगमात्रमपेक्षितम्। तत्र भगवदुक्तस्वसंगमात्रधिकस्य भक्तस्य-संगमसमय निर्द्धारो भवति। अतादृशस्य तस्य सनेति तन्निर्द्धारणानियमः। एतेन फल प्राप्तेः प्रागवस्थोक्ता भवति। फलस्वरूपमाह—पृथक् फलमिति। अस्यानिर्वचनीयत्वात्अनुभववैकवेद्यत्वात् मोक्षान्तंयत्फलंशास्त्र उक्तं तस्माद् भिन्नमित्युक्तम्। अन्यत्र हि धर्माणां साधनत्व यत्र फलमेव साधनं तत्फलस्यानिर्वाच्यता मुक्तेवेति हि शब्देनाह। ज्ञानमोक्षादिना तद्भावाऽप्रति-बंधश्चफलम् इत्यर्थः। प्रासंगिकमेतत् सूत्रम्।

दोनों प्रकार के कर्मकर्त्ताओं के फल आदि के आशय से सूत्रकार कहते हैं—तद् दृष्टेः अर्थात् भगवदिच्छा ही दृष्टि अर्थात् ज्ञान है जिनका। ऐसा फल जीवकृत कर्मफल से पृथक ईश्वरकृत कर्म, वेद मर्यादा की रक्षा और लोक संग्रह, संबंधी फल है। "हे भारत! जैसे कि—संसारीजीव कर्म में प्रवृत्त होते है, वैसे ही भगवद्भक्त भी लोक संग्रह के लिए कर्म करते हैं" इत्यादि भगवद्वाक्य से उक्त स्वरूप का निर्णय होता है। जो लोग ईश्वरेच्छा मान कर कर्म नहीं करते उनको मध्यम अधिकारी कहा गया है, उनका चित्त कामासक्ति आदि से मलिन रहता है अतः उन्हें भगवद् सानिध्य नहीं प्राप्त हो पाता, उस आसक्ति से निवृत्त हो जाना ही उनके कर्माचरण का फल है। [अर्थात संसारीजीव आसक्त होकर स्वभाव से वर्णाश्रम धर्म का आचरण करते और भगवद्भक्त लोक संग्रह की दृष्टि से निष्काम भाव से आचरण करते हैं।]

अथवा ऐसा भी मानें तो ठीक होगा कि—पूर्व के दो सूत्रों से भगवद्धर्म पालन करने वालों के लिए वर्णाश्रम धर्म आवश्यक कहा गया है। जिन्होंने

सर्वात्म भाव स्वीकार किया है ऐसे भक्तों के संबंध में—"नज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेदिह" इत्यादि भगवद् वाक्य से विधेय का अभाव और असंभावना निश्चित होती है। उन लोगों से कर्मज्ञान विहित भक्ति होना संभव नहीं है, ऐसे लोगों को क्या फल प्राप्त होगा ? इस अकांक्षा की पूर्ति के लिए सूत्रकार कहते हैं—"तन्निर्द्धारण" इत्यादि। वे कहते हैं कि सर्वात्मकभाव वाले भक्तों की दृष्टि धर्मी पर रहती है, धर्मों पर नहीं रहती धर्मों का उद्देश्य क्या है वे उसी पर दृष्टि रखकर चलते हैं। यहां पर दृष्टि पद ज्ञान मात्र का बोधक है। उक्त ज्ञान का तात्पर्य है कि वे भक्त अन्य विषयक दर्शन श्रवण आदि ज्ञान से रहित, एक मात्र प्रभु संबंधी ज्ञान वाले होते हैं। ऐसे भक्तों को प्रभु संगम मात्र ही अपेक्षित होता है। उक्त भाव से रहित लोगों में ऐसा नियम नहीं रहता. उन लोगों की फलावाप्ति कर्मानुसार ही होती है। ऐसे लोगों को भक्तों से भिन्न ही फल मिलता है। परमात्मा की भक्ति तो अनिर्वचनीय एकमात्र अनुभव गम्य होती है, मोक्ष ही जिसका फल होता है, ऐसा शास्त्र मत है। संसारी जीवों को वो फल शास्त्रानुसार नहीं मिलता। भक्ति मार्ग में एकमात्र फल ही साध्य होता है जब कि—अन्यत्र धर्मों को साधन मान कर लोग चलते हैं इसलिए भक्त की अनिर्वचनीयता युक्त ही है, यही बात सूत्र में हि शब्द से कही है। ज्ञानमोक्ष आदि से भगवद्भाव का निर्वाध फल होता है। यह सूत्र ऊपर के प्रसंग से संबंधित ही है।

१६ अधिकरण

प्रदानवदेव तदुक्तम् ।३।३।४३।।

अथेदं विचार्यते—सर्वात्मभावो विहित कर्मज्ञानभक्ति साध्यो न वेति। तत्र पुराणे—"तस्मात् त्वमुद्धवोत्सृज्य" इत्युपक्रम्य "मामेकमेव शरणमात्मानं सर्व देहिनाम्, योहि सर्वात्मभावेन यास्यसे हि अकुतोभयम्" इति वाक्ये मुक्त्यात्मकाऽकुतोभयसाधनरूप शरण गमने प्रकारत्वेन सर्वात्मभावस्य कथनेन स्व प्रयत्न साध्यत्वं गम्यते। अतः साधन साध्य इति पूर्वः पक्षः।

अब बिचार करते हैं कि—सर्वात्मभाव भक्ति, विहित कर्म ज्ञान से साध्य है या नहीं ? पुराण में तो—"इसलिए उद्धव तुम त्यागकर" इत्यादि उपक्रम करते हुए "मुझे ही प्राणि मात्र का शरण मानकर जो सर्वात्मभाव से स्वीकारता है, वह निर्भय हो जाता है" इत्यादि वाक्य से मुक्त्यामक निर्भय साधन साधन-

रूप भगवत शरण को ही सर्वात्मभाव कहा गया है, जिससे सर्वात्मभाव स्व-प्रयत्न साध्य ही प्रतीत होता है । पूर्वपक्ष साधन साध्यपक्ष ही मानता है ।

तत्र सिद्धान्तंवक्तुं तदुपदेश स्वरूपमाह—प्रदानवदिति—यद्ययंसाधनोपदेशः स्यात, स्यात्तदा साधनत्वेन सर्वात्मभावेन शरण प्राप्तेः स्वकृतिसाध्यत्वं न त्वेवं किन्तु, तदुक्तं भगवदुक्तम् । प्रदानवत्—प्रकृष्टं दानंवरदानमिति यावत् तद्वदेवेत्यर्थः । वरेण हि स्वकृत्यसाध्यमपि निद्धयतीति । तथाशत्रुसंहार-भयादिनाऽपिशरणाप्तिर्भवति । तत्र न तस्याः पुरुषार्थत्वं, किन्तु तन्निवृतेरेव । प्रकृतेऽपि सर्वात्मभावे स्वरूप प्राप्ति विलम्बासहिष्णुत्वे नात्यार्त्या स्वरूपाति-रिक्ता स्फूर्त्या तद्भावस्वाभाव्ये गुणगानादि साधनेषु कृतेष्वप्यप्राप्तौ स्वाश-क्यत्वं ज्ञात्वा प्रभुमेवशरणं गच्छत्येतच्च न स्वकृतिसाध्यमिति सुष्ठूक्तं प्रदान-वदति । भक्तस्येप्सितोऽर्थो हि वरो भवति ।

उक्त विषय में सिद्धान्त बतलाने के लिए उसके उपदेश का स्वरूप सूत्रकार वतलाते हैं कि—यह उद्धव को सर्वात्मभाव शरण प्राप्ति, रूप साधनोपदेश भगवान द्वारा दिया गया है, जो कि वरदान के समान है, वर से तो स्वकृत्य साध्य वस्तु भी सिद्ध हो जाती है । शत्रु संहार के भय आदि से भी शरण प्राप्ति होती है, उसे पुरुषार्थ तो नहीं कह सकते, अपितु वह तो भय निवृति के लिए शरण में जाना कहा जायेगा । सर्वात्मभाव मे जो शरण में जाने की बात है वहाँ प्रभु, स्वरूप प्राप्ति के विलम्ब को सहन न कर बड़े आकुल भाव से, स्वरूपातिरिक्त स्फूर्ति से अन्य भाव में स्वाभाविक रूप से निमग्न भक्त को, गुणगान आदि भाव से अब यह मुझे नहीं पा सकेगा, अपने शरण में लेकर ही इसका उद्धार करना चाहिए, इस भाव से उसे सर्वा-त्मभाव की प्रेरणा प्रदान करते हैं; अतः इसे स्वकृति साध्य कैसे कह सकते हैं, प्रदान वत कहना ही ठीक है । भक्त की ईप्सित पूर्ति के लिए ही वर होता है ।

सर्वात्मभावस्यानुभवैकवेद्यत्वेन पूर्वमज्ञानेनेप्सितत्वासम्भवेऽपि स्वत एव कृपयादानमिति नवदित्युक्तम् । अथवा सर्वात्मभावेन मां याहीति संबंधः । यद्वा प्रदानवदित्स्य पूर्ववदेव व्याकृतिः । तत्र साधन साध्यत्वे प्रमाणमाह—तदुक्तमिति । "नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो, न मेधया न बहुधाश्रुते न यमेवैनवृ-णुते तेन लभ्यः,' इति श्रुत्यावरणातिरिक्तसाधनाप्राप्यत्वमुच्यते इति तत्तथै-वेत्यर्थः । भगवदुक्ताऽकुतोभयपदस्य न मुक्तिरर्थः, किन्तु "यतोवाच" इत्या-

दिना आनंदस्य स्वरूपमुक्त्वा "आनंदं ब्रह्मणो विद्वान न विभेति कुतश्चन्', इति श्रुत्युक्तं यत् पूर्वोक्तं रसात्मक पुरुषोत्तम भजनानंदानुभवोत्तरकालीनमकुतोभयमित्यर्थः ।

सर्वात्मभाव एक मात्र अनुभव वेद्य है, इस भाव के पूर्व तो उसका ज्ञान रहता नहीं अतः ईप्सित प्राप्ति संभव नहीं हो सकती, एकमात्र भगवत्कृपा दान से ही सर्वात्मभाव प्राप्त होने से इष्ट प्राप्ति होती है, यही उक्त सूक्ति का तात्पर्य है ।

दूसरा अर्थ ये भी हो सकता है कि—सर्वात्मभाव से मुझे प्राप्त करो, इस अर्थ में प्रदानवत् का अर्थ पहिले अर्थ की तरह ही होगा साधन साध्यता के विषय में प्रमाण देते हुए कहते हैं तदुक्तम्—अर्थात् "यह आत्मा, प्रवचन से, मेधा से या अधिक शास्त्र चिन्तन से प्राप्त नहीं है वह जिसे वरण करता है, उसे ही प्राप्त है" इत्यादि श्रुति में, वरण के अतिरिक्त साधन से उसे अप्राप्य बतलाया गया है । यही अर्थ उद्धव को दिये गए उक्त उपदेश का भी है । भगवान् ने जो अकुतोभय पद का प्रयोग किया है उसका अर्थ मुक्ति नहीं है, अपितु "यतो वाचो" इत्यादि से श्रुति में आनंद का स्वरूप बतलाकर "आनंद ब्रह्म को जानकर किसी से नहीं डरता" इस श्रुति में जिस रसात्मक पुरुषोत्तम भजनानंदानुभव के बाद की स्थिति का वर्णन है, वही, अकुतोभय पद का तात्पर्य है ।

१७. अधिकरण :—

लिंगभूयस्त्वात्तद् हि बलीयस्तदपि ।३।३।४४।।

ननु प्रतिबन्धककालादृष्टादि सद्भावेऽपि वरण कार्यं स्यादुत तन्निवृत्ताविति संशये प्रतिबंधकाभावस्य सर्वत्र हेतुत्वात् तन्निवृत्तावेव तथेति पूर्वपक्षे सिद्धान्तमाह—लिंगेत्यादिना । सामोपनिषत्सु नवमे प्रपाठके सनत्कुमार नारद संवादे प्रथमत एव मुख्यब्रह्मविद्योपदेशार्हो न भवतीति ज्ञात्वा सनत्कुमारो नारदाधिकारं च ज्ञातुं "यद् वेत्थ तेन मोपसीदेत्" इत्युक्तोनारदः स्वयं विदितम् ऋग्वेदादि सर्पदेवजनविद्यान्तमुक्त्वा "सोऽहंभगवो मंत्रविदास्मीति स्वाधिकार मुक्त्वाह" नात्मविच्छ्रुतं ह्येवमेव भगवद्दृशेभ्यस्तरति शोकमात्मविदितिसोऽहं भगवः शोचमितं मां भगवन् शोकस्य पारं तारयतु "इति

नारदेनोक्तः सनत्कुमारः "पूर्वस्माद् पूर्वस्माद् भूयोवदेत्" इति पृष्टो, भूयः पदमधिकारार्थं, नामवाङ्मनः संकल्प चित्तध्यानविज्ञानवलान्नापस्तेजआकाश-स्मराऽशाप्राणान् ब्रह्मत्वेनोपासना विषयत्वेनोक्त्वा प्राणोपासकस्यातिवादित्वं सत्यवादित्वेनोक्त्वा विजिज्ञासितव्यत्वेन सत्यविज्ञानमतिश्रद्धा निष्ठाकृतिसुखानि पूर्वपूर्वकारणत्वेनोत्तरोत्तराप्युक्त्वा सुख स्वरूप जिज्ञासायामाह "यो वै भूमा-तत्सुखम्" इति । भूम्नः स्वरूपजिज्ञासायामाह—"यत्रनान्यत् पश्यति नान्य-च्छृणोति नान्यत् विजानाति स भूमा" इति । एतेन सर्वात्मभावस्वरूपमेवोक्तं भवति । तत्रविरहभावेऽतिगाढभावेन सर्वत्र तदेव स्फुरति इति, "स एवाध-स्तात्" इत्यादिनोक्त्वा कदाचित् स्वस्मिन्नेव भगवत्त्वस्फूर्त्तिरपि भवति इत्यहंकारादेश इत्यादिना तामुक्त्वैतेषां व्यभिचारिभावत्वेनानियतत्वं ज्ञापा-यितुं पुनः सर्वत्र भगवत् स्फूत्तिमाह "अर्थात् आत्मदेश" इत्यादिना । ततः संयोगभावे सति पूर्वभावेन सर्वोपमर्दिना स्वप्राणादि सर्वतिरोधानेनाग्रिम-लीलाऽनुपयोगित्वं न शंकनीयम् । ततः श्लोकैस्तद्भावस्वरूपमुक्त्वैतस्य मूल कारणमाह—"आहार शुद्धौ" इत्यादिना । प्राणपोषको हि आहारस्तस्य सदोष-त्वे तु न किंचिद् सिद्ध्यति । एवं सति भगवदतिरिक्तस्य स्वतोनिर्दोषत्वभावाद् भगवानेव चेत् प्राण पोषको भवेत्तदा सर्वं संपद्यते । स च सर्वात्मभावे सत्यव भवति । स च तथा तद्वरणं विना न भवति । तच्चोक्त कार्यानुमेयम् इति वरण लिंग सर्वात्मभावस्तस्यैव भूयस्त्वात् सर्वतोऽधिकत्वान् तत्वरणमेव सर्वतः कालादेर्बलीय इत्यर्थः । यल्लिंगमेव सर्वतो अधिकं तस्य तथात्वे किं वाच्यम् इति कैमुतिक न्यायोऽपि सूचितः । ज्ञानमार्गीय ज्ञानेन प्रतिबंधशंकायामाह— तदपीति, उक्तमिति शेषः । अन्तराभूत ग्रामवत् स्वात्मन् इति सूत्रेण तच्चोप-पादितमस्माभिः ।

पूर्व अधिकरण में सर्वात्मभावरूप मुख्य भक्ति के ही वरण की बात सिद्ध की गई है । वरण श्रुति मे तो परमात्मा के वरण का महत्व कहा गया है । इस शंका पर उक्त बात को पुनः दृढ़ करने के लिए उस वरण के स्वरूप को श्रुति से विवेचन करने के लिए नए अधिकरण का प्रारम्भ करते हुए शंका. समाधान करते हैं—

संशय करते हैं कि—काल दृष्ट स्वभाव आदि प्रतिबन्धकों के रहते हुए वरण कार्यरूप सर्वात्मभाव जीव का संभव है या नहीं ? इस पर पूर्व पक्ष वालों का कथन है कि—हर जगह प्रतिबन्धक का अभाव होने पर कार्य सिद्धि

का उल्लेख मिलता है, अतः प्रतिबन्धक के अभाव में ही सर्वात्मभाव संभव है। इस पर सिद्धान्त रूप से "लिंगभूय" इत्यादि सूत्र प्रस्तुत किया जाता है।

सामवेदीय छांदोग्योपनिषद् में, सनत्कुमार नारद के संबाद में—प्रारम्भ में ही मुख्य ब्रह्मविद्या के उपदेश की अर्हता नहीं होती इस भाव से सनत्कुमार नारद के अधिकार को जानने के लिए नारद से कहते हैं कि "जो जानते हो हमें बतलाओ" इस पर नारद ने अपने ज्ञात ऋग्वेद आदि और सर्प देव मनुष्य आदि विद्याओं का उल्लेख करते हुए "भगवन्! मैं सबके मंत्रों को भी जानता हूँ" अपने अधिकार को बतलाकर कहते हैं कि—"मैंने आप जैसों से सुना है कि आत्मवेत्ता शोक को पार कर लेता हैं, भगवन्! मैं शोक करता हूँ, मुझे आप शोक से पार करें" ऐसा नारद के कहने पर सनत्कुमार पूर्व पूर्व वस्तुओं से बाद की वस्तुओं से श्रेष्ठ बतलाते हुए सर्वाधिक वस्तु को निर्धारित करने के लिए, नाम वाणी मन, संकल्प, चित्त, ध्यान, विज्ञान, बल, जल, तेज, आकाश, आशा, प्राण आदि की ब्रह्मरूप से उपासना का विषय बतलाकर, प्राणोपासक की अतिवादिता और सत्यवादिता बतलाकर, ज्ञेय रूप से सत्य, विज्ञान, मति श्रद्धा, निष्ठा कृति, सुख को उत्तरोत्तर श्रेष्ठ बतलाकर, सुख स्वरूप की नारद द्वारा जिज्ञासा करने पर वे कहते हैं कि—"जो भूमा है वही सुख है।" भूमा के स्वरूप की जिज्ञासा होने पर वे कहते हैं कि—"जिस स्थिति में साधक कुछ और नहीं देखता, कुछ और नहीं सुनता, कुछ और नहीं जानता वही भूमा है" इस प्रकार सर्वात्मभाव स्वरूप का ही वर्णन करा गया है, उस भाव में, विरह भाव में अतिगाढ भाव होता है, इसलिए सर्वत्र उस प्रियतम की ही स्फूर्ति होती है "स एवाधस्तात्" इत्यादि में इसी बात का उल्लेख कर कभी अपने में भी भगवत्ता की स्फूर्ति होती है इस बात को "उसी में अहंकारादेश किया जाता है" इत्यादि से बतलाकर, उनको व्याभिचारिभाव रूप से लेना चाहिए इस बात को बतलाने के लिए पुनः सर्वत्र भगवत्स्फूर्ति बतलाने के लिए "आत्मारूप से ही भूमा का आदेश किया जाता है" इत्यादि उपदेश करते हैं। इसलिए वियोग भाव के बाद संयोग भाव होने पर, सब कुछ समाप्त करने वाले सर्वोपमर्दी पूर्वभाव से जो अपने प्राण आदि समस्त का तिरोधान हो गया था, उन सबका पुनः आविर्भाव कैसे हो सकेगा, वे साधक अग्रिम लीला के लिए उपयोगी नहीं हो सकेंगे, इत्यादि शंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि भगवान की ही सारी वस्तुएँ हैं, इस आशय से "तस्य ह वा एतस्यैवं पश्यत्" इत्यादि उपक्रम करते हुए

"आत्मन एवेदं सर्वम्" इत्यादि कहा गया है। उसके बाद के श्लोकों से परमात्मभाव के स्वरूप को बतलाकर उसके मूल कारण को बतलाते हैं— "आहार शुद्धि से अंतःकरण शुद्ध होता है, अन्तःकरण शुद्ध होने पर भगवत् चिंतन होता है।" आहार प्राण पोषक तत्त्व है, यदि वही दोष युक्त होगा तो कुछ भी सिद्ध नहीं हो सकता सर्वात्मभाव हो जाने पर, भगवान के अतिरिक्त जितने भी संसारी पदार्थ हैं जो कि—सदोष हैं, उनके प्राण पोषक भगवान ही हो जाते हैं, अतः सारी बात बन जाती है। सर्वात्मभाव होने पर ही भगवान प्राण पोषक होते हैं। वे भाव भी भगवान की कृपा बिना संभव नहीं है, जब वे वरण करते हैं तभी संभव है। और उसका अनुमान तो, भगवत कृत प्राण पोषण युक्त सर्वात्म भाव की स्थिति में होने वाले कार्यों से ही हो जाता है, भगवान् ने वरण कर लिया, इसका ज्ञान तो सर्वात्मभाव संपन्न भक्त के क्रिया-कलापों से हो जाता है वह भाव ही सर्वश्रेष्ठ है, क्योंकि—उसी भाव में सर्वाधिक तन्मयता देखी जाती है, इसलिए भगवद् वरण ही, काल आदि सबसे बलवान है, ऐसा मानना चाहिए। सर्वात्मभाव के लक्षण ही सर्वश्रेष्ठ होते हैं, उसकी भगवत्ता के विषय में कुछ भी कहना शेष नहीं रह जाता, कैमुतिक न्याय से भी ऐसा ही निश्चित होता है। ज्ञानमार्गीय ज्ञान, उक्त स्थिति में प्रतिबंधक होता है. इस शंका पर सूत्रकार कहते हैं—"तदपि", अर्थात् फिर भी भगवत् कृपा ही, श्रेष्ठ है, भगवत्कृपा से सब कुछ संभव है। "अन्तरा भूतग्रामवत् स्वात्मनः" इस सूत्र से हम इस संशय का समाधान कर भी चुके हैं।

पूर्वविकल्पः प्रकरणात् स्यात् क्रिया मानसवत् ।३।३।४५।।

तत्राह—नात्रवर्णलिंगभूयस्त्वं निरूप्यते, किन्तु आत्मज्ञान प्रकारविशेष एव। तथाहि—पूर्वप्रपाठक आत्मना सहाभेदः सर्वस्य निरूपितः श्वेतकेतूपाख्यानेन। अग्रिमे च—"सोऽहं भगवो मंत्रविदेवास्मि नात्मविद्" इत्यादिना नारदस्यैवात्म जिज्ञासैवोक्ता। एवं सत्युत्तरमपि तद् विषयकमेव भवितुमर्हति अत आत्मप्रकरणत्वात् उभयोः प्रपाठकयोः पूर्वस्मिन् यदभेद उक्तस्तस्यैव "स्वरूपमात्मन एवेदं सर्वम्" इत्यन्तेनोक्तम्, इति पूर्वोक्त प्रकारादन्येन प्रकारेणात्मभेद एव सर्वोक्तः। तदेवाह—पूर्वस्य पूर्वप्रपाठकोक्तात्मभेदज्ञानस्य विकल्पः प्रकार भेद एवाग्रेऽपि निरूप्यते। तत्रोपत्तिमाह—प्रकरणादिति— एतत्तूपपादितम् अत्र सिद्धान्त संमतं दृष्टान्तमाह—तद हृदय संवादार्थम्— क्रियामानसवदिति—यथा पूजन प्रकरणे बाह्यतत्क्रियारूपमुच्यते, आन्तरंतु

मनोव्यापाररूपमुच्यते। नहि एतावताऽन्यतरस्य तद् भिन्नत्वं वक्तुं शक्यम्। प्रकरणभेदात् तथेहापीत्यर्थः।

उपर्युक्त सूत्र के मत पर कहते हैं कि—उक्त प्रकरण में वरणलिंग की बहुलता का निरूपण नहीं है अपितु आत्मज्ञान के प्रकार विशेष का निरूपण है। पूर्वप्रपाठक में श्वेतकेतु के उपाख्यान से सबका आत्मा के साथ अभेद दिखलाया गया है। इसके बाद के प्रपाठकों में—"भगवन्! मैं मन्त्रविद हूँ आत्मविद नहीं "इत्यादि से नारद द्वारा की गई आत्म जिज्ञासा का उल्लेख है। इसलिये यही निश्चित होता है कि बाद के प्रपाठक में भी आत्मतत्व का ही विश्लेषण किया गया है। पहिले जो आत्म प्रकरण से, दोनों प्रपाठकों का भेद कहा गया उसी का स्वरूप "आत्मन एवेदं सर्वम् "इत्यादि अन्तिम वाक्य से बतलाया गया। पूर्वोक्त प्रकरण से भिन्न प्रकार का आत्माभेद इस प्रकरण में सबको बतलाया गया है। इसी बात को सूत्र में कहते हैं कि—पूर्व प्रपाठक में कहे गये आत्माभेद ज्ञान का विकल्प अर्थात् प्रकारभेद आगे भी निरूपण करते हैं। जो कि प्रकरण से ही निश्चित हो जाता है। इस विषय में सिद्धान्त संभत दृष्टान्त देते हैं कि—वह भेद हृदय संवाद की दृष्टि से है। जैसे कि—पूजा के प्रकरण में बाह्य प्रजा क्रिया रूप होती है और आन्तरिक पूजा मनोव्यापार रूप होती है, इनमें किसी को भी एक दूसरे से भिन्न नहीं कह सकते, वैसे ही उक्त वर्णन प्रकरण भेद से है वास्तविक नहीं है।

अतिदेशाच्च ।३।३।४६।।

नाम रूपात्मकं हि जगत्तत् पूर्वं सर्व शब्देनानूद्यतस्मिन् ब्रह्माभेदो निरूपितोऽग्रे तु ऋगादिविद्या अनूद्य नामात्मक ब्रह्मत्वं तत्र अतिदिश्यते—"नामैवैतन्नामोपास्व "इति। इतोऽपि हेतोर्ज्ञान प्रकारभेद एवाग्रे निरूप्यत इत्यर्थः।

साराजगत नाम रूपात्मक है, उस सबको सर्व शब्द से उल्लेख किया गया है और सब का ब्रह्म से अभेद बतलाया गया है आगे ऋगादिविद्या का निरूपण करते हुये उसके नामात्मक ब्रह्मत्व का अतिदेश किया गया है— "नामैवैतन्नामोपास्व" इत्यादि। इस प्रकार से भी ज्ञान प्रकारभेद का आगे निरूपण किया गया है।

विद्यैव तु निर्द्धारणात् ।३।३।४७।।

तु शब्दः पक्षं व्यावर्त्तयति—यदुक्तं सनत्कुमार नारद संवाद आत्मज्ञान प्रकार विशेष एव निरूप्यत इति तन्न, किन्तु विद्यैव निरूप्यते इति । अत्रैद-माकूतं—"नायमात्मेति श्रुतिरितरसाधन निषेधपूर्वकं वरणस्य साधनत्व मुक्त्या वृत्तलभ्यते हेतुत्वंवदन् वरण विषयमप्याह—"तस्यैष आत्मावृणुतेतनुं स्वाम्" इति । तस्यवृत्तस्यात्मन् एष भगवानात्माऽतएव तत्तनूरूपः स जीवा-त्मा । तद्वरणस्यावश्यकत्व ज्ञापनाय स्वामिति । सर्वो हि स्वकीयांतनुमात्मी-यत्वेनात्मत्वेन च वृणुते । तद् विशिष्ट एव भोगान् भुंक्ते । अतएव तैत्तरीय-कोपनिपत्स्वपि ब्रह्मविदाप्नोतिपरम्" इति सामान्यतो ब्रह्मविदः परब्रह्म प्राप्तिमुक्त्वा अग्रिमर्चा विशेषतोऽवदत् । "सत्यं ज्ञानमनंतं ब्रह्म" इति ब्रह्म स्वरूपमुक्त्वा—"यो वेद निहितं गुहायां परमेव्योमन् सोश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता "इत्युक्तम् । एतद्यथानंदमयाधिकरणे प्रतंचितम स्माभिः ।

सूत्रस्थ तु शब्द पूर्व पक्ष का निराकरण करता है । जो यह कहा कि—सन-त्कुमार नारद संवाद में आत्मज्ञान के प्रकार विशेष का ही निरूपण किया गया है, सो बात नहीं है, किन्तु भूमा विद्या का ही निरूपण है । इसमें आशय ये हैं कि—"नायमात्मा" श्रुति इतर साधन निषेध पूर्वक वरण की साध-नता बतलाकर परमात्मा प्राप्ति की हेतुता बतलाने के लिये वरण का स्वरूप बतलाते हैं—"यह परमात्मा जीव को अपने शरीर के रूप में वरण करता है ।" यह जीवात्मा परमात्मा का शरीर रूप है, भगवान ही इसका आत्मा है जीव के वरण की आवश्यकता बतलाने के लिए "स्वाम्" पद का प्रयोग किया गया है । सभी लोग अपने शरीर को आत्मीय रूप से ही वरण करते हैं । उसी के आश्रम से भोगों को भोगते हैं । इसलिये तैत्तरीयोयनिषद् में भी —"ब्रह्म विदाप्नोतिपरम्" इत्यादि में सामान्य रूप से ब्रह्मविद की परब्रह्म प्राप्ति बतलाकर आगे अर्चा विशेष बतलाते हैं "सत्यंज्ञानमनंतं ब्रह्म" इत्यादि से ब्रह्म स्वरूप बतलाकर "जो गुहा में निहित परम व्योम को जानता है, वह विपश्चित, ब्रह्म के साथ समस्त कामनाओं को प्राप्त करता है ।" इस विषय में हमने आनन्दमयाधिकरण में सब कुछ कह दिया हैं ।

किं च पुरुषोत्तमलाभे हेतुभूतं तु भक्ति मार्गे यद्वरणं स्वीयत्वेनांगी-काररूपं तदेव, तत्रान्यादृशमपीति ज्ञापनायाग्रे वदति—"नायमात्मा ब्र

हीनेन लभ्यः" इति । बलकार्यं हि प्रभुवशीकरणम् । तच्च "अहंभक्तपराधीनः; "वशेकुर्वंवन्ति मां भक्त्या" इत्यादि वाक्यं भक्त्यैवेति बल शब्देन भक्तिरुच्चते । अन्यथा पूर्ववाक्य एवेतर निषेधस्य कृतत्वात् पुनर्बलाभावनिषेधस्य न कुर्यात् । वरणमात्रस्य हेतुत्वमुक्त्वा बलस्य तथात्वं च न वदेत् एतादृशस्य हृदि भगवत् प्राकट्यं भवतीत्याह—"एतैरुपायैर्यतते यस्तुविद्वाँस्तयैष आत्माविशते ब्रह्म धाम" इति । अस्यार्थस्त्वेष आत्मा आत्मनोप्यात्मा पुरुषोत्तमो ब्रह्म, अक्षर ब्रह्मात्मकं धाम विशते इति, धामपदं पुरुषोत्तमस्याक्षरं ब्रह्म सहजं स्थानं इति ज्ञापनार्थं उक्तमन्यथा न वदेत् । तेन तद् हृदये स्वस्थानमाविर्भावयित्वा स्वयं तत्र प्रकटी भवतीति ज्ञाप्यते ।

पुरुषोत्तम प्राप्ति में हेतुरूप, भक्तिमार्गीय जिस वरण को स्वीयत्व रूप से अंगीकार किया गया है वही ठीक है, उसका कोई दूसरा रूप नहीं है, इस बात को दिखलाने के लिये, उसी प्रकरण में आगे कहते हैं—"यह आत्मा बल हीन व्यक्ति से प्राप्त नहीं है :" प्रभु को वशीकरण करना ही बल का कार्य है । "मैं भक्त के पराधीन हूँ" मुझे भक्ति से वश में करते हैं । यदि ऐसा न होता तो, पूर्व वाक्य में जो इतर प्रवचन आदि का निषेध हो चुका था पुनः बलाभाव का निषेध न करते । वरण मात्र की हेतुता बतला कर बल को पुनः हेतु बतलाते । बलवान हृदय में ही भगवान का प्राकट्य होता है जैसा कि कहते भी है—"इन उपायों से विद्वान प्रयास करते हैं यह आत्मा ब्रह्मधाम में प्रवेश करता है ।" इसका अर्थ है कि—यह आत्मा का भी आत्मा पुरुषोत्तम ब्रह्म, अक्षर ब्रह्मात्म धाम में प्रवेश करता है धाम पद, पुरुषोत्तम के अक्षर ब्रह्म रूप सहज स्थान का वाचक है, इसी भाव से कहा गया है । इससे ज्ञात होता है कि—भक्त के हृदय में अपने स्थान को प्रकट करके, उसमें स्वयं प्रकट होते हैं ।

प्रकृते श्वेतकेतूपाख्याने परोक्ष वादेन ब्रह्माभेदबोधनेन पुरुषोत्तमाधिष्ठानत्व योग्यता ज्ञाप्यते । अग्रे तु नहि एतावतैव अधिष्ठानात्मिकाऽक्षराविर्भावो भवति, पुरुषोत्तमस्य वा । तथा सति ज्ञानिनां सर्वेषां परप्राप्तिः स्यान्नत्वेवं, "भक्त्याहमेकयाग्राह्यः" इत्यदि वाक्यैः, किन्तु भगवदनुग्रहेण भक्तसंगेन च भक्तौ सत्याम् इति ज्ञापनाय, भक्तएव तद्बोधाधिकारी इत्यादि ज्ञापयितुं भक्तस्य नारदस्य भगवदावेश युक्तस्य सनत्कुमारस्य च संवाद उक्तः । तत्रात्मशब्देन पुरुषोत्तम उच्यते । भक्ति मार्गे तु निरुपधिस्नेह विषयः स एव यतः । स

तु सर्वात्मभावैक समधिगम्य इति सर्वात्मभावएव विद्याशब्देनोच्यते । परम-काष्ठापन्नं यद्वस्तु तदेव हि वेदांतेषु मुख्यत्वेन प्रतिपाद्यम् । अक्षर ब्रह्मा-दिकतु तद् विभूतिरूपत्वेन तदुपयोगीत्वेन मध्यमाधिकारिफलत्वेन च प्रतिपाद्यते । तेन तत्र विद्याशब्द प्रयोग औपचारिकः सर्वात्म भाव एव मुख्यः । युक्तं चैतत्— अक्षर विषयिण्या विद्यायाः सकाशात्तत उतमविषयिव्यास्तस्या उत्तमत्त्वम् । एवं सति पूर्वं प्रपाठकस्याक्षर प्रकरणत्वादुत्तरस्य पुरुषोत्तम प्रकरणत्वात्सिद्धश्चात उक्तन्यायेन विद्यैवाग्रिमप्रपाठके निरूप्यते, नतु पूर्वोक्तात्मज्ञान प्रकार विशेषः ।

जिस श्वेत केतु उपाख्यान की चर्चा चल रही है, उसमें परोक्षवादी रूप से ब्रह्मभेद का बोध कराया गया है, जिससे पुरुषोत्तमाधिष्ठानत्व योग्यता ज्ञात होती है । आगे के प्रकरण में, केवल इतने मात्र से ही अधिष्ठानात्मक अक्षर का आविर्भाव बतलाया गया है, न पुरुषोत्तम का ही बतलाया गया है । सभी ज्ञानियों को पर प्राप्ति हो जाती हो सो बात नहीं है, "मैं एकमात्र भक्ति से ही ग्राह्य हूँ" इत्यादि वाक्य से भक्ति की ही महत्ता बतलाई गई है, भगवदनुग्रह से और भक्त संग से ही भक्ति होती है, इस बात को बतलाने के लिए, तथा भक्त ही उसको जानने का अधिकारी है, इस बात को बतलाने के लिए, भक्त नारद और भगवदावेश युक्त सनत्कुमार का संवाद दिखलाया गया है । वहाँ पर आत्मशब्द से पुरुषोत्तम का उल्लेख है भक्ति मार्ग में सहज स्नेह का विषय वह पुरुषोत्तम ही है । जो कि—सर्वात्मभाव से प्राप्य है, उस सर्वात्मभाव को ही वहाँ विद्या शब्द से बतलाया गया है । परम-काष्ठा को प्राप्त जो वस्तु है, वही वेदांतों की मुख्य प्रतिपाद्य वस्तु है । अक्षर ब्रह्म आदि को तो, उनकी विभूति रूप से, उनके उपयोगी रूप से और मध्यमाधिकारी के फल रूप से प्रतिपादन किया गया है । सर्वात्मभाव ही वहाँ पर मुख्य है, विद्या शब्द का प्रयोग तो औपचारिक है । अक्षर विषयिणी विद्या के सकाश से उस उत्तम विषयिणी विद्या की प्राप्ति होती है, इसलिए उस अक्षर विद्या की उत्तमता है। इस प्रकार पूर्व पाठक के अक्षर विद्या के प्रकरण से, उत्तर के पुरुषोत्तम प्रकरण की सिद्धि होती है उसी नियम से अग्रिम प्रपाठक में विद्या का ही निरूपण किया गया है, पूर्वोक्त आत्मज्ञान के प्रकार विशेष का निरूपण नहीं है ।

अत्र हेतुमाह—निर्द्धारणादिति । "सुखं त्वेव विजिज्ञासितव्यं इत्युक्त्वा सुखस्वरूपमाह—"यो वै भूमा तत्सुखम् नाल्पे सुखमस्ति, भूमैवं सुखं भूमा

त्वेव विजिज्ञासितव्यः" इति। अक्षर पर्यन्तं गणितानन्दत्वात् पुरुषोत्तमस्यैवा-नंदमयत्वेन निर्द्धारणादित्यर्थः। भूम्नो लक्षणमग्रे उच्यते। "यत्रनान्यत् पश्यति" इत्यादिना। यस्मिन् सति नान्यत् पश्यतीत्यर्थः। तथा सति सर्वात्म-भाववतः प्रभुदर्शने सत्यपि लीलोपयोगिवस्तुदर्शनादिक मनुपपन्नमिति शंका तु "तस्य हवा एतस्यैवं पश्यत् एवं मन्वानस्यैवं विजानत आत्मनः प्राणाः" इत्यादिना निरस्ता वेदितव्या। तैः सह लीलां चिकीर्षतः प्रभुत एव सर्वं संपद्यते, नतु भक्तसामर्थ्येनेति भावेन तदुक्तेः।

उक्त विषय में सूत्रकार हेतु बतलाते हैं—"निर्द्धारणात्" अर्थात् —"सुख को ही विशेषरूप से जानना चाहिए" इत्यादि कहकर सुख का स्वरूप बतलाते हैं कि—"जो भूमा है वही सुख है, अल्प में सुख नहीं है, भूमा ही सुख है अतः भूमा को ही विशेषरूप से जानना चाहिए" इत्यादि। उक्त प्रसंग में अक्षर पर्यन्त आनंद की गणना करते हुए, पुरुषोत्तम का ही आनंदमय रूप से निर्द्धारण किया गया है। "यत्रनान्यत पश्यति" इत्यादि से आगे भूमा का लक्षण बतलाते हैं। जिस स्थिति में पहुँच कर उसके अतिरिक्त कुछ भी नहीं देखता। शंका होती है कि—सर्वात्मभाव रूप प्रभु के दर्शन हो जाने पर भी लीलोपयोगी वस्तु का दर्शन तो होता नहीं? इस शंका का निराकरण "तस्यह वा एतस्यैवं पश्यत्" इत्यादि वाक्य से जान लेना चाहिए। उन भक्तों के साथ लीला के इच्छुक प्रभु यों सब कुछ कर लिया करते हैं, भक्त के सामर्थ्य से कुछ भी होना संभव नहीं हैं। यही "तस्य ह वा एतस्य" इत्यादि वाक्य का तात्पर्य है।

दर्शनाच्च ।३।३।४८।।

दृश्यते च सर्वात्मभाववतां भक्तानां ब्रजसीमान्तनी प्रभृतीनां पूर्वमितर-विस्मृतिर्भगत्स्पर्शादिनाग्रे सर्वसामर्थ्यमितिव्यासः स्वानुभवं प्रमाणत्वेनाह। उक्तं च —श्री भागवते ताभिरेव—"चितंसुखेन भवतापहृतं गृहेषु यन्निर्विशत्युत करावपि गृह्य कृत्ये, पादौपदंनचलतस्ववपादमूलात्" इत्यादिना। तेनज्ञान-शक्ति क्रियाशक्ति तिरोधानमुक्तं भवति, अग्रे तदाविर्भावादिकं स्फुटमेव।

सर्वात्मभाव वाली ब्रजगोपियों में, भगवत्स्पर्श आदि से पूर्व वृतान्तों की विस्मृति जन्म आत्मविभोरता और सर्वसामर्थ्य आदि को भगवान व्यास जी ने स्वयं समाधि में अनुभव करके जो भागवत में गोपियों के मुख से ही कह-

लवाया—"हे भगवन ! आपने बड़े सहज भाव से हमारे चित्त को हरण कर लिया, अतः हम घरों में रहकर भी घर के कार्य नहीं कर पातीं, हमारे हाथ शिथिल हो जाते हैं, अब आपके चरण कमलों को प्राप्त कर एक पैर भी नहीं चल सकती" इत्यादि। उस स्थिति में उन गोपियों को ज्ञान और क्रियाशक्ति का तिरोधान हो गया था, उस स्थिति की समाप्ति के बाद उनका स्पष्ट रूप से आविर्भाव हो गया।

ननु सनत्कुमारनारदसंवादात्मकमेकं वाक्यम्। तत्रोपक्रमे "मंत्रविदेवास्मि आत्मविच्छ्रुतं ह्येवं ते भगवद्दृशेभ्यस्तरति शोकमात्मविद् "इति" सोऽहं भगवः शोचामि" इत्यादिना स्वात्मज्ञानस्यैवोपक्रमादुपसंहारोऽपितमादार्य-वोचितः। अग्रेचेद् आत्मपदानामीश्वरपरत्वं स्याद् वाक्यभेद उपक्रमविरोधश्च स्यात्। तस्माद् वाक्यानुरोधात् पूर्वज्ञान प्रकार विशेष एवायमिति मन्तव्यम् इत्यत उत्तरं पठति—

सनत्कुमारनारद संवाद एक पूरा वाक्य है—उसके उपक्रम "मैं मंत्र का ज्ञाता हूँ" इत्यादि और "सोऽहं भगवन् शोचामि" इत्यादि उपसंहार को स्वात्म ज्ञान के अनुसार उचित रूप से प्रस्तुत किया गया है। यदि आगे आत्म पद को ईश्वर परक मानें तो वाक्य भेद और उपक्रम से भिन्नता होगी, इसलिए वाक्य की एकता की दृष्टि से पूर्व प्रकार विशेष को मानना ही उचित है, इस कथन का उत्तर सूत्रकार देते हैं—

श्रुत्यादिबलीयस्त्वाच्च न बाधः ।३।३।४९।।

नैवं वाक्यानुरोधाद्वरणेन सर्वात्मभावलिंगभूयस्त्वं बाधितव्यं। वाक्यापेक्षया श्रुतिलिंगयोर्बलीयस्त्वात्। एतद्बलीयस्त्वं तु "श्रुतिलिंगवाक्य प्रकरण स्थानसमाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यम्" इति जैमिनीयसूत्रसिद्धम्। प्रकृत इतर साधन निषेध पूर्वकं "यमेवैषवृणुते तेन लभ्यः तस्यैष आत्मा वृणुतेतनुं-स्वाम" इति श्रुतिर्वरणलभ्यत्वमाह। एतदग्रे च "नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः" "इत्युपक्रम्य" एतैरुपायैर्यतते यस्तु विद्वांस्तस्यैष आत्मा विशते ब्रह्म धाम" इति श्रुतिः पठ्यते। एतच्च, विद्यैव तु निर्द्धारणादित्यत्र निरूपितम्।

कहते हैं कि—इस प्रकार वाक्य के आधार पर, सर्वात्मभाव सूचक वरण की बहुलता में कोई बाधा नहीं आती। वाक्य की अपेक्षा श्रुति और लिंग

बलवान होता है, इसकी बलवत्ता तो "श्रुति, लिंग, वाक्य, प्रकरण, स्थान" इत्यादि के विवेचन में पूर्व की अपेक्षा पर दुर्बल होता है "इत्यादि जैमनीय सूत्र से सिद्ध है। उक्त प्रसंग में इतर साधनों का निषेध करते हुए "यमेवैष वृणुते" इत्यादि श्रुति वरणलभ्यता बतलाती है। इसके आगे "नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः" इत्यादि उप क्रम करके "एतैरुपायैर्यतते" इत्यादि श्रुति कही गई है, इसका निरूपण "विद्यैव तु निर्द्धारणात्" सूत्र में कर चुके हैं।

अपरंच—"नात्मविद् तरति शोकमात्मविद्" इति नारदवाक्यानुवादयो-रात्मपदमुत्तमप्रश्नात्मकेन लिंगेन पुरुषोत्तम परमिति ज्ञायते। सहि सर्वेभ्य उत्तमोऽतो ब्रह्मेत्युपास्यत्वेन सनत्कुमारोक्त प्रतिरूपं ततस्ततो भूयोऽस्तीत्य पृच्छत्। अन्ते सर्वाधिकत्वेन सुखात्मकत्वेन भूमानं श्रुत्वा तथा नापृच्छत् किन्तु तत्प्राप्त्यर्थम्। अत्यार्त्या "कस्मिन् प्रतिष्ठित" इत्यपृच्छत्। तदा सर्वात्मभाववत् स्वेव प्रतिष्ठित इत्याशयेन सर्वात्मभावलिंगात्मकं भावं "स एवाधस्ताद्" इत्यादिनोक्तवान्।

"नात्मविद् तरति" इत्यादि नारद वाक्य के अनुवाद के रूप में प्रयुक्त आत्म पद, उत्तम प्रश्नात्मक लिंगवाची होने से पुरुषोत्तम परक ज्ञात होता है। वह सर्वोत्तम है, अतः ब्रह्म है और उपास्य है, ऐसा सनत्कुमार के कहने पर नारद ने "भूयोऽस्ति ?" ऐसा प्रश्न किया। अन्त में सर्वाधिक और सुखात्मक भूमा की महिमा को सुनकर फिर वैसा प्रश्न नहीं किया, अपितु उसको प्राप्त करने के लिए अति आर्त्त भाव से पूछा कि—"वह किसमें स्थित है ?" तब सर्वात्मभाव की तरह स्वयं में स्थित है, इस आशय से सर्वात्मभाव लिंगात्मक भावपूर्ण "स एवाधस्ताद्" इत्यादि उत्तर ऋषियों ने नारद को दिया।

नन्वेतया श्रुत्या न सर्वात्मभाव लिंगात्मको भाव उच्यते, किंतु व्यापकत्वेन सर्वरूपत्वेन स्वभिन्नाधिकरणाभावादन्यत्रा प्रतिष्ठितत्वमेवोच्यत् इत्यत उत्तरं पठति—

यदिकहें कि—इस श्रुति से सर्वात्मभाव लिंगात्मकभाव नहीं प्रकट होता अपितु व्यापक और सर्वरूप होने से, अपने से भिन्न अधिकरण का अभाव रूप आत्म प्रतिष्ठा का भाव प्रकट होता हैं—इसका उत्तर देते हैं—

अनुबंधादिभ्यः प्रज्ञान्तर पृथक्त्ववत् दृष्टश्च तदुक्तम् ।३।३।५०॥

भूम स्वरूपं श्रुत्वा "स भगवः कस्मिन् प्रतिष्ठित ?" इति प्रश्ने "स्वे महिम्नि" इत्युत्तरम् । तदर्थस्तु स्वीयत्वेन वृते भक्ते यो महिम रूपः सर्वात्मभावः तस्मिन्निति स्वरूपात्मके महिम्नि इति वा । भगवदात्मकत्वात् सर्वात्मभावस्य । तदितरस्य साक्षात्पुरुषोत्तमाप्रापकत्वादस्यैव तत् प्रापकत्वात् परमकाष्ठापन्नमहित्वरूपोऽयमेव भाव इति महिम शब्देनोच्यते । स तु विप्रयोग भावोदये सत्येव सम्यग् ज्ञातो भवति व्यभिचारिभावैः । ते त्वनियतस्वभावा इति ज्ञापयितुं त्रिविधाः । "स एवाधस्तात" इत्यादिना "आत्मैवेदं सर्वम्" इत्यन्तेन निरूप्य भूमप्रतिष्ठाधिकरण प्रश्ने सदुत्तरितं "स्वे महिम्नि" इति तमेवानुवघ्नाति, "स वा एष" इत्यनेन तच्छब्दस्य पूर्वपरामर्शित्वात् । एवं सति त्वदुक्तमन्यत्राप्रतिष्ठितत्वं चेदिह प्रतिपाद्य स्यात् तदोक्तरीत्याऽनुबंधं न कुर्यादहंकारादेशादिकं च न कुर्यादुक्त प्रश्नोत्तरं स्वाऽन्यवत्स्वभावान्न क्वापीत्येव वदेत् । तस्यादस्मदुक्त एव मार्गोऽनुसर्त्तव्यः ।

नारद ने भूमा का स्वरूप सुनकर "भगवन् वह किसमें प्रतिष्ठित है" ऐसा प्रश्न किया, उत्तर मिला "अपनी महिमा में ।" उसका अर्थ है कि— आत्मीय रूप से वरण किये गए भक्त में जो महिमा रूप सर्वात्मभाव है, उसी स्वरूपात्मक महिमा में प्रतिष्ठित है । भगवदात्मक होने से ही सर्वात्मभाव की महिमा हैं । इस भाव के अतिरिक्त भाव पुरुषोत्तम के प्रापक नही है, यही भाव उनका प्रापक है, यही परमकाष्ठा को प्राप्त महिमाशाली है, यही भाव महिमा शब्द से कहा गया है । ये सर्वात्मभाव वियोगावस्था मे ही व्यभिचारिभावों से अच्छी तरह व्यक्त होता है । वे भाव अनियत अपरिमित स्वभाव का है, इस बात को स्पष्ट करने के लिए 'एवाधस्तात्" इत्यादि से "आत्मैवेदं सर्वम्" तक उन्हें तीन प्रकार का निरूपण करके, भूम प्रतिष्ठा के अधिकरण के प्रश्न के उत्तर में "स्वे महिम्नि" कह कर उसी का अनुबंध किया गया है । "स वा एष" इत्यादि वाक्य से, तत् शब्द से पूर्व वस्तु का ही उल्लेख किया है । इस प्रकार आपकी अन्यत्र अप्रतिष्ठा की बात का भी प्रतिपादन हो जाता है । यदि उक्त रीति का अनुबंध नहीं स्वीकारते और अहंकार आदेश आदि को भी नहीं स्वीकारते तो उक्त प्रश्नोत्तर में "स्वान्यवत् स्वभावात् न क्वापि" ऐसा उत्तर देते । इसलिए आपको हमारे कहे मार्ग का ही अनुसरण करना चाहिए ।

आदिपदात् त्रिविधा ये भावा उक्तास्तेषामपि स्वरूपमेवं पश्यन्नेवंमन्वानएवं विजानन् इति क्रमेण यन्निरूपितं तदुच्यते । पूर्वं हि अति विगाढ़ भावेन

तदितरास्फूर्त्या तमेव सर्वत्र पश्यति । एतदेवोक्तमेवं पश्यन्नित्यनेन । ततः किंचिद् बाह्यानुसंधानेऽहंकारादेशो भवति । स त्वहमेव सर्वतः स्वकृतिसामर्थ्येन तं प्रकटी करिष्य इति मनुते । करोति च तथा । अतएवान्वेषण गुणगाने कृते ताभिः । एतदेवोक्तमेनं मन्वान इत्यनेन । ततोनिरुपधिस्नेह विषयः पुरुषोत्तम आत्मशब्देनोच्यते इति तदादेशो भवति । तदा पूर्वकृत स्वसाधन वैकल्य ज्ञानेनातिदैन्ययुक्त सहज स्नेहज विविध भाववान् भवति तदेतदुक्तमेवं विजानन्नित्यनेन, अतएवोपसर्ग उक्तः । ततोऽति दैन्याविर्भावे सति या अवस्थास्ता निरूपिता आत्मरतिरित्यादिना अत्रात्मशब्दाः पुरुषोत्तम वाचका ज्ञेयाः । अन्यथोपचारिकत्वं स्यात मुख्ये संभवति तस्यायुक्तत्वात् ।

आदिपद से जो त्रिविधभाव कहे गए, उनके स्वरूप भी "इस प्रकार देखकर, इस प्रकार मानकर, इस प्रकार जानकर," इस क्रम से बतलाए गए हैं, वे ही हैं । पहिले अति विगाढभाव से वह रहता है, उस स्थिति में इतर भाव का स्फुरण नहीं रहता, वही सर्वत्र दीखता है । "एवं पश्यन्" से उसी भाव का उल्लेख है । उस स्थिति के बाद कुछ ब्रह्मानुभूति होने से अहंकार भाव होता है, उस समय अनुभूति होती है कि—वह मैं ही हूँ, सब ओर अपने कृति सामर्थ्य से उसे प्रकट करता हूँ, यह भावगोपियों ने कृष्णान्वेषण के समय किये हुए गुणगान में प्रकट किया था, "एनं मन्वानं" में इसी प्रकार का उल्लेख है । उसके बाद सहज स्नेह के भाजन पुरुषोत्तम का आत्म शब्द से उल्लेख है, उस आत्मा की जब अनुभूति होती है तब, पूर्वकृत अपने किए गए सभी साधनों की विफलता का ज्ञान होता है जिसके फलस्वरूप दीनता समन्वित सहज स्नेह से अनेक भाव उत्पन होते हैं । "एवं विजानन" से उसी का उल्लेख किया है, अतिदैन्य के आविर्भाव होने पर जो अवस्था "आत्मरति" इत्यादि पदों से दिखलाई गई है, वहाँ आत्म शब्द पुरुषोत्तम वाचक ही जानने चाहिए । यदि उक्त प्रासंगिक आत्म शब्दों को पुरुषोतम वाची नहीं मानेंगे तो वे औपचारिक सिद्ध होंगे, यदि उन्हें मुख्य जीववाची मानेंगे तो वे सारे वाक्य ही असंगत हो जावेंगे ।

ननु सर्वात्मभावस्यापि मुक्तौ वर्यवसानमुतनेति ? संशय निरासाय दृष्टान्तमाह—प्रज्ञान्तरपृथक्त्ववदिति । मुमुक्षुभक्तस्य स्वेष्टदातृत्वेन भगवद् विषयिणी या प्रज्ञा स सर्वात्मभाववद् भक्तप्रज्ञातः प्रज्ञान्तरम् इत्युच्यते । तच्च कर्मज्ञानं तदितरभक्तप्रज्ञाभ्यः पार्थक्येन तदिष्टमेव साध्यति । तथा सर्वात्मभा-

वक्तो भक्तस्य यत्प्रकारिका भगवद्विषयिणी प्रज्ञा तमेब प्रकारं स भावः साधयति नान्यमिति न मुक्तौ पर्यवसानमित्यर्थः। अत्र व्यासः स्वानुभवं प्रमाण-त्वेनाह—दृष्टश्चेति । उक्त भाववतो भक्तस्य प्रभुस्वरूप दर्शनाद्यतिरिक्त-फलाभावोऽस्माभिरेव दृष्ट इत्यर्थः। एतादृशा अनेके दृष्टा इति नैकस्य नाम गृहीतम्। अत्र शब्दमपि प्रमाणमाह—तदुक्तमिति, भगवतेति शेषः । श्री भागवते दुर्वासस प्रति "अहं भक्त पराधीन" इत्युपक्रम्य "वशी कुर्वन्ति माँ भक्त्या सत्स्त्रियः सत्पतिं यथा" इति । यो हि यद्वशीकृतः स तदिच्छानुरूपमेव करोत्यतो न सायुज्यादिदानं, किन्तु भजनानंद दानमेव । तेषांमुक्त्यमिच्छा तु "मत् सेवया प्रतीतं च सालोक्यादिचतुष्ठयम्, नेच्छन्ति सेवयापूर्णः कुतोऽन्यत् काल विप्लुतम्" स्वर्गापवर्गनरकेष्वपि तुल्यार्थ दर्शिनः । "सालोक्यसार्ष्टि सामीप्य सारूप्यैकत्वमप्युत, दीयमानं न गृह्णन्ति बिना मत्सेवतं जनाः" इत्यादि वाक्य सहस्रै निर्णीयते ।

सर्वात्मभाव का भी मुक्ति में ही पर्यवसान होता है या नहीं ? इस संशय पर दृष्टान्त देते हैं—"प्रज्ञान्तरपृथक्त्ववत्" अर्थात मुमुक्षु भक्त की अपनी इष्ट दानता रूप से जो भगवद् विषयिणी प्रज्ञा होती है, वह सर्वात्मभाव, वाले भक्त की प्रज्ञा से, भिन्न कही गई है । जो कि—कर्मज्ञान और उनसे भिन्न भक्त प्रज्ञाओं से पृथक होने से, उनके इष्ट का ही साधन करती है । सर्वात्मभाव वाले भक्त की जिस प्रकार की भगवद् विषयिणी प्रज्ञा होती है उसी प्रकार के भाव का साधन करती है, अन्य प्रकार का साधन नहीं करती, इसलिए सर्वात्मभाव का मुक्ति में पर्यवसान नहीं होता। इस विषय में व्यास जी अपने अनुभव को, प्रमाणरूप से प्रस्तुत करते हैं—"दृष्टश्च" अर्थात् उक्त भाव वाले भक्त का प्रभुस्वरूप दर्शन के अतिरिक्त कोई दूसरा फल नहीं होता, ऐसा हमने भी देखा है । इस प्रकार के अनेक भक्त देखे हैं इसलिए किसी एक का नाम नहीं लिया । इस विषय में शब्द भी प्रमाण हैं, इस भाव को बतलाने के लिए सूत्रकार कहते हैं—"तदुक्तम्" अर्थात् भगवान ने ही कहा है—श्री भागवत में दुर्वासा से भगवान कहते हैं कि—"मैं भक्त के पराधीन हूँ" भक्त लोग मुझे पतिव्रता स्त्री की तरह वश में कर लेते हैं ।" इत्यादि जो जिसे वंशगत कर लेता है, वह वंशगत उसकी इच्छा के अनुसार करता है, इसलिए भगवान भक्त को सायुज्य आदि मोक्ष न देकर भजनानंद प्रदान करते हैं, क्योंकि भक्त को मुक्ति की इच्छा नहीं होती जैसा कि—"भक्तों को मेरी सेवा में ही सालोक्य आदि मुक्तियों की प्रतीति होती है, वे सेवा से पूर्ण भक्त कहीं अन्यत्र कालक्षेप

नहीं करना चाहते, वे स्वर्ग अपवर्ग और नर्क में तुल्य रूप से ही फल को देखदे हैं। वे सालोक्य, सार्ष्टि, समीप्य और सारूप्य दिये जाने पर भी, मेरी सेवा के अतिरिक्त उन्हें नहीं स्वीकारते।" इत्यादि अनेकों वाक्यों से उक्त तथ्य की पुष्टि होती है।

न सामान्यादप्युपलब्धे मृ त्युवन्न हि लोकापत्तिः।३।३।५१॥

ननु "नान्यत् पश्यति" इत्यारम्य सर्वस्य प्रपाठकस्य सर्वात्मभाव निरूपकत्वोक्तिरनुपपन्ना। अतएवात्मपदानां पुरुषोत्तम परत्वोक्तिश्च। यतस्तस्य मुक्तावपि कामाभावः प्रतिपाद्यते। अत्र तु "तस्य सर्वेषु लोकेषुकामाचारो भवति" इति श्रुतिः पठ्यते। एवं सति न तन्निरूपणं अत्रेति वा वाच्यम् तद्भावतोऽप्यन्य कामवत्त्वमिति वा। द्वितीयस्योक्तप्रमाण पराहतत्वेनाद्यपक्ष एवाश्रयणीय इति पूर्वपक्ष निरस्यति। नेति—तन्नहेतुमाह—सामान्यदप्युपलब्धेः इति। तत, समानधर्म योगादपि तत्प्रयोगः श्रुतावुपलभ्यतेऽनेकशो यतः। प्रकृतेऽपि विविधानां लोकानां विविध सुख प्रधानत्वाद् भगवत्संबंधिषु सर्वेषु सुखेषु कामचारो भवतीति श्रुतेरर्थो ज्ञेयः।

"नान्यत् पश्यति" से लेकर सम्पूर्ण प्रपाठक की सर्वात्मभाव निरूपक उक्ति सही रूप से नहीं बन पाई है, इसलिए आत्म पदों की पुरूषोत्तम परक उक्ति भी नहीं बन पाई है। इसलिए मुक्त होने पर भी उनके सकाम भाव का प्रतिपादन किया गया है—"सभी लोकों में उनकी कामचार गति होती है" इत्यादि श्रुति में स्पष्टोल्लेख है। उनका निरूपण उक्त प्रकरण में नहीं है या तो ये कहें, या सर्वात्मभाव वाले होकर भी उन्हें अन्य कामनाओं की अभिलाषा रहती है, ऐसा मानें द्वितीय बात तो "सर्वेषु लोकेषु" आदि प्रमाण से ही कट जाती है, इसलिए पहली बात ही माननी चाहिए, इस मत का निराकरण करते हुए सूत्रकार कहते हैं—नहीं; उनके समान धर्म योग से भी, श्रुति में, उनका प्रयोग बहुलता से मिलता है। इसलिए उनके (सर्वात्मभाव वाले भक्तों के) लिए भी, विविध सुखों वाले विभिन्न लोकों की प्राप्ति, भगवत्संबंधी सुखों में कामचार होता है इस भाव से कहा गया है।

ननु यथाश्रुत एवार्थोऽस्तुतत्राह—"न हि लोकापत्ति" इति, सर्वात्मभाववत् इति प्रकरणाद् "नान्यत पश्यति,, इत्यादि धर्मविशिष्टस्यात्मनः प्राणादि सर्व-

वतो लोकेसंबंधे युक्तिसहोऽपि नेति ज्ञापनाय हि शब्दः। किंच एतदग्रे "न पश्यो मृत्युं पश्यति" इति श्रुत्या यथामृत्युर्निषेधः क्रियते तथा "आत्मन एवेदं सर्वम्" इति श्रुत्यैवकारेणात्मातिरिक्त व्यवच्छेदः क्रियत इति मृत्युवल्लोकोऽपि न संबंध्यत् इत्याह—मृत्युवदिति —तत्र रोगादीनामपि दर्शन निषेधे सत्यपि मृत्योरेव यन्निदर्शनमुक्तं तेन भक्तानां लोकान्तरसंबंधः तत्तुल्य इति ज्ञाप्यते अतएव, "नोतदुःखमिति दुःख सामान्य निषेवेऽग्रे कृतः।

जैसा श्रुति का अर्थ है वही सही है, लौकिक युक्ति उस संबंध में नहीं दी जा सकती, सर्वात्मभाव की तरह, "नान्यत पश्यति" इत्यादि धर्मविशिष्ट आत्मा, प्राण आदि समस्त वस्तुओं से सम्बद्ध होते हुए भी, लौकिक आत्माओं से विलक्षण है। उक्त प्रसंग में ही आगे—"न पश्यो मृत्युं पश्यति" इत्यादि श्रुति से जैसे मृत्यु का निषेध किया गया है वैसे ही "आत्मन एवेदं सर्वम्" इत्यादि श्रुति से,—"एव" पद से,आत्मा से अतिरिक्त जागतिक पदार्थों का व्यवच्छेद किया गया है। मृत्यु की तरह, लोक से भी संबंध नहीं है, अर्थात् उक्त वाक्य में सर्वात्मभावसंपन्न जीव को रोग आदि से रहित बतलाया गया है पर मृत्यु को आवश्यक बतलाया है, जिससे निश्चित होता है कि—ऐसे भक्तों का लोकान्तर संबंध, सामान्य जीवों की तरह ही होता है :"नोत दुःखम्" इत्यादि में तो सामान्य दुःखों का निषेध है।

परेण च शब्दस्य ताद्विध्यं भूयस्त्वात्वनुबंधः।३।३।५२।।

अत्र हेत्वन्तरमाह, अस्मिन्नेव श्लोके "सर्वमाप्नोति सर्वश" इति परेण पदेन शब्दस्य श्रुति वाक्यस्यात्मन एवेदं सर्वम् इति यत् पूर्वोक्ति श्रुति वाक्यं तद्विधतैव प्रतीयते इति न लोक संबंधो वक्तुं शक्य इति अर्थः। नन्वात्मन एवेदं सर्वमिति यत्पूर्वं श्रुति वाक्यं तेनैवैतदर्थलाभे पुनस्तदुक्तिनोचितेत्याशंकायां तत्र हेतुमाह—तु शब्दः शंकानिरासे। भूयस्त्वाद् हेतोः। उक्तेऽर्थे हेतूनां बाहुल्ये तद् दाढ्यं भवति इत्याशयेनोक्तार्थस्यैव श्लोकेनानुबंधः कृत इत्यर्थः। अथवा भूयः पदमाधिक्यार्थम्। तथा च स्वकृत साधनसाधित फलापेक्षया स्वयमुद्यम्यभगवता साधितफले निरवधिरुत्कर्ष इति ज्ञापनाय पुनः श्लोकेन तथेत्यर्थः।

उक्त बात को सिद्ध करने के लिए दूसरा हेतु प्रस्तुत करते हैं कहते हैं कि—इसी श्लोक में—"सर्वमाप्नोति सर्वश" इत्यादि पर पद से श्रुति वाक्य

की, "आत्मन एवेदं सर्वम्" पूर्वोक्त श्रुति वाक्य की तरह, तद्विधता प्रतीत होती है, इसलिए अनेक संबंध की बात नहीं कह सकते । संशय करते हैं कि— "आत्मन एवेदं सर्वम्" इस पूर्व श्रुति वाक्य में जो कह चुके थे उसे ही पुनः कहना तो पुनरुक्ति दोष है । उसका उत्तर देते हैं—"भूयस्त्वाद् हेतोः" अर्थात् उक्त अर्थ में अनेक हेतु हैं इस बात की पुष्टि के लिए, पूर्वकथित अर्थ को पुनः श्लोकानुबंधित किया गया है । भूयः पद अधिकता का भी द्योतक है । स्वकृत साधन साधित फल की अपेक्षा से, स्वयं उद्योग करने से साधित फल में निरन्तर उत्कर्ष होता जाता है, इस बात को बतलाने के लिए भगवान व्यास देव ने अर्थ की पुनरुक्ति की है ।

एक आत्मनः शरीरेभावात् ।३।३।५३।।

उक्तेऽर्थे श्रुत्यन्तरसम्मतिमप्याह—एकेशाखिनस्तैत्तरीयाः शरीरे, भक्त शरीरे हृदयाकाश इति यावत् तत्रात्मनो भगवतोभावाद्, आविर्भावाद् तेन सह सर्व कामोपभोगं वदन्तीं श्रुति पठन्ति—"सत्यंज्ञानमनन्तं ब्रह्म, योवेद निहितं गुहायां परमेंव्योमन् सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता" इति अत्रोपक्रमे "ब्रह्मविदाप्नोति परम् " इति श्रुतिरक्षर ब्रह्मविदः परब्रह्म प्राप्ति सामान्यत उक्त्वा, विशेषतः कथनार्थं "तदेषाऽभ्युक्ता" इति वाक्यं तद् ब्रह्म प्रतिपाद्यत्वेनाभिमुखीकृत्यैषा वक्ष्यमाणा ऋक् परब्रह्मविद्भिरुक्तेत्युक्त्वैवमुक्तवती सत्यं ज्ञानमिति । परब्रह्मस्वरूपं अनुभवैववेद्यं न शब्दादिभिवद्यं इति ज्ञापनाय स्वयं तत् तत्व प्रतिपादिका अप्यन्यमुखेन उक्तवती । अत्र ब्रह्मणासह सर्वकामोपभोग उक्त इत्येतदेकवाक्यतायै "सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति" इति । श्रुतेरप्युक्त एवार्थो मन्तव्यः ।

उक्त अर्थ में दूसरी श्रुति की सम्मति भी है, इस भाव से "एक आत्मनः" आदि सूत्र प्रस्तुत करते है । सूत्र का तात्पर्य है कि तैत्तरीय की एक शाखा में शरीर के हृदयाकाश में परमात्मा के आविर्भाव होने पर वह भक्त उन परमात्मा के साथ समस्त कामनाओं का भोग करता है, वह श्रुति इस प्रकार है—"ब्रह्म, सत्य ज्ञान और अनन्त रूप है, जो अपनी हृदयस्थ गुहा के परमाकाश में उसको जानता है, वह बुद्धिमान ब्रह्म के साथ समस्त कामनाओं का भोग करता है ।" इस प्रसंग के उपक्रम में "ब्रह्मविदाप्नोति परम् "इत्यादि श्रुति, अक्षर ब्रह्मविद् की परब्रह्म प्राप्ति, सामान्य रूप से बतलाकर विशेष प्राप्ति को बतलाने के लिये "तदेषा अभ्युक्ता" इत्यादि उस ब्रह्म को प्रतिपाद्य

बतलाने वाली ऋचा परब्रह्म के ज्ञाता की बात को पुनः "सत्य ज्ञान "आदि से कहती है परब्रह्म का स्वरूप एक मात्र अनुभव से ही ज्ञेय है, शब्दादि से नहीं है। इस बात को बतलाने के लिये स्वयं उस तत्व का प्रतिपादन करते हुये भी अन्य-अन्य प्रकार से तत्व का विवेचन करती है। उक्त प्रसंग में ब्रह्म के साथ समस्त कामनाओं के उपभोग की बात एक ही वाक्य में कही गई है "सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति" इत्यादि। श्रुति भी पूर्वोक्त अर्थ की पुनरुक्ति कर रही है।

व्यतिरेकस्तद्भावाविभावित्वान्न तूपलब्धिवत्। ३।३।५४।।

ननु "ब्रह्म विदाप्नोति परम्" इति श्रुत्या अक्षर ब्रह्मविदः परब्रह्म प्राप्तिरुच्यते। तत्रेतरसाधन सापेक्षं ब्रह्मज्ञानं परं प्रापयति, उत तन्निरपेक्षमिति ? भवति संशयः। अत्र श्रुतौ तन्मात्रोक्तेरितरनिरपेक्षं एव तत्तथा इति पूर्वपक्षः। सिद्धान्तस्त्वेवं सति ज्ञानमार्गीयाणामपि पर प्राप्तिः स्यात्। सात्वनेकप्रमाणबाधितेति पूर्वमवोचाम्। किंच ज्ञान शेषभूतब्रह्मापेक्षया फलात्मकस्य परस्य मुख्यत्वात् "तदेषाअभ्युक्तेति" श्रुतिस्तदेव प्रतिपाद्यत्वेनाभिमुखीकृत्य ऋगुक्तेत्याह। तेन तत्र ब्रह्मपदं पुरुषोत्तमपरे ज्ञायेते। तथा च गुहाया यद्याविर्भूत परमं व्योम पुरुषोत्तम गृहात्मकमक्षरात्मकं व्यापि वैकुण्ठं भवति तदातत्र भगवानाविर्भवतीति तत्प्राप्तिर्भवतीत्युच्यते। "यो वेद निहितं गुहायां परमेव्योमन्" इत्यनेन। तथा च ज्ञानिनां गुहासु परमव्योम्नो व्यतिरेक एव तत्र हेतुमद् भावाभावित्वादिति। "यमेवैषवृणुते" इति श्रुतेर्वरणाभावे भगवद् भावस्यासंभवाज्ज्ञानिनां तथा वरणाभावाद् भगवद् विषयको भावो न भावीति तथेत्यर्थः।

"ब्रह्मविदाप्नोति परम्" श्रुति से अक्षरब्रह्मविद् की परब्रह्म प्राप्ति कही गई है। संशय होता है कि—इतर साधन सापेक्ष ब्रह्म ज्ञान, पर प्राप्ति कराता है, या निरपेक्ष ? श्रुति में तो केवल मात्र अक्षर ब्रह्म की ही चर्चा है, अतः निरपेक्ष ही समझ में आता है किन्तु सिद्धांत तो यही है कि–ज्ञानमार्गीय जीवों को भी पर प्राप्ति होती है। पूर्वपक्ष की बात तो अनेक प्रमाणो से कट जाती है। ऐसा पहिले दिखला भी चुके है। ज्ञान शेष भूत ब्रह्म की अपेक्षा, फलात्मक परब्रह्म मुख्य है इस बात को दिखलाने के लिये ही "तदेषा अभ्युक्ता" इत्यादि ऋचा प्रस्तुत की गई है। अतः उक्त प्रसंग में "ब्रह्म" पद पुरुषोत्तम परक ज्ञात होता है।" यो वेद निहितं गुहायां परमेव्योमन्" इत्यादि श्रुति में दिखलाया गया है कि—गुहा में आविर्भूत परम व्योम पुरुषोत्तम गृहात्मक अक्षरा–

त्मकव्यापी वैकुण्ठ ही है, वहीं भगवान का आविर्भाव होता है, ज्ञानियों की गुहाओं में जो परम व्योम है वह व्यतिरेक मात्र है, उसमें हेतुमद् भाव का अभाव है। "यमेवैषवृणते" श्रुति में, स्पष्ट रूप से, वरण के अभाव में भगवद्भाव की असंभावना बतलाई गई है, ज्ञानियों का वरण प्रभु नहीं करते अतः उनमें भगवद्विषयक भाव नहीं होता।

ननु ज्ञान विषयत्ववदाविर्भावोऽप्यस्तु। किंच तदतिरिक्तमाविर्भावमपि न पश्याम इत्याशंकायामाह—'नतूपलब्धिवद' इति—उपलब्धिर्ज्ञानं, तद्वद् गुहायामाविर्भावोनभवतीत्यर्थः। यस्मैभक्ताय यल्लीला विशिष्टं स्वरूपमनुभावयिता प्रभुर्भवति तद् गुहायां तल्लीलाश्रयभूतमक्षरस्वरूपं वैकुण्ठलोकवदाविर्भावयति इति नोक्तशंकालेशोऽपि यत्र पुरुषोत्तमस्य चाक्षुषत्वं तत्र ततोऽधःकक्षस्य तस्य तथात्वे का शंका नाम। एतदुपपादितं पूर्वम्, विद्वन्मण्डने च।

ज्ञानमार्गीय कहते हैं कि—ज्ञान विषयत्व की तरह आविर्भाव भी होता है, उसके अतिरिक्त तो आविर्भाव कहीं देखा भी नहीं जाता। इस पर सूत्रकार कहते हैं—'न तूपलब्धिवत्' अर्थात् ज्ञानवान की गुहा में आविर्भाव नहीं होता। प्रभु, जिस भक्त को जिस लीला विशेष के स्वरूप का अनुभव कराना चाहते हैं, उसी लीला के आश्रयभूत अक्षर स्वरूप वैकुण्ठ लोक की तरह, उस भक्त की गुहा में प्रकट करते हैं अतः उस शंका की गुन्जायश ही नहीं है। जहाँ पुरुषोत्तम स्वरूप का साक्षात्कार होता है, वहाँ उसके नीचे के कक्ष में उसके अनुसार प्राप्ति की बात में शंका करने की क्या आवश्यकता है? अर्थात् जिन्हें पुरुषोत्तम का साक्षात्कार होता है उन्हे तो नीचे के कक्ष के अक्षर आदि का साक्षात्कार हो ही चुका। उसका उपपादन हम पहिले भी कर चुके हैं, विद्वन्मन्डन् ग्रन्थ में भी इस पर विचार किया है।

ननु ज्ञानिज्ञान विषय भक्त गुहाविर्भूताक्षरयोर्भेदोऽस्ति न वा? नाद्यः मानाभावादेकत्वेनैवसर्वत्रोक्तेः। न द्वितीयः निरवयवस्य क्वचिल्लोकरूपत्वात्तद्रूपत्वामामेकत्वानुपत्तेरितिचेन्मैवम् लोकरूपत्वस्य पश्चाद्भावित्वे ह्ययमनुपपत्तिर्नत्वेवं, किन्त्वक्षरस्वरूपमेव तथेति श्रुतिराह "अम्भस्यपारे भुवनस्य मध्य" इत्युपक्रम्य "तदेव भूतं तदुभव्य मा इदं तदक्षरे परमेव्योमन्" एतदग्रे च "यमन्तः समुद्रे कवयो वयन्ति यदक्षरे परमे प्रजा" इत्यादि रूपा। स्मृतिऽपि—"परस्तस्मात्त भावोऽन्योऽव्यक्तो व्यक्तात् सनातनः" यः स सर्वेषुभूतेषुनश्यत्सु न

विनश्यति", अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम् "यं प्राप्य न निवर्त्तन्ते तद्धाम परमंमम" इत्यादि तु गीतासु । श्री भागवतेऽपि—"दर्शयामास लोकं स्वं गोपानां तमसः परं सत्यंज्ञानमनंतं यत् ब्रह्म ज्योतिः सनातनम्, यद् हि पश्यन्ति मुनयो गुणापाये समाहिता "इति दशमे । द्वितीये च—"तस्मै स्वलोकं भगवान् समाहितः संदर्शयामास "इत्युपक्रम्य कालत्रिगुण माया संबंधराहित्य-मुक्त्वा भगवत्पार्षदानुक्त्वा विमानप्रमदा उक्त्वा श्रीरुक्ता । तथा च श्रुतिस्मृत्येकवाक्यतायां तादृक्स्वरूपमेवाक्षरमिति निर्णयो भवति ।

प्रश्न होता है कि—ज्ञानी के ज्ञान विषय और अक्षर में तथा भक्त की गुहा में आविर्भूत तत्त्व और अक्षर में भेद है कि नहीं ? ज्ञानी के ज्ञान विषय अक्षर में तो कोई भेद नहीं है, उन दोनों को सभी जगह एक बतलाया गया है । यदि कहें कि—भक्त के आविर्भूत तत्त्व और अक्षर में भेद है, क्योंकि—निराकार, लोकरूपता की चर्चा शास्त्र में मिलती है । सो कथन असंगत है लोकरूपता तो बाद में होने वाला रूप है जो कि इस रूप के समान नहीं होता किन्तु यह रूप तो अक्षर ही होता है जैसा कि श्रुति का कथन भी है—"समुद्र के पार भुवन के बीच में" इत्यादि उपक्रम करके "वही भूतकाल में था वही भविष्य में होगा, ये सारा विश्व उस अक्षर परम व्योम में नहीं है ।" उसके बाद भी और—"जो समुद्र के भीतर व्याप्त है, जिस परम अक्षर में सारी प्रजा व्याप्त है ।" इत्यादि । स्मृति में भी जैसे—"इस व्यक्त जगत से वह अव्यक्त सनातन परतत्त्व भिन्न है, जो कि समस्त भूतों के नष्ट हो जाने पर भी, नष्ट नहीं होता, उसे अव्यक्त अक्षर कहते हैं वही परम गति है, जिस मेरे परं धाम को प्राप्त करने के बाद कोई नहीं लौटते" इत्यादि गीता का वचन है, श्रीभागवत में भी—"गोप ग्वालों को श्री कृष्ण ने अपना, अन्धकार रहित परं दिव्यधाम दिखलाया जो कि—सत्य ज्ञान अनंत ज्योति रूप सनातन ब्रह्म है, जिसे कि, निर्गुण स्थिर चित्त मुनि ही देख पाते हैं" ये दशम स्कन्ध का वाक्य है द्वितीय स्कन्ध में भी—"तस्मै स्वलोकं भगवान समाहितः संदर्शयामास" इत्यादि उपक्रम करके उस स्थान का त्रिगुणमाया संबंध राहित्य बतलाकर, उस स्थान में जाने वालों को भगवत् पार्षद बतलाकर, विमान अप्सरा आदि का उल्लेख कर श्री वैभव की बात कहते हैं । इस प्रकार श्रुति स्मृति की एक वाक्यता से निर्णय होता है कि भक्तों को अनुभूत होने वाला स्वरूप ही अक्षर है ।

एवं सति सच्चिदानंदत्वदेशकालापरिच्छेदस्वयम्प्रकाशत्वगुणातीतत्वादिधर्म-

वत्वेनैवज्ञानिनामक्षर विज्ञानं, भक्तानामेव पुरुषोत्तमाधिष्ठानत्वेन तथेति ज्ञेयम्। "मल्लानामशनिः" इति श्लोकोक्तरीत्या पुरुषोत्तमस्येव प्रभुणा ये यथा विचारिताः सन्ति ते तथा भवन्ति इतितद् विचार एव सर्वेषामधिकार रूप इति कृतप्रयत्ना-पेक्षास्त्वित्यत्र निर्णीतम्।

इस प्रकार सच्चिदानन्दत्व, देशकाल अपरिच्छेद, स्वयंप्रकाशत्व, गुणातीतता आदि धर्मों वाला ही ज्ञानियों का अक्षर विज्ञान है तथा भक्तों का उक्त गुणों वाला पुरुषोत्तम भी है। श्री भागवत के "मल्लानामशनिः" इत्यादि श्लोक में पुरुषोत्तम के ही स्वरूप का वर्णन है उक्त श्लोक में दिखलाया गया है कि—जो जैसा विचार करता है, प्रभु तदनुसार ही रूप धारण करते हैं, वह विचार ही सबका अधिकार सिद्ध करता है, इससे यही निर्णय होता है कि—प्रभु साक्षात्कार प्रयत्न सापेक्ष है।

अस्मिन्नर्थे कैमुतिकन्यायकथनार्थं निदर्शनत्वेनोत्तरं पठति—

इस अर्थ में कैमुतिकन्यायानुसार निदर्शन रूप से उत्तर देते हैं—

अंगावबद्धास्तु न शाखासु हि प्रतिवेदम् ।३।३।५५।।

यागे तत्तद् ऋत्विङ्नियतकर्त्तव्यान्यन्वाधानादीन्यंगानि तत्रावबद्धाः सर्व एकर्त्विजो यजमानेन। "अवबंधनं नामाध्वर्यु त्वां वृणे होतारं त्वां वृण उद्गातारं त्वां वृणे" इत्यादि रूपं वरणमेवान्यथा सर्वं कर्म विदुषां तत्कृतिपटूनां एकत्राधिकारो, नान्यत्रेति नियमो न स्यात्। तस्य तस्य यथा वरणे तु यजमानेच्छैव हेतुः। ते च तदा न सर्वास शाखासु विहितान्यंगानि कर्त्तुं सर्वेऽपि शक्ताः, किन्तु यजमान वरण नियमता एव तथा। तत्र हेतुमाह। हि यतः कारणात् प्रतिवेदं नियमितान्यंगानि, हौत्रमृचाऽध्वर्यवादि यजुषौद्गात्रं साम्नेति। तथा च अलौकिके वैदिके कर्मणि जीवेच्छापि नियामिका भवति यत्र तत्र किमुवाच्यं प्रतिरोमकूपं सावकाशममितब्रह्माण्डस्थितिमतस्तदीशितुरिच्छैव नियामिका तत्तत्साधनफलसंपत्ताविति।

यज्ञ में, ऋत्विक् द्वारा नियत कर्त्तव्य, अन्वाधान आदि अंगों से सभी ऋत्विक् बंधे रहते हैं, उस बंधन में भी यजमान की वरण रूप क्रिया ही कारण होती है—"अवबंधन नामक अध्वर्यु के रूप में तुम्हें वरण करता हूँ, होता के रूप में तुम्हें वरण करता हूँ उद्गाता के रूप में तुम्हे वरण करता हूँ।"

इत्यादि वचनों से यजमान ही वरण करता है। यदि इस रूप से पृथक्-पृथक् वरण न हो तो प्रायः यज्ञ में सम्मिलित सभी विद्वान् सब कर्मों के ज्ञाता और पटु होते हैं, वे सभी मिलकर सब कर्मों को करने की चेष्टा करें, जिससे नियमित कार्य न हो सके और अव्यवस्था हो। अतः उन उन स्थानों पर यजमान ही अपनी इच्छा से वरण करता है। उस समय वे सब, अपनी इच्छानुसार सब शाखाओं के विहित अंगों का प्रयोग नहीं कर सकते, वे यजमान के वरणी होने से संयमित प्रयोग ही करते हैं। प्रत्येक वेद में, होता, ऋत्विग, अध्वर्यु आदि के यजुष औद्गात्र साम आदि नियमित अंग होते हैं। तथा अलौकिक वैदिक कर्म में, जीव की इच्छा भी नियामिका होती है। इधर-उधर की बात करने से क्या लाभ, उस परमात्मा के प्रतिरोम कूप में अमित ब्रह्माण्ड स्थित हैं उस परमात्मा की इच्छा ही उन उन साधनों और फल संपत्ति में, वास्तविक नियामिका होती है।

मंत्रादिवद्वाऽविरोधः ।३।३।५६।।

ननु पूर्वं कर्मज्ञान निष्ठानामपि भक्तिमार्गीयत्वं यत्र भवति तत्र तथैत्र भगवद्वरणमिति हि सिद्धान्तः। ऋत्विजस्त्वेकस्मिन् याग एकत्र वृतस्य नापरत्रापि तथेति विरुद्धो दृष्टान्त इत्यरुच्या निदर्शनान्तरमाह— । यथैक एव कश्चिन्मन्त्रो बहुषु कर्मसु संबध्यते, कश्चिद् द्वयोः, कश्चिदेकत्रैव तथैव विधानात् तथात्रापीत्यर्थः। आदि पदात् कर्मोच्यते यत्र काम्येनैव नित्यकर्म निर्वाह स्तत्र कामितार्थ साधकत्वे प्रत्यवाय परिहारे अप्येकमेव तदुपयुज्यते। तथा च सर्वतोमुखेऽनेक होतृप्रवरेऽध्वर्यु प्रवरे च गृह्यमाणे, "देवाः पितरः" इत्यादिना यजमानकर्त्तृकाऽनुमंत्रणमेकमेव सर्वत्र संबद्धयते। तथैव विधेयस्तथात्रापि तावद् विधं यदेकमेव वरणं तेन तत्तन्निष्ठाऽनन्तरं भक्ति निष्ठेति न दृष्टान्त विरोध इत्यर्थः। अथवा ओमृत्युदाहृत्यैव मंत्राणामुच्चारणान्मंत्रादिरोंकारः। स यथा ब्रह्मात्मकत्वेनैक एव सर्वमंत्रेषु संबद्ध्यते, तथा वरणमपीति तथेत्यर्थः। यद्यपि इतर निष्ठानन्तरभूत भक्ति निष्ठावतोऽपि वरणं तथाभूतमेकमेवेति नोक्तदोष-स्तथाऽप्युत्कृष्टमार्गे वृतस्य नीचकक्षापादनमनुचितमिति मत्वा पक्षान्तरमुक्तम्। वस्तुस्तु साधन मर्यादया यत्र भक्तिर्दित्सिता तत्र तथेति नानुपपत्तिः काचित्।

पूर्व सूत्रों में ये सिद्धान्त निश्चित हुआ कि—कर्म ज्ञान निष्ठ व्यक्ति भी जब भक्तिमार्गीय हो जाते हैं, तभी उनका भगवद् वरण होता है। एक यज्ञ में, ऋत्विज एक ही जगह वरणी होता है अन्यत्र नहीं हो सकता, ये दृष्टान्त तो उक्त सिद्धान्त के अनुसार विरुद्ध है? इस पर दूसरा निदर्शन प्रस्तुत करते हैं—

जैसे कि—कोई एक मंत्र बहुत से कर्मों से संबद्ध होता है कोई मंत्र दो कर्मों से संबद्ध होता है तो कोई एक ही जगह प्रयुक्त होता है, उसी प्रकार की व्यवस्था उक्त सिद्धान्त में भी है। सूत्र में आदि पद कर्म की ओर इंगन कर रहा है, अर्थात् मंत्र की तरह कर्म भी है, जहाँ काम्यकर्म से ही नित्यकर्म का निर्वाह होता है वहाँ कामितार्थ ही साधक होता है, उस स्थिति में प्रत्यवाय का परिहार भी उसी कर्म से होता है। तथा सर्वतोमुख यज्ञ कर्म में अनेक होता प्रवर और अनेक अध्वर्यु प्रकार के ग्रहण में, "देवाः पितरः" इत्यादि यजमान कर्त्तृक एक ही अनुमंत्रण से सबका संबंध हो जाता है। इसी प्रकार, विधिपूर्वक यदि कर्म ज्ञान आदि किसी भी एक का वरण कर लिया जाय तो उन निष्ठाओं के बाद अंत में भक्ति निष्ठा में ही जाकर उन निष्ठाओं की परिसमाप्ति होगी, अतः उपर्युक्त दृष्टान्त इस प्रसंग में विरुद्ध नहीं है। ॐ का उच्चारण करने के बाद ही मंत्रों का उच्चारण होता है इससे सिद्ध होता है कि—ओंकार आदि मंत्र है, वह जैसे ब्रह्मात्मक होने के कारण सभी मंत्रों से संबद्ध है, वैसे ही भगवद् वरण भी सबसे संबद्ध है। यद्यपि अन्य निष्ठाओं के अन्तरभूत भक्तिनिष्ठावान भी उसी प्रकार वरणीय होता है जैसे कि विशुद्ध भक्तिनिष्ठ व्यक्ति, फिर भी उत्कृष्ट मार्ग में वरणीय व्यक्ति की नीची कक्षा के व्यक्ति से समता करना उचित नहीं है, इसी आशय से द्वितीय पक्ष को प्रस्तुत किया गया है। वास्तव में तो जहाँ साधन मर्यादा से भक्ति की निष्ठा होती है, वहीं सही वरण होता है वहाँ किसी प्रकार की अड़चन नहीं होती।

१९ अधिकरण :—

भूम्नः क्रतुवज्ज्यायस्त्वं तथाहि दर्शयति ।३।३।५७।।

ननु सुख स्वरूप जिज्ञासां "यो वै भूमा तत् सुखम्" इत्युक्तं भूम स्वरूप-जिज्ञासायां "यत्रनान्यतपश्यति" इत्यादिना तद् यन्निरूपितं तत् सर्वात्मभाव-स्वरूपमिति तदुक्तं तन्नोपपद्यते। भूम्नो हि सुखरूपतोच्यते सर्वात्मभावे तु विरह भावे दुःसहदुःखानुभवः श्रूयते। तेन मोक्ष सुखमेव "यो वै भूमा" इत्यादिनोच्यते। "यो वै भूमा तदमृतम्" इति वाक्याच्च अग्रे च "स वा एष एवं पश्यन्" इत्याद्युक्त्वा "तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति" इति फल-मुच्यते। तच्च मोक्षानन्तरमसंभव्यतः स भावो, मोक्षो वात्रोच्यते? इति संशयः। तत्र कामचारोक्तेमुक्तिपूर्वदशायां तन्माहात्म्यनिरूपणार्थत्वादमृत

शब्दाच्च मुक्तिरेव भूमपदेनोच्यते इति पूर्वपक्षः। तत्र भूम शब्देन स भाव एवोच्यते इति सिद्धान्तः।

(तर्क) उक्त भूमा प्रकरण में—सुख स्वरूप की जिज्ञासा करने पर "जो भूमा है वही सुख है" ऐसा उत्तर दिया गया, भूमा के स्वरूप की जिज्ञासा करने पर "जिस स्थिति में दूसरा कुछ नहीं देखता" इत्यादि से जो निरूपण किया गया है, उसे ही सर्वात्मभाव का स्वरूप कहते हो, सो नहीं हो सकता, क्योंकि—भूमा को तो सुख रूप बतलाया गया है, जब कि सर्वात्मभाव में, विरह भाव जन्य दुःसहदुःखानुभव की बात सुनी जाती है इसलिए "यो वै भूमा" इत्यादि से मोक्ष सुख की ही चर्चा प्रतीत होती है "यो वै भूमा तदमृतम्" इस वाक्य से भी यही निश्चित होता है। इसके आगे "जो इसे इस प्रकार देखता है" इत्यादि कहकर "उसकी समस्त लोकों में यथेच्छ गति होती है" इत्यादि फल कहा गया है। यह फल मोक्ष के बाद तो हो नहीं सकता, अतः संशय होता है कि उक्त प्रसंग में, सर्वात्मभाव की चर्चा है या मोक्ष की ? कामचार उक्ति से तो मुक्ति की पूर्वदशा की प्रतीति होती है, मुक्ति के माहात्म्य को बतलाने के लिए ही संभवतः कामचार की बात कही गई है अमृत शब्द के प्रयोग से तो स्पष्ट रूप से ही मुक्ति की चर्चा की गई है इससे, भूमा पद मुक्तिवाची ही प्रतीत होता है; ऐसा पूर्वपक्ष है। भूमा शब्द से सर्वात्मभाव का ही उल्लेख है, ये सिद्धान्त की बात है।

तत्र दुःखदर्शनानुपपत्त्या सर्वाधिकत्व लक्षणं भूमत्वमनुपपन्नमिति शंका परिहरति—भूम्नः सर्वात्मभावस्य ज्यायस्त्वं सर्वस्मान्मंतव्यम् तत्रोक्तानुपपत्ति परिहारार्थं दृष्टान्तमाह—क्रतुवदिति—दर्शपूर्णमास प्रकरणे तैत्तरीयके पठ्यते "परमेष्ठिनो वा एव यज्ञोऽग्र आसीत्तेन स परमां काष्ठांमगच्छत्" इत्युपक्रम्य "य एवं विद्वान्दर्शपूर्णमासौ यजतेपरमामेव काष्ठां गच्छति" इति। यथा व्रतादि दुःखात्मकत्वेऽपि परमकाष्ठा लक्षण फलगमकत्वेन दर्शपूर्णमासयोः सर्वक्रतुभ्योऽधिकत्वं वक्तुं "अग्र आसीत्" इतिश्रूयते, तथा दुःखहेतुत्वेऽप्यनन्यलभ्यसाक्षात् पुरुषोत्तममानंद प्राप्ति हेतुत्वेन सुखरूपत्वमुच्यत इत्यन्येभ्यः सर्वेभ्यज्यायस्त्वं मन्तव्यमित्यर्थः। अत्रोपपत्तिमाह—तथाहि दर्शयति—श्रुतिस्तु "स एवाधस्तात्" इत्यादि उक्त्वा "तथाहंकारादेश" इत्यादि उक्त्वा "आत्मादेश" इत्यादि उक्तत्यग्रे चैतादृशास्यात्मन एव प्राणाशास्मरादि सर्वमिति च दर्शयति एतत् सर्वात्मभाववत्येव सर्वमुपपद्यते, न मुक्तस्य। वृत्तिभेदाभावात् प्राणाद्यभावाच्च। जीवन्मुक्तिदशायां प्राचीनानामेव सत्वात् "आत्मनः प्राणाः" इत्यादि न वदेत्। यद्वा ननु लोकेऽपि शृंगाररस भाववति पुंसिनार्या

च त्वदुक्त भावसंबंधिव्यभिचारिभावाः श्रूयन्ते "सैव सर्वत्र स एव सर्वत्र" इति। एवं सति लौकिक सधर्मत्वान्न त्वदुक्तभावस्य अलौकिक ज्ञानादिभ्य आधिक्यं वक्तुं शक्यमलौकिक विषयत्वाल्लौकिकत्वमपि न तथेति भवति संशयः। तत्र मनुजत्वरिपुत्वादिज्ञानानामिव कामादिभावेन स्नेहभावस्यापि संभवान्नास्यालोकिकत्वमिति पूर्व, पक्षः। सिद्धान्तस्त्वस्य लौकिकेभ्योज्यायस्त्वं मन्तव्यम्।

सर्वात्मभाव में तो विप्रयोग जन्य दुःख की भी अनुभूति होती है, यदि भूमा को, वही मान लें तो, उसे सर्वाधिक श्रेष्ठ कैसे कहा जा सकता है ? इस शंका का परिहार करते हैं—कि भूमा को सर्वात्म मानकर ही सबसे श्रेष्ठ माना जा सकता है, उसके विषय में असंभावना के सम्बन्ध में की गई शंका के परिहार के लिये सूत्रकार उदाहरण देते हैं कि—जैसे यज्ञ में सर्वाधिकता है वैसे ही यहाँ भी है। तैत्तरीय उपनिषद् में दर्शपूर्णमास के प्रकरण में आता है कि—"परमेष्ठी ने ही इस यज्ञ को पहिले किया था जिससे ये परकाण्ठा को प्राप्त हो गया "जो इसे जान कर इस दर्शपूर्णमास का यजन करता है वह विद्वान पराकष्ठा को प्राप्त होता है" इत्यादि। जैसे इस दर्शपूर्णमास को, व्रतादि दुःखात्मक नियमों के होते हुये भी पराकाष्ठा फल वाला सब यज्ञों से श्रेष्ठ कहा गया है, वैसे ही विप्रयोग जन्य दुःख होते हुये भी उपस्थिति में एक अपूर्व पुरुषोत्तम साक्षात् रूप विपुल आनन्द प्राप्त होता है इसलिए उसे विपुल सुख रूप कहा गया है इसीसे उसे अन्य सब से श्रेष्ठ मानना चाहिये। इस सम्बन्ध में सूत्रकार पुष्टि करने के लिये कहते हैं—"तथाहि दर्शयति" अर्थात् श्रुति भी "वही नीचे है" इत्यादि कह कर उसके लिये अहंकारादेश आत्मा-देश आदि का उल्लेख करती हुई उसी आत्मा के लिये प्राण आशास्मर आदि सब कुछ बतलाती हैं, ये सारी बातें सर्वात्मभाववान में ही सम्भव है मुक्त जीव में नहीं। क्यों कि—मुक्ति अवस्था से वृत्तिभेद और प्राण आदि का अभाव रहता हैं। इसे जीवन्मुक्ति दशा भी नहीं कह सकते क्योंकि इस दृश्य में प्राक्तन कर्म की स्थिति रहती है अतः "आत्मनः प्राणः" ऐसा कहना संभव नहीं है।

यदि कहें कि—जैसे लोक में शृंगाररस भाव वाले स्त्री पुरुष भी, सर्वात्म-भाव की तरह, अपने प्रेमास्पद को ही सब जगह देखते हैं, वह भाव भी इस लौकिक भाव के ही समान है, उसे अलौकिक ज्ञान आदि से अधिक नहीं कह सकते, अलौकिक विषय वाला होकर लौकिक की तरह होना सम्भव नहीं है,

ऐसा संशय होता है। इस पर पूर्वपक्ष तो कहता है कि—मनुष्यता शत्रुता आदि की तरह, काम आदि भाव होने से स्नेह भाव भी है, अतः यह अलौकिक नहीं हो सकता सिद्धान्त से इसे लौकिक से श्रेष्ठ माना गया है।

ननूक्तं लोकसाधारण्यं बाधकमिति शंका निरासाय निदर्शनमाह—क्रतुवदिति—यथा दर्शादिषु दोहनाधिश्रयणातंचनव्रीह्यवघातादिपुरोडाश भक्षणादीनां लौकिकक्रियातुल्यत्वेन दर्शनेऽपि न लौकिकत्वम्। लौकिकप्रमाणाप्राप्तत्वादलौकिकतत्प्राप्तत्वात्तथोक्त प्रमाणरूपवरणलभ्यत्वेन श्रुत्युक्तत्वान्न लौकिकत्वमस्य भावस्येतिदिक्।

संशय होता है कि—लोक साधारणता का भाव ही उक्त सर्वात्म भाव में बाधक होता है। इसके निराकरण के लिये सूत्रकार निदर्शन करते हैं कि—"क्रुतुवत्" अर्थात् जैसे दर्श आदि यज्ञों में, दोहन अधिश्रयण, तंचन, व्रीहि अवघात और पुरोडाश भक्षण आदि लौकिक कार्य की तरह दीखते हुए भी लौकिक नहीं है, वैसे ही, सर्वात्मभाव भी लौकिक नहीं हैं, सर्वात्मभाव को कहीं भी लौकिक नहीं कहा गया अलौकिक रूप से ही इसकी गणना की गई है अलौकिक रूप होने से परमात्मा का वरण भी प्राप्त होता है। श्रुति में भी इसका उल्लेख है।

वस्तुतस्तु ग्रामसिंहस्य सिंहस्वरूपत्वेऽपि न तादृरूप्यं वक्तुं शक्यम्। तथा लौकिक पुंसि नार्यां वा तदाभासो रसशास्त्रेनिरूप्यते। तद् दृष्टान्तेन भगवद् भाववद् भक्तिरिति भावनार्थं न तु ॠषीणां लौकिके तात्पर्यं भवितुमर्हति। अत्रोपपत्तिमाह—तथाहि इत्यादि। पूर्वोक्त भाववत् आत्मनः प्राणदिकं सर्वं दर्शयति श्रुतिः "तस्य हवा एतस्यैव पश्यत, "इत्यादिना इतः पूर्वमपि—"स वा एष एवं पश्यन् इत्युपक्रम्य" आत्मरतिरात्मक्रीड आत्ममिथुन आत्मानंद स स्वराड् भवति सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति" इति श्रुतिश्च। नहि-लोक एवं सम्भवत्यात्मपदानां भगवद्वाचकत्वादिति, सर्वोत्तमविषयकभावस्यैव तथात्वं युक्तमिति, चोपपत्तिर्हि शब्देन सूच्यते।

वास्तव में, गाँव में पालित सिंह का स्वरूप सिंह की तरह होते हुए भी उन्मुक्त बनराज के समान रूप वाला तो कह नहीं सकते। रसशास्त्र में, सामान्य स्त्री पुरुषों में होने वाला भाव रसाभास मात्र ही माना गया है। उक्त दृष्टांत में दिखलाया गया है कि—भगवद् भाव की तरह, भक्ति भाव भी है। ॠषिओं का कथन, लौकिक तात्पर्य वाला नहीं हो सकता। पूर्वोक्त भाव की तरह श्रुति इसमें भी, प्राण आदि सब कुछ दिखलाती है। "तस्य ह वा

एतस्यैवं पश्यत्" इत्यादि। इसके पहिले भी "स वा एष एवं पश्यत्" स आत्मरति आत्ममिथुन आत्मक्रीड आत्मानन्दः स स्वराड् भवति सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति" इत्यादि श्रुति भी है। उक्त विशेषतायें लोक में संभव नहीं है आत्मपद भगवत्वाचक है, सर्वोत्तम विषयक भाव का ईश्वरत्व ही युक्त है।

२० अधिकरण :—

नाना शब्दादि भेदात् ।३।३।५८।।

पूर्वाधिकरणैः सर्वात्मभावस्वरूपादिनिर्णयं कृतवान्। अथ मत्स्यादिरूपाणां भगवदवतारत्वमविशिष्टमिति सर्वेषां समस्योपासना कार्येति पार्थक्ये नेति विचारयति। अत्रोपास्याभेदेऽपि रूपभेदादेकत्रोपासकस्यान्यत्रानुपासनलक्षणावज्ञा-संभवादस्या अप्यसिद्धि संभवादपि समस्यैव स कार्येति प्राप्ते सिद्धान्तमाह—सर्वेष्वतारेषु नानैवोपासना कार्या। तत्र हेतुः, शब्दादिभेदादिति। तत्तत्स्वरूप-वाचक शब्दानां मंत्राणां चादिपदादाकारकर्मणां च भेदादित्यर्थः। एतेनैव मिथोविरुद्धानामाकारकर्मणां एकत्र भावनस्याशक्यत्वमयुक्तत्वं चेति भावः सूचितः।

पूर्व के अधिकरणों से, सर्वात्मभाव के स्वरूप आदि का निर्णय किया गया। अब विचार करते है कि—मत्स्य आदि भगवान के सामान्य अवतारों की सामूहिक उपासना करनी चाहिए या पृथक्-पृथक् करनी चाहिए। इनके सबके रूप भिन्न है, जबकि—उपास्य तत्त्व एक ही है, एक की उपासना करने से दूसरे की उपासना में व्यवधान आ सकता है क्योंकि—सबकी उपसना की प्रणाली भिन्न है, अतः जरा भी चूक हो जाने पर अवज्ञा हो सकती है, जिससे बजाय लाभ के हानि होगी, इसलिए सबकी एक साथ उपासना करना ही युक्त है, इस मत पर सिद्धान्त बतलाते हैं कि—सभी अवतारों में भिन्न-भिन्न उपासना करनी चाहिए। सभी के स्वरूप के वाचक भिन्न-भिन्न मंत्र और भिन्न-भिन्न आकार तथा कर्म हैं। आकार और कर्म जब भिन्न हैं तो उनकी एक साथ कैसे संभव है, ऐसा करना असंगत ही होगा।

२१. अधिकरण :—

विकल्पोऽविशिष्ट फलत्वात् ।३।३।५९।।

पार्थक्येनोपासनानि कर्त्तव्यानि इति स्थिते विचार्यते, किमग्निहोत्रदर्शपूर्ण-

मासादिवदेषां समुच्चय उत् फलविकल्प इति ? तत्र विधिफलयोः समानत्वात् समुच्चय इति प्राप्ते निर्णयमाह—उपासनायां विकल्प एव, तत्र हेतुरविशिष्टफलत्वात् । मुक्तिफलकत्वं हि सर्वेषामुपासनानामविशिष्टम् । एवं सत्येकेनैव तत्-सिद्धावपरस्याऽप्रयोजकत्वादग्निहोत्र आदिवन्नित्यता बोधक श्रुत्यभावात्तदर्थिनो विकल्प एव ।

उपासना पृथक्-पृथक् करनी चाहिए, यह तो निर्णय हो गया अब विचार करते हैं कि—अग्निहोत्र, दर्श पूर्णमास आदि की तरह इन अवतारों की उपासना का फल भी एक ही होता है, या फल भी पृथक्-पृथक् होता है विधि और फल दोनों में ही समानता की जाय तो यज्ञादि में जैसे पृथक् विधि होते हुए भी फल में एकता है, उसी प्रकार इन उपासनाओं में भी मानना चाहिए। इस विचार पर निर्णय देते हैं कि—उपासनाओं में विकल्प है, फल सभी का सामान्य रूप से मुक्ति ही है वैसे विशिष्ट आराधना का विशिष्ट फल भी है। एक उपासना की सिद्धि का दूसरी में कोई प्रयोजन नहीं होता, अग्निहोत्र आदि की तरह, उपासना के लिए, कोई नित्यता बोधक श्रुति नहीं है, उसके फल में विकल्प का ही उल्लेख है ।

२२. **अधिकरण :—**

काम्यास्तु यथाकामं समुच्चीयेरन्न वा पूर्व हेत्वभावात् ।३।३।६०॥

येषु तूपासनेषु भिन्नानि फलान्युच्यन्ते, तत्रत्वनेक फलार्थिनस्तत्तत्फलकोपासनानि समुच्चीयेरन्न विशिष्टफलत्वाभावात् । यत्र त्वेकस्यैवोपासनस्य स्वकामितानेकफलकत्वं श्रूयते, तत्र तथैव चेदुपासनं करोति तदा न समुच्चीयेरन्नपि । स्वकामितेष्वेकतरस्य तदन्यफलवैशिष्ट्येनाविशिष्टफलत्वाभावादिति पूर्वहेत्वभावादतिश्लिष्ट प्रयोगाभिप्रायेणोक्तमिति ज्ञेयम् । अथवा कामैक्ये नियतफलकानितानि न समुच्चीयेरन् । अत्र हेतुः स्पष्टः ।

जिन उपासनाओं में भिन्न फल का उल्लेख है, वहाँ अनेक फलार्थी, उन उन फलों की आकांक्षा से उपासना करते हैं, उनमें विशिष्ट फल ही प्राप्त होता है। जहाँ एक की ही उपासना में अपनी अभीप्सित अनेक कामनाओं की प्राप्ति की बात कही गई है, वहाँ उसी प्रकार की उपासना का विधान भी बतलाया गया है। अपनी अभीप्सित एक कामना का फल अन्य से विशेष होता है, उसमें सामान्य फल नहीं होता, इस प्रकार की उपासना में अति क्लिष्ट

प्रयोग होता है, उसमें अन्य उपासनाओं के हेतुओं (उपकरणों) का अभाव रहता है। जहाँ एक ही प्रकार की कामना से समस्त अवतार रूपों की उपासना होती है, वहाँ उनका फल भी निर्धारित होता है।

२३. अधिकरण :—

अंगेषु यथाश्रयभावः ।३।३।६१।।

प्रधानेषु निर्णयमुक्त्वा अंगेषु तमाह—एकार्थसाधकानामुपासनानां भेदे-नांगभेदेऽप्येकतरोपासने फलैक्यादंगानि तत्र समुच्चीयेरन्न वेति ? संशयं निर्णय-माह—उपासनांगानां तदेवाश्रयस्तथा च यदंगं यदुपासनाश्रितं तत्रैव तस्य भाव इत्यर्थः।

प्रधान उपासनाओं का निर्णय करके अब अंग उपासना का निर्णय करते हैं। एकार्थ साधक उपासनाओं में भेद होता है अतः उनमें अंग भेद भी होता है, पर जहाँ फलैक्य होता है ऐसी एकतर उपासना में, अंगों का एक-सा ही रूप होगा या नहीं ? इस संशय पर निर्णय करते हैं कि—उपासना के अंग उपासना के ही आश्रित होते हैं, तथा जो अंग, जिस उपासना के आश्रित है उसका उसी में प्रयोग होगा।

शिष्टेश्च ।३।३।६२।।

तत्तदुपासनं तत्तदंगविशिष्टमेव वेदे शिष्यत इति तथेत्यर्थः चकारादतिरिक्त करणे प्रायश्चित्तोक्तिरपि बाधिकेति सूच्यते।

वेद में, उपासनाओं के अनुसार ही उनके अंगों के प्रयोग का नियम दिया गया है, उससे विपरीत करने पर प्रायश्चित्त का विधान बतलाया गया है।

२४ अधिकरण :—

समाहारात् ।३।३।६३।।

कर्ममार्गीयोपासने निर्णयमुक्त्वा ज्ञानमार्गीयोपासने तमाह अथर्वोपनिषत्सु नृसिंहोपासनादिषु मत्स्यकूर्मादिरूपत्वेनापि स्तुतिः श्रूयते। श्रीभागवते च—"नमस्ते रघुवर्याय" इत्यादि रूपा स्तुतिर्व्रजनाथे। एवं सति रूपभेदेऽपि भगवदवतारस्त्वस्याविशिष्टत्वादेकस्मिन् रूपे रूपान्तर समाहारो दृश्यत इति सर्वरूपत्वेनैकत्रोपासनमपि साध्वित्यर्थः।

कर्ममार्गीय उपासना के संबंध में निर्णय करके, ज्ञानमार्गीय उपासना के संबंध में विचार करते हैं—अथर्वोपनिषदों में जहाँ नृसिंह आदि की उपासना का विधान है वहाँ मत्स्यकूर्म आदि रूपों से भी स्तुति के वर्णन मिलते हैं जैसे कि—श्रीभागवत में ही "नमस्ते रघुवर्याय" इत्यादि स्तुति, अक्रूर ने, ब्रजनाथ श्रीकृष्ण को, की है। इस प्रकार रूप में भेद होते हुए भी, सभी अवतार समान हैं, इस भाव से एक ही रूप में अन्य रूपों का समाहार किया गया है अतः सभी रूपों की एकत्र उपासना भी सुसंगत है।

गुण साधारण्य श्रुतेश्च ।३।३।६४।।

ऐश्वर्यवीर्यादिगुणानां सर्वेष्वतारेषु साधारण्यं श्रूयते तेनधर्मिधर्माणामैक्यात् पूर्वोक्तं साध्वित्यर्थः।

सभी अवतारों में, ऐश्वर्य वीर्य आदि गुण, सामान्य रूप से सुने जाते हैं, क्योंकि—उनमें धर्मि धर्मों का ऐक्य रहता है, अतः वे भी सुसंगत हैं।

२५ अधिकरण :—

न वा तत्सह भावाश्रुतेः ।३।३।६५।।

नन्वेवमुपासनं नित्यमुत वैकल्पिकमिति संशय उक्तरीत्या नित्यत्वे प्राप्ते तन्निषेधमाह—नेति, किन्तु वा विकल्प एवैवमुपासन ऐच्छिकस्तत्र हेतुमाह—सहभावाश्रुतिरिति, नियमतः तेषां रूपाणां सहभाव श्रवणं चेत् स्यात्तदा स्यात्तथोपासनस्य नित्यता न त्वेवमतो विकल्प एवेत्यर्थः।

संशय होता है कि—उक्त प्रकार की उपासना नित्य है या, वैकल्पिक? दर्शपूर्ण आदि यज्ञों की तरह मानने से तो नित्य ही निश्चित होती हैं, इस मत का निषेध करते हैं कि—ये उपासनायें नित्य नहीं वैकल्पिक ही होती हैं। ये ऐच्छिक हैं, क्योंकि नियम से जहाँ उन रूपों का सहभाव सुना जाता है वहाँ तो उन उपासनाओं की नित्यता है, अन्यथा विकल्प है।

दर्शनाच्च ।३।३।६६।।

योऽपि रूपान्तर समाहारपूर्वकमुपास्ते सोऽप्येकं रूपमुपास्यत्वेन मत्वा तत्तथोपास्त इति फलं तस्यैकस्यैव रूपस्य दर्शनं भवति न तु सर्वेषामितोऽपि हेतोर्विकल्प एवेत्यर्थः एतद्दृष्टान्तेन यस्मिन् रूपे यादृक् धर्मवत्वं श्रूयते तादृग्धर्म

विशिष्टमेवैकं रूपमुपास्यमिति व्यास हृदयमिति ज्ञायते । उपासना निर्णयान्ते दर्शनात्मक हेतूक्त्वा सर्वोपासनानां भगवत्साक्षात्कारः फलमिति ध्वन्यते । माहात्म्यज्ञापनार्थं परं सर्वावतार रूपत्वं यथार्थमेव कैश्चिज्ज्ञाप्यते, यथार्थत्वाद्प्यविरोधोति ज्ञेयम् ।

जो लोग रूपान्तर समाहार पूर्वक उपासना करते हैं, वे भी उपास्य रूप से एक ही रूप को मानकर उपासना करते हैं जिसके फलस्वरूप उन्हें एक ही रूप का दर्शन होता हैं। सभी रूपों का नहीं होता, इसलिये भी विकल्प निश्चित होता है । जिस रूप में जिन गुणों की स्थिति सुनी जाती है, उन्हीं गुणों से विशिष्ट रूप को उपास्य रूप से मानना चाहिये, यहीं व्यास जी का हार्दिक मत ज्ञात होता है । उपासना का निर्णय करते हुए अन्त में जो दर्शनात्मक हेतु उपस्थित किया उससे ध्वनि निकलती है कि—सभी उपासनाओं का फल भगवत्साक्षात्कार ही है । कुछ लोग, माहात्म्य की दृष्टि से, परमात्मा के समस्त अवतार रूपों को यथार्थ बतलाते है, यथार्थ दृष्टि से भी उनकी अविरुद्धता निश्चित होती है ।

—

तृतीय अध्याय चतुर्थपाद

१. अधिकरण :—

पुरुषार्थोऽतः शब्दादिति बादरायणः ।३।४।१॥

उपासनाभेदेऽप्युपास्याभेदाच्छाखान्तरोक्त धर्माणामप्युपसंहारः कर्त्तुमुचित इति पूर्वपादे निरूपितम् इति, तन्न्यायेनोत्तरकाण्ड प्रतिपाद्य ब्रह्मफलक सर्वात्मभावेऽपि पूर्वकाण्डप्रतिपादित कर्मणामुपसंहारः प्राप्नोति न वा ? इत्यधुना विचार्यते । विधिपक्षे तु तत् सहकृतस्या फलसाधकत्वमिति सिद्धयति । निषेध पक्षे तु केवलस्येतीममेव पक्षं सिद्धान्तत्वेनाह—"पुरुषार्थं" इत्यादिना । सिद्धान्तेज्ञाने तत्रपूर्वपक्ष संभव इत्यादौ तमेवाह, अतः सर्वात्मभावादेव केवलात् पुरुषार्थः सिद्धयति । कुतः ? शब्दात्, श्रुतेरित्यर्थः । श्रुतिस्तु "नायमात्मा प्रवचनेन" इत्युपक्रम्य "यमेवैषवृणुते" इत्यादिका "ब्रह्मविदाप्नोति परम्" इत्यादिका "तमेव विद्वान् अमृत इह भवति" इति । सनत्कुमारनारदसंवादे "यत्र-नान्यत् पश्यति" इत्याद्यात्मिका छान्दोग्यश्रुतिश्च । एतदादिश्रुतिषु पूर्वोक्तरीत्या केवलस्यैव भगवद्भावस्य फलसाधकत्वं श्रूयते इति तथा ।

उपासना भेद होते हुए भी, उपास्य की एकता के आधार पर शाखान्तरोक्त धर्मों का उपसंहार करना उचित है, ऐसा पूर्व पाद में निरूपण किया गया । इसी नियमानुसार, उत्तरकाण्ड के प्रतिपाद्य ब्रह्मफलक सर्वात्मभाव में भी, पूर्वकाण्ड प्रतिपादित कर्मों का उपसंहार संभव है या नहीं ? यही विचार करेंगे । विधिपक्ष से तो यह, तत् सहकृत रूप से फलसाधक निश्चित होता हैं । निषेधपक्ष में केवल यही फलसाधक है, इसी पक्ष को सिद्धान्त रूप से प्रस्तुत करते हुए "पुरुषार्थ इत्यादि सूत्र कहते हैं । अर्थात् सर्वात्मभाव मात्र से ही पुरुषार्थ की सिद्धि होती है, ऐसा श्रुति से ही निश्चित होता है । श्रुति में—"यह आत्मा प्रवचन से नहीं प्राप्त होता" इत्यादि उपक्रम करके "जिसे वह वरण करता है" इत्यादि "ब्रह्मविद् को प्राप्त करता है" इत्यादि "उसे जानकर यही अमृत होता है" इत्यादि से स्पष्ट रूप से पुरुषार्थ प्राप्ति की बात आती है । सनत्कुमार नारद संवाद में "जिस स्थिति में किसी और को नहीं देखता" इत्यादि छांदोग्यश्रुति भी है । "एतद्" आदि श्रुति में पूर्वोक्तरीति से, केवल भगवद् भाव की ही फलसाधकता कही गई है ।

अत्र "फलमत उपपत्तेः" इत्यत्रैवोपपत्ति हेतुत्वेनानुक्त्वा श्रुतिपदं चानुक्त्वा शब्दपदं यदुक्तवांस्तेन श्रुतिस्मृत्यात्मकः सर्वोऽपिप्रमाण शब्दो हेतुत्वेन व्यासाभिमत इति ज्ञायते। तेन "केवलेन हि भावेनगोप्योगावः खगा मृगाः। येऽन्येमूढधियोनागाः सिद्धा मामीयुरंजसा। यन्न योगेन सांख्येन दानव्रततपोध्वरैः। व्याख्या स्वाध्याय संन्यासैः प्राप्नुयाद् यत्नवानापि।" इत्यादि रूपास्मृरपि संगृह्यते एतेन श्रुत्यादि प्रमाणवादिनामिदंमेवाभिमतं, तद्विरुद्धवादिनामितोऽन्यदिति तेषामप्रमाणिकत्वं ज्ञाप्यते। अतएव स्वनाम गृहीतम्। स्वस्य वेद व्यासकर्त्तृत्वेन तत्रैव यतोभरः। अपरंच वैदिक सिद्धान्ते भगवत्स्वरूपस्यैव स्वतंत्र पुरुषार्थत्वात् प्राप्त तत्स्वरूपाणां मुक्त्यानिच्छाकथनान्मुक्तोपसृप्यव्यपदेशाच्च मुक्तेरपरमपुरुषार्थत्वात् सा भवतु नामाऽन्यैः साधनैः। वस्तुतः परमपुरुषार्थो य उक्त रूपः स तु सर्वात्मभावेनैवेति ज्ञापनाय फलपदमनुक्त्वा पुरुषार्थपदमुक्तम्। एवं सत्यस्य सूत्रस्यार्थान्तिरमपि व्यासाभिमतमिति ज्ञायते। तथा सत्ययंश्लिष्टः प्रयोगः तथाहि पुरुषार्थो भगवान् एव कुतः "अतः शब्दात्" अतः पदविशिष्ट श्रुतिवाक्यादित्यर्थः। तैत्तरीयोपनिषत्सु पठ्यते—"अतः परं नान्यदणीयसँ हि परात् परं यन्महतो महान्तं, यदेकमव्यक्तमनन्तरूपं विश्वं पुराणं तमसः परस्तात्" इति।

"फलमत उपपत्तेः" सूत्र में उपपत्ति के हेतु से जो बात नहीं कही, वही यहाँ पर श्रुति पद न कह कर शब्द पद से कही, जिससे श्रुतिस्मृति सभी प्रमाण हैं, यही शब्द पद के प्रयोग से, व्यासाभिमत ज्ञात होता है। "केवल भाव से ही गोपी, गौ, पशु पक्षी नाग सिद्ध आदि मुझे प्राप्त हुए, जिन्होने योग सांख्य दान व्रत तप यज्ञ, शास्त्राभ्यास संन्यास आदि कोई भी प्रयास नहीं किये थे" इत्यादि स्मृति भी उक्त विषय में उसी प्रकार प्रमाण है जैसे कि—श्रुति को प्रमाण मानने वालों के लिये श्रुति प्रमाण होती है। जो लोग शास्त्र को प्रमाण नहीं मानते उनके लिये, ये ही क्या कोई भी शास्त्र अप्रमाणिक ही है। इसलिये सूत्रकार ने सूत्र में अपना नाम लेकर अपने वेदव्यास कर्त्तृत्व को प्रमाण रूप से सिद्ध किया है।

दूसरी बात ये है कि—वैदिक सिद्धान्त में भगवत् स्वरूप की स्वतंत्र पुरुषार्थता कही गई है, उनके स्वरूपों की प्राप्ति होने पर मुक्ति को भी अनिच्छा बतलाई गई है तथा स्वयं सूत्रकार "मुक्तोपसृप्यव्यपदेशाच्च" सूत्र में मुक्ति की परम अपुरुषार्थता सिद्ध करते हैं, जो कि अन्य साधनों से भी प्राप्त है। वस्तुतः परमपुरुषार्थ का जो रूप कहा गया है वह सर्वात्मभाव ही है, इस

बात को बतलाने के लिये सूत्रकार सूत्र में फलपद न कह कर, पुरुषार्थ पद कहते हैं। सूत्र का व्यासाभिमत दूसरा अर्थ भी ज्ञात होता है इस सूत्र में श्लेषात्मक प्रयोग है। दूसरा अर्थ जैसे—भगवान ही पुरुषार्थ है अतः पद विशिष्ट श्रुति वाक्य से ऐसा ही निश्चित होता है, जैसा कि—तैत्तरीय उपनिषद् का पाठ है—"इसके अतिरिक्त कोई दूसरा अणु से अणु और महान् से महान् नहीं हैं, यही एक मात्र अव्यक्त अनन्त रूप वाला तम से रहित विश्व में, सर्व प्राचीन प्रकाश पुंज है" इत्यादि।

शेषत्वात् पुरुषार्थवादो यथाऽन्येष्विति जैमिनिः ।३।४।२।।

विष्णोरिज्यत्वेन कर्म शेषत्वात् तत् स्वरूपज्ञानपूर्वको यागः फलातिशयहेतुरिति तन्माहात्म्यमुच्यत इत्यर्थवाद रूपं तत्। अत्र दृष्टान्तमाह—"यथान्येष्विति", अन्येषु द्रव्यसंस्कारकर्मसु "यस्यपर्णमयीजुहूर्भवति न पापं श्लोकं श्रृणोति यदांक्तेचक्षुरेव भ्रातृव्यस्य वृंक्ते यत् प्रयाजानुयाजा इज्यन्ते वर्मवा एतद् यज्ञस्य क्रियते वर्म यजमानस्य भ्रातृव्याभिभूत्या" इत्येवं जातीयिका फलश्रुतिरर्थवादस्तद्वदित्यर्थः।

जैमिनि कहते हैं कि—विष्णु का जो यज्ञ रूप से वर्णन किया गया है (विष्णुर्वैयागः) वह कर्म सूचक ही है अर्थात् विष्णु स्वरूप ज्ञान के साथ जो यज्ञ करता है, वह यज्ञ फलातिशय का हेतु होता है, इस दृष्टि से विष्णु के माहात्म्य का विशेष वर्णन किया गया है, जो कि अर्थवाद मात्र है। इस पर दृष्टान्त देते हैं कि—जैसे द्रव्य संस्कार कर्मों में "यस्यपर्णमयीजुहूः भवति न पापं श्लोकं श्रृणोति" इत्यादि फलश्रुति अर्थवाद मात्र है वैसे ही उक्त भगवत् परक श्रुतियाँ भी हैं।

ननु "तमेव विदित्वा मुनिर्भवनि एतमेव प्रव्राजिनो लोकमीप्सन्तः प्रव्रजन्ति" एतदग्रे च "ते ह स्म पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरंति" इति श्रुतिर्भगवज्ज्ञानवतः सर्वत्यागं वदति, इति न त्वदुक्तं साधीय इत्युत्तरं पठति—

(जैमिनिमत पर विवाद) "उस प्रभु को जानकर मुनि हो जाता है" इत्यादि कहकर आगे भी "वे पुत्रैषणा, लोकैषणा और वित्तैषणा से उठकर भिक्षाटन करते हुए भ्रमण करते हैं" इत्यादि श्रुति भगवद् ज्ञानवान् व्यक्ति के

सर्वत्याग की चर्चा करती है, इससे तो आपकी बात नहीं बनती, इसका उत्तर देते हैं—

आचारदर्शनात् ।३।४।३।।

ब्रह्मविदामपि वसिष्ठादीनामग्निहोत्रादि करणं जैमिनिः पश्यति इति तदाचारं प्रामाणिकमिति च मनुत इति तन्मतमनुवदन् नियमप्यनूक्तवान् व्यासः । ब्रह्मविदांत्यागावश्यकत्वे गार्हस्थ्यमेतेषां न स्यादितिभावः । उक्त श्रुति-स्तु कर्मण्यसक्तानां तेषां त्यागमनुवदति । "लोकैषणायाश्च व्युत्थाय" इति श्रुते लोक संग्रहार्थं तत् करणमिति न वक्तुं शक्यम् ।

वशिष्ठ आदि ब्रह्मवेत्ता भी अग्निहोत्र आदि करते देखे गए, अतः जैमिनि उनके आचार को प्रामाणिक मानते है व्यास जी ने जैमिनि के कथन का अनु-वाद करते हुये नियम रूप से सूत्र प्रस्तुत किया । ब्रह्मवेता के लिये त्याग आव-श्यक होते हुये भी, गार्हस्थ्य में उसकी आवश्यकता नही है । उक्त श्रुति तो कर्म में आसक्त व्यक्ति के लिये ही त्याग की बात कहती है, जो लोग लोक संग्रह में संग्लन है,' उनके लिए "लोकैषणाश्चव्युत्थाय" श्रुति कही गई हो ऐसा नहीं कह सकते ।

तच्छ्रुतेः ।३।४।४।।

ब्रह्मविदः कर्माचार निरूपक श्रुतेरित्यर्थः, साच "जनको ह वैदेहो बहु-दक्षिणेन यज्ञेनेज "इत्यादि रूपा । तथा च ज्ञानेनैवार्थसिद्धिश्चेत् स्यात्तदा तद्वत आयास साध्ये कर्मणि प्रवृत्तिर्न स्यादिति भावः ।

ब्रह्मवेत्ता के लिये कर्माचार का निरूपण करने वाली श्रुति से भी उक्त बात की पुष्टि होती है—वो श्रुति इस प्रकार है—"वैदेह जनक ने बहुत दक्षिणा वाले यज्ञ से आराधना की" । यदि कहें कि—ज्ञान से ही अर्थ सिद्धि होती है, तो ज्ञान में लगे हुए व्यक्ति को कर्म में प्रवृत्ति नहीं होनी चाहिये, जब कि—जनक आदि के दृष्टान्त उक्त बात से विपरीत हैं ।

समन्वारम्भणात् ।३।४।५।।

"तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते" इति श्रुतिः फलारम्भे विद्याकर्मणोः साहित्यं दर्शयति, इति न स्वातंत्र्यं विद्यायाम् ।

"तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते" इत्यादि श्रुति फलारम्भ में विद्या और कर्म का साहित्य दिखलाती है, इससे भी विद्या के स्वातंत्र्य का निषेध होता है।

तद्वतो विधानात् ।४।४।६।।

"ब्रह्मिष्ठो ब्रह्मादर्शपूर्णमासयोस्तंवृणीत" इति कल्प श्रुत्या ब्रह्मविदो ब्रह्मत्वेनवरणंविधीयत इति ब्रह्म ज्ञानस्यात्विज्याधिकार संपादकत्वात् कर्मशेषत्वमेवेत्यर्थः।

"ब्रह्मिष्ठ ब्रह्मा को दर्शपूर्णमास में वरण करो" इत्यादि कल्प श्रुति से, ब्रह्मविद् का ब्रह्मत्व रूप से वरण का विधान किया गया है इस ब्रह्मज्ञान के ऋत्विजाधिकार के संपादन से, ज्ञान की कर्मशेषता ही निश्चित होती है।

ननु "यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत्, गृहाद्वा प्रव्रजेत्वनाद् वा" इत्यादि श्रुतिभ्यो विहितत्वाविशेषात् कर्म तत्यागयोरैच्छिकोविकल्पो अंगीकार्यो अतो न शेषशेषिति भाव इत्यत उत्तरं पठति।

कहते हैं कि—"यदहरेवविरजेत्" इत्यादि श्रुतियों से तो संन्यास आदि को सामान्य कहा गया हैं, जिससे कर्म और उसके त्याग को ऐच्छिक विकल्प कहा जा सकता है, कर्म और ज्ञान में शेषशेषि भाव नहीं हैं। इसका उत्तर देते हैं।

नियमाच्च ।३।४।७।।

"आश्विनं धूम्रललाममालभेत" यो दुर्ब्राह्मणः सोमपिपासेत् ऐंद्राग्नं पुनरुत्सृष्टमालभेत् या आतृतीयात् पुरूषात् सोमं न पिबेत्, विच्छिन्नो वा एतस्य सोमपीथो यो ब्राह्मणः सन्नातृतीयात् पुरुषात् सोमं न पिबति" यावज्जीवमग्निहोत्रंजुहुयात्" इत्यादि श्रुतिभ्यो यथा कर्मकरणे नियमः श्रूयते, न तथा तत्त्याग इति नोक्त पक्षः साधुरित्यर्थः। चकरात् "नियतस्य तु संन्यासः कर्मणोनोपपद्यते, मोहात्तस्य परित्यागः तामसः परिकीर्त्तितः" इत्यादि रूपा स्मृतिः समुच्चीयते। त्यागविधिरशक्त विषय इत्युक्तमिति प्राप्ते।

"आश्विनं धूम्रललाममालभेत्" यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहुयात्" इत्यादि श्रुतियों से, यथाकर्म पालन के नियम का परिज्ञान होता है, कर्म के त्याग की तो कहीं भी चर्चा नही है, इसलिए उक्तपक्ष सही नहीं है। "जो कर्म के लिए प्रयास न कर मोहवश कर्म का त्याग कर देता है, उसका वह तामस संन्यास

है" इत्यादिस्मृति भी उक्त बात की ही पुष्टि करती है। त्याग विधि तो अशक्त विषयक है। प्रतिवदति—उक्तमत का प्रतिवाद करते हैं—

अधिकोपदेशात्तु बादरायणस्यैवं तद्दर्शनात् ।३।४।८।।

तु शब्दः पूर्वपक्षं व्यवाच्छिनत्ति । यदुक्तं शेषत्वात् पुरुषार्थवाद इति तन्नोपपद्यते । कुतः अधिकोपदेशात्, कर्मसाम्यमपि न वक्तुं शक्यम् यत्र तत्र तच्छेषत्वं दूरापास्तम् । यत ईश्वर कर्मणः सकाशादाधिक उपदिश्यते, तथाहि "स वा अयमात्मा सर्वस्यवशी सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपतिः सर्वमिदं प्रशास्ति यदिदं किंच, स न साधुनाकर्मणाभूयान्नो एवासाधुनाकनीयान्" इत्युपक्रम्य अग्रे पठ्यते—"तमेतं वेदानुवचनेन विविदिषन्ति ब्रह्मचर्येणतपसा श्रद्धया यज्ञेनानाशकेन चैतमेव विदित्वा मुनिर्भवति एतमेव प्रव्राजिनो लोकमभीप्सन्तः प्रव्रजन्ति" इत्यादि । एवं सति यज्ज्ञानसाधनत्वं यज्ञे तस्य यज्ञशेषत्वं कथं स्यात् । किन्तु यज्ञस्य यद्वेदनशेषत्वं एतेनेज्यत्वेन तच्छेषत्वं प्रत्युक्तं वेदितव्यम् । तज्ज्ञानस्य यागपूर्वांगत्वात् तद्विशिष्टस्य तस्य ब्रह्मज्ञान साधनत्वात् ।

तु शब्द पूर्वपक्ष का निरास करता है । जो यह कहा कि—शेषत्व की दृष्टि से पुरुषार्थवाद है, सो नहीं हो सकता क्योंकि—उसका विशेष रूप से वर्णन किया गया है। कर्म की समता भी नहीं बतला सकते, जहाँ तहाँ उसकी शेषता को दूर कर दिया गया है । ईश्वर को कर्म से अधिक बतलाया गया है—"वह परमात्मा सबका वशी सबका स्वामी, सबका अधिपति है इसीसे सब कुछ शासित होता है, ये जो कुछ भी है वह न तो साधुकर्म से हुआ है, न असाधु से घटता है "इसे वेदों के द्वारा जानने की इच्छा करते हैं', ब्रह्मचर्य तप श्रद्धा यज्ञ से इस शाश्वत को जानते है,' इसे जानकर व्यक्ति मुनि हो जाता है इसे प्राप्त करने के लिये ही लोक संन्यास लेता है" इत्यादि । इस प्रकार जो ज्ञान साधक है वह यज्ञ में यज्ञ शेष कैसे हो सकता है । किन्तु यज्ञ की जो ज्ञान शेषता है वही यज्ञ रूप से उसकी शेषता है, यही जानना चाहिये वो ज्ञान यज्ञ का पूर्वांग होता है, उस ज्ञान से विशिष्ट वह यज्ञ ब्रह्म ज्ञान का साधन होता है ।

न च पूर्वं सामान्यत इज्यज्ञानमासीत् यज्ञेन विशेषतो ज्ञाने सति पुनर्यज्ञ-करणे पूर्णकर्म फलं भवतीति न तदशेषत्वमितिवाच्यम् । "तमेवंविदित्वा मुनिर्भवत्येतमेव प्रव्राजिनो लोकममीप्सन्तः प्रव्रजन्ति" इति श्रुतेस्तदवेदनस्य गार्हस्थ्य विरोधित्वेन तदसंभवात् । यश्च साध्वसाधु कर्मफल सम्बन्धरहित-

स्तस्य कर्त्तृत्वेन तथात्वमनुपपन्नमतो जीवात्मन एव तथात्वं न तु परस्य । न चैतयोर्वास्तवाऽभेदान्नैवमिति वाच्यम् । वास्तवाभेदाज्जीवेऽप्युक्त श्रुतिभ्यः तथात्वस्य सुवचत्वात् । वास्तवाभेदस्य पूर्वमेव निरस्तत्वात्तमादाय ये पूर्व पक्षास्ते पूर्वपक्षा एवेत्यलमुक्त्वा "न कर्मणा न प्रजयाधनेन त्यागेनैके अमृतत्व-मानशुः परेणनाकं निहितं गुहायां विभ्राजते यत् यतयोविशन्ति" इति श्रुत्या कर्म प्रजाधनैर्मोक्षाप्राप्तिमुक्त्वा त्यागेन तत्प्राप्तिरुच्यते । त्याग विषय स्यान्य-स्यानुक्त्या सान्निध्यात् कर्मादीनीनामेव त्यागोऽभिप्रेतः ।

ऐसा भी नहीं कह सकते कि—पहिले इज्य ज्ञान सामान्य था, यज्ञ से विशेष ज्ञान हो जाने पर पुनः यज्ञ करने से उस यज्ञ का पूर्ण कर्म फल होता है । "उसे जान कर ही मुनि होता है" इत्यादि श्रुति, प्रभु ज्ञान को, गार्हस्थ्य से विरोधी बतलाती है, गृहस्थ में ये असम्भव है । जो श्रुति, साधु असाधु कर्मफल सम्बन्ध रहित कर्त्तृत्व से उस ज्ञान स्थिति की असंभावना बतलाती है, वह जीव की ही परिस्थिति का उल्लेख है, परमात्मा का नहीं । जीवात्मा, परमात्मा में वास्ति-विक अभेद नहीं है, ऐसा भी नहीं कह सकते । श्रुतियों से जीव का वास्तविक अभेद बतलाया गया है, अतः उसकी ज्ञानपूर्ण स्थिति भी सही है । वास्तविक अभेद का निराकरण पहिले ही कर चुके, इस बात को लेकर कोई पूर्वपक्ष सामने आवे तो वह पूर्वपक्ष ही है उनसे कुछ नहीं कहेंगे । "कर्म, प्रजा या धन से न मिलकर एक मात्र त्याग से ही अमृतत्व मिलता है," इत्यादि श्रुति, कर्म प्रजा और धन से मोक्ष की अप्राप्ति बतलाकर त्याग से ही उसकी प्राप्ति बत-लाती है । त्याग विषय कर्म ही है उसके अतिरिक्त किसी अन्य के त्याग की चर्चा नहीं मिलती, कर्म का त्याग हीं उक्त श्रुति में अभिप्रेत है ।

तथा च मुक्तोपसृप्यत्वात् भगवत उक्त साधनेन मुक्ताः सन्तो नाकं परेण विद्यमानमपि भक्त्या गुहायां विभ्राजते "यद् यस्मात् परं नापरमस्तीत्या-दिनोपक्रान्तत्वात् पुरुषोत्तम स्वरूपं "यतयो विरह भावेन तद्विना स्थातुमश-क्तास्तत् प्राप्त्यर्थं यतमाना विशन्ति" इति भक्तिमार्गीयाणां फलमुक्तम् । अग्रे "वेदांत विज्ञाने" इति ऋचा ज्ञानमार्गीयाणां फलमुक्तम् । अन्यथा पौन-रुक्त्यं स्यात् । एवं कर्मज्ञानाभ्यामधिकोभक्तिमार्गस्तत्प्राप्यः पुरुषोत्तमश्च श्रुतावुपदिश्यत इति तदेक प्रमाणवादिनो बादरायणस्य मतमप्येयं जैमिनि-मतादधिकमित्यर्थः । एवं श्रुत्या परमतं निरस्य शिष्यविश्वासार्थं स्वानुभवमपि प्रमाणयति । तद् दर्शनात् इति । उक्ताधिक्यवत्वेनैव भगवतो भक्ति मार्गस्य चानुभवादित्यर्थः । श्रुत्योऽधिकमात्मानन्द दर्शयन्ती इति न व्याख्यानम् । उप-

देश पदेन पौनरुक्त्यापत्तेः । तन्मतमनिरस्य तस्मात् स्वमत आधिक्यमात्रोक्त्या निष्कामकर्मणः चित्तशुद्धि हेतुत्वेन परम्परा ज्ञानमार्गोपयोगांगीकारोऽत्र सूच्यते । पुष्टि भक्तिमार्गे तु सोऽपि न "यन्न योगेन" इति वाक्यात् । एवं सति क्व कर्मशेषत्वगंधोऽपि ब्रह्मणि इति भावः ।

तथा मुक्ति के अनिच्छुक भक्त, यज्ञ आदि साधनों से मुक्त हो जाने पर स्वर्ग में रहते हुए भी, परमात्मा की भक्ति से, अन्तर्गुहा में ही लीन रहते हैं "परं नापरम् अस्ति" इत्यादि श्रुति बतलाती है कि—पुरुषोत्तम स्वरूप को धारणा करने वाले उसके बिना विरह भाव से एक क्षण भी नहीं रह सकते, उसे प्राप्त करने के प्रयासपूर्वक हृदयान्तर्गुहा में प्रवेश करते हैं । इसे ही भक्ति-मार्गीय जीव का फल कहा गया है । इसके बाद "वेदांतविज्ञाने" इत्यादि ऋचा ज्ञानमार्गीय जीव के फल का उल्लेख करती हैं । यदि ऐसा नहीं है तो फिर वह पुनरुक्ति मात्र है । इस प्रकार कर्म और ज्ञान से अधिक भक्तिमार्ग है, उसमें पुरुषोत्तम प्राप्य हैं, यही श्रुति का उपदेश है । एक प्रमाणवादी व्यास का मत भी, जैमिनि के मत से श्रेष्ठ है। सूत्रकार व्यास, श्रुति से परमत का निराकरण करके, अपने शिष्य जैमिनि के विश्वास के लिए, अपने अनुभव को भी "तद् दर्शनात" पद से प्रमाणित करते हैं । अर्थात् उक्त अधिकता से ही भगवान के भक्तिमार्ग, के महत्व को, अपने अनुभव से श्रेष्ठ बतलाते हैं । श्रुतियाँ आत्मानंद को अधिक बतलाती हैं, इसलिए व्याख्यान नहीं किया यदि वैसा करें तो पुनरुक्ति मात्र ही होगी । उनके मत को निराकरण न करके अपने मत को अधिक बतलाकर, निष्काम कर्म से चित्त शुद्धि होती है इस भाव से, परंपरित कर्म को ज्ञानमार्गीपयोगी मानते हैं यही भाव इस सूत्र से प्रदर्शित करते हैं । पुष्टि भक्ति मार्ग में तो उसकी भी अपेक्षा नहीं है, "यन्न योगेन" इत्यादि वाक्य पुष्टिमार्ग का ही वाचक है । इस भाव में, ब्रह्म में, कर्म शेषत्व की गंध भी संभव नहीं है ।

तुल्यं दर्शनम् ।३।४।९॥

यदुक्तमाचारदर्शनात् कर्मशेषत्वं ब्रह्मण इति, तदपि न साधीयः, तुल्यं यतोदर्शनम् । ब्रह्मविदां शुकतृतीयजन्मवदार्षभादीनां त्याग दर्शनात् । एतेन तद् विदां कर्मत्यागस्तस्य कर्मशेषत्वं कथं शंकितुमपि शक्यमिति भावः सूच्यते । एतेन कर्मण्यशक्तान् प्रति त्यागविधिरिति निरस्तम् शुकादीनामतथात्वात् ।

जो यह कहते हैं कि—आचार दर्शन से ब्रह्म की कर्म शेषता निश्चित होती है, सो बात भी संगत नहीं है क्योंकि—उसी आचार दर्शन के तुल्य दूसरी बात भी देखी जाती है शुकदेव के तृतीय जन्म की तरह ब्रह्मविद ऋषियों के त्याग की बात भी देखी जाती है। ब्रह्मविद के कर्म त्याग और उसकी कर्म शेषता की शंका कैसे कर सकते हैं, यही सूत्र से बतला रहे हैं। कर्म में असक्तः के लिए ही त्याग विधि है, इस मत का भी इसी सूत्र से निराकरण हो जाता है, क्योंकि—शुक आदि में तो वैसा नहीं देखा जाता।

ननु "जनको ह वैदेह" इति श्रुति साहाय्यादाचार दर्शनं त्याग दर्शनादाधिक बलमित्यत उत्तरं पठति—

यदि कहें कि—"जनको ह वैदेह" इस श्रुति से तो त्याग दर्शन से आचार दर्शन अधिक बलवान् प्रतीत होता है। इसका उत्तर सूत्रकार देते हैं—

असार्वत्रिकी।३।४।१०॥

ब्रह्मविदां सर्वेषामेतदाचारं चेन्निरूपयेच्छ्रुतिस्तदा त्वदुक्तं स्यान्न त्वेवम्। यत एतादृशी श्रुतिर्ब्रह्मवित्सु सर्वेषु न श्रूयते, तथाहि—"एतद् ह स्म वै तद् विद्वांस आहुः ऋषयः कावषयाः, किमर्था वयं अध्येषामहे, किमर्था वयं यक्ष्यामहे? एतद् ह स्म वै तत् पूर्वे विद्वांसोऽग्निहोत्रं न जुहुवांचक्रिरे एतं वै तमात्मानं विदित्वा ब्राह्मणाः पुत्रैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरेति। एतावदरे खलु अमृतत्वम्" "इति होक्त्वा "याज्ञवल्क्यः प्रव्राजेत" इत्यादि श्रुतयो बह्व्यस्तद्विदां कर्मत्यागमेवानुवदंति अतस्त्याग पक्ष एव बलवान्।

सभी ब्रह्मवादियों का ऐसा आचार है, ऐसा श्रुति निरूपण करती है, अतः तुम्हारा कथन ही ठीक नहीं है सभी ब्रह्मवादियों के लिए ऐसी श्रुति नहीं है। "उन कावषेय विद्वान् ऋषियों ने कहा—'हम किसलिए स्वाध्याय करें?' किसलिए यज्ञ करें आज के पूर्व के विद्वानों ने अग्निहोत्र नहीं किया, इसलिए आत्मा को जानकर उन ब्राह्मणों ने पुत्रैषणा, लोकैषणा से उठकर भिक्षाचरण किया" इतने मात्र से ही अमृतत्व है" इत्यादि कहकर "याज्ञवल्क्य ने संन्यास लिया" इत्यादि अनेक श्रुतियाँ, ब्रह्मवेत्ता के लिए कर्म त्याग का ही उल्लेख करती हैं इसलिए त्याग पक्ष ही बलवान है।

ननु ब्रह्मवित्त्वाविशेषेऽप्येकेषां कर्मकृतिरेकेषां तत्त्याग इति विभागः कुतः?

इत्याशंक्य तत्रहेतुमाह—

शंका करते है कि—जब ब्रह्मविद का कोई विशेष नियम नही है तो एक के लिए कर्म करने को है, एक के लिए उसका त्याग करने को है, ऐसा निश्चय कैसे करेंगे ? इसका हेतु कहते है—

विभागः शतवत् ।३।४।११॥

"एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति" इति श्रुतेर्मानुषानन्दमारभ्य ब्रह्मानन्दपर्यन्तं ये गणिता आनंदास्ते सर्वे पुरुषोत्तमानंदात्मका एव। एवं सति येषु यावानानंदो दत्तोऽस्ति तावन्तं तं निरूपयन्ति अधिकार तारतम्येन, तद् दानमिति ज्ञापनाय शतो चरमानन्दं श्रुतिर्न्यरूपयत्। अतएव पुरुषायुः संख्या समान संख्ययैवोत्कर्ष उक्तः तेन पुरुषधर्मस्याधिकारस्यैवोत्कर्ष सूच्यते। एवं प्रकृतेऽप्यन्य भावराहित्यतारतम्येन भगवद् भावतारतम्यमत्र त्वनुग्रह एवाधिकार रूप इति तदुत्कर्षे त्यागस्तदनुत्कर्षे नेत्यर्थः।

'इसी आनन्द की मात्रा से अन्यान्य भूतों की मात्रायें उपजीवित है" इत्यादि श्रुति में, मानुषानंद से प्रारंभ करके ब्रह्मानंदपर्यन्त जिन आनंदों की गणना की गई, वो सब पुरुषोत्तम आनंदात्मक ही है। इस प्रकार अधिकार के तारतम्य से, जिसमें जितना आनंद दिया गया उसका उतना ही वर्णन किया गया है। उस दिये गये आनन्द को बतलाने के लिए श्रुति शत चरमानंद का निरूपण करती है। मनुष्य की चरमायु सौ वर्ष की होती है उसी के अनुसार सौ गुने क्रम से उत्कर्ष का वर्णन किया गया है। जिससे, मनुष्य धर्म के अधिकार का उत्कर्ष सूचित होता है। इसी प्रकार ब्रह्मवेत्ताओं के त्याग की बात भी है, जिनमें अन्य भाव का जितना अभाव होता है और भगवद् भाव का जितना विकास होता है उसी तारतम्यानुसार उसे भगवत्कृपा प्राप्त होती है उसके उत्कर्ष से त्याग होता है उसके अनुत्कर्ष से त्याग नहीं होता।

अध्ययनमात्रवतः ।३।४।१२॥

यदुक्तं "ब्रह्मिष्ठो ब्रह्म" इत्यादि, तत्र ब्रह्म शब्देन वेद एवोच्यते, न तु परस्तथाच तं ब्रह्मत्वेनाविकृत शब्द रूपत्वं ज्ञात्वा सततं तदध्ययन मात्रं यः करोति, नतु तेन किंचित् कामयते तस्याधिकारो ब्रह्मत्वार्त्विज्य इत्युच्यत इति न ब्रह्मज्ञानस्य कर्मशेषत्वम् प्रत्ययस्यातिशायनार्थकत्वादतिशायेन ब्रह्मरूपस्तवैव भवतीति युक्तं तस्य तदार्त्विज्यमेवं सति ब्रह्मपदं ब्राह्मण्यपरमपि संगच्छते।

जो यह कहा कि—"ब्रह्मिष्ठो ब्रह्म" इत्यादि में ब्रह्म शब्द से वेद का ही उल्लेख है, परब्रह्म सूचक नहीं है, जो ब्रह्मरूप से अविकृत शब्द रूपता को जान कर, वेद का सतत अध्ययन मात्र करते हैं, उससे किसी भी प्रकार का स्वार्थ नहीं चाहते, उनका अधिकार ब्रह्माराधन के समान कहा गया है, अतः ब्रह्म ज्ञान की कर्मशेषता का निराकरण हो जाता है। प्रसिद्ध ब्रह्म पद अतिशय वाची है, अतः अतिशय महत्वपूर्ण वेद शब्द, ब्रह्म वाची है, उसकी आराधना भी युक्त ही है, इस प्रकार ब्रह्म पद ब्राह्मण परक भी संगत होता है [वेदों के अधिकांश भाग ब्राह्मण कहलाते हैं]

अथवा वेदाध्ययन मात्रवतः कर्मण्यधिकारो, नतु ब्रह्मविदोऽपीत्यर्थः। न च तदन्तः पातित्वेन वेदांतानामप्यध्ययनस्यावश्यकत्वे तत् प्रतिपाद्य ब्रह्मज्ञानस्या-प्यवर्जनीयत्वात्तद्वत् एव तत्राधिकार इति वाच्यम्। शाब्दपरोक्ष ज्ञानस्य ब्रह्म-ज्ञानत्वाभावात्। न हि, सिता मधुरेति शाब्दज्ञान मात्रवांस्तन्माधुर्यज्ञो भवति। तथा सति पित्तोपशमादिकं तत्कार्यमपि स्यान्नत्वेवम्। अत एव छांदोग्ये सनत्कुमारेण "यद्वेत्थ तेन मोपसीत्" इत्युतोनारद ऋग्वेदमारम्य सर्प देवजन विद्या पर्यन्तं स्वाधीतमुक्त्वाह—"सोऽहं मंत्रविदेवास्मि नात्मविद्" इत्यतो अपरोक्ष ब्रह्मज्ञानमेव ब्रह्मज्ञानमुच्यते। अतएव तैत्तरीयोपनिषत्सु—"वेदान्त-विज्ञान सुनिश्चितार्था" इति पठ्यते। विज्ञानमनुभव एव नतु ज्ञानमात्रमतो दूरापास्तं कर्मशेषत्वं ब्रह्मणः। "तं विद्याकर्मणी" इत्यादिस्तु संसार्यात्मनः पूर्वदेहत्याग सामयिकं वृत्तान्तं निरूपयति। नतु ब्रह्मविद इति, समन्वारम्भणा-दिति सूत्रमुपेक्षितमाचार्येण।

उक्त सूत्र का तात्पर्य ये भी है कि—वेदाध्ययन मात्र करने वालों को ही कर्म में अधिकार है, ब्रह्मवेत्ता को नहीं है। वेद के ही अन्तिम भाग वेदान्तों का भी अध्ययन आवश्यक है, उसका प्रतिपाद्य ब्रह्म, अवर्जनीय है अतः, वेद की तरह इसका अधिकार भी मानना चाहिए। शाब्द परोक्ष ज्ञान में, ब्रह्म ज्ञानत्व का अभाव होने से भी उक्त बात ही निश्चित होती है। मिश्री मीठी होती है, ऐसे शाब्द ज्ञान मात्र से कोई माधुर्य का स्वाद नहीं पा सकता। और केवल उक्त जानकारी से पित्तोपशमन आदि मिश्री स्वाद जन्य कार्य भी संभव नहीं हैं। इसलिए छांदोग्योपनिषद् के सनत्कुमार नारद संवाद में ऋषियों द्वारा पूछे जाने पर कि—"जो जानते हो वो मुझे बतलाओ" नारद ने, ऋग्वेद से प्रारम्भ कर सर्प देव आदि विद्या तक को पढ़े हुए अपने अनुभव को बतलाकर कहा कि—"मैं केवल मंत्रवेत्ता ही हूँ, आत्मवेत्ता नहीं हूँ" इससे अपरोक्ष ब्रह्म

ज्ञान को ही ब्रह्म ज्ञान कहा गया प्रतीत होता है। इसी प्रकार तैत्तरीयोपनिषद् में भी "वेदान्त विज्ञान सुनिश्चितार्थाः" ऐसा पाठ आता है। विज्ञान, अनुभव भी है, केवल ज्ञानमात्र ही नहीं है, इसलिए ब्रह्म की कर्म शेषता की बात हीं नहीं करनी चाहिए "तं विद्याकर्मणि" इत्यादि से तो, संसारी आत्मा के, पूर्वदेह त्याग संबंधी सामयिक वृत्तान्त का निरूपण किया गया है। ब्रह्मवेत्ता का निरूपण नहीं है। समन्वारम्भणात् सूत्र की, आचार्य ने उपेक्षा की है।

यच्चोक्तं नियमाच्चेति तत्राह—जो यह कहा कि नियम भी है उस पर सूत्र प्रस्तुत करते है—

नाविशेषात् ।३।४।१३।।

आश्विनमित्यादि श्रुतिभ्यः कर्मकृतो यथा नियमः श्रूयते न तथा त्याग इति यदुक्तं, तन्न कुतः ? अविशेषात्—"न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः" इति श्रुतिः कर्मादिना अमृतत्वाप्राप्तिमुक्त्वा तत्त्यागेन तां बदंती कर्मत्यागस्यावश्यकत्वं वदतीति तस्मान्न विशेषो यत् इत्यर्थः। तथा चाऽमृतत्वमानशुरिति पदान्मुमुक्षोः कर्म त्यागनियमोऽमुमुक्षोस्तत्कृतिनियम इति व्यवस्थेति भावः।

जो यह कहा कि—आश्विनम् इत्यादि श्रुति से कर्म करने वालों का जैसा नियम कहा गया है वैसा त्याग का नहीं। यह कथन भी असंगत है, "न कर्मणा न प्रजया धनेन, त्यागेनैके" इत्यादि श्रुति, कर्म आदि से अमृतत्व प्राप्ति बतलाकर कर्म त्याग को बतलाती हुई, कर्म त्याग की आवश्यकता पर बल देती है। "अमृतत्वमानशुः" इस पद से ध्वनित होता है कि—मुमुक्षु के लिए कर्म त्याग का नियम है और अमुमुक्षु को कर्म पालन का नियम है।

अथवा ननु क्रम प्राप्ते तुरीयाश्रमे हि कर्म त्यागो, द्वितीये तस्मिन् कर्मकरण नियमः तत्र च कर्त्तुरंगत्वेन तत्स्वरूपज्ञानमावश्यकम्। तच्च वेदांतैरेवेति कथं न कर्मशेषत्वमित्युत्सूत्रमाशंक्य निषेधति। नेति, "यदहरेव विरजेत्" इति श्रुतेः तावत् "कर्माणि कुर्वीत् न निर्विद्येत यावत्" इति भगवद्वाक्याच्च त्यागे वैराग्यस्त च प्रयोजकत्वादाश्रम विशेषे विशेषाभावाद प्रयोजकत्वादित्यर्थः। यत्रापि क्वचित् कर्म प्राप्तिः तत्रापि न तज्ज्ञानं ब्रह्मज्ञानमिति पूर्वसूत्र एवोक्तमितिभावः। एतेन वेदाध्ययनादिकमप्यप्रयोजकमिति ज्ञापितम्। अत शुकस्य-

वैराग्यातिशयात् उपनयनादेरप्यनपेक्षोच्यते । एवं सूत्र द्वयेन कर्माधिकार संपादकत्वेन ब्रह्मज्ञानस्य तच्छेषत्वं निरस्तम् ।

अथवा यदि कहा जाय कि—क्रम से प्राप्त संन्यासाश्रम में कर्म त्याग का तथा ग्रहस्थाश्रम में कर्म करने का नियम है, और उस ग्रहस्थ में कर्म के अंग रूप होने से; ब्रह्मस्वरूप का ज्ञान भी आवश्यक है, वह भी वेदांत से ही होता है, अतः कर्म शेषत्व कैसे नहीं है ? ऐसी आशंका करते हुए, सूत्रकार "न" से निषेध करते हैं, कहते हैं कि—"यदहरेव विरजेत" श्रुति और कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावत्" इस भगवद्वाक्य से त्याग और वैराग्य की आश्रम विशेष में प्रयोजकता होने से, विशेष के अभाव में अप्रयोजकता भी निश्चित होती है। जहाँ कहीं भी कर्म करने का विधान है वहाँ ब्रह्मज्ञान की आवश्यकता पर बल नहीं दिया गया है, यही पूर्वसूत्र का भाव है। इससे यह भी निश्चित होता है कि—वेदाध्ययन आदि में भी ब्रह्ज्ञान का प्रयोजन नहीं है। शुकदेव के अत्यंत वैराग्य से उपनयन आदि की अनपेक्षा ज्ञात होती है। इस प्रकार दो सूत्रों से कर्माधिकार की संपादकता से ब्रह्मज्ञान की, कर्म शेषता का निराकरण किया गया।

स्तुतयेऽनुमतिर्वा । ३।४।१४।।

अथ "ग्रहिलतया ब्रह्मिष्ठ" इत्यत्र ब्रह्मपदेन पर एवोच्यत इति वदसि तत्रापि वदामः। "दर्शपूर्णमासावेतादृश्थै यत्र ब्रह्मविदाः तु इज्याधिकारी" इति तत् स्तुत्यर्थं ब्रह्मिष्ठो ब्रह्मेत्यनेन ब्रह्मविदोऽप्यार्त्विज्ये अनुमितिः क्रियते, नतु तस्याधिकरित्वमभिप्रेतम् । उक्तानुपपत्तिभिः इत्यर्थः ।

"ग्रहिलतया ब्रह्मिष्ठ" वाक्य में ब्रह्मपद से पर का ही उल्लेख है तुम्हारे इस कथन पर हम कहते हैं कि—"दर्शपूर्णमासावेतादृशौ" इत्यादि वाक्य की स्तुति के लिए "ब्रह्मिष्ठोब्रह्म" इत्यादि वाक्य से ब्रह्मविद के लिए भी यज्ञ की अनुमति होती है, उसमें अधिकारित्व अभिप्रेत नहीं है।

कामकारेण चैके । ३।४।१५।।

ननु "एषनित्यो महिमा ब्राह्मणस्य न कर्मणावर्द्धते नो कनीयान्" इति श्रुत्या ब्रह्मविदः कर्मकृत गुणदोषौ निसिद्धयेते । सच प्राप्तिपूर्वक इति ब्रह्मविदः कर्मकरण आवश्यकम् इति प्राप्ते-उच्यते-कामकारेण इति, करणं कार,

कामेनेच्छया करणं कामकारः तथाच परानुग्रहार्थभिक्षामात्रेण ! नतु विधिवशात् यत् करणं तत् कामकार इत्युच्ते। तथाचैवं कृते कर्मणि तत् कृत गुणदोष प्रसक्तौ, तत् प्रतिषेधकमेकशाखिन "एषनित्य" इत्यादि पठति। न ह्येता-वताकर्मकृत्यधिकार प्राप्तिरितिभावः।

"ब्रह्मवेत्ता की इस ब्रह्मज्ञान से ही नित्य महिमा है वह न कर्म से बढ़ता है न छोटा होता है" इत्यादि श्रुति ब्रह्मवेत्ताके कर्मकृत गुणदोषों का निषेध करती है। इससे ब्रह्मविद के लिए कर्म करने की आवश्यकता निश्चित होती है। इस पर सूत्रकार कहते हैं कि ब्रह्मवेत्ता कामकार होते हैं, कर्म उनकी इच्छा पर निर्भर होता है। वे परानुग्रह के लिए इच्छामात्र से कर्म करते हैं, विधिवश कोई कर्म नहीं करते, इस प्रकार उनके कर्मकृत गुण दोष कर्म में ही प्रसक्त होते है, उनमें नहीं होते। "एध नित्य" इत्यादि श्रुति उक्त तथ्य की ही पुष्टि करती है, केवल इतने मात्र से कर्म करने का अधिकार नहीं प्राप्त होता।

अथवा, कामेन कारो यस्य मतथा, तादृशेन कर्मणा प्राप्त वृद्धिह्लासयोः संबंधाभावं ब्रह्मविदि एके पठन्तीत्यर्थः। चकारेण ईश्वर आज्ञया लोक संग्रहार्थं कृतं कर्म समुच्चीयते। "सर्वस्यवशी सर्वस्येक्षान" इति श्रुतेस्तथा।

अथवा जो कर्म के लिए ही कर्म करते है, अतः उन ब्रह्मवेत्ताओं में कर्म से होने वाली वृद्धि और ह्रास का संबंध नहीं रहता यही उक्त श्रुति का तात्पर्य है, तथा "सर्वस्यवशी सर्वश्येशान." इत्यादि श्रुति के अनुसार वे ईश्वर आज्ञा क लोक संग्रह के लिए ही कर्म करते हैं, ऐसा निश्चित होता है।

उपमर्दञ्च ।३।४।१६।।

अनेन कर्माधिकाराभावे हेत्वन्तरमुच्यते। द्वैतभाने हि यथा कथंचित् कर्मकृति संभावनाय, यस्य त्वखण्डब्रह्माद्वैतभानं ब्रह्मेत्येव, "नत्विदं ब्रह्मेति" सखण्डम्। अत्रोद्देश्यत्वेन प्रपंचस्यापि भानात् लखण्डम्। तथा चाखण्डतद्भानं कर्मतदाधिकारादेरुपमर्दं चैके शाखिनः पठन्ति इति न ब्रह्मज्ञानस्य कर्मशेषत्व संभावनापीत्यर्थः। श्रुतिस्तु, "यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत तत् केन पसे श्येत्" इत्यादिरूपा।

कर्माधिकार के अभाव में दूसरा हेतु प्रस्तुत करते हैं, द्वैतभान में तो थोड़ो

बहुत कर्म करने की संभावना भी है, किन्तु जो अखण्ड ब्रह्माद्वैत भान कर चुके हैं, वे ब्रह्म ही है। "नतु इदं ब्रह्म" वाक्य खण्डता का द्योतक है, प्रपंच जगत के भान से भी खण्डता होती है। अखंडता और उसके भान में, कर्म और उसके अधिकार का उपमर्द उक्त वाक्य में किया गया है, अतः ब्रह्मज्ञान की कर्मशेषता की संभावना ही नहीं रह जाती। श्रुति भी इसी प्रकार की बात कहती है—"जब सब कुछ परमात्मस्वरूप ही है तो किससे किसे देखा जाय" इत्यादि।

ऊर्ध्वरेतस्सु च शब्दे हि ।३।४।१७।।

अत्रेदं विचार्यते, ब्रह्मचर्यानन्तरं गार्हस्थ्यमपि श्रुत्या बोध्यते। "ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत्" इत्यादि श्रुतिभिर्ब्रह्मचारिण एव च प्रव्रजिनमपि बोध्यते। एवं सत्यविरोधाय "यदहरेवेति" श्रुतेश्च रागितद्रहित भेदेन विषयभेदो वाच्यः। तत्र ब्रह्मचर्याविशेषेऽपि भगवदनुग्रहविशेषज चित्तशुद्धि विशेषज वेदांतार्थ परिज्ञानमेव हेतु वाच्यः "वेदांत विज्ञान सुनिश्चितार्थाः संन्यास योगात् यतयः शुद्धसत्वाः" इति श्रुतिरिममेवार्थमाह। तथा चेताद्दशा एवोर्ध्वरेतस इत्युच्यंते। एवं सति ऊर्ध्वरेतस्सु कर्माभाव उक्तरीत्या त्वयाऽप्युरीकार्यं इति ज्ञान रहितानां कर्मण्यधिकारस्तद्वतां संन्यास इति त्वदुक्ताद् विपरीतोऽर्थः सिद्धयतीतिक्व कर्म शेषत्वसंभावना ज्ञाने।

अब विचार करते हैं कि—ब्रह्मचर्य के बाद ग्रहस्थ का भी श्रुति में उल्लेख है तथा "ब्रह्मचर्य से ही संन्यास लेना चाहिए" इत्यादि श्रुति ब्रह्मचर्य से ही संन्यास का उल्लेख करती है। इन दोनों विरुद्ध बातों के परिहार के लिए "यदहरेव', इत्यादि श्रुति से, रागी और विरागी के भेद से विषय भेद मानना चाहिए। इस श्रुति में, ब्रह्मचर्य के बिना भी, भगवान के विशेष अनुग्रह से जो विशेष चित्त की सुद्धि होती है, वही परब्रह्म के परिज्ञान का हेतु है, ऐसा बतलाया गया है। "वेदांत विज्ञान सुनिश्चितार्थाः" इत्यादि श्रुति इसी अर्थ का द्योतन करती है ऐसे परब्रह्म चिन्तकों को ऊर्ध्व रेतस कहते हैं। इस प्रकार के ऊर्ध्व रेतस महानुभावों के उक्त प्रकार के कर्माभाव को तो तुम्हें भी स्वीकारना होगा, ज्ञान रहित लोगों का कर्म में अधिकार है तथा ज्ञानी का संन्यास में अधिकार है, तुम्हारे इस कथन से विपरात अर्थ सिद्ध होता है, ज्ञान में कर्म शेषत्व की संभावना कहां है?

ननु संन्यासेऽपि तदाश्रमीणं कर्मास्तीति वैराग्यसह कृतं ज्ञानमेतच्छेषभूतं, तदसहकृतं तदाग्निहोत्रादि शेषभूतमिति न वैपरीत्यमिति प्राप्त, आह—"शब्दे हि" इति। ज्ञान स्वरूपं तत्फलं न च युक्तिसिद्धं, किन्तु वेदमात्र सिद्धम्। तत्रतु "तमेवं विद्धानमृत इह भवति", "ब्रह्मविदाप्नोति परम्" इत्यादि वाक्यै ब्रह्मज्ञानस्य मोक्ष एव फलं श्रूयते। सर्वसाधनानां साक्षात् परंपराभेदेन तत्रैव पर्यवसानादतो धर्मिग्राहकमान विरोधात् संन्यासाश्रमीण कर्मशेषत्वमपि न वक्तुं शक्यमित्यर्थः।

यदि कहें कि—संन्यास में भी उस आश्रम के कर्मों का विधान है, वैराग्य सहकृत ज्ञान, इसी का शेषभूत है तथा वैराग्य रहित ज्ञान उन अग्निहोत्र आदि का शेषभूत है अतः कोई विरुद्धता नहीं है। इस पर सूत्रकार कहते हैं—'शब्दे हि" अर्थात् ज्ञान का स्वरूप और उसका फल, युक्ति से ही सिद्ध करने वाली वस्तु नहीं है, वह तो केवल वेद से ही सिद्ध होती है। "उसे इस प्रकार से जानने वाले यहीं अमृत हो जाते हैं, "ब्रह्मवेत्ता, परब्रह्म को प्राप्त करते हैं, "जो इस प्रकार जानते हैं वे अमर हो जाते हैं" इत्यादि वाक्य, ब्रह्म ज्ञान का फल मोक्ष ही बतलाते हैं। सभी साधनों का सीधा या परंपरा से उसी में पर्यवसान होता है, अतः धर्मिग्राहकमान विरोध से, संन्यास आश्रम के कर्म की कर्म शेषता भी नहीं कह सकते।

ननु एवं संन्यासवैयर्थ्यमिति चेन्न, ब्रह्मविदातिरिक्त संगस्य भगवद्विस्मारकत्वेनावश्यत्याज्यत्वेन श्रुत्या कथनादत एव—"वेदांत विज्ञान सुनिश्चितार्थाः, इत्युक्त्वा "संन्यास योगात् यतयः शुद्धसत्वाः" इत्युक्तम्। अत्रपंचम्याऽन्तः करणे संस्कारविशिष्टोपाधायकत्वं च प्रतीयते संन्यासस्य। स च संस्कारः फलोपकार्यंगमित्यावश्यकः संन्यासो मर्यादामार्गे पुटिमार्गे त्वन्यैव व्वस्था। "न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेदिह" इति वाक्यात्।

यदि कहें कि—तब तो संन्यास व्यर्थ ही हो जायगा, सो बात न होगी, ब्रह्मवेत्ता के अतिरिक्त औरों का साथ भगवत् विस्मारक होता है अतः उन्हें अवश्य ही त्याग देना चाहिए यही बात "वेदांत विज्ञान" आदि कहकर "संन्यास योगात" इत्यादि से कही गई है। "संन्यास योगात" में किए पंचमी के प्रयोग से, संन्यास की, अन्तःकरण में, संस्कार विशेष धायकता प्रतीत होती है। यह संस्कार फल का उपकारी अंग है, अतः मर्यादा मार्ग में संन्यास आवश्यक है। पुष्टिमार्ग की दूसरी ही व्यवस्था है। "इस मार्ग में ज्ञान और वैराग्य से प्रायः कल्याण नहो होता' इत्यादि पुष्टिमार्गीय व्यवस्था है।

परामर्श जैमिनिरचोदना चापवदति हि ३।४।१८।।

ऊर्ध्वरेतस्सु च ज्ञानोक्तेस्तस्य मुक्ति फलकत्वोक्तेः किम् प्रजया करिष्यामो येषां नोऽयमात्मायं लोक "इत्यादि श्रुतेश्च ब्रह्म प्राप्तावेव सर्वस्याः श्रुतेस्तात्पर्यम् इति सिद्धयति। तस्या एव सर्वक्लेशापायपूर्वकपरमानन्द रूपत्वान्न तु कर्मणि दुःखात्मक संसार हेतुत्वात्तस्य जीव श्रेयोनिमित्तमेव श्रुति प्राकट्यात् अन्यथा निषेध विधिर्नस्यात्।

उर्ध्वरेताओं के लिए जो ज्ञानोक्ति है वह मुक्तिफलक उक्ति है, "किम प्रजया करिष्यामो" इत्यादि श्रुति ब्रह्म प्राप्ति की ही बोधिका है ऐसी सभी श्रुतियों का यही तात्पर्य सिद्ध होता है। उर्ध्वरेतस आश्रमों में समस्त क्लेशों का निराकरण होकर परमानन्द की प्राप्ति होती है, जो कि संसार के हेतु दुःखात्मक कर्म में संभव नहीं है, जीव के कल्याण के निमित्त ही श्रुति में स्पष्ट रूप से उल्लेख है, अन्यथा निषेध विधि न होती।

तथा च कर्म विधिनाऽपि परम्परा मोक्षं एव फलत्वेन परामृश्यत् इति सिद्धम्। तं परामर्शं स्वातंत्र्यवादी जैमिनिरपवदति बाधत इत्यर्थः। मोहक शास्त्र प्रवर्त्तकः स इतीश्वरमेव न मनुते यतो अतस्तत्प्राप्तिस्तस्य मते दूरापास्ता। कर्माऽनधिकारिणां अंधादीनां संन्यास विधि विषयत्वम्। अन्यथा "वीरहा वा देवानां योऽग्निमुद्वासयत्" इतिश्रुतिर्नस्यादतो "ब्रह्मचर्यं समाप्य गृहोभवेत् गृहात वनी भूत्वा प्रव्रजेत् यदिवेदरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेद् गृहाद् वनाद्वा" इति श्रुतेरप्यंगहीन एव स विषयो, यत आयुर्भागविभागेनाश्रमाणां विधानम्। तुरीये तस्मिन् देहेन्द्रियादि वैकल्यं नियमतः कर्मण्येव श्रुतेस्तात्पर्यम्।

वैसे ही कर्मविधि से भी, परम्परा मोक्ष का ही फलरूप से परामर्श किया गया है। उस परामर्श को कर्मस्वातंत्र्यवादी जैमिनि नहीं मानते। मोहशास्त्र के प्रवर्त्तक वे, ईश्वर तक को नहीं मानते फिर उसकी प्राप्ति की बात तो बहुत दूर है। वे कहते हैं कि जो अंधे लंगड़े लूले कर्म नहीं कर सकते, संन्यास उन्हीं के लिए है। ये बात न होती तो "वीरहा एव देवानां" इत्यादि श्रुति न होती "ब्रह्मचर्य को समाप्त कर गृही बनो, गृह से बन जाकर संन्यास लो, यदि कोई बिशेष परिस्थिति हो तो ब्रह्मचर्य से ही संन्यास लो, या गृह से भी लेलो, या बन जाकर भी ले सकते हो" ये श्रुति अंगहीन व्यक्तियों की ओर ही संन्यास मार्ग का इंगन कर रही है। आयुभाग के विभागानुसार आश्रमों का विधान है। चौथी आयु में जब देह इन्द्रिय आदि क्षीण हो जावें तब सब कुछ नियमों

को छोड़कर संन्यास ले लिया जाये यही संन्यास की विधि है, इससे कर्म में संलग्न होना ही निश्चित होता है, यही श्रुति का तात्पर्य है।

अपि च, ज्ञानकर्मणोरलौकिकफलसाधकत्वेन विहितत्वमेव प्रयोजकम्। अपरोक्ष ब्रह्म ज्ञानं च न विधेयम्। साक्षात्स्वकृत्यसाध्यत्वाचोदनाबोधकलिंगाद्यभावाच्च ज्ञानस्य न मुक्ति साधकत्वं वक्तुं शक्यम्। "य एनं विदुः" इत्यादिस्तु यागेषु इज्य विष्णु स्तुति परेत्याशयेनाह—अचोदन चेति"। जैमिनिवत्तत्सहायभूतेयमचोदना च परामर्शमपवदतीति संबंधः। तथा च विधि संबंधात् कर्मैवानुष्ठेयं, न तु मुक्ति साधनमप्यतथात्वादिति स्थितम्।

एक बात और भी है कि—ज्ञान और कर्म को अलौकिक फलसाधक मानें तो भी उनका प्रयोजन विधान से ही सिद्ध होता है। उनका तात्पर्य अपरोक्ष ब्रह्म से नहीं है। ज्ञान स्वतः तो होता नहीं, उसके लिए श्रुति में चोदना बोधक श्रुति आदि का भी अभाव है, इसलिए ज्ञान को मुक्ति साधक नहीं कह सकते। "य एनं विदुः" इत्यादि श्रुति तो, यागों में इज्य विष्णु की स्तुति परक आशय को प्रकट करती हैं यही बात सूत्र में "अचोदना च" पद से बतलाई गई है। जैमिनि की तरह, उनकी सहायक यह अचोदना भी उक्त परामर्श का खण्डन करती है। ज्ञान से विधि का संबंध होने से, कर्म के अनुष्ठान की बात ही निश्चित होती है मुक्ति साधन होते हुए भी उसका वैसा महत्व नहीं है।

अनुष्ठेयं बादरायणः साम्यश्रुतेः ।३।४।१९।।

बादरायण आचार्यो जैमिनेरपि गुरुस्तदेव कर्त्तव्यं इति शिष्य संमतमनुष्ठेयं कर्मापिवदवतीति पूर्वेण संबन्धः। तत्रहेतुः साम्यश्रुतेः। यथा "वीरहा एव देवानां" इति श्रुत्या कर्मत्यागकर्त्तु निन्दा श्रूयत, एवमेव भगवज्ज्ञानरहितस्यापि सा श्रूयते यतः। तथाहि—"असुर्यानाम ते लोका अंधेन तमसावृताः, तांस्ते-प्रेत्याभिगच्छंति अविद्वांसोऽबुधाजनाः।" एतदग्रे—"ये तद् विदुरमृतास्ते भवन्त्यथेतरे दुःखमेवोपयन्ति" इत्यादिरूपा। एतच्चे निन्दामात्रेण साम्यमुक्तिमापाततः। वस्तुतस्तु—"तमेतं वेदानुवचनेन विविदिषन्ति ब्रह्मचर्येण तपसा श्रद्धया यज्ञेनानाशकेन चैतमेव विदित्वा मुनिर्भवत्येतमेव प्रव्राजिनो लोकमभीप्संतः प्रव्रजन्ति" इति श्रुत्या ज्ञानसाधनत्वेनैवाश्रमकर्म करणोक्तेश्च न स्वातंत्र्यं कर्मणो वक्तुं शक्यम्। अतएव शुकस्य न ब्रह्मचर्यादिकमपि। फलस्य जातत्वेन तत्सा-धनानपेक्षणात्।

बादरायण आचार्य, जैमिनी के भी गुरु थे, वे शिष्य संमत कर्मानुष्ठान को ही कर्त्तव्य बतलाते हुए ज्ञानार्जन को भी कर्त्तव्य मानते हैं क्योंकि—दोनों के कर्त्तव्य की श्रुतियाँ समान रूप से हैं। जैसे कि—"वीरहा एव देवानां" इत्यादि श्रुति से, कर्म त्याग करने वाले की निन्दा की गई है वैसे ही "असुर्या-नाम ते लोका" और "ये तद् विदुरमृतास्ते" इत्यादि श्रुतियों से, भगवद् ज्ञान रहित व्यक्ति की भी निन्दा की गयी हैं। इस निन्दा मात्र से हर प्रकार की समता निश्चित हो जाती है। वास्तव में तो—"तमेतं वेदानुवचनेन" इत्यादि श्रुति, केवल ज्ञान साधन से ही मुक्ति बतलाती है, तथा आश्रम कर्म को पालन करने के संबन्ध में भी श्रुतियां हैं, अतः केवल कर्म को ही अनुष्ठेय नहीं कह सकते। शुकदेव का ब्रह्मचर्य आदि कोई आश्रम नहीं था, वे केवल ज्ञान से ही मुक्त थे। उन्हें मुक्ति प्राप्त हुई जिससे उपनयनादि साधनों की अनपेक्षा निश्चित होती है।

न च स्वर्गकामपद श्रवणान्नैवमिति वाच्यम्। त्वदभिमत लोकात्मक स्वर्गे "यन्न दुःखेन सभिन्नमिति" वाक्यशेषोक्त स्वर्गपद प्रवृति निमित्त धर्मा-भावात् आत्मसुखस्यैव तादृशत्वात्तस्यैव तत्रोक्तेः। एवं सति "तमेतंवेदानु-वचनेन" इति श्रुत्येकवाक्यतापि संपद्यते, अन्यथातु विरोध एव।

यह नहीं कह सकते कि—"स्वर्गकाम पद का प्रयोग श्रुति में किया गया है, इसलिए उक्त कथन असंगत हैं। तुम्हारे अभिमत लोकात्मक स्वर्ग संबन्धी—"यन्न दुःखेन संभिन्नम्" इत्यादि अंतिम वाक्य में जो स्वर्गपद प्रवृति निमित धर्म का अभाव दिखलाया गया है और आत्मसुख की विशेषता बतलाई गई है, वह ज्ञानलब्ध सुख के समकक्ष ही है इसप्रकार "तमेतं वेदानु-वचनेन" इत्यादि श्रुति से, एक वाक्यता भी हो जाती है। अन्यथा तो विरोध ही है।

ननु दृष्ट फलकाअग्नि कारीरी चित्रादि यागाः श्रूयन्त इति नैवं निर्णय इति चेत्, उच्यते—नित्यकर्मणो हि ज्ञानसाधनत्वमुच्यते ब्रीहिपश्वादीनां तन्निर्वा हकत्वात्तच्छेषत्वेन तेषां विधानम्। एवं सति वीरहेति श्रुतिः साग्निकस्य गृहिण आलस्यादि दोषेण तदुद्वासने दोषमाह, नत्वाश्रमान्तर परिगृह इति मन्त-व्यम्। अन्यथा तदुच्छेदस्तद्विधिवैयर्थ्यं च स्यात्। न चानाधिकृतमादाय तत्स्वयमाहिरिति वाच्यम्। अत्र पृच्छामो अंधपंग्वादिभिः प्रव्रजनं कार्यम् इति विधिरस्याहोस्विद् यावज्जीवम् अग्निहोत्र विधायकवाक्यप्रव्रजनविधायक

वाक्ययोर्विरोधाभावाय विषयौभिन्नः कल्प्यते, नाद्यः, अश्रुतेः। न द्वितीयः, "यदहरेव विरजेत्" इति श्रुत्या वैराग्यवतः प्रव्रजन विधानात्तेनैव विषयभेदासिद्धौ तत्कल्पनानवकाशात्। तेन "नापुत्रस्यलोकोऽस्तीति" श्रुतिरप्यविद्वद् विषयिणीति न विरोधः। विद्वान्सः प्रजा न कामयन्ते" इति श्रुतेः। एतेन ऋणत्रय अपाकरणमपि प्रयुक्तं वेदितव्यम्। अविद्वद् विषयत्वात्।

यदि कहें कि—दृश्यफल वाले कारीरी चित्र आदि यज्ञों का विधान भी मिलता है, अतः उक्त निर्णय उचित नहीं है—उसपर कथन ये है कि—नित्यकर्म को ज्ञान का साधन कहा गया है, व्रीहिपशु आदि तो उसके निर्वाहक मात्र हैं इसलिए शेषत्व रूप से उनका विधान किया गया है। "वीरहा" आदि श्रुति, साग्निक गृही के आलस्य आदि दोष से छूटने की चर्चा कर रही है, किसी अन्य आश्रम को ग्रहण की चर्चा हो सो बात नही है। अन्यथा ऊक्त विधि का उच्छेद हो जायगा और वह विधि व्यर्थ हो जायगी। अनधिकार की बात को लेकर इस समस्या का समाधान नहीं कर सकते। इस पर प्रश्न है कि—अंधे लूले लंगड़े आदि के लिए संन्यास की विधि है अथवा जीवन पर्यन्त अग्निहोत्र विधायक वाक्य और संन्यास विधायक वाक्य के अविरोध के लिए, भिन्न विषयों की कल्पना की गयी है। पहली बात तो हो नहीं सकती, क्योकि—वैसी कोइ श्रुति नहीं है। दूसरी बात भी नही होगी क्यों कि—"यदहरेव विरजेत्" श्रुति वैराग्यवान व्यक्ति के संन्यास का विधान करती है, उसी से विषय का भेद सिद्ध हो जाता है, अतः उक्त कल्पना की गुंजायस ही नहीं रहती "निःसंतान को यह लोक नहीं मिलता" इत्यादि श्रुति भी अज्ञानी की चर्चा कर रही है, इसलिए कोई विरोध नहीं होता। "विद्वान प्रजा की कामना नहीं करते" इत्यादि श्रुति से उक्त बात स्पष्ट हो जाती है। इसी से, तीनों ऋणों की मुक्ति की बात भी कह दी गई है, ऐसा समझना चाहिए। ऋण से छूटने की बात तो अज्ञानी के लिए ही है।

यद्यप्युक्तमचोदना चेति सूत्रावयवेन चोदनाबोधक लिंगाद्यभावो बाधक इति। तदपि न साधीयः। श्रुतिसाम्यादेव। श्रूयतेहि "तस्मादेवं विच्छान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः श्रद्धान्वितो भूत्वा आत्मन्येवात्मानं पश्येत्" इति। न च प्रमाणवस्तु परतंत्रत्वान्न ज्ञानस्य विधेयतेतिवाच्यम् इतरज्ञानस्य तथात्वेऽपि जीवात्मलक्षणैऽधिष्ठाने परमात्मनो भगवतो दर्शनस्याऽन्यतोऽप्राप्तत्वाच्छद्धान्तसाधनैस्तद्दर्शने स्वरूपयोग्यतासंपत्तावात्मन्यधिष्ठाने परमात्मदर्शनानुकूल प्रयत्न विधान संभवाच्छ्रवण विधिना श्रुति वाक्यजशाब्दज्ञानानुकूल प्रयत्न विधानवत्।

एवमेव हि यागविधिनापि क्रियारूपयागस्य स्वानुकूल प्रयत्नाधीनत्वेन स प्रयत्न एव विधीयते, अन्याप्राप्तत्वात्, न तुक्रिया, तत्प्रयत्ने सति तस्याः स्वत एव संभवात् ।

यद्यपि "अचोदना च" इत्यादि सूत्रावयव से चोदना बोधक लिंग आदि का अभाव, बाधक कहा गया है, फिर भी वह साधीय नहीं है क्योकि—श्रुति साम्य है। जैसे कि—"इस प्रकार जानने वाले शान्त दान्त उपरत, तितिक्षु श्रद्धावान होकर आत्मा से आत्मा को देखते हैं।"

ऐसे भी नहीं कह सकते कि—प्रमाण वस्तु परतंत्र है अतः ज्ञान की विधेयता नहीं है। परमात्मा इतर ज्ञान की अवस्था में भी, जीवात्मा के अन्तःकरण में आत्मारूप से अधिष्ठित परमात्मा के ही दर्शन होते हैं किसी अन्य के नहीं, श्रद्धापूर्वक अन्य साधनों से उसके दर्शन की स्वरूप योग्यता का संपादन होता है। आत्मा में अधिष्ठित, परमात्मा दर्शन के अनुकूल प्रयत्न विधान संभव श्रवण विधि से, श्रुति वाक्य जन्य शाब्द ज्ञानानुकूल प्रयत्न विधान की अनुभूति होती है। इसी प्रकार यागविधि से भी, कियारूप याग की स्वानुकूल प्रयत्नाधीनता है, वह प्रयत्न ही विधि है, उससे अतिरिक्त किसी अन्य की विधीयता मिलती भी नहीं। क्रिया भी विधि नहीं है, उसका प्रयत्न करने पर वह तो स्वयं ही हो जाती है।

अथवा, ननु यथा वीरहेति श्रुत्या कर्मत्यागो निंद्यते तथैव, "असुर्यानाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः, तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति अविद्वांसो अवुधाजनाः।" ये तद्विदुरमृतास्ते भवन्त्यथेतरे दुःखमेवोपयन्ति" इत्यादि श्रुत्या भगवज्ज्ञानाभावो निंद्यते। एवं सति कर्मज्ञानानुकूलप्रयत्नयोविधेयत्वे मिथोविरोधादाधिकारिभेदेन विधेयत्वं वाच्यम् ।

जैसे कि—"वीरहा" इत्यादि श्रुति से कर्मत्याग की निंदा की गई है उसी प्रकार "सूर्य रहित तिमिराच्छन्न उस लोक में भगवद् ज्ञान रहित अज्ञानी जीव शरीर त्याग के बाद जाते हैं" जो उसे जानते हैं वे अमृत हो जाते हैं, जो नहीं जानते वे दुःख प्राप्त करते हैं" इत्यादि श्रुति से भगवद् ज्ञान के अभाव की निंदा की गई है। इस प्रकार कर्मज्ञान के अनुकूल प्रयासों की विधि से परस्पर जो विरोध है उसे अधिकारी भेद से विधेय मानना चाहिए।

न च "तांवत् कर्माणि कुर्वंति न निर्विद्येत यावत्" इति भगवद् वाक्यात्

रागिणः कर्म विधीयते। तद्रहितस्य ज्ञानमिति वाच्यम्। "जनको ह वैदेहो बहुदक्षिणेन यज्ञेनेज" इति श्रुतेर्नीरागत्वेन प्रसिद्धस्यापि तस्य कर्मणि प्रवृत्तिर्या सा न स्यादाधिकाराभावात्। अथ जनक दृष्टान्ते कर्मणोऽगित्व ज्ञानस्य तदंगत्वं वाच्यम्। तथा च ज्ञानवता कर्मानुष्ठेयमिति प्राप्ते प्रतिवदति— "अनुष्ठेयं बादरायणः साम्यश्रुतेः" ज्ञानमंगं तदंगित्वेनानुष्ठेयं कर्मेति मतं बादरायणोऽपवदतीति पूर्वेणसंबन्धस्तत्र हेतुमाह—"साम्यश्रुतेः" इति। स्वतोऽपुरुषार्थं कर्म फलार्थिनैवानुष्ठेयं, तथा च "एष नित्यो महिमा" इति श्रुत्या ज्ञानवति विहित निषिद्धयोः कर्मणोः फलाजनकत्वेन साम्यं श्रूयत इति फलार्थिप्रवृत्त्यसंभवन ज्ञानिनस्तथात्वाभावेन कर्मोच्छेद प्रसक्त्या न ज्ञानस्यांगत्वं वक्तुं शक्यम्। कृषीबलस्य व्रीहिणां वपने भजनस्येव। तथा च ज्ञानिन। प्रवृत्त्यसंभवेनान्येषां च अथेतरे दुःखमेवोपयन्तीति निन्दा श्रवणेन तथात्वात् सर्वार्थतत्त्वज्ञा श्रुति ज्ञानवद्भिर्भूतं कर्म कथं विदध्यादिति ज्ञानस्य पुरुषार्थाऽसाधकत्वोक्तिम् असहमानेनाचार्येण प्रौढ्या निरूपितम्।

"जब तक वैराग्य न हो तब तक कर्म करना चाहिए" इत्यादि भगवद् वाक्य में, रागियों के लिए कर्म का विधान किया गया हो सो बात नहीं है। अपितु कथन ये है कि—ज्ञान उससे भिन्न वस्तु है। "जनको ह वैदेहो" इत्यादि श्रुति से वैराग्य भाव संपन्न प्रसिद्ध जनक की जो कर्म में प्रवृत्ति दिखलाई गयी है, वह अधिकारी नहीं थे इस भाव से नहीं है। जनक के दृष्टान्त से निचिश्त होता है कि—कर्म अंगी है और ज्ञान उसका अंग है। इसलिए ज्ञानवान को कर्म का अनुष्ठान करना चाहिए, ऐसा ही निश्चित होता है। इस मत का प्रसिवाद "अनुष्ठेयं बादरायणः साम्यश्रुतेः" सूत्र से करते हैं। ज्ञान को अंग और कर्म को अंगी मानकर अनुष्ठान करना चाहिए इस पूर्व धारणा का बादराण प्रतिवाद करते हैं, श्रुति दोनों के लिए एक सा ही वर्णन करती है अतः दोनों ही एक दूसरे के पूरक हैं कोई बड़ा छोटा नहीं है। कर्म, स्वयं कोई पुरुषार्थ नहीं है, फलाकांक्षी को ही उसक अनुष्ठान करना चाहिए। 'एष नित्यो महिमा" इत्यादि श्रुति से, ज्ञानवान के संबन्ध में, प्रवृत्ति और निषिद्ध कर्म को फलजनकता नहीं होती अतः उसके लिए दोनों ही समान कहे गए हैं। ज्ञानी को फलार्थी की तरह प्रवृत्ति नहीं होती, ज्ञानी में फलार्थी की सी निष्ठा न होने से, कर्मोच्छेद प्रसक्ति की संभावना नहीं होती इसलिए ज्ञान को अंग नहीं कह सकते। ज्ञानी का कर्म वैसा ही होता है जैसे कि—किसान व्रीही को भून कर होता हो। ज्ञानी में प्रवृत्ति नहीं होती तथा अज्ञानी के लिए "इतरेदुःख मेवोपयन्ति" ऐसी निन्दा की गयी है; अतः सर्वार्थतत्त्वज्ञा श्रुति, ज्ञान से सर्वथा

विपरीत कर्म को विधि रूप से कैसे वर्णन कर सकती है, ज्ञान, पुरुषार्थ साधक नहीं है, इस कथन को सहन न कर के बादरायणाचार्य ने बड़ी दृढ़ता से, इस सूत्र में अपने सिद्धान्त का निरूपण किया है।

एवं सति पूर्व काण्ड वैयर्थ्यमापततीति तत्तात्पर्यमाह—

इस प्रकार तो पूर्वकाण्ड व्यर्थ हो जायगा ! इसपर कहते हैं—

विधिर्वा धारणवत् ।३।४।२०।।

यथा योग शास्त्रे मनः समाधे देव साध्यत्वात् तत्साधनत्वेन मानस्याः मूर्तेर्द्धारणं विधीयते, नतु स्वतंत्रया फल साधकत्वेन मनः समाधौ तत्यागात् । "ततः किंचन न स्मरेत्, तच्यापिबड़िशं शनकैर्वियुक्त", इत्यादि वाक्येभ्यस्तथा । तथा सति भक्तिसाधनत्वेनैवानुष्ठेयमिति तात्पर्येण कर्मविधिरुच्यते । न तु स्वतंत्रया फलसाधकत्वेन ।

जैसे कि योगशास्त्र में मनः समाधि से ही तत्त्व का साक्षात्कार होता है, उस साधन से ही मानसिक मूर्ति की धारणा होती है। मनः समाधि में यदि प्रतीक का त्याग कर दें तो, स्वतंत्र रूप से फल साधन संभव नहीं है। वैसे ही—भक्ति मार्ग में भी होता है—"ततः किंचन् न स्मरेत्', तच्यापि वडिशं शनकैर्वियुक्ते" इत्यादि वाक्य भक्तियोग के लिए वही बात करते हैं। भक्ति-योग में साधन रूप से कर्म का अनुसरण करना चाहिए, इसी तात्पर्य से कर्म विधि बतलाई गई है। सवतंत्र रूप फल साधक रूप से कर्म का विधान नहीं है।

ननु तत्र समाधिमधिकृत्य यमादीन् युक्तानि इति तन्मध्यपातित्वेन धारण-स्य तथात्वमुच्यते। प्रकृते ज्ञानं भक्ति वाऽधिकृत्य न कर्म विहितमिति दृष्टान्त वैशम्यमिति चेत्। न, उक्तानुपपत्त्या स्वानिन्द्यमेव कर्मश्रुतिर्विधाति इत्यवशयं वाच्यम्। निन्दयां चेतरपदात् ज्ञान मध्यपातिन एव तद्विषयस्य प्राप्ते-रावश्यकत्वात्।

यदि कहें कि समाधि में यम नियम आदि की उपादेयता है; उन्हीं में धारणा का भी महत्व है। ज्ञान या भक्ति में कर्म की तो कोई उपादेयता नहीं है, अतः ऊपर जो दृष्टान्त दिया गया वह सही नहीं है। सो बात नहीं है—उक्त अनुपपत्ति से, निश्चित होता है कि—पूर्वकाण्डीय श्रुति अपने अनिंद्य कर्म का ही विधान करती है निन्दा का जहां प्रसंग है, वहां इतर पद का प्रयोग किया गया है इतर पद ज्ञान मध्य वाली विषय का वाची है।

तथा च भगवज्ज्ञानस्यैतरनिरपेक्षत्वेन स्वरूपोपकारित्वमस्यकर्मणो वाच्यम् । चोक्तम् —"दानव्रततपोहोमजपस्वाध्यायसंयमैः, श्रेयोभिर्विविधैश्चान्यैः कृष्णे भक्ति र्हि साध्यते" इति। "एष नित्यो महिमा" इति श्रुतिरपि यज्ज्ञाने सति विहित निषिद्धकर्म फलसंबन्धः तद्वित् स्यादित्यनुक्त्वा तस्यैव पदविद् स्यादिति यदुक्तवती तेन पदयोर्भक्तिमार्गरूपत्वात् तत्र च पदयोरेव सेव्यत्वेन मुख्यत्वात् तद् ज्ञानानुकूल प्रयत्नमेव पूर्वं विधदते। तेन"शृण्वन्ति गायन्ति गृणन्त्यभीक्ष्णशः स्मरंति नन्दन्ति तवेहितं जनाः, त एव पश्यन्त्यचिरेणतावकं भव प्रवाहो परमं पदांबुजम्" इति बाक्याच्च वर्णाश्रमधर्मा आत्मधर्माश्च पदज्ञान साधनत्वेन कर्त्तव्या इति सिद्धम् । तस्यैव, तच्छब्दस्य प्रसिद्धार्थकत्वा ल्लोकवेद प्रसिद्धस्य पुरुषोत्तमस्यैव तत्रापि, पदविदेव, दीनभावेन भक्तिमार्गीय ज्ञानवानेव स्यादेवेत्येवकारः सर्वत्रानुपयुज्यते । तथा सति भक्तौजातायां स्वत एव भगवज्ज्ञानं भवति ज्ञापयितुं "तं विदित्वा" इति पश्यचादुक्तवती-तितदाशयो ज्ञायते । अतएव पूर्वं कर्मनिरूपितम्, साधनत्वात् ।

भगवत् ज्ञान, इतरवस्तु की अपेक्षा नहीं रखता, उक्त कर्म मोक्ष का उपकारी हो सकता है—जैसा कि भागवत का वाक्य भी है—"दान, ब्रत, तप, जप, होम, स्वाध्याय, संयम और भी अन्यान्य शुभ कर्म मोक्ष के उपयोगी है, कृष्ण तो भक्ति ही से साध्य है।" इत्यादि, "एष नित्यो महिमा" इत्यादि श्रुति बतलाती है कि— ज्ञान में विहित निषिद्ध कर्म फल का सम्बन्ध नहीं रहता। "तद्वित् स्यात्" इत्यादि से उनके सम्बन्ध राहित्य को दिखला कर उसे ही "पदवित् स्यात्" से निश्चित करके, उन दोनों को भक्ति मार्गीय और सेव्य होने से ज्ञानानुकूल प्रयत्न कहा है। वे भक्त भगवद् कथाओं को सुनते, भगवान के नामो का गान करते स्मरण करते हुये प्रसन्न होते है और वे शीघ्र ही संसार सागर से पार करने वाले आप के चरणाविन्दों की प्राप्ति कर लेते हैं।" इत्यादि वाक्य से, वर्णाश्रम धर्म और आत्मधर्म को, परम्पद ज्ञान के साधन रूप से कर्त्तव्य कहा गया है उक्त प्रसंग में प्रयुक्त तत् शब्द, लोक और वेद में पुरुषोत्तम के लिये ही प्रसिद्ध है "पदविदेव" में जो एवकार है वह "दीन भाव से भक्तिमार्गीय ज्ञानवान के लिये ही विशिष्ट अर्थ का द्योतक हैं। भक्ति होने पर भगवद् ज्ञान स्वयं ही होता है इस बात को बतलाने के लिये बाद में "तं विदित्वा" इत्यादि पद कहा गया है। इस प्रकार साधन रूप से कर्म का पहिले ही निरूपण किया गया है।

स्यादेतत्—भक्तिसाधनत्वमेव चेत् कर्मणः श्रुतेरभिप्रेतं तदा भगवद्विदि

तत्फलासंबन्ध इत्यनुपपन्नमिति चेत् । मैवम्—कर्मणां हि भक्त्युत्पत्तौ स्वरूप-योग्यतासंपादकत्वमेव, "नायमात्मेति श्रुतेः" । कर्मज्ञानाभ्यामलभ्यत्वाद्भग-वतः स्वरूप योग्यतापेक्षऽपि मार्यादिकस्य, नतु पौष्टिकस्यात् एव, वाशब्द उक्तोऽपि नियमवाचो । तथासति भगवदनुग्रहश्चेत्तदा भक्तिस्तया पुरुषोत्तमज्ञानं तदा कर्मतत्फलसंबन्धगंधोऽपिनेति किमनुपपन्नम् । एतेन "तमेव विदित्वा मुनिर्भवति" "अग्राह्यो न हि गृह्यते" इत्यादि श्रुतीनां मिथो विरोधः परिहृतः । भक्त्या ग्राह्यत्वात् । अतएव विविदिषन्ति, नतु विदंति अपीत्याशयवती—"तमेतं वेदानुवचनेन" इति श्रुतिः पठ्यते ।

(वाद) हो सकता है, भक्ति साधन के रूप में ही कर्म, श्रुति को अभिप्रेत हो, किन्तु इस स्थिति में तो भगवद् ज्ञाता, उस कर्म के फल से अछूता रह नहीं सकता । (विवाद) ऐसी बात नहीं है, भक्ति की उत्पत्ति हो जाने पर कर्म, स्वरूपयोग्यता का सम्पादन करते हैं' "नायमात्मा" श्रुति से यही आशय प्रकट होता हैं । भगवद् प्राप्ति, कर्म और ज्ञान दोनों से नहीं हो सकती, परन्तु मर्यादा मार्ग मे स्वरूप योग्यता संपादन के लिये उनकी अपेक्षा होती है, पुष्टि मार्ग में उनकी कोई अपेक्षा नही होती यही बात अनियमवाची वा शब्द से सूत्रकार कह रहे हैं । जब भगवदनुग्रह से भक्ति और भक्ति से पुरुषोत्तम ज्ञान हो जाता है, तब कर्म और उनके फल की गन्ध भी नहीं रहती, कुछ भी नहीं बिगड़ता । "तमेव विदित्वा मुनिर्भवति" अग्राह्यो न हि गृह्यते" इत्यादि श्रुतियों से उक्त पारस्परिक विरोध का परिहार कर दिया गया है क्योंकि—भगवान भक्ति से ग्राह्य हैं । "तमेतंवेदानुवचनेन" इत्यादि श्रुति, विविदिषा का भाव प्रकट कर रही है, प्राप्ति भाव का द्योतन नहीं कर रही है ।

न चानुपदमेव "तमेवविदित्वा मुनिर्भवति" इत्युक्तेः सान्निध्यादुक्त साधनैरेव वेदनमभिप्रेतानिति वाच्यम् । वेदानुवचनादीनां सर्वेषां वेदन साध-नत्वे सर्वेषां तत्कर्तॄणां वेदन संभवेत्, "मुनिर्भवति" इति एकत्वं तद्विदि न वदेत् अतो ज्ञानं कस्यचिदेकस्य भवति इति ज्ञानस्यदुर्लभत्वं ज्ञाप्यते । "मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद् यतति सिद्धये, यततामापि सिद्धानां कश्चिन्मां वेतितत्वतः "इति भगवद् वाक्याच्च । तर्हि वेदानुवचनादिषु निःशंका प्रवृत्तिः कथम् ? इत्थम्—"स वा अयमात्मा" इत्यादिकया पूर्वं श्रुत्या भगवन्माहा-त्म्यं श्रुत्वा यथाकथंचिद् तद्वेदनौत्सुक्ये सति सत्संगाभावेन भक्तिमार्गाऽ-परिचयात् । कर्ममार्गमात्रमाश्रमधर्मत्वेनालौकिकार्थ साधकत्वेनापि पूर्वज्ञात मस्तीति तदेव भगवद् वेदनेऽपिसाधनामितिमन्यमानास्तदेवकुर्वन्ति । ननु

वैदिक साधनानां वैयर्थ्यं कथमिति चेत्, भ्रमकृतत्वेऽपि जन्मान्तरीयाक्षर-ज्ञानोपयोगि संस्काराधायकत्वेनावैयर्थ्यात् ।

"वेदानुवचनेन" में प्रयुक्त अनुपद से ये न समझ लेना चाहिये कि, "उसे जानकर मुनि होता है" इत्यादि श्रुति में जो सान्निध्य दिखलाया गया वह उक्त साधनों की जानकारी की ओर इंगन कर रहा है। वेदानुवचन आदि समस्त वाक्य, वेदन को साधन रूप से वर्णन करते हैं और सभी वेत्ताओं में वेदन होता भी है, उस दृष्टि से "मुनिर्भवति" वाक्य ब्रह्मवेत्ता एकता को बतलाता हो सो बात नहीं है अपितु किसी एक को ज्ञान होता है, ऐसी ज्ञान की दुर्लभता बतला रहा है। "हजारों मनुष्यों में कोई एक मुझे जानने का प्रयास करता है, प्रयास करने वालों में कोई एक मुझे सही ढंग से जान पाता है" इत्यादि भगवद् वाक्य से भी ज्ञान की दुर्लभता निश्चित होती है। यदि ऐसी बात है तो, वेदानुवचन आदि में निःशंक प्रवृत्ति कैसे संभव है? "स वा अयमात्मा" इत्यादि पूर्व श्रुति से भगवद् माहात्म्य सुनकर जो कुछ परमात्मा को जानने की उत्सुकता होती है वह सत्संग न मिलने पर भक्ति के स्वरूप को न जानने के कारण असफल हो जाती है। कर्म मार्ग में केवल आश्रम धर्म का ही तो पालन होता है कोई अलौकिकार्थ साधन तो होता नहीं, अतः माहात्म्य ज्ञान हो जाने पर भी उसे साधन मात्र ही मान लिया जाता है और उसी को करते भी हैं। इस प्रकार वैदिक साधन भक्ति मार्ग में भ्रामक हैं। यदि कहे कि तब तो वैदिक साधन व्यर्थ हुए? सो बात नहीं है—भ्रामक होते हुये भी जन्मान्तरीय अक्षर ज्ञानपयोगी संस्काराधायक होने से वे व्यर्थ नहीं हैं।

स्तुतिमात्रमुपादानादितिचेन्नाऽपूर्वत्वात् ।३।४।२१॥

ननु सास्यश्रुतेर्हेतोः कर्मशेषत्वं ज्ञानस्य यदपास्तं तन्नोपपद्यते। साम्योक्तेर्ज्ञानस्तुतिरूपत्वात्। अपि च—तथा ज्ञानिनोऽपि कर्मोपादानात् कर्मकृतिस्वीकारादिति यावत्। अन्यथा ज्ञानिनां कर्मकृत्यभावेन तत्कृतगुणदोषाप्रसक्त्या तन्निषेधानुपपत्तिः स्यात्, तेषामपितत् कृत गुणदोष संबंधोऽस्त्येवेति ज्ञापनाय मात्रपदम्। निषेधेनेतर साधारण्यं परिह्रियते। तथा च ज्ञानिनोऽपि कर्म करणात् कर्मशेषत्वं ज्ञानस्य निष्प्रत्यूहम् इति चेत् नैवं वक्तुं युक्तम पदज्ञानस्य कर्मफलासंबंध फलकत्वस्यापूर्वत्वाद् विधेयत्वमेव।

साम्य श्रुति के आधार पर जो ज्ञान की कर्मशेषता का निराकरण किया गया, वह हो नहीं सकता, साम्योक्ति तो ज्ञानस्तुति रूप है। दूसरी बात ये है कि—ज्ञानी भी, उपादान रूप से कर्म करते हैं, अतः वे भी कर्मकृति को

स्वीकारते हैं। यदि ज्ञानी कर्म नहीं करते तो कर्म संबंधी गुणदोष न लगने की जो बात आपने कही है वह कैसे संगत होगी। ज्ञानियों में भी कर्मकृत गुणदोषों का संबंध है, इस बात को बतलाने के लिये ही सूत्रकार मात्र पद का प्रयोग कर रहे हैं। 'मात्र' ऐसे विशेष प्रयोग से अन्य साधारण का स्वतः ही परिहार हो जाता है। तथा ये भी कहना ठीक नहीं है कि—ज्ञानी कर्म करता हैं अतः ज्ञान की कर्म शेषता स्पष्ट हैं। परमात्मा का ज्ञान हो जाने के फलस्वरूप कर्मफल से संबंध नहीं रह जाता, ज्ञान के पूर्व तो वे विधेय हैं ही।

न हि यस्य कर्मणो ज्ञानस्य वा यत्फलं तदुक्तिरपि स्तुतिरेवेति युक्यतम् तयोरुच्छेदापत्तेः। विधिर्हि प्रवर्त्तकः। तस्य पुरुषप्रवृत्त्युपयोग्यर्थकथनेनैव चारितार्थ्यादन्यार्थकथनस्य स्तुतित्वमस्तुनाम। न ह्येवं प्रकृते। मुमुक्षोः कर्म-बन्धाभावप्रेप्सोस्तत्साधनत्वज्ञानं एवं प्रवृत्ति संभवात्। यच्च कर्मफलसंबंध-निषेधानुपपत्या कर्मसम्बन्ध इत्युक्तम्। तन्न साधीयः। न हि तरणौ तमः कार्याभाव इत्युक्ते तत्प्राप्तिरपि संभवति अथवा पुरुषोत्तमज्ञानमुख्यफलस्याति महत्वेन साक्षात्वक्तुमशक्यत्वं ज्ञापयन्ती कैमुतिकन्यायेन परम्परया तदाहान-यर्चा "तं विदित्वा ब्राह्मणो भवति" इति श्रुते ब्राह्मणपदेन ब्रह्मविदुच्यते। तथाचाद्यपदेन बुद्धिस्थ ब्राह्मण माहात्म्योद्देशे कृते, स क इत्याकांक्षायामाह— "तं ब्राह्मण' विदित्वा विहित निषद्धफलासंबंधी भवति "इति लक्षण इत्यर्थः। साक्षात् भगवद्विदः किमु वाच्यम्? इति भावः। अतस्तस्यैवतच्छब्दस्य पूर्वं परामर्शित्वाद् ब्राह्मणस्यैव भगवद्विदो भक्तस्यैव पदविन्न स्यात्। तज्ज्ञानानुकूलप्रयत्नवान् स्यात् तद्भजेत् इति यावत् तथा च यत्र भक्तविद् विषयक ज्ञानस्याप्युक्तरीत्या न कर्मशेषत्वं वक्तुं शक्यं, तत्र भगवज्ज्ञानस्य तथात्वं दूर दूरतरमिति सर्वं सुस्थम्।

जिस ज्ञान या कर्म का जो फलोल्लेख है वह स्तुतिमात्र ही है ऐसा कहना ठीक नहीं है, ऐसा मानने से तो उनको मान्यता ही समाप्त हो जावेगी। किसी वस्तु की विधि ही उस वस्तु की प्रवर्त्तक होती है, पुरुष प्रवृत्योपयोगी कथन में ही उसकी चरितार्थता है, स्तुति तो अन्यार्थ कथन को कहते हैं। उक्त ज्ञान कर्म के फल को स्तुति नहीं कह सकते। मोक्ष की भावना भी जभी संभव है जब कि—कर्म ज्ञान के फल के वास्तविक बन्धन का ज्ञान हो जब फल स्तुतिमात्र होगा तो मुमुक्षुत्व भाव होगा ही क्यों? जो यह कहा कि कर्मफलसम्बन्ध का निषेध संभव नहीं है अतः कर्म संबंध अवश्य

है, सो बात भी साधीय नहीं है। सूर्य में जब, अन्धकार रूपी कार्य का अभाव मान लिया गया, तब उसकी प्राप्ति तो संभव हो नहीं सकती अतः भगवत प्राप्ति में जब ज्ञान, कर्म का अभाव है तब, उसकी प्राप्ति होगी कहाँ से ?

पुरुषोत्तम ज्ञान ही मुख्य फ़ल है जो कि अति महत्वपूर्ण है, उसे स्पष्ट रूप से कहना सम्भव नहीं है कैमुतिक न्याय से वह परम्परा प्रसिद्ध है ऐसा "तंविदित्वा ब्राह्मणो भवति" इत्यादि श्रुति का तात्पर्य है। इसमें प्रयुक्त ब्राह्मण पद, ब्रह्मविद अर्थ का द्योतक है। "एषनित्य" इत्यादि पद बुद्धिस्थ ब्राह्मण माहात्म्य के उद्देश्य से प्रस्तुत किया गया है। वह ब्राह्मण क्या है ? ऐसी आंकाक्षा होने पर कहा गया है कि—"उस प्रभु को जान कर ब्राह्मण, विहित निषद्ध फल के सम्बन्ध से रहित हो जाता है।" यही ब्राह्मण का लक्षण है। अर्थात् जो साक्षात् ब्रह्म कहा जाता है, उसके लिए कुछ भी कहना कैसे सम्भव है ? तत् शब्द से उस परमात्मा का पहिले उल्लेख किया गया, बाद में उसे ब्रह्म पद से सम्बोधित किया जाता है। वह ब्राह्मण, परत्माज्ञान के अनुकूल प्रयत्न करता हुआ उसका भजन करता है अतः वह भक्त है। इस प्रकार के ज्ञानी भक्ति के लिये कर्मशेषता की बात कहना शक्य नहीं है फिर भगवद् ज्ञान की कर्मशेषता की बात तो बहुत दूर है।

२ अधिकरण :—

पारिप्लवार्था इति चेन्न विशेषितत्वात्। ३।४।२२।

अथ प्रकारान्तरेण शंकते। "भृगुर्वै वारुणिर्वरुणं पितरमुपससार।" "अधीहि भगव"-इति होपससाद सनत्कुमारं नारदः।" "प्रतर्दनो ह वै दैवोदासिरिन्द्रस्य प्रियं धामोपजगाम्" इत्यादि उपाख्यानैर्हि ब्रह्मविद्या निरूप्यते। "सर्वाख्यानानि पारिप्लवे शंसतीति श्रुत्या शंसन शेषत्वं तेषामवगम्यते। शंसने शब्दमात्रस्य प्राधान्येनार्थज्ञानस्यातथात्वदुपदेशान्ताख्यानप्रतिपाद्यं ज्ञानं मंत्रार्थवद प्रयोजकमिति कर्मशेषत्वं अपि न वक्तुं शक्यम्। प्राधान्यं तु दूरापास्तम्। धर्मिणि एवासिद्धिरित्याह—पारिप्लवार्था इति। उक्त रीत्या सर्वा उपाख्यानश्रुतयः कर्मशेषभूता इत्यर्थः। अत्राचार्य एवमपि कर्मशेषत्वं ज्ञानस्य न संभवति इत्याह-नेति-कुतः ? विशेषितत्वात्—कर्मणः शकाशाज्ज्ञानं विशेषितमधिकधर्मविशिष्टत्वेनोक्तमिति न ज्ञानस्य कर्मशेषत्वमित्यर्थः।

अब प्रकारान्तर से पुनः शंका करते हैं कि—"भृगुर्वै" "अधीहि भगव"

"प्रतर्दनो हवै" इत्यादि उपाख्यानों से ब्रह्मविद्या का निरूपण किया गया है। "सभी उपाख्यान पारिप्लव रूप से प्रशंशा करते हैं" इत्यादि श्रुति से उपाख्यानों की शंसनशेषता ज्ञात होती है। शंसन में शब्द मात्र का प्राधान्य रहता है, अर्थज्ञान की प्रधानता नहीं होती। उपदेशान्त आख्यानों का प्रतिपाद्य ज्ञान मंत्रार्थ की तरह प्रयोजक होता है, अतः कर्मशेषता की बात नहीं कही जा सकती। कर्म प्राधान्य की बात तो बहुत दूर है। अंतः धर्मी की असिद्धि हो जाती है। इस पर कहते हैं, "पारिप्लवार्थाः।" उक्त रीति से तो सारी उपाख्यान श्रुतियां कर्मशेषभूत ही सिद्ध होती है। किन्तु बादरायण आचार्य कहते हैं कि—फिर भी ज्ञान की कर्मशेषता संभव नहीं है क्योंकि—कर्म से ज्ञान, अधिक विशेष धर्म वाला कहा गया है अतः ज्ञान की कर्मशेषता नहीं हो सकती।

ननु विशेषितत्वमाख्यानेष्वेवेत्यप्रयोजको हेतुरिति चेन्मैवम्, आचार्याशयानवगमात्। तथाहि—"पूर्वं तुष्यतु दुर्जनः" इति न्यायेनाख्यानानां शंसन शेषत्वमुपेक्षित्वोच्यते। न हि आख्यानेष्वेवं ज्ञानं निरूप्यते, किन्त्वन्यत्रापि। तथाहि तैत्तरीयके पठ्यते—"ब्रह्मविदाप्नोति परं, तदेषाभ्युक्ता, सत्यं ज्ञानमनंतं ब्रह्म" इत्युपक्रम्यं माहात्म्यविशेष ज्ञानार्थं आकाशादि कर्त्तृत्वमुक्त्वा आनन्दमयत्वं रसरूपत्वम् उक्त्वा "भीषास्मात्" इत्यादिना सर्वनियामकत्वं चोक्त्वा भगवानेव पूर्णानन्द इति ज्ञापनायानन्दगणनां कृत्वा आनन्दमयं पुरुषोत्तमं प्राप्तेनानुभूयमानान्दस्वरूपं—"यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह" इत्यादिनोक्त्वा तद्विदो माहात्म्यं उच्यते। "एतंहवावन तपति किमहं साधु नाकरवं किमहं पापमकरवामिति" अत्र ज्ञानवान सच्चिद्रूपदेशकालापरिच्छिन्नं सर्वं कर्त्तारं निरवध्यानानन्दात्मकं सर्वनियामकं मनोवागगोचरं पुरुषोत्तमं प्राप्नोति। कर्म तु स्वयं क्लेशात्मकं तद्वांश्चास्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्तीति श्रुतेः क्षुद्रतरानंदजनक स्वर्गपश्वादिफलमाप्नोतीति विहितनिषिद्धकर्मणोश्चाप्रयोजकत्वं तस्मिन्नुच्यत इति कर्मणः सकाशाज्ज्ञानस्य निरवधिरेव विशेष उच्यत इति, न धर्म्यसिद्धिर्न वा कर्मशेषत्वं ज्ञानस्य सिद्ध्यति।

यदि कहें कि—विशेषता तो आख्यानों में ही आ जाती है अतः सूत्रकार ने व्यर्थ सा हेतु प्रस्तुत किया है, सो आप आचार्य के आशय को नहीं समझ सके हैं, तभी ऐसी बात कर रहे हैं। "पूर्वं तुष्यतु दुर्जनः" इस न्याय के अनुसार आख्यानों की शंसन शेषता की उपेक्षा की गई है। आख्यानों में ही ज्ञान का

निरूपण नहो है अन्यत्र भी है। इसके अतिरिक्त तैत्तरीयोपनिषद् में—"ब्रह्म-विदाप्नोति परं, सत्यंज्ञानमनन्तं ब्रह्म" इत्यादि उपक्रम करते हुए, माहात्म्य-विशेष को बतलाने के लिए आकाश आदि का कर्त्तृत्व बतलाकर, आनंदमयता की रसरूपता बतलाकर—"भीषास्मात्" इत्यादि से सर्वनियामकता बतलाकर, भगवान ही पूर्णानन्द हैं इस बात को बतलाने के लिए आनन्दगणना करके आनंदमय पुरुषोत्तम रूप से प्राप्त अनुभूत आनन्दस्वरूप को "जिसको, मन सहित वाणी, न पाकर लौट आती है" इत्यादि से बतलाकर, उनको जानने वालों का माहात्म्य बतलाते हैं। उक्त प्रसंग में बतलाया गया है कि—ज्ञानवान भक्त, सच्चिदानंद रूप, देशकाल से अपरिच्छिन्न, सबके कर्त्ता, निरवध्यानानंदात्मक, सर्वनियामक, मनवाणी से अगोचर पुरुषोत्तम को प्राप्त करते हैं। कर्म तो स्वयं ही क्लेशात्मक है "अस्यैवानंदस्यान्यानिभूतानि मात्रामुपजीवंति" इत्यादि श्रुति से ज्ञात होता है कि—कर्मासक्त व्यक्ति क्षुद्रतर आनन्द जनक स्वर्ग पशु आदि सुख रूप फल को ही प्राप्त करते हैं, जबकि ज्ञान में विहित और निषिद्ध कर्मों की अप्रयोजकता बतलाई गई है, कर्म से ज्ञान की निश्चित ही असीम विशेषता बतलाई है, अतः धर्मी की असिद्धि और ज्ञान की कर्म शेषता दोनों बातों की सिद्धि नहीं होती।

तथाप्याख्यान प्रतिपादितविद्यानामसिद्धिरेवेतिचेत्तत्राह—

यदि कहें कि—फिर भी आख्यानों में प्रतिपादित विद्या की सिद्धि तो नहीं होती, उसका उत्तर देते हैं—

तथा चैकवाक्यतोपबंधात् ।३।४।२३।।

यथा केवल श्रुते विद्याप्राधान्यं तथैवोपाख्यान श्रुतीनां इत्यर्थः। चकारेण प्रश्नोत्तरैर्निर्णीतार्थं प्रतिपादनम्। महतामेवात्र प्रवृत्तिः। सापि वह्वायासपूर्वकेति विद्यामाहात्म्य ज्ञापनं प्ररोचनं चाधिकमुपाख्यानानामुपाख्यानं विनैव विद्या निरूपिकायाः श्रुतेः सकाशादित्युच्यते। तत्रहेतुरेकवाक्यतोपबंधादिति। "आचार्यवान् पुरुषो वेद" इति श्रुत्यैकवाक्यताज्ञानमाख्यानं विना न भवति इति तदर्थमुपबन्धात् गुरुशिष्यकथोपबन्धादित्यर्थः।

जैसे कि—केवल श्रुति से विद्या की प्रधानता बतलाई गई है वैसे ही उपाख्यान श्रुतियों से भी बतलाई गई है। उपाख्यान श्रुतियों में विद्या का, प्रश्नोत्तर रूप से निर्णय करते हुए, प्रतिपादन किया गया है। महान् ऋषियों

की, इसी प्रणाली से प्रवृत्ति होती है। विद्या का माहात्म्य बड़े प्रयास के उपरान्त समझ में आता है इसलिए रोचक उपाख्यानों से उसे समझाया गया है, जो रहस्य उनमें निहित है वह, उपाख्यान रहित विद्या को निरूपण करने वाली श्रुतियों से ही आया है, अतः उन दोनों में एक वाक्यता है। "आचार्यवान् पुरुषोवेद" अर्थात् "गुरुवाला ही परमात्मा को जान सकता है" इस श्रुति में कथित ज्ञानार्जन, बिना उपाख्यानों के संभव नहीं है, उसके लिए ही गुरु शिष्य संवाद रूप उपाख्यानों का गुम्फन किया गया है।

अथवोपाख्यानरहितायां श्रुतौ यथाज्ञानं निरूप्यते तथैव "अधीहिभगव इतिहोपसाद सनत्कुमारं नारद" इत्याख्यानेष्वपि निरूप्यत इति अनाख्यान श्रुत्यैकवाक्यतयैवाख्याने ज्ञानस्वरूपोपबन्धात् प्रतिपादनादित्यर्थः नैकट्यवाचनोपपदेन वस्तुसती या तत्तद्गुरु तत्तच्छिष्यकथा तत् सामीप्यमत्रोच्यते। अन्यथा सामीप्यासंभवादतः कल्पितत्व शंका निरासः।

जैसे कि उपाख्यान रहित श्रुति में ज्ञान का निरूपण किया गया है वैसे ही "भगव इति होपसाद" इत्यादि आख्यान में भी किया गया है। अनाख्यान और आख्यान दोनों में ज्ञान स्वरूप की ही विवेचना है अतः दोनों में एक वाक्यता है। उक्त सूत्र में उप पद नैकट्य वाची है जो कि—गुरु शिष्य के निकट संबंध को बतला रहा है। गुरु शिष्य के संवाद को कल्पित नहीं कह सकते सूत्रकार उप पद से कल्पितत्व शंका का निरास कर रहे हैं।

नन्वेमपि पारिप्लवार्थत्वे न बाधकं पश्याम इति चेद् उच्यते—अश्वमेध प्रकरणे—"मनुर्वैवस्वतो राजा" इत्यादीन्याख्यानानि यत्र पठितानि तत्र सामान्यतस्तेषां विनियोगः, सर्वाण्याख्यानानि आख्यानान्तरपरोऽपि, प्रकरणस्य नियामकत्वात्। एवं सति यदा पारिप्लवाख्यकर्म प्रस्तावस्तदा विशेष विनियोग उक्तः। "पारिप्लवमाचक्षीत्" इति। तत्र प्रथमेऽहनि "मनुर्वैवस्वतो राजा" इति, द्वितीये अहनि "इन्द्रो वैवस्वतः" इति, तृतीयेऽहनि—"यमो वैवस्वतो राजा" इति आख्यान विशेषाः वाक्यशेषे विनियुज्यन्ते। आख्यान सामान्यपरत्वे त्वहोविशेष उपाख्यान विशेष विधानं न स्यात्। अतएव पारिप्लवं इत्येक वचनमतः नाख्यानान्तर गन्धसंबंधोऽपि, प्रापकाभावात्।

यदि कहें कि—इतने पर भी हम, औपनिषद् आख्यानों को पारिप्लवार्थक मानने में कोई वाधा नहीं समझते, तो सुनिये—अश्वमेध यज्ञ के प्रकरण में—

"मनुर्वैवस्वतो राजा" इत्यादि आख्यानों का जहाँ पाठ किया जाता है, वहाँ उनका सामान्य रूप से विनियोग होता है। "सभी आख्यान पारिप्लव की प्रशंसा करते हैं" ऐसा कहा गया है, इसमें, सर्व शब्द आख्यानपरक होगा, आख्यानान्तर परक न होगा, क्योंकि वह प्रकरण की नियामकता में हैं। इस प्रकार जब प्रकरण में पारिप्लव नामक कर्म का प्रस्ताव किया जाता है तब विशेष विनियोग होता है। "पारिप्लवमाचक्षीत" ऐसा प्रस्ताव किया जाता है। उस जगह पहिले दिन "मनुर्वैवस्वतो राजा" दूसरे दिन 'इन्द्रो वैवस्वतः" तीसरे दिन "यमो वैवस्वता राजा" इत्यादि विशेष आख्यान वाक्य के अन्त में जोड़े जाते हैं। जहाँ आख्यान सामान्य रूप से कहे गए हैं वहाँ दिन विशेष, या उपाख्यान विशेष का विधान नहीं है। पारिप्लव शब्द में इसलिए एक वचन का प्रयोग किया जाता है, उसमें तो आख्यानान्तर की गन्ध भी नहीं है, आख्यानान्तरों में प्रापकत्व का अभाव है।

अतएव चाग्नीन्धनाद्यनपेक्षा।३।४।२४॥

एवं पुरुषार्थोऽतः शब्दादित्युपक्रम्य ज्ञानस्य फलसाधने कर्माऽनपेक्षत्वमुपपाद्य तत्रैवोपपत्त्यन्तरमाह। यतो ज्ञानी ज्ञानेन स्वयमेव यज्ञात्मको जातोऽत एवं जरामर्याग्निहोत्रेऽग्निस्तदिन्धनं समिदादि, तदादय आज्यादयः तेषामनपेक्षा उक्ता। तैत्तरीयके पठ्यते—"तस्यैवं विदुषो यज्ञस्यात्मा यजमानः श्रद्धा पत्नी शरीरमिध्ममुरो वेदिर्लोमानि बर्हिर्वेदः शिखा हृदयं यूपः कामआज्यं मन्युः पशुस्तपोऽग्निः" इत्यादि। एतेत यदन्यस्य यज्ञतासंपादकं तस्य स्वकार्य साधने कथं यज्ञापेक्षाभवेदिति भावः सूच्यते।

"पुरुषार्थोऽतः शब्दात्" सूत्र से बादरायण विषय का उपक्रम करते हुए ज्ञान को फल का साधन बतलाकर उसमें कार्य की अनपेक्षता का उपपादन करते हुये अब दूसरी उपपत्ति उपस्थित करते हैं कि—जो ज्ञानी ज्ञान से स्वयं ही यज्ञात्मक हो जाता है उसे इन्धन अग्नि आज्य आदि यज्ञीय साधनों की अपेक्षा नहीं होती। तैत्तरीयक स्रुति में इसका स्पष्टोल्लेख भी है—"परमात्मा के स्वरूप का ज्ञान ही उस ज्ञाता का यज्ञ है, उसका आत्मा यजमान है, श्रद्धा पत्नी है, शरीर इन्धन है, उर ही वेदी है, हृदय यूप है, कामघृत है, क्रोध पशु हैं, तप अग्नि है "इत्यादि। इसमें दिखलाया गया है कि जो अपने ज्ञान से दूसरों की यज्ञता का सम्पादन कर सकता है, उसे अपने कार्यसाधन में, यज्ञ की अपेक्षा कैसे हो सकती है।

सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववत् ।३।४।२५।।

उक्तन्योयेन ज्ञानं प्रति कर्मणः फलोपकारित्वाभावेऽपि स्वरूपोपकारित्वमस्ति न वेति चिन्त्यते। तत्र नेति पूर्व पक्षः ! गुरुपसत्तितदुपदेशैरेवतत् संभवादाचार्यवान् पुरुषोवेदेति श्रुतेः अत्र सिद्धान्तमाह—सर्वापेक्षेति–सर्वेषां कर्मज्ञानभक्तीनां पुरुषोत्तम ज्ञानोत्पत्तावस्त्यपेक्षा। अत्र प्रमाणमाह–यज्ञादि श्रुतेरिति यज्ञादि निरूपिका श्रुतिरेव प्रमाणंयत् इत्यर्थः। इदमत्राकूतम् पुरुषोत्तम एव स्वतंत्रपुरुषार्थरूपस्तत्प्राप्तिरेवफलम्। तत्र प्रेम भक्तिजं तज्ज्ञज्ञानमेव साधनमिति "ब्रह्मविदाप्नोति परम् "इत्यादिना" एतद् विदुरमृतास्ते भवंति "इत्यादि श्रुति सहस्रैस्त प्रतिपाद्य ते। "अथेतरे दुःखमेवोपयन्ति" इति श्रुत्या ज्ञानरहितानां दुःखमात्र प्रप्तिरुच्यते। एवं सति स्वतोऽपुरुषार्थरूपं यज्ञादिकं सर्वार्थतत्वप्रतिपादिका श्रुतिः यन्निरूपयति तत्सर्वथा पुरुषार्थसाधनत्वेनैवेतिमन्तव्यम्। तच्च निष्कामतयैव कृतं तथा।

अब विचार करते हैं कि—ज्ञान के प्रति कर्म की फलोपकारिता का तो अभाव है ही, स्वरूपोपकारिता है या नहीं? इस पर पूर्वपक्ष का कथन है कि—"आचार्य वान् पुरुषोवेद" इस श्रुति' से तो यही निश्चित होता है कि–गुरुशरणापत्ति और उनके उपदेश से ही स्वरूप प्राप्ति हो सकती है अतः कर्म की कोई अपेक्षा नहीं है। सूत्रकार का सिद्धान्त है कि—पुरुषोत्तम ज्ञान में, कर्मज्ञान भक्ति सभी की अपेक्षा है। यज्ञादि की निरूपिका श्रुति ही इसका प्रमाण है। पुरुषोत्तम ही स्वतंत्र पुरुषार्थ रूप हैं, उनकी प्राप्ति ही फल है प्रेमा भक्ति जन्य परमात्मज्ञान ही उस फलाप्राप्ति का साधन है। "ब्रह्म विदाप्नोतिपरम्" इत्यादि श्रुति से यही निष्कर्ष निकलता है "एतद्‌विदुरमृतास्ते भवति" इत्यादि हजारों श्रुतियाँ उक्त बात की पुष्टि करती हैं। "अथेतरे दुःखमेवोपयंति" श्रुति, ज्ञान रहित लोगों को दुःख प्राप्त होता है, ऐसा बतलाती है। इस प्रकार स्वयं अपुरुषार्थ रूप यज्ञ आदि सर्वार्थतत्वों की प्रतिपादिका श्रुति जो निरूपण करती है उसे, पुरुषार्थ साधक रूप से ही कह रही है, ऐसा मानना चाहिये, और वह साधन निष्काम रूप से ही होता है, ये भी मानना चाहिये।

अतएव वाजसनेयि शाखायां—"यथाकारी यथाचारी तथा भवति, साधुकारी साधुर्भवति, पापकारी पापो भवति "इत्युपक्रम्य पठ्यते —"तस्माल्लोकात् पुनरेत्यस्मैलोकाय कर्मण इति तु कामयमानो अथाकामयमानो

योऽकामो निष्काम आप्तकाम आत्मकामो भवति, न तस्मात् प्राणा उत्क्रामंति अत्रैव समवनीयन्ते ब्रह्मैव सन् ब्रह्मप्येति" इत्यादि । अत्र अथाकामयमानः कर्त्ता निरूप्यत इति शेषः । यः पुमान् कर्मकृतावकामस्ततो निष्कामः सन्नात्मकामो निरुपधिस्नेहवान् प्रभौततो भगवत्प्राप्त्या आप्तकामो भवतीत्यर्थः । अत्र यथाकारी इत्यादिना कर्मकर्त्तुरेवोपक्रमादथकामायमान इत्यनेनापि तथाभूतः स एवोच्यते । एवं सति सत्कर्मणि प्रवृत्यर्थं विविध फलानि स्वयमेवोक्त्या जनान् भ्रामितवानिति स्वोक्तकरणाच्चिरेण दयया निष्कामं करोति सकाम तथाऽपि क्रियमाणेन वैदिक कर्मणाऽनेकजन्मभिः संस्कारविशेष प्रचयेनापि तथा ।" कषाये पक्वेततो ज्ञानं प्रवर्त्तते "इत्यादि स्मृतिभ्यश्च ज्ञानोत्पत्तौ कर्मापेक्षाऽस्तीति । चकारेण पुष्टावंगीकृतस्य सर्वानिपेक्षेति सा समुच्चीयते । अत एव "नायमात्मा" इत्यादि श्रुतिर्न विरुद्धयते ।

वाजसनेयी शाखा में उल्लेख भी है—"जैसा कर्म करता है, जैसा आचरण करता है वैसा ही होता है, साधुकर्म करने वाला साधु होता है, पाप करने वाला पापी होता है" इत्यादि उपक्रम करके "पुनः लोक से लौटकर इस लोक में कर्म करता है, वह सकाम और निष्काम कर्म में संलग्न होता है, जो अकाम, निष्काम, आप्तकाम आत्मकाम होता है,' उसके प्राण उत्क्रमण नहीं करते इसीं जगह लीन हो जाते हैं, वह ब्रह्म होकर ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है" इत्यादि । इसमें निष्कामकर्त्ता का निरूपण करते हुये प्रसंग को समाप्त किया गया है । जो मनुष्य कर्म करता हुआ भी अकाम है वही निष्काम हो जाता है वही आत्मकाम है, प्रभु में अहेतुक स्नेह करता हुआ भगवत् प्राप्ति कर लेता है, वह आप्तकाम हो जाता है । इस प्रसंग में यथाकारी इत्यादि से जिस कर्म करने का उपक्रम किया गया है, "अथाकामयमान्" से भी वैसे ही कर्म करने वाले का उल्लेख किया गया है । इस प्रकार सत्कर्म में प्रवृत्त करने के लिए, अनेक प्रकार के फलों का स्वयं वर्णन करके मनुष्यों को भ्रमित करते हुए प्रभु अपने भक्त को कालान्तर में दया से निष्काम कर देते हैं,' सकामभक्त पर भी उनकी वैसा ही कृपा होती है । अनेक जन्मों के किये गए वैदिक कर्मों के आचरण से संस्कार विशेष की उपलब्धि होने पर भी प्रभु कृपा प्राप्त होती है । "कषायेपक्वे ततो ज्ञानं प्रवर्त्तते" इत्यादि स्मृतियों से भी ज्ञात होता है कि—ज्ञानोत्पत्ति में कर्म की अपेक्षा है । पुष्टि मार्ग में स्वीकृत भक्त को सबकी अपेक्षा होती है । अतः "नायमात्मा" श्रुति से कोई विरुद्धता नहीं होती ।

ननु ज्ञान द्वारा कर्मादीनामेवफलसाधकत्वमस्तु इति शंका निरासाय दृष्टान्तमाह—अश्ववदिति—यथा स्वेष्टफलसाधक देशव्यवधानात्मक देशातिक्रमेऽश्वस्य साधनत्वं, न तु तत्तत्फलम सिद्धावपि तथाधिभौतिकाध्यात्मिकाधिदैविकप्रतिबन्धनिवृत्तावेवतेषां साधनत्वं, ननु भगवत् प्राप्तावपीत्यर्थः। इदंच मुमुक्षु भक्तबिषयकमिति ज्ञेयम्। आत्यन्तिक भक्तिमतां भक्तीतरानपेक्षणात्।

ज्ञान द्वारा कर्म आदि की भी फलसाधकता है क्या ? इस शंका को निरास करने के लिये दृष्टान्त देते है—अश्ववत्—जैसे कि अपने अभीप्सित स्थान में जाने के लिये अश्व की साधनता है स्थान पर पहुँच जाने पर उसकी साधनता समाप्त हो जाती है उसका कोई महत्व नहीं रहता, वैसे ही, आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक प्रतिबन्धों के निवृत्त हो जाने पर कर्म आदि की साधनता भी समाप्त हो जाती है। भगवत्प्राप्ति में उनकी कोई साधनता नहीं होती। इनकी साधनता भी मुमुक्षु भक्तों के लिये ही होती है। जो निष्काम भाव से एक मात्र भक्ति के लिये ही भक्ति करते हैं, उन्हे भक्ति के अतिरिक्त किसी की अपेक्षा नहीं होती।

शमदमाद्युपेतः स्यात तथापि तु तद्विधेस्तदंगतया तेषामवश्यानुष्ठेयत्वात् ।३।४।२६।।

ननु—"तस्मादेवं विच्छान्तोदान्त" इत्यादिना शमादेरेव ज्ञान साधनत्वमुच्यते, न तु यज्ञादेरितिचेत् तत्राह—शमदमाद्युपेतो भक्तिमार्गेऽपिस्यादेव, यद्यपि तथापितदंगतया "आत्मन्येवात्मानं पश्येत्" इति ज्ञानमार्गीय ज्ञानांगतयैव शमादिविधिर्हेतोर्ज्ञानमार्गे तेषामवश्यानुष्ठेयत्वात् तथा विधिरित्यर्थः। भक्तिमार्गे स्वत एव शमादीनां संभवेऽप्यावश्यकत्वं न तेषामिति भावः।

"तस्मादेवं शान्तोदान्तः" इत्यादि में शमदम आदि को ही ज्ञान के साधन रूप से बतलाया गया है, यज्ञ आदि को तो उसका साधन नहीं कहा गया है। इसका उत्तर देते हैं कि—शमदम आदि से युक्त भक्ति मार्ग में भी जैसे उसके अंग रूप से शमदमादि अनुष्ठान की विधि है।" आत्मन्येवात्मानं पश्येत" इस ज्ञानमार्गीय साधना में ज्ञानांगरूप से शमदम आदि विधि के लिये यज्ञादि के अनुष्ठान की भी उसी प्रकार आवश्यकता है। भक्ति मार्ग में तो

शमदम आदि स्वतः होते हैं, अतः यज्ञ आदि की उसमें आवश्यकता नहीं है।

सर्वान्नानुमतिश्च प्राणात्ययेतद्दर्शनात् ।३।४।२७।।

ननु सत्वशोधकत्वेन यज्ञशमदमादेर्विधानमितिमतं नोपपद्यते। "आहार-शुद्धौसत्वशुद्धिः" इति श्रुतेस्तद्विरुद्धा सर्वान्न भक्षणानुगतिरपि यतः श्रूयतेछंदोगानां—"न हवा एवं सिद्धि किंचनानन्नं भवति", तथा वाजसनेयिनां—न हवा अस्यानन्नं जग्धं भवति" इत्यादि। तस्मात् सत्व शुद्धयर्थं यज्ञादेर्न विधानमिति प्राप्ते विषयव्यवस्थामाह—आहार दौर्लभ्येन प्राणात्यय उपस्थिते प्राणधारणस्य ज्ञानांतरंगतमं साधनत्वेनाहारस्य देह पोषकत्वेन ततो बहिरंगत्वात् तदनुमति क्रियते इत्यर्थः। अत्र प्रमाणमाह—तद्दर्शनादिति "चाक्रायणः किलर्मिरापद्गत इभ्येन सामि खादितवान् कुल्माषां चखाद्" इत्यादि श्रुति दर्शनादित्यर्थः।

अन्तः करण की शुद्धि के साधक रूप से शमदम आदि का विधान है, ये मत ठीक नहीं हैं, क्योंकि—"आहार शुद्धि से सत्व शुद्धि होती है" इस आचार श्रुति से विरुद्ध सर्वान्नभक्षण की अनुमति भी "न ह वा एवं विदि" तथा "न ह वा अस्यानन्नं" इत्यादि छांदोग्य और वाजसनेयि श्रुतियों में मिलती है। इससे ज्ञात होता है कि सत्व शुद्धि के लिये यज्ञादि का विधान नहीं है। इस मत पर सूत्रकार व्यवस्था देते हैं कि—आहार मिलना कठिन हो जाये और प्राणान्त कष्ट हो तब प्राण धारण के लिये, ज्ञान के अन्तरंगतम साधन आहार को, देहपोषक बहिरंग साधन के रूप में, ग्रहण करने की अनुमति दी गई है। जैसा कि—"उषस्ति चाक्रायण ऋषि ने आपत्ति आने पर महावत के झूठे उर्द भक्षण किये" इत्यादि श्रुति उपाख्यान से ज्ञात होता है।

यद्यपि ज्ञानसाधनत्वेन सत्वशुद्धेरपेक्षितत्वाज्जाते ज्ञाने तत्साधनापेक्षणा न्देवं विदीति वचनात् तादृशे सार्वदिक्यपितदनुमतिर्नानुचिता। अपिस्मर्यते इत्यनेनाविदुषोऽप्यनुमतेर्वक्ष्यमाणत्वाच्च। तथाऽप्याचार्येणावस्थाविशेष विषयकत्वमुक्तं यत् तेन ज्ञानिनोऽप्यनापदि विहितत्यागोऽविहितकरणं च चित्तमालिन्य जननेन ज्ञानतिरोधायकमिति श्रुत्यभिमतमिति ज्ञाप्यते। अत्र श्रीभागवते द्वितीय स्कंधे "विशुद्धं केवलं ज्ञानं प्रत्यक्सम्यगवस्थितम्, सत्यंपूर्णमनाद्यंतं निर्गुणं नित्यमद्वयम्। ऋषे विदन्ति मुनयः प्रशान्तात्मेन्द्रियाशयाः, यदातदेवासत्तर्कैस्तिरो-

भूयेतविप्लुतम् ।" इति ब्रह्मणोक्तम् । "ज्ञानिनामपि चेतांसि देवी भगवतीहि सा, बलादाकृष्य मोहाय महामाया प्रयच्छति" इति मार्कण्डेयेनाप्युक्तम् । एषा ज्ञानमार्गीय ज्ञानवतो व्यवस्थेति ज्ञेयम् । भक्तिमार्गीयस्यैवमापदसंभवात् 'अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते, तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्" इति भगवद्वाक्यात् । "मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतान्तरन्ति ते" इत्यत्रैवकारेण पुरुषोत्तम ज्ञानवत एव मायावरणोक्तेरक्षरमात्र ज्ञानवतां तथात्व-मुचितम् ।

यद्यपि ज्ञान साधन के रूप से अन्तःकरण की शुद्धि, अपेक्षित है, ज्ञान हो जाने पर उसको अपेक्षा नहीं रह जाती "न ह्वा एवं विदि" इत्यादि में उसी अवस्था का उल्लेख है, किन्तु ऐसी अनुमति सर्वदा के लिए होना उचित नहीं है । ' 'अपिस्मर्मते" में तो अज्ञानी को भी अनुमति दी गई प्रतीत होतो है । बादरायणाचार्य ने अवस्था विशेष में ही अभक्ष्य भक्षण का उल्लेख किया है, जिससे निश्चित होता है कि—ज्ञानी भी बिना आपत्ति के विहित का त्याग और अविहित का पालन न करें, ऐसा करने से चित्त मलिन हो जायगा, यही श्रुति का अभिमत है । श्री भागवत के द्वितीय स्कन्ध में जैसा कि ब्रह्मा कहते भी हैं—"प्रशान्त आत्मेन्द्रिय आशय वाले मुनि ही, विशुद्ध केवल ज्ञान स्वरूप सत्य पूर्ण आद्यन्त रहित निर्गुण नित्य सुस्थिर अद्वैत तत्त्व जानते हैं, जब उसके संबंध में तर्क किया जाता है तो वह तिरोभूत हो जाता हैं ।" मार्कण्डेय पुराण में भी आता है कि—"वह भगवती देवी ज्ञानियों के चित्त को भी बलात् खींच कर मोह में डाल देती हैं ।" इत्यादि । यह ज्ञानमार्गीय ज्ञानियों की व्यवस्था है । भक्तिमार्गी को तो कभी आपत्ति का सामना करना ही नहीं पड़ता क्योंकि भगवान की उन पर पूर्ण कृपा रहती है जैसा कि भगवान ने स्वयं कहा भी है—"जो भक्त अनन्य भाव से मैरी उपासना करते हैं, उन सतत प्रयत्नशील भक्तों का योगक्षेम मैं स्वयं वहन करता हूँ ।" जो मुझे ही भजते हैं वे इन महामाया से छूट जाते हैं" इत्यादि भगवद् वाक्य में "मामैव" पद में जो एवकार है, उससे निश्चित होता है कि—पुरुषोत्तम को जानने वाले ही माया से तरते हैं ।" अक्षर मात्र के ज्ञाताओं की उपर्युक्त व्यवस्था है ।

अबाधाच्च । ३।४।२८॥

आपदि तथान्न भक्षणेन चित्ताशुद्ध्यसंभवेन तज्जनित प्रतिबन्धाभावाच्च **न दोष इत्यर्थः ।**

आपति में अभक्ष्य करने से चित्त अशुद्ध नहीं होता अतः उससे होने वाला प्रतिबन्ध भी नहीं होता, अतः आपत्ति में कदन्न भक्षण में कोई दोष नहीं है ।

अपिस्मर्यते ।३।४।२९।।

आपद्यविदुषोऽपि दुष्टान्न भक्षणे पापाभावो यत्र स्मर्यते तत्र विदुषि श्रुत्यनुमते का शंका इत्यर्थः । स्मृतिस्तु—"जीवितात्ययमापन्नो योऽन्नमत्तियतस्ततः, लिप्यते न स पापेन षद्मंपत्रमिवाम्भसा" इति । अथवा विदुषो दुष्टकर्मासंबंधो—"ज्ञानाग्नि सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुतेतथा" इति स्मर्यतेऽपीत्यर्थः ।

जब कि आपत्ति में अज्ञानी को कदन्न भक्षण करने में पाप का अभाव स्मृति में बतलावा गया है तब ज्ञानी के लिए श्रुति की अनुमति होने पर शंका करने की क्या आवश्यकता है । स्मृति का कथन है कि—"जब जीवन के समाप्त होने की स्थिति आ जाय तब जहाँ से भी जैसे भोजन के लिए अन्न प्राप्त करने से पाप से वैसे ही लिप्त नहीं होती जैसे कि कमल का पत्र जल से लिप्त नहीं होता ।" ज्ञानी का तो दुष्ट कर्म से संबंध भी नहीं होता जैसा कि—"ज्ञानी लोग ज्ञ नाग्नि से समस्त कर्मों को भस्मसात् कर देते हैं" इत्यादि स्मृति से निश्चेत होता है ।

शब्दश्चातोऽकामकारे ।३।४।३०।।

यतो ज्ञानाग्निरेव सर्वकर्मदहन समर्थ इति फल दशायां कामकारेऽपि न दोषोऽत एव साधन दशायां तदभावेन "तस्मादेवं विच्छान्तोदान्त उपरतिस्तिक्षुः" इत्यादि रूपः शब्दः कामकारनिवर्त्तकः श्रूयत इत्यर्थः ।

ज्ञानाग्नि से ही ज्ञानी लोग समस्त कर्मों को भस्म करने में समर्थ हैं, ज्ञान प्राप्त कर लेने पर स्वेच्छाचार करने पर भी उन्हें दोष नहीं होता, साधनदशा में तो उनमें कर्म भस्म करने का सामर्थ्य रहता नहीं "तस्मादेवंविच्छान्तोदान्त" इत्यादि रूप शब्द, उस अवस्था में स्वेच्छाचारिता के निवर्त्तक हैं ।

एवं ज्ञानस्य कर्मनाशकत्वे सिद्धे जातज्ञानस्याश्रमकर्म कर्त्तव्यं न वेति चिन्त्यते । तत्र फलस्य जातत्वात् कृतस्यापि नाश्यत्वेन अप्रयोजकत्वान्न कर्त्तव्यमितिपूर्वः पक्षः । तत्र सिद्धान्त माह—

इस प्रकार ज्ञान की की कर्मनाशकता सिद्ध हो जाने पर अब विचार करते

हैं कि ज्ञानी के लिए आश्रमकर्म कर्त्तव्य है या नहीं इस पर पूर्व पक्ष वालों का कथन है कि—जब ज्ञान प्राप्त हो जाता है तब कृत कर्म का नाश हो ही जाता है, अतः उनको पालन करने का प्रयोजन ही क्या है ? इसलिए उनका पालन कर्त्तव्य नहीं है। इस पर सिद्धान्त रूप से सूत्र प्रस्तुत करते हैं—

३. अधिकरण :—

विहितत्वाच्चाश्रम कर्माऽपि।३।४।३१।।

यथा ज्ञानिनामप्यनापदि शिष्टानामेवान्नं भक्षणीयं विहितत्वात् तथाश्रम कर्माऽपि कर्त्तव्यमैव नित्यं विहितत्वादित्यर्थः। यथाऽनापद्यशिष्टान्नभक्षणं दोषाय, निषिद्धत्वाद् एवञ्चोपपादितं, सर्वान्नानुमतिरित्यत्र। तथा नित्य त्यागोऽपि प्रत्यवायजनक इति तत् कर्त्तव्यमैवेति भावः।

जैसे कि—ज्ञानियों के लिए भी अनापत्ति में शुद्धान्न भक्षण ही विहित बतलाया गया वैसे ही आश्रमकर्म भी कर्त्तव्य रूप से नित्य विहित हैं। जैसे कि—बिना आपत्ति के कदन्न भक्षण को दोष कहा गया है, वैसे ही बिना कारण आश्रम कर्म का त्याग भी दोष कहा गया है, सबको इनके त्याग की अनुमति नहीं दी गई है। आश्रम कर्म नित्य आचरणीय हैं इनके त्याग को प्रत्यवायजनक कहा गया है इसलिए इनका पालन कर्त्तव्य है।

यच्चोक्तं कृतस्यापिनाश्यत्वेनाप्रयोजकत्वान्न कर्त्तव्यमिति तत्राह—

जो यह कहा कि किये हुए कर्म भी ज्ञान से नष्ट हो जाते हैं अतः वे निष्प्रयोजन होने से अकर्त्तव्य हैं, उसका उत्तर देते हैं—

सहकारित्वेन च।३।४।३२।।

शमदमादीनामन्तरंगसाधनानां सहकारीण्याश्रमकर्माणीत्येतद् रहितैः शमादिभिरपि ज्ञानं न स्थरीकर्त्तुं शक्यमिति तानि कर्त्तव्यान्येवेत्यर्थः। संसारवासनाजनकत्व स्वभावो यः कर्मणां स ज्ञानेन नाश्यत इति न सहकारित्वेऽनुपपत्तिः काचिदिति भावः।

शमदम आदि अंतरंग साधनों के सहकारी आश्रम कर्म होते हैं, इनके बिना शमदम आदि भी ज्ञान को स्थिर करने में समर्थ नहीं होते, अतः वे

कर्त्तव्य हैं। जो कर्म संसार वासना के जनक होते हैं वे ही ज्ञान से नष्ट होते है, सहकारी रूप से किये जाने वाले कर्मो में कोई हानि नहीं है।

एवं ज्ञानमार्गीय ज्ञानस्थैर्यसाधनमुक्त्वा भक्तिमार्गीय साधनानां भगवच्छ्रवणादीनां इत आधिक्यमावश्यकतां चाह—

इस प्रकार ज्ञानमार्गीय ज्ञान को स्थिर करने वाले साधनों की चर्चा करके कहते है कि भक्तिमार्गीय साधन श्रवण कीर्त्तन आदि तो इनसे भी श्रेष्ठ है, इनका आचरण तो परमावश्यक हैं।

सर्वथाऽपि त एवोभयलिंगात् ।३।४।३३॥

भगवच्छ्रवण कीर्त्तनादयः साधनान्तरवद विहितत्वेन कर्त्तव्या एव यद्यपि तथापि सर्वथाऽपि अन्येषां युगपद् उपस्थितौ तदनुरोधमकृत्वापि त एव भगवद्धर्मा एव कर्त्तव्या इत्यर्थः। कुतः ? श्रुतिलिंगात् स्मृतिलिंगाच्च। श्रुति लिंगं तु "तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञा कुर्वीत ब्राह्मणः, नानुध्यायात् बहून् शब्दान् वाचो विग्लापनं हि तत्" इति। "तमेवैकं जानथात्मानं अन्या वाचो विमुंचथा अमृतस्यैष सेतुः" इत्यपि। अत्रैवकारेण भगवदतिरिक्तं प्रतिषिध्य तद् विषयक ज्ञानानुकूलं प्रयत्नं श्रवणात्मकं विज्ञाय इति विधाय स्मरणमपि तन्मात्र विषयकमेव प्रज्ञा कुर्वीत इति वचनेन विधाय तदेकनिष्ठता हेतु भूतानामेव शब्दानामावर्त्तनमर्थानुसंधानमपि कर्त्तव्यं, नान्येषामिति नानुध्यायात् बहून् इत्यनेन उक्तवती। अत्र अनु इति उपसर्गेण ध्यानस्य पश्चात् भावित्वम् उच्यते। तेन योग्यतया श्रवण कीर्त्तने एव तत् पूर्वं भाविनीप्राप्येते। स्मृतिस्तु—"श्रृण्वन्ति-गायन्ति गृणन्ति अभीक्ष्णशः, स्मरन्ति नन्दन्ति तवेहितं जनाः। त एव पश्यन्त्यचिरेण तावकं भवप्रवाहो परमं पदाम्बुजम्" इति। "महात्मानस्तु मां पार्थ दैवी प्रकृतिमास्थिताः, भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्। सततं कीर्त्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः, नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते" इति। एतेन भगवद्धर्माणां आत्म धर्मत्वेन अंतरंगत्वात् आश्रम कर्मणो देह धर्मत्वेन वहिरंगत्वात् तदविरोधेनैव तत् कर्त्तव्यमिति स्थितम्। अतएव भगवद् धर्मान्यधर्मं प्रतिषिद्ध्य तेषां सर्वेभ्य आधिक्यं ज्ञापयितुं "सवा अयमात्मा सर्वस्यवशी" इत्यादिना भगवन्माहात्म्यमुक्तम्।

भगवत श्रवण कीर्त्तन आदि साधनान्तर की तरह विहित होने से कर्त्तव्य ही हैं, जिस समय भक्तों के समक्ष, अन्य आश्रम कर्म आदि, भगवत धर्मों

के साथ आ जावें उस समय, भागवत धर्मों का ही मुख्यतया पालन करना चाहिए। श्रुति और स्मृति दोनों का ऐसा ही मत है। श्रुति में जैसे— "तमेव धीरं विज्ञाय", तमे वैकं जानथमात्मानम्" इत्यादि वाक्यों में, एवकार से भगवदतिरिक्त कर्मो का प्रतिषेध करके भगवद् विषयक ज्ञान के अनुकूल प्रयत्न श्रवण की महत्ता बतलाकर "प्रज्ञां कुर्वीत" से स्मरण के भी महत्व का उल्लेख कर बतलाया कि परमात्मनिष्ठ शब्दों की ही आवृत्ति और अनुसंधान करना चाहिए "नानुघ्यायात् बहून्" से अन्यों के ध्यान का निषेध किया गया है। इसमें अनु उपसर्ग से ध्यान को पश्चाद् भावी बतलाया गया हैं। ध्यान की योग्यता के लिए, श्रवण कीर्त्तन पूर्व भावी निश्चित होते हैं। स्मृति में भी जैसे—"शृण्वन्तिगायन्ति" "महात्मानस्तु मां पार्थ" "सततं कीर्त्तयन्तो माम्" इत्यादि वाक्यों में, भगवद् धर्मों को अंतरंग आत्मधर्म के रूप में तथा आश्रम धर्मों को बहिरंग देहधर्म के अविरुद्ध रूप से पालन करना चाहिए, यही दिखलाया है। इस प्रकार भगवद् धर्मो की समता में अन्य धर्मों का प्रतिषेध करके उन्हें सबसे श्रेष्ठ बतलाने के लिए "स वा अयमात्मा" इत्यादि से भगवद् माहात्म्य दिखलाया गया है।

अनभिभवं च दर्शयति ।३।४।३४।।

प्राधान्येन भगवद् धर्मा एव कर्त्तव्या इत्यत्रोपोद्वलकान्तरमनेन उच्यते— "सर्वं पाप्मानं तरति, नैनं पाप्मा तरति, सर्वं पाप्मानं तपति, नैनं पाप्मा तपति" इत्यादिना भगवद्धर्मानुरोधेन आश्रमकर्माकरणजदोषैरनभिभवं च श्रुतिर्दर्शयति अतो भगवद्धर्मा एव सर्वेभ्य उत्तमानि साधनानीत्यर्थः।

प्रधान रूप से भगवद्धर्म ही कर्त्तव्य है, ऐसा निर्णय करने के बाद अब बतलाते हैं कि—"सर्वं पाप्मानम्" इत्यादि श्रुति दिखलाती है कि—भगवद्धर्म के पालन से आश्रम कर्म जन्य दोषों का निराकरण हो जाता है, इसलिए भगवद् धर्म ही सर्व श्रेष्ठ साधन हैं।

अन्तरा चापि तु तद्दृष्टेः ।३।४।३५।।

भगवद् धर्मेभ्य आश्रम धर्मा हीना इत्यप्यल्पमुच्यते, अपि तस्मिन् पुरुषोत्तमे धर्मिण्येव दृष्टिस्तात्पर्यं यस्य पुंसः तस्याश्रम धर्मा अन्तरा च फलसिद्धौ व्यवधानरूपाश्चेति श्रुतिः दर्शयति इति पूर्वेण संबंधः। अन्तरा शब्दोऽत्राव्ययात्मको—व्यवधानवाचकः। तथा च श्रुतिः—"एतद् ह स्म वै तत्पूर्वे ब्राह्मणा

अनूचाना विद्वांसः प्रजां न कामयंते किं प्रजया करिष्यामो येषां नोऽयमात्मा-ऽयं लोक" इति ऋणापाकरण हेतुत्वेन लौकिकोत्कर्ष हेतुत्वेनापि प्रजाया अभीष्टत्वेऽपि तदुत्पादन व्यासंगेन भगवदानन्दानुभवेऽन्तरायो भविष्यतीतितद्-दृष्ट्या तत्रापेक्षां दर्शयति ।

भगवद्धर्मों से आश्रम धर्म हीन हैं, ये कथन तो कम है अपितु सही तो ये है कि—जिन लोगों की दृष्टि में पुरुषोत्तम धर्म ही महत्तम है, उनके लिए फलसिद्धि में, आश्रम धर्म व्यवधान रूप ही हैं। यहाँ पर अन्तरा शब्द व्यवधान वाची अव्यय है । "एतद् ह स्म वै" श्रुति में, ऋण से छूटने के लिए तथा लौकिक उत्कर्ष के लिए संतान अभीष्ट है, किन्तु उससे भगवदानंदानुभव में व्यवधान होगा, इस दृष्टि, से सन्तान के प्रति उपेक्षा दिखलाई गई है ।

अपि स्मर्यते ।३।४।३६ ।।

अपि शब्देनाश्रमधर्माणां तथात्वं किमु वाच्यं यतो ज्ञान तत्साधन वैराग्या-दीनां अपि अन्तरायरूपत्वं स्मर्यते—"तस्मान्मद्भक्ति युक्तस्य योगिनो वै मदात्मनः, न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेदिह" इति भगवद् वाक्यम् ।

आश्रम धर्म ही भगवद् भजन के अन्तराय हों इतना ही नहीं अपितु ज्ञान और उसके साधन वैराग्य आदि भी अन्तराय रूप हैं ऐसा—"जो मेरे में अपने को समर्पित करने वाले मेरे भक्त हैं, उनके लिए ज्ञान और वैराग्य भी श्रेयस्कर नहीं होते" इस भगवद् वाक्य में कहा गया है ।

विशेषानुग्रहश्च ।३।४।३७।।

स्मर्यत इति पूर्वेण संबंधः । ज्ञानादेः सकाशाद् भक्तिमार्गे फलतोऽप्युत्कर्ष-माह—ज्ञानादि साधनवत्स्वनुग्रहो मुक्ति पर्यन्त एव । भक्तिमार्गे तु "अहं भक्त पराधीनो ह्यस्वतंत्र इव द्विज" इत्यादि वाक्ये विशेष रूपो मुक्तादिभ्योऽपि भक्तानां व्यावर्त्तको भगवदनुग्रहः स्मर्यत इत्यर्थः ।

अब बतलाते हैं कि—भक्तिमार्ग में, ज्ञान आदि से, विशेष उत्कर्ष होता है, ज्ञान आदि साधनों की तरह, प्रभु का अपना अनुग्रह भक्त के ऊपर मुक्ति पर्यन्त रहता है । "अहं भक्त पराधीनः" इत्यादि से निश्चित होता है कि—मुक्त जीवों से अधिक भक्तों पर भगवदनुग्रह होता है ।

अतस्त्वितरज्यायो लिंगाच्च ।३।४।३८।।

अत इति पूर्वोक्त श्रुतिस्मृतिपरामर्शः । तथा चेतरस्या मुक्तेरपि भक्तिमार्गीय तदीयत्वमेव ज्याय इत्यर्थः । अत्रहेत्वन्तरमाह—लिंगाच्चेति—मुक्तानां तु मायाविनिर्मुक्तमात्मस्वरूपमेव, न तु—देहेन्द्रियादिकमप्यस्ति येन भजनानंदानुभवः स्यात् । भक्तानां तु देहेन्द्रियादिकमपि मायातत्कार्यरहितत्वेनानन्द रूपत्वेन च भगवदुपयोग्यतोऽपि तत्तथेत्यर्थः । न हि मुक्तात्मनां कश्चन् भगवदुपयोगोऽस्तीति भावः । तदुक्तं श्रीभागवते—"न यत्र माया किमुताऽपरे हरेरनुव्रता यत्र सुरा सुरार्चिता" इत्यादि । मुक्तोपसृप्यत्वं चोच्यते । अतएव सप्तम स्कन्धे-देहेन्द्रियासु हीनानां वैकुण्ठ पुरवासिनामित्युक्तम् । पुरवासित्वे देहादेरावश्यकत्वान्निषेधो जडात्मकानामेवेत्यवगम्यते । इतरज्याय इति पाठेतु—पूर्वोक्त-आश्रमकर्मपरामर्शोऽत्त इत्यनेन उक्तयोरेव वा । एतेन "सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता" इत्युक्तफलवत्वं तस्य सूच्यते ।

अन्य प्रकार की मुक्तियों से भक्तिमार्गीय मुक्ति श्रेष्ठ है क्योंकि—वह तदीय हैं । अन्य मुक्त जीव, माया रहित केवल आत्मस्वरूप ही होते हैं उनमें देह इन्द्रिय आदि तो होते नहीं जिससे वे भजनानंद का अनुभव कर सकें । भक्तों की तो मुक्तावस्था में, माया और मायाजन्य कार्यों से रहित, आनन्दरूप दिव्य देह इन्द्रिय आदि भगवदुपयोगी वस्तुएँ रहती हैं, जिससे वह भजनानंद की अनुभूति कर सकता है अन्य मुक्त जीवों की कोई भी वस्तु भगवदुपयोगी नहीं होती । श्रीभागवत में—"न यत्र माया किमुताऽपरे" इत्यादि में, भक्त जनों की दिव्य स्थिति का उल्लेख किया गया है । सप्तम स्कन्ध भागवत में वैकुण्ठ पुरवासी जीवों का देह इन्द्रियादि राहित्य बतलाया गया है । वैकुण्ठ पुरवास की स्थिति में वे सब जडात्मक हैं । इतर ज्याय का तात्पर्य है कि—आश्रम आदि धर्मों से भगवद्धर्म जैसे श्रेष्ठ है वैसे ही अन्य से भक्ति मार्ग और भक्तिमार्गीय मुक्ति श्रेष्ठ है क्योंकि इस स्थिति में—"वह भक्त ब्रह्म के साथ समस्त कामों का उपभोग करता है" इत्यादि विशेषता है ।

४ अधिकरण :—

तद् भूतस्य तु नातद्भावो जैमिनिरपि नियमातद्रूपाभावेभ्यः ।

३।४।३९।।

अथेदं विचार्यते—तदीयानामपि कदाचित् सायुज्यमस्ति न वेति । तत्र भक्तिमार्गस्यापि साधन रूपत्वात्तस्य च मुक्तावेव पर्यवसानात् तदीयत्वस्य

साधनावस्थारूपत्वात् तेषामपि मुक्तिरावश्यकी तथा च फलतो न कश्चिद् विशेष इति प्राप्ते—उच्यते—तद्भूतस्य इत्यादि । तु शब्देन मर्यादा मार्गीय-व्यवच्छेदः । अत्र विश्वास दाढ्र्याय आह—अन्यस्य का वार्त्ता, कर्ममात्रनिरूप-कस्य जैमिनेरपि यदि कदाचित् भगवत्कृपयाऽयं भावो भवेत् तदा तद् भूतस्य पुष्टिमार्गीय भगवद्भावं प्राप्तस्य तस्यापि नातदभाव उक्तभाव तिरोधनं न कदाचिदपीत्यर्थः । अत्र हेतुमाह नियमादीन् । तैत्तरीयके—"तेतेधामा-न्युष्मसि" इति मंत्रे "यत्र भूरिश्रृंगा अयासस्तदुरुगायस्य परमं पदम्" इत्यु-क्त्वा तदनन्तरं तत्र कृतानि कर्माण्यपि "विष्णोः कर्माणि पश्येत्" इति मंत्रेण निरूप्य पुनः पूर्वोक्त लीला स्थानं "तद् विष्णोः परमं पदम्" इतिपदेनानूद्य तस्यनित्यत्वनिरूपणायोच्यते—"सदा पश्यन्ति सूरयः" इति विद्वांसः पुरुषोत्तम ज्ञानवन्त इति यावत् । तच्च भक्तस्यैवेति सूरिपदेन भक्ता उच्यन्ते । तथा च भक्तानां सार्वदिक दर्शनं नियम्यते, सदेतिपदेन । एवं सति पुष्टिमार्गीय भगवद्भावं प्राप्तस्य मुक्तावुच्यमानायां तन्नियमो भज्येतेत्यर्थः ।

अब विचार करते हैं कि—भगवदीय जनों का भी कभी सायुज्य मोक्ष होता है या नहीं ? इस पर पूर्वपक्ष का मत है कि—भक्तिमार्ग भी एक साधना, है अतःउसका पर्यवसान भी मोक्ष ही है, भक्त साधनावस्था वाले होते हैं अतः उनका मोक्ष भी आवश्यक है' मोक्षावस्था में ज्ञानी और भक्त दोनों ही समान हैं । इस पर सूत्रकार कहते हैं—"तद्भूतस्य तु" इत्यादि । सूत्रस्थ तु पद मर्यादा मार्ग का व्यवच्छेदक है । अपनी बात को दृढ़तापूर्वक कहते हैं कि—अन्य की बात तो छोड़ो, कर्म शास्त्र के निरूपक जैमिनि का भी यदि कभी भगवदकृपा से यह भाव हो जाये तो पुष्टि मार्गीय भगवद् भाव को प्राप्त उन जैमिनि का भी, भक्ति भाव तिरोधान रूप सायुज्य मोक्ष नहीं हो सकता । क्योंकि श्रुतियों में स्पष्टतः भक्तों की विशेष प्रकार की मुक्ति का उल्लेख है । तैत्तरीयक में जैसे—"तेतेधामान्युष्मसि" इत्यादि मन्त्र में "यत्र भूरि श्रृंगाअयासः" इत्यादि कहकर "विष्णोः कर्माणि पश्येत्" इत्यादि से उनके कर्मो का उल्लेख "करके तद् विष्णोः कर्माणि पश्येत्" इत्यादि से उनके कर्मों का उल्लेख करके "तद् विष्णोः परंम पदम्" से पुनः पूर्वोक्त लीला स्थान का वर्णन करते हुए "सदा पश्यन्ति सूरयः" पद से भक्तों की नित्यता का निरूपण करते हैं । इसमें सूरिपद पुरुषोत्तम ज्ञानवान भक्त के लिए ही आया है । उक्त प्रसंग में भक्ति का उल्लेख है अतः सूरि पद भक्तों के लिए ही आया है ।

"सत् पद से सार्वदिक दर्शन की बात कहते हैं। इस प्रकार पुष्टिमार्गीय भगवद्भावापन्न मुक्ति में सायुज्य मोक्ष का नियम भंग हो जाता है।

यच्चोक्तं साधनावस्थायां उत्तमावस्थारूपत्वं तदीयत्वस्यफलं मुक्तिरेवेतितत्राह—अतद्रूपेति। उक्त भगवदीयत्वं न साधन रूपं अपितु मुक्तेऽपि फलरूपम् "मुक्तानां अपि सिद्धानां नारायणपरायणः सुदुर्लभं प्रशान्तात्मा" इति वाक्यात्। "यदा सर्वेप्रमुच्यन्ते कामायेऽस्य हृदिस्थिता अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्मसमश्नुते" इति श्रुत्या अमृतस्य ब्रह्मस्वरूप भोग उच्यते। स च "यमेवैषवृणुते" इति श्रुतेर्भगवदीयत्व साध्य एवेति स्पष्टफलत्वमस्यातोऽतद्रूपत्वम् किंच—फलं हि साधनादुत्तमं भवति, भगवदीयत्वादुत्तमंस्यार्थस्याभावादपि न मुक्तिर्वक्तुमुचिता। तदुक्तं श्री भागवते पंचमस्कन्धे पूर्वं भक्तिस्वरूपं निरूप्य तयैव परया निवृत्या ह्यपवर्गमात्यान्तिकं परमपुरुषार्थमपि स्वयमासादितं नो एवाद्रियन्ते भगवदीयत्वेनैव परिसमाप्त सर्वार्था इति।

जो यह कहा कि—साधनावस्था में उत्तम अवस्था वाली भगवदीयता का फल भी मुक्ति ही है, उस पर सूत्र कार कहते हैं कि—वह भगवदीयता साधन रूप नहीं है, अपितु मुक्ति का भी वही फल है जैसा कि—"मुक्त सिद्धों के बीच में कोई एक ही नारायण परायण सुदर्लभ प्रशान्त आत्मा होता है।" इत्यादि वाक्य से निश्चित होता है। "जिस समय अन्तःकरण की समस्त कामनायें नष्ट हो जाती हैं, वह व्यक्ति अमृत हो जाता है। उसे उस स्थिति में ब्रह्मभाव प्राप्त हो जाता है।" इस श्रुति से, अमृत मुक्त व्यक्ति का ब्रह्मस्वरूप भोग बतलाया गया है। "जिसे वह चाहता है उसे वह वरण करता है" इत्यादि श्रुति, स्पष्ट रूप से भगवदीयता को ही साधन बतलाती है, इससे भगवदीयता का फलत्व निश्चित हो जाता है भगवदीय का सायुज्य रूप नहीं होता यह भी निश्चित होता है। फल साधना से उत्तम होता है, साधना यदि भगवदीय है तो वह स्वयं उत्तम है, यदि उसमें सायुज्य का, जिसे कि प्रायः लोग उत्तम कहते हैं, का अभाव भी हो तो भी उसे मुक्ति कहना ठीक नहीं ;(अर्थात् भगवदीयता मुक्ति से बहुत बड़ी वस्तु है) जैसा कि—श्रीमद्भागवत से पंचम स्कस्ध में, पहिले भक्ति के स्वरूप का निरूपण करके, उसी अपवर्ग और आत्यन्तिक परम पुरुषार्थ की स्वतः प्राप्ति बतलाकर, अपवर्ग और मोक्ष का विशेष आदर नहीं किया गया है, भगवदीयता में ही समस्त अर्थों की परिसमाप्ति कर दी गयी है।

५ अधिकरणः—

न चाधिकारिकमपि पतनानुमानात् तदयोगात् ६।४।४०॥

अत्रेदं विचार्यते, ध्रुवायेव ब्रह्मादिलोकाधिकारं दत्वा तत्संबन्धिफलं ददाति न वेति। तत्र नेत्याह, नचेति, तत्रहेतुः पतनानुमानादिति। "आब्रह्म भुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन इति स्मृतेरित्यर्थः। फलस्य सावधिकत्वादिति भावः। किंच तादृशे भगवदीये भजनाऽयोगादपि न तथा। अथवा, तादृस्य सदा भक्तिरसानुभवात्तदतिरिक्तस्यानपेक्षणादन्येषां फलानां संबंधाभावादित्यर्थः।

अब ये विचार करते हैं कि—स्थिरता के लिए ब्रह्मलोक आदि का अधिकार देकर, उससे संबंधित फल भी देते हैं या नहीं ? उसका उत्तर देते हैं कि नहीं देते क्योंकि वे सारे लोक ही नाशवान हैं, जैसे कि "आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पूनरावर्तिनोर्जुन" इत्यादि वाक्य से स्पष्ट है इन लोकों का फल सावधि है। भगवदीय जन तो वैसे भी याग आदि में आसक्त नहीं होते उन्हें तो वैसे भी उन लोकों में जाने की आकाँक्षा नहीं होती। वे भक्त तो सदा भक्तिसानुभव में लीन रहते हैं उन्हें उसके अतिरिक्त किसी अन्य वस्तु की अपेक्षा ही नहीं होती इसलिए अन्य प्रकार के फलों से उनका संबंध भी नहीं होता।

उपपूर्वमपि त्वेके भावमशनवत्तदुक्तम् ३।४।४१॥

एके भक्ता आधिकारिके फले पतनमात्रं न हेयत्व प्रयोजकमिति वदन्त्यतपपूर्वं पतनमेव तदिति वदंति। भक्तिभावात् च्युतेः। अधिकार समाप्तौ भगवदनुग्रहाशाऽपि कदाचिव् संभवति इत्युपपतनं तत्। मुक्तौ तु अपुनरावृत्तेः भक्ति रसाशाऽपि नेति महापतनमेव सेति भावः। तेन निषिद्धकर्म फल तुल्यत्वं ज्ञापितं भवति। अतएव श्री भागवते—"नारायण परालोके न कुतश्चन विभ्यति स्वर्गापवर्ग नरकेष्वपि तुल्यार्थ दर्शिन" इति गीयते। भक्तिमार्गे तु साक्षात्संगाभावेऽपि तदीय भावमात्रमपि अशनवत् साक्षात् भगवत्स्वरूप भोगवदेव मन्यते। तदुक्तं श्री भागवते—"अथ ह वावतव" इत्यादिना साक्षात् भगवद्भोगो जीवस्यासंभावित इति शंका निराशायाह—तदुक्तमिति "सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता" इति, अत्र ब्रह्मसमश्नुत इत्यादि श्रुतिस्तु साक्षाद् ब्रह्मस्वरूप रसाशनमुक्तमित्यर्थः।

कोई भक्त आधिकारिक स्वर्ग आदि फल में आसक्ति रखना पतन मात्र मानते हैं, वे स्वर्ग आदि को हेय दृष्टि से नहीं देखते फिर भी वे तपपूर्वक प्राप्त उन लोकों को भक्ति रहित होने से पतन ही कहते हैं। उन लोकों के अधिकार समाप्त होजाने पर भगवद् कृपा की आशा कभी-कभी होती है, अतः वह उप-पतन ही है। मुक्तावस्था में तो पुनः लौटने की बात ही नहीं है, भक्ति रस की आशा भी नहीं है अतः वह तो महापतन है। वह तो निषिद्धकर्म फल की तरह होता है। यही बात भागवत में कही गयी है—"भगवद् भक्ति में संलग्न व्यक्ति किसी से नहीं डरते, वे स्वर्ग अपवर्ग और नर्क सबको समान समझते हैं।" भक्ति मार्ग में तो साक्षात् संग के अभाव में भी, भगवद्भावमात्र को साक्षात् भगवद् स्वरूप भोग की तरह मानने हैं। भागवत षष्ठ स्कंध के नवम् अध्याय में "अथ ह वाव तव" इत्यादि से ऐसा स्पष्ट कहा गया है। जीव, साक्षात् भगवद् भोग कर भी नहीं सकता, इस शंका के निवारण के लिए सूत्र-कार "तदुक्तम् का प्रयोग करते हैं अर्थात् साक्षात् भगवद् भोग की बात तो "वह विद्वान समस्त कामनाओं का ब्रह्म के साहचर्य से भोग करता है" इत्यादि श्रुति में स्पष्ट कही गई है।

६ अधिकरणः—

बहिस्तूभयथापि स्मृतेराचाराच्च ३।४।४२।।

अथेदं चिन्त्यते, प्रचुरभगवद्भाव मात्रवतः साक्षात् स्वरूप भोगवतो वा गृहत्यागः कर्त्तव्यो न वेति, फलस्य सिद्धत्वान्नेति पक्षव्यच्छेदाय मद्वार्त्तया तयामानां न बंधाय गृहामता" इति वाक्यात् बंधकत्वेन त्याज्य इति पक्षव्यच्छे-दाय तु शब्दः। भावमात्रे साक्षात् प्रभु संबंधे वोभयथापि गृहाद्वहिर्गमनं गृह-त्याग इति यावत्। स आवश्यकः तत्र प्रमाणमाह—स्मृतेरित्यादि। त्वं तु सर्वं परित्यज्यस्नेहं स्वजनबन्धुषु, मय्यावेश्य मनः सम्यक् समदृग् विचरस्वगाम्" इत्यादि स्मृतिर्भगवद् भाववत स्त्संगाविशिष्टस्यापि वहिर्गमनमाह तदाचारोऽपि तथैव श्रूयतेऽतस्तथा। अथयमाशयः। आश्रमधर्मत्वेन गृहत्यागो "यदहरेव" इत्यादि पूर्वमुपादितोऽपि तदधुनापुनरुच्यते तेनतदतिरिक्तोऽयमिति ज्ञायते। तथा चोक्तवाक्यान् मुमुक्षुमुक्तिप्रतिबंधकत्वाभावेऽपि व्यासंगस्य तत्रावश्यकत्वादुक्तो-भयोरप्यनवरतं प्रभुरसास्वादे प्रतिबंधकत्वेन तस्य तत्त्यागस्य विप्र यौगरसानु-भावकत्वेन स च कर्त्तव्यः। यद्यपि स्वेष्टान्तरायत्वेन स्वत् तत्त्यागो भावी

तथापि "आश्रमादाश्रमंगच्छेत्" इति वाक्यात् अत्राश्रमान्तरत्वाभावेन त्यागस्याविहितत्व शंकाभावायेयमुक्तिरिति ।

अब ये विचारते हैं कि—प्रचुर भगवत् भाव मात्र में लीन और साक्षात् स्वरूप भोग में लीन व्यक्तियों को गृहत्याग करना चाहिए या नहीं ? फल तो मिल ही जाता है अतः नहीं त्याग करना चाहिए, इस मत का विरोधी "मद्वार्त्ता", इत्यादि वाक्य मिलता है जिससे निश्चित होता है गृह बन्धक रूप से त्याज्य है, इस मत के निराकरण के लिए सूत्रकार तु शब्द का प्रयोग करते हुए कहते हैं कि—भाव मात्र हो या साक्षात् प्रभु संबंध हो दोनों अवस्थाओं में गृहत्याग आवश्यक है स्मृति और आचार दोनों से ही यह बात सिद्ध होती है । स्मृति जैसे "उद्धव ! तुम सबकुछ छोड़कर मुझमें मन लगाकर स्वस्थमन से समदृष्टि होकर पृथ्वी में विचरण करो" इत्यादि स्मृति भगवद् भाव वाले व्यक्ति की तरह, भगवत्संग वाले व्यक्ति के भी गृह त्याग की बात कहती है, ऐसे लोगों का आचार भी वैसा ही सुना जाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि—आश्रम धर्म के रूप में गृह त्याग की चर्चा "यदहरेव" इत्यादि श्रुतियों में की जा चुकी है, अब पुनः उसके विषय में विचार कर रहे हैं तो, यह उससे भिन्न विषय है। उक्त वाक्यों में जो गृह त्याग की बात है वह मुमुक्षु के लिए मोक्ष में सहायक हैं, किन्तु जो उक्त दो प्रकार के भक्त हैं जो कि अनवरत प्रभुरसास्वाद में निग्मन रहते हैं उनके लिए तो सांसारिक वासना विशेष रूप से प्रतिबंधक होती है, विप्रयोग रसानुभाव के रूप में उसका त्याग विशेष रूप से कर्त्तव्य है । यद्यपि अपनी अभीष्ठ प्राप्ति में अड़चन रूप होने से वे स्वतः छूट जाते हैं "आश्रमादाश्रमंगच्छेत" वाली जो नियमित त्याग की प्रणाली है, उससे भक्ति मार्ग का कोई संबंध नहीं है, भक्ति मार्ग में त्याग हर अवस्था में होता है ।

स्वामिनः फलश्रुतेरित्यात्रेयः ।३।४।४३।।

पुष्टि मार्गीय भक्तस्य विहितत्वादिति ज्ञान प्रयोजकम् तत्र हेतुः तस्य भक्ति मार्गे स्वामिनः श्री गोकुलेशादेव भक्तस्य श्रुतेरतो बहिर्गमनं न साधनत्वेनात्र कार्यमिति भावः । अत्र "यमेवैषवृणुते" इति श्रुतिरनुसंधेया । एतदनुपदमेव पठ्यते । "नायमात्मा बलहीनेन लभ्य" इति । अत्र भगवद्वरणानन्तरमपि जीव बलंकतमद् यदपेक्षो भगवल्लाभ इति जिज्ञासां सर्वात्मभाव एव बलमिति निर्णीयते । तस्यैव मर्यादाबलोपमर्दकत्वाद् भगवद्वशीकारे

हेतुत्वाच्च । व्रज सीमन्तनीनां प्रभुवचनातिक्रममपि कृत्वा स्वरूपपरिग्रहस्तद्बलेनैव यत् इत्यात्रेय आचार्यो मनुते । इदमत्राभिप्रेतम्—सर्वात्मभावस्य यद् बलम् तत्तदात्मकस्य प्रभोरेव तस्य चायं स्वभावो यदन्यन्न रोचते । अतएव व्रजपरिवृढवदनेन्दुवचनकिरणप्रचार प्रोच्छलत् केवलभावांभोधिवचनवीचयो गीयन्ते—"यर्हि अंबुजाक्ष तव पादतलमस्प्राक्ष्म तत्प्रभृतिनान्य समक्षंस्थातुं पारयामः" इत्यादयः । अतः त्यागस्तु पृष्ठलग्न इवायातीति न तदर्थं यतनीयमति, विष्णववतारत्वेन पुरुषोत्तमभावस्वरूपज्ञोऽयमिति तथा ।

पुष्टि मार्गीय भक्त, भगवत्कृपानुसंधान के आधार पर स्वतः ही वासना का त्याग कर देता है, क्योंकि—भक्तिमार्ग के स्वामी श्री गोकुलेश की प्राप्ति ही फल है, इसलिये गृहत्याग कर बाहर जाना, इस मार्ग की साधना नहीं हैं अतः गृहत्याग नहीं करना चाहिये । इस मार्ग में तो "वे जिसे वरण करते हैं" इस वाक्य पर विचार करना चाहिये । इसके बाद ही दूसरा पाठ आता है" वे प्रभु बलहीन व्यक्ति से प्राप्त नहीं है इसमें भगवद्वरण के वाद भी जीव को कौने से बल की अपेक्षा होगी, इस जिज्ञासा पर, सर्वात्मभाव को ही बल रूप से निर्णय किया गया है । इस बल से, शास्त्रीय मर्यादा का उपमर्दन होता है तथा भगवान वशंगत हो जाते हैं । ब्रज की गोपियों ने शास्त्रीय प्रभु आज्ञा का अतिक्रमण करके, स्वरूप परिग्रह किया और उसी बल से प्रभु प्राप्त की ऐसा आत्रेय आचार्य मानते हैं । इसका अभिप्राय ये हैं कि —सर्वात्म भाव का जो बल है वह सब कुछ प्रभु रूप से देखता सुनता जानता है, उसे और कुछ अच्छा ही नहीं लगता । जैसा कि—ब्रज के स्वामी कृष्ण चन्द्र के मुखार बिन्द की किरणों से उद्वेलित भावसमुद्र की तरंगें गान करती है—"हे कमल नयन । जब से आपके चरण कमलों के दर्शन किये हैं,' तब से किसी अन्य के सामने हम ठहर नहीं पाती" इत्यादि । इससे निश्चित होता है कि—त्याग तो भक्त के पीछे लगा फिरता है' उसके लिये प्रयास करना आवश्यक नहीं है । आत्रेय (दत्तात्रेय) भगवान विष्णु के अवतार हैं इसलिये पुरुषोत्तम भाव स्वरूप के ज्ञाता हैं ।

आर्त्विज्यमित्यौडुलोमिस्तस्मै हि परिक्रीयते ।३।४।४४।।

सर्व त्याग पूर्वकं यद् बहिः प्रभु समीप गमनं भक्तस्य तदार्त्विज्यमृत्विक् कर्मैवेत्यौडुलोमिराचार्योमन्यते । तस्यायमभिसंधिः यजमानो हि स्वेष्टसिद्धयर्थमृत्विज आदौवृणुते । प्रकृते च "यमेवैषवृणुते" इति श्रुतेरन्यस्मादेकाको न

रमते" इति श्रुतेश्च स्वक्रीडार्थं भगवान स्वचिकीर्षिततल्लीलानुरूपांज्जीवान् वृणुते। यूनः स्थविरान् बेति विकल्पादेकरूपाणाँ यथा सोमादिषु वरणं तथा सर्वात्म भावदव्देनैव रूपाणामेवात्र वरणम्। तत्र यथा स्वीय स्वीयतदंग-मात्रकरणं तेषांतथेतरसंबंधनिवर्त्तनपूर्वकं तद्भाग्यसमर्पकत्वमत्र। तदुक्तं भगवता "यदापुमाँस्त्यक्त समस्त कर्मा निवेदितात्मा विचिकीर्षितो मे" इति अत्र पूर्वपदेन इतरसंबंध निवर्त्तनोक्त्या सर्वात्मभाव उक्तो भवति। तदनन्त-रमात्मनिवेदने सति तद्विषयकलीलाकरणेच्छा विषयः संभवति। अन्तरंग लीला प्रवेशनमिच्छायां विशेषः। तस्मात् सुष्ठूक्तमार्त्विज्यमिति। एतेन "न दानानि न पचति" इत्यादि श्रुतेर्यथा सोमादौ दीक्षितस्य तद्यागेतरधर्म निवृत्तिः स एव परमो धर्मो यतः तथा पुरुषोत्तमस्योक्त भक्तैः स्हरमणमेव सार्वदिकम्, एतदेव च महन्महत्वमित्ति सूचित भवति। प्रकृते भक्तानां ऋत्विक्त्वेन निरूपणे हेतुत्वेन तात्पर्यान्तिरमप्याह। तस्मैयजमानारब्धकर्म सांगत्वाय ऋत्विक् परिक्रीयते। वरणेन स्वकार्यमात्रोपयोगित्वाय स्वीयः क्रियते तथा प्रकृतेऽपि। न च, कच्चित् कल्याण्यो दक्षिणा इति प्रश्नवचनात्तद-र्थैव तत्प्रवृत्तिरत्र तु स्वत; पुरुषार्थत्वेनाभगवदर्थाप्रवृत्तिरतोवैषम्यमिति वाच्यम्। नीरागस्यापिवरण समये तत्प्रश्नस्यावश्यकत्वात्तथैव दक्षिणा दानम-प्यन्यथा निरंगत्वापत्तेः। प्रकृतेऽपि भक्तानां स्नेहादेव प्रवृत्तिर्भगवान् स्वानुभ-वार्थमेवताननुभावयतीति वैषम्यम्।

सब कुछ छोड़कर प्रभु के समीप जो भक्त जाता है वह, यज्ञ में जाने वाले ऋत्विक के समान है, ऐसा औडुलोमि आचार्य मानते हैं। यजमान अपनी कार्य सिद्धि के लिये पहिले ऋत्विक का वरण करता है, वैसे ही—भगवान अपनी इच्छित लीला के अनुरूप जीवों का वरण करते हैं, "जिसे वे चाहते हैं वरण करते हैं" वे एकाकी रमण नहीं करते,' इत्यादि श्रुतियों से उक्त बात सिद्ध होती है। युवक या वृद्ध कोई एक रूप के होता, जैसे सोम आदि भागों में वरण होते हैं वैसे ही सर्वात्मभाव वाले भक्त ही भगवल्लीला के लिए वरण किये जाते हैं। भक्त अपनी समस्त अन्यान्य अभिलाषाओं का त्याग कर ही उक्त लीला में वरण होने का सौभाग्य प्राप्त कर पाता है। जैसा कि भगवान ने स्वयं कहा भी है—"जब मनुष्य अपने समस्त कर्मो को छोड़ कर मुझे खोजने की चेष्टा करता है" इत्यादि। इसमें सब कुछ छोड़ने की बात से, सर्वात्मभाव कहा गया है। आत्म निवेदन करने के बाद ही भगवत् संबंधी लीला करने की इच्छा सम्भव है। अर्थात् भगवान् की अन्तरंग

लीला में प्रवेश करने की विशेष इच्छा होती है अतः यज्ञ का उदाहरण बहुत अच्छा दिया है जैसे कि—सोम आदि यज्ञों में "न दानानि न पचति" इत्यादि से यागेतर धर्म की निवृत्ति बतलाकर एक मात्र यज्ञ को ही ऋत्विक के लिये परम धर्म कहा गया है, वैसे ही पुरुषोत्तम का सर्वात्मभाव वाले भक्तों के साथ रमण ही सब कुछ है, इससे प्रभु और भक्त की महिमा सूचित होती है। इस लीला यज्ञ में भक्तों को ऋत्विक् बतलाने का कुछ और भी तात्पर्य है। उन यज्ञों में, यजमान अपने कर्म की सांगोपांग पूर्ति के लिये ऋत्विक को खरीदता है, वरण करके अपने कर्ममात्र के उपयोग के लिये ही ऐसा करता है यही बात, भक्तों का वरण कर भगवान करते हैं। कह सकते हैं कि—उन यज्ञों में तो दक्षिणा से खरीदा जाता है और ऋत्विक की प्रवृत्ति भी उसी से होती है, किन्तु यहाँ तो भगवान ही स्वयं पुरुषार्थ हैं, इसी भाव से भगवत्सम्बन्धी प्रवृत्ति होती है अतः दोनों में विषमता है। उन यज्ञों में-निर्लोभी का भी जब वरण किया जाता है तब दक्षिणा सम्बन्धी "कश्चित् कल्याण्यो दक्षिणा" इत्यादि प्रश्न किया जाता है और दक्षिणा भी समान रूप से दी जाती है, यदि ऐसा न करें तो यज्ञ का एक अंग ही अपूर्ण रह जाय। वैसे ही लीला यज्ञ में भक्तों की स्नेह से ही लीला में प्रवृत्ति होती है, भक्त उसके बदले कुछ चाहता नहीं', भगवान् अपने अनुभव के लिये ही उन भक्तों को अनुभव कराते हैं, यही दक्षिणा है, अतः दोनों प्रकार के यज्ञों में कोई विषमता नहीं है।

श्रुतेश्च ।३।४।४५।।

अथर्वणोपनिषत्सु पठ्यते—"भक्तिरस्यभजनं तदिहामुत्रोपाधिनैराश्येनैवामुष्मिन्मनः कल्पनमेतदेव च नैष्कर्म्यमिति"।

भक्तिमार्ग प्रचारैकहृदयोबादरायणः, मानं भागवतं तत्र तेनैवं ज्ञेयमुत्तमैः

अथर्वोपनिषद् में पाठ है कि—"भगवान की भक्ति ही भजन है, जो कि संसारिक वासनाओं से विरत होने पर निष्काम भाव से मन में होती है।" इत्यादि श्रुति उक्त मत की ही पुष्टि करती है। भगवान बादरायण एक मात्र भक्तिमार्ग के प्रचारक है, एक मात्र श्रीमद् भागवत ही उसका प्रमाणित ग्रन्थ है, उसमें भी उत्तम भक्ति से अधिकारियों का ऐसा ही वर्णन मिलता है।

७. अधिकरण :—

सहकार्यन्तरविधिः पक्षेण तृतीयं तद्वतोविध्यादिवत् ।३।४।४६।।

ननु यमेवैति श्रुतिः साधनान्तर निषेध पूर्वकं वरणस्यैव साधनत्वमाह ।" तस्मादेवंविच्छान्तोदान्त उपरतिस्तितिक्षुः श्रद्धान्वितो भूत्वाऽऽत्मन्येवात्मानं-पश्येत्" इति श्रुतिः साधनान्तरमप्याह । एवं विरोधे श्रुतित्वाविशेषात् किमा-दरणीयं किं नेति संशये साधनान्तरविधिरेवादरणीयोऽन्यथा शास्त्रवैयर्थ्यं स्यादिति प्राप्ते, उच्यते—सहकार्यन्तरविधिरिति मर्यादापुष्टिभेदेन वरणं द्विधोच्यते । तत्र सहकार्यन्तरविधिस्तु मर्यादा अपेक्षणोच्यते । पुष्टौ तु नान्या-पेक्षेति न विरोधगन्धोऽपि । अपरं च साधनं हि कायिकंवाचिकं मानसिकं च विधीयते । तत्र मनसैवाप्तव्यमिति श्रुतेस्तृतीयं मुख्यम् । तदपि तावदेव मार्यादिकस्यापि विधेयत्वेन कर्त्तव्यम् यावत्स्नेहो न भवति । यतस्तद्वतः स्नेहवतस्तूक्तं तृतीयं साधनपि विध्यादिवत् । यथा तद्वतौ विधिरर्थवादो वा प्रवृत्तावप्रयोजकस्तस्य स्वत एव संभावत्तथा भगवत्प्राप्ताविदमित्यर्थः । कैमुतिक न्यायेनपूर्वयोरप्रयोजकत्वमेतन्शेषत्वात् एव आयास्यति इति तृतीय-मेवोक्तम् ।

"यमेवैति" श्रुति तो अन्य साधनों का निषेध करके एक मात्र वरण की ही महत्ता बतलाती है जब कि—"एवं विच्छान्तोदान्त" आदि श्रुति अन्य साधनों को भी महत्व देती है। इस प्रकार की विरुद्धता में तथा दोनों ही श्रुतियों की समानता में किस श्रुति का आदर करें, किसका न करें, इस संशय पर विचार होता है। कि साधनान्तर विधि ही आदरणीय है, यदि ऐसा नहीं करेंगे तो शास्त्र व्यर्थ हो जायगा। इस पर सूत्रकार कहते हैं कि—मर्यादा और पुष्टि भेद से वरण दो प्रकार का होता है, सहकार्यन्तरविधि मर्यादा की अपेक्षा रखती है जब कि पुष्टि में अन्य की अपेक्षा नहीं होती, इसलिये विरोध का प्रश्न ही नहीं है। दूसरी बात ये है कि—साधन, कायिक, वाचिक और मानसिक भेद से तीन प्रकार के कहे गये है। "मनसैवाप्तव्यम्" श्रुति में मानसिक साधन को ही मुख्य कहा गया है। जब तक आन्तरिक स्नेह न हो तब तक साधनों को मार्यादिक रूप से ही करना चाहिये। जब स्नेह हो जाये तो तृतीय मानसिक साधन ही कर्त्तव्य है। जैसे कि—पुत्र, पिता की सेवा स्नेह वश सहज हो करता है, पिता की सेवा से प्राप्त होने वाले पुण्य को बतलाने वाले वाक्यों के आधार पर पुण्य के लोभ से नहीं करता, वैसे ही

भगवत् प्राप्ति में, शमदम आदि साधन सहज रूप से ही उस भक्त में आ जाते हैं, उसके लिये कोई प्रयास अपेक्षित नहीं होता, और न इन वाक्यों की ही कोई अपेक्षा होती है। अतः पुष्टि मार्ग में पूर्व के साधनों की कोई प्रयोजन नहीं है, वे तो स्वयं ही आ जाते हैं उसमें तो तृतीय मानसिक साधन की ही विशेषता बतलाई गई है, वरण मात्र ही इस मार्ग का साधन है मर्यादा मार्ग में अन्य साधनों की अपेक्षा होती है।

कृत्स्नभावात्तु गृहणोपसंहारः ।३।४।४७।

ननु बहिस्स्तूभयथेत्यादिना भगवदीयस्य गृहत्याग आवश्यक इति निरूपितम् । छांदोग्ये त्वाचार्यकुलादित्युपक्रम्य छांदोग्योपनिषदन्ते आचार्यकुलाद् वेदमधीत्य गुरोः कर्मातिशेषेण अतिसमावृत्य कुटुम्बेशुचौ देशे स्वाध्यायमधीयानो धार्मिकान् विदधदात्मनि सर्वेन्द्रियाणि सम्प्रतिण्ठाप्य अहिंसनसर्वाणिभूतान्नन्यत्र तीर्थेभ्यः स खल्वेवं वर्त्तयन् यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसंपद्यते, न च पुनरावर्त्तते न च पुनरावर्त्तते।"

इदं विषय वाक्यम् । "ब्रह्मलोकमभिसंपद्यते" इति गृहिणोपसंहार कृतः । वाजसनेयि शाखायां च—"तद् हस्म वैतत्पूर्वे ब्राह्मणः अनूचाना विद्वांसः प्रजां न कामयन्ते" इत्युपक्रम्य "अथभिक्षाचर्यं चरंति" इति पठ्यते । एवं सति विकल्पे संभवति उपसंहारस्यतात्पर्यं ग्राहकत्वाद् गृहिण एव यथोक्तकर्मकर्त्तुः ब्रह्मसंपत्तिः, इति श्रुतेः तात्पर्यम् । त्यागोक्तिस्तु "ब्रह्मैतादृशं यदर्थं मर्वं त्यज्यते" इति स्तुतिपरेति प्राप्ते, गृहिणोपसंहारे हेतुत्वेन तात्पर्यमाह-कृत्स्नेति—त्यागेवाङ्मनसोरेव भगवति विनियोगोन सर्वेन्द्रियाणाम् गृहिणस्तु सर्वैः प्रकारैः यजनं भवति । परिजनश्च कृतार्थो भवति इति च भजने कृत्स्नता भवति इति तेनोपसंहारः कृतः । अतएव "आत्मनि सर्वेन्द्रियाणि संप्रतिष्ठाप्य" इति उच्चयते । अत्रात्मपदं भगवत्परमिति ज्ञेयम् । कर्ममार्गीयगृहिव्यवच्छेदाय तु शब्दः । अत्रेदमाकूतम्—"भक्तिमार्गो बहुविधि" इति कपिलदेव वाक्यात् केचन भक्ताः स्वगृहेष्वेवः स्नेहेन भगवदाकारे विविधोपचारैः सेवां कुर्वन्तः तयैव निवृत्त्या मुक्तिमपि तुच्छां मन्यन्ते । तदुक्तं—"मधुद्विट् सेवानुरक्तमनसामभवोऽपि फल्गुः" इति । तेन भगवत् भजन एव तत्रापि पुष्टिमार्ग एव श्रुतेर्भर इतिं ज्ञायते । पूर्वमुत्कटभगवद् भाववतां तदर्थं त्यागं निरूप्य गृहिणोपसंहार तात्पर्यं पश्चाद् यन्निरूपितवाँस्तेन तादृगभाववतैव त्यागः कार्यः । तद् रहितेन तु गृहं एवोक्तरीत्या प्रभु भजनं कार्यम् । तेनैव तल्लाभ

इति व्यास हृदयमिति ज्ञायते। उक्तभावाभावे त्यामधर्म अनिर्वाहात् इति। केचन भक्ता भाषणादि लीलादर्शनं स्थातुमशक्ताः प्रचुरभावविवशाशया गृहाँस्त्यक्त्वा वनं गच्छन्ति आत्रेयौडुलोमियाँतु भगवदवतार सामयिक भक्तदशोक्ता। एते सर्वे फलमार्गीयाः। वाजसनेयि उक्तास्तु साधनमार्गीया इति नानुपपत्तिः काचित्।

"बहिस्तूभयथा" इत्यादि सूत्र से भगवदीय जनों के गृह त्याग को आवश्यक बतलाया गया। छांदोग्य में "आचार्यकुलात्" इत्यादि उपक्रम करते हुए छांदोग्योपनिषद् के अंत में—आचार्य कुल से वेद पढ़कर गुरु दक्षिणा आदि से निवृत होकर समावर्त्तन संस्कार करने के बाद पवित्र कुटुम्ब में स्वाध्याय करते और कराते हुए आत्मा में समस्त इन्द्रियों को स्थित करके, प्राणिमात्र में अहिंसा की भावना रखते हुए जीवन पर्यन्त रहने वाला ब्रह्मलोक प्राप्त करता है, पुनः नहीं लौटता पुनः नहीं लौटता" इत्यादि प्रवृत्ति परक वाक्य हैं, "ब्रह्मलोकमभिसंपद्यते" इस पूर्णता बोधक वाक्य से गृहस्थ में ही कृतार्थता बतला दी गई है।

वाजसनेमिशाखा में "ब्राह्मण अनूचाना विद्वांसः प्रजां न कामयन्ते" इत्यादि उपक्रम करके "भिक्षाचर्यां चरन्ति" ऐसा पाठ आता है। इस प्रकार उपसंहार में विकल्प है, यदि तात्पर्य निकाला जाय तो, गृहस्थाश्रम में ही विधिवत आश्रम धर्म का पालन करते हुए, ब्रह्म प्राप्ति कर सकते हैं, वाजसनेयि में त्याग संबंधी चर्चा है, वह तो स्तुति परक ही है। इस मत पर सूत्रकार उपर्युक्त सूत्र प्रस्तुत करते हैं, उनका कथन है कि–वाणी और मन से सब कुछ भगवान में समर्पण करना त्याग है, इन्द्रियों के विषयों के त्याग की कोई चर्चा नहीं है। गृहस्थाश्रम में हर प्रकार का भजन सधता है, सारा परिवार कृतार्थ हो जाता है, भजन में सर्वात्म भाव हो जाता है, यही बात "आत्मनि सर्वेन्द्रियाणि संप्रतिष्ठाप्य" इत्यादि उपसंहार में कही गई है। इस वाक्य में आत्मा पद भगवत्परक है। कर्म मार्गीय गृहस्थों के लिए उक्त व्यस्था नहीं है सूत्रस्थ तु शब्द का यही तात्पर्य है। सारांश ये है कि—कपिलमुनि के कथनानुसार भक्ति मार्ग अनेक प्रकार का है, उनमें से कुछ भक्त अपने घर में ही स्नेह पूर्वक भगवद विग्रह की विविधोपचारों से सेवा करते हुए, उसी के सहारे सांसारिक वासनाओं से निवृत्त हो जाते हैं, और मुक्ति को भी तुच्छ समझते हैं। जैसा कि भागवत में कहा भी है—"भगवान की सेवा में अनुरक्त भक्तों

की मानसिक वासनाएँ क्षीण हो जाती हैं। इससे निश्चित हुआ कि पुष्टिमार्गीय भगवद् भजन ही श्रुति का तात्पर्य है। जो भगवत् साक्षात्कार के लिए अत्याकुल भक्त हैं, उनके लिए त्याग का निरूपण करके बाद में गृहिणोपसंहार के तात्पर्य का निरूपण किया गया है, उससे निश्चित होता है कि—उत्कट भाव वाले भक्तों के लिए त्याग आवश्यक है। जिनमें वैसा उत्कट भाव नहीं है उन्हें घर में ही भगवत भजन करना चाहिए। उन्हें उसी से भगवत्प्राप्ति होगी, यही, इस सूत्र से, व्यास जी का आशय प्रतीत होता है। जब तक उत्कट भाव न होगा तब तक त्याग धर्म का निर्वाह संभव नहीं है। कुछ भक्त, भगवान से भाषण और उनकी लीला के दर्शन के बिना रह नहीं सकते अतः वे उत्कट भाव में विभोर होकर, घर छोड़कर, वन चले जाते हैं। आत्रेय और औबुलोमि ने भगवान के अवतार के समय के ही भक्तों की दशा का उल्लेख किया है वे सभी फलमार्गीय भक्त थे, बाजसनेयि में साधन मार्गीय भक्तों की चर्चा है। अतः कोई विरुद्धता नहीं है।

मौनवदितरेषामप्युपदेशात् ।३।४।४८।।

किंच संन्यासिन आवश्यका ये धर्मास्ततोऽधिकास्ते गृहिणः सिद्धयन्ति इत्यतोऽपि हेतोस्तेनोपसंहारः कृतः, इत्याशयेनाह—मौनवदित्यादि। मौनपदमनीहानिलायामादित्रिदण्डिधर्मोपलक्षकम्। यथा वागिन्द्रियमात्रदेहमात्रचित्तमात्रनियामकाःते धर्मा उक्ता, न्यासिनस्तथेतरेषामपि इन्द्रियनियामकानां धर्माणामात्मनि सर्वेन्द्रियाणि संप्रतिष्ठाप्य,इति श्रुत्या गृहिण उपदिश्यंत इति युक्तो गृहिणोपसंहार इत्यर्थः। तत्र नियमन मात्रम्, अत्र तु भगवति विनियोगात् आधिक्यमिति भावः। वस्तुतस्तु केवलनियमनस्याप्रयोजकत्वात्तत्रापि भगवति विनियोग एवं तात्पर्यमिति ज्ञेयम्।

"मौनवदितरेषाम्" इत्यादि सूत्र से सूत्रकार सूचित करते हैं कि संन्यासियों के जो आवश्यक धर्म हैं, उनसे भी अधिक गृही के त्याग धर्म हैं, इसलिए भी गृही में समस्त आश्रम धर्मों के उपसंहार की बात कही गई है। सूत्र में प्रयुक्त मौनपद अकिंचन गृह त्यागी त्रिडण्डी के धर्म का उपलक्षक है। त्रिडण्डी तो, वाणी मात्र, देह मात्र, चित्तमात्र का नियमन करता है, किन्तु गृही समस्त इन्द्रियों को भगवान में लीन कर देते हैं, "आत्मनि सर्वेन्द्रियाणि संप्रतिष्ठाप्य" श्रुति में ऐसा स्पष्ट कहा गया है, गृही में समस्त का उपसंहार ठीक ही किया गया है। त्रिडण्ड संन्यास में तो संयमन मात्र होता है किन्तु गृहस्थ का सब

कुछ भगवान में ही विनियोग होता है, अतः त्याग से गृहस्थ अधिक है। वास्तव में केवल नियमन से कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता, इसलिए भगवद् विनियोग के तात्पर्य से गृहिणोपसंहार की बात कही गई है।

अनाविष्कुर्वन्नन्वयात ३।४।४९।।

ननु भगवति सर्वेन्द्रिय विनियोगात् गृहिणोपसंहार इति न युज्यते। शुचौ देशे स्वाध्यायमधीयान इत्यादि कर्ममार्गीय साधनश्रुतेरित्याशंक्य तत्तात्पर्यमाह–अनाविष्कुर्वन्निति। भगवद्भावस्य रसात्मकत्वेन गुप्तस्यैवाभिवृद्धिस्वाभावकत्वादाश्रमधर्मैरेव लोके स्वंभगवद्भावमनाविष्कुर्वन भजेति इत्येतदाशयेन ते धर्मा उक्ताः। गोपने मुख्यं हेतुमाह अन्वयादिति अत्र ल्यब्लोपे पंचमी, एतेन यावदन्तः करणे साक्षात् प्रभोः प्राकट्यं नास्ति तावदेव वहिराविष्करणं भवति। प्राकट्ये तु न तथा संभवतीति ज्ञापितम्।

भगवान में समस्त इन्द्रियों के विनियोग की दृष्टि से गृहिणोपसंहार की बात समझ में नहीं आती क्योंकि—"शुचौ देशस्वाध्यायमधीयानः" इत्यादि श्रुति तो कर्ममार्गीय साधन का उल्लेख कर रही है। इस शंका पर उक्त श्रुति का तात्पर्य बतलाते हुए "अनाविष्कुर्वन्" सूत्र प्रस्तुत करते हैं। कहते हैं कि—भगवद्भाव रसात्मक है, अतएव गुप्त रहने से ही उसकी अभिवृद्धि होती है, आश्रम धर्मों का पालन करते हुए भगवद्भाव को प्रकट न करके ही भजन करना चाहिए। इसी आशय से कर्ममार्गीय धर्मों का उल्लेख किया गया है। प्रकार के गोपन में अन्वय ही मुख्य हेतु है, गुप्तभाव से भगवान के साथ अन्वय संबंध स्थापित करके भक्त स्थित रहते हैं जब तक अन्तः करण में साक्षात् प्रभु का प्राकट्य नहीं हो जाता तभी तक बाहरी दिखावा चलता है, जब प्राकट्य हो जाता है तब वो दिखावा संभव नहीं है, यही भाव उक्त श्रुति से प्रकट होता है।

ऐहिकमप्रस्तुत प्रतिबन्धतद्दर्शनात्।३।४।५०।।

वैदिक कर्म करणे तात्पर्यमुक्त्वा लौकिकस्यानावश्यकत्वेऽपितत्समयमाह–प्रस्तुतं प्रभु भजनं तत्प्रतिबंधासंभव एव ऐहिकं कर्म कार्यम्। ननु ऐहिकं कर्मास्तु मा वा, अतस्तत्समयोक्ति व्यर्था–इत्याशंक्याह—प्रस्तुतं प्रभु भजनं तद्दर्शनादिति। आचार्य कुलादित्युपक्रम्याग्रे पठ्यते "धार्मिकान् विदधति" इति

अतो धार्मिक पुत्रविधानमैहिकं कर्म श्रुतौ दृश्यतेऽतस्तत्समयोक्तिरावश्यकी । अन्यथा श्रुतौ उक्तमस्ति इति प्रस्तुतबाधेऽपि तत्करणे फल प्रतिबन्धः स्यादिति भावः ।

वैदिक कर्म करने के तात्पर्य को बतला कर लौकिक कर्मों के अनावश्यक होते हुए भी उनकी कर्त्तव्यता को बतलाते हैं—प्रभु भजन में लौकिक कर्मो का कोई प्रभाव नहीं पड़ सकता, अतः उनको करना चाहिए। यदि ऐहिक कर्मों को अनावश्यक कहेंगे तो उसकी अर्हता का प्रतिपादन व्यर्थ हो जायेगा, सो बात है ही नहीं। क्योंकि उक्त वाक्य में ऐहिक कर्म की कर्त्तव्यता का स्पष्ट महत्त्व है, उस वाक्य में—"आचार्यकुलात्" ऐसा उपकर्म करते हुए आगे "धार्मिकान् विदधति" कह कर धार्मिक पुत्र बनाने का विधान बतला कर ऐहिक कर्म पर बल दिया गया है। यदि इस पर भी ऐहिक कर्म का महत्त्व नहीं मानेंगे तो, श्रुति में तो वह महत्त्वपूर्ण उक्ति है ही; तुम्हारे कथनानुसार तो फिर ऐहिक कर्म मोक्ष प्रप्ति में बाधक हो जायगा। (अब तुम स्वयं ही सोच लो कि तुम्हारी बात मानना सही है या श्रुति की)

एवं मुक्तिफलानियमस्तदवस्थावधृतेस्तदवस्थावधृतेः ।३।४।५१।।

ननु "तस्य तावदेवं चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ संपत्स्ये" इति श्रुतौ मुक्त्यनन्तरं ब्रह्मसंपत्तिः श्रूयते। सा तु पुरुषोत्तम संगे लीलारसानुभावातिरिक्ता वक्तुमशक्या। मुक्तोपसृप्यव्यपदेशात् "मुक्तामपि सिद्धानां नारायण परायणः, सुदुर्लभः प्रशान्तात्मा कोटिष्वपि महामुने" इति स्मृतेश्च। मुक्तेः फलं भक्तिरसानुभव एव सत्युक्त गृहिणस्तत्फलं भवति न वेति संशये निर्णयमाह—एवं भूतस्योक्त रूपस्य मुक्तस्य मुक्तेर्यत्फलं भक्तिरसानुभवः तस्य अनियमः तस्य भगवदिच्छानीत्वात्। साधनाप्राप्यत्वात्। अतएव "मुक्ति ददाति कर्हिचित्स्म न भक्तियोगम्" इति शुक वाक्यम्। अत्र औत्सर्गिक हेतुमाह—तदवस्थेति। "न स पुनरावर्त्तते" इत्यस्यावृत्या मुक्त्यवस्थाया एव सार्वदिकत्वेन निर्द्धारः क्रियते। यद्यपि एवं मुक्तिफलाभावनियम एवायाति, न तु तदनियमस्तथापि—"तस्य तावदेवचिरं" इत्यादि प्रमाणे "न स पुनरावर्त्तते" इति श्रुत्या समं विरोधाभावाय औत्सर्गिकी तदवस्था। तत्फलं तु कस्यचिद् इत्यनुग्रहेण पुष्टौ प्रवेशने भवति इति स्वाभिप्रायं प्रकटी कुर्वता बादरायणेन अनियम इत्युक्तम्। एवं सति "न स पुनरावर्त्तते" इति श्रुतिः प्रपंचे पुनरावृत्ति निषेधति, न तु तदतीतेऽपीतिज्ञेयम् समाप्ति ज्ञापनाय आवृतिः।

अथवा श्रुतौ तदवस्थावधृतेर्हेतोरस्माकमपि तदवस्थावधृतियतोऽतः फलाऽनियमनिश्चयोऽपीत्यर्थः । एवं सति मुक्तिपर्यन्तं साधनं भगवद्भाव इति निर्णयः संपन्नः ।

"उसके मोक्ष में तभी तक की देर है जब तक शरीर नहीं छूटता उसके बाद वह ब्रह्म संपन्न हो जाता है" इस श्रुति में मुक्ति के बाद ब्रह्म संपत्ति बतलाई गई है, उस मुक्ति को, पुरुषोत्तम के साथ लीलानुरसानुभव के अतिरिक्त कुछ और नहीं कह सकते । "नारायण परायण सिद्ध मुक्त पुरुषों में करोड़ों में कोई एक प्रशान्तात्मा होता है" इत्यादि स्मृति वाक्य भी है । मुक्ति का फल मुक्तिरसानुभव है तो, ग्रहस्थ भक्तों को वह प्राप्त होता है या नहीं ? इस संशय पर सूत्रकार कहते हैं कि—उक्त प्रकार के मुक्त जीवों को मुक्ति के फलस्वरूप प्राप्त होने वाला जो भक्तिरसानुभव रूप फल है वह मिले ही ऐसा कोई नियम नहीं है, वह तो भगवदिच्छा के ही अधान होता है, साधन से नहीं मिलता । "वह प्रभु मुक्ति तो दे देते हैं किन्तु भक्तियोग बहुत कठिनता से ही देते हैं" इत्यादि भागवतोक्त शुकवाक्य से उक्त मत की पुष्टि होती है । "न स पुनरावर्त्तते" की जो पुनरावृत्ति की गई है उससे, मुक्ति अवस्था का सार्वदिक निर्द्धारण सिद्ध होता है । यद्यपि इस प्रकार का मुक्ति फलाभाव का नियम भी आ जाता है, उसके अनियम की बात नही आती फिर भी "तस्य तावदेव चिरं" इत्यादि प्रमाण के साथ "न स पुनरावर्त्तते" श्रुति का विरोध भाव है उसके निराकरण के लिए ही अनियम की व्यवस्था की गई है, इस व्यवस्था से दोनों का समाधान हो जाता है । उक्त प्रकार का फल तो कभी-कभी ही भगवान के अत्यनुग्रह से, पुष्टि मार्ग में प्रवेश करने पर ही होता है । इस अपने अभिमत अभिप्राय को प्रकट करने के लिए, अनियम पद का प्रयोग किया है । इस प्रकार, "न स पुनरावर्त्तते" श्रुति प्रपंच में पुनरावृत्ति का निषेध करती है, उससे अतीत होने की बात नहीं कहती । फल के अनियम की बात निश्चित हो जाने पर भी श्रुति में उस अवस्था की अवधृति का जो हेतु बतलाया है, वह हमारा अभिमत सिद्धान्त है (अर्थात् पुष्टि मार्ग में सब कुछ ब्रह्मरूप है ऐसी अवधारणा करने पर ही भगवदनुग्रह प्राप्त होता है) इस प्रकार निर्णय होता है कि—मुक्तिपर्यन्त भगवद्भाव की साधना करनी चाहिए ।

तृतीय अध्याय चतुर्थपाद समाप्त

चतुर्थ अध्याय

चतुर्थ पाद

समन्वयेनाविरोधात् साधनैर्ब्रह्मविद् यदि ।
तस्याग्रिमव्यवस्था या सा च तुर्ये विविच्यते ॥
जीवतो म्रियमाणस्य गच्छतः सफलस्य च ।
अतो ब्रह्मविदा कार्यमेवमेव, न चान्यथा ॥
तामसीं बुद्धिमाश्रित्य ये मूढाः सर्वं विप्लवम् ।
वदन्ति शास्त्र नाशाय सद्भिः शोच्याश्चमेऽनु तान् ॥
ब्रह्मविद् गमनाभावः शतांशेनापि चेद् भवेत् ।
शास्त्रमेतद् वृथा जातं सर्वसूत्र विनाशतः ॥
स्वाप्स्य च संपत्तेरत्र ब्रह्मगतिश्रुती ।
अन्यथा न, श्रुतेरर्थः स्याच्चेद् व्यासोवदेन्न किम् ॥
तामसीं बुद्धिमाश्रित्य या मुक्तिः कैश्चिदुच्यते ।
सा सुषुप्ति श्रुतेरर्थो मोहादेवान्यथा मतिः ॥
अतो ब्रह्मविदः कार्यं जीवतः पूर्वमुच्यते ।
आवृत्तिः श्रवणादीनां नवकृत्योपदेशतः ॥
दर्शनार्थत्वतो लिंगादपि व्रीह्यवधातवत् ।
आवृत्तौ श्रवणादीनामात्मेति स्याद् दृढा मतिः ॥
आपाततो दर्शनं तदभेदेनापि बोध्यते ।
प्रतीकोपासनादीनां नैवंभावो हि जायते ॥
आलम्बनार्थं तत्रापि ब्रह्मदृष्टिर्विशिष्यते ।
आदित्यादिब्रह्मदृष्टेरंगत्वं न स्वतंत्रता ॥
मनने च निदिध्यासे विशेषश्चोच्यतेऽधुना ।
आसनादिशङ्गैस्तु चित्तं श्रौतार्थं एव हि ॥
धारयेदामतेरेवं ततः सिद्धिमवाप्स्यति ।
धर्माधर्मभयं तस्य नास्त्येवेति विनिश्चयः ॥
अग्निहोत्रादिकं कार्यं संन्यासः फल एव हि ।
षोढाचेत् पुरुषोव्यक्तः प्रारब्धान्तेफलं भवेत् ॥

एतावान् प्रथमे पादे निर्णयः सूत्रकृत् कृतः ।
द्वितीये म्रियमाणस्य सर्वेन्द्रियलयः पुरा ।।
लिंगस्यापि शरीरस्य नाड्योत्क्रान्तिरिहोच्यते ।
दिनाऽयनकृतो नास्य विशेषोऽस्तीति चोच्यते ।।
तृतीये क्रममुक्तौ यो मार्गो यस्य श्रुतेर्मतः ।
तन्निर्द्धारान्यमार्गारागमप्राप्यत्वं च वर्ण्यते ।।
गन्तव्यं च परंब्रह्म कार्यो लोकस्तु नेति च ।
तुरीये पुष्टिमर्यादाभेदेन फलमुच्यते ।।
प्रभोरेवफलत्वं तन्निदोषित्वं च वर्ण्यते ।
लीलानित्यत्वतः पूर्णं गुणत्वं च ततोऽखिलम् ।।

समन्वय अविरोध और साधनों से हुई ब्रह्मावगति से ब्रह्मविद् को जो मुक्ति प्राप्त होती है उसी का इस अंतिम चौथे अध्याय में वर्णन किया गया है। म्रियमाण जीव की गति मुक्ति रूप हो यही ब्रह्मवेत्ता की सफलता है, यही ब्रह्म ज्ञान का कार्य है, कुछ और प्रयोजन नहीं है। जो तामसी बुद्धि के आश्रय से शास्त्रीय विचारों में उथल-पुथल करते हैं, ऐसे शास्त्र नष्ट करने वाले, शास्त्रज्ञों के लिए शोचनीय हैं। यदि ब्रह्मवेत्ता के मोक्ष की बात का थोड़ा भी विरोध किया जाता है तो यह सारा उत्तर मीमांसा शास्त्र व्यर्थ हो जाएगा और समस्त वेदांत सूत्रों की योजना ही नष्ट हो जाएगी। दहर विद्या के रूप में जो ब्रह्मविद् गति का प्रकरण है उसमें सुषुप्ति और ब्रह्म प्राप्ति से संबंधित जो ब्रह्मगति को बतलाने वाली श्रुति हैं, उनका अन्यथा अर्थ नहीं किया जा सकता, यदि अन्यथा अर्थ संभव होता तो क्या व्यासदेव फल विचार के समय उसका उल्लेख न करते। जो लोग तामसी बुद्धि के सहारे जिस मुक्ति का विवेचन करते हैं, वो सुषुप्ति श्रुति का तात्पर्य है, उनका ऐसा विपरीत विचार मोहजन्य ही है। ब्रह्म वेत्ताओं को भी जीव दशा में, फलानुकूल कार्य करने चाहिए, श्रवण आदि नौ साधनों के पालन का उपदेश दिया गया है। भगवान ही जीव के आत्मा हैं, यह निश्चित सिद्धान्त है। भगवान सर्वात्मक, सर्वरूप हैं और आत्म रूप भी हैं इस दृष्टि से अभेद दृष्टि रखना, ब्रह्मवेत्ता का द्वितीय कार्य है। प्रतीकोपासना करने वाले और कर्ममार्गीयों को ऐसा भाव नहीं होता। ध्यान के आलम्बन के लिए तो ब्रह्मवेत्ता को भी किसी प्रतीक का आश्रय लेकर विशिष्ट ब्रह्म दृष्टि करनी होती है। आदित्य आदि प्रतीकों में ब्रह्मदृष्टि, अंग मानकर ही की जाती है स्वतंत्र अंगी मानकर नहीं। इस प्रकरण

में मनन और निदिध्यासन में विशेषरूप से भगवान का वाह्याभ्यन्तर प्राकट्य होता है इसका निर्णय करेंगे । भगवान की वाह्य प्रकट स्थिति और आन्तरिक लीला प्राकट्य में श्रवण, कीर्त्तन, स्मरण, पाद सेवन, अर्चन और बंदन आदि छः साधन चित्त समाधान के श्रौत सम्मत साधन हैं । इन साधनों का पालन करने से निश्चित ही सिद्धि प्राप्त कर सकते हैं इनके पालन में धर्म अधर्म का भय नहीं होता । अग्निहोत्र इत्यादि कार्यों को करने वाले संन्यास लेकर ही मोक्ष प्राप्त कर पाते हैं । श्रवण आदि छ. साधनों का आश्रय लेकर उपासना करने वाले, प्रारब्ध भोग के समाप्त हो जाने पर मुक्त हो जाते है । इत्यादि बातों का निर्णय सूत्रकार ने इस अध्याय के प्रथम पाद में किया है द्वितीय पाद में, लिंग शरीर की नाडी से उत्क्रान्ति भी बतलाई गई है, इसमें दिन अयन आदि किसी की अपेक्षा नहीं होती यह विशिष्ट गति है । तृतीय पाद में, क्रम मुक्ति का उल्लेख है जिसके अनुरूप जो मार्ग है, उसी को श्रुति मत से निर्णय किया गया है, अनुरूप मार्ग के निर्द्धारण में अन्य मार्गों की अप्राप्ति की भी चर्चा है । एकमात्र परम ब्रह्म ही गन्तव्य स्थान हैं, लोक कार्य प्राप्य नहीं हैं, इस दृष्टि से पुष्टि और मर्यादा भेद से, चतुर्थ पाद में फल का विवेचन किया गया है । परमात्मा की प्राप्ति ही मोक्ष है उसकी अनवद्यता का वर्णन किया गया है, सारा विश्व उसकी नित्य लीला है अतः वह प्रभु पूर्ण गुण वाले है, इत्यादि निर्णय अन्त में हो जाता है ।

अस्यफलप्रकरणत्वेऽपिसाधनरूपस्यापि श्रवणस्यान्तरंगत्वं ज्ञापयितुं तन्निर्द्धा-रमप्याह—

यह अध्याय फल प्रकरण है, श्रवण आदि इसके अन्तरंग साधन हैं, इस बात को बतलाने के लिए उन पर विचार प्रस्तुत करते हैं ।

१ अधिकरण :—

आवृत्तिरसकृदुपदेशात् ।४।१।१।।

"आत्मावाऽरे द्रष्टव्यः श्रोतव्योमन्तव्यो निदिध्यासितव्यः" इत्यादि वाक्यै-र्विहितं श्रवणादिकं किं सकृदेव कर्त्तव्यं उत् असकृत् इति भवति संशयः । किं तावत् प्राप्तं, सकृदेवेति । तावतैवशास्त्रार्थस्यसंपत्तेः न च तण्डुलनिष्पत्ति फलकावघातस्येव दर्शनफलकानां श्रवणादीनां तत् सिद्धिपर्यन्तं आवृत्तिन्यांय-प्राप्तेति वाच्यम् । अवघातस्य वितुषीकरणात्मकदृष्टद्वारकत्वेनतथात्वमस्तु

नाम, प्रकृते त्वदृष्टद्वारकत्वात् सकृत्कृतेनैव अदृष्ट द्वारा फलसंपादन संभवादावृत्तिरप्रयोजका, इति प्राप्ते, उच्यते—आवृत्तिरेव श्रवणादीनां श्रुत्यभिमता। कुतः ? असकृदुपदेशात्। छान्दोग्ये श्वेतकेतूपाख्याने—"ऐतदात्म्यमिदं सर्वम् तत्सत्यं, स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो" इति वाक्येन जडजीवयोर्ब्रह्मात्मत्वं नवकृत्व उपदिष्टवान्। तथा च सकृदुपदेशेनैव चेदर्थसिद्धिः स्यात्तदैकमेवार्थमेकस्मात् एकदैवा सकृन्नोपदिशेत्, प्रयोजनाभावात् ऐतेनावघातवदन्तः करणदोष निवर्त्तनं दृष्टद्वारमन्येषामुपदेशानां चरमस्य तस्य ज्ञान साधकत्वमिति मन्तव्यम्।

"आत्मावाऽरे द्रष्टव्यं" इत्यादि वाक्य में विहित श्रवण आदि केवल एक बार ही कर्त्तव्य हैं अथवा बार-बार ? ऐसा संशय होता है। विचारने से तो एक बार करने की बात ही समझ में आती है, शास्त्र का तात्पर्य ऐसा ही समझ में आता है। जैसे कि—मुसल के पुनः पुनः अवघात से धान का छिलका अलग होकर निकल आता है वैसे ही श्रवण आदि के पुनः पुनः साधन से भगवत्प्राप्ति होती हो ऐसा कुछ नहीं है। मुसल के अवघात से भूसी का अलग होकर चावल का निकलना तो प्रत्यक्ष बात है किन्तु भगवत्प्राप्ति कोई लौकिक प्रत्यक्ष का विषय तो है नहीं अतः श्रवणादि साधनों का एक बार कर्त्तव्य ही फल साधन में पर्याप्त है, उनकी आवृत्ति का कोई प्रयोजन नहीं समझ में आता। इस मत पर सूत्रकार कहते हैं कि—श्रवण आदि की आवृत्ति ही श्रुति को अभिमत है। क्योंकि उपनिषदों में बार-बार उपदेश दिया गया है। छांदोग्य के श्वेतकेतु उपाख्यान में "यह सब कुछ आत्म्य है" वह सत्य है "वह जो आत्मा है वह तुम्ही हो" इत्यादि वाक्य में जड जीव की ब्रह्मात्मकता का पुनः नए ढंग से उपदेश दिया गया है, यदि एक बार के उपदेश से ही अर्थ सिद्धि संभव होती तो, ब्रह्म तत्त्व का उपदेश एक बार ही दिया गया होता बार-बार नए ढंग से उपदेश न देते, तात्त्विक उपदेश की पुनरावृत्ति ही, जानकारी की आवृत्ति को सिद्ध करती है। इनको बार-बार श्रवण करने से, मुसलावघात की तरह अन्तःकरण के दोष का आवरण हट जाता है फिर अन्यान्य उपदेश, उस चरम तत्त्व के ज्ञान साधक होते है, ऐसा मानना चाहिए।

अत्रैवहेत्वन्तरमाह—इसी पर दूसरा कारण उपस्थित करते है—

लिंगाच्च। ४।१।२॥

श्रुत्यनुभावपकत्वेन स्मृतिर्लिंगमित्युच्यते। सा च—"यथा यथाऽत्मा परिमृज्यतेऽसौमत्पुण्यगाथाश्रवणाभिधानैः तथा तथा पश्याति तत्वसूक्ष्मं चक्षुर्यथै-

वांजनसम्प्रयुक्तम् । "इत्यादि रूपा तदावृत्तिमेवफलसाधकत्वेनाह । अत्र "दृष्टान्तेनापि दृष्ट द्वारकत्त्वं श्रवणादीनां सूच्यते । आत्मावाऽरे दृष्टव्य" इति पदेन श्रवणादीनांफलात्मकं दर्शनं पूर्वमुक्त्वा "श्रोतव्यो मन्तव्य" इत्यादिना तत्साधनानि पश्चाद्यदाह तेनात्मनः परोक्षमपि ज्ञानमवांतरफलरूपमिति । भक्तिमार्गे परमफल रूपतत्सजातीयत्वेन च फलमध्यपात्येवेति श्रुत्याभिमतमिति ज्ञायते । तेन सूत्रकृदपि फल प्रकरणेऽपि साधन विचारं चकारेति निगूढाशयः । तथापि शब्दक्रमादर्थक्रमो बलीयानिति न्यायात् दृष्टव्य इति पदस्य पश्चात् संबंधे तूक्तरीतिर्निर्विसरं प्राप्नोति इति प्रकृति विचारस्य फल प्रकारणासंगतत्व-मापततीति प्रकारान्तरेण सूत्रार्थं उच्यते । आवृत्तिरसकृदुपदेशात् । श्रुतिर्हि कर्मज्ञानभक्तीः साक्षात्परम्पराभेदेन पुरुषार्थं साधनत्वेन हीनमध्यमोत्तमाधि-कारिणः प्रति कर्त्तव्यत्वेन प्रतिपादयति तत्र तेषां स्वरूपं तृतीयेऽध्याये बाद-रायणेन प्रतिपादितम् अथ तुरीयेऽध्याये तेषा फलं चिन्त्यते । तत्रादौकर्ममार्गस्य फलमुच्यते । ज्ञानभक्त्योरेव क्रमेणोत्तमात्स्युत्तमफलकत्वमतस्तत्साधनत्वेनैव तत् कर्त्तव्यम् । न तु स्वातंत्र्येणेति ज्ञापयितुम् । आवृत्तिरीति-कर्ममार्गस्यावृत्तिः पुनर्ज्जन्मफलंतदप्यसकृत् । इदंपदमावृत्त्योभयत्रापि संबद्ध्यते । तथा चात्र प्रमाणापेक्षायां तदाह हेतुत्वेनअसकृदुपदेशादिति । श्रुतौ कर्ममार्गे पुनर्ज्जन्मास-कृदुपदिश्यते यतः । अन्यथा सकृदुपदेशेनैवतदवगमेप्यसकृदुपदेशो व्यर्थः स्यात्, अतस्तथेत्यर्थः ।

श्रुति के अनुरूप ही स्मृति का विचार भी है जैसे कि—"मेरी पुण्यमयी कथा के श्रवण से जैसे-जैसे आत्मा का परिमार्जन होता जाता है वैसे-वैसे ही साधक सूक्ष्म तत्त्व को देख पाता हैं, जैसे कि—अंजन के प्रयोग से नेत्रों का मालिन्य दूर होता है वैसे ही श्रवण से मालिन्य दूर होता है।" इत्यादि स्मृति में आवृत्ति को ही फल साधक बतलाया गया है। इस दृष्टान्त से भी श्रवण आदि की प्रत्यक्ष साधना सिद्ध होती है। "अरे ! आत्मा दृष्टव्य है।" इत्यादि से श्रवण आदि साधनों की फलात्मकता पहिले बतलाकर "वह श्रोतव्य और मंतव्य है" इत्यादि से उन श्रवण आदि साधनों का बाद में उल्लेख किया गया है, इससे निश्चित होता है कि—आत्मापरोक्ष तत्त्व है, किन्तु उसका साक्षा-त्कार प्रत्यक्ष साधनों से ही संभव है। भक्ति मार्ग में परम फल रूप जो भक्ति प्राप्ति है वह, उक्त प्रकार के आत्मसाक्षात्कार की सजातीय वस्तु है, वह भी इसी में उल्लेख है, ऐसा श्रुति अभिमत है। इसलिए सूत्रकार ने भी फल प्रकरण में साधन विचार प्रस्तुत किया है, इस सूत्र में प्रयुक्त चकार के प्रयोग

में यही गूढाशय निहित है। शब्द क्रम से अर्थक्रम अधिक वजनी होता है इस नियम के अनुसार "दृष्टव्य" पद की पश्चात् संबंध मानने की कोई गुंजायश नहीं रहती, अतः फल प्रकरण से साधन के वर्णन की असंगति प्रतीत होती है, इसलिए सूत्रार्थ के प्रकारान्तर से कहेंगे—श्रुति,कर्म ज्ञान और भक्ति को साक्षात् परम्पराभेद से पुरुषार्थ का साधन बतलाती है, हीन मध्यम और उत्तम अधिकारो के भेद से उनके कर्त्तव्य का पतिपादन करती है। इन सबके स्वरूप को बादरायण तृतीय अध्याय में प्रतिपादन कर चुके हैं। अब चौथे अध्याय में उनके फल पर विचार करते हैं। सर्व प्रथम कर्ममार्ग के फल को बतलाते हैं। ज्ञान और भक्ति का फल तो उत्तम और अत्युत्तम हैाता है अतः उनका साधन करना ही कर्त्तव्य है। बिना साधन के उनका फल नहीं होता। कर्ममार्ग की आवृत्ति से पुनः पुनः जन्म की आवृत्ति होती है, सूत्रस्थ आवृत्ति पद दोनों ही प्रकार की (साधन और फल की) आवृत्ति को बतला रहा हैं। श्रुति में, कर्ममार्ग की प्रवृत्ति से पुनर्ज्जन्म की आवृत्ति का बारबार उल्लेख है, इससे निश्चित होता है कि कर्ममार्ग पुनरावृत्ति परक है एक बार के उल्लेख से ही उक्त बात की पुष्टि संभव नहीं हो सकती इसलिए बार बार उसका उल्लेख किया गया है।

वाजसनेयिशाखायांपठ्यते—"एवमेवायँ शरीरं आत्मैभ्योऽङ्गेभ्यः संप्रमुच्य पुनः प्रतिन्यायं प्रतियोन्याद्रवति प्राणायैवेत्ति तत्रैव पुनस्तेन प्रद्योतेनैष आत्मा निष्क्रामति" इत्युपक्रम्य पठ्यते—"तंविद्याकर्मणी समन्वारभेतेपूर्वप्रज्ञाचेति" तत्रैवेतदनुपदमेव—"तद् यथातृणजलायुके" त्युपक्रम्य पठ्यते—"एवमेवायंपुरुव इदं शरीरं निहत्याऽविद्या गमयित्वान्यन्नवतरंकल्याणतरं रूपंतनुते पित्र्यंवा गान्धर्वं वा ब्राह्मं वा प्राजापत्यं वा दैवं वा मानुषं वाऽन्येभ्यो वा भूतेभ्यः" इति तत्रैवाग्रे पठ्यते—"प्राप्यांतं कर्णणस्तस्य यत् किंचेह करोत्ययम् तस्माल्लोकात् पुनरेत्यस्मै लोकाय कर्मणः" इति।

जैसा कि वाजसनेयी शाखा में पाठ आता है—"इस प्रकार यह शारीर आत्मा इन अंगों का त्याग कर पुनः अन्य योनि में जाता है वहाँ से यह आत्मा पुनः निकलता है" ऐसा उपक्रम करके कहते हैं—"वह विद्या और कर्म का पूर्वप्रज्ञा के अनुसार प्रयोग करता है।" इसी पाठ से मिलता जुलता दूसरा पाठ वहीं और भी है—"वह जलूक कीड़े की तरह शरीर छोड़ता और पकड़ता है" ऐसा उपक्रम करके—"इस प्रकार यह जीव इस शरीर को छोडकर अविद्या को छोड़कर दूसरा नवीन कल्याणमय रूप धारण करता है, वह पितृ, गांधर्व,

ब्राह्म, प्राजापत्य, दैव, मानुष या अन्य भूतों के रूप को ग्रहण करता है" इनी के आगे कहते हैं "उन लोकों का भोग कर अंतिम कर्मानुसार पुनः इसी लोक में कर्म भोग के लिए आता है।" इत्यादि

अत्र हेत्वन्तरमाह-लिंगाच्च—वेदानुमापकत्वेन स्मृतिर्लिंगमित्युच्यते। सा च भगवद्गीतासु—"त्रैविद्यामाम्" इत्युपक्रम्य पठ्यते "एवं त्रयी-धर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते" इति। "आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुन-रावर्त्तिन्नेऽर्जुन" इति च।

उक्त मत की पुष्टि में स्मृसि की सम्मति को बतलाने के लिए लिंगाच्च सूत्र प्रस्तुत करते हैं, कहते हैं कि—"त्रैविद्यामाम्" "त्रयी धर्ममनुप्रपन्ना गतागतं" आब्रह्मभूवनाल्लोकः इत्यादि भगवद्गीता के वाक्य भी उक्त तथ्य की ही पुष्टि करते हैं।

अथवा "यथाकारी यथाचारी तथा भवति साधुकारी साधुर्भवति पापकारी पापो भवति पुण्यः पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन" इति श्रुतिर्वर्त्तमान जन्म-कर्मणोः पूर्वजन्मसंबंधिकर्मानुमापकत्वं वदति इति कर्मिणः पुनर्ज्जन्मावश्यकमिति ज्ञायते। एवं सति लिंगत्वेन निरूपणादित्यर्थः संपद्यते। निवृत्तिमार्गीयस्यापितस्य ज्ञानोपकर्त्तृत्वमात्रं, न तु जन्मनिवर्त्तकत्वं मानाभावात्।

"जैसा कर्म करता और जैसा आचरण करता है वैसा ही होता है, साधु कर्म करने वाला साधु होता है, पाप करने वाला पापी होता है, पुण्य आचरण से पुण्यात्मा, पापाचरण से पापात्मा होता है" इत्यादि श्रुति वर्त्तमान जन्म कर्म को पूर्वजन्म संबंधी कर्म के अनुरूप बतलाती है। इससे कर्म करने वाले के पुनर्जन्म की बात निश्चित होती है। निवृत्तिमार्गीय के लिए जो कहा गया कि—"निवृत्तं कर्म सेवेत्" उसका तात्पर्य है कि, कर्म का आचरण, निवृत्ति-मार्गी के लिए, ज्ञान का सहयोगी सिद्ध होता है, वह अपने ज्ञान से ही जन्म से निवृत्त हो जाता है, कर्म से वह आबद्ध नहीं होता।

एवं कर्मफलं विचार्य ज्ञान फलं विचारयति—इस प्रकार कर्म के फल का विचार करके ज्ञान के फल पर विचार करते हैं—

२. **अधिकरण :—**

आत्मेतितूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च। ४।१।३।।

पूर्वार्थनिरूपणव्यवच्छेदाय तु शब्दः। ज्ञानिनो हिभगवन्तं आत्मत्वेनैवोपासते तस्या नैरन्तर्येऽनेकजन्मभिस्तथैव तेषां हृदि भगवान् स्फुरति। तदा स्वानंदांशस्याथाविर्भावाद् ब्रह्मभूतः सन्नात्मत्वेनैव ब्रह्म स्फुरत्ति इति तदानंदात्मकः संस्तमनुभवति। एतादृशः सर्वोपकारीति पदार्थमपि तस्मै भगवता ज्ञानं दत्तामिति प्रवचनमपि तस्य फलान्तः पातीत्याधिकारिण्युपस्थिते तथेवोपदिशति च। एतदेवाह—आत्मेत्यादिना। उप समीपे गमनं प्रवेश इति यावत्।

सूत्रस्थ तु शब्द पूर्वनिरूपण की पृथकता का द्योतक है। ज्ञानी, भगवान को आत्मारूप से उपासना करते हैं, उन्हें निरन्तर अनेक जन्मों तक वैसी उपासना करने के बाद सफलता मिलती है भगवान् उनके हृदय में अतिकाल में स्फुरित होते हैं। उस स्थिति में वे स्वानंदांश के अविर्भाव से ब्रह्मभूत होकर आत्मारूप से ब्रह्मस्फूर्ति की अनुभूति करते हैं, वे उस समय अपने को परमात्मानंद रस रूप ही मानते हैं। ऐसे ज्ञानी सर्वोपकारी हो जाते है, दूसरों के कल्याण के लिए भगवान उन्हें ज्ञान प्रदान करते हैं जिसके फलस्वरूप वे, उपस्थित अधिकारियों को उस ज्ञान का उपदेश कर कृतार्थ करते हैं यही बात "आत्मेति" इत्यादि सूत्र से कही गई है। उन ज्ञानियों का उप अर्थात् समीप में गमन अर्थात् प्रवेश हो जाता है इसलिए वे ऐसा करने में समर्थ हो जाते हैं।

अथवा—ननु ज्ञान भक्त्योरनावृत्तिः फलमत उत्तमेते, नतु कर्मेत्याशयेन कर्मणः फलमावृत्तिरिति यन्निरूपितं तत्रेदं चिन्त्यते। "न स पुनरावर्त्तते" इति श्रुतिः सर्वथाऽनावृत्तिमाहोत सावधिकीतामभरशब्देन तन्निवृत्तिमिव। किमत्र युक्तम्। सावधिकीमेवेति। तथाहि पूर्वं कर्मनैयत्यस्य त्वयाप्यंगीकार्यत्वात् तस्यप्ररोहैक स्वभावत्वात्तस्य दुर्तिक्रमत्वात्तत्फलानुभवस्य आवश्यकत्वात्।

ज्ञान और भक्ति का फल तो अनावृत्ति है अतः वे दोनों उत्तम हैं, कर्म में अनावृत्ति नहीं हैं, इस आशय से कर्म का फल आवृत्ति बतलाया गया अब ये विचारते हैं कि—"न स पुनरावर्त्तते" जो श्रुति है, वह एक दम अनावृत्ति बतलाती है अथवा किसी निश्चित अवधि की सूचना देती हैं, जैसी की अमरपदवाची देवताओं की सावधि निवृत्ति होती है। विचारने पर तो सावधि ही समझ में आती है, पूर्वकर्म की नियामकता तो आपको भी स्वीकृत है, वे कर्म प्ररोहक स्वभाव वाले होते हैं (अर्थात् अंकुरित होने वाले होते हैं) उनको सहज ही नहीं काटा जा सकता, उनका फल तो भोगना आवश्यक है।

अपि च "एनं विदुः" इति श्रुतेः सति ज्ञाने हि सा। "यतो वाचः", "अगृह्यो नहि गृह्यते" इत्यादि श्रुतिभ्यो ब्रह्मज्ञानासंभवात्। इत एव भक्तिरपि प्रत्युक्ता वेदितव्या। ज्ञाना विषयेस्नेहासंभवात्। किं च—"सर्वस्यवशी सर्वस्येशानः" इत्यादि श्रुतिभ्यो, "मस्यावतार कर्माणि गायन्ति ह्यस्मदादयः "न यं विदन्ति तत्त्वेन" इयादि स्मृतिभ्यश्च का प्रत्याशा जीवस्यातिहीनस्य तत्प्राप्तौ। अतएवोपदेशाऽसंभवोऽपीति प्राप्ते प्रत्याह—आत्मेत्यादिना, तु शब्दः पूर्वपक्ष निरासकः, अत्रायमाशयः सत्यमुक्तं भवता, तत्रोच्यते, यथा अगृह्यत्वातिमहत्त्वादिधर्मा भगवति सन्ति तथा सर्वात्मत्वमपि। "य आत्मनि तिष्ठन्" इत्यादि श्रुतिष्वात्मत्वेनैवोक्तेः। सर्वधर्माश्रयत्वेऽपि यदा यंधर्मं पुरस्कृत्य लीलां करोति तत्कार्यमेव तदा संपद्यते। हितकारित्वस्वभावत्वात्तस्य। एवं सति यस्मिन् पुरुषे यदा आत्मत्वेन लीलां करोति तदा स्वप्राप्त्यनुकूल प्रयत्नवन्तं विधायात्मानं प्रापयति। ननूक्तं दुरतिक्रमः कर्मस्वभाव इति, नैष दोषः। नहि अन्नरसपाकाय जग्धमौषधमपि गौरवाय भवति, तेन न तन्निवृत्तिर्वा। व्यापादनैकः स्वभावमपि विशमाशीविषं तदपगमपटुतरनिगमसंगमो नापगमयति वा। तथाभगवदर्पितं तदर्थं च कृतं कर्म न कर्मनाशाय भवतीति न वक्तुं शक्यम् "कर्ममोक्षाय कर्माणि विधत्ते ह्यगदं यथा" इति वाक्यात्। अग्राह्यत्वात्ग्राह्यत्वविरोधापहारस्तु जीवसामर्थ्येश्वरेच्छाभ्यां पुरैव कृत इति नाधिकमत्र निरूप्यम्। इति शब्दो हेत्वर्थे। तथा च, भगवानात्मा भवति सर्वेषां जीवाना अतो हेतोरुक्तरीत्यातदनुग्रहेण तमुपगच्छन्ति। ज्ञानमार्गेऽङ्गीकृतास्तु साक्षात् प्रकटे पुरुषोत्तमे सति तद्भजनार्थमुपसमीपं गच्छन्तीत्यर्थः। एवं श्लेषोक्तिरियमिति ज्ञायते। सम्प्रदायानुवृत्तिरपि भगवदिंगतेत्येताहशाः स्वयं येन मार्गेण फलं प्राप्तास्ति मार्गमन्यामपि ग्राहयन्ति उपदेशरत्रोभयत्राप्यात्मत्वमेव हेतुरन्यथाऽत्मारामस्य सर्वनिरपेक्षस्यैवं करणासंभेवन मोक्षमार्गा प्रसिद्धिरेव स्यात्। तस्मात् सर्वथानावृत्तिरेव श्रुत्यभिमतेतिज्ञेयम्।

"य एनंविदुः" श्रुति ज्ञान से ही मुक्ति बतलाती है। 'यतो वाचो" "अगृह्यो न गृह्यते" इत्यादि श्रुतियों से तो निश्चित होता है कि ज्ञान से ब्रह्मज्ञान की संभावना नहीं है। भक्ति से ही ब्रह्मज्ञान संभव है, यही समझना चाहिए। ब्रह्म, ज्ञान का विषय नही है, क्योंकि उसमें स्नेह का अभाव रहता है। "सर्वस्यवशी सर्वस्येशानः" इत्यादि श्रुति और "यस्यावतार कर्माणि" न यं विन्दंतितत्त्वेन" इत्यादि स्मृति से तो अतिहीन जीव को उसकी प्राप्ति की आशा ही नहीं रह जाती। अतः उसके संबंध में कुछ भी उपदेश करना असंभव है।

इत्यादि मत पर "आत्मेति" इत्यादि सूत्र प्रस्तुत करते हैं। तु शब्द पूर्वपक्ष का निरासक है। कहने का आशय यह है कि—जैसे अगृह्यत्व अतिमहत्त्व आदि विशेषतायें भगवान में हैं वैसे ही सर्वात्मकता भी है। "य आत्मनितिष्ठन्" इत्यादि श्रुतियों में उन्हें सर्वान्तर्यामी बतलाया गया है। वह समस्त विशेषताओं के आश्रित होते हुए भी जब जिस विशेषता को लेकर लीला करते हैं तब वही कार्य संपन्न होता है। उनका हित करने का स्वभाव है अतः जीव में जब आत्मा रूप से लीला करते हैं तब अपनी प्राप्ति के अनुकूल प्रयत्न वाला उसे बनाकर स्वयं उसे प्राप्त हो जाते हैं। जो यह कहा कि—कार्य का भोग अनिवार्य होता है, सो वह बात यहाँ लागू न होगी, जैसे कि अन्नरस के पकाने में जली हुई औषधि कारण नहीं होती, वैसे ही, इसमें कर्म का परिपाक नहीं हो पाता क्योंकि—भक्ति से साधक का अन्तःकरण दग्ध हो जाता है। स्वभावतः दोनों में भिन्नता होते हुए भी जैसे तीव्रतर विष किसी वस्तु को भस्म करने में समर्थ होता है वैसे ही भक्ति से कर्मों का आवरण भस्मीभूत हो जाता है। इसलिए यह नहीं कह सकते कि—भगवदर्पित या भगवान के लिए किया गया कर्म अन्यान्य कर्म को नष्ट करने में समर्थ नहीं हो सकता। "कर्ममोक्ष के लिए कर्मों का विधान है जैसे कि नीरोगता के लिए ओषधिका विधान होता है।" इत्यादि वाक्य कर्मनाश की पुष्टि करता है। अग्राह्यत्व और ग्राह्यत्व के विरोध का परिहार जीव सामर्थ्य और ईश्वरेच्छा दोनों से संभव है, ऐसा हम पहिले ही कह चुके हैं इसलिए यहाँ विशेष नहीं कहेंगे। सूत्र में इति शब्द हेत्वर्थक है। भगवान, समस्त जीवों के आत्मा हैं, इसलिए उनकी कृपा से साधक, उनकी निकटता प्राप्त करते हैं। ज्ञानमार्ग में अंगीकृत जीव के समक्ष पुरुषोत्तम का साक्षात् प्राकट्य हो जाता है, अतः भजन के लिए उनके समीप जाता है। श्लेषोक्तरीति से ऐसा ही तात्पर्य प्रकट होता है। भक्त लोग भगवत्कृपा से स्वयं जिस मार्ग से फल प्राप्त करते हैं, उसी मार्ग में अन्य लोगों को भी खींचते हैं, यही संप्रदाय की प्रवृत्ति होती है। ज्ञान और भक्ति दोनों जगह आत्मस्वरूप से ही उपदेश दिया गया है, इस स्थिति में साधक आत्माराम और सर्व निरपेक्ष हो जाता है, उसे किसी से कुछ भी कहना या करना आवश्यक नहीं होता, यह मोक्षमार्ग की प्रसिद्ध बात है। इस मार्ग से जाने वाले की सर्वथा अनावृत्ति होती है यही श्रुति सम्मत सिद्धान्त है।

नन्वात्मत्वेनोक्तिरुपासनार्थेति नोक्तं साधीयइत्यतउत्तरं पठति

आत्मस्वरूप से जो निर्देश किया गया है वह उपासना के लिए है किन्तु इतने मात्र से तो ब्रह्मसाक्षात्कार हो नहीं सकता, इसका उत्तर देते हैं—

न प्रतीकेन हि सः ।४।१।४।।

अतद्रूपेतत्वेनोपासनं हि प्रतीकमित्युच्यते । तथा च तादृशेन तेन समोक्षो न भवतोत्यर्थः । श्रुतिसिद्धत्वान्नास्तिमोक्ष इति न मोक्षवक्तुं शक्यमिति भावः । अथवाऽत्मत्वेनोक्तिरुपासनार्थेति वदन् वादी वक्तव्यः । फलार्थमेव तत्, फलंच श्रुत्युक्तस्तत्प्रवेश एवेति त्वयापि वाच्यम् । एवं सत्यादौ ज्ञानमार्गे अनुपपत्तिमाह-नप्रतीके अनात्मभूते ज्ञानिन उपागमः पूर्वोक्तः प्रवेशः संभतीति शेषः । भक्ति-मार्गेऽपि तामाह । नहिस इति । नहि प्रतीकोपासने स लोक वेद प्रसिद्धः पुरुषो-त्तमोऽस्त्युपास्यत्वेन, येन तत्प्राकट्यं स्यात्, तदुपगमनं चेत्यर्थः एवं ज्ञानभक्त्योः फलसत्ता साधिता ।

भगवद् विहीन रूप में तत्वरूप से की जाने वाली उपासना को प्रतीक कहते हैं । इस प्रकार की उपासना से मोक्ष नहीं होता । इसके मोक्ष न होने की बात श्रुतिसम्मत है अतः मोक्ष होने की बात नहीं कह सकते । आत्मत्वरूप से की जाने वाली उपासना प्रतीक मात्र ही है, ऐसा नहीं है क्योंकि यह उपा-सना होती फल के लिए ही है, भगवान् में प्रविष्ट हो जाना ऐसा श्रुतिसम्मत फल तो तुम्हें भी स्वीकृत है, अतः पहिले ज्ञानमार्ग में ही मोक्ष की असंभावना की बात कहते हैं कि—अनात्म प्रतीक में, ज्ञानी का प्रवेश संभव नहीं है। भक्तिमार्ग में भी वही बात है । लोक और वेद कही भी पुरुषोत्तम की उपासना प्रतीक रूप से प्रसिद्ध नहीं है प्रतीक में उसका प्राकट्य संभव नहीं है, उसमें प्रवेश भी संभव नही है, जबकि ज्ञान और भक्ति दोनों में आत्मत्वरूप से की गई उपासना में फल प्राप्ति होती है, अतः इसे प्रतीक नहीं कह सकते ।

ननु सर्वं खल्विदं ब्रह्म, आत्मैवेदंसर्वम् इत्यादि श्रुतयः सर्वत्रब्रह्मदृष्टिं मुक्तिसाधनत्वेन उपदिशंति, सा च प्रतीकात्मिकैवेति, कथं प्रतीकोवासनस्य न मोक्षसाधकत्वमिति प्राप्त उत्तरमाह—

"यह सब कुछ ब्रह्म है, सब कुछ यह आत्मा है" इत्यादि श्रुतियाँ, सर्वत्र ब्रह्म दृष्टि रखने की बात मुक्तिसाधक रूप से करती हैं यह कथन प्रतीकात्मक ही तो है, फिर प्रतीकोपासना से मोक्ष नहीं होता ऐसा क्यों कहते हो ? इस संशय का उत्तर देते हैं—

ब्रह्मदृष्टिरुत्कर्षात् ।४।१।५।।

सर्वत्रब्रह्मदृष्टिर्न प्रतीकात्मिका, सर्वस्य वस्तुतो ब्रह्मात्मक त्वात् । सा च

नोपदेशसाध्याऽतो नोपदिश्यते, किन्त्वनूद्यते। सात्वधिकारोत्कर्षात् स्वत एव भवतीति प्रतीकोपासनस्य न मुक्तिसाधनत्वमिति साधूक्तम्, एतदेवोक्तमनेन सूत्रेण।

सर्वत्र ब्रह्मदृष्टि की बात प्रतीकात्मक नहीं है, अपितु सब कुछ वस्तुतः ब्रह्मात्मक ही है। यह बात उपदेश साध्य नहीं है, अतः उसका उपदेश न देकर केवल अनुवाद मात्र किया गया है उसे इस प्रकार जानकर उपासना करने से वह मुक्ति स्वतः ही हो जाती है, क्योंकि जानकारी होने से अधिकार में उत्कर्ष होता है, यदि केवल प्रतीकमात्र मानकर ही उपासना की जाय तो उपासना में दिखावा मात्र होगा, तीव्रता प्रवणता नहीं हो सकती, अतः प्रतीकोपासना मुक्तिसाधन नहीं है, ये कथन ठीक ही है। यही बात इस सूत्र से कही गई है।

३ अधिकरण :—

आदित्यादिमतयश्चांग उपपत्तेः ।४।१।६॥

छांदोग्ये—"अथहोवाच सत्ययज्ञं पौलुषिं प्राचीन योग्यकं त्वमात्मानमुपास्सइत्यादित्यमेव भगवो राजन्निति होवाचेति, अथहोवाचेन्द्रद्युम्नमि" त्युपक्रम्य "त्वं कमात्मानमुपास्स इति वायुमेव भगवो राजन्निति होवाचेति" एवमेवाग्रे प्रश्नभेदेन वक्तृभेदेनाकाशापप्रभृतय आत्मत्वेन उपासनाविषयाउक्ताः। 'तत्रैवासौ वा आदित्यो देवमध्विति "उपक्रम्यान्ते पठ्यते" य एतमेवं विद्वानादित्यंब्रह्मे-त्युपास्ते" इति। अत्रेदं चिन्त्यते-अत्रप्रतीकोपासनत्वमस्ति, नवेति? अस्तीति पूर्वः पक्षः। तथाहि-सर्वं खल्विदं ब्रह्मेति श्रुतौ सर्वमनूद्य' ब्रह्मत्वं तत्र बोध्यत इतिनक्वचिद् प्रतीकोपासनमस्तीति हि पूर्वं निरूपितम्। तच्चोक्तं श्रुतिभिः प्रत्येकं तत्त्वेनोपास्यत्वेनोक्त्या नोपपद्यते। ब्रह्मण एकत्वादेकप्रकारकेणैवोपासनेन सर्वेषां फलसिद्धेः पृथक्पृथगुक्तौगौरवात् प्रयोजन विशेषाभावाच्च। तादृशाधिकाराभावात् पृथक् तदुक्तिरिति चेद् न, सर्वत्र सदा तद्भावनायां तथाऽनुभवस्यापि संभवात्। एवं सति वस्तुतः सर्वस्य ब्रह्मत्वं नाभिमतं किन्तु यथाऽदित्यादीनां तत्तथातथा सर्वस्यापीति प्रतीकोपासनत्वमेव सर्वत्र। तेनैवफलमिति प्राप्ते प्रतिवदति—आदित्यादौ या ब्रह्मत्वमतय उच्यन्ते तास्तु साकारस्यैव ब्रह्मणो व्यापकत्वात् तस्य प्रत्येकमप्यंगमुपासितं फलदमित्येकैकांगविषयिण्यस्ता विधीयन्ते। उपपन्नं चैतत्। नहि साकारव्यापक ब्रह्मणोऽङ्गं न ब्रह्मातो न प्रतीकोपासनत्वं तत्र।

छांदोग्य में आता है कि—"फिर उसने पुलुष के पुत्र सत्य यज्ञ से कहा कि—प्राचीन योग्य। तुम किस आत्मा की उपासना करते हो वह बोला पूज्य-राजन्। मैं आदित्य की ही उपासना करता हूँ। उसके बाद उसने इन्द्रद्युम्न से कहा, तुम किस आत्मा की उपासना करते हो, वह बोला पूज्य राजन्। मैं वायु की उपासना करता हूँ। "इसके बाद प्रश्न भेद और वक्ता के भेद से आकाश जल आदि की आत्मारूप से उपासना बतलाई गई है। उसी जगह "असौ वा आदित्यो देवम्" इत्यादि उपक्रम करके समाप्ति की गई है कि—"य एतमेवं विद्वान् आदित्यं ब्रह्मेत्युपास्ते" इत्यादि। इस प्रसंग में विचारणीय यह है कि—यहाँ प्रतीकोपासना है या नहीं? प्रतीकोपासना है, यह तो पूर्वपक्ष है। तथा, "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" इस श्रुति में, समस्त को ब्रह्मत्वरूप से ही बतलाया गया है अतः कहीं भी प्रतीकोपासना नहीं है, ऐसा अभी बतला चुके हैं। इसलिए उक्त श्रुति में प्रत्येक को तत्वरूप से उपास्य कहा गया हो सो समझ में नहीं आता। ब्रह्म एक ही है, एक प्रकार की उपासना से ही समस्त की फल सिद्धि अलग-अलग कही गई है, जो कि उसके गौरव की द्योतक है, उसमें और कोई विशेष प्रयोजन नहीं है। यदि कहें कि—उत्कृष्ट अधिकार का अभाव होने से ही उसकी पृथक्ता बतलाई गई है। सो बात नहीं है, सब जगह, सदा उसकी भावना करने से, वैसा अनुभव हो सकता है। इस प्रकार, समस्त की ब्रह्मता वास्तविक नहीं बतलाई गई हैं, अपितु जैसे आदित्य आदि की ब्रह्मता है, वैसे ही समस्त की भी है। इसलिए सब जगह प्रतीकोपासना ही है, उसी से फल भी मिलता है। इस मत पर प्रतिवाद करते हैं कि—आदित्य आदि में जो ब्रह्म मति कही गई है, वह साकार ब्रह्म की व्यापकता को लेकर ही है उस व्यापक विराट ब्रह्म का प्रत्येक अंग उपासित होने पर फल देने वाला है, इसलिए एक अंग की उपासना पृथक्-पृथक् कही गई है। इस दृष्टि से उक्त प्रसंग सुसंगत हो जाता है। साकार व्यापक ब्रह्म के अंग तो ब्रह्म हैं नहीं, जिनकी उपासना की बात कही गई हो, अतः प्रतीकोपासना की बात संगत नहीं होती।

अपरंच "असौ वा आदित्यो देव मधु" इत्युक्त्वा तस्यप्रतिदिक् रश्मीनां कृपावलोकन रूपाणांमधुत्वं निरूप्य "तद् यत् प्रथमममृतंतद्वसव उपजीवन्त्य-ग्निना मुखेन, न वै देवा अश्नन्ति न पिवन्त्येतदेवामृतंदृष्ट्वातृप्यन्ति, त एतदेव रूपमभिसंविशत्येतस्माद्रूपादुद्यन्ति "इति पठ्यते। तथा च दर्शन मात्रेण अन्यधर्म निवृत्तिः तस्येव स्वतंत्र पुरुषार्थत्वेन ज्ञानमतिशयितस्नेहजविगाढ भावेन

तत्रैव लयः । पुनस्तद्दर्शनानन्दानुभवार्थं भगवानेवकृपया पुनः पूर्वभावं संपादयतीति तस्माद्रूपादुदयश्चैतत्सर्वं भगवदंगत्वे एवोपपद्यत इत्यपिहेत्वभिप्रेतोऽर्थो-ज्ञेयः । न हि प्रतीकत्वं इदं सर्वं संभवति, भक्तिमार्गीयत्वादस्यार्थस्येति भावः । अंगानां भगवत्स्वरूपात्मकत्वेनैक्यमितिज्ञापनायैकवचनम् । एतेन स्वरूपस्यैव फलत्वमुक्तं भवतीति मुख्यः सिद्धान्तः सूचितो भवति ।

अन्यत्र "यह जो आदित्य के मध्य में मधु है वह देव है" इत्यादि कह कर दिगन्तर व्याप्त रश्मियों के मधुत्व का निरूपण करके 'उसमें जो पहिला अमृत है, देव गण न तो उसे खाते हैं, न पीते हैं, वे इसे देख कर ही तृप्त हो जाते हैं, उससे वसुगण अग्नि प्रधान होकर जीवन धारण करते हैं । वे देवगण इस रूप को लक्षित करके ही उदासीन हो जाते हैं और फिर उसी से उत्साहित होते हैं" इत्यादि पाठ है । इसमें केवल दर्शन मात्र से अन्य धर्म की निवृत्ति एक मात्र उसे ही परम पुरुषार्थ तथा अतिशय स्नेहज विगाढ भाव से उसी में लय बतलाया गया है उसके दर्शनानंद के अनुभव के लिये, भगवान ही कृपया पुनः पूर्व भाव का सम्पादन करते हैं, उसी रूप से ये सारा उदित होता है, सब कुछ भगवान का अंग है, इसी भाव को दिखलाया गया है । इन्हें प्रतीक मानने से सब कुछ नहीं, हो सकता ? भक्ति मार्गीय होने से ही उक्तभाव होता है । सारे अंग भगवान के ही हैं इस एकता के भाव की दृष्टि से एक वचन का प्रयोग किया गया है । भगवत्स्वरूप की प्राप्ति ही फल है, यही सिद्धान्त निश्चित होता है । अर्थात् समस्त विश्व को भगवत्स्वरूप जानने की क्षमता ही फल है ।

आसीनः संभवात् ।४।१।७।।

पूर्वं सूत्रेण धर्ममात्रस्य फलवत्मुक्त्याऽधुनाधर्मिणः फलत्वं तत्साधनंचाह—संभवत्, उत्कटस्नेहात्मक साधनस्य संभवात् तदधीनः संस्तदग्र आसीनो भगवान भवति । एतेन भक्त वश्यतोक्ता ।

पूर्व सूत्र से धर्म मात्र की फलता बतलाकर इस सूत्र से धर्मी की फलता और उसकी प्राप्ति के साधन का उल्लेख कर रहे हैं—कहते हैं कि—उत्कट स्नेहात्मक साधन से ही स्नेहाधीन भगवान साधक के सामने उपस्थित हो जाते हैं । इससे भगवान की भक्तवश्यता बतलाई गई है ।

एवं बहिः प्राकट्यमुक्त्वाऽन्तरंतदाह—

इस प्रकार बाह्य प्राकट्य की बात कह कर अन्तर प्राकट्य को बतलाते हैं।

ध्यानाच्च ।४।१।८।।

भावानौत्कट्य दशायां व्यभिचारिभावात्मक सततस्मृति रूप ध्यानादपि हृदि प्रकटः सन्नासीनो भवति इत्यर्थः । तेन स्थैर्यमुक्तंभवति ।

भावों की उत्कट दशा में व्यमिचारभावात्मक सततस्मृतिरूप ध्यान से ही भगवान् हृदय में प्रकट होकर सामने उपस्थित हो जाते हैं। इसी से भगवान की स्थिरता भी बतला दी गई।

एवम्भक्तेच्छयैत्र स्वरूप प्राकट्यमित्युक्त्या लीलानाविष्करणं आविष्करणं चापि तदिच्छयैवेत्याह ।

इसमें—"भक्त की इच्छा से स्वरूप प्राकट्य बतलाकर लीलापूर्वक प्रभु का आविष्कार और अनाविष्करण भी इन्हीं की इच्छा से बतलाया गया है।

अचलत्वंचापेक्ष्य ।४।१।९।।

भक्तेच्छामपेक्ष्याचलत्वं चकाराच्चलत्मपीत्यर्थः ।
भक्त की इच्छा से ही भगवत्स्वरूप की अचलता और चंचलता होती है।

स्मरन्ति च ।४।१।१०।।

केचन भक्ताः स्वरूपनिरपेक्षास्तत्स्मरणजनितानंदेनैव विस्मृतापवर्गान्ति भलाभवन्ति। चकाराच्छ्रवण कीर्त्तनादयोऽपि समुच्चीयन्ते । तदुक्तम्—"अथ ह वाव तव महिमाऽमृत समुद्रविप्रुषा सकृल्लीढया स्वमनसि निष्यन्दमानानवरत सुखेन विस्मारित दृष्टश्रतसुखलेशभासाः परम भागवताः" इति। अथवा—"अहं भक्त पराधीन" इत्यादि स्मृतिः पूर्वोक्ते प्रमाणत्वेनोक्ता ।

कुछ भक्त, स्वरूपदर्शन में निरपेक्ष होते है वे केवल उनके स्मरण जन्म आनन्द में ही विभोर होकर अपवर्गतक के फल की अनुभूति कर लेते हैं। श्रवण कीर्तन आदि से भी उनकी यही स्थित हो जाती है। जैसा कि—"हे प्रभु ! आपकी महिमा से अमृत समुद्र में निमग्न, उसके स्वाद से उन्मत्त भक्त अपने मन में प्रवाहित सुख से दृष्टश्रुत समस्त सुखों की अनुभूति को भूल जाते

हैं।' अथवा—"मै भक्तों के आधीन हूँ" इत्यादि स्मृतियाँ पूर्वोक्त कथन की पुष्टि करती हैं।

४. अधिकरण :—

यत्रैकाग्रता तत्राऽविशेषात् ।४।१।११॥

अथेदं विचार्यते, बहिराविर्भावो येन्यो, येभ्यश्चान्तः तेषां तेषां च मिथस्तारम्यमस्ति न वेति ? तत्र निर्णयमाह—यत्र भक्तेषु एकाग्रता भगवत्स्वरूपे प्रकट एवैकस्मिन् ग्राहकचित्तधारा, न त्वन्तरवहिर्विज्ञान तत्रोभयोरन्तः पश्यतो बहिः पश्यतश्च भावे भगवत्स्वरूपे च विशेषाभावान्न तारतम्यमस्तीत्यर्थः।

अब विचारते हैं कि—जिन भक्तों के समक्ष बाहर अविर्भाव होता है, और जिनके समक्ष अन्तर आविर्भाव होता है, उन भक्तों में परस्परतारतम्य अर्थात् ऊँचानीचा भाव है या नहीं ? इस पर निर्णय देते हैं कि—जिन भक्तों में एकाग्रता होती है उन्हीं के समक्ष तो भगवत्स्वरूप प्राकट्य होता है, क्योंकि—उनके चित्त की धारा एक ही लक्ष्य की ओर प्रवाहित रहती है, उन्हें याह्याम्यंतर का कुछ भी भान नहीं रहता अतः उनके बाहर या भीतर कहीं भी भगवान का स्वरूप प्रकट हो उन्हें कुछ भी विशेषता नहीं है, इसलिए उनमें कोई ऊँचा नीचा नहीं है।

५. अधिकरण :—

आप्रयाणात्तत्रापि हि दृष्टम् ।४।१।१२॥

उक्तेऽर्थ एवायं संशयः, अन्तः प्राकट्यवतो यदा बहिः संवेदने सत्यपि पूर्वानुभूत भगवत्स्वरूपानुभवस्तदा पूर्वमन्तरमन्वभूवधुना बहिरनुभवामीत्यनुव्यवसायो भवति, न वेति ? तत्र वैलक्षण्याद्भवितुमर्हतीति पूर्वः पक्षः। तत्र सिद्धान्तमाह—आप्रयाणादिति। श्रीभागवते—"प्रायणं हि सतामहम्" इति भगवद् वाक्यात् प्रायण शब्देन स्वतः पुरुषार्थत्वेन प्राप्यं परमं पारलौकिक फलमुच्यते। तथा च फलं तन्मर्यादीकृत्य तस्य सैवावस्था सार्वदिकी, न तु बहिः प्राकट्येऽपि बहिर्दृष्ट्वानुसंधानमित्यर्थः। ततस्तस्य तत्र सायुज्यं भवति न वेति ? संशये निर्णयमाह—तत्रापि प्रावणेऽपि प्राप्ते तस्य पूर्ववत् प्रभुणा समालापावलोकन श्रीचरणनलिनस्पर्शादिकं दृष्टमेवफलं, नत्वदृष्टं सायुज्यमि-

त्यर्थः । यतः शुद्धपुष्टिमार्गेऽङ्गीकृतोऽन्यथा पूर्वोक्त भावसम्पत्तिः कथं स्यादित्युपपत्तिर्हि शब्देन सूच्यते । एतच्च तद्भूतस्य तु नातद्भाव इत्यत्र निरूपितम् ।

उक्त कथन पर संशय होता है कि—अन्तः प्राकट्य का अनुभव कर चुकने पर जब कभी उन्हें बाहर प्राकट्य की अनुभूति होती है तब उन्हें पूर्वानुभूत भगवत्स्वरूप की जैसी अनुभूति हो चुकी है, उसे ही अब भी कर रहा हूँ, ऐसा भाव होता है या नहीं ! पूर्वपक्ष तो कहता है कि—भिन्न प्रकार की अनुभूति का भान होता है । इस पर सिद्धांन्त रूप से आप्रयणात् इत्यादि सूत्र प्रस्तुत करते हैं । श्रीमद्भागवत में—"भक्तों का मैं ही प्रायण हूँ" इत्यादि जो भगवत्वाक्य है, उससे तो प्रायण शब्द, स्वतः पुरुषार्थ रूप से प्राप्य परम पारलौकिक फल का वाचक प्रतीक होता । उस फल के आश्रय पर ही कह सकते हैं कि दर्शक को सदा एक सा ही दर्शन होता है बाहर प्राकट्य में किसी वाह्यवस्तु का उस पर प्रभाव पड़ता हो, सो बात नहीं है ? इस संशय पर भी निर्णय देते है कि—उस प्रायण की प्राप्ति हो जाने पर भी साधक पहिले की तरह, प्रभु के साथ प्रत्यक्ष बातचीत करता है, चरण कमल का स्पर्श करता है, अदृष्ट सायुज्य को नहीं प्राप्त करता । क्योंकि—वह शुद्ध पुष्टि मार्ग को स्वीकार कर चुका है, अन्यथा पूर्वोक्त भाव की प्राप्ति कैसे कर सकता है इत्यादि भाव "दृष्ट" शब्द से ही सूचित हो रहा है । साधक तद्भूत होकर भी अतद्भाव वाला नहीं होता, यही सूत्र का तात्पर्य है ।

६ अधिकरण :—

तदधिगम उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशौ तद्व्यपदेशात् ।४।१।१३॥

पुष्टि मार्गीयभक्तस्य फलं निरूप्य, मर्यादामार्गीयस्य तस्य फलं चिन्त्यते । तथ तु ज्ञानपूर्वकत्वं भक्तेरावश्यकम् । कर्ममर्यादाया अपि स्वकृतत्वात्तामनुलंघ्यैव भगवतःफलं दीयते । तच्च "नाभुक्तंक्षीयते" तद्भोगानुकूल कर्मणा स्वसजातीयतत्संतानजननाद अनिर्मोक्ष एव सर्वस्य संपद्यते । न च प्रायश्चित्तवज्ज्ञानस्य कर्मनाशकत्वं वक्तुं शक्यम् । तद्वत्तस्य तद् उद्द्शेनाविहितत्वात् । तथाकथेन चान्योन्याश्रयः । दुरितस्य चित्ताऽशुद्धिहेतुत्वेन तन्नाशे ज्ञानोदयो यतोऽतो मर्यादामार्गे मुक्तिरनुक्तविषयेति प्राप्त उच्यते—तदधिगमे ब्रह्मज्ञानेसति तज्ज्ञानस्वभावादेवोत्तराघस्याश्लेषोऽसंबंधः पूर्वस्य तस्य विनाशो भवतीत्यर्थः । अत्रोत्तरस्योत्पन्नस्याश्लेष इति नार्थस्तस्यात्मन्येवोत्पत्तेस्तदतिरिक्तस्य श्लेषस्याभावादतोऽनुत्पत्तिरेवार्थः । न चैवं मर्यादामार्गीयत्वभंगः । साधनं विना स्वस्वरूप

बलेनैव कार्यकरणेहि पुष्टिरिह तु नियतकर्मविरोधित्वस्वभावेन ज्ञानेनैव तथा संपत्तेः अतएव—"तद्यथा ईषाकातूलमग्नौ प्रोतं प्रदूयेतैवं हास्य सर्वे पाद्मानः प्रदूयन्ते" इति श्रुतिरग्निदृष्टान्तमाह। स्मृतिरपि—"यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन," ज्ञानाग्नि सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा "इति।" सर्वं पाप्मानं तरति, तरति ब्रह्म हत्यां योऽश्वमेधेन यजते" इत्यादि श्रुतिभ्यस्त्वयापि न तद्भोगनियमो वक्तुं शक्यः। एतेनाभुक्तस्याक्षयाद्भोगे च कर्मान्तरजननान्मोक्षासंभव इति निरस्तं वेदितव्यम्। न चान्योन्याश्रयः। अनाद्यविद्याजनितसंसारवासनात्मिकाहि सा। सा च गुरूपसत्तिश्रवणमननविध्युपासनादिरूपया ज्ञानसामग्र्यैव नाश्यते। अविद्या परं ज्ञानेन नाश्यत इति क्व तत् प्रसंगः। ज्ञान सामग्र्या बलिष्ठत्वात् कर्मणो दुर्बलत्वान्न तत्प्रतिबंधकत्वमिति ज्ञाननाश्यत्वबोधकश्रुति-स्मृतिमता त्वयाऽप्युररी कार्मम्। इममेवहेतुमाहाचार्यस्तद्व्यपदेशादिति।

पुष्टिमार्गीय भक्त के फल का निरूपण करके अब मर्यादा मार्गीय के फल का विचार करते हैं। मर्यादा मार्ग में ज्ञानपूर्वक भक्ति आवश्यक होती है। कर्म मर्यादा यदि भगवत् कर्म परक होती है तो भगवान् शास्त्रीय कर्म के उल्लंघन हो जाने पर भी फल प्रदान करते हैं। वैसे तो कर्म बिना भोग के क्षीण नहीं होते किन्तु जब वे ही कर्म भगवत् परक हो जाते हैं तो भगवदीय कर्मों की सृष्टि करते हैं, अतः उनसे छुटकारा प ने का प्रश्न ही नहीं उठता, वे बंधन के कारण ही नहीं होते। प्रायश्चित् की तरह, ज्ञान, कर्म को नाश करता हो ऐसा नहीं कह सकते, प्रायश्चित् की तरह, ज्ञान में उद्देश्य नहीं है। ऐसा मानने से ज्ञान और कर्म का अन्योन्याश्रय होगा। पाप से चित्त अशुद्ध होता है, उसक नाश होने पर ही ज्ञानोदय होता है, इसलिए मर्यादा मार्ग में मुक्ति नहीं होती यही मानना चाहिए इस मत पर कहते हैं कि— ब्रह्म ज्ञान हो जाने पर उस ज्ञान से स्वतः ही अग्रिम पापों से श्लेष समाप्त हो जाता है तथा बीते हुए पापों का विनाश हो जाता है। संभावित पापों का अश्लेष होता हो सो बात भी नहीं है अपितु अन्तःकरण में पापों की उत्पत्ति ही नहीं होती इस प्रकार मर्यादामार्ग का भंग भी नहीं होता। इस मार्ग में बिना साधना के ही ज्ञान के स्वरूप के बल से ही पुष्टि हो जाती है। ज्ञान, नियत कर्म के विरोधी स्वभाव का है अतः उसी से मुक्ति प्राप्त हो जाती है। "जैसे कि—अग्नि में तूलराशि तिनके आदि भस्म हो जाते हैं, वैसे ही ज्ञानी पुरुष के पाप भस्म हो जाते हैं।" इत्यादि श्रुति में ज्ञान को अग्नि के दृष्टान्त से बतलाया गया है।

ऐसा ही स्मृति वाक्य भी है—"अर्जुन ! जैसे कि—इंधन को प्रज्वलित अग्नि भस्म करता है वैसे ही ज्ञानाग्नि समस्त कर्मों को भस्मसात कर देता है।" जो अश्वमेध करता है वह पापों से मुक्त हो जाता है ब्रह्महत्या से मुक्त हो जाता है।" इत्यादि श्रुतिसम्मत भोग मोक्ष की बात तो आपको भी मान्य होगी, इसको जानकर तो आप भोग नियम की बात कह नहीं सकते। इसी प्रकार ज्ञान से भी बिना भोग के ही कर्म क्षय हो जाता है। बिना भोगे कर्म क्षय नहीं हो सकता ये मत इसी आधार पर निरस्त हो जाता है। अन्योन्याश्रय की बात भी लागू नहीं होती। अनादि अविद्या जन्य संसार वासनात्मिका भोग शृंखला, गुरु शरणागति पूर्वक आचरित श्रवण मनन विधि उपासनादि रूप ज्ञान सामग्री से ही नष्ट होती है। अविद्या परं ज्ञान से नष्ट होती है, ऐसी कोई खास बात नहीं है। कर्म से ज्ञान सामग्री बलिष्ठ होती है, अतः कर्म उसमें प्रतिबंधक नहीं हो पाता। ज्ञान के द्वारा कर्मनाश को बतलाने वाली श्रुति और स्मृति तो आपको भी स्वीकारनी चाहिए, यही बात सूत्रकार ने तद्व्यपदेशात् पद से बतलाई है।

इतरस्याप्येवमसंश्लेषः पाते तु ।४।१।१४।।

पापस्य शास्त्र विरोधित्वेन शास्त्रीय ज्ञानेन समं विरोधोभवतु नाम। धर्मस्यातथात्वेनाविरोध एवेत्याशंकानिरासाय पूर्वन्यायातिदेशमाह। इतरस्य पुण्यस्याप्येवं, पूर्वस्यनाश उत्तरस्याश्लेष इत्यर्थः। अतिदेशाद्धेतुरपि स एव ज्ञेयः। तथाहि—"उभे उ हैवैष एते तरति" क्षीयन्ते चास्य कर्माणि "इति सामान्यवचनात्" ज्ञानाग्नि सर्वकर्माणि" इति स्मृतौ सर्वशब्दाच्च तथा। अथेदं शंक्यते—मर्यादामार्गीयत्वात् ज्ञानानन्तरं भरतवत संगदोषेण भगवद्-भावात् च्युतौ संगजदोषोत्पत्तिवदग्रे विहितनिषिद्धकर्मणोरप्युत्पत्तिर्वक्तुं शक्येति ज्ञानस्य न सर्वात्मना कर्मविरोधित्वमिति। तत्रनिर्णयमाह—पाते, भक्तिमार्गे भगवद्भावाच्च्युतिः पात इत्युच्यते। तुरप्यर्थे। अपिशब्दे वाच्ये व्यवच्छेदार्थक तुशब्दोक्त्या अस्मिन् मार्गे पापस्य व्यवच्छेद एव, "नहि कर्हिचिन्मतपरा" इति वाक्यात् परंतु मर्यादा मार्गीयत्वात् प्रारब्धभोगार्थं प्रभुश्चेत्तथा करोति तद्भावे पूर्णे सति तद्भोगोऽसंभावित इति तदैवं भवतीति व्यासाभिप्रायो ज्ञायते।

पाप शास्त्र विरोधी तत्त्व है, अतः शास्त्रीय ज्ञान के साथ उसका विरोध होना चाहिए धर्म शास्त्र सम्मत तत्त्व है, उसके साथ उसका कोई विरोध नहीं होना चाहिए, इस संशय का निराकरण भी पूर्व नियमानुसार ही करते हुए

कहते हैं कि—जैसे पाप के अश्लेष विनाश की बात है वैसे ही पुण्य की भी है, पाप करने से पूर्व पुण्य का नाश तथा उत्तर पुण्य का अश्लेष होता है। अतिदेश से भी यही बात निश्चित होती है "वह दोनों से मुक्त हो जाता है" उसके कर्म क्षीण हो जाते हैं" इत्यादि सामान्य बोधक वचनों से तथा "ज्ञानाग्नि सर्व कर्माणि" आदि स्मृति के सर्व शब्द से भी उक्त बात की पुष्टि होती है। इस पर शंका करते हैं कि—मर्यादामार्गीय होने से, ज्ञान के बाद, भरत की तरह संग दोष से भगवद्भाव से च्युत हो जाने पर, संगजदोषोत्पत्ति की तरह आगे चलकर विहित और निषिद्ध कर्मों की उत्पत्ति भी हो सकती है, इसलिए ज्ञान पूर्णतः कर्मविरोधी हो ऐसा नहीं कह सकते। इसका निर्णय करते हैं कि—भक्तिमार्ग में भगवद्भाव से च्युत हो जाने को पात कहते हैं, सूत्र में प्रयुक्त तु शब्द अपि अर्थ में प्रयुक्त है अपि शब्द व्यवच्छेदक है, अतः पाते तु का तात्पर्य हुआ कि—भक्ति मार्ग में पाप का व्यवच्छेद हो जाता है अर्थात् पाप का व्यवच्छेद हो जाने से पतन हो जाने पर भी पाप संश्लेष नहीं होता। "नहिकर्हिचिन्मतपरा" इत्यादि भगवद् वाक्य उक्त तथ्य की पुष्टि करते हैं। किन्तु मर्यादामार्गीय होने से प्रारब्ध भोग के लिए, प्रभु ही वैसी व्यवस्था कर देते हैं जब वह भाव पूर्ण होता है तो कर्म का भोग नहीं होता, यह बात भक्ति में ही होती है, ऐसा व्यास जी का अभिप्राय ज्ञात होता है।

तथा च तस्मिन् सत्यप्युत्तरस्य कर्मणोऽसंश्लेषण एवेत्यर्थः पूर्वसूत्र एवमेवाश्लेषशब्दस्य व्युत्पत्तेः। अतिदेशस्यैवम्पदेनैव प्राप्तेः सर्वं सूत्रं तत्परत्वेन न व्याख्येयम्। पात शब्दस्य देहपाते तु शब्दस्य अवधारणमर्थमुक्त्वा देहपाते मुक्तेरावश्यकत्वावधारणं वाक्यार्थं इति चोक्तिर्नसाधीयसी। मुक्तिप्रापक पदाभावाद् भोगेन त्वितरे क्षपयित्वाऽथ सम्पद्यते, इत्यग्रे वक्तव्यत्वाच्च।

उस भक्ति की स्थिति में उत्तर कर्म का भी असंश्लेष रहता है। पूर्व सूत्र में अश्लेष शब्द की व्युत्पत्ति से यही अर्थ निश्चित होता है। अतिदेश वाची सूत्रस्थ एवम् पद से ध्वनित होता है कि—सारे सूत्र तत्परक ही नहीं मानने चाहिए। पात शब्द देहपात और तु शब्द अवधारार्थक है, अतः देहपात होने पर तो मुक्ति आवश्यक है, यही उक्त पापमुक्ति सूचक वाक्य में कही गई है। मुक्ति प्रापक पद के अभाव से, उक्त वाक्य का तात्पर्य होता है कि—पुण्य को भोगकर मुक्त होता है। इसे आगे कहा भी है।

अनारब्धकार्ये एवतु पूर्वे तदवधेः ।४।१।१५।।

ननु देहस्य कर्मजन्यत्वात्तन्नाशे तन्नाशस्यावश्यकत्वाच्च ब्रह्मविदः प्रवचनानुपपत्तिः। एवं सति ब्रह्मजिज्ञासोर्गुरूपसत्त्यादि साधनाऽसंभवः। "आचार्यवान् पुरुषोवेद" इति श्रुतेस्तदभावेन ज्ञानमार्गोच्छेदेन भक्त्युच्छेद प्रसंगः, इत्याशंक्य समाधत्ते—पूर्वे-पूर्वसूत्राभ्यां ज्ञाननाश्यत्वेन ये प्रोक्ते पापपुण्ये ते नाशेषे, किन्त्वनारब्धं भोगायतन लक्षणं कार्यं याभ्यांतेएवेत्यर्थः।

देह कर्म जन्य होता है, अतः देह के नाश हो जाने पर कर्म का नाश भी अवश्य हो जाता होगा, फिर ब्रह्मविद संबंधी प्रवचन की बात व्यर्थ ही है। तथा ब्रह्म जिज्ञासु को गुरु शरणागति पूर्वक साधना की भी आवश्यकता नहीं है। "आचार्य पुरुष ब्रह्म को जानता है" इस श्रुति में कहीं भी ज्ञानमार्ग या साधना का उल्लेख तो है नहीं, अतः ज्ञानमार्ग का उच्छेद हो जाता है और भक्तिमार्ग का भी, इत्यादि शंका का समाधान करते हैं—पूर्व के दो सूत्रों से जो ज्ञान द्वारा पाप पुण्य के नाश की बात कही गई वह सारे ही पाप पुण्य नाश की बात नहीं है अपितु जिन कर्मों का भोग प्रारम्भ नहीं हो पाया है, उन्हीं के नाश की बात कही गई है, जो भोग प्रारम्भ हो चुके है, उनसे तो भोगकर ही छुटकारा मिलता है।

नन्वितर निरपेक्षं हि ज्ञानं स्वशक्त्यैवाग्निरेध इव कर्माणि दहति इति पूर्वमुक्तं, तथा सत्यशेषमेव तद् दहतीतिवक्तुं युक्तम्, न तु सशेषम्। शक्तेरविशिष्टत्वात्। न च कर्मनाशेऽपि संस्कारवशात् कुलालचक्र भ्रमिवत्तद्वासनावशात् देहादिसत्तया प्रवचनात् उपपत्तिरितिवाच्यम्। ज्ञानस्य सर्वतो बलवत्वात् सवासनस्य तस्य नाशनात्। नहि महाशिला निष्पाते चक्रभ्रमिरनुवर्त्तितुं शक्नोति इत्याशंक्य आरब्धकार्यदहने हेतुमाह—तदवधेः; तज्ज्ञानेनारब्धकार्याऽदहनं यत् तदखिलकारणकारणत्वेन अखिलस्यपूर्त्तावधिरूपभगवदिच्छा लक्षणाद्धेतोरित्यर्थः। तत्र तस्यापि दहनेच्छा तत्र तथैवेति निगूढाशयः। अत एवाग्रे तथा वक्ष्यते। अतएव श्री भागवते "मृगदारकाभासेन स्वारब्ध कर्मणा योगारम्भणतो विभ्रंशितः" इति "उपभोगेन कर्मारब्धं व्यपनयन्निति" च भरतं प्रतिवचनं गीयते। एवं सतिमणिमंत्रादि प्रतिबद्ध शक्तेरग्नेरिव ज्ञानस्याप्यदाहकत्वे न काचिद् हानिरिति सर्वमनवद्यम्। इच्छा प्रतिबद्धतादशायां न प्राचीना दशास्तीति तद् व्यवच्छेद ज्ञापनाय तु शब्दः। एतेन भगवद्भावस्य सर्वतो बलवत्त्वात् कथं तस्य पात इति शंका निरस्ता। भगवदिच्छाया मूलकारणत्वेनोक्तेस्तस्याः सर्वतो बलिष्ठत्वात्। तथेच्छा च स्वकृत मर्यादापालनाय पुष्टावंगीकृतेन तथेति सर्वमनवद्यम्।

ज्ञान किसी भी साधन की अपेक्षा नहीं रखता वह अपनी शक्ति से ही, अग्नि से ईंधन की भाँति कर्मों को भस्म कर देता है ऐसा पहिले ही कह चुके हैं, वह सारे ही कर्मों को भस्म कर देता है ऐसा कहना ठीक नहीं, कुछ कर्मों को ही भस्म करता है यही कहना उचित है, उसमें सामान्य शक्ति ही है, विशेष नहीं। कर्म नाश हो जाने पर भी, कुम्हार के चक्के की तरह, वासनावश देहादि की सत्ता निरन्तर बनी ही रहे, ऐसा भी नहीं कह सकते। ज्ञान, वासना आदि से बलवान है अतः वह वासना युक्त कर्म का नाश करता है। बड़े भारी पत्थर को रख देने से चक्के का घूमना बन्द हो सकता है वैसे ही आरब्ध कर्म भी, ज्ञान की बलवत्ता से भस्म हो जाते हैं, ऐसा भी नहीं कह सकते। क्योंकि—आरब्ध कार्यों की समाप्ति तो अपनी अवधि पर ही होती है, उस ज्ञान से आरब्ध कार्य का दहन नहीं होता, उसका दहन तो, अखिल कारणों के कारण परमात्मा की समस्त पूर्वावधि रूप इच्छा से ही होता है। जहाँ उन कार्यों की भी दहन की इच्छा होती है वहाँ परमात्मा वैसा ही बानक बना देते हैं, यही निगूढ आशय है। इसे ही आगे बतला रहे हैं। जैसा कि—श्री भागवत में—"मृग छौना के प्रेम में, योगी भरत अपने आरब्ध कर्म से भ्रष्ट हो गए" उपभोग से आरब्ध कर्म को समाप्त कर" इत्यादि प्रसंग भरत के संबंध में आता है। इस प्रकार, मणि मंत्र आदि प्रतिबद्ध शक्ति से जैसे अग्नि की दाहिका शक्ति क्षीण हो जाती है, वैसे ही, भगवदिच्छा शक्ति से ज्ञान की दाहिका शक्ति कुंठित हो जाती ऐसा समझ में आ जाने पर शंका का समाधान हो जाता है। भगवदिच्छा से प्रतिबद्ध दशा में, प्राचीन दशा नहीं रह जाती, यही बात तु शब्द से सूत्रकार बतला रहे हैं। भगवद्भाव सर्वाधिक बलवान होता है, फिर भक्त का पतन कैसे संभव है ? इत्यादि शंका भी उक्त विचार से समाप्त हो जाती है। आरब्ध भोग में भगवदिच्छा ही मूल कारण होती है, अतः उसे ही सर्वाधिक बलिष्ठ कहा गया है। भगवदिच्छा, अपनी बनाई हुई मर्यादा का पालन करने के लिए ही होती है, मर्यादा पालन से ही जीव पुष्ट होता है, उस पुष्ट जीव को ही भगवान स्वीकार करते हैं।

अग्निहोत्रादि तु तत् कार्यायैव तद्दर्शनात् ।४।१।१६।।

ननु प्रारब्धं हि प्राचीनं, तन्नाशाय तद्भोग एव कर्त्तव्यो ब्रह्मविदा, न तु विहितमन्यदपि अग्निहोत्रादि प्रयोजनाभावात्। दृश्यते च तादृशानां तत्करणमत्र उत्तरस्य कर्मणः संश्लेष आवश्यक इत्याशंक्य तत्प्रयोजनमाह—तु शब्दः शंकाव्युदासकः। अग्निहोत्रादिविहित कर्म करणं तत्कार्यायैवं भोगकार्याय

प्रारब्ध नाशायैवेत्यर्थः । येषामग्निहोत्रादिकारकं प्रारब्धमस्ति तैरेवतन्नाशाय भोगवत्तदपि क्रियते, न त्वतादृशैरत एव न सनकादीनां तथात्वम् । कुत एतत् ? तद् दर्शनात्—"यथाकारी यथाचारी तथा भवति, साधुकारी साधुर्भवति, पापकारी पापो भवति, पुण्यः पुण्येन कर्मणा भवति, पापः पापेन" इति श्रुतिः पूर्व कर्मणोऽग्रिमकर्म हेतुत्वं दर्शयति इति नानुपपत्तिः काचित् । केचित्तु ज्ञानस्य यत्कार्यं तदेवाग्निहोत्रादिरिति तत्कार्यायेति पदस्यार्थं वदंति । स न साधुः । तदधिगम इत्युपक्रमाद् ब्रह्मविदः प्रारब्धात्मक प्रतिबंधनाशे मोक्षस्य पूर्वज्ञानेनैव संपत्तेः कर्मणो वैयर्थ्यापातात् । "तमेतं वेदानुवचनेन" इत्यादि श्रुति, दर्शनपदार्थ इत्यपिपूर्वविरोधादुपेक्ष्यः ।

प्रारब्ध तो प्राचीन कर्मों का ही परिणाम होता है अतः ब्रह्मवेत्ता, उसे नाश करने के लिये उसे भोग ही लें अग्निहोत्र आदि अन्य साधनों की क्या आवश्यकता है । उनके पालन का प्रयोजन ही क्या है ? अग्निहोत्र आदि करने वालों को भी उत्तरीय पापों का आश्लेष होता देखा जाता है । इस शंका का समाधान करते हुए अग्निहोत्र आदि का प्रयोजन बतलाते हैं । कहते है कि—अग्निहोत्र आदि शास्त्र विहित कर्म करने से प्रारब्ध नाश ही होता है । जिन लोगों का अग्निहोत्र आदि कारक प्रारब्ध होता है, वे ही उस प्रारब्ध को, अग्निहोत्र आदि के पालन के रूप में भोग कर नाश करते हैं, जिनका वैसा प्रारब्ध नहीं होता वे नहीं करते जैसे कि—सनकादि ने नहीं किया । ऐसा वर्णन भी मिलता है—"जैसा कर्म करता और जैसा आचरण करता है वैसा होता है, साधु कर्म करने वाला साधु होता है, पापकर्म करने वाला पापी होता है, पुण्य से पुण्य और पापकर्म से पाप होता है" यह श्रुति पूर्व कर्म को अग्रिम कर्म का हेतु बतलाती है । इस प्रकार उक्त समस्या का समाधान हो जाता है । कुछ लोग कहते हैं कि, जो कार्य ज्ञान करता है वही कार्य अग्निहोत्र आदि भी करते हैं, उनका ये कथन सही नहीं हैं । ब्रह्मवेत्ता के यदि प्रारब्धात्मक प्रतिबन्ध का नाश हो जाय तो मोक्ष के पूर्वज्ञान से ही मुक्ति हो जावेगी । फिर शास्त्रीय कर्मों का महत्व ही समाप्त हो जावेगा । "तमेतं वेदानुवचनेन" इत्यादि श्रुति भी फिर उपेक्ष्य हो जावेगी ।

७. अधिकरण :—

अतोऽन्यापि ह्येकेषामुभयोः ।४।१।१७।।

तदेवं पूर्वसूत्रचतुष्टयेन मर्यादामार्गीय भक्तस्य मर्यादयैव मुक्ति प्रतिबन्ध

संभवः तथैव तन्नाशश्चेति निरूपितम् । अथ पुष्टिमार्गीयस्य विनैव भोगं प्रारब्धं नश्यति न वेति विचार्यते । तत्र भोगैकनाश्य स्वभावत्वात्तस्य न तं विनाऽस्यापि तन्नश्यतीति प्राप्ते निर्णयमाह । एकेषां पुष्ठिमार्गीयाणां भक्तानामुभयोः प्रारब्धाप्रारब्धयोर्भोग विनैव नाशो भवति । कुत एतत् ? तत्राह-अतः, श्रुतेः कर्मणे ज्ञाननाश्यत्व निरूपिकायाः । ब्रह्मविद एवं प्रवचनादि निरूपणेन तदनाश्यप्रारब्धकर्माक्षेपक श्रुतेश्च । अत्यापि श्रुतिः पठ्यते—"तस्यपुत्रा दायमुपयन्ति सुहृदः साधुकृत्यां, द्विषन्तः पापकृत्यम्" इति । ज्ञानभोगाभ्यां कर्मनाश निरुपक श्रुत्याऽस्याः श्रुतेर्विरोध परिहारावश्यं विषय भेदो वाच्यः न च काम्यकर्मविषयेयं श्रुतिरितिवाच्यम् । तदधिगम उत्तरपूर्वाधयोरश्लेष-विनाशाविति सूत्रेणे तस्याप्येवमिति सूत्रावयवेन चाऽविशेषेणारब्धातिरिक्त-कर्मणोरखिलयोर्नाशनिरूपणात् । पापकृत्यायां काम्यत्वाऽसंभवाच्च । तस्मादत्यनुग्रह भाजनस्य भक्तस्य स्वप्राप्तिविलम्बमसहिष्णुर्भगवान् अस्य प्रारब्धमेतत्संबंधिगतं कृत्वा तस्यतेन भोगं कारयति । प्रारब्धं भोगैकनाश्यमिति स्वकृतमर्यादापालनाय न नाशयति । न च तयोरमूर्त्तत्वेनाकृभ्यागम प्रसंगेन च नैवं वक्तुमुचितमिति वाच्यम् । ईश्वरत्वेनाऽन्यथापि करण संभवात् । मर्यादा विपरीत स्वरूपत्वात् पुष्टिमार्गस्य न काचानात्रानुपपत्तिर्भावनीया । तस्या अत्र भूषणत्वात् । अत एवैकेषामिति दुर्लभाधिकारः सूचितः ।

पूर्व के चार सूत्रों द्वारा, मर्यादामार्गीय भक्त का मुक्ति प्रतिबंध और उसका नाश मर्यादा से ही होता है, ऐसा निरूपण किया गया अब विचारते हैं कि—पुष्टिमार्गीय भक्त का प्रारब्ध बिना भोग के नाश होता है, या नहीं ? प्रारब्ध बिना भोग के नष्ट होता ही नहीं, अतः भोग के बिना पुष्टिमार्गीय का प्रारब्ध भी नष्ट नहीं हो सकता, इस सामान्य विचार पर निर्णय देते हैं कि एक श्रुति से तो ऐसा ज्ञात होता है कि—पुष्टिमार्गीय भक्तों का प्रारब्ध और अप्रारब्ध दोनों ही बिना भोग के नष्ट हो जाता है । ज्ञान द्वारा उभय प्रकार के कर्मों का नाश बताने वाली श्रुति और अन्य श्रुतियों से उक्त कथन की पुष्टि होती है, एक और श्रुति भी कहती है कि—"मुक्त जीव का धन पुत्र प्राप्त करते हैं पुण्य कर्मों का फल मित्र लोग पाते हैं, शत्रु लोग पाप का फल पाते हैं ।" जो श्रुति ज्ञान और भोग से कर्मनाश का निरूपण करती है उससे और इस श्रुति के साथ जो विरोध है, उसके परिहार के लिये, विषयभेद मानना पड़ेगा । यह श्रुति, काम्य कर्म विषयक है, ऐसा नहीं कह सकते । "तदधिगम" आदि तेरहवें सूत्र मे और "इतरस्याप्येवम" आदि चौदहवें सूत्र के अवयव से

जो प्रारब्ध के अतिरिक्त समस्त सामान्य कर्म के विनाश का निरूपण किया गया है, उससे पापकृत्यों को काम्य नहीं कह सकते। इन सब विचारों से निश्चित होता है कि, भगवान, अपने अति अनुग्रह के भाजन भक्त के, अपनी प्राप्ति में बिलम्ब को न सह सकने के कारण, प्रारब्ध भोग को उसके सम्बन्धी जनों से जोड़कर भोग कराते हैं। प्रारब्ध, भोग से ही नष्ट होता है, अपनी बनाई हुई मर्यादा को उक्त प्रकार से पालन कराते हैं, नष्ट नहीं करते। ये कहना ठीक नहीं कि प्रारब्ध पुण्य और पाप अमूर्त्त भगवान द्वारा कैसे, भोग कराए जा सकते हैं, ईश्वर होने के कारण उनमें असंभव कृत्य को भी करने का सामर्थ्य है। पुष्टिमार्ग में, भक्त स्वयं प्रारब्ध नहीं भोगता, वह भगवदीय मर्यादा के विपरीत है, फिर भी उसमें थोड़ी भी असंभावना नहीं माननी चाहिए वह तो उस मार्ग का आभूषण ही है "एकेषां" पद से सूत्रकार पुष्टिमार्गीय भक्तों के उक्त दुर्लभाधिकार का ही उल्लेख कर रहे हैं।

यदेव विद्ययेति हि ।४।१।१८॥

ननु "यदेव विद्यया करोति" इति श्रुत्या विद्यापूर्वकं कर्म करणे वीर्यातिशयः फलं श्रूयते। अतो ब्रह्मविद्यावतोऽपि तथात्वस्योचितत्वात् तदुत्तरस्याश्लेष इति ये दुक्तं तन्नोपपद्यते, इति प्राप्यते, आह—यदेवेति। हि यस्माद् हेतोः त्वया "यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषेदेति" श्रुतिरेव ब्रह्मविदोऽपि कर्मोत्पत्तिप्रसंजिकात्वेनोदाहृता, सा तु न तत्समर्था तथाहि—"ॐमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत्" इत्युपक्रम्य तस्य रसतमत्वं मिथुन रूपत्वमनुज्ञाक्षरत्वं त्रयीप्रवृत्ति हेतुत्वंच निरूप्यैतदग्रे "यद्येव विद्यया" इत्युक्त्वा "इति एतस्यैवाक्षरस्योपव्याख्यानं भवति "इत्युपसंहाराद् उद्गीथोपासनाविषयमेव "यदेव विद्यया" इति वाक्यमिति ज्ञायते। तेनोक्तरसतमत्वादिप्रकारकोपासनानां मध्ये यदेव विद्यया करोति तदेव वीर्यवत्तरं भवति" इतितदर्थं इति न ब्रह्मविद्यागंधोऽपि इति न नाशंकाऽत्र संभवतीत्यर्थः। यद्वा उक्ताशंकानिरासायैवाह, यदेवेति। ब्रह्मविद् हि प्रारब्धक्षयायैवकर्मकुरुते तत्तु अन्यकृतात् कर्मणः सकाशात् सवासनतन्नाशनाद् वीर्यवत्तरं भवत्येवेति नानुपपत्तिः काचिदित्यर्थः। यद्वा, ननु पुष्टिमार्गीयस्य प्रारब्धस्यापि भोगं विनैव नाश इति श्रुत्याऽसंभावना कुर्वाणं प्रति कैमुतिकन्यायेन तत्परिहारमाह—यदेवेत्यादि। जीवनिष्ठा विद्या हि भगवज्ज्ञानशक्तेरंशभूता एवं सति यत्र धर्मसंबन्धितसंबन्धा

दन्येभ्योऽतिशयं कर्मणि वदति श्रुतिस्त्वसाक्षात् :धर्मिसम्बन्धेऽतिशयित कार्य-संपत्तौ कथनसंभावना कर्त्तुमुचितेति निगूढाशयः। अतएव हेतुवाची हि शब्द।

"यदेव विद्यया करोति" इत्यादि श्रुति, विद्यापूर्वक किए गये कर्म का बलवत्तर फल बतलाती है, इसलिये ब्रह्मविद्यावान को कर्म संसर्ग नहीं होता ये कथन सही नहीं प्रतीत होता, क्योंकि—विद्यावान का कर्म तो और बलवान होता है, उसका संसर्ग तो होगा ही। इस पर उक्त "यदेव" इत्यादि सूत्र प्रस्तुत करते है। कहते हैं कि—आपने जो ब्रह्मविद में भी कर्मोत्पत्ति और आसक्ति की बात, जिस आधार पर कही है वह "यदेवविद्याकरोति" आदि श्रुति उस प्रसंग से कोई मतलब नहीं रखती। "ओम् इस एक अक्षर से उद्गीथ की उपासना करनी चाहिये' इत्यादि उपक्रम करते हुये उद्गीथ का रसतमत्व, मिथुनरूपत्व, अनुज्ञाक्षरत्व त्रयोप्रवृत्ति हेतुत्व, आदि का निरूपण करके उसी के आगे "यदेवविद्यया" आदि कह कर "इसी अक्षर की उपव्याख्यान होता है" ऐसा प्रसंग का उपसंहार किया गया है, इससे ज्ञात होता है कि—"यदेव विद्यया" इत्यादि वाक्य उद्गीथ उपासना संबंधी है। उक्त प्रसंग में दिखलाया गया है कि—रसतमत्व आदि प्रकार की उपासनाओं में "जो उद्गीथ विद्या के द्वारा उपासना करता है, उसकी उपासना प्रबल होती है" इसमें ब्रह्मविद्या का तो कहीं प्रसंग ही नहीं है, अतः आपकी शंका निराधार है। उक्त शंका के निराकरण के लिए ही उक्त सूत्र, सूत्रकार ने प्रस्तुत किया है। ब्रह्मवेत्ता प्रारब्धक्षय के लिये ही कर्म करता है, उनका कर्म अन्य लोगों के कर्म से इसलिये श्रेष्ठ होता है कि—वे वासना सहित कर्म को क्षय करते है, जिससे कि उनका कर्म संचित न हो सके। इसलिए उसमें संशय होना ही चाहिये। पुष्टिमार्गीय जीव का प्रारब्ध, बिना भोग के ही नष्ट हो जाता है, इस बात को सुनकर जो असम्भव मानते हैं उन्हें कैमुतिकन्याय से सूत्रकार समझाते हैं कि—जीवनिष्ठ विद्या भगवान की ज्ञान शक्ति की ही अंश हैं, अतः जो श्रुति जीव के अलौकिक कर्मो की चर्चा करती है, वह अलौकिकता परमात्मा से ही तो सम्बद्ध है अतः उसमें संशय करना क्या उचित होगा? यही सूत्रकार का गूढ आशय है।

भोगेनत्वितरे क्षपयित्वाऽथ संपद्यते।४।१।१९॥

पुष्टिमार्गीय फल प्राप्तौ प्रतिबंधाभावंसोपपत्तिकमुक्त्वा तत्प्राप्ति प्रकारमाह—इतरे-अग्रेप्राप्यालौकिक देहाद्भिन्ने स्थूललिंगशरीरे क्षपयित्वा दूरी-

कृत्य, अथ भगवल्लीलोपयोगि देहप्राप्यनंन्तरं भोगेन संपद्यते। "सोऽश्नुते सर्वान् कमान सह ब्रह्मणा विपश्चिता" इति श्रुत्या उक्तेन भोगेन संपद्यत इत्यर्थः श्रुत्यर्थस्त्वानन्दमयाधिकरणे निरूपितः। अलौकिकत्वं विनोक्तदेहं विना चोक्तफलप्राप्तेर्व्यच्छेदकस्तुशब्दः ।

पुष्टिमार्गीय फल की प्राप्ति में, तर्कपूर्ण ढंग से प्रतिबन्ध का अभाव बतलाकर अब फल प्राप्ति के प्रकार को बतलाते हैं। कहते हैं कि भक्त स्थूल लिंग शरीर में सब कुछ छोड़ कर, भगवल्लीलोपयोगी दिव्य देह की प्राप्ति के वाद भगवदीय भोगों से युक्त होता है।" वह विद्वान, ब्रह्म के साथ समस्त कामनाओं को प्राप्त करता है "इत्यादि श्रुति, भोग युक्त होने के प्रकार का उल्लेख करती है। इस श्रुति का अर्थ तो आनन्दमयाधिकरण में कर चके हैं। उक्त दिव्य देह के विना, उक्त अलौकिकफल फलसंभव नहीं है, यही बात तु शब्द से सूत्र में कही गई है।

चतुर्थ अध्याय

द्वितीय पाद

१ अधिकरण :—

वाङ्मनसिदर्शनाच्छब्दाच्च ।४।२।१।।

पूर्वपादे लौकिकशरीरे क्षपयित्वा अलौकिकं तत्प्राप्य फलेन संपद्यत इति निरूपितम्। अथात्रेदं चिन्त्यते, भक्तस्य सूक्ष्म शरीरस्य क्षपणं नाम किं तत्स्वरूपनाशनमुत मणिस्पर्शादयश्चामीकरत्वमिव तस्यैवालौकिकत्व संपादनं भगवदनुग्रहादिति। अत्रोत्तर एव पक्षः साधीयानिति भाति। तथाहि—यथा पूर्वं संसारिण एव जीवस्य तदनुग्रहात् पूर्वावस्थापगमो मुक्त्यवस्था चोच्यते तथात्राऽपि वक्तुमुचितत्वात्। "न तस्मात् प्राणा उत्क्रामन्त्यत्रैव समवलीयन्ते" इति श्रुतिस्तु जीवस्य सायुज्य मुक्तिकाले तत्प्राणादीनामपि तथैवाहात एवाग्रे "ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति" इत्युच्यते। पुष्टिमार्गीयस्योक्तमुक्त्यभावान्नेयं तद्-विषयमिति प्राप्ते प्रतिवदामः। ब्रह्मांशत्वेन जीवस्यानंदात्मकत्वान्निर्दोषस्वरूप-त्वान्नित्यत्वाच्च दोषाणां वागंतुकत्वात्तदपगमे तस्यतथात्वमुचितम्। प्राणादयस्तु नताहशा इति तद्दृष्टान्तेनात्रापि तथात्वं न वक्तुं शक्यम्। देहेन्द्रियातुहीनानां बैकुण्ठपुरवासिनामिति श्रीभागवत वाक्याच्च।

पूर्वपाद में, लौकिक शरीर में पाप पुण्य छोड़कर अलौकिक शरीर को प्राप्त कर फलावाप्ति का निरूपण किया गया। अब ये विचार करते हैं कि—भक्त का सूक्ष्म शरीर का जो क्षपण होता है, क्या वह स्वरूप नाश होता है अथवा स्पर्शमणि के स्पर्श से लौह जैसे स्वर्ण बन जाता है, वैसे ही भगवदनुग्रह से उस सूक्ष्म शरीर में ही अलौकिकता आ जाती है? इसका दूसरा पहलू ही समझ में आता है। जैसे कि—संसारी जीव की, भगवदनुग्रह से पूर्वावस्था की समाप्ति को मुक्त्यवस्था कहते हैं, वैसे ही इसको भी मानना चाहिए। "इसलिए प्राण उत्क्रमण नहीं करते यहीं लीन हो जाते हैं" इत्यादि श्रुति, जीव के सायुज्य मुक्ति के समय, उसके प्राण आदि का वहीं लीन होना बतलाती है। उक्त श्रुति में ही आगे कहते हैं—"ब्रह्म होकर ब्रह्म को प्राप्त करता है।" पुष्टिमार्ग में सायुज्य मुक्ति होती नहीं अतः यह श्रुति पुष्टिमार्गीय नहीं है, इस पर हम

प्रतिवाद करेंगे। जीव, ब्रह्म का ही अंश है अतः उसमें आनंदात्मकता, निर्दोष स्वरूपता, और नित्यता है, दोष तो उसमें आगंतुक होते हैं उनका अपगम भी उसी प्रकार हो जाता है, किन्तु प्राण आदि तो आगंतुक हैं नहीं अतः उन्हें उक्त दृष्टान्त से यहाँ प्रस्तुत नहीं किया जा सकता। बैकुण्ठ पुरवासी देह इन्द्रिय प्राण आदि सभी से रहित होते है, ऐसा भगवद वाक्य से निश्चित भी होता है।

न च लौकिकत्वविशिष्ट देहादिरत्र निषिद्धयत इति वाच्यम्। सामान्यनिषेधे बाधकाभावात्। न च तदनुभव एव बाधक इति वाच्यम्। भगवत इव तदीयानामपि तेषां तथात्वे बाधकाभावात् नन्वागंतुकत्वमेव बाधकमिति चेत्-मैवम्। यथा व्यापिवैकुण्ठस्याक्षरात्मकत्वेनागंतुकत्वेन नैसर्गिकतद्गताखिलवस्तुरूपत्वेन सामीप्यादि मुक्तिं प्राप्नुवतां भक्तानां देहेन्द्रियादिरूपमप्यनागंतुकमेव वैकुण्ठ प्राप्तिमात्रेण शुद्ध जीवानां संपद्यते। तदीयत्वेन तत् फलतीति यावत्। तथा पुरुषोत्तमलीलाया अपि पुरुषोत्तमात्मकत्वात्तत्रांगीकारमात्रेण प्राचीनाशेष प्रावाहिक धर्मनिवृत्तौ शुद्ध जीवस्य पुरुषोत्तम लीलात्मकदेहादिरपि तदीयत्वेन संपद्यत इति नानुपपन्नं किंचिदित्यवहितोऽवेहि।

यह भी नहीं कह सकते कि उक्त प्रसंग में लौकिक सामान्य देह आदि का निषेध किया गया है, सामान्य वस्तु के निषेध में कोई बाधकता तो होती नहीं, उस वस्तु का अनुभव ही बाधक हो ऐसा भी नहीं कह सकते। भगवान की तरह उनके भक्तों से भी निर्दोषता आदि सब कुछ विद्यमान हैं, इसलिए कोई बाधकता नहीं है। नवागंतुकता ही बाधक होती हो ऐसा भी नहीं है। जैसे कि—बैकुण्ठव्यापी अक्षरात्मक अनागन्तुक होने से नैसर्गिक है वैसे ही तद्गत सारी वस्तुएँ भी तद्रूप होने से नित्य हैं, सामीप्य आदि मुक्ति को प्राप्त भक्तों के देह इन्द्रिय आदि अनागंतुक हैं, शुद्ध जीवों की उक्त प्रकार की मुक्ति बैकुण्ठ प्राप्ति हो जाने मात्र से हो जाती है। भगवदीय होने से वही जीवों का फल है। पुरुषोत्तम लीला भी पुरुषोत्तमात्मक होकर ही संभव है तः उस लीला में जीवों के अपना लिए जाने मात्र से, सभी प्रावाहिक प्राक्तन भोगों की निवृत्ति हो जाती है अतः शुद्ध जीव के पुरुषोत्तम लीलात्मक देहादि भी उन्हीं के समान हो जाते हैं, कुछ भी असंभव नहीं रह जाता यही समझना चाहिए।

अयमेवार्थो वाजसनेयिशाखायाम् "अथाकामयमान्" इत्युपक्रम्य "आत्मकाम आप्तकामोभवति, न तस्मात् प्राणा उत्क्रामन्त्यत्रैव समवलीयन्ते ब्रह्मैवसन

ब्रह्माप्येति'' इत्यन्तेनवाक्येन निगद्यते। अत्र प्राण शब्देन प्राणः सर्वेन्द्रियाणि चोच्यन्ते। आत्मकाम शब्देन भगवद्वाचकात्मपद ग्रहणेन भक्तस्य स्नेहातिशय-जनित प्रभुदिदृक्षात्र्त्यतिशयस्तादृशो येन मरणमेव संपद्यते, यदि प्रभुप्राकट्ये क्षणमपि विलम्बः स्यात्। अतो भगवत्प्राकट्येनैवात्मस्थितिरिति ध्वन्यते। भक्तिमार्गे प्राकट्यस्यैव परमफलत्वेन तद्दर्शनेन आप्तकामो भवति। तथा साक्षादाश्लेषादि कामनायां प्राचीनेदेह प्राणादेस्तद योग्यत्वात्तत्रैव लीना भवन्ति। बहिः प्रकटस्यैवान्तरपि प्राकट्यादुत्क्रमणाभाव उच्यते। आत्मातिरि-क्तस्य गतिमुक्त्वा तस्य तामाह—''ब्रह्मैवसन् ब्रह्माप्येति'' इत्यनेन। उक्तरीत्या पुरुषोत्तमात्मक लल्लीलोपयोगिदेहेन्द्रियादिसम्पत्त्या ब्रह्मैवसन्नतु ब्रह्मातिरिक्त देहादिमानपि तादृशः सन् ब्रह्म बृहत्वाद्वृंहणत्वात् पुरुषोत्तम स्वरूपं प्राप्तो भवतीत्यर्थः। अन्यथा जीवस्य ब्रह्मांशत्वेनान्दांशाविर्भावेन च ब्रह्मत्वे प्राणादि-लयोक्तया ब्रह्म, तदितर व्यवच्छेदे चानुक्तसिद्धेसति ब्रह्मैवसन्निति वा न वदेत्। अत एवैस्तदग्रेश्लोकोक्तिः ''मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते। ''इति। मृतिधर्मवच्छशरीरं हि मर्त्यं, तदवत्वेन जीवोऽपि तथोच्यते। तथाचार्य पूर्वं तादृश एव, अथ पुष्टिलीलाप्रवेशानन्तरममृत उक्तरूप शरीरवान् भवति, ततोऽत्र अस्मिन्नेव शरीरे ब्रह्म सम्यगश्नुते। भगवता क्रियमाण लीलारसमनु भवतीत्यर्थः।

इसी तात्पर्य से वाजसनेयी शाखा में—''अथाकामयमान्'' ऐसा उपक्रम करते हुए ''आत्मकाम आप्तकाम होता है, उसके प्राण उत्क्रमण नहीं करते, यहीं लीन हो जाते हैं, ब्रह्म होकर ब्रह्म को प्राप्त करता ह'' ऐसा अंत में कहा गया है। इस वाक्य में प्राण शब्द से प्राण स्वरूप समस्त इन्द्रियों का उल्लेख किया गया है। आत्मकाम शब्द से भगवद् वाचक आत्म पद में उल्लेख से, भक्त की, स्नेहातिशय जनित प्रभु दर्शन की उत्कट अभिलाषा युक्त मृत्यु का द्योतन होता है। यदि प्रभु के प्राकट्य में एक क्षण का भी विलम्ब होता है तो उस परिस्थिति में भक्त की छटपटाहट के फल स्वरूप प्राकट्य से जो आत्मतृप्ति मिलती है, वही आत्मकाम शब्द का तात्पर्य हैं। भक्ति मार्ग में प्राकट्य ही परम फल है, प्रभु के दर्शन से ही भक्त आत्मकाम होता है। साक्षात् होने पर जब भक्त को आश्लेप आदि की कामना होती है तो उसकी प्राक्तन देह इन्द्रियों आदि का तत्क्षण ही लय हो जाता है, क्योंकि वे इन्द्रियाँ आदि भगवदाश्लेश के योग्य नहीं होतीं। बाहर के प्राकट्य से, आन्तरिक प्राकट्य की स्थिति सो जाती है जिसके फलस्वरूप प्राणों का उत्क्रमण नहीं

होता। आत्मा की उक्त प्रकार की प्राप्ति के अतिरिक्त कोई दूसरी गति तो होती नहीं यही बात "ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति', वाक्य से कही गई है। पुरुषोत्तमात्मक, उनकी लीला के उपयोगी देह इन्द्रिय आदि की प्राप्ति होना ही ब्रह्मसन्" पद से कही गई है, ब्रह्मातिरिक्त देह आदि से वैसा होना संभव नहीं है, व्यापक और महान पुरुषोत्तम स्वरूप की प्राप्ति ही उक्त कथन का तात्पर्य है। जीव ब्रह्म का अंश है अत: उसमें आनंदांश के आविर्भाव होने से उसमें ब्रह्मत्व है, प्राणादि का लय हो जाता है इसलिए वही ब्रह्म कहलाता है, यदि ब्रह्म से भिन्न स्थिति हो तो, ब्रह्मैवसन् ऐसा नहीं कह सकते थे। यही बात उसी प्रसंग में आगे श्लोक में कही गई है—'उस ब्राह्मी स्थिति में मर्त्य जीव अमृत हो जाता है, ब्रह्म प्राप्ति करता है।" मरण संबंधी धर्मों को धारण करने से शरीर को मर्त्य कहा जाता है, उस शरीर को धारण करने वाला जीव भी मर्त्य कहलाता है। मुक्ति पूर्व जीव मर्त्य ही रहता है, पुष्टि लीला में प्रविष्ट होने के बाद अमृत होकर दिव्यरूप शरीर वाला हो जाता है। उस दिव्य शरीर से ही भलीभाँति ब्रह्म को प्राप्त करता है। अर्थात् भगवान के द्वारा होने वाली लीलारस का अनुभव करता है।

भगवान बादरायण इमामेव श्रुति विषयीकृत तत्रोक्तप्राणानां लय एकदैवोतक्रमनियमोऽस्तीति संशये निर्णयमाहवाङ्मनसीति। तत्रहेतुर्दर्शनादिति, एतदुक्तोभवति, भक्तेः स्नेहात्मकत्वात्तस्य प्रभु प्राकट्यफलकत्वात्तदौत्कण्ठ्ये तस्यावश्यकत्वादयं मां पश्यत्विति प्रभ्विच्छया तस्मिन् सम्पन्ने चक्षुर्भ्यां मनसा च तद्रूपामृतमनुभवतः स कोऽप्युत्कटभावः समजनि येन प्रभुणा सह सर्वेन्द्रियव्यापारकृतीच्छा समभूत्। तत्र तेषामसामर्थ्याद भगवदानन्दसंबंधिमनः संबंधेन तं प्राप्स्याम इति तत्रैव संगताः तेनानन्देन सम्पन्ना जाताः अयमेवार्थोऽनेन सूत्रेणाग्रिमेण चात एव सर्वाण्यन्विति सूत्रेण निरूप्यते। दर्शनानन्तरमादौ सह सम्भाषणेच्छैव जन्यत इति, वाङ्मनसि सम्पद्यत इति छान्दोग्ये स्फुटोक्ते सम्मत्या चादौ सैवोक्ता एवं सति वाङमनसि संगता सती भगवदानन्देन सम्पद्यत इति सूत्रार्थः सम्पद्यते। दर्शनाभावेऽपि वेण्यादिशब्दपि तथा सम्पद्यत इति हेत्वन्तरमाह-शब्दाच्चेति।

भगवान बादरायण, इसी श्रुति के आधार पर प्राणों का लय एक बार ही होता है अथवा क्रमशः होता है इस संशय का निर्णय करने के लिए "वाङ् मनसि" आदि सूत्र प्रस्तुत करते हैं। वे कहते हैं कि—भक्ति स्नेहात्मक होती

है, उसका फल प्रभु प्राकट्य हैं, दर्शन की उत्कण्ठा में "अयं मां पश्यतु" ऐसी कृपामयी प्रभु की इच्छा आवश्यक है, यदि वह कृपा हो जाय तो भक्त नेत्र और मन से प्रभु के रूपामृत का आस्वाद करता है, दर्शन से उसके मन में, समस्त इन्द्रियों से, भगवत्साहचर्य करने की उत्कट अभिलाषा होती है। उसमें वैसा करने का सामर्थ्य नहीं होता अतः वह, "भगवदानंद संबंधी मन से ही उन्हें प्राप्त करूँगा" ऐसा विचार कर मन से ही भगवद्रस में आप्लावित होकर भगवदानंद में निमग्न हो जाता है। इसी अर्थ के अनुसार अग्रिम "अतएव सर्वाण्यनु" सूत्र से निरूपण करते हैं। दर्शन के बाद सबसे पहिले प्रभु के साथ संभाषण करने की इच्छा होती है "वाङ्मनसि संपद्यते" छांदोग्य को इस स्पष्टोक्ति से सम्मत, उक्त मत का, सूत्रकार सर्वप्रथम उल्लेख करते हैं। इस प्रकार सूत्र का अर्थ होता है कि—वाणी और मन के साहचर्य से, भगवदानंद से संपन्न होता है। दर्शन न होने पर, वंशी आदि की ध्वनि से भी आनंद सम्पन्न हो जाता है, यही भाव, "शब्दाच्च" पद से सूत्रकार बतलाते हैं।

अतएव सर्वाण्यनु ।४।२।२।।

अतएव दर्शनाच्छब्दाच्च हेतोः सर्वाणीन्द्रियाणि, अनु सान्निध्याद वाचः पश्चान्मनसि संगतानि भगवदानंदेन संपद्यन्त इत्यर्थः। केचित्वत्र छांदोग्यस्थं, "वाङ्मनसि संपद्यतेमनः प्राणे प्राणस्तेजसि तेजः परस्यां देवतायाम्" इति वाक्यं विषयत्वेन उक्तवा सूत्रे वाक्यपदस्य तद्वृत्तिपरत्वं वदन्ति, सम्पत्ति सन्नाशं च। तन्न साधीयः। तथाहि, वाक्यादस्य वृत्तिपरत्वं चेच्छ्रुत्यभिमतंस्यात् सूत्रकारस्तदा तथैववदेन्न तु तत्सरूपमेब वाक्यम्। तन्निर्णयार्थमेव प्रवृत्तेः। मुख्यार्थत्यागो लक्षणापत्तिश्च। किं चैवं मनसीति पद वैयर्थ्यं स्यात्। विषयवाक्योक्तक्रमत्यागानुपपत्तिश्चेति।

सभी इन्द्रियाँ, वाणी और मन के सानिध्य से, भगवद्दर्शन और वेणु आदि ध्वनि से, भगवदानन्द में निमग्न हो जाती हैं। कुछ लोग "वाणी मन में, मन प्राण में, प्राण तेज में, तेज पर देवता में" इत्यादि छान्दोग्यस्थ वाक्य को उक्त विषय से संबद्ध बतलाकर वाक् पद की तद्वृत्तिपरता बतलाकर, सम्पत्ति और उसके नाश की चर्चा करते हैं उनके कथनानुसार विषय का समाधान नहीं हो सकता। यदि वाक् पद की वृत्तिपरता की श्रुति सम्मत मानते तो सूत्रकार वैसा ही कहते, उसका स्वरूप ही न बतलाते। उसके निर्णय के लिए ही प्रवृत्ति होती। वैसा करने से मुख्यार्थ को छोड़कर लक्षणा करनी पड़ती। इतना ही

नहीं, "मनसि" यह पद ही व्यर्थ हो जाता तथा विषयवाक्योक्त क्रम के नष्ट होने से सारा प्रसंग ही समाप्त हो जाता।

तन्मनः प्राण उत्तरात् ।४।२।३॥

पूर्वोक्त सर्वेंद्रिय वैशिष्ट्यवन्मनः प्राणे सम्पद्यते, न तु केवलम्। तत्र हेतुः उत्तरादिति। "स यथा शकुनिः सूत्रेण प्रबद्धो दिशं दिशं पतित्वाऽन्यत्रायतनमलब्ध्वा बन्धनमेवोपश्रयत एवमेव खलु सौम्य तन्मनो दिशं दिशं पतित्वाऽन्यत्रायतनमलब्ध्वा प्राणमेवोपश्रयत" इत्युक्त्वा तत्र हेतुमुत्तरेण वाक्येनाह—"प्राणबन्धनं हि सौम्य मन" इति। तस्माद्धेतोस्तथेत्यर्थः।

जैसे समस्त इन्द्रियाँ, विशिष्ट मन में संलग्न होती हैं वैसे ही मन, प्राण में होता है, उत्तर के वाक्य में उसका स्पष्ट उल्लेख है। "जैसे कि—डोरे में बँधा हुआ शकुनि चारों ओर उड़कर अन्त में कहीं आश्रय न पाकर उसी बँधे पर आ जाता है वैसे ही मन चारों ओर भटककर अन्त में प्राण में ही आश्रित हो जाता है" उसका कारण उत्तर के वाक्य में देते है कि—"हे सोम्य! मन, प्राण के बंधन में रहता है।" इसी हेतु के आधार पर उक्त मत स्थापित करते हैं।

सोऽध्यक्षे तदुपगमादिभ्यः ।४।२।४॥

सर्वेन्द्रिय विशिष्टमनोविशिष्टः प्राणोऽध्यक्षे पुरो हृदि वा प्रकटे भगवति सम्पद्यत इत्यर्थ। अत्र हेतुः। उपगमादिभ्य इति उपगमोऽभ्युपगमः पुष्टिमार्गेऽङ्गीकार इति यावत्। ततस्तथेत्यर्थः। आदिपदात् भगवद्वशीकरणसमर्थः स्नेहः प्रभ्रनिङ्गितार्थत्यागस्तदनुरूपं भजनं च। अभ्युपगमे सिद्धे स्नेहादयोऽवश्यं भवन्त्येवेत्याशयेन तदादित्वमुक्तम्। नोद्देशः कृतः। मर्यादामार्गेऽङ्गीकृतानां तु मुक्तिपर्यवसायित्वेन मुमुक्षुत्वादुत्कटस्नेहासम्भवेन प्रभुप्राकट्यासंभवात् स्वप्रकृतौ सघांतलये शुद्ध जीवस्य भगवदनुग्रहेण श्रवणादिरूपया तथाविधस्नेहरूपया च भक्त्या मुक्तिः सम्पद्यत इति बह्वेव तारतम्यमिति निगूढाशयेनेदमुक्तम्। अभ्युपगमादयस्तु मुण्डकोपनिषत्सु पठ्यन्ते। नायमात्मेत्युपक्रम्य "यमेवैषवृणते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा वृणुतेतनुंस्वाम्", नायमात्मा बलहीनेन लभ्यो न च प्रमादात्तपसोवाऽप्यलिंगात्, एतैरुपायैर्यतते यस्तु विद्वांस्तस्यैष आत्मा विशते ब्रह्मधामेति।" उक्तं निगूढ माशयंप्रकटयन्ति।

समस्त इन्द्रियों में श्रेष्ठ मन, विशिष्ट अध्यक्ष प्राण से युक्त होकर हृदय में प्रकट भगवान में लीन हो जाता है, ऐसा, पुष्टिमार्ग (भक्तिमार्ग) के आश्रय ..

से ही होता है। प्रभु को वशीकरण करने में समर्थ स्नेह तो प्रभु के लिए किए गए सांसारिक वस्तुओं के त्याग और भजन से ही होता है। जब भक्तियोग की सिद्धि हो जाती है तो स्नेह आदि तो निश्चित ही हो जाते हैं। मर्यादा मार्ग में जो लग जाते हैं, उनकी साधना का लक्ष्य मुक्ति ही होता है, वे मुक्ति के लिए ही प्रयास करते हैं इसलिए उनमें उत्कट स्नेह नहीं हो पाता अतः उनके समक्ष प्रभुप्राकट्य भी नहीं होता। वाणी से लेकर प्राण पर्यन्त समस्त संघातों के लय हो जाने से शुद्ध जीव की जो भगवत्कृपा से श्रवणादि रूप और स्नेह रूपाभक्ति होती है उससे स्वतः मुक्ति संपन्न हो जाती है मर्यादा मार्गीय और पुष्टिमार्गीय मुक्ति में बड़ा अन्तर है, यही बात इस सूत्र से बतलाई गई है। उपगम का वर्णन मुण्डकोपनिषद् में स्पष्टतः आता है—"यह आत्मा प्रवचन से" ऐसा उपक्रम करते हुए" जिसे वह प्रभु वरण करता है उसे अपना स्वरूप दिखला देता है "यह आत्मा बलहीन से लभ्य नहीं है, न प्रमाद या तप से ही लभ्य है, इन उपायों से जो विद्वान् प्रयास करते हैं उनका आत्मा ब्रह्मतेज में प्रविष्ट हो जाता है।"

२ अधिकरण :—

भूतेषु तच्छ्रुतेः ।४।२।५।।

ननु मर्यादामार्गीयाणामप्येवमेव वागादिलय ? उतान्यथेति संशये निर्णय-माह—तच्छ्रुतेः "यत्रास्य पुरुषस्य मृतस्याग्नि वागप्येति वातं प्राणश्चक्षुरादित्यं मनश्चन्द्रं दिशः श्रोत्रं पृथिवीं शरीरमाकाशमात्मौषधीर्लोमानि वनस्पतीन् केशा अप्सु लोहितं च रेतश्च निधीयत" इति श्रुतेः।

मर्यादामार्गीय के वागादि का य भी उक्त प्रकार से ही होता है, अथवा दूसरी प्रकार से होता है ? इस संशय पर निर्णय देते हैं कि—उनके संघातों का लय भूतों में होता है, पुष्टिमार्गियों की तरह भगवान में नहीं होता। इनके लय का प्रकार श्रुति में इस प्रकार दिया हुआ है—"इस मृत पुरुष की वाणी अग्नि में, प्राण वायु में, नेत्र सूर्य में, मन चन्द्रमा में, श्रोत्र दिशाओं में, शरीर पृथ्वी में, आत्मा आकाश में, लोम केश आदि, वनस्पति और औषधियों में, रक्त और वीर्य जल में लीन हो जाते हैं।"

न चाविद्वद्विषयिणीयं श्रुतिरिति वाच्यम्। "याज्ञवल्क्येति हो वाच यत्रायं पुरुषो म्रियत उदस्मात् प्राणाः क्रामन्त्याहो नेति नेति होवाच याज्ञवल्क्योऽत्रैव

समवनीयन्ते स उच्छ्रायत्याध्मायत्याध्मातोमृतः शेत" इति पूर्ववाक्यात्। न ह्यविदुषः प्राणानामनुत्क्रमः "तमुत्क्रान्तं प्राणोऽनूत्क्रामन्ति" इत्यादि श्रुतेः।

उक्त श्रुति अज्ञानी की गति का उल्लेख कर रही है ऐसा भी नहीं कह सकते, अज्ञानी की गति का वर्णन तो "याज्ञवल्क्येति होवाच" इत्यादि पूर्व वाक्य से ही हो जाता है। "उसके उत्क्रकण करने पर प्राणों का उत्क्रमण नहीं होता" इत्यादि श्रुति, अज्ञानियों के प्राणों के अनुत्क्रमण का स्पष्ट उल्लेख कर रही है।

ननु "यत्रास्यपुरुषस्य" इत्युपक्रम्य "रेतश्च निधीयत" इत्यन्ता श्रुतिरविद्वद्विषयिणीतिमन्तव्यम्। यत एतदग्रे—"क्वायं यदा पुरुषो भवति ?" इति प्रश्ने याज्ञवल्क्यार्त्तभागाभ्यां विचारितमुत्तरमुच्यते—"तौह यदूचतुः कर्म हैव तदूचतुरथ ह यत् प्रशशंसतुः कर्म हैव तत् प्रशशंसतुः पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन" इति। एतेन कर्माश्रयस्तिष्ठति इति निर्णयः सम्पद्यते। एवं सति प्राणानुत्क्रमणोक्त्या सम्पातलयोक्त्या च विद्वद्विषयत्वमत्रावसीयते यतस्तस्यैवोक्तं द्वयं संभवति। अग्रिम श्रुत्युक्तकर्माश्रयत्वं च तस्मिन् विरुद्ध मतः पूर्वोत्तरविरोधाद्विषयानिश्चये प्राप्ते प्रतिवदामः। मर्यादामार्गीय विद्वद्विविषयिण्येवेयं श्रुतिरिति। अतएव प्रश्ने "क्व तदा पुरुषो भवति ?" इत्येतावतैव चारितार्थ्येऽपि साधारणपुरुषव्यावृत्त्या मर्यादामार्गीय तत्प्राकम् अयमितिपदम्। तस्यैवोपक्रान्तत्वात् तथा तदग्रिम विचारितोऽर्थोऽपि तद्विषयकएवेति बुद्ध्यस्व। ननूक्तं बाधकमिति चेत्, हन्त श्रुतिशिरः समाकलितमाकलय। मर्यादामार्गेहि विधिप्राधान्यात्तथैव तन्निर्माणात्। तत्र ह्येवं कृत एवं फलं दास्ये, न त्वकृतेऽपीति भगवदिच्छा, अतः कर्मप्रधानम्। एवं सत्यार्त्तभागस्यायमाशयः वागादिरेतोऽन्तलयेन प्रारब्धस्यापि तदा नाशाच्छुद्धं जीवं विध्यविषयं कदाचित् पुष्टौ प्रवेशयति, न वेति संशयेन तदापि किं मर्यादामार्ग एवोत् पुष्टावपि प्रवेशितो भवति इति प्रश्नः। तदाऽस्यार्थस्येश्वरेच्छा रीतिमविदुषो दुर्ज्ञेयत्वं जानन्ती स्वयमेव यदवधारितवती तदपि रहस्यमिति स्फुटमनुक्त्वाश्रुतिः पर्यवसितमर्थमुक्तवती, तौहेत्यादिना। अत्र कर्मपदं मर्यादामार्गपरम्। तथा च मर्यादामार्ग एव तस्य स्थितिरित्यर्थः संपद्यते, मुक्त एव भवतीति यावत्। अतएव तत् प्रशंसापि। यत् ईश्वरत्वेन सर्वकरणसमर्थोऽपि तद्दाने तदपेक्षते। अत्र हेतुत्वेन मर्यादामार्गस्वरूपमुक्तम् "पुण्यो वा" इत्यादिना।

(वाद) "अस्यपुरुषस्य" से लेकर "रेतश्च निधीयत" पर्यन्त पूरी श्रुति को अज्ञानी से ही संबद्ध मानना चाहिए क्योंकि इस श्रुति के आगे "क्वायंतदापुरुषो

भवति ?" ऐसा प्रश्न करने पर याज्ञवल्क्य ने पापपुण्य के विभागानुसार उत्तर दिया कि—"पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा, भवति पापः पापेन" इत्यादि, इससे निर्णय होता है कि—पूर्वोक्त श्रुति का प्रतिपाद्य पुरुष कर्माश्रित रहता है। प्राण के अनुत्क्रमण बतलाने वाली उक्ति तथा सम्पातलय की उक्ति से तो विद्वद्विषयता निश्चित होती है, दोनों उक्तियां विद्वान् से ही संबद्ध हो सकती है। किन्तु अग्रिम जिस श्रुति सों कर्माश्रयता निश्चित होती है, उससे विरुद्ध धारणा बनती है, पूर्वोत्तर की विरुद्धता से विषय का निर्द्धारण नहीं हो पाता। इस पर हम प्रतिवाद करते हैं कि उक्त श्रुति मर्यादामार्गीय ज्ञानी से ही संबद्ध है। उक्त प्रश्नोत्तर में "क्व तदा पुरुषो" ऐसा प्रश्न करने से ही काम चल सकता था किन्तु प्रश्न असाधारण मर्यादामार्गीय पुरुष के संबंध में करना था इसलिए "क्वायं" ऐसा विशेष पद प्रयोग किया गया। इसी प्रकार अग्रिम विचार को भी तद् विषयक ही मानें। यदि कहै कि—उक्त बाधा तो है ही, तो कृपया वेदांतवाक्यों का समाकलन करके विचार करें आपकी भ्रान्ति दूर हो जाएगी। देखिये मर्यादा मार्ग में विधि की प्रधानता होती है, उसका उसी प्रकार का नियम है, उस मार्ग में तो निश्चित है कि, ऐसा करोगे तो ऐसा फल पाओगे, बिना कुछ किए ही भगवदिच्छा भी इस मार्ग में सम्भव नहीं है, यह तो कर्म प्रधान मार्ग है। आर्त्त भाग का आशय है कि—वाणी से लेकर रेत आदि के लय का तात्पर्य है कि उसका प्रारब्ध भी नष्ट हो जाता है वह शुद्ध जीव विधि का अविषय हो जाता है अर्थात् उसके लिए कोई विधि शेष नहीं रह जाती अतः वह कभी पुष्टि में प्रविष्ट होता है या नहीं, उतने पर भी क्या वह मर्यादा मार्गी ही रहता है या पुष्टि में भी प्रविष्ट होता है, ऐसा प्रश्न होने पर यह बात तो ईश्वरेच्छा पर ही निर्भर है, इसको दुर्ज्ञेय मानकर श्रुति स्वयं भी जो कुछ निर्धारित करती है वह भी रहस्य है, स्पष्ट न कह कर परिणाम का ही "तौ ह" इत्यादि से उल्लेख करती है। इस प्रसंग में कर्म पद मर्यादा मार्ग का सूचक है। मर्यादा मार्ग में ही उसकी स्थिति है, उससे ही मुक्ति भी होती है। इसीलिए उसकी प्रशंसा भी की गई है। ईश्वर सर्वकरण समर्थ है फिर भी मुक्ति देने में कर्म की अपेक्षा उस मार्ग में बतलाई गई है। "पुण्यो वा॰" इत्यादि में मर्यादा मार्ग का ही उल्लेख किया गया है।

ननु मर्यादामार्गीयो, भक्तो ज्ञानी च भवतः। उक्त निर्णयस्तु ज्ञानमार्गीय विषय एव। भक्तं तु तादृशयपि कदाचित् पुष्टावपि प्रवेशयति इत्याशंक्य तन्निर्णयमाह—

मर्यादामार्गीय दो प्रकार के होते हैं, भक्त और ज्ञानी, उक्त निर्णय तो ज्ञानमार्गीय के लिए ही है। मर्यादी भक्त कभी पुष्टि में भी प्रवेश करते हैं, ऐसी शंका का निर्णय करते हैं।

नैकस्मिन् दर्शयतो हि ।४।२।६।।

एकास्मिन् ज्ञानिनि भक्ते वा मर्यादा नियमो न, किन्तूभयोरपि। तत्र हेतुः, दर्शयत इति। यतो याज्ञयल्क्यार्त्तभागौ ज्ञानी भक्त साधारण्येन मर्यादानियमं दर्शयत उक्तरीत्या, तौ हेत्यादिना। अन्यथा अप्राकृताङ्गीकृतिरन्यथा भवेदित्युपपत्तिर्हिशब्देन सूच्यते पूर्वोक्त पूर्वोत्तरश्रुतिविरोधपरिहारान्यथाऽनुपपत्तिरत्र मूलमिति ज्ञेयम्।

केवल ज्ञानी या भक्त में मर्यादा का नियम नहीं है अपितु दोनों में हो है। याज्ञवल्क्य ने आर्त्तभाग में सामान्यतः ज्ञानी और भक्त दोनों के मर्यादा का नियम "तौ ह" इत्यादि से बतलाया है। यदि मर्यादी जीव की वाणी आदि का लय, भगवान में मानते हैं तो जो अप्राकृत जीवों को स्वीयत्वरूप से वरण की बात कही गई है उसका कोई महत्त्व नहीं रह जाता। वरण श्रुति की विशेषता सूत्रकार हि शब्द से सूचित करते हैं। पूर्वोक्त पूर्वोत्तर श्रुति के विरोध का परिहार अन्यथानुपपत्ति से ही जानना चाहिए।

केचित्तु अपसंहृतेषु वागादिषु शरीरान्तरप्रेप्सासामयिको जीवः, "क्वायं तदा पुरुष" इति प्रश्न विषय इति वदन्ति, तन्न साधीयः "तमुत्क्रान्तं प्राणोनूत्क्रामति, प्राणमनूत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ति" इति श्रुतिर्भाविदेहान्तरजीवस्य प्राणानामिन्द्रियाणां च सहैवोत्क्रमणं वदति इति वागादिलयस्य तत्रासंभवान्नोक्तस्य प्रश्न विषयत्वं वक्तुं शक्यम्। पूर्ववाक्येऽत्रैव समवलीयन्त इत्युक्तत्वाच्चातोऽस्मदुक्त एव मार्गोऽनुसर्त्तव्यः। एतेन नायं परविद्यावान् यतः, अमृतत्वमेव तत्फलमिति। तच्चदेशान्तरानायत्तमित्युत्क्रमणापेक्षा कर्माश्रयत्वं च न स्यात् किन्त्वपरविद्यावान्। तस्यास्तु ब्रह्मलोकावधि फलमिति कर्माश्रयत्वोत्क्रमणादिकं सम्भवतीत्यपि निरस्तं वेदितव्यम्।

कोई महानुभाव, उपसंहृत वागादि के प्रसंग को, शरीरान्तर में जाने वाले जीव के लिए किए गए "क्वायंतदापुरुष" इत्यादि प्रश्न से संबद्ध मानते हैं, उनका मत नितान्त असंगत है "उसके उत्क्रमण करने पर प्राण अनुत्क्रमण करता है, प्राण के अनुत्क्रमण करने पर सारे ही प्राण अनुत्क्रमण करते हैं" ये श्रुति,

देहान्तर में जाने वाले जीव के प्राण और इन्द्रियों के साथ जाने की बात कहती है अतः वाग आदि के लय की बात वहाँ लागू नहीं हो सकती, अतः उक्त प्रसंग "क्वायं" इत्यादि प्रश्न से संबद्ध नहीं है। पूर्ववाक्य में "अत्रैव समवलीयन्त" ऐसा स्पष्ट कहा गया है, इसलिए हमने जो मत स्थिर किया है, उसी का अनुसरण करना चाहिए। इस प्रसंग को परविद्यावान से संबद्ध भी नही मानना चाहिए, क्योंकि—उसका फल तो अमृतत्व प्राप्ति है। उत्क्रमण श्रुति, शरीरान्तर भावी जीव की निश्चयात्मिका है अतः उसमें उत्क्रमण की बात अपेक्षित है, उसमें कर्माश्रयता की बात नहो है अपितु अपरविद्यावान का प्रसंग है। उसका फल ब्रह्मलोक प्राप्ति तक है, इसलिए कर्माश्रयत्व और उत्क्रमणआदि संभव है, ये मत भी, इसी विचार के आधार पर निरस्त हो जाता है।

३ अधिकरण :—

समानाचासृत्युपक्रमादमृतत्वं चानुपोष्य ।४।२।७।।

मर्यादापुष्टयोर्न कदाचिदन्यथाभाव इति यदुक्तं तत्र हेत्वपेक्षायां वस्तुस्वरूपमेव तथेति बोधयितुमाह—समानेत्यादि। अत्रायमाशयः, साधनक्रमेण मोचनेच्छा हि मर्यादामार्गीया मर्यादा। विहित साधनं विनैव मोचनेच्छा पुष्टिमार्गमर्यादा। तथा सति सदैकरूपत्वं तयोर्युक्तमिति। एतदेवाह—सृतिः संसृतिः, जीवानां स्वस्मात् पृथक्कृतानाम् अविद्यया अहन्ताममतास्पदीकरणम्। तदुपक्रम आरम्भस्तं मर्यादीकृत्य मुक्तिपर्यन्तमुक्तरूपा मर्यादा समाना सदैकरूपा मध्ये नान्यथा भवतीत्यर्थः। एवमेवानुपोष्य, व्रतमकृत्वा अमृतत्वमपि पुष्टिमार्गे समान मित्यर्थः। अत्रोपोषणपदमशेषमुक्तिसाधनोपलक्षकम्।

जो यह कहा गया कि—मर्यादा और पुष्टि में कोई अन्यथा भाव नहीं है, उसमें कारण दिखलाने के लिए वस्तुस्वरूप का निरूपण करते हुए, यह सूत्र प्रस्तुत करते है। इसमें आशय यह है कि—क्रमशः साधन करते हुए मुक्त होने की इच्छा मर्यादामार्गीय मर्यादा है, तथा विहित साधनों के बिना ही मुक्त होने की इच्छा पुष्टि मार्ग की मर्यादा है इन दोनों में ये बात सदा एक सी रहती हैं, उसमे रंचमात्र भी अन्तर नहीं आता। यही बात सूत्रकार कहते है कि—जो सृष्टि, जीवों के वास्तविक स्वरूप से नितान्त भिन्न है, उसी सृष्टि में, अज्ञानवश, मै और मेरे का भाव आ जाता है, इस अहंता और ममता से छूटने के लिए ही दोनों मार्ग मुक्तिपर्यन्त उक्त मर्यादाओं का पालन करते हैं, उनमें कभी भी अन्तर नहीं आता सदा एकरूपता रहती है। इसी प्रकार बिना व्रत के

अमृतत्व भी पुष्टिमार्ग में, समान ही है, अर्थात् व्रत पालन द्वारा जिस अमृतत्व को मर्यादी प्राप्त करते हैं उसे ही पुष्टिमार्गी बिना व्रत के ही प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार दोनों मार्गों का उद्देश्य और लक्ष्य तो एक ही है, केवल मार्ग में भिन्नता है।

एवं प्रासंगिकमुक्त्वा प्रकृतं परामृश्यते। सोऽध्यक्ष इति सूत्रेण पुष्टिमार्गीय-भक्त संघातस्य भगवत्येवलय इत्युक्तम्। अग्रिमेण तेन मर्यादामार्गीयभक्तसंघातस्य भूतेषुलयमुक्त्वा प्रश्नानन्तरं शुद्ध जीवस्य तस्य मुक्तिरेव भवतीति वक्तव्ये सति, "आहर सौम्यहस्तम्" इत्यादिना स्वाशयमन्येष्वप्रकटयन्तौ कर्म यन्निरूपितवन्तौ तत्कुत इत्याशंक्य तयोराशयं निगूढं प्रकटयति।

प्रसंगतः दोनों मार्गों के उद्देश्य की एकता का निरूपण करके अब पुनः प्रसंग पर विचार करते हैं। "सोऽध्यक्ष" सूत्र से पुष्टिमार्गीय भक्त के वागादि संघातों को भगवान में लय बतलाया गया और उसके बाद के सूत्र से मर्यादा-मार्गीय भक्त के संघातों का भूतों में लय बतलाकर, प्रश्न के बाद शुद्ध जीव की मुक्ति ही होती है, इस वक्तव्य में "आहर सौम्य हस्तम्" इत्यादि से अपने आशय को अन्यों के समक्ष प्रकट न करके जिस कर्म का निरूपण किया गया है, उसका क्या आशय है, इस संशय पर उन दोनों के आशय को निगूढ़ भाव से प्रकट करते हैं—

तदापीतेः संसारव्यपदेशात् ।४।२।८।।

तद्दा नित्यलीलान्तः पातलक्षण पुष्टिमार्गीय मुक्तिदशायां मर्यादामार्गीय या अपीतेमुक्तेः संसारत्वाभावेऽपि पुरुषोत्तमभजनानन्दानुभवाभावात् संसार इत्येव पुष्टिमार्गे व्यवदेशो यतः क्रियते अतस्तदभिसंधाय तयारीत्या निरूपणम्। अतएव श्री भागवते श्री शिववचनं गीयते—"नारायणपराः सर्वे न कुतश्चन विभ्यति, स्वर्गापवर्गनरकेष्वपि तुल्यार्थदर्शिनः।" इति श्री भगवद्गीताष्वपि "देवान् देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि" इति वाक्येन। मर्यादामार्गीय-भक्तमुक्तेरितरसाधारण्यमुच्यते।

यद्यपि मर्यादामार्गीय मुक्ति में संसार का अभाव रहता है फिर भी वह पुरुषोत्तम भजनानंदानुभव के न होने से संसार से भयभीत रहता है, जब कि—पुष्टिमार्गीय भक्त, मुक्तावस्था में भगवल्लीला में नित्य आनंद की अनुभूति करता हुआ उन भीतिकाओं से सर्वथा मुक्त रहता है जैसा कि—श्री भागवत में

रुद्र गीत में आता है—"जो नारायण परायण हैं वे किसी से भयभीत नहीं होते, वे स्वर्ग अपवर्ग और नर्क सभी समान मानते हैं।" भगवद्गीता में भी जैसे—"देवताओं के उपासक देवताओं को प्राप्त करते हैं, मेरे भक्त मुझे प्राप्त करते हैं।" मुक्ति की दृष्टि से मर्यादामार्गीय भक्त को पुष्ट भक्त की अपेक्षा साधारण कहा गया है।

ननु संसारवन्मुक्तेरपिहेयत्वं यत्र तादृशं चेत् पुष्टिमार्गीयतत्त्वं तदा मुक्तेः पुरुषार्थत्व बोधिकायाः श्रुतेः प्रतारकत्वमापततीति तद्बोधक प्रमाणानां तत्स्तुतिमात्रपरत्वमेवेति प्राप्त आह—

यदि संसार की तरह मुक्ति में भी हीनता है तो पुष्टिमार्गीय तत्व भी तो मुक्ति परक है, उससे संबद्ध पुरुषार्थ बोधिका श्रुति तो छलना मात्र ही है और उसके बोधक प्रमाण भी उसकी स्तुतिमात्र परक हैं, इस पर कहते हैं—

सूक्ष्मं प्रमाणतश्च तथोपलब्धेः ।४।२।९।।

पुष्टिमार्गीयं तत्त्वं सूक्ष्मं दुर्ज्ञेयमिति। अत्रायमाशयः पुष्टिमर्यादामप्यतिक्रम्य पुष्टिपुष्टौ प्रवेशे तत्तत्वमनुभवविषयो भवति नान्यथा। तत्र प्रवेशस्त्वतिदुरापोऽतिशयिताऽनुग्रहेतराऽसाध्यत्वादत उक्तेतराऽज्ञेयमेव तद्भवति। तेषां तु मुक्तिरेवफलम्। तस्या एवेष्टत्वाद् रागिणां स्वर्गादिवत्। इष्टफलाप्राप्तौ हि प्रतारकत्वमन्यथा प्रवृत्तिमार्गीयफल बोधिकाया अपि श्रुतेः प्रतारकत्वं स्यात्। इच्छा चाधिकारानुसारिणीति नानुपपन्नं किंचिदिति।

पुष्टिमार्गीय तत्व सूक्ष्म और दुर्ज्ञेय है, पुष्टि मर्यादा का भी अतिक्रमण करके जब भक्त पुष्टिपुष्ट हो जाता है तब वह तत्त्व अनुभव का विषय होता है, ऐसे नहीं होता। पुष्टिपुष्ट होना अति कठिन है, वह भगवान की अत्यन्त कृपा के बिना संभव नहीं है अतः उसकी जानकारी भी बिना भगवत्कृपा के किसी अन्य साधन से साध्य नहीं है। इस मार्ग का फल मुक्ति ही है, वह मुक्ति भी रागियों को प्राप्त होने वाले स्वर्गादि फलों की तरह ही है। यदि इस मोक्ष को छलना मात्र मानेंगे तो प्रवृत्तिमार्गी रागी जीवों की मुक्ति बोधिका श्रुति भी छलना ही सिद्ध होगी। भगवदिच्छा, जीवों के अधिकार के अनुसार ही होती है, इसलिए, कुछ भी असंभव या छलना नहीं है।

नन्वेवं विधार्थाऽस्तित्वे किं मानमित्याकांक्षायामाह—प्रमाणत इत्यादि। प्रमाणं श्रुतिः, सातु, "यतोवाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह, आनन्दं ब्रह्मणो

विद्वान् न विभेति कुतश्चन" इति "एतं ह वा व न तपति, किमहं साधु नाकरवं किमहं पापमकरवम्" इति ।

अत्र पूर्वार्द्धेन दुर्ज्ञेयत्वं, उत्तरार्द्धेन तत्सत्ता च बोध्यते । अन्यथा मनसोऽप्राप्य-स्यवेदनकथनं विरुद्धं स्यादतो दुर्ज्ञेयत्वेनैव धर्मिग्राहकमान सिद्धं तदित्यर्थः । चकारात्तादृशानामनुभवः परिगृह्यते ।

उक्त प्रकार की मुक्ति का क्या प्रमाण है ऐसा आकांक्षा की पूर्ति के लिए सूत्रकार प्रमाणतः आदि सूत्रांश प्रस्तुत करते हैं, कहते हैं कि—श्रुति प्रमाणों से निश्चित होता है । "मन सहित वाणी, जिसे न पाकर लौट आते हैं, आनंद ब्रह्म को जानने वाला किसी से नहीं डरता" तथा "एतं ह वा व तपति" इन श्रुतियों में से प्रथम तो दुर्ज्ञेयता और बाद में उसकी सत्ता का उल्लेख किया गया है । मन से अप्राप्य वस्तु का वर्णन करना विरुद्ध बात है, उसको दुर्ज्ञेयता ही उसकी जानकारी का चिह्न है । भक्त जनों का अनुभव भी उक्त रहस्य की जानकारी देता है ।

तर्हि ब्रह्मविदामिव तादृशानां भक्तानामपि स्वमार्गोपदेशनं क्वचिच्छ्रूयते, न चैवम्, अतः पूर्वोक्तं न साधीय इति भातीत्युत् सूत्रमाशंक्य तत्र हेतुमाह—

यदि भक्तों के अनुभव की बात है तो, ब्रह्मविदों के अनुभव की बात जैसे श्रुति में आती है वैसे ही भक्तों की भी होनी चाहिए, सो तो मिलती नहीं, दुर्ज्ञेयता वाली बात समझ में नहीं आती, इत्यादि शंका का समाधान करते हैं—

नोपमर्देनाऽतः ।४।२।१०।।

उपदेशनं तदास्यात् यदि ब्रह्मविदामिव तेषां स्वास्थ्यं स्याद यतस्तेषां विरहदशा प्रियसंगमदशा चेति दशाद्वयमेव भवति नान्यां । पूर्वस्यास्तस्यास्त्व-तिदुःसहत्वेन सर्वेषां भावानां उपमर्द्देन तिरोधानेनोपदेशो न भवति इत्यर्थः । संगमे तु, अतः पुरः प्रकटपरमानन्द स्वरूपाद् भगवत एव हेतोरुपदेशोऽन्यस्मै न भवतीत्यर्थः । न हि भगवदग्रे स सम्भवतीतिभावः ।

भक्त तो अपने अनुभव का उपदेश तभी दे सकते हैं जब कि वे ब्रह्मवेत्ताओं की तरह अपने आपे में रह सकें, वे तो सदा विरहीदशा में या प्रिय संगम दशा, इन दो में ही रहते हैं, इसके अतिरिक्त उनकी कोई तीसरी दशा नहीं

रहती विरही की दशा में तो अत्यन्त असह्य दुःख होने से समस्त भाव समाप्त हो जाते हैं अतः उपदेश देना कठिन होता है तथा संगम की दशा में प्रकट भगवत् स्वरूप के आनंद में निमग्न होने से किसी भी प्रकार का उपदेश नहीं हो पाता, भगवान के समक्ष कुछ भी कहना संभव नहीं होता ।

ननु "रसो वै सः रसंह्येवायं लब्ध्वाऽनन्दी भवति" इत्युपक्रम्य "एषह्येवानन्दयति" इति श्रुतेरुक्तरूपानन्द प्राप्तौ दुःसहविरह तापोऽशक्यवचनः । आनन्द तिरोधान एव तत्संभवात् । तद् हेतोरसंभवात्, संभवे तु तत्प्राप्तिरेव न स्यादिति प्राप्ते, उत्तरं पठति—

"वह रस स्वरूप है, उस रस की अनुभूति कर जीव आनन्द प्राप्त करता है" ऐसा उपक्रम करके "इसी से आनन्द प्राप्त करता है" इत्यादि श्रुति तो आनन्द प्राप्ति में दुःसह विरहताप की अशक्यता बतलाती है । आनन्द के तिरोहित होने पर ही विरह ताप हो सकता है, सो तो बतलाया नहीं गया, यदि वैसा हो भी तो, उस आनन्द ब्रह्म की प्राप्ति संभव नहीं है, इस संशय का उत्तर देते हैं—

अस्यैव चोपपत्तेरूष्मा ।४।२।११।।

आनन्दात्मक रसात्मकस्यास्यैव भगवत एव धर्म ऊष्मा विरहताप इत्यर्थः । विरोध परिहारायाह—उपपत्तेरिति । इदमुक्तं भवति—भगवद् बिरहस्य सर्वसाधारणत्वेऽपि स्थायिभावात्मकरसरूप भगवत्प्रादुर्भावो यस्य हृदि भवति, तस्यैव तदप्राप्तिजस्तापस्तदनन्तरं नियमस्तत्प्राप्तिश्च भवति, न त्वतथाभूतस्येत्यन्वयव्यतिरेकाभ्यामुत्तरसस्यैवैष धर्म इति निश्चीयते । तस्य वस्तुन एव तथात्वात् स तापोऽपि रसात्मक एव ।

आनन्दात्मक रसात्मक भगवान का ही धर्म ऊष्मा अर्थात् विरहताप भी है । भगवद् विरह, सामान्य विरह की तरह ही होता है फिर भी जिसके हृदय में, स्थायिभावात्मक रसरूप भगवान का प्रादुर्भाव हो जाता है, उसी हृदय में उस प्रभु के तिरोहित होने का ताप भी उसके बाद होना स्वाभाविक ही है, किसी अन्य वस्तु के तिरोधान जन्यताप तो होता नहीं, जो वस्तु प्रकट थी उसकी ही अप्राप्ति होती है अतः ताप भी उक्त रस का ही धर्म निश्चित होता है, वह वस्तु ही उस रूप में हो जाती है अतः वह ताप भी रसात्मक ही है [अर्थात् श्रृंगार रस की तरह संयोग और विरह, भक्तिरस के भी दो पहलू हैं]

प्रतिषेधादिति चेन्न शारीरात् ।४।२।१२ ॥

ननु "न पश्यो मृत्युं पश्यति न रोगं नोतदुःखम्" इत्यादि श्रुत्या दुःख-प्रतिषेधस्तादृशे भक्ते क्रियत इति तस्य दुःखित्वं न वक्तुं शक्यमित्याशंक्य प्रतिषेधति, नेति, कुतः ? शारीरात्, शरीरसंबंधिनो हेतोर्यद् दुःखं कर्मजनितमिति यावत् तस्यैव श्रुतौ प्रतिषेधानात्रानुपपत्तिरित्यर्थः। एतेन दुःखत्वेन कर्मजन्य-त्वानुमानमपि निरस्तं वेदितव्यम्। लौकिक एव दुःखे तज्जन्यत्व नियमात्।

"वह न मृत्यु देखता है, न रोग न दुःख" इत्यादि श्रुति से तो भक्तों के लिए दुःख का प्रतिषेध किया गया है, अतः भक्त के लिए दुःख प्राप्ति की बात नहीं कह सकते, इस संशय का प्रतिषेध करते हुए सूत्रकार कहते हैं कि—उक्त दुःख सम्बन्धी चर्चा शरीर के सम्बन्ध में है, जो दुःख कर्म जन्य होते हैं, उन्हीं का प्रतिषेध श्रुति में किया गया है। इसी से कर्म जन्य होने की बात का भी प्रतिषेध हो जाता है। लौकिक दुःख में ही उसके होने की बात कही जाती है (अलौकिक दुःख होता नही है, वह तो सुख का ही नामान्तर है)।

स्पष्टो ह्येकेषाम् ।४।२।१३॥

एकेषां शाखिनां भगवत्स्वरूपलाभानन्तरं दुःखतन्निवर्त्तनलक्षणोऽर्थः स्पष्टः पठ्यते—तथाहि—"रसो वै सः रसं ह्येवाऽयंलब्ध्वाऽनंदी भवति, को ह्येवा-न्यात् कः प्राण्यात् यदेष आकाश आनंदो न स्यात्, एष ह्येवानन्दयाति।" अत्र रसात्मकभगवत्स्वरूपलाभे सत्यानंदवत्त्वमुक्त्वा तस्यैव जीवन हेतुत्वं परमानन्द हेतुत्वं चोच्यते। मरणहेतूपस्थित्यभावे जीवन हेतुत्वं न वदेत्। स रसस्तुसंयोग-विप्रयोगभावाभ्यामेव पूर्णोभवत्यनुभूतो नैकतरेण। तत्र विरहतापस्यात्युपमर्दहेतुत्वेन तदा प्राणास्थितिरपि न स्याद् यदि रसात्मको भगवान् हृदि न स्यादित्याशयेनाह, "को ह्येवान्यात्" इति। यद् यदि एष हृदि स्फुरद्रूप आकाशो भगवान्न स्यात् कस्तदान्यात्, अन प्राणने को वा जीवयेन्न कोऽपि इत्यर्थः। तादृशस्य भगवत्स्व-रूपातिरिक्तान्न जीवनमिति ज्ञापनाय सामान्यपदम्। ब्रह्मानन्दाधिकपूर्णानन्द-विरहासन्नमरणनिवारणासामर्थ्यमतादृशस्योचितमेवेति ज्ञापनाय हिशब्दः। तादृ-शस्य जीवन संपादनं प्रभोरावश्यकमिति ज्ञापनाय एवकारः। तापात्मकस्या-प्यानन्दात्मकत्वमेवेति ज्ञापनायानंदपदम्। तदा प्रलापगुणगानादयो ये भवन्तितेऽपि तद् धर्मा एव, नीलाम्बुदश्यामोऽतिक्लेशवशाद् हृदयादपगच्छत्विति भावेऽपि हृदयान्नापसारयितुं शक्य इति ज्ञापनाय चाकाशत्वमुक्तम्। तदनन्तरं प्रकटीभूय

तदन्यः को वा प्रकर्षेण दर्शनस्पर्शाश्लेषभाषणादिभिः स्वरूपानन्ददाने नान्यात् पूर्वतापनिवृत्ति पूर्वकमानन्दपूर्णं कुर्यादित्यर्थः । रसं ह्येवायंलब्ध्वाऽनंदीभवतीति पूर्ववाक्येनैवान्यव्यवच्छेदपूर्वकं भगवत्प्राप्तेरानन्दहेतुत्वप्राप्तावपि यत्पुनराह तत्रापि व्यतिरेक मुखेन, तत्रापि जीवनहेतुत्वं तदपि सामान्यविशेषाभ्यां वारद्वयं तेन विरह सामयिकोक्तरूप एवार्थः श्रुतेरभिप्रेत इतिनिश्चीयते । अन्यथा मरणहेत्वनुपस्थितौ जीवनहेतुत्वं न वदेत् इत्युक्तम् । तदवस्थापन्नः को वा पुरुषो जीवेदिति वार्थः ।

तैत्तरीय—उपनिषद् की एक शाखा में, भगवत्स्वरूपलाभ के बाद दुःख निवृत्ति का सुस्पष्ट उल्लेख मिलता है—"वह रस स्वरूप है उसको पाकर भक्त आनंदित हो जाता है, यदि आनंद स्वरूप आकाश की तरह व्यापक परमात्मा न होता तो, कौन जीवित रह सकता और कौन प्राणों की क्रिया कर सकता, निःसंदेह यह परमात्मा ही सबको आनंद प्रदान करता है" इसमें रसात्मक भगवत्स्वरूप की प्राप्ति होने पर आनंद की प्राप्ति बतलाकर उसे ही जीवन और परमानन्द का हेतु बतलाया गया है । मरण हेतु की उपस्थिति के अभाव में, जीवन हेतुत्व की बात नहीं कह सकते भगवत् स्वरूप रस संयोग और विप्रलम्भ दोनों भावों से ही पूर्ण होता है एक से उसकी अनुभूति नहीं होती । विरह के ताप से अत्यंत पीड़ित जीव की प्राणास्थिति भी संभव नहीं थी यदि रसात्मक भगवान हृदय में न होते, इसी आशय "को ह्येवान्यात्" से दिखलाया गया है । यदि यह हृदय में स्फुरित आकाश स्वरूप भगवान न होते तो दूसरा जिलाने में कौन समर्थ का अर्थात् कोई भी नहीं था । उस प्रकार के भगवत्स्वरूप के अतिरिक्त जीवन कोई दूसरी वस्तु नहीं है, यह बतलाने के लिए ही सामान्य पद का प्रयोग किया गया है । ब्रह्मानन्द से अधिक पूर्णानन्द के विरह से मरणासन्न स्थिति का निवारण का सामर्थ्य उसके समान और किसी में नहीं है, यही भाव "हि" शब्द से दिखलाया गया है उस प्रकार का जीवन संपादन प्रभु में ही है, यह बात "एव" पद से बतलाई गई है । तापात्मक होते हुए भी वह आनंदात्मक है, यह बतलाने के लिए आनंद पद का प्रयोग किया गया है । विरहावस्था में जो प्रलाप गुणगान आदि होते हैं वे भी, उस आनंदात्मक के ही धर्म हैं, नील मेघ की तरह श्यामवर्ण वाला प्रभु बड़ी कठिनता से ही हृदय से जाता है, उसे हृदय से नहीं निकाल सकते, यह दिखलाने के लिए उस आनन्दस्वरूप को आकाश रूप बतलाया गया है । विरह के बाद प्रकट होकर दूसरा कौन है जो, दर्शन स्पर्श आश्लेष भाषण आदि से स्वरूपानन्द प्रदान कर पूर्वताप निवृत्त कर आनन्दपूर्ण कर देता है, यही उक्त वाक्य का तात्पर्य है । "रसह्येवायंलब्ध्वाऽ

नन्दी भवति" इस पूर्ववाक्य से ही अन्य किसी का निषेध करते हुए, भगवत्प्राप्ति में आनन्दहेतुता की प्राप्ति में भी अन्यथा निषेध करते हुए उसी का पुनः उल्लेख किया गया उससे भी उस रसस्वरूप की जीवन हेतुता निश्चित होती है। सामान्य विशेष रूप से दो बार उसका उल्लेख किया है जो कि उसी के विरह सामयिक रूप का द्योतक है, यही अभिप्राय श्रुति से निश्चित होता है। बिना मरण हेतु की उपस्थिति के जीवन हेतुता नहीं कह सकते थे। उस मरणासन्न अवस्था में पड़े हुए जीव को कौन दूसरा पुरुष बचा सकता है, यही बात "वा" पद से कही गई है।

स्मर्यते च ।४।२।१४।।

भगवद्भावस्य मरणहेतुत्वं तेनैव च जीवनं तस्य ब्रह्मादि दुरापत्वं च श्री भागवते स्मर्यते—"तामन्मनस्कामत्प्राणा मदर्थेत्यक्तदैहिकाः ये व्यक्त लोक धर्माश्च मदर्थे तान् विभर्म्यहम् "इत्युपक्रम्य"—धारयन्त्यथकृच्छ्रेण प्रायः प्राणान् कथंचन् "इत्यादि श्री प्रभुवचनं, श्रीमदुद्धववचनं च—"एताः परं तनु-भृतो भुवि गोपवध्वो गोविन्द एव निखिलात्मनि रूढभावाः; वांच्छन्ति यं भव-भियोमुनयो वयं च किं ब्रह्म जन्मनिरनन्तकथारसस्य" इत्यादि। तेन भगवत एव जीवन हेतुत्वं भावस्य च परमपुरुषार्थत्वं दुरापत्वं च स्फुटेमवगम्यते।

भगवद्भाव की मरण हेतुता, उसी का जीवन और ब्रह्म आदि का दुरापत्व, श्री भागवत में भी कहा गया है—"उन गोपियों ने अपना मन और प्राण मुझ में ही लगा रक्खा है, मेरे लिए जो शरीर को भी छोड़े हुए है तथा जिन्होंने लौकिक धर्मों का भी मेरे लिए त्याग कर दिया है, उनका पालन मैं करता हूँ" ऐसा उपक्रम करते हुए "वे गोपियाँ किसी प्रकार बड़े कष्ट से प्राणों को धारण कर रही हैं" इत्यादि प्रभु वचन है, उद्धव भी कहते है—"समस्त जगत के आत्मा गोविन्द में ही अपने भावों को टिकाए हुए ये गोपवधूटियाँ अपने शरीरों को धारण किए हुए हैं, भवभीति से आतंकित मुनि लोग और हम इन्ही की कृपा चाहते हैं, ब्राह्मण शरीर में जन्म लेने से और अनन्त कथारस में डूबने में क्या रक्खा है ?" इन वचनों से, भगवान की जीवन हेतुता, भगवद्-भाव की परम पुरुषार्थता स्पष्ट ज्ञात होती है।

तानि परे तथाह्याह ।४।२।१५।।

ननु हृदि वहिश्च रसात्मक भगवत्प्राकट्यं तद् दर्शनजनितो विरहभावस्त-ज्जनितस्तापस्तेन मरणोपस्थितिस्तन्निवर्त्तनं तदौत्कट्यं, तदा प्राकट्यं, ततः

पूर्णस्वरूपानन्ददानादिकं लोके क्वचिदपि न दृष्टं श्रुतं वा वैकुण्ठेऽपीति कुतः ?
इत्याशंकायामाह तानि, उक्तानि वस्तूनि, परे प्रकृतिकाद्यतीते वैकुण्ठाद्यप्युत्कृष्टे श्री गोकुल एव सन्तीति शेषः। तत्रप्रमाणमाह—तथाह्याह श्रुतिः, ऋग्वेदे पठ्यते—"ता वाँ वास्तू न्युष्मसि गमध्यै यत्र गावोभूरिशृंगा अयासः" ताः तानि, वाँ=भगवत्तदन्तरंगभक्तयोः संबंधीनि, वास्तूनि=वस्तूनि गमध्यै=प्राप्तुं, उष्मसि=कामयामहे। तानि कानीत्याकांक्षायां गूढाभिसंधिमुद्‌घाटयति—यत्र= श्रीगोकुले, गावोभूरिशृंगाः=बहुशृंगारुरु प्रभृतयोमृगाश्च वसंतीतिशेषः। अयासः=शुभावहाः। तत उक्तगुणविशिष्टम् उरुगीयत इत्युरुगायस्तस्य, गोप्योहि सततं तं गायन्ति। अतएव तदादिभक्तेषु कामान् वर्षतीति वृषातस्य परमं प्रकृति कालाद्यतीतं पदं स्थानं भगवतो वैकुण्ठं भवति, तत्रैताहृशलीलाऽभावेन तस्मादपि परममुत्कृष्टम्। अत्र भूमाववभाति प्रकाशत इत्यर्थः। उरु गीयतेपरं सर्वत्र कामवर्षणं भक्तेष्वत्रैवेति तात्पर्येण वा विशेषणद्वयमुक्तम्। यमुना पुलिनतदुपवन-निकुंजगह्वरप्रदेशाद्रि सान्वाद्यात्मकत्वेन भूरि बहुरूपम्। तथाचैताहृशंयत् परम-पदमवभाति तत्संबंधीनि वास्तूनि कामयामह इति वाक्यार्थः सम्पद्यते। ते पदार्था इति वक्तव्ये सति तानीत्युक्तिर्या सा विषय वाक्यानुरोधादिति ज्ञेयम्। पुरुषोत्तम-संबंध्यर्थानां तत्प्राकट्यस्थान एव प्राकट्यं युक्तमिति हि शब्देनाह।

हृदय में और बाहर रसात्मक भगवत्प्राकट्य, के न होने पर होने वाला विरह, उससे होने वाला ताप, उससे होने वाली मरणस्थिति, उसकी निवृत्ति और विरह की उत्कटता, फिर भगवान का प्राकट्य, और फिर पूर्ण-स्वरूपानन्द आदि का दान, इत्यादि सारी बातें लोक या वैकुण्ठ कहीं भी देखी या सुनी नहीं जातीं, फिर ये सारी कल्पना आपने किस आधार पर कर ली ? इस आशंका पर सूत्र प्रस्तुत करते हैं—"तानिपरे" आदि—कहते हैं कि—उक्त बातें प्रकृति काल आदि से अतीत वैकुण्ठ से भी उत्कृष्ट गोकुल में ही होती हैं। श्रुति में ही इसका प्रमाण मिलता है—ऋग्वेद में पाठ है—"ता वाँ वास्तून्यु-ष्मसि गमध्यै यत्र गावो भूरिशृंगार अयासः" अर्थात् भगवान और उनके अंतरंग भक्तों से संबंधित वस्तुओं को पाने की कामना करते हैं। वे वस्तुएँ कौन-कौन सी हैं इस आकांक्षा पर गूढतापूर्वक वर्णन करते हैं कि—यत्र अर्थात् जिस श्री गोकुल में, गावो भूरिशृंगारः, अर्थात् गौएँ और अधिक सींगों वाले मृग आदि रहते हैं। जो कि—अयासः अर्थात् बड़े सुशोभित होते हैं उक्त विशेषताओं वाले ब्रज का गोपियां निरन्तर गान करती हैं। भक्तों की अभीप्सि कामनाओं की पूर्ति करने वाला ब्रज, उस वैकुण्ठ से भी उत्कृष्ट है जो कि—प्रकृति काल आदि

से अतीत स्थान है, वहाँ उक्त प्रकार की लीला का अभाव है। यह गोकुल, भूमि में ही प्रकाशित हो रहा है। इस भूमि में सर्वत्र भक्तों की कामनाओं की पूर्त्ति होती है—इस तात्पर्य से दो विशेषण दिए गए हैं। यमुना पुलिन, उपवन, निकुंज, गोवर्द्धन की कन्दरा शिखर आदि अनेक रमणीकस्थान भक्तों को आह्लादित करते हैं। इस प्रकार के परमपद इस गोकुल में सुशोभित होते हैं, उनसे संबद्ध वस्तुएँ कामनाओं की पूर्त्ति करती हैं। पुरुषोत्तम का यही प्राकट्य स्थान है अतः यहाँ की समस्त वस्तुएँ उनसे संबद्ध हैं, हि शब्द से सूत्रकार यही बतलाते हैं।

४. अधिकरण : —

अविभागोवचनात् ।४।२।१६।।

ननु लीलया नित्यत्वेन तन्मध्यपातिनां तद्दर्शनं यथा नित्यं तथा तादृक्-साधनाभावोऽपि निजानुकम्पया कदाचित् कमपि भक्तं तत्र नयति चेत्तदा कंचित्कालंस्थापयित्वा ततस्तं वियोजयति न वेति संशयः। तोषस्य कादाचित्कत्वात् तत्साध्या तत्र स्थितिरपितथैवेति वियोजयतीति पूर्वः पक्षः। तत्र सिद्धान्तमाह-तत्र प्रवेशितस्य तस्मादविभाग एव, कुतः वचनात्। तैत्तरीयके उक्तमंनन्तरमेव, "विष्णोः कर्माणि पश्यते" इत्यृचातत्रकृतानि कर्माण्युक्त्वा तदग्रेवदति—"तद्विष्णोः परमं पदं सदापश्यन्तिसूरयः इति। पुरुषोत्तमस्वरूपवत्वं सूरित्वं, तच्च भक्त्यैवेति, सूरयौ भक्ता एव, तेषा सदा दर्शनमुच्यते। अन्यथा लीला नित्यत्वेन वै पूर्वगम्यां तत्र स्थितगवादीनां प्रभु कर्म विषयाणां च भक्तानां सदा तद् दर्शनस्य प्राप्तत्वादिदं न वदेत् तस्मादविभाग एव एतेनापि लीला नित्यत्वं सिद्ध्यति, एतद्यथा तथा विद्वन्मण्डने प्रपंचितम्।

संशय करते हैं कि—प्रभु की लीला तो नित्य है तथा उस लीला में उनके दर्शन भी नित्य है, क्या उस प्रकार के साधनों के अभाव में भी कभी किसी भक्त को भगवान अपनी अनुकम्पा से उस लीला में ले जाते हैं और कुछ समय तक वहाँ रोक कर उसे भी उस लीला में लगाते हैं या नहीं? इस पर पूर्वपक्ष तो ये है कि—कृपा तो कभी कभी ही होती है अतः कभी कभी भगवान उस लीला में लगाते हैं। इस पर सिद्धान्त रूप से सूत्र प्रस्तुत करते हुये कहते हैं कि—लीला में प्रविष्ट भक्त उसका अभिन्न अंग हो जाता है, लीला नित्य है वैसे ही भक्त भी नित्य उस लीला का दर्शन करता है। तैत्तरीयक में "रसो

वैस:" इत्यादि ऋचा के बाद ही "विष्णु के कर्मो को देखते हैं" इत्यादि से लीला में किये जाने वाले कर्मों को बतलाकर कहते हैं कि—"विष्णु के उस परम पद को भक्त लोग सदा देखते हैं" पुरुषोत्तम स्वरूप की जानकारी को ही सूरित्व कहते हैं, वह जानकारी भक्ति से ही होती है, अतः सूरि भक्त हैं। उन्हें सदा दर्शन होते हैं। यदि ऐसा न होता तो पूर्व की ऋचाओं से गोकुल में स्थित गौ आदि भगवद् लीला के उपकरणों और भक्तों को सदा उसके दर्शन होते हैं ऐसा न कहते, इससे निश्चित होता है कि भगवान की नित्य लीला का नित्य भक्त नित्य लीलाआनन्द लेते हैं। इसी से लीला की नित्यता सिद्ध होती है। इस सबका विश्लेषण हमने विद्वन्मण्डन में विशेष रूप से किया है।

एवं पुष्टिमार्गीय भक्त वृत्तान्तमुक्त्वा ज्ञानमार्गीयस्य तमाह—

इस प्रकार पुष्टिमार्गीय भक्तों के वृत्तान्त को बतला कर ज्ञानमार्गीय को बतलाते हैं।

५. अधिकरण :—

तदोकोग्र ज्वलनं तत्प्रकाशितद्वारो विद्यासामर्थ्यात्तच्छेषगत्यनुस्मृतियोगाच्च हार्दानुगृहीतः शताधिकया ।४।२।१७।।

पूर्व भूतेषु तच्छ्रुतेरित्यदिना मर्यादामार्गीयस्य वागादिलय उक्तोऽधुना तस्य जीवात्मनउत्क्रमण प्रकार उच्यते—"स एतास्तेजोमात्रा समभ्याददानो हृदयमेवक्रामतीति श्रुतेस्तस्यात्मन् ओक आयतनं हृदयं तदग्रंपूर्वं प्रज्वलति, पूर्वं तथाऽप्रकाशमानमपि तदा प्रकाशत इति यावत्। तदातत्प्रकाशितं द्वारं निर्गमन-मार्गो यस्य तादृश उत्क्रामति यतः श्रुतिस्तथाह—"तस्य हैतस्य हृदयस्वाग्रंप्र-द्योतते तेनैष आत्मा निष्क्रामति चक्षुषो वा मूर्ध्नोवा" इत्यादि। यद्यप्येतावत् सर्वजीव साधारणं तथापि विद्वांस्तु तेतरवदितरनाड्या निष्क्रामति किन्तु शता-धिकया एकशत् तस्या नाड्या मूर्द्धन्या निष्क्रामति "शतं चैका हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्द्धनमभिनिरसृतैका तयोर्ध्वमायन्नऽमृतत्वमेति विस्वङ्ङन्या उत्क्रमणे" इति यतः श्रुतिराह। अत्र हेतुमाह—हार्द्दानुगृहीत इति हेत्वन्तर्गम विशेषणम्। "गुहां प्रविष्टौ परमेपरार्द्धे" इति श्रुतेर्हृदयाकाश संबंधीयः परमात्मा तदनुग्रहात् तथैव भवतीत्यर्थः। अनुग्रहे हेतुर्विद्यासामर्थ्यादिति तस्या विद्यायाः शेषभूतांगभूता या गतिः प्रव्रजनरूपातच्छेषभूतैव या भगव-त्स्मृति परम्परा च ताभ्यां च यो भगवदनुग्रहस्तेन तथेत्यर्थः।

पहले "भूतेषुतच्छ्रुतेः" इत्यादि सूत्रों से मर्यादामार्गी जीवों के वाग आदि के लय का वर्नन किया गया, अब उन जीवों के उत्क्रमण प्रकार का वर्णन करते हैं। "स एतास्तेजोमात्रा" इत्यादि श्रुति से बतलाया गया है कि—आत्मा के तेज का आयतन हृदय है, सर्व प्रथम हृदय का अग्रभाग प्रज्वलित होता है जो कि—पहिले वैसा प्रकाशित नहीं रहता, उसी समय होता है। वह प्रकाशित द्वारा वही, उस जीव का निर्गमन द्वार है उसी से जीव उत्क्रमण करता है। जैसा कि श्रुति कहती है—"उसका हृदय का अग्रभाग प्रकाशित होता हैं, उसी से यह आत्मा निष्क्रमण करता है नेत्र या मूर्द्धा से जाता है" इत्यादि। यद्यपि यहाँ तक तो सर्वसाधारण जीव की स्थिति होती है किन्तु ज्ञानी की गति औरों की तरह न होकर विशेष नाडी से होती है जो कि—एक सौ अन्य नाडियों से श्रेष्ठ भिन्न मूर्द्धा की ओर निकलती है। जैसा कि आया भी है—"एक सौ एक हृदय की नाडियों में से एक मूर्द्धा की ओर जाती है, उसमें जाकर जीव अमृत्व प्राप्त करता है" इत्यादि। इस गति में "हार्द्दानुगृहीत ऐसा हेत्वन्तगर्भ विशेषण दिया है अर्थात् "गुहां प्रविष्टौ परमेपरार्द्धे" श्रुति में वर्णित हृदयकाश से सम्बन्धी जो परमात्मा है, उसके अनुग्रह से ही वैसा संभव होता है। विद्या के सामर्थ्य से ही भगवदनुग्रह होता है (दहर विद्या की उपामना से भगवदनुग्रह होता है) उस विद्या के अंगरूप अनासक्ति भाव और अहर्निश भगवत्स्मरण से ही भगवदनुग्रह होता है (अर्थात् अभ्यास और वैराग्य प्रभुकृपा के मूलभूत साधन हैं)।

रस्म्यनुसारी ।४।२।१८॥

"अथ या एता हृदयस्य नाड्यस्ताः पिंगलस्याणिम्नास्तिष्ठन्ति शुक्लस्य नीलस्य पीतस्य लोहितस्येत्यसौ वा आदित्यः पिंगल" इत्युपक्रम्याग्रे पठ्यते—"तमभित आसीना आहुर्जानासि मां जानासि मामिति। स यावदस्माच्छरीराद-नुत्क्रान्तो भवति तावज्जानात्यथ यत्रैतदस्माच्छरीरादुत्क्रामत्थैतैरेव रश्मि-रूर्ध्व आक्रामत "इति अत्र तमभित इत्याद्युक्तेः सर्वसाधारण्युत्क्रान्तिः प्राप्यते पूर्वमादित्यत्वेनोक्तस्य पिंगलस्य रश्मिभिरूर्ध्वा क्रमणं च तथा। अत्र संशयः ओकोऽग्रज्वलनादेरितरसाधारण्येऽप्यिथा का हार्द्दानुग्राहाद् विलक्षणा गतिर्विदुष उक्ता तथारश्म्यनुसारित्वमपीतर साधारणमुतस्मिन्न वेति ? तत्रावाधारणमाह, रश्म्यनुसारी निष्क्रामत्ययमेवेति !

"ये जो हृदय की नाडियाँ है वो पिंगल और सूक्ष्मतम है ये पिंगल वर्णसूर्य रश्मियों के सम्बन्ध से है, इनमें शुक्ल, नील, पीत लोहित भी है" ऐसा उपक्रम

करके आगे-"नमभित आसीना" आदि ऋचा पढ़ते हैं, इसमें "अत्र तमभित" इत्यादि से तो सर्वसाधारण की उत्क्रान्ति का उल्लेख है, पूर्व में सूर्य से सम्बद्ध पिंगल रश्मियों से उर्ध्वगमन का उल्लेख है। अब शसंय होता है कि—हृदय के अग्र प्रकाश आदि जैसे सामान्य जीवों के भी होते हैं और भगवत्कृपा से ज्ञानी की विलक्षण गति होती है वैसे ही रश्मियों के सहारे जाने वाले सामान्य जीवों से ज्ञानी का क्या कोई विलक्षण गति होती है अथवा वो भी रश्मि के सहारे ही जाते हैं ? इस पर निर्द्धारण करते हुए सूत्रकार कहते हैं कि— ज्ञानी भी रश्मियों के सहारे ही गमन करते हैं।

निशिनेतिचेन्न सम्बन्धस्य यावद्देहभावित्वाद्दर्शयति च ।४।२।१९।।

विदुष उत्क्रमणे हार्दानुग्रहकृतो यथा विशेषस्तथाकाल विशेषकृतोऽपि विशेषो भविष्यति इत्याशंक्य तन्निरासमाह—तत्रहोरात्रकृतोऽयनकृतो वा स भवेत्। तत्राद्यकृतो नास्तीत्याह, नेति, तत्र हेतुः सम्बन्धस्येत्यादि । अनुग्रह हेतुभूतो यः पूर्वोक्तो गत्यनुस्मृतिसंबंधस्तस्य यावद्देह भावित्वात् तत्कार्यस्या-नुग्रहस्यापि तथात्वात् कालस्याप्रयोजकत्वमित्यर्थः। अत्र प्रमाणमाह—दर्शयति यतः श्रुतिः—"तमेवविदित्वा मुनिर्भवत्येतमेव प्रव्राजिनो लोकमीप्सन्तः प्रव्र-जन्ति" इति ।

ज्ञानी के उत्क्रमण में जैसे भगवदनुग्रह की विशेषता है वैसे ही काल विशेष का भी नियम होगा, इस संशय का निराकरण करते हुये सूत्रकार कहते हैं कि—ज्ञानी की गति, रात्रि दिन, किसी भी समय हो जाती हैं, रात्रि में न होती हो सो बात नहीं है, उनका संबंध प्रभु से हो जाता है। अतः भग-वत्कृपा से वे हर समय बिना किसी प्रतिबन्ध के गमन करते हैं, ऐसा श्रुति का प्रमाण भी है—"उसे जानकर मुनि हो जाता है, यहाँ से जाकर वह जहाँ भी चाहता हैं उस लोक में जाता हैं" इत्यादि ।

हार्दानुग्रहस्य मुक्तिहेतोर्विद्यमानत्वादयनविशेषोऽथप्रयोजक इत्याह—

ज्ञानी की मुक्ति भगवत्कृपा पर अवलंबित है अतः उत्तरायन में ही उनकी गति हो ऐसा भी कोई नियम नहीं है·यही सूत्रकार बतलाते हैं—

अतश्चायनेऽपिदक्षिणे ।४।२।२०।।

अर्थात् दक्षिणायन में भी उनकी गति होती है।

ननु "यत्र काले त्वनावृत्तिमिति" कालप्राधान्येनोपक्रम्य "अग्नि ज्योतिरह शुक्लः षण्मासा उत्तराणम्, तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्मब्रह्माविदोजनाः" इति भगवद्वाक्याद् ब्रह्मविदोऽप्युक्तकालाऽपेक्षाअस्तीत्याशंक्य विषयभेदेन समाधत्ते—

"जिस काल में जाने से लौटना नहीं होता" ऐसा कालप्राधान्य का उपक्रम करते हुये "अग्नि, ज्योति, दिन, शुक्लपक्ष, उत्तरायण में ब्रह्मविद जाते हैं" इत्यादि भगवद वाक्य में तो ब्रह्मविद के लिए भी काल की अपेक्षा बतलाई गई है, इस आशंका का विषयभेद की दृष्टि से समाधान करते हैं—

योगिनः प्रतिस्मर्यते स्मार्त्ते चैते ।४।२।२१।।

ज्ञानमार्गाद् योगमार्गो हि भिन्नः । तथा च योगिनमुद्दिश्यैव कालविशेषस्य गतिर्विशेष हेतुत्वं स्मर्यते, न तु ज्ञानमार्गीयस्य श्रौतस्य । इतरनिरपेक्षत्वात् । न च योगसांख्ये अपि श्रौते एवेति वाच्यम् । यतः स्मार्त्ते एते । चोहेत्वर्थे । एते योगसांख्ये अग्निज्योतिधूमोरात्रिरिति वाक्यद्वयोक्तगती वा इदंतु श्रुत्युक्तदेवम्यान पितृयानातिरिक्त मार्गमभिप्रेत्य समाहितम् । ते एव चेदत्राप्युच्येते शब्दभेदेन तदा न विरोधः ।

ज्ञानमार्ग से योगमार्ग भिन्न है । योगी के लिये ही काल विशेष की गति विशेष का उक्त भगवद् वाक्य में उल्लेख है, श्रौत ज्ञानमार्ग का उल्लेख नहीं है । योग और सांख्य भी श्रौत ही है ऐसा नहीं कह सकते, ये स्मार्त्त हैं । "अग्निज्योति" इत्यादि दो वाक्यों में योग सांख्य की गति का ही उल्लेख है । श्रुति में दक्षिणायन उत्तरायण को पितृ और देवम्यान नाम से उल्लेख किया गया है, स्मृति में और श्रुति में केवल नाम का ही भेद है अतः कोई विरोध नहीं है ।

चतुर्थ अध्याय

तृतीय पाद

१ अधिकरण :—

अर्चिरादिना तत्प्रथितेः ।४।३।१।।

ननु ज्ञानमार्गीयस्येव मर्यादामार्गीय भक्तस्याप्यर्चिरादिमार्गेणैव गमनम्, उत सद्योमुक्तिरेव भवति ? इति संशयः । तत्र यथा ज्ञानिनो नियमाभावस्तथाऽत्रापीति प्राप्ते आह—अर्चिरादिमार्गेण तस्य ज्ञानमार्गीयस्यैवोत्कर्ष कथनात् स एव तेन मार्गेण गच्छति । न तु भक्तोऽपीत्यर्थः । तथाहि—पंचाग्निविद्याप्रकरणे—"तद् य इत्थं विदुर्ये चेमेऽरण्ये श्रद्धातप इत्युपासते तेऽर्चिषमभिसंभवन्ति अर्चिषोऽहरह आपूर्यमाणपक्षम्" इत्युपक्रमे भक्तातिरिक्तानेव अधिकृत्य तथा गतिरुच्यते । स्मृताप्यग्निर्ज्योतिरह इत्यत्र ब्रह्मविदोजना इति वचनेन ज्ञानमार्गीयस्यैव सपन्था इत्युच्यते ।

ज्ञानमार्गीय की तरह मर्यादामार्गीय भक्त का भी अर्चिरादिमार्ग से गमन होता है, अथवा तत्काल मुक्ति हो जाती है ? ऐसा संशय होने पर कह सकते हैं कि जैसे ज्ञानी के लिए कोई नियम नहीं है वैसे ही मर्यादामार्गीय भक्त में भी होगा । इस पर सूत्रकार सिद्धान्त प्रस्तुत करते हैं कि – अर्चिरादिमार्ग से, ज्ञानमार्गीय का ही उत्कर्ष कहा गया है, वही उस मार्ग से जाता है, भक्त भी जाता हो सो बात नहीं है । पंचाग्नि विद्या के प्रकरण में उसका उल्लेख भी है—"जो इस प्रकार जानकर श्रद्धा तप के द्वारा अरण्य में उपासना करते हैं वे अर्चिरादिमार्ग में जाते हैं" इत्यादि उपक्रम में भक्तों के अतिरिक्त जीवों की ही गति का उल्लेख है । स्मृति में भी "अग्निर्ज्योति" इत्यादि में ब्रह्मविद की गति कही गई है जो कि ज्ञानमार्गीय का ही मार्ग है ।

अथेदं चिन्त्यते सामोपनिषत्सु पठ्यते—"अथ या एता हृदयस्य नाड्यस्ताः पिंगलस्याणिम्नस्तिष्ठंति शुक्लस्य नीलस्य पीतस्य लोहितस्येत्यसौ वा आदित्यः पिंगलः" इत्युपक्रम्य आदित्य रूपस्य पिंगलस्य रश्मिरूपत्वं नाडीनां उक्त्वा अग्रे वदति—"अथ यत्रैतदस्माच्छरी रादुत्क्रामत्यथैतैरेवरश्मिभिरूर्ध्व आक्रामत" इति नाडीरश्मिसंबंधेनैका परलोकगतिः श्रूयते । अर्चिरादिका चान्या,

"तेऽर्चिषमभिसंभवंति" इत्यादि श्रुत्युक्ता "स एनं देवयानं पन्थानमापद्याग्निलोकमागच्छति" इति चेतरा। "सूर्यद्वारेण ते विरजा प्रयन्ति" इति चान्या। "स यदा वैपुरुषो अस्माल्लोकात् प्रैति स वायुमागच्छति" इति चेतरा। एवमनेकेषु मार्गेषु सत् स्वर्चिरादेरेवोक्तिः कुत ? इति।

अब विचारते हैं कि सामोपनिषद् के "एता हृदयस्य नाड्यस्ताः" इत्यादि वाक्य के उपक्रम में, पिंगल रूप वाले आदित्य की रश्मियों के रूप में नाडियों को बतलाकर "यत्रैतदस्माच्छरीरात्" इत्यादि में नाडीरश्मि के संबंध से एक परलोकगति का वर्णन किया गया है। "तेऽर्चिषमभिसंभवंति" इत्यादि श्रुति से दूसरे अर्चिरादिमार्ग का उल्लेख मिलता है। "ये एनं देवयानं पन्थानमापद्य" इत्यादि में एक और मार्ग का वर्णन है। "स यदा वैपुरुषो अस्माल्लोकात्" इत्यादि में भी एक मार्ग का वर्णन है तथा "सूर्यद्वारेण ते विरजा प्रयन्ति" में भी एक अन्य मार्ग की चर्चा है इस प्रकार अनेकों मार्गों के रूप में अर्चिरादि के उल्लेख का क्या तात्पर्य है ?

तत्र सर्वेषां पारिभाषिकमर्चिरादित्वमतएवाथैतयोः पंथोर्न कतरेण च नेति मार्गद्वयभ्रष्टानां अतिकष्टं "जायस्व म्रियस्व" इति तृतीय स्थानमित्युक्तं अन्यथाऽनेकेषां मार्गाणां उक्तानां श्रूयमाणत्वादस्य तृतीयत्वं नोच्येताऽतः प्रकरणभेदाद् भिन्नोपासन शेषत्वान्मिथोऽनपेक्षा भिन्नाएवैते मार्गा ब्रह्मप्रापका इति मंतव्यमिति चेत्तत्रोच्यते—नहीयं परिभाषा सर्वेषु श्रुतास्ति यतस्तथोच्यते। अतोलाघवादनेकपर्व विशिष्ट एकएव मार्ग इति मन्तव्यम्, नतु पर्वभेदेन मार्गभेद इति, गौरव प्रसंगात्।

उक्त सभी पारिभाषिक हैं, अतः सभी अर्चिरादि मार्ग हैं, इसीलिए "एतयोः पंथोर्न कतरेण च न" इत्यादि वाक्य से दोनों मार्गों से भ्रष्ट दुःखी जीवों के लिए "जायस्व म्रियस्व" इत्यादि से तीसरा मार्ग बतलाया गया है। अन्यथा अनेकों मार्गों में बतलाये गए गमन के कथन में इसकी तीसरी गणना नहीं की जाती इसलिए, प्रकरण भेद से भिन्न उपासनाओं के फलस्वरूप प्राप्त होने वाले ये विभिन्न मार्ग हैं, इनमें परस्पर कोई संबंध नहीं है, ये सभी मार्ग ब्रह्म ज्ञापक हैं। इस मान्यता पर कहते हैं कि—यह परिभाषा हर जगह नहीं सुनी जाती इसलिए विभिन्न रूपों से मार्ग का उल्लेख किया गया है, अनेक पर्व वाला एक ही मार्ग है, ऐसा ही मानना चाहिए, पर्व भेद से मार्ग भेद मानना उचित नहीं है, ऐसा मानने से गौरव (दोष) होगा।

न चैवमथैतैरेव रश्मिभिरित्यवधारणानुपपत्तिरिति वाच्यम् । तस्याः श्रुतेरुत्क्रमणमात्र मार्गनिरूपकत्वात् तथाहि, तत्रोपक्रमे ह्यथ यत्रैदस्माच्छरीरादुत्क्रामत्यथैतैरेव रश्मिभिरूर्ध्वं आक्रमत इत्युच्यते । एतस्मात्पुरस्तादथ या एता हृदयस्य नाड्य इत्युपक्रम्य पिंगलस्यादित्यत्वमुक्त्वा तद् यथा महापथ आतत उभौ ग्रामौ गच्छन्ति इमं चामुं चैवमेवता आदित्यस्य रश्मय उभौ लोकौ गच्छन्तीमं चामुं चामुष्मादादित्यात् प्रतायन्ते ता आसु नाडीषु सृप्ता आभ्यो नाडीभ्यः प्रतायन्ते तेऽमुष्मिन्नादित्ये सृप्ता इत्यन्तेन वाक्येन नाडीषु रश्मिप्रचारमुक्त्वा अग्रे, अथ यत्रैतदस्मादित्याद्युक्तम् । उपसंहारे च शतं चैकाहृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्द्धानमभिनिःसृतैका तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्ति इति । एवमुपक्रमोपसंहाराभ्यामुत्क्रमणमात्रमार्गनिरूपकत्वं, नतु ब्रह्मप्रापकमार्गस्यातस्तदनुपपत्ति परिहारोऽनर्थकः ।

ऐसा नहीं कह सकते कि—रश्मियों में अवधारणा शक्ति संभव नहीं है । उक्त श्रुति में तो उत्क्रमण मार्ग का निरूपण रश्मि के रूपक से किया गया है उस श्रुति के उपक्रम में कहा गया है कि—"इस शरीर से जब उठता है तो इन रश्मियों के सहारे ऊपर उठता है ।" इसके पहिले "इन हृदय की नाड़ियों" ऐसा उपक्रम करके पिंगला नाड़ी का सूर्य रूप बतलाकर "तद् यथा महापथ आतत" इत्यादि अन्तिम वाक्य से नाड़ियों में रश्मि का प्रचार बतलाकर "इस शरीर से जब उठता है" इत्यादि कहा गया है । प्रसंग के उपसंहार में कहते हैं कि—"एक सौ एक हृदय की नाड़ियों में से एक मूर्द्धा की ओर जाती है, उसके सहारे ऊपर जाकर जीव अमृतत्व प्राप्त करता है" इत्यादि उपक्रम और उपसंहार से निश्चित होता है कि—उत्क्रमण मार्ग का निरूपण मात्र ही किया गया है, ब्रह्मप्रापक मार्ग का निरूपण नहीं है अतः उसकी असंभावना के परिहार की आवश्यकता ही क्या है ।

नन्वनेकपर्वविशिष्टत्वेन मार्गस्यैकत्वे तं निरूपयन्ती श्रुतिः किंचित् पर्व निरूपयति क्वचिन्नेतिकथम् ? उपसंहारेण प्राप्स्यत इति तात्पर्येण तथेति चेद् ब्रवीषि तदा शाखान्तरमविदुषस्तदसम्भवेन तं प्रति श्रुतेर्न्यूनता पातः । नहि सर्वशाखाविदिदं प्रत्येव कथनमिति वक्तुमुचितम् । तस्याऽसंभवादतः स्वस्वशाखाज्ञानवन्तं प्रत्येव तथा । अध्ययनविधेरपि तावन्मात्र परत्वात् । शाखान्तरसंवादिपर्वकथनानुपपत्तिश्च । उपसंहारेणैव तस्यापि प्राप्तिसंभवादतो विरुद्धदिक्कानां स्वस्वमार्गेणैक ग्रामप्राप्तिवदिहापि भवितुमर्हति स्वातंत्र्येण सर्वैर्मार्गैर्ब्रह्मप्राप्तिः ।

अनेक विशिष्ट पर्वों के रूप में एक ही मार्ग का निरूपण करने वाली श्रुति कभी किसी पर्व का निरूपण करती है कभी नहीं करती इसका क्या कारण है ? यदि कहें कि—उपसंहार में तो सभी एक ही केन्द्र पर पहुँच जाते हैं, इसलिए किसी शाखा में किसी पर्व का उल्लेख न होने में कोई हानि नहीं है, किन्तु जिसे अन्य शाखाओं का ज्ञान नहीं है उसके लिए तो असंभव ही है, उसकी दृष्टि में तो श्रुति की न्यूनता ही सिद्ध होगी। सर्व शाखाविद के लिए ही श्रुति का वचन है ऐसा कहना ठीक नहीं है, ऐसा मानने से तो अल्पज्ञों के लिए असंभव ही होगा अतः यही कहना उचित है कि—अपनी-अपनी शाखाओं के ज्ञाताओं के दृष्टि से ही श्रुति का वचन है। अध्ययन विधि से भी भिन्नता निश्चित होती है। यदि ऐसा नहीं मानेंगे तो शाखान्तरों में कहे गए पर्वों की भिन्नता का कोई समाधान नहीं हो सकेगा। उपसंहार से ही निर्दिष्ट स्थान की प्राप्ति निश्चित होती है। जैसे कि विभिन्न दिशाओं में रहने वाले किसी एक ही गाँव में विभिन्न मार्गों से पहुँचते हैं, वैसे ही श्रुति में भी विभिन्न स्वतंत्र मार्गों से एक ही ब्रह्मप्राप्ति का उल्लेख किया गया है।

नचैवमथैतयोः पथोरिति द्विवचनानुपपत्तिर्जायस्वम्रियस्वेत्यस्य तृतीयत्वं चानुपपन्नमिति वाच्यम्। अर्चिरादिकमुक्त्वोपसंहरत्येष देवयानः पंथा इति श्रुत्यन्तरे च, सएनं देवयानं पंथानमापद्याग्निलोकमागच्छतीति। तथा च ब्रह्म प्रापकाः सर्वेमार्गा देवयाना इत्युच्यन्ते। दैवी संपद्विमोक्षायेति भगवद् वाक्याद्दैव्यां संपदि ये जातास्ते देवा इत्युच्यन्ते तेषां यान्तं गमनं यत्रेति ते सर्वेऽपि मार्गा देवयानशब्देनोच्यन्ते। द्वितीयस्त्वविशिष्टः। एवं दित्वं त्रित्वं चोपपद्यते। न चोक्तरीत्या लाघवादेकएव समंतव्यः। स्वतः प्रमाणभूताहि श्रुतिः। सा येन यदायाश्रुता तदर्थावधारणेद्वितीयस्या अनुपस्थितत्वान्न लाघव गौरवतद्विचारावसरः। क्वचिदुपस्थितौ चोक्तबाधकैरूपसंहारानवकाशः। अपरंच, ब्रह्मविदः क्रममुक्तौ गन्तव्यो मार्गो ह्ययमुपदिश्यते। तत्तल्लोके तदाऽनन्दानुभवश्चावश्यकः। तथाचोपासन भेदात् फलभेदस्यावश्यकत्वान्मार्गभेदोऽपि तथेति, सर्वेष्वेकरूपफल प्रसंजक उपसंहारो न युक्तः।

उक्त मान्यता से "अथैतयोः पथोः" वाक्य का द्विवचनत्व तथा "जायस्व म्रियस्व" का तृतीयत्व असिद्ध हो जायेगा, ऐसा भी नहीं कह सकते क्योंकि —अर्चिरादि का बर्णन करके "एषदेवयानः पथाः" इस वाक्य से उपसंहार किया गया है, दूसरी श्रुति भी" ए एनं देवमानं पंथानमापद्याग्निलोकभागच्छति "ऐसा उल्लेख करती है।" ब्रह्म प्रापक सभी मार्ग देवयान हैं "ऐमा

भी कहते हैं।" दैवी सम्पद् विमोक्षाय" इस भगवद् वाक्य से भी यही निश्चित होता है कि जिनमें दैवी संपत्ति होती है वे देव हैं, उनके जाने के जो भी मार्ग हैं वे देवयान हैं। दूसरा मार्ग सामान्य है। इस प्रकार दूसरे तीसरे मार्गों की सिद्धि हो जाती है। उक्तरीति से लाघवमान कर एक मानना ठीक नहीं है। श्रुति स्वतः प्रमाण होती है, वह जब जिस रूप का वर्णन करती है, वहाँ उसी अर्थ की प्रतीति होती है उसमें दूसरा अर्थ करना शक्य नहीं है, लाघव गौरव के विचार करने का अबसर ही नहीं रहता। यदि कभी इनका विचार सामने आ भी जाता है तो उपसंहार में उसका समाधान हो जाता है। दूसरी बात यह है कि उक्त प्रसंग में, ब्रह्मवेत्ता की क्रममुक्ति में गंतव्य मार्ग का उपदेश दिया गया है। उन उन लोकों में उनके लिए आनन्दानुभव करना आवश्यक है, उपासना के भेद से फलभेद आवश्यक होता है, अतः मार्गभेद होना भी स्वाभाविक है। सभी में एक रूप फल वाला उपसंहार ठीक नहीं है।

किंच उपासने कर्मणि चोपसंहारः सम्मतः। मार्गस्तु नान्यतररूपोऽतो यस्योपासकस्य येन मार्गेण गमनं स मार्ग उपदिश्यत इति नोपसंहारो युक्तः, अविधेयत्वादपि तथा। एतद् यथा तथा पुरस्तान्निरूपितम्, उपसंहारोऽर्थाभेदाद् विधिशेषवत् समाने चेत्यत्र। एवं सति अर्चिष शब्देनार्चिरूपलक्षितो मार्ग उच्यते। आदिपदेनान्ये सर्वे मार्गाः संगृह्यन्ते इति नाऽनुपपत्तिः काचिदितिचेद् अत्रवदामः। अर्चिरादिभ्य इत्युक्तं भवेत्त्वद्रीतिरेव चेद् अभिप्रेता भवेत्तस्मान्नैवमित्यवधार्यते। अर्चिरादिनेत्येक वचनाऽन्यथानुपपत्त्या मार्गस्यैकत्वमवश्यमुरीकार्यमेवं सति श्रुतिसुयावन्ति पर्वाण्युक्तानि तानिसर्वाण्येकस्मिन्नेवार्चिरादि मार्गे वर्त्तमानान्यपियस्योपासकस्य यावत्पर्वभोगो भावी तं प्रति तावत्पर्वोक्तिर्यस्य यावतांतेषां स न भावी तं प्रति—न तदुक्तिस्तद्भोगा भावादिति नानुपपन्नं किंचिद्।

उपासना कर्म में तो उपसंहार ठीक है, मार्ग का तो जो रूप निश्चित है वही ठीक है दूसरा हो नहीं सकता, जिस उपासक का जिस मार्ग से गमन होना चाहिये उसी मार्ग का उपदेश दिया गया है इसलिये उपसंहार एक होना ठीक नहीं है। ऐसा होना अविधेय भी है। इस पर जो कुछ कथ्य था उसका पहिले ही निरूपण कर चके हैं अर्थ में तो भेद है नहीं इसलिए उपसंहार एक ही है। अर्चिष शब्द से अर्चि उपलक्षित मार्ग का उल्लेख किया गया है। आदि पद से अन्यान्य मार्गों का उल्लेख है, इसलिये कोई असंगति नहीं है।

इस पर मैं कहूँगा कि—आर्चिरादि के उल्लेख में तुम्हारा कथन ही ठीक मान लिया जाय फिर भी उक्त धारणा नहीं बनती। अर्चिरादिना इस एक वचन से मार्ग की एकला अवश्य स्वीकारनी पड़ेगी श्रुति में जितने पर्व कहे गये हैं वे सब एक ही अर्चिरादिमार्ग में होते हुए भी, जिस उपासक को जिस पूर्व का भोग आवश्यक है उसकी दृष्टि से उस पर्व भोग का उल्लेख किया गया है और जिस उपासक को उस पूर्व भोग का उल्लेख किया गया है उसके लिये उसका उल्लेख नहीं किया गया है, अतः कुछ असंगति नहीं है।

ननु त्वयाऽप्यनुक्तानां पर्वणां तत्र स्थितिं वदतोपसंहार एवोक्तो भवति प्रापकत्वेनेति चेत् स्यादेतदेवं यदि तस्यैवगन्तुर्भोगाय तदपि पर्वतत्रोच्येत। न त्वेवं किन्त्वेकवचनानुरोधान्मार्गैक्ये निश्चिते यं प्रतियत् पर्वोच्यते तत्तत्रकंठोक्तमेवेति नोपसंहारापेक्षा। अग्रेऽन्यत्रोक्तानां पर्वणामुक्तस्थले सन्निवेशोक्त्यापि सूत्रकाराभिमत एक एव मार्ग इति ज्ञायते श्रुतौ सर्वत्र पूर्व परामर्शात् अपि तथा।

तुम भी, जहाँ जिन पूर्वो का उल्लेख नहीं है वहाँ उपसंहार की एकता के आधार पर उनकी स्थिति मानते हो पर्वो को तुम प्रापकत्व भाव से मानते हो, यदि ऐसी बात थी तो भोग के लिए पर्व का उल्लेख वहाँ होना चाहिए था। बात तुम्हारी सही नहीं है, अपितु एकवचन के प्रयोग से ही मार्ग की एकता निश्चित होती है, जिसके लिये जिस पर्व के भोग की आवश्यकता है तदनुसार ही उल्लेख किया गया है, उपसंहार की कोई अपेक्षा नहीं है। आगे के सूत्रों में सूत्रकार अन्यत्र उल्लेख पर्वो के सन्निवेश की चर्चा करते हैं, उससे सूत्रकार का भी अभिमत मार्गैक्य के सम्बन्ध में ज्ञात होता है। श्रुति में हर जगह, पूर्वपरामर्श के अनुसार भी ऐसा ही निश्चित होता है।

वायुशब्दादविशेषविशेषाभ्याम् ।४।३।२।।

छांदोग्ये वायुर्न पठ्यते। कौशीतकि श्रुतौतु "स एतं देवयानं पन्थानमापद्याग्निलोकमागच्छति स वायुलोकं स वरूण लोकं स इन्द्रलोकं स प्रजापति लोकं स ब्रह्मलोकमिति वाद्यादयः श्रूयन्ते तत्रार्च्चिषोऽग्नेश्चाभेदान्त विचारणीयमस्ति। वायुलोकं कस्माल्लोकात् गच्छति इत्याशंकायामाह, वायुशब्दादिति। "अर्च्चिषोऽहरह्न आपूर्यमाणपक्षमापूर्यमाणपक्षाद् यान् षड्दंगेति मासाँस्तान्मासेभ्यः संवत्सरं संवत्सरादादित्यम् "इत्यत्र संवत्सरलोकात् परस्ताद् वायुलोको

निवेक्षयितव्यस्तथा च संवत्सरलोकाद् वायुलोकं गच्छतीत्यर्थः । तत्र विनिगमक माह—अविशेषविशेभ्यामिति ।

छांदोग्य श्रुति में वायुलोक की चर्चा नहीं है। कौषीतकि श्रुति में तो "य एत देव पंथानम्" इत्यादि वाक्य में वायु आदि की स्पष्ट चर्चा है। छांदोग्य में अर्चिष की चर्चा है जो कि अग्नि का ही पर्याय है अतः उस पर तो विचार नहीं करना है, किन्तु वायुलोक को किस लोक से जाया जाता है, ऐसी शंका पर "वायुमव्दात्" सूत्र प्रस्तुत करते हैं। "अर्चिषौ" आदि वाक्य में संवत्सर लोक के बाद वायुलोक का निवेश करना चाहिए अर्थात् संवत्सर लोक से वायु लोक को जाते हैं। उसमें कारण का उल्लेख सूत्रकार "अविशेषविशेषाभ्याम्" सूत्रांश से करते हैं।

अत्रेदं ज्ञेयम्—अग्निहोत्रादिकर्मभिश्चित्तशुद्धावुपासनाभिर्ज्ञानोदये क्रममुक्त्यधिकारी हि तत्तलोकं गत्वा मुक्त्वान्ते ब्रह्मप्राप्नोति। कर्म तु अग्निसाध्यं भूलोक एव च भवत्यत आदौतत्रत्यो भोगस्ततस्तदुपरितन लोकानां पृथिवीदीक्षा तयाग्निदीक्षया दीक्षितः यथा पृथिव्यग्निगर्भ इत्यादि श्रुतिभ्यो भूरग्निप्रधाना भवत्यतो अर्च्चिराख्यमग्निलोकमादौ गच्छति। ततः कर्मोपायनयोरहरादि संवत्सरान्ते काले विहितत्वात्तत्र तत्र गत्वा मुंक्ते। तथा च संवत्सरान्तानां भूसंबधित्वेनाविशेषात्—तन्मध्ये वायोर्नप्रवेशः।भूलोकादुपर्यन्तरिक्षलोकस्तदुपरि द्यूलोकस्तथा च वायुरन्तरिक्षस्याधिपतिरितिश्रुतेः सूर्यो दिवोऽधिपतिरिति श्रुतेस्तयो पौर्वापर्ये विशेषोहेतुरस्तीत्यादित्यलोकात् पूर्वमुक्तरीत्या भूलोकमध्य पाति संवत्सरस्य परस्ताञ्च वायुर्निवेशयितव्य इत्यर्थः।

उक्त वर्णन से ये जानकारी होती है कि—अग्निहोत्र आदि कर्मो से चित्त शुद्ध होने पर उपासना करने से ज्ञानोदय होता है ऐसे क्रममुक्ति के अधिकारी उन लोकों में जाकर भोगों को भोगकर अन्त में ब्रह्म प्राप्ति करते हैं। कर्म अग्निसाध्य होता है जो कि भूलोक में ही होता है, इसलिए सर्व प्रथम पृथिवी के भोगों को भोगा जाता है उसके बाद ऊपर के लोकों में गमन होता है सर्व प्रथम अग्निसंबंधी दीक्षा से पृथिवी में ही दीक्षित होते हैं। जैसा कि—"पृथिव्याग्निगर्भ" श्रुति से ज्ञात होता है कि पृथ्वी अग्निप्रधाना होती है, इससे निश्चित होता है कि सर्वप्रथम पृथिवी से, अर्चिनामक अग्नि लोक में गमन होता है उसके बाद कर्म और उपासना के फलस्वरूप, अहरादि लोक से संवत्सर पर्यन्त लोकों में जाकर भोग भोगा जाता है। संवत्सर पर्यन्त लोक भू संबंधी ही हैं

अतः उनके बीच में वायुलोक के प्रवेश का प्रश्न ही नहीं उठता। भूलोक के ऊपर अंतरिक्ष लोक है उसके ऊपर द्युलोक है। "वायु अंतरिक्ष का अधिपति है" सूर्य द्युलोक का अधिपति है "इन दोनों श्रुतियों के अनुसार पूर्वापर क्रम से आदित्य लोक के पहले, भूलोक और संवत्सरलोक के बाद बीच में वायुलोक का प्रवेश मानना चाहिए।

ननु "ते अर्चिषमभिसंभवंति अर्चिषोऽहः" इत्यादि श्रुतिरुक्तमुक्तमनूद्यापादानत्वं वदंती पूर्वोत्तरयोर्व्यवधानं सूत्रयतीतिनोक्तमादरणीयमिति चेत्। सत्यम्, यस्योपासकस्य न वायुलोकभोगस्तं प्रति सोक्तिर्यस्य तु तद्भोगस्तस्योक्तरीतिमर्गैक्यादिति नानुपपत्तिः कांचित्। केचित्तु—"स एतं देवयानं पन्थानमापद्याग्निलोकमाच्छति, स वायुलोकं स वरुणलोकं" इत्यविशेषेण वायुरुपदिश्यते। मिथः पौर्वापर्यं प्रापकपदाभावात। "यदा वै पुरुषोऽस्माल्लोकात् प्रैति स वायुमागच्छतितस्मै स तत्र विजहीते यथारथ चक्रस्य खं तेन स ऊर्ध्वं आक्रमते स आदित्यमागच्छतींति" श्रुत्याऽदित्यात् पूर्वो वायुर्विशेषेणोपदिश्यत इत्यब्दादित्ययोरन्तरन्तराले निवेषायितव्य इत्यर्थं वदन्ति। स चिन्त्यते—"यथा तेन स ऊर्ध्वं आक्रमते स आदित्यमागच्छति" इति विशेषोपदेश इत्युच्यते तथा "स वरुणलोकम्" इत्यत्रापि वक्तुंशक्यम्। न च "स आदित्यमागच्छति" इत्यत्र तच्छब्दस्य पूर्वं परामर्शित्वाद्वायुलोकगतस्यैव पूर्वत्वात् तथेति वाच्यम्। "अग्निलोकमागच्छति स वायुलोकं स वरुणलोकं" इत्यत्रापि तुल्यत्वात्।

यदि कहें कि—"अर्चिलोक को प्राप्त कर अह लोक को जाता है" इत्यादि श्रुति में तो पूर्वोत्तर क्रम में कोई व्यवधान नहीं दीखता अतः बीच में वायुलोक प्रवेश की बात समझ में नहीं आती। सो तो ठीक ही है, जिस उपासक को वायुलोक के भोग की आवश्यकता नहीं है उसके लिए वह उक्ति है और जिसके लिए उसका भोग आवश्यक है उसके लिए वायुलोक जोड़कर कहना उचित है, मार्ग तो एक ही है अतः कोई असंगति नहीं होगी। किसी शाखा में तो "वह इम देवमार्ग को प्राप्त कर अग्निलोक को जाता है, फिर वायुलोक और फिर वरुण लोक को जाता है" इत्यादि स्पष्ट वायु का उपदेश दिया गया है। इसमें परस्पर पौर्वापर्य प्रापक पद नहीं है। "जब पुरुष इस लोक से जाता है तो वह वायुलोक प्राप्त करता है, वहाँ से वह रथचक्र के मध्यवर्त्ती अन्तराल की भाँति अतिक्रमण करके ऊपर आदित्य लोक को प्राप्त करता है" इत्यादि श्रुति में भी आदित्य से पहले वायु विशेष का उपदेश दिया गया है, इससे निर्णय होता है कि—वरुण और आदित्य लोक के बीच में वायुलोक

का प्रवेश माना जाना चाहिए। इस पर बिचार करते हैं कि जैसे—"तेन स ऊर्ध्वं आक्रमते स आदित्यमागच्छति" में विशेषोपदेश है वैसे ही "स वरुणलोकम्" में भी होना चाहिए। सो तो है नहीं "स आदित्य मागच्छति" में तत् शब्द के पूर्व परामर्श से वायुलोक की पूर्वता होने से विशेषोपदेश का औचित्य है। "अग्निलोक जाता है, वही वायुलोक जाता है, वही वरुण लोक जाता है" इत्यादि में भी वैसा ही विशेषोपदेश है।

किञ्चैवमग्निलोकानन्तरं वायुलोक इत्यापि वक्तुं शक्यमतो विद्वद्भिरुपेक्ष्योऽयम्। वाजसनेयिस्तु—"मासेभ्योदैवलोकं देवलोकादादित्यम्" इति पठन्ति। तत्राप्यादित्यात् पूर्वो देवलोकात् परो वायुर्ज्ञेयः। एकत्र आदित्यात् पूर्वत्वे सिद्धे मार्गैक्यादन्यत्रापि तथात्वस्य न्यायप्राप्तत्वात् सूत्रकारेणतु छंदोगश्रुत्यपेक्षयोक्तं वायुमब्दादिति। एवं सति मासेभ्यः परस्तादब्दनिवेशनं कार्यम्। न च वायुमब्दादिति सूत्रान्मार्गभेदापत्तिः देवलोकस्यादित्याधिष्ठेयत्वेनादित्वमध्यपातित्वमभिप्रेत्य छंदोगश्रुतिस्तथोक्तवती। तदनुसारेण व्यासोऽप्यतो नानुपत्तिः।

अग्निलोक के बाद वायुलोक भी कह सकते हैं; इसके संबंध में किया गया संशय विद्वानों की दृष्टि में कोई महत्व नहीं रखता। वाजसनेयि में तो—"मास से देवलोक, देवलोक से आदित्य को प्राप्तकरता है" ऐसा पाठ है। वहाँ पर भी आदित्य के पूर्व और देवलोक के बाद वायुलोक की स्थिति माननी चाहिए। जब एक जगह आदित्य के पूर्व उसकी स्थिति निश्चित हो चुकी, जब मार्ग एक ही है तो अन्यत्र भी उसकी स्थिति निश्चित है, इसी सिद्धान्त के आधार पर सूत्रकार ने छांदोग्य श्रुति के लिए "वायुमब्दात्" ऐसा निर्णय किया है। इसके अनुसार मास के बाद वरुणलोक का प्रवेश मानना चाहिए "वायुमब्दात्" सूत्र से भिन्नमार्ग की कल्पना नहीं करनी चाहिए। देवलोक का अधिष्ठाता आदित्यही है। इसलिए सभीलोक आदित्य के मध्यपाती हैं इस अभिप्राय से ही छंदोग श्रुति ने वैसा वर्णन किया है। उसी दृष्टि से सूत्रकार व्यास भी कहते हैं, इसमें संशय की गुंजायश नहीं है।

तडितोऽधिवरुणः संबन्धात् ।४।३।३।।

"आदित्यात् चन्द्रमसं चन्द्रमसो विद्युतम्" इत्यत्रपठित विद्युल्लोकात् परतो वरुणलोको निवेशनीयः। तत्रहेतुः संबंधात्। तडितोऽप्संबंधित्वाद्वरुणस्यतत्पतित्वात् तथा।

"आदित्य से चन्द्रमस चन्द्रमस से विद्युत्" इत्यादि में पठित विश्रुतलोक के बाद वरुणलोक की स्थिति माननी चाहिए क्योंकि विद्युत और वरुण का संबंध है। बिजली और जल का सम्बन्ध है, वरुण उसका स्वामी भी है।

वरुणाच्चाधीन्द्रप्रजापती ।४।३।४।।

स्पष्टमिदम्। अर्चिरादिपाठे "विद्युदनन्तरं तत्पुरुषोऽमानवः स एतान् ब्रह्म गमयति" इतिपठ्यते। तत्रयस्योपासकस्य वरुणादिलोक गमनापेक्षा नास्ति तमपेक्ष्येति ज्ञेयम् मार्गैक्यनियमभिप्रैत्य सूत्रकारोऽन्यत्रोक्तानामन्येषामपि लोकानां तत्रैव निवेशनमाह।

इस सूत्र का तात्पर्य स्पष्ट है अर्थात् वरुण के नीचे इन्द्र और प्रजापति लोक हैं। अर्चिरादि के पाठ में विद्युत के बाद "वहाँ का अमानव पुरुष उसे, इनलोकों से होता हुआ ब्रह्म लोक में ले जाता है" ऐसा कहा गया है। जिस उपासक को वरुण आदि लोक में जाना आवश्यक नहीं है उनकी अपेक्षा से ही ऐसा उल्लेख है। मार्गैक्य के नियम के अभिप्रांय से ही सूत्रकार ने अन्यत्र कहे गए लोकों की भी वहाँ उपस्थिति मानी है। उसी दृष्टि से यह सूत्र प्रस्तुत किया है।

२ अधिकरण :—

आतिवाहिकास्तल्लिंगात् ।४।३।५।।

"विद्युदनन्तरं स तत्पुरुषोऽमानवः स एतान् ब्रह्म गमयति" इत्यत्र भवति-संशयः। उक्तश्रुतेर्गमयित्रैव ब्रह्मप्राप्तिरिति निश्चीयते। स च विद्युदनन्तरमेव पठ्येत। एवं सति यस्य वरुणादिलोक गमनं तस्य वचनाभावेन गमयित्रप्राप्ते-ब्रह्मप्राप्तिर्भवति, न वेति। तत्र वाचनिकस्य यावद्वचनत्वात्तदभावेन सा न भवतीति प्राप्त आह अतिवाहिका इति। एतदुक्तं भवति—यस्योपासकस्य यावत्-फलभोगानन्तरं ब्रह्मप्राप्तिर्भाविनी तस्य तावद्भोगानन्तरं ब्रह्मप्राप्तिर्भवत्यत्र एव कौषीतकि श्रुतौ प्रजापतिलोकानन्तरं ब्रह्मलोकः पठ्यते। अन्यथा कृतसाधनिवै-यर्थ्यं, तेषां ब्रह्मप्राप्तिसाधनत्वबोधकश्रुति विरोधश्च स्यात्।

"विद्युदनन्तरं स तत्पुरुषो" इत्यादि के सम्बन्ध में एक संशय होता है कि—इस श्रुति में ले जाने वालों से ही ब्रह्मप्राप्ति निश्चित होती है। किन्तु उन ले जाने वालों का उल्लेख विद्युत लोक के बाद किया गया है, अतः जो लोग

वरुण आदि लोकों में जाते हैं, वहाँ तो उन पुरुषों का उल्लेख है नहीं, उन लोगों की ब्रह्मप्राप्ति होती है या नहीं। विचारने पर तो यही समझ में आता है कि—उल्लेख य होने से ब्रह्मप्राप्ति नहीं होती। इस पर सूत्रकार सूत्रप्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि—आतिवाहिक वहाँ भी रहते हैं। तात्पर्य यह है कि—जिस उपासक की जितने फल भोग के बाद ब्रह्मप्राप्ति होनी है उसकी उसके बाद ही होगी, इसलिए कौषीतकि श्रुति में प्रजापति लोक के बाद ब्रह्मलोक का उल्लेख कर दिया गया। यदि ऐसा न करते तो किए जाने वाले साधनों की व्यर्थता सिद्ध होती और उन साधकों की ब्रह्मप्राप्ति को बतलाने वाली श्रुति से भी विरुद्धता होती।

तथा च यत्रातिवाहिकश्रुतिर्नास्ति तत्राप्यातिवाहिको भगवदीय एव ब्रह्मप्रापयतीति ज्ञेयम्। वस्तुतस्तु बहव एव तादृशाः सन्तीति ज्ञापनाय बहुवचनमत्रोक्तम्, तन्मध्येकश्चनागत्यैक एव नयति इति ज्ञापनाय श्रुतावेकवचनम्। तत्र-हेतुस्तल्लिंगात्। तत् पुरुषोऽमानव इत्यत्र ब्रह्मसम्बन्धित्व लिंगमुच्यते। तेनेदं ज्ञाप्यते यथाविद्याबलात् तत्तल्लोकप्राप्तिस्तथैव ब्रह्मप्राप्तिरपीति न, किन्तु भगवदीयपुरुषानुग्रहेणैवेति।

जहाँ के वर्णन में आतिवाहिक सम्बन्धी श्रुति नहीं है, वहाँ भी भगवान के आतिवाहिक पार्षद ब्रह्म की प्राप्ति कराते हैं। वास्तविकता तो यह है कि वैसे अनेक पार्षद हैं, इसलिए यहाँ बहुवचन का प्रयोग किया गया है। उनमें से कोई एक ही आकर ले जाता है, इसलिए श्रुति में एकवचन का प्रयोग है। "वह पुरुष अमानव है" इसमें ब्रह्म सम्बन्धी दिव्यपुरुष का उल्लेख है, जिससे ज्ञात होता है कि—जैसे उपासना के बल से अन्यान्य लोकों की प्राप्ति होती है वैसे ही ब्रह्मप्राप्ति भी होती हो सो बात नहीं है, वह तो भगवान के पार्षद की कृपा से ही होती है।

न च पूर्वपूर्वलोकाधिष्ठातृदेवा उत्तरोत्तर लोकं प्रत्यातिवाहिका यथा तथा ब्रह्मप्राप्त्यव्यवहितपूर्वलोकदेवा एव ब्रह्मप्रापका इति तत् पदेन स लोक एवोच्यत इति वाच्यम्। तदेतरलोकेषु तदकथनं यथा तथाऽत्रापि न कथयेत्। लोकाधिष्ठातृदेवानामातिवाहिकत्वोक्तावर्चिर्लोकप्रापकाऽतिवाहिकस्याभावात् तत्प्राप्तिर्नस्यात्। तथा सति देवयानमार्गएवोच्छिद्येत। अतो यथा विद्याबलेनैवार्चिषः प्राप्तिस्तथेतरेषामपीति बुध्यस्व। कस्यचिदल्पलोकगत्यनन्तरमेव ब्रह्मप्राप्तिः। कस्यचिद् बहुलोकगत्यनन्तरं सोच्यत इति। भोगभूमित्वमेव तेषामव-

गंतव्यम् । सर्वेषां सर्वत्र गमने देवयानं पन्थानं वदंत्याः श्रुतेः सामितत्कथनं अनुपपन्नं स्यादत उपासना भेदेन फलभेदं ज्ञापयन्ती तथा वदतीतियुक्तमुत्पश्यामः ।

ऐसा नहीं कह सकते कि पूर्व लोकों के अधिष्ठातृ देवता ही उत्तरोत्तर लोकों के आतिवाहिक होते हैं तथा ब्रह्मप्राप्ति के एकदम पहले का देवता ही ब्रह्म प्रापक होता है इसलिए उसी के नाम से उसे देवलोक कहते हैं। अन्य लोकों के विषय में जैसे अधिष्ठातृ देवता को आतिवाहिक नहीं मानना चाहिए वैसे ही यहाँ भी नहीं मानना चाहिए। यदि लोक के अधिष्ठातृ देवताओं को आतिवाहिक मानेंगे तो, अर्चिलोक के प्रापक आतिवाहिक कौन हैं ? इसका मतलब तो ये हुआ कि वह लोक न प्राप्त हो सकेगा, तब तो देवमार्ग खण्डित हो जायगा। इसलिए जैसे कि—विद्या के बल से अर्चि लोक की प्राप्ति होती है वैसे ही अन्य लोकों की भी माननी पड़ेगी। किसी जीव को कुछ लोकों में जाने के बाद ही ब्रह्म प्राप्ति हो जाती है और किसी की अनेक लोकों में जाने के बाद ही होती है। उन सब को भोग भूमि ही मानना चाहिए। सभी की सब लोकों में गमन वाले देवयान का वर्णन करने वाली श्रुति मानने से असंगति होगी उपासना के भेद से फल भेद वाली श्रुति ही सही है।

ननु तेषामिह न पुनरावृत्तिरस्तीत्यादि श्रुतिभ्यो देवयानं पन्थानं प्राप्तानां पुंसां ब्रह्मवित्वमवश्यं वाच्यम्। तेन सद्योमुक्तौ संभवंत्यां सत्यां क्षयिष्णुत्वेन क्षुद्रानंदत्वेन च हेयानां परमफल प्राप्तिविलम्बिहेतूनां अर्चिरादिलोकानां कामना कुतो, यतस्तद्हेतुभूतोपासनाः संभवंति। किं च, अर्चिरादिना तत्प्रथितेरित्यत्र यदुक्तं ज्ञानमार्गीयस्यैवार्चिरादिप्राप्तिर्न भक्तिमार्गीयस्येतितदप्यनुपपन्नम्। "यत्कर्मभिर्यत्तपसा ज्ञानवैराग्यतश्च यत्" इत्युपक्रम्य "सर्वं मद्भक्तियोगेन मद्भक्तो लभतेऽञ्जसा, स्वर्गापवर्गं मद्धाम कथंचिद् यदि वांच्छति" इति भगवद् वाक्याद्भक्तस्याप्येतद् वांच्छाफले संभवतः अन्यथा प्रभुर्न वदेत्। एवं सति भक्तिसुखं हित्वाऽन्यत्र कामनायां हेतुर्वाच्य इत्याकांक्षायां तमाह—

"उनकी यहाँ पुनरावृत्ति नहीं होती" इत्यादि श्रुतियों से तो ज्ञात होता है कि—देवयान मार्ग को प्राप्त व्यक्ति तो अवश्य ही ब्रह्मविद होता है। जब ज्ञान से ही सद्योमुक्त संभव है तब नाशवान् क्षुद्रानंद वाले हेय, परमफल को विलम्ब से प्राप्त कराने वाले अर्चिआदि लोकों की कामना होगी ही क्यों

उनको प्राप्त करने के लिए वैसी उपासना भी क्यों की जाय। "अर्चिरादिना तत्प्रथितेः" सूत्र में जो यह कहा कि—ज्ञानमार्गीय को ही अर्चिरादि प्राप्ति होती है, भक्तिमार्गीय को नहीं, यह कथन भी असंगत होगा। "जो कर्मों से जो तप से और जो ज्ञान वैराग्य से" ऐसा उपक्रम करते हुए "मेरी भक्ति से वह सब कुछ मेरे भक्त तत्काल प्राप्त कर लेते हैं, वे लोग स्वर्ग, अपवर्ग और मेरा धाम जो कुछ चाहते हैं, वह सब कुछ प्राप्त कर लेते हैं।" इत्यादि भगवद् वाक्य से निश्चित होता है कि भक्त को भी ये सारे वांछित भोग प्राप्त हो सकते हैं, यदि ऐसा न होता तो प्रभु न कहते। इसलिए भक्ति सुख को छोड़कर अन्यत्र कामना ही क्यों की जायगी, इस आकांक्षा पर सूत्र प्रस्तुत करते हैं—

उभयव्यामोहात् तत् सिद्धेः।४।३।६॥

अत्रेदं ज्ञेयम्-देवयानः पन्था अपि भगवतैव सृष्टोऽस्ति, तथा चोक्तहेतुभिस्तत्र कस्यापि कामनाभावे तत्सृष्टिर्व्यर्था स्यादतो भगवानेव कांश्च व्यामोहयति ज्ञानिनोमर्यादामार्गीयभक्तांश्चअतस्तत्कामनासिद्धेः तत्फलभोग इति। यत्त्वर्चिरादिमार्गगन्तॄणां देहवियोगे सम्पिण्डितकामत्वेनास्वातंत्र्यं व्यामोहः। कार्यकारणसामर्थ्यमिति व्याख्यानम् तन्न साधीयः। व्यामोहशब्दस्यास्यान्यथाज्ञानवाचकत्वेनासामर्थ्याविाचकत्वात्। तथा सत्यर्चिलोकमपि न प्राप्नुयात्, प्रापकाभावादित्युक्तम्।

उक्त विषय में ऐसा समझना चाहिए कि—देवयान मार्ग भी भगवान का बनाया हुआ है, भक्तिमार्ग से ही सब कुछ प्राप्ति संभव है। अतः व्यर्थ में इस मार्ग में जाने के लिए प्रयास न करने पर इसकी सृष्टि व्यर्थ हो जायगी। इसलिए भगवान कुछ लोगों को व्यामोहित करके ज्ञानमार्गी और मर्यादामार्गीय भक्त बनाकर इस मार्ग के लोकों की कामना की सिद्धि के लिए इस मार्ग का फलभोग कराते हैं। व्यामोह दोनों का होता है, अर्चिरादि मार्ग में जाने वाले मर्यादी भक्त देह छूटने पर इन्द्रियों के समूह से भगवद् इच्छा से व्यामोहित होकर आगे बढ़ते हैं। ज्ञानी अर्चिरादि लोकों में निश्चेष्ट भाव वाले आगे बढ़ाये जाते हैं। व्यामोह शब्द अन्यथा ज्ञानवाचक है, अन्यथा ज्ञान, सामर्थ्य न होने से ही तो होता है। यदि व्यामोह न रहे और वे स्वतंत्र हों तो अर्चिलोक में नहीं जा सकते। क्योंकि उनको वहां पहुंचाने वाला तो कोई होता नहीं। उन लोकों का भोग व्यामोह ही उनको वहाँ पहुँचाता है।

ननु विधुतो वरुणादिलोकप्राप्त्यनन्तरं यस्य ब्रह्मप्राप्तिस्तस्य तल्लोक-संबंधी ब्रह्मप्रापकः पुरुषोऽस्त्युत त स्वत एवतत्प्राप्नोतीतिसंशय उत्तरं पठति—

विद्युत से वरुण आदि लोकों को प्राप्त करने के बाद जिसे ब्रह्म प्राप्ति होती है, उसे उस लोक से सम्बन्धी पुरुष ब्रह्म की प्राप्ति कराता है अथवा वह स्वयं प्राप्त हो जाता है, इस संशय का उत्तर देते हैं—

वैद्युतेनैव ततस्तच्छ्रुतेः ।४।३।७।।

न हि ब्रह्मप्राप्तिर्विद्युल्लोकसंबंधिपुरुषसामर्थ्येनोच्यते, किन्तु ब्रह्मसंबंधि-तत्सामर्थ्येन । तथा च यतएव लोकात् तत्प्राप्तिस्ततो ब्रह्मसंबंधिपुरुषादेव । एवं सति विद्युल्लोकान्तत्प्राप्तौ यो ब्रह्मसंबंधो पुरुषः प्रापक उक्तस्तेनैव ततो वरुणादिलोकेभ्योऽपि ब्रह्मप्राप्तिस्तत्रहेतुमाह-तच्छ्रुतेः, "तान् वैद्युतात् पुरुषो मानस एत्य ब्रह्मलोकानामयति" इति श्रुतेः । अत्र "एत्य" इति वचनाद् यत एव लोकाद् ब्रह्मप्राप्तिर्भवित्री ततैवागत्य ब्रह्मप्रापयति इति गम्यते । श्रुतौ वैद्युतं लोकमामत्य तस्माद् ब्रह्मलोकानामयति इत्युक्तमिति स पुरुषो वैद्युत इत्युच्यते न तु तल्लोकवासित्वेन । तथा सति एत्य इति न वदेत् तत् एव ब्रह्मप्रापेण ।

ब्रह्म प्राप्ति विद्युत लोक के पुरुष के सामर्थ्य से नहीं होती किन्तु ब्रह्म संबंधी पुरुष के सामर्थ्य से होती है । जिस लोक से ब्रह्म प्राप्ति होती है वह ब्रह्म संबंधी पुरुष से ही होती है । विद्युत लोक से, ब्रह्म प्राप्ति में जिस ब्रह्म संबंधी पुरुष को प्रापक बतलाया गया है । "वह मानस वैद्युत पुरुष आकर ब्रह्मलोक ले जाता है" इस श्रुति से उक्त कथन पुष्ट हो जाता है । इस वाक्य में 'एत्य' पद से बतलाया गया है कि जिस लोक से ब्रह्म प्राप्ति होती है उसी लोक से आकर ले जाकर ब्रह्म प्राप्ति कराता है । वाक्य में जो "वैद्युतलोक से आकर ब्रह्मलोकों को अर्थात् विद्युत का-सा प्रकाशवान होता है, न कि विद्युत लोकवासी होता है । यदि विद्युत लोकवासी होता तो 'एत्य' ऐसा न कह कर "तत एव" ऐसा कहते ।

अतएव मानस इत्युक्तः, यदैवं भगवन्मनसि भवत्यथैनं मां प्रापयत्विति तदैव प्रापयति इति तथा ।

इसीलिए उस वैद्युत पुरुष को मानस कहा गया है, अर्थात् जब भगवान के मन में ऐसा विचार होता है कि इसे मुझे प्राप्त कराओ, तभी वह भगवद् विचार को जानने वाला दिव्य पुरुष जीव को भगवत्प्राप्ति कराता है।

छांदोग्येत्वमानव इति पठ्यते। तच्चालौकिकत्वं तदप्युक्त रूपमेवेति न काश्चिद् विशेषः। वाजसनेयके ब्रह्मलोकानामयतीति पठ्यते। छांदोग्येतु ब्रह्मेति। तत्रायंभावः, भक्तं तु वैकुण्ठलोकंनयति ते बहुविधा इति ब्रह्मलोका-नित्युक्तम्। ज्ञानमार्गीयंत्वक्षरंब्रह्म प्रापयति इति ब्रह्मेत्युक्तम्। अतएवोभय व्यामोह उक्त आचार्येण।

छांदोग्य में दिव्य पुरुष को अमानव कहा गया है जो कि अलौकिकता का ही सूचक है, वैद्युत रूप ही है कोई भेद नहीं है। वाजसनेय संहिता में "ब्रह्मलोकान्नयति" ऐसा बहुवचन प्रयोग किया गया है जब कि—छांदोग्य में केवल "ब्रह्म" ऐसा एकवचन प्रयोग है। उसका तात्पर्य यह है कि—मर्यादा मार्गीय भक्त को वैकुण्ठ ले जाते हैं, वैकुण्ठ अनेक प्रकार के हैं। अतः बहुवचन का प्रयोग है। ज्ञानमार्गीय को अक्षर ब्रह्म की प्राप्ति कराते हैं, इसलिए एक-वचन का प्रयोग है। इसीलिए आचार्य बादरायण ने उभय व्यामोह कहा है।

३ अधिकरण :—

अत्र सिद्धान्तदाढ्यार्थमुक्तमर्थं हस्तपिहितमिव कृत्वा बादरिमतं पूर्वपक्ष-त्वेनात—

अब सिद्धान्त की पुष्टि के लिए उक्त विषय को छिपाकर पूर्वपक्ष रूप से बादरिमत को प्रस्तुत करते हैं—

कार्यं बादरिरस्य गत्युपपत्तेः।४।३।८।।

"स एतान् ब्रह्मगमयति" इत्यत्र ब्रह्मपदेनाविकृतं परमेव ब्रह्मोच्यते ? उत् कार्यरूपो ब्रह्मलोक ? इति भवति संशयः परस्य व्यापकत्वेन देशविशेषगम-यित्रोरनपेक्षितयोरुक्तेः कार्यरूपं एव स ब्रह्मपदेनोच्यत इति बादरिराचार्यो-मन्यते। कुतः ? अस्य गत्युपपत्तेः। तस्य परिच्छिन्नत्वेन तत्स्थितिदेशं प्रत्ययस्य गन्तुर्गतेरुपपत्तेरित्यर्थः।

संशय होता है कि—"स एतान् ब्रह्मगमयति" में ब्रह्मपद से अविकृत परमब्रह्म का उल्लेख है अथवा कार्यरूप ब्रह्मलोक का। बादरि आचार्य

कहते हैं कि परमब्रह्म तो व्यापक हैं किसी देश विशेष में उनकी प्राप्ति की बात असंगत-सी प्रतीत होती है इसलिए कार्यरूप ब्रह्मलोक की प्राप्ति की बात ही ठीक जँचती है। एक देशव्यापी होने से कार्य ब्रह्मलोक में जाने की बात ही संभव है।

विशेषितत्वाच्च ।४।३।९।।

"ब्रह्मलोकानामयति ते तेषु ब्रह्मलोकेषु पराः परायत्तो वसन्ति" इति श्रुतौ बहुत्वेनवासाधिकरणत्वेन च विशेषिता लोकाः। गन्तारश्च दूरदेशगत्या विशेषिता इति न परंब्रह्म तत् किन्तु कार्यमेवेत्यर्थः लोकपदं तज्जन्य भोगपरम्। तेन तस्यैकत्वेऽपि विविध भोगज्ञापनाय बहुवचनं पठ्यते। तत्र ब्रह्मशब्दप्रयोगे हेतुमाह।

"ब्रह्मलोकानामयति" इत्यादि श्रुति में अनेक लोकों की, निवास स्थान के रूप में चर्चा की गई है, जिससे देश विशेष की प्रतीति होती है। उन लोकों में जाने वाले, विशेष रूप से दूर जाते हैं अतः वह ब्रह्मलोक की चर्चा नहीं हो सकती अपितु कार्यब्रह्म की ही हो सकती है। लोकपद, लोकगत भोग का सूचक है। लोक एक ही है, विविध भोगों को दिखलाने के लिए बहुवचन का प्रयोग किया गया है। ब्रह्म शब्द के प्रयोग का हेतु बतलाते हैं कि—

सामीप्यात्तु तद् व्यपदेशः ।४।३।१०।।

तल्लोकस्थितानां नान्यलोकव्यवधानं पर प्राप्तौ, किन्तु ततएवेति परब्रह्म-सामीप्याद् ब्रह्मत्वेन व्यपदेशः कृतः। तु शब्दस्तु वस्तुतो ब्रह्मत्वं व्यवच्छिनत्ति।

उस लोक में रहने वालों को पर प्राप्ति में अन्य लोक का व्यवधान नहीं होता अपितु वे वहीं से परब्रह्म के निकट पहुँच जाते हैं, समीपस्थ होने से उस लोक को भी ब्रह्मलोक कहा गया है। सूत्रस्थ तु शब्द, वस्तुतः ब्रह्मत्व का व्यवच्छेदक है।

ननु "आब्रह्मभवनाल्लोकाः पुनरावर्त्तिनोऽर्जुन" इति वाक्यात्ततः पुनरावर्त्तते। अत्रतेषामिह न पुनरावृत्तिरस्तीति पठ्यते, इति परमेवात्र ब्रह्मशब्देनोच्यते इति प्राप्ते उत्तरं पठति—

प्रतिपक्षी तर्क प्रस्तुत करते हैं कि—"ब्रह्मलोक पर्यन्त समस्त लोक पुनरावृत्ति वाले हैं" इस वाक्य से तो कार्य ब्रह्म लोक पुनरावृत्ति वाला निश्चित

होता है, जब कि—उक्त प्रसंग में "तेषामिहनपुनरावृत्ति" ऐसा स्पष्ट उल्लेख है अतः यह प्रसंग परब्रह्म लोक से ही संबंधित निश्चित होता है। इसका पूर्वपक्ष वाले उत्तर देते हैं कि—

कार्यात्यये तदध्यक्षणेसहातः परमऽभिधानात् ।४।३।११॥

कल्प समाप्तौ कार्यस्य ब्रह्मलोकस्य नाशे सति तदध्यक्षेण चतुर्मुखेन ब्रह्मणा सहातो ब्रह्मणः सकाशात् परमीश्वरं प्राप्नोत्यतोऽपुनरावृत्तिश्रुतिर्नविरुद्धयते। अत्र प्रमाणमाह—अभिधानादिति। श्रुतौ तथाऽभिधानादित्यर्थः। सा तु—"वेदान्त विज्ञान सुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगादयतय. शुद्धसत्वाः। ते ब्रह्म-लोके तु परान्तकाले पराऽमृतात् परिमुच्यन्ति सर्वे।" इति, परान्त काल इत्यत्र पर शब्देन ब्रह्मणः पूर्णमायुरुच्यते।

कल्प की समाप्ति में कार्य ब्रह्मलोक का नाश हो जाने पर उसके अध्यक्ष चतुर्मुख ब्रह्मा के साथ उस लोक के सभी जीव उनके सकाश से परमेश्वर की प्राप्ति करते हैं, इस प्रकार अपुनरावृत्ति वाली श्रुति सुसंगत ही है। श्रुति में ऐसा स्पष्ट उल्लेख भी है जैसे कि—"वेदांत के सम्यक् ज्ञान और संन्यास से संयत अन्तःकरण वाले शुद्ध चित्त जीव, ब्रह्मलोक की समाप्ति पर मुक्त होकर अमृतत्व प्राप्त कर लेते हैं।" परान्त काल पद में पर शब्द से, ब्रह्मा की पूर्ण आयु का उल्लेख है।

उक्तेऽर्थे श्रुति प्रमाणत्वेनोक्त्वा स्मृतिमप्याह—

उक्त कथन में श्रुति का प्रमाण देकर स्मृति का भी देते हैं—

स्मृतेश्च ।४।३।१२॥

"ब्रह्मणा सह ते सर्वे सम्प्राप्ते प्रतिसंचरे। परस्यान्ते कृताऽत्मानः प्रवि-शन्ति परं पदम् ॥" इति स्मृत्यापि स एवार्थः प्रतिपाद्यते।

"प्रत्येक कल्प में वे सब ब्रह्मलोक के नष्ट हो जाने पर, ब्रह्मा के साथ परम पद में प्रवेश करते हैं।" यह स्मृति वाक्य भी उसी की पुष्टि कर रहा है।

अत्र सिद्धान्तमाह—

इस पर सिद्धान्त रूप से सूत्रकार जैमिनि का मत प्रस्तुत करते हैं—

परञ्जैमिनिर्मुख्यत्वात् ।४।३।१३।।

"स एतान् ब्रह्म गमयति" इत्यत्र ब्रह्मपदेन परमेव ब्रह्मोच्यते इति जैमिनि-राचार्यो मनुते । कुतः, मुख्यत्वात् । वृहत्वादिधर्मविशिष्टं हि ब्रह्मपदेनोच्यते । तादृवत्परमेव ब्रह्म भवतीति मुख्या वृत्तिर्ब्रह्मपदस्य परस्मिन्नेवान्यत्र गौणी । तथा च मुख्यगौणयोर्मध्ये मुख्यस्यैव बलिष्ठत्वात् तथा ।

"स एतान्-ब्रह्मगमयति" वाक्य में ब्रह्मपद से परमब्रह्म का ही उल्लेख किया गया है ऐसा जैमिनि आचार्य मानते हैं । वृहत्व आदि विशिष्ट धर्म वाले को ही ब्रह्मपद से कहा गया है वैसा धर्म वाला परमब्रह्म ही होता है, इसलिए ब्रह्मपद की मुख्यावृत्ति परम ब्रह्म के संबंध में ही है, अन्यत्र गौणोवृत्ति है । मुख्य और गौण के बीच में मुख्य ही बलवान होती है ।

दर्शनाच्च ।४।३।१४।।

"स एनं देवयानं पन्थानमापद्याग्निलोकमागच्छति स वायुलोकं स वरुण-लोकं स इन्द्रलोकं स प्रजापतिलोकं स ब्रह्मलोकं" इति कौशीतकिश्रुतेरग्न्यादि-लोक प्राप्तिवदविशेषेणैव प्रजापतिलोकप्राप्त्यनन्तरं ब्रह्मलोकप्राप्ति दर्शयति । न हि तत्र ब्रह्मलोक शब्देन कार्यः स उच्यत इति वक्तुं शक्यम् । पार्थक्येन प्रजापति लोकस्योक्तत्वात् ।

"वह इस देवयान पथ पर आरूढ़ होकर अग्निलोक में आता है, वह वायुलोक, वरुणलोक, इन्द्रलोक, प्रजापतिलोक से ब्रह्मलोक जाता है" इस कौषीतकि श्रुति से अग्नि आदि लोक प्राप्ति की तरह सामान्य रूप से प्रजापति लोक के बाद ब्रह्म लोक प्राप्ति की चर्चा की गई है । इसमें ब्रह्मलोक शब्द से कार्य ब्रह्म का उल्लेख है, ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि—प्रजापति लोक का स्पष्ट पृथक् वर्णन किया गया है ।

अपरं च "ये चेमेऽरण्ये श्रद्धातपइत्युपासतेतेऽर्चिषमभिसंभवंति" इति छांदोग्यश्रुतिविषयीकृत्य, "ह्यर्चिरादिनातत्प्रथितेः" इत्युपक्रमआचार्येण कृतोऽन्यत्रार्चिः शब्दस्याभावात् तत्र चान्ते ब्रह्मगमयतीत्युच्यते । तथा च छांदोग्येऽनुक्तानामन्यत्रोक्तानां लोकानां मार्गैक्यसिद्धयर्थं तत्रैव सन्निवेशो, वायुमब्दात् तडितोऽधिवरुणो, वरुणाच्चाधीन्द्रप्रजापती, इत्यन्तेनोक्तः । एवं सति आदावर्चिषं, ततोऽहस्ततः सितपक्षं, ततउदगयनं ततः संवत्सरं, ततो वायुं, ततो देवलोकं, तत आदित्यं, ततः चन्द्रमसं, ततो विद्युतं, ततो वरुणं, तत इन्द्रं,

ततः प्रजापतिं ततश्चामानवेनपुरुषेण ब्रह्मप्राप्तिरिति निर्णयः संपद्यते। एवं सति प्रजापतिलोकादन्यस्य कार्यब्रह्मलोकस्यासंभवात् तच्छंकापि भवितुं नार्हति यद्यपि तथापि व्यासोक्तमार्गैक्यममन्वानस्तथावददिति ज्ञायते। परन्तु वेदार्थं निर्णयार्थमेव प्रवृत्तत्वाद् भगवदवतार त्वाच्च तदुक्त एव शास्त्रार्थ इति मन्तव्यम्। किं च स प्रजापति लोकं स ब्रह्मलोकमित्यत्र ब्रह्मपदस्य परवाचकत्वं तेनापिवाच्यं चेत्, तद् दृष्टान्तेनान्यत्रापि तथैव वाच्यम्, बाधकाभावात्।

दूसरी बात यह है कि—"ये चेमेऽरण्ये" इत्यादि श्रुति के अनुसार बादरायमाणचार्य ने "अर्चिरादिनातत्प्रथितेः" सूत्र से उपक्रम में ही दिखलाया कि—अर्चि शब्द का अन्यत्र कहीं किसी अन्य अर्थ में उल्लेख नहीं है, उसके बाद ही "ब्रह्मगमयति" ऐसा उल्लेख है तथा छांदोग्य में जिनका उल्लेख नहीं है ऐसे अन्यत्र उल्लेख्य लोकों का वहीं सन्निवेश करके मार्गैक्य की सिद्धि होती है, उसमें "वायुमब्दात्, तडितोऽधिवरुणो, वरुणाच्चाधीन्द्रप्रजापति" इत्यादि सूत्रों की योजना की। इस प्रकार उन्होंने निर्णय किया कि—सर्व प्रथम अर्चि, उसके बाद अह, फिर शुक्ल पक्ष, फिर उत्तरायण, फिर संवत्सर, फिर वायु, फिर देवलोक, फिर आदित्य, फिर चन्द्रमस, फिर विद्युत, फिर वरुण, फिर इन्द्र, फिर प्रजापति लोक की प्राप्ति होती है वहाँ से अमानव पुरुष ब्रह्सलोक तक पहुँचाता है। इस निर्णय से यह शंका भी निर्मूल हो जाती है कि कार्य-ब्रह्मलोक की प्राप्ति होती है, क्योंकि उक्त क्रम में प्रजापति लोक का स्पष्टोल्लेख है उसके बाद ब्रह्मलोक की चर्चा है। इस पर भी व्यासोक्त मार्गैक्य की बात न मानकर वैसा कहा जाता है। वेदार्थ का निर्णय करने में ही प्रवृत्त भगवदावतार व्यास के द्वारा किया गया निर्णय ही शास्त्रार्थ है, यही मानना चाहिए। यदि कहें कि—"स प्रजापतिलोकं स ब्रह्मलोकं" वाक्य में ब्रह्मपद की पर वाचकता स्पष्ट ही प्रतीन हो रही है फिर जैमिनि की मान्यता की क्या आवश्यकता है? इसका उत्तर भी स्पष्ट है, जहाँ प्रजापतिलोक की चर्चा नहीं है वहाँ के संशय की निवृत्ति के लिए उनकी मान्यता सहायक है।

ननु परस्य व्यापकत्वान्निर्विशेषितत्वाच्च न गन्तव्योपपद्यते। जीवस्याप्यविद्योपाध्यवच्छिन्नतादशायां परब्रह्मणि गन्तृत्वासंभवात् तन्नाशे च वस्तुतोऽभिन्नत्वात् स्वरूपेणावस्थानमेव भवतीति न गन्तृत्वमप्युपपद्ये। तस्यैवाभावात्। जीवत्वदशायां तूपाध्यवच्छेदाद् गन्तृत्वं जीवस्यापरस्य ब्रह्मणश्चाविद्यकरूपनामवत्त्वेनगन्तव्यता चोपपद्यते। उपासनाफलत्वादस्य गमनस्य उपास्यस्य च सगुणत्वेन तत् प्राप्तेरेवोचितत्वाच्च निर्गुणब्रह्मविद्यावतो गंतृत्वासंभव इत्युक्तमतो

बादरिमतमेव साधीयः । न च ब्रह्मपदस्य मुख्यार्थत्वमुक्तरीत्यात्र सम्भवत्यतोऽत्रा-मुख्यार्थत्वमेवानुर्त्तव्यमिति चेत् ।

प्रतिपक्षी कहते हैं कि—परब्रह्म तो व्यापक और निर्विशेष हैं अतः उनके निकट पहुँचना असंभव है । जीव भी जिस समय अविद्या से आवृत्त रहता है उस समय तो वहाँ जा नहीं सकता, अविद्या का नाश हो जाने पर उसमें और परमात्मा में कोई भेद नहीं रह जाता, क्योंकि वह स्वरूप में अवस्थित हो जाता है, अतः उसके आने जाने की बात कथन मात्र ही है । यदि अविद्या से आवृत्त जीव दशा में जाने की बात मानी जाय तो जीव और परब्रह्म की अविद्या युक्त रूपनाम युक्तता सिद्ध होती है । यदि उपासना के फलस्वरूप जीव का गमन मानते हैं तो उपास्य को भी सगुण मानना होगा तभी उसकी प्राप्ति की बात उचित हो सकती है, फिर निर्गुण ब्रह्म विद्या के ज्ञाता तो वहाँ जा नहीं सकते । इसलिए बादरि का मत मानना चाहिए उसी से सब कुछ संगत होगा । ब्रह्मपद की मुख्यार्थता जैमिनि की रीति से स्वीकारना ठीक नहीं है यहाँ तो मुख्यार्थता का ही अनुसरण करना चाहिए ।

स्यादेतदेवं यद्यौपाधिकमुपास्यरूपं जीवत्वं वास्याद् न त्वेवम् । प्रकृतैता-वत्वं हि प्रतिषेधतीत्यादिभिस्तद्गुणसारत्वाच्च तद्व्यपदेश इत्याद्यधिकरणैः श्रुत्यर्थनिर्णयेन ब्रह्मणिविशेषाणामौपाधिकत्वस्य जीवपुरुषोत्तमाभेदस्य च पुरस्तादेव निरस्तत्वात् । न च व्यापकत्वं गन्तव्यत्वे बाधकम् । प्रारब्ध भोग विना तत्प्राप्त्यसंभवात् यदा तत्र तद्भोगसमाप्तिस्तदा तत्प्राप्तिर्निष्प्रत्यू-हत्वात् । किं च उपास्यरूपाणां सर्वेषां निर्गुणत्वमेव उपासकस्य, परं सगुण-त्वेन, तत्तारतम्यात् फलतारतम्यम् । यस्तु भगवदनुग्रहेण प्राकृतगुणरहितोऽभूत स निर्गुणब्रह्मविद्यावानित्युच्यते । तादृशस्यैव मुक्तिप्रकारद्वयमुक्तं, सद्योमुक्ति-क्रममुक्तिभेदेन । "न तस्मात् प्राणा उत्क्रामन्त्यत्रैव समवलीयन्ते, ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति" इत्यादि श्रुतिस्तु प्रारब्धरहित विषया । निर्गुणब्रह्म विद्या-वतोऽपि प्रारब्धभोगस्तु त्वयाऽपि वाच्योऽन्यथा प्रवचनासंभवेन ज्ञानमार्ग एवो-च्छिद्येत् । "ते ब्रह्मलोकेतु परान्तकाल एव" येषां प्रारब्धभोगसमाप्तिस्तद्-विषयिणीति मन्तव्यम् । अन्यथा "वेदांतविज्ञान" इत्यादि उक्तधर्म विशिष्टानां मुक्तौ विलम्बो नोपपद्य इतिदिक् ।

उक्त शंका तो तभी हो सकती थी, जबकि ब्रह्म, नामधारी जीव ही उपास्य होता, सो तो है नहीं अतः शंका व्यर्थ है । "प्रकृतैवत्वं हि प्रति-षेधति" इत्यादि तृतीय अध्याय के तथा "तद् गुणसारत्वात्तु तद्व्यपदेश"

इत्यादि द्वितीय अध्याय के अधिकरणों से श्रुत्यर्थ का निर्णय करते हुए, ब्रह्म में औपाधिक विशेषताओं का तथा जीव पुरुषोत्तम के अभेद का पहिले ही निरास कर चुके हैं। अतः परमात्मा की व्यापकता, जीव की गंतव्यता में बाधक नहीं होती। प्रारब्ध भोग के बिना तो, उनकी प्राप्ति संभव है नहीं, जब भोग की समाप्ति हो जायेगी तभी उनकी निर्विघ्न प्राप्ति हो जायेगी। दूसरी बात यह है कि—सभी उपास्य रूपों की निर्गुणता तो स्वाभाविक है ही, उपासक सगुण है अतः वह अपनी भावनानुसार उपासना करता है और उसी तारतम्य से फल भी पाता है। जो भगवत् कृपा से प्राकृत गुणों से रहित हो जाता है उसे निर्गुण विद्यावान कहते हैं। निर्गुण ब्रह्म विद्यावान भी प्रारब्ध भोग भोगते हैं, ऐसा तो तुम्हें कहना पड़ेगा, यदि ऐसा नहीं मानेंगे तो प्रवचन ही असंभव हो जायेगा जिससे ज्ञानमार्ग का ही उच्छेद हो जायेगा। अर्थात् ज्ञानमार्ग के लिए जो यह उपनिषद् का प्रवचन है कि—"ते ब्रह्मलोके तु परान्तकाल एव" वह प्रारब्ध भोग की समाप्ति के बाद का ही सूचक है। "वेदांत विज्ञान विनिश्चितार्थाः" में जिन विशिष्ट धर्म युक्त जीवों के मोक्ष की चर्चा की गई है, उनकी मुक्ति में विलम्ब की क्या आवश्यकता थी विलम्ब ही प्रारब्ध भोग का सूचक है।

न च कार्ये प्रतिपत्त्यमिसंधिः ।४।३।१५।।

अपि च "ब्रह्मविदाप्रोतिपरम्" इति संक्षेपेणोक्त्वा "तदेषा अभ्युक्ता" इति तद्विवरिकां ऋचं प्रस्तुत्य सोक्ता "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" "यो वेद निहितं गुहायां परमेव्योमन्" साऽनुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विवश्चिता "इतिऽ अत्रोपक्रमानुरोधेन परेणैव ब्रह्मणासह सर्वकामभोग लक्षणा प्रतिपत्तिरुच्यत इति कार्यरूपे वस्तुमात्रे प्रत्तिपत्तिर्नक्वापि श्रुतेरभिप्रेताऽतोऽत्रापि परमेव ब्रह्मपदेनोच्यते। ऋगर्थत्वादानन्दमयाधिकरणेप्रपंच इति नात्रोक्तः।

"ब्रह्मविद परम को प्राप्तकरता है" ऐसा संक्षेप में उल्लेख करके "तदेषाऽभ्युक्ता" इत्यादि उसकी विवेचना करने वाली श्रुति को प्रस्तुत करके "ब्रह्मसत्यज्ञान अनन्तरूप है" जो हृदयस्थगुहा के दिव्याकाश में निहित परमात्मा को जानता है "वह विद्वान परमात्मा के साथ समस्त कामनाओं को भोग करता है" इत्यादि उपक्रम में परम ब्रह्म के साथ सर्वकामभोग लक्षण वाली प्रतिपत्ति कही गई है कार्यरूप समस्त वस्तुओं की प्रतिपत्ति श्रुति को अभिप्रेत नहीं है इस-

लिए यहाँ भी परम ब्रह्मपद प्रयोग किया गया है। इस ऋचा की व्याख्या आन-न्दमयाधिकरण में कर चुके हैं इसलिए यहाँ नहीं की।

अप्रतीलम्बनान्नयतीति बादरायण उभयथादोषात्तत्क्रतुश्च ।४।३।१६।।

क्रममुक्त्याधिकारिणः प्रारब्धं भुक्त्वाऽमानवेन पुरुषेण प्रापिताः परमेव ब्रह्म प्राप्नुवन्तीतिसिद्धम्। तत्रेदं संदिह्यतेऽर्चिरादिलोकप्राप्तिह्य्ुपासना विशेषफलम्, एवं सति अमानवः पुरुषस्तान् सर्वान ब्रह्मप्रापयत्युत कांश्चिदेवेति। किमत्रयुक्तम्। सर्वानेवेति। यतोऽर्चिरादिमार्गगतानामन्ते ब्रह्मप्रापणार्थमेव स नियुक्त-स्ततोऽन्यथाकरणे हेत्वभावात्तथैव स कर्त्तेति प्राप्ते, उच्यतेश्रुतौ ब्रह्मत्वेनैव सर्वत्रोपासनाया उक्तत्वादुपास्येषु भगवद्विभूतिरूपत्वेन शुद्ध ब्रह्मरूपेष्वप्यतथात्वं ज्ञात्वा श्रुतिर्ब्रह्मत्वोपासनायाः फलसाधनत्वं वदति, नतूपास्ये ब्रह्मत्वामपीति-मन्वाना य उपासते ते प्रतीकालम्बना इत्युच्यन्ते। तथा च सत्यपि वेदविहित-त्वेनोपासनायाः कृतत्वेन सफलत्वात् तत्फलत्वेनोपासकानामर्चिरादिलोक प्राप्ता-वपितानवानवः पुरुषोब्रह्म न प्रापयति, किन्तु शुद्ध ब्रह्मत्वं ज्ञात्वा य उपासते तानेव ब्रह्मप्रापयति इति बादरायण आचार्यो मन्यते। तत्र हेतुमाह—उभयथा-दोषादिति। वस्तुतो यद् ब्रह्मरूपं तत्राब्रह्मत्वनिश्चय उपासनार्थं च ब्रह्मत्वेन भावनमेवमुभयथा करणे दोषः संपद्यत इति तस्य न ब्रह्मप्राप्तावधिकारोऽस्तीति-युक्तं तदनयनमित्यर्थः। तथा च श्रुतिः "असन्नेवसभवति, असद् ब्रह्मेति वेद चेदिति, योऽन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा प्रतिपद्यते, किं तेन न कृतं पापं चोरेणा-त्मापहारिणा "इति। एवं ज्ञानमार्गीय व्यवस्थामुक्त्वाभक्तिमार्गीयस्यापि तामाह—तत्क्रतुश्चेति।" सर्वं मद्भक्तियोगेन "इति वाक्यान्न तस्योपासनापेक्षेति न प्रतीकादि संभावना तत्रकथंचिद् यदि वाञ्छतीतिवाक्यादिच्छामात्रेण तद्भोग-करणानन्तरं प्राचीन भगवद्भजनलक्षणक्रतुश्च नीयते इत्यर्थः। वस्तुतस्तु भक्तस्य अमानवपुमपेक्षाभावात् स्वयमेव ब्रह्मलोकान् प्राप्नोति इतिज्ञापपाय प्रपमान्त उक्तः।

क्रममुक्ति के अधिकारी प्रारब्धभोगकर अमानवपुरुष से ब्रह्म के निकट पहुंचाए जाते हैं अतः वे परमब्रह्मको प्राप्त करते हैं। इस पर संदेह होता है कि अर्चिरादि लोक प्राप्ति तो उपासना विशेष का फल है, अतः अमानब पुरुष उन सभी को ब्रह्म तक ले जाता है अथवा किसी-किसी को ही ले जाता है। सही क्या है? कह सकते हैं कि—सभी को ले जाता है क्योंकि—अर्चिरादिमार्ग में गए हुए लोगों को अन्त में ब्रह्म प्राप्ति कराने के लिए ही वह नियुक्त है,

यदि वह वैसा नहीं करता तो, मनमानी करने से वही कर्त्ता सिद्ध होगा। इस पर कहते हैं कि—श्रुति में सब जगह ब्रह्मत्व रूप से ही उपासना का विधान है, उपास्यों में, भगवद् विभूति रूप होने से ही उपासना की जाती है, शुद्ध-ब्रह्मरूपों की वैसी ही उपासना होती है, इस प्रकार श्रुति ब्रह्मत्व उपासना कर फल बतलाती है। जो लोग प्रतीक को अवलम्ब मानकर उपास्य में ब्रह्मता मानते हुए उपासना करते हैं उनको उपासना का फल नहीं बतलाती। इस प्रकार की उपासना वेद विहित है तथा इसके फलस्वरूप उपासकों को अर्चिरादि मार्ग की प्राप्ति भी होती है, किन्तु अमानव पुरुष ऐसे उपासकों को ब्रह्म प्राप्ति नहीं कराता अपितु शुद्धब्रह्मभाव मानकर ही जों उपासना करते हैं उन्हें ही ब्रह्म प्राप्ति कराता है ऐसी बादरायणाचार्य की मान्यता है। इसमें कारण बतलाते हुए वे दो प्रकार से दोष बतलाते हैं। उनका कथन है कि—वस्तुतः जो ब्रह्मरूप है, उसमें अब्रह्मत्व की धारणा करना तथा उपासना के लिए उसमें ब्रह्मत्व की भावना करना दोनों ही दोष हैं ऐसे लोगों कों ब्रह्मप्राप्ति का अधिकार नहीं प्राप्त होता इसलिए ऐसे लोगों का अमानव पुरुष के द्वारा ब्रह्मप्राप्ति न कराना सुसंगत ही है। ऐसी श्रुति भी है—"जो ब्रह्म को असत मानकर चलता है वह असद् प्राप्ति ही करता है," जो अन्य प्रकार के ब्रह्म स्वरूप को उससे विपरीत ही मानता है वह आत्महत्यारा चोर कौन सा पाप नहीं करता। "इत्यादि। इस प्रकार ज्ञान मार्गीय व्यवस्था बतलाकर भक्ति-मार्गीय की भी उसी रीति से बतलाते हैं कि—"सर्वं मद्भक्ति योगेन" से ज्ञात होता है कि—भक्तिमार्गीय जीव को ब्रह्मप्राप्ति में उपासना की अपेक्षा नहीं रहती और न प्रतीकादि की ही सम्भावना रहती है। "तत्र कथंचिद् यदि वांच्छति" इस वाक्य से ज्ञात होता है कि—इच्छामात्र से भक्तियोगी, अर्चिरादि लोकों भोगों के बाद, प्राक्तन् भगवद्भजन रूपी यज्ञ के प्रभाव से अमानवपुरुष द्वारा ले जाए जाते हैं। वस्तुतः भक्त को अमानव दिव्यपुरुष की अपेक्षा ही नहीं होती वह स्वतः ही ब्रह्मलोक की प्राप्ति कर लेता है, इसी भाव से "तत्क्रतुः" ऐसा प्रथमान्त प्रयोग सूत्रकार करते हैं।

ननु "ब्रह्मणोऽधिकं न किंचिदस्ति," न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते "इति श्रुतेः। एवं सति छांदोग्ये सनत्कुमारनारदसंवादे—" स यो नाम ब्रह्मेत्युपास्ये "इत्यादिना नामवाङ्मनः संकल्पचित्तध्यानविज्ञानादीनां ब्रह्मत्वेनोपासनमुत्तरोत्तरं पूर्वस्मात् पूर्वस्माद् भूयस्त्वं चोच्यते अतो न ब्रह्मत्वं सर्वेषामुपास्यानां वक्तुं शक्यमिति चेत्। मैवम्—विभूति रूपाणां नियतफलदातृत्वाद येन रूपेणा-

ल्पफलदानं तत्राधिक गुणप्राकट्ये प्रयोजनाभावात् तावन्मात्रगुण प्रकटनं येन रूपेण ततोऽधिकफलदानं तत्र ततोऽधिकगुणप्रकटनमिति पूर्वस्मादाधिक्यमुच्यते। एवमेव सर्वत्र। नियतफलदानं तु स्वतंत्रेच्छत्वाल्लीलारूपमिति नानुपपन्नंकिंचित् प्रतिमादिष्वावाहनेन सन्निहिते विभूतिरूपे तद्भावनं पूजामार्गे तु भक्त्या तत्र प्रकटेतथा। "गुरौ तु,—शाब्देपरे च निष्णातं ब्रह्मणि" इति विशेषणवत्वेन-भगवदावेशात् तत्र तद्भावनमिति सर्वमवदातम्।

"ब्रह्म से अधिक कुछ नहीं है, उसके समान या अधिक कुछ भी दृष्टिगत नहीं होता "ऐसी श्रुति प्रसिद्ध है फिर छांदोग्य के सनत्कुमार नारद संवाद में—" जो नाम ब्रह्म की उपासना करता है "इत्यादि में जो नामवाणीमन संकल्प चित्त ध्यान विज्ञान आदि की उपासना ब्रह्मत्वभाव से उत्तरोत्तर श्रेष्ठ बतलाई गई है उसका क्या तात्पर्य है, सभी उपास्यों का तो ब्रह्मत्व नहीं कह सकते। इस संशय पर कहते हैं कि—विभूतिरूपों का नियतफल मिलता है, जिस रूप से अल्पफल मिलता है, उसमें अधिक गुण बतलाने का तो कोई महत्व है नहीं अतः उतनी ही महत्ता बतला दी गई जिस रूप से, उससे अधिक गुण-प्रकट न हो सकता है उसे, अधिक बतलाया गया है, ऐसा ही सब जगह मिलता है। नियतफल प्रदान करना तो सर्वतंत्र स्वतंत्र परमात्मा की लीला मात्र है, अतः उस पर संशय करना व्यर्थ है। प्रतिमा आदि में प्रभु का आवाहन किया जाता है उस सन्निहित विभूतिरूप में ब्रह्मभाव होता है अतः भक्ति से उसमें प्राकट्य होता है। इसी प्रकार गुरु में भी "शाब्देपरेचनिष्णातं ब्रह्मणि" इस विशेषण से भगवदावेश ज्ञात होता है अतः ब्रह्मभाव माना जाता है, जो कि सुसंगत ही है।

अपि च बादरिजैमिनि मतोक्त्यनन्तरं स्वमतोक्त्या तेत् समानविषयत्वमत्रा-पीत्यवगम्यते। तत्र च कार्यब्रह्मलोक प्राप्ति परब्रह्मप्राप्ति विषयत्व मुक्तं पूर्वोत्तरपक्षभेदेन। बादरिमते सविशेषस्यैवोपास्यत्वाद् विशेषाणां चाविद्यकत्वा-दुपासनानां सर्वासां प्रतीकतद्रूपत्वमेव सिद्धयति। एवं सत्यप्रतीकालम्बनान्नयति इति वदताव्यासेन बादरिमतानुसारिणि उपासकस्य न कस्यापि ब्रह्मप्राप्तिरिति ज्ञाप्यते। वस्तुतस्तूपासनायामुपास्यस्वरूपज्ञास्याप्यंगत्वात्तन्मतीयानामुक्तरीत्या तदभावेन निरङ्गत्वादर्चिरादिप्राप्तिरपि न संभवति, किं पुनर्ब्रह्मण इति निगूठा-शयो व्यासस्य। एवं सति पर प्राप्तावेवोपोदवलकमुक्तं भवतीति सैव व्यासा-भिमतेतिसिद्धम्।

दूसरी बात यह है कि—बादरि जैमिनि के मतों को बतलाकर अपने मत

को सूत्रकार प्रस्तुत करते हुए अपने विषय को उनके समान सिद्ध करते हैं। उन मतों में कार्यब्रह्मलोक और ब्रह्मलोक प्राप्ति ये दो पूर्व और उत्तर पक्ष हैं। बादरि के मत में सविशेष ही उपास्य है अतः विशेषों की अविद्या सिद्ध होती है, इस प्रकार सभी उपासनाओं की प्रतीक तद्रूपता निश्चित होती है। "अप्रतीकालम्बनान्नयति" इस व्यास कथन के अनुसार निर्णय होता है कि—बादरि मत के अनुसार किसी भी उपासक की ब्रह्मप्राप्ति नहीं होती। वस्तुतः तो उपासना में उपास्य स्वरूप का ज्ञान, उपासना अंग है, बादरिमत में उसका अभाव है अतः वह अधूरी है इसलिए अर्चिरादि प्राप्ति भी सम्भव नहीं है फिर ब्रह्मप्राप्ति की बात तो बहुत दूर है, यह व्यास का निगूढ आशय है। पर प्राप्ति ही श्रुति सिद्धान्त है यही व्यासाभिमत भी है।

ये तु प्रतीकेष्वब्रह्म क्रतुत्वं वदन्तः पंचाग्निविद्यायास्तथात्वेऽपि वचनवलात् तद्वतो ब्रह्मप्राप्तिरिति वदन्ति, तत्रेद मुच्यते, वचनंतु वस्तुसतः पदार्थस्य बोधकं न तु कारकमतस्तच्चेद बोधयति तदाऽप्रतीकालम्बनान्नयतीति व्यासोक्त्यविरोधाय तत्राप्यप्रतीकत्वमुरीकार्यम्। अन्यथा पंचाग्निविद्यानिरूपिकां श्रुतिं पश्यन्नेवं स न वदेत्। न चौत्सर्गिकं पक्षमाश्रित्य तथोक्तामिति वाच्यम्। तस्य बाधकापनोद्यत्वाद् वचनस्य चोक्तन्यायेनाबाधकत्वात्। यत्रवचनस्य बाधकत्वमुच्यते तत्र बाध बोधकत्वमेव, न तु तथात्यमित्युपेक्षणायास्ते।

जो लोग प्रतीक में अब्रह्मक्रतुता बतलाते हैं एवं श्रुति वचन के बल से पंचाग्निविद्या की ब्रह्मक्रतुता बतलाकर ब्रह्मप्राप्ति बतलाते हैं, इस पर कहते हैं कि—श्रुति वचन, सत पदार्थ का बोधक है कारक मत का बोधक तो है नहीं। "अप्रतीकालम्बनान्नयति" इस व्यासोक्ति से विरुद्धता न हो इसलिए वहाँ भी अप्रीतकत्व मानना चाहिए। यदि ऐसी बात वहाँ न होती तो पंचाग्नि विद्या की निरूपिका श्रुति "पश्यन्नेवं स" ऐसा न कहती। मोक्ष पक्ष का आसरा लेकर वैसा कहा गया है, ऐसा भी नहीं कह सकते इस प्रकार की बाधा का निराकरण करने से ही श्रुति वचन की निर्बाधता, उक्त विचार से निश्चित होती है। जहाँ वचन कीं बाधकता बतलाते हैं, वहाँ बाधबोधकता मात्र ही है यथार्थता बोधक नहीं है।

ननु मनः प्रभृतीनां शुद्ध ब्रह्मत्वे मनोब्रह्मोपास्त इतिवदेन्न तु प्रकारवाचीति शब्दशिरस्कं ब्रह्मपदमत उपासनाप्रकारावच्छेदकत्वमेव ब्रह्मपदस्य, न तु स्वरूपन्विरूपकत्वमिति चेद्, हन्तेदंशब्दार्थानवगमविजृंभृतमेव यतो मन

उपास्वेत्युक्त्वा तदुपासनाफलं यावन्मनोगतं तत्रास्य कामचारो भवतीति वदिष्यन् यस्तदुपासनायाएतत्फलसाधकत्वे प्रयोजकरूपाकांक्षायामाह—मनो ब्रह्मेति । इतिशब्दोऽत्र हेतुत्ववाची । तथा च यतो मनो ब्रह्मातो हेतोस्तदुपासनं तादृक्फल साधकमित्यर्थः । अतएव मनोहि ब्रह्ममन उपास्वेति पूर्वमुक्तम् । सर्वत्रैवमेव ज्ञेयम् ।

यदि कहो कि मन प्रभृति के शुद्ध ब्रह्मत्व की जो बात है, वहाँ "मनो ब्रह्मोपास्ते" ऐसा कहते हैं प्रकारवाची नहीं कहते, यहाँ ब्रह्म पद शब्दशिरस्क (प्रधान) है, इस प्रकार ब्रह्मपद उपासना प्रकार का अवच्छेदक है, ब्रह्म-स्वरूप का निरूपक नहीं है । ये आपके शब्दार्थ न जानने की बलिहारी है, देखिये—"यतो मनउपास्व" ऐसा कहकर उसके उपासना के फल को "यावन्मनोगतं तत्रास्य कामचारो भवति" ऐसा कहकर, उस उपासना की ऐसी फल साधकता के प्रयोजक रूप संबंधी आकांक्षा का "मनो ब्रह्म" इत्यादि उत्तर दिया गया है । इस प्रसंग में इति शब्द हेतुत्ववाची है । मनो ब्रह्म की जिस हेतु से उपासना बतलाई गई है तदनुरूप ही उसकी फल साधकता भी है । इसलिए मन ही ब्रह्म है इस आशय से "मन ब्रह्मउपास्व" ऐसा पहले कहा गया है । सभी जगह ऐसा ही समझना चाहिए ।

विशेषञ्जदर्शयति ।४।३।१७।

सर्वाण्युपास्यानि रूपाणि ब्रह्मरूपाण्येवेतितदुपासकानां परप्राप्तिरेवेति सिद्धम् । तत्रेदं चिन्त्यते-ज्ञानमार्गीयाणां भक्तिमार्गीयाणां चाविशेषेणैवपरप्राप्तिरुत कश्चिद् विशेषोऽस्ति इति ? तत्र उभयोरपि ब्रह्मोपासकत्वेना विशेषेणैव-फलं भवति इति प्राप्ते प्रत्याह । विशेषञ्च श्रुतिर्दर्शयति । तैत्तरीयके पठ्यते "ब्रह्मविदाप्नोतिपरम्" इति । गूढाभिसंधिना सामान्यत एतावदुक्त्वा गूढंतमुद्घाटयन्त्यति गोप्यत्वमस्मिन्नर्थेऽनुभवैकवेद्यत्वं च ज्ञापयन्त्याह—"तदेषाऽभ्युक्ता, सत्यंज्ञानमनंतंब्रह्म, योवेद निहिपं गुहायां परमेब्योमन, सोऽस्नुतेसर्वान् कामान सह ब्रह्मणा विवश्चिता" इति । ततपूर्वोक्तं प्रतिपाद्यत्वेनाभिमुखीकृत्यौषर्गुक्ता, तदनुभवकर्तृभिरितिशेषः । ब्रह्मविदक्षरब्रह्मविदाप्नोति सान्निध्यादक्षरमेवाप्नोति एतावानर्थो, "यो वेदेति" अन्तर्यचेक्तिः । अथ परमाप्नोतीत्यस्यार्थं उच्यते-निहितमित्यादिना । अतएवमध्ये क्रियापदमुभयसंबंधित्वज्ञापकमुक्तम् । तत् प्राप्तिश्च मर्यादापुष्टिभेदेन द्वेधा । तत्रादौ मर्यादायामुच्यते इहायमाशयोज्ञेयः नायमात्मा प्रवचनेनेति श्रुत्या भगवद्वरणातिरिक्त साधननिरासः क्रियते

पुरुषोत्तम प्राप्तौ। एवं सत्यक्षरब्रह्मज्ञानस्य तत्साधनत्वे उच्यमाने तद्विरोधः स्यात् तेनैवमेतदर्थो निरूप्यते।

यह निश्चित हो चुका है कि सारे ही उपास्य रूप ब्रह्म रूप ही हैं उनके उनके उपासकों को उन उपासनाओं के फलस्वरूप परब्रह्म प्राप्ति ही होती है। अब विचारते हैं कि ज्ञानमार्गीय और भक्तिमार्गीय जीवों की सामान्यतः एक-सी परप्राप्ति होती है या कुछ विशेष प्रकार की होती है ? हैं तो दोनों ही ब्रह्म उपासक अतः दोनों को एक ही सी ब्रह्म प्राप्ति होती होगी। इस विचार कर सूत्रकार कहते हैं कि विशेष प्रकार से होती है, श्रुति में स्पष्ट उल्लेख है। तैतरीयक में पाठ है, "ब्रह्मविद पर प्राप्ति करता है", इस पाठ में गूढाभिसंधि सामान्य उल्लेख करके उस गूढ़ता को बड़े ही गोपनीय ढंग से उद्घाटन करते हुए इस तत्व को अनुभवैकगम्य बतलाते हैं—"तदेषाऽभ्युक्ता, सत्यंज्ञानमनंतं ब्रह्म, योवेद निहितगुहायां वरमेक्योमन् सोऽश्नेते सर्वान् कामान सह ब्रह्मणां-विपश्चिता" इत्यादि। "ब्रह्मविदाप्नोतिपरम्" ऋचा के प्रतिपादन के लिए ही उक्त ऋचा कही गई है, उनके अनुभव करनेवालों को ही परप्राप्ति होती है, यही गूढाशय है। ब्रह्मविद् का तात्पर्य है, अक्षरब्रह्मविद्, सानिध्य होने से अक्षर की ही प्राप्ति करता है, यही बात है "योवेद" इस ऋचा में कही गई है। "परमाप्नोति" इस अर्थ को "निहितम्" इत्यादि ऋचाँ से प्रस्फुटित किया गया है। इन ऋचाओं से मध्य का क्रियावद दोनों के संबंध का ज्ञापक है। परप्राप्ति, मर्यादा और पुष्टिभेद से दो प्रकार की होती है। ज्ञान-मार्गियों की प्राप्ति मार्यादी होती है यही आशह जानना चाहिए। "नायमात्मा प्रवचनेन लभ्य" इत्यादि। श्रुति पुरुषोत्तम प्राप्ति में भगवद्वरण को अति-रिक्त साधन का निरास करती है। प्रवचन आदि साधन अक्षरब्रह्मज्ञान सम्बन्धी है परब्रह्म ज्ञान में इनकी विरुद्धता है, यही भाव इस ऋचा में दिख-लाया गया है।

ज्ञानमार्गीयाणामक्षरज्ञानेनाक्षरप्राप्तिस्तेषांतदेकपर्यवसायित्वात्, भक्तानामेव पुरुषोत्तमपर्यवसायित्वात्। तदुक्तं भगवद्गीतासु—"एवं सतत् युक्ता य" इति प्रश्ने "मय्यावेश्य मनो ये मां, येत्वक्षरमनिर्देश्यम्। श्रीभागवते च—" "भक्त्याहमेकयाग्राह्यः, तस्मान्मद् भक्तियुक्तस्य" इत्युषकम्म। "न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेदिह" इत्यादिना। तथा च ब्रह्मविदं वेद भगवान् वृणुते भक्ति सदेति। तत्प्रचुरभावे ससिस्वयंतद्हृदिप्रकटी भविष्णुः स्वस्थान-

भूतंव्यापि वैकुण्ठं तद्गुहायाँ हृदयाकाशे प्रकटी करोति तत् परमव्योमशब्दे-नोच्यते। अलौकिक प्रयोगेण तस्यालौकिकत्वं ज्ञाप्यते। यथा स्वस्थापितं वस्तु अवश्यं दर्शनयोग्यं भवति तथात्र भगवानपीतिज्ञापनाय निहितमित्युक्तम्। तथा च परमाप्नोति इति पदविवृत्तिरूपत्वादस्य गुहायां परमेव्योम्नि निहितं योवेद स, नास्य प्राणा उत्क्रामन्ति इहैव सभवलीयन्ते ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति" इति श्रुति उक्तरीत्या परमाप्नोतीत्यर्थः संपद्यते।

ज्ञानमार्गीय, अक्षरज्ञान होने से एकमात्र अक्षर प्राप्ति ही करते है भक्तों को पुरुषोत्तम प्राप्ति तक हो जाती है। भगवद्गीता में स्पष्ट कहा भी है—"एवं सतत् युक्ता ये" इस प्रश्न पर "मय्यावेश्यमनो ये मां, ये त्वक्षरमनि-र्देश्यं" इत्यादि उत्तर दिया गया है। श्रीभागवत में—"भक्त्याहमेकया ग्राह्यः" तस्मान्मद्भक्तियुक्तस्य," ऐसा उपक्रम करके "न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेदिह" इत्यादि से भी स्पष्ट उल्लेख है। ब्रह्मवेत्ता को यदि भगवान वरण कर लेते हैं तभी उनमें भक्ति का उदय होता है। भक्ति के प्रचुरभाव होने पर स्वयं उसके हृदय में प्रकट होकर अपने स्थान वैकुण्ठ को उनके हृदय के गुहाकाश में प्रकट करते हैं, यही बात "परमेव्योमन" शब्द से कही गई है। अलौकिक प्रयोग से उसकी अलौकिकता ज्ञात होती है। जैसे कि अपनी रक्खी हुई वस्तु अवश्य ही दृष्टिगोचर हो जाती है वैसे ही भगवान भी हैं, यही बतलाने के लिए "निहितं" पद का प्रयोग किया गया है। "परम आप्नोति" इस पद की विवृत्ति के रूप से यह अर्थ प्रकट होता है कि—गुहास्थित परम व्योम में निहित ब्रह्म को जो जानता है उसके प्राण उत्क्रमण नहीं करते यहीं लीन हो जाते हैं ब्रह्म होकर ब्रह्म को प्राप्त करता है" यह श्रुति उक्त रीति से परम प्राप्ति का उल्लेख करती है।

अथपुष्टिमार्गेऽङ्गीकृतस्य व्यवस्थामाह—"सोऽमृनुते" इत्यादिना अत्रायमणि-संधिः, यथास्वयंप्रकटीभूयलोके लीलांकरोति तथाऽत्यनुग्रहवशात् स्वान्तः स्थित-मपि भक्तं प्रकटीकृत्य तत् स्नेहातिशयेनतद्वशः सन् स्वलीलारसानुभवं कारय-तीति स भक्तो ब्रह्मणा परब्रह्मणा पुरुषोत्तमेन सह सर्वान् कामानश्नुत इति। चकारादुक्ता श्रुतिः स्मृतयश्च संगृह्यन्ते। एवं सति ज्ञानमार्गीयाणामक्षर प्राप्ति-देव, भक्तोनामेव पुरुषोत्तम प्राप्तिरितिसिद्धम्।

"सोऽश्नुते" इत्यादि से पुष्टिमार्ग में अंगीकृत जीव की व्यवस्था बतलाते हैं। इस वाक्य का तात्पर्य है कि—जैसे भगवान स्वयं प्रकट होकर लोक में

लीला करते हैं, वैसे ही अति कृपा करके भक्त के अन्तःकरण में अपने को प्रकट करके उसके स्नेहातिशय से उसके वशंगत होकर, अपनी लीला का रसानुभव कराते हैं, वह भक्त ब्रह्म अर्थात् परब्रह्म पुरुषोत्तम के साथ समस्त कामनाओं की अनुभूति करता है। चकार के प्रयोग से, उक्त श्रुति के अनुरूप स्मृति की ओर ईमन किया गया है। ज्ञानमार्गीय को अक्षर प्राप्ति होती है, तथा भक्तों को पुरु-षोत्तम प्राप्ति होती है, यही निश्चित होता है।

चतुर्थ अध्याय

चतुर्थ पाद

१ अधिकरण :—

संपद्याविर्भावः स्वेन शब्दात् ।४।४।१।।

"ब्रह्मविदाप्नोतिपरम्" इत्युपक्रम्य "सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा-विपश्चिता" इति तैत्तरीयके पठ्यते। तत्रेदं संदिह्यते—किमन्तः स्थित एव अश्नुते, उतपुनर्जन्म प्राप्येति। तत्राऽन्त्यस्त्वनुपपन्नः, न स पुनरावर्त्तते, तेषामिह न पुनरावृत्तिरस्तीत्यादि श्रुतिविरोधात् कर्माभावाच्चेतिप्राप्ते प्रतिवदति संपद्य, ब्रह्मसंपद्यापिस्थितस्य जीवस्य प्रभोरत्यनुग्रहवशात् स्वरूपात्मकभजनानन्ददित्सायां तत्कृत आविर्भावो भवत्येव। भगवदधीनत्व ज्ञापनायास्य तत्र कर्त्तृत्वं नोक्तम्।

"ब्रह्मविद पर प्राप्ति करता है" ऐसा उपक्रम करके "वह ब्रह्म के साथ समस्त कामनाओं का भोग करता है" ऐसा तैत्तेरीय का पाठ है। इस पर संदेह होता है कि अन्तःकरण में स्थित होकर ही भोग करता है अथवा पुनर्जन्म प्राप्त करके भोगता है? अन्त: में तो सम्भव है नहीं क्योंकि—"न स पुनरावर्त्तते" तेषामिह न पुनरावृत्तिः "इत्यादि श्रुति का विरोध होता है, और उस जीव के कर्मों का नाश भी हो जाता है इस मत का प्रतिवाद करते हैं कि—मुक्ति के बाद भी प्रभु के अति अनुग्रह से जीव की स्थिति रहती है, अत: स्वरूपात्मक भजनानन्द की दित्सा के फलस्वरूप उसके स्वरूप आविर्भाव होता है। भगवदाधीनता बतलाने के लिए उक्त स्थिति में जीव के कर्तृत्व का उल्लेख नहीं किया गया है।

ननूक्तं न स पुनरावर्त्ततइत्यादि श्रुतिविरोधः कर्माभावश्च बाधक इत्यत आह, स्वेनेति, स्वशब्दोऽत्र भगवद्वाची। तथा च भगवत्स्वरूपबलेनैवाविर्भाव इत्यर्थः। एवं सत्युक्त श्रुतिर्मर्यादामार्गविषयिणीति न विरोध इतिभावः। तेषा-मिह प्रपञ्चे न पुनरावृत्तिरस्तीतिहि श्रुतिराह। लीलायाः प्रपञ्चातीतत्वात् तत्रा-विर्भावस्य निषेधाविषयत्वादपिन विरोधः। अत्र प्रमाणाकांक्षायामाह—शब्दा-

दिति—"सोऽश्नुतेसर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता" इति श्रुतिः पुरुषोत्तमेन सह सर्वकामभोगं वदति स॰च न विग्रहं विनासम्भवतीति श्रुतिबलादेव तथा मंतव्यमित्यर्थः।

जो यह कहा कि—"न स पुनरावर्त्तते" इत्यादि श्रुति से विरोध और कर्म का अभाव बाधक होता है उस पर सूत्रकार स्वेन पद का प्रयोग करते हुए कहते हैं कि—उक्त श्रुति में ब्रह्म शब्द का स्पष्ट उल्लेख है, जिसका तात्पर्य होता है कि भगवत्स्वरूप के बल से ही जीव के रूप का आविर्भाव होता है, उक्त श्रुति मर्यादामार्ग से सम्बन्धित है अतः विरोध का प्रश्न ही नही होता। उन मर्यादी जीवों की इस प्रपंच में पुनरावृत्ति नहीं होती यही श्रुति का भाव है। लीला प्रपंच से अतीत होती है अतः वहाँ आविर्भाव का प्रश्न ही नहीं उठता इसलिए भी विरुद्धता नहीं है इसका प्रमाण उस श्रुति के शब्द ही है "सोऽश्नुते" इत्यादि श्रुति पुरुषोत्तम के साथ समस्त कामोपभोग बतलाती है, जो कि बिना विग्रह के सम्भव नहीं है।

हेत्वन्तरमाह—अबदूसरा हेतु उपस्थित करते हैं—

युक्तः प्रतिज्ञानात् ।४।४।२।।

अत्रोपक्रमे "ब्रह्मविदाप्नोति परम्" इति वाक्येन परप्राप्तिलक्षणां मुक्तिं प्रतिज्ञाय हि "सोऽश्नुत" इत्यादिना क्रियते तेन पुष्टिमार्गीय मुक्तिरूपत्वमेव तस्याशनस्य सिद्धयत्यतोऽपि हेतोस्तदाविर्भावस्य न लौकिकत्वं, न चावृत्तिरूपत्वमित्यर्थः।

उक्त वाक्य के उपक्रम में "ब्रह्मविदाप्नोति परम्" से पर प्राप्तिलक्षणा मुक्ति की जो चर्चा की गई है उसे ही "सोऽश्नुते" इत्यादि से दिखलाया गया है, इसमे पुष्टिमार्गीय मुक्ति स्वरूप की बात ही निश्चित होती है, यह अलौकिक स्थिति है अतः जीव का आविर्भाव लौकिक नहीं होता और न उसकी पुनरावृत्ति ही होती है।

आत्माप्रकरणात् ।४।४।३।।

ननु परस्य ब्रह्मणो निर्गुणत्वात् कामभोगस्य गुणसाध्यत्वात् सह ब्रह्मणेत्यत्र ब्रह्मपदं सगुणतत्परमतो न तस्य मुक्तिरूपत्वमित्यतआह। अत्रब्रह्मपदेनात्मा-

व्यापको मायातत्गुणसंबन्धरहितो यः स एवोच्यते। कुतः ? प्रकरणात्। "ब्रह्म-विदाप्नोति परम्" इत्युपक्रम्यतत्पाठाद् गुणातीतस्यैवैतत्प्रकरणमिति तदेवात्र ब्रह्मशब्देनोच्यत इत्यर्थः।

परब्रह्म निर्गुण है, कामभोग गुणसाध्य वस्तु है अतः "सह ब्रह्मणा" वाक्य में ब्रह्मपद सगुण ही मानना समीचीन हैं जीव की मुक्ति इससे संभव भी नहीं है। इस संशय पर कहते हैं कि इस प्रसंग में माया और उसके गुण से रहित व्यापक आत्मा का बोधक ब्रह्मपद है, देखें "ब्रह्म विदाप्नोतिपरम्" वाक्य से प्रसंग का उपक्रम किया गया है, इससे निश्चित हो जाता है कि यह प्रकरण गुणातीत का ही उसे ही यहाँ ब्रह्मशब्द से उल्लेख किया गया है।

अविभागेन दृष्टत्वात ।४।४।४।।

ननु "ब्रह्मविदाप्नोतिपरम्" इतिभिन्नंवाक्यम्, ऋग्भिन्नाऽतोनैकं प्रकरणा-मिति सगुणमेव तत्र ब्रह्मपदेनोच्यत इत्याशंक्य प्रतिवदति पूर्वं वाक्येन समविभा-गेनैवेयम् ऋक् पठिता, न तुविभागेन, कुतः ? दृष्टत्वात्, ब्रह्मविदिति वाक्यान-न्तरं तत्पूर्वोक्तमर्थं प्रतिपाद्यत्वेनाभिमुखीकृत्यैषर्गुक्तेति श्रुतिदृश्यते तदेषाऽभ्युक्ता इति। तेन पूर्ववाक्योक्तार्थमधिकृत्यैवर्गुच्यत इति गुणातीतमेव तदत्र वाच्य-मित्यर्थः।

"ब्रह्मविदाप्नोतिपरम्" यह भिन्नवाक्य है और उक्त ऋचा भिन्न है अतः एक प्रकरण न होने से प्रतीत होता है कि—उक्त ऋचा में प्रयुक्त ब्रह्मपद सगुण ही है। ऐसी आशंका करते हुए प्रतिवाद करते हैं कि—पूर्ववाक्य के समान ही यह ऋचा कही गई है इसमें भेद नही है "ब्रह्मविद्" वाक्य के बाद उसी अर्थ का प्रतिपादन किया गया है "तदेषाऽभ्युक्ता" पद उक्त बात का स्पष्ट उल्लेख करती है, जिससे निश्चित होता है कि—पूर्ववाक्योक्त अर्थ के अनुरूप उक्त ऋचा कही गई है, अतः उसमें कहे गए ब्रह्मपद से गुणातीत अर्थ मानना ही समीचीन है।

२. अधिकरण :—

ब्राह्मेण जैमिनिरुपन्यासादिभ्यः ।४।४।५।।

पूर्वेणमुक्तो जीवो भगवदनुग्रहातिशयेच्छातो बहिराविर्भूतो गुणातीतेन पुरुषो-त्तमेनैव सहसर्वान् कामानश्नुत इतिसिद्धम्। अथ अत्रैवेदं विचार्यते, आविर्भूतो-

जीवः प्राकृतेन शरीरेण भुंक्ते, उताप्राकृतेन इति ? तत्र भोगस्य लौकिकत्वे तदायतनस्यापि तादृशेनैव भवितव्यमित्रति मन्वानंप्रत्याह—ब्राह्मेण, ब्रह्मसंबंधिना ब्रह्मणा भगवतैव स्वभोगानुरूपतया सम्पादितेन सत्यज्ञानानन्दात्मकेन शरीरेण पूर्वोक्तानश्नुत इति जैमिनिराचार्योमनुते। तत्र हेतुरूपन्यासादिभ्य इति। "ब्रह्मविदाप्नोति परम्" इति ब्रह्मविदः परप्राप्ति प्रतिज्ञाय तदर्थस्यैवोपन्यासोऽग्रिमयमर्चा क्रियते 'सोऽश्नुत" इत्यादिना। तथा च परप्राप्तेर्मुक्तिरूपत्वात् पुष्टिमार्गीयायास्तस्या एवं रूपत्वादक्षरब्रह्मणः पुरुषोत्तमायतन रूपत्वात्तदात्मकमेव शरीरंतस्यमुचितं नतु प्राकृतम्। एतद्बोधनायैवाग्रेऽन्नमयादीनिविभूतिरूपाण्युक्तानि। भक्तशरीरे प्रतीयमानानामर्थानां विभूतिरूपत्वेन ब्रह्मात्मकत्वं तेन साधितंभवति। इद मेवादिपदेनबहुवचनेन च ज्ञाप्यते। एतदानन्दमयाधिकरणे प्रपंचितमतो नाऽत्रपुनरुच्यते। यत्र कर्मवादी जैमिनिरेवं मनुते तत्रान्येषामेवाङ्गीकारे किमाश्चर्यमिति ज्ञापनाय तन्मतोपन्यासः कृतः।

पूर्व अधिकरण से, जीव, भगवदनुग्रहातिशय इच्छा से बहिर्शविर्भूत होकर गुणातीत पुरुषोत्तम के साथ सभी कामनाओं का भोग करता है, ऐसा सिद्ध किया गया। अब विचारते हैं कि—आविर्भूत जीव प्राकृत शरीर से भोग करता है या अप्राकृत से ? भोग तो लौकिक वस्तु है अतः उसको भोगने वाला भी प्राकृत ही हो सकता है, ऐसा मानने वालों को उत्तर देते हैं कि—ब्रह्म संबंधी होने से, भगवान ही स्वभोगानुरूप शरीर उसे देते हैं अतः वह सत्य ज्ञानानन्दात्मक शरीर से भोगों को भोगता है ऐसा जैमिनि आचार्य मानते हैं। "ब्रह्मविदाप्नोतिपरम्" वाक्य में जिस पर प्राप्ति की चर्चा है, "सोऽश्नुते" इत्यादि में उसी का विस्तार किया गया है। पर प्राप्ति रूप मुक्ति होने से वह पुष्टिमार्गीय हैं अतः वह अक्षरब्रह्म से भिन्न पुरुषोत्तम प्राप्ति रूप है अतः उनके अनुरूप शरीर भी होगा यही मानना उचित है, प्राकृत मानना ठीक नहीं है। यहीं बतलाने के लिए उक्त प्रसंग में आगे अन्नमय आदि विभूति रूपों का वर्णन भी किया गया है। भक्त के शरीर में प्रतीय होने वाले जिन विभूति रूप चिन्हों का उल्लेख किया गया है उससे उसकी ब्रह्मात्मकता निश्चित होती है। यह सब आदि पद और बहुवचन के प्रयोग से ज्ञात होता है। आनन्दमयाधिकरण में इसका विश्लेषण कर चुके हैं, इसलिए पुनः नहीं करेंगे। जब कर्मवादी जैमिनि की ऐसी मान्यता है तब और लोग इसे स्वीकारें उसमें क्या आश्चर्य है यह बतलाने के लिए ही सूत्रकार उनके मत का विश्लेषण करते हैं।

चितितन्मात्रेण तदात्मत्वादित्यौडुलोमिः ।४।४।६।।

"स यथा सैन्धवघनोऽनन्तरोवाह्यः कृत्स्नो रसघन एवं वा अरे अयमात्मा-ऽनन्तरोबाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघनः" इति श्रुतौ घनपदेन ज्ञानात्मकविग्रहात्मत्वं ब्रह्मणो बोध्यते। अन्यथा न वदेत्। प्रयोजनाभावात्। तथा च तादृशेन सह भोगकर्त्ता तादृशेनैव भाव्यमिति, चिति चिद्रूपे ब्रह्मणि, तन्मात्रेण चिन्मात्रेण रूपेण कामान् भुंक्ते, ननु विग्रहेण। श्रुतौ जीवस्य तथात्वस्यानुक्तेः। पूर्णानन्द-त्वाद् भगवतस्तत् संबंधेन तदानंदमनुभवतीत्यर्थः सम्पद्यते। चिदात्मत्वं जीवस्य यतो नैसर्गिकमित्यौडुलोमिराचार्योमनुते। "अशरीरं वा व" इति श्रुतिरेतादृशा अन्यविषयिणीतिज्ञेयम्। मुक्तिदशायां तदनुभवस्य भगवदिच्छाविषयत्वाभावान्न-तथा। तथा चैतदेज्जातीयकानन्दानुभवोऽस्यभवत्विति भगवदिच्छैव श्रुतौ काम-शब्देनोच्यते।

जैसे कि नमक की डली बाहर से भीतर तक एक रस है, वैसे ही यह आत्मा बाहर से भीतर तक प्रज्ञान धन है" इत्यादि वाक्य में धन पद से ब्रह्म की; ज्ञानात्मक विग्रहात्मकता निश्चित होती है। वैसे परमात्मा के साथ भोग करनेवाला भी वैसा ही हो सकता है, चिद्रूप ब्रह्म में चिन्मात्र रूप से ही वह कामनाओ का भोग करता है, विग्रह के साथ भोग नहीं करता। श्रुति में जीव का विग्रहवान रूप से उल्लेख भी नहीं है। भगवान पूर्णानन्द स्वरूप हैं उनके सम्बन्ध से जीव आनन्द 'का अनुभव करता है। जीव स्वभावतः चैतन्यस्वरूप है, ऐसा औडुलोमि आचार्य मानते हैं। "अशरीरे वा व सन्तं" इत्यादि श्रुति भी इसी प्रकार की है पर वह इससे भिन्न विषय से सम्बद्ध है। मुक्ति दशा में जीव का अनुभव भगवत् इच्छा पर निर्भर रहता है, उस प्रकार के आनन्द का अनुभव जीव को भगवदिच्छा से ही होता है, यही बात काम पद से बत-लाई गई है।

एवमप्युपन्यासात् पूर्वभावादविरोधं बादरायणः। ४।४।७।।

परमाचार्यों बादरायणस्तु नैवं मनुते। "ब्रह्मविदाप्नोतिपरम्" इत्यस्यो-पन्यास एवमपिविग्रहवत्वेनापि कृतों यतः। तथाहि—"यो वेद निहितं गुहायां" इत्यत्र गुहाया उक्तत्वात्तस्या विग्रह एव सम्भवात् किंच, प्रथमान्तोपस्थितत्वेन प्राप्नोतीत्युक्त्या च ब्रह्मविदः परप्राप्तौ स्वातन्त्र्यं ज्ञाप्यते। तदेव ब्रह्मणासहेति पदेनोपन्यस्तम् तेन। ब्रह्मणोऽपि तत्समानक्रियावत्वं ज्ञाप्यते। परन्त्वप्राधान्येन।

तथा च भक्तन्यैव कामावक्तुमुचितास्ते च न विग्रहं बिना संभवंति। किंच-विपश्चितेति विशेषणेन विविधंपश्यचिद् रूपत्वमुच्यते। कामभोगोक्ति प्रस्ताव एतदुक्त्या तदुपयोग्येव सर्वं वाच्यम्। एवं सति भक्त विविधभावान् पश्यति स्वयं भोगचतुरश्चेत्युक्तं भवति। एतेनापि भक्तविग्रहः सिद्धयति।

परमाचार्य बादरायण ऐसा नहीं मानते "ब्रह्मविदाप्नोतिपरम्" की व्याख्या वे विग्रहवान् के रूप में करते हैं, वे कहते हैं कि—"यो वेद निहितं गुहायां" वाक्य में गुहा का उल्लेख है जो कि विग्रहवान व्यक्ति में ही संभव है। प्रथमान्त पद "प्राप्नोति" कह कर ब्रह्मविद की परप्राप्ति में स्वतंत्रता दिखलाई गई है। उस स्वतन्त्र जीव का ही ब्रह्म के साथ भोग बतलाया गया है। इससे ब्रह्म की भी जीव के समान क्रियावत्ता निश्चिद होती है। किन्तु वह अप्राधान है भोग में प्रधानता तो जीव की हो होती है। यही मानना उचित है, भोग बिना विग्रह के संभव नहीं हैं। 'विपश्चिता' जो विशेषण दिया गया है वह विविध दर्शनरूपता का बोधक है। कामभोग की बात इस विपश्चित्व कथन से देखता है वह स्वयं भोग चतुर है यही तात्पर्य है। इससे भी भक्त विग्रहवान निश्चित होता है।

ननुविग्रहस्यागन्तुकत्वेन लौकिकत्वादलौकिकेन ब्रह्मणा भोगो विरुद्ध इत्यत आह, पूर्वभावादिति। भक्तप्राप्तेः पूर्वमेव भगवद् दित्सितभोगानुरूपविग्रहाणां सत्वान्न विरोधः। किंच, उक्त श्रुतिसूत्रैः पुरुषोत्तमेन सह भक्तस्य कामभोगोनिरूपितः। स यावताऽर्थेन विना नोपपद्यते तावान् स श्रुत्यभिमत इति मंतव्यम्। तथा च ब्रह्म संबंधयोग्यानि शरीराणि नित्यनि संत्येव। यथाऽनुग्रहोयस्मिन् जीवे स तादृशं तदाविश्य भगवदानन्दमश्नुत इति सर्वमवदातम्।

भक्त का वह दिव्यभोग शरीर तो आगन्तुक होता है—अतः लौकिक ही हो सकता है अलौकिक ब्रह्म के साथ भोग के विरुद्ध है, इस संशय का उत्तर देते हैं कि—भक्त मुक्ति प्राप्त के पूर्व ही भगवान द्वारा प्रदत्त भोगानुरूप शरीर प्राप्त करते हैं। अतः विरुद्धता नहीं होती। उक्त श्रुति सूत्रों से, भक्त का कामोपभोग पुरुषोत्तम के साथ बतलाया गया है। वह भोग जितने प्रयोजन के बिना सम्पन्न नहीं हो सकता उतना ही श्रुतिसम्मत है यही मानना चाहिए। ब्रह्म सम्बन्ध के योग्य शरीर नित्य ही होते हैं। जिस जीव पर जितना अनुग्रह होता है उसी के अनुरूप वह जीव परमगुहा में प्रविष्ट होकर भगवदानन्द को भोगता है। ऐसा मानने से सबकुछ सुसंगत हो जाता है।

संकल्पादेव च तच्छ्रुते ।४।४।८।।

एवं परप्राप्तिः केषाञ्चिदेवभवति तत्र हेत्वपेक्षायामाह भजनानन्दं दातुं यमेव संकल्पविषयं करोति स एवैवंप्राप्नोतीति भगवत्संकल्प एव तत्र हेतुः । तत्र प्रमाणमाह-तच्छ्रुतेः—नायमात्मेत्युक्तस्य, यमेवैषवृषुते तेन लभ्य इति श्रुतिः श्रुयतेऽतः सएवात्र हेतुः । श्रुतौ प्रवचनादि निषेधः कृत इत्यत्राप्येवकार उक्तः । चकारातज्जनितैवं तदनुरूपा परमार्त्तिः संगृह्यते ।

पर प्राप्ति किसी किसी को ही होती है, जिसको भजनानंद देने का संकल्प भगवान करते हैं, उसी को प्राप्त होते हैं भगवत्संकल्प ही उनकी प्राप्ति में हेतु है । "नायमात्मा" इत्यादि श्रुति में स्पष्ट कहा गया है कि—"जिसे वे वरण करते हैं उसे ही प्राप्त होते हैं ।" श्रुति में प्रवचन आदि का निषेध है, इस बात को सूत्रकार एवकार से बतलाते हैं तथा चकार के प्रयोग से बतलाते हैं कि—प्रभु कृपा जनित तदनुरूप परमार्त्ति भी होती है ।

अतएव चानन्याधिपतिः ।४।४।९।।

यतो हेतोः साधनं फलं चोक्तरीत्यास्वयमेव, नान्योऽतो हेतोस्तेषां हृदि साधनत्वेनफलत्वेन प्रभुरेव स्फुरति, नान्यस्तेनानन्यास्ते । तेषामेवाधिपतिः पुरुषोत्तमः । अन्यत्राधिपत्यं विभूतिरूपैः करोत्यतः सर्वस्याधिपतिरितिश्रुतिरपि तदभिप्रायेणैवेतिभावः चकाराद्, "मदन्यत्तेन जानन्ति नाहं तेभ्योमनागपि" इति भगवद्वाक्यं संगृह्यते । अन्यथा सर्वज्ञस्याकुण्ठितज्ञानशक्तेरेवं कथमयुक्तंस्यादतः पुष्टिमार्गोऽनुग्रहैक साध्यः प्रमाणमार्गाद्विलक्षणस्तत्र विश्वासश्च तथेति सिद्धम् ।

पुष्टिमार्गीय जीवों का वरण आदि रूप साधन जैसे भगवदनुग्रह से होता है, वैसे ही फल भी उनकी कृपा से स्वतः होता है, उन भक्तों के हृदय में प्रभु ही साधन और फलस्वरूप से स्फुरित होते हैं, उनकी इसमें कोई अन्य सहायक नहीं होता, इसलिये वे भक्त अनन्य है । इनके अधिपति पुरुषोत्तम हैं । पुष्टि मार्ग के अतिरिक्त प्रभु विभूति रूपों से आधिपत्य करते हैं, सर्वस्याधिपतिः श्रुति इसी अभिप्राय की द्योतक है ।" मेरे अतिरिक्त वे भक्त किसी अन्य को नहीं जानते और मैं भी उनके अतिरिक्त कुछ और नहीं सोचता "यह भगवद् वाक्य भी उक्त कथन की पुष्टि करता है । यदि इसे नहीं मानेंगे तो प्रस्फुरित

ज्ञान शक्ति वाले सर्वज्ञ परमात्मा का उक्त कथन मिथ्या हो जायगा। पुष्टिमार्ग भगवत् कृपा से ही साध्य है, समस्त प्रमाणों से विलक्षण है, उसमें विश्वास ही एक मात्र प्रमाण है।

अभावं वादरिराहह्येवम् ।४।४।१०।।

मुक्तोऽपिजीवः पुष्टिमार्गेऽङ्गीकृतो भगवद्दत्त विग्रहं प्राप्त भजनानन्दं प्राप्नोतीति सिद्धम्। अत्र प्रत्यवतिष्ठते। बादरिराचार्योमुक्तस्य देहाद्यभावं मनुते तत्र हेतुराह ह्येवमिति, ब्रह्मविदो हि मुक्तिरुच्यते—"यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति" इत्यादि उक्त्वा, "यत्रत्वस्य सर्वमात्मैवाभूत तत् केनकं पश्येत्" इत्यादिना द्वितीयज्ञाननिषेधमाह - ब्रह्मविदः श्रुतिः। तथा च तस्य कामभोगवार्ता दूरतरेति, तदाक्षेप्यदेहोऽपितथा।

पुष्टिमार्ग में स्वीकृत मुक्त जीव भी भगवद्प्रदत्त विग्रह को प्राप्त कर भजनानन्द को प्राप्त करते हैं यह सिद्ध हो गया। इसके विरुद्ध बादरि आचार्य मुक्त जीव के देह आदि को नहीं मानते। वे कहते हैं कि—ब्रह्मवेत्ता की ही मुक्ति बतलाई गई है—"जहाँ द्वैतभाव होता है वहाँ अपने से भिन्न मानता है" इत्यादि कहकर "जहाँ सर्वात्मभाव हो जाता है वहाँ कौन किसे अपने से भिन्न देखेगा" इत्यादि में द्वैतज्ञान का निषेध किया गया है, यह ब्रह्मवेत्ता से संबंधित श्रुति है। ऐसे अद्वैत भाव वाले जीव की कामभोग की बात तो बहुत दूर है, उसके शरीर की कल्पना भी अशक्य है।

भावं जैमिनिर्निर्विकल्पामननात् ।४।४।११।।

जैमिनिराचार्यस्तु मुक्तस्य पुंसो देहादेर्भावं सत्तांमन्यते तत्र हेतुर्विकल्पेत्यादि ब्रह्मविदाप्नोति परमिति श्रुत्या ब्रह्म ज्ञानस्य तत्प्राप्तिसाधनत्वमुच्यते। नायमात्मेति श्रुत्या तु वरणमात्रप्राप्यत्वम्। "सोऽश्नुत" इत्यादिना च परप्राप्त्युपन्यास क्रियते। "इहैव समवनीयन्ते, ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येतीति च पठ्यते। एवं सति मिथो विरोधे तदाभावायोक्त व्याख्यान रीत्या ज्ञानमार्गीयस्य ब्रह्मज्ञानेमाक्षर ब्रह्मप्राप्तिः पुष्टिमार्गीय भक्तस्य तु "सोऽश्नुत" इत्यनेनोक्ता पर प्राप्तिरिति व्यवस्थित विकल्प एव श्रुत्यमिमत इति ज्ञायते। तेन नायमात्मेति श्रुतिः पर प्राप्ति विषयिणी। इहैवेत्यादि श्रुतिस्तु मर्यादामात्मक विग्रहवत्वं निष्प्रत्यूहं सिद्धयति। तत् केन कं पश्येदित्यादिना ब्रह्मज्ञान समायिकी व्यवस्थामाह। न तु तदुत्तरकालीन पर प्राप्ति सामयिकीमिति किमनुपपन्नम्।

जैमिनि आचार्य मुक्त पुरुष की देहादि भाव सत्ता मानते है उसमें वे तर्क प्रस्तुत करते हैं कि—"ब्रह्मविदाप्नोति परम "श्रुति से ब्रह्म ज्ञान को ब्रह्म प्राप्ति का साधन बतलाया गया है। "नायमात्मा" श्रुति से वरण मात्र से प्राप्यता बतलाई गई है। "सोऽश्नुते" इत्यादि श्रुति से पर प्राप्ति में होने वाला स्थिति का विश्लेषण किया गया है। इन श्रुतियों से एकदम विपरीत—"इहैव समवनीयन्ते, ब्रह्मै ब्रह्मन् ब्रह्माप्येति 'इत्यादि श्रुति भी है। इस प्रकार के पारस्परिक विरोध के परिहार के लिये यही मानना उपयुक्त है कि—ज्ञानमार्गीय, ब्रह्मज्ञान से अक्षर ब्रह्म की प्राप्ति करता है तथा पुष्टिमार्गीय भक्त "सोऽश्नुते" इत्यादि श्रुति में कहे गये स्वरूपानुसार पर प्राप्ति करता है। दोनों मार्गों की विभिन्न प्रकार की व्यवस्था श्रुति सम्मत ही है। "नायमात्मा" श्रुति पर प्राप्ति सम्बन्धी है। "इहैव समवलीयन्ते" इत्यादि श्रुति को मर्यादामार्ग संबंधी मानना चाहिये। इस दृष्टि से पुष्टिमार्गीय भक्त का भोग साधनात्मक विग्रहवान होना निर्विवाद सिद्ध हो जाता है। "तत केनकं पश्येत्" इत्यादि में ब्रह्म ज्ञान के समय की स्थिति बतलाई गई है उसके बाद की पर प्राप्ति के समय की स्थिति का वर्णन नहीं है, इसलिये क्या असंगति है।

द्वादशाहवदुभयविधं बादरायणोऽतः ।४।४।१२॥

ब्रह्मण सह सर्वकामाशन प्रयोजकं शरीरं शरीरत्वस्य भूतजन्यत्वव्याप्यत्वात्तदभावेनाशरीर रूपं तद्भोगायतनत्वेन शरीररूपमपीति बादरायण आचार्यो मन्यते। अत्र हेतुरत इति, तथाविधश्रुतेरित्यर्थः। तथाहि "भूमैव विजिज्ञासतव्यम्" इत्युक्त्वा तत्स्व रूप माह—"यो वै भूमातत्सखम्" इत्युपक्रम्याग्र उच्चते —"यत्रनान्यत् पश्यति नान्यच्छ्णोति नान्यद्विजानाति स भूमा" इत्यनेन केवल भावविषयत्वं पुरुषोत्तम लक्षणमुक्त्वा केवलभाववतो भक्तस्य विप्रयोग सामयिकी व्यवस्थामाह—"स एवाधस्तात् स उपरिष्टात् स पश्चात स पुरस्तात्" इत्यादिना। ततः "स वा एष एवं पश्यन्नेवं मन्वान एवं विजानन् "इति पूर्वावस्थामनूद्य संयोगावस्थामाह—"आत्मरतिरात्मक्रीड आत्ममिथुन आत्मानन्दः "इति वाक्येन सोऽश्नुत" इति श्रुति संवादिनमर्थमुक्त्वा भक्तस्वरूपमाह—"तस्य ह वा एतस्यैवं पश्यत एवं मन्वानस्यैवं विजानत आत्मतः प्राण ' इत्युपक्रम्य "आत्मन एवदं सर्वम्" इति। तेनाशरीरत्वं सिद्धयति। अव्ययप्रयोगेण अविकृतादेव पुरुषोत्तमात् प्राणाद्याविर्भाव उच्यते। अत्रल्यब्लोपे पंचमी पूर्वं विरहदशायां प्राणादयो भगवत्येव लीना आसंस्ततस्तत्प्राकट्ये तत एव प्राणादयोऽपि सम्पन्ना इति

तत्प्राप्तेर्निमित्तत्वंयतो विभूतिरूपाणामपि पुरुषोत्तमेलयो नानुपपन्नः।" आत्मरतिः इत्यादिना "सोऽश्नुते" इत्यनेन च शरीरत्वम्।

ब्रह्म के साथ समस्त कामनाओं को भोगने वाला शरीर है भी नहीं भी है। यह शरीर भूतजन्य और व्यापक होने से तो शरीर है तथा भोगायतन होने से शरीर रूप भी है, ऐसी बादरायणाचार्य की मान्यता है। इसका प्रमाण श्रुति ही है—जैसे कि "भूमा ही विशेष रूप से जानने योग्य है "ऐसा कह कर उसका स्वरूप बतलाते हैं कि—"जो भूमा है वही वास्तविक सुख है" ऐसा उपक्रम करके आगे कहते जिस स्थिति में न कुछ दूसरा देखता है, न दूसरा सुनता है, न दूसरा कुछ जानता है वही भूमा है" इस श्रुति से पुरुषोत्तम को केवल भाव-विषय बतलाकर केवल भाव वाले भक्त की वियोगावस्था का वर्णन करते हैं कि "वही नीचे वही ऊपर वही आगे दृष्टिगत होता है।" वह उसे इस प्रकार देखता, इस प्रकार जानता, इस प्रकार मानता है" इत्यादि पूर्वावस्था का उल्लेख का संयोगावस्था बतलाते हैं कि—"यह वाक्य सोऽश्नुते" इत्यादि श्रुति वर्णित स्थिति को बतला रहा है इसके बाद भक्तस्वरूप का वर्णन करते हैं—उसको इस प्रकार देख कर इस प्रकार मानकर इस प्रकार जानकर "ऐसा उप क्रम करके अन्त में कहते है कि—"यह सब कुछ आत्मा से ही है।" इस प्रसंग से अशरोरता निश्चित होती है। अव्यय के प्रयोग से अविकृत पुरुषोत्तम से ही प्राण आदि का आविर्भाव बतलाते हैं। यहाँ ल्यब के लोप होने से पंचमी विभक्ति है। पहले विरह दशा में प्राण आदि भगवान में ही लीन थे, बाद में जब उनका प्राकट्य हुआ तो वह भक्त भी प्राण आदि से सम्पन्न हो गया, यदि उसकी प्राप्ति में यही सब निमित्त है यदि इनका प्रादुर्भाव नहीं मानेंगे तो, विभूति रूपों की पुरुषोत्तम में लय होने को बात भी नहीं बनेगी। "आत्मरतिः "इत्यादि और "सोऽश्नुते "इत्यादि से शरीरता निश्चित होती हैं।

जैमिनिरप्यत एव ब्रह्मेणेति मनुते। एकस्य विरुद्धोभयधर्मवत्त्वममन्वानं प्रति वैदिकं प्रमाणमाह—द्वादशाह वदिति। "यः कामयेत प्रजापेयेति स द्वादशरात्रेण यजेतेति चोदनया द्विरात्रेण यजेत्" इत्यादिवन्नियतकर्त्तुकत्वेनाहीनत्वं गम्यते। द्वादशाह मृद्धिकामा उपेयुः "स एवं विद्वांसः सत्रमुपयंति "इति श्रुत्या च सत्रत्वं बहुकर्त्तृकस्य गम्यते। एवमेव द्वादशाङ्गशरीरेन्द्रिय प्रणान्तः करणात्मभिरश्नुत इति सत्रतुल्यत्वम्। वस्तुतो भगवद् विभूतिरूपत्वेन ब्रह्मात्मत्वेनैकरूपत्वमतो द्वादशाहवदुभयविधम्। सत्रे प्रत्येकं चेतनानांयजमानानां फलभागित्ववदत्रापि

तादृग्भक्त देहादीनामपि ब्रह्मात्मकत्वाच्चे तनत्वमेवेत्यन्यनेन दृष्टान्तेन ज्ञाप्यते। अतएव श्रीभागवते—"देहेन्द्रियासुहीनानां वैकुण्ठपुरवासिनाम् "इति गीयते।

जैमिनि भी इसीलिये ब्रह्म शरीर मानते हैं। एक ही वस्तु में विरुद्ध बातों को मानने में वैदिक द्वादशाह यज्ञ को उदाहरण रूप से प्रस्तुत करते हैं। "जिसे संतान की कामना हो उसे द्वादशाह यज्ञ करना चाहिए" इत्यादि नियत कर्त्तव्य के उल्लेख से अहीनता ज्ञात होती है। "समृद्धि की कामना से द्वादशाह यज्ञ करना चाहिये" इस प्रकार विद्वान लोग सत्र करते हैं" इत्यादि श्रुतियों से यज्ञ की बहुकर्त्तृता ज्ञात होती है। इसी प्रकार इन्द्रिय प्राण अन्तःकरण आदि बारह अंगों वाले शरीर से भोग भी यज्ञ के समान होगा हैं। वास्तव में तो भगवद् विभूतिरूप होने से वह ब्रह्मात्मक होने से एक रूप ही है, किन्तु द्वादशाह यज्ञ की तरह उभय रूप भी है। यज्ञ में जैसे प्रत्येक चेतन यजमान फलभागी होता है वैसे ही भक्त के देहादि भी ब्रह्मात्मक होने से चेतनता प्राप्त करते हैं, यही इस दृष्टांत से निश्चित होता है। श्री भागवत में स्पष्टतः कहा भी है— "देह इन्द्रिय प्राण रहित वैकुण्ठ वासियों का" इत्यादि।

३. अधिकरण :—

तत्वभावे सन्ध्यवदुपपत्तः ।४।४।१३।।

अथेदं चिन्त्यते—भगवत्स्वरूप प्राकृतशरीर इवावस्था दृश्यन्ते तत्कालीनैः पुम्भिरिति कथन प्राकृतत्वमुपपद्यत इति तत्रोपपत्तिमाह—तद्दर्शनस्य वास्तव-वस्तु विषयकत्वव्यवच्छेदेन पूर्वपक्षव्युदासाय तु शब्दः। तत् प्राकृततुल्यदर्शनम भावे तथात्वस्याभाव एव भवति, न तु तत्र प्राकृता धर्माः सन्ति। नन्वविद्यमाना मर्थानां कथं दर्शनमुपपद्यत इत्यत आह—सन्ध्यवदिति। स्वप्ने यथा वासना-वशाद विद्यमानानामप्यर्थानां भवति तथा भगवदिच्छावशात् तत्रापि प्राकृततुल्य-त्व दर्शनस्योपपत्तेर्न प्राकृतत्वं तत्र ज्ञेयमित्यर्थः। तथा च श्रुतिः "संध्वंतृतीयं स्वप्नस्थानं तस्मिन् संध्ये स्थाने तिष्ठन्नुमे स्थाने पश्यतीदं च परलोक स्थानं च। अथ यथाक्रमोऽयं परलोक स्थाने भवति तमाक्रममाक्रम्योभयान् पाप्मन आनंदांश्च पश्यति स यत्रायं स्वपिति" इत्युपक्रम्य—"स्वयं विहृय स्वयं निर्माय स्वेन भासास्वेन ज्योतिषा प्रस्वपिति अत्रायं पुरुषः स्वयं ज्योतिर्भवति, न तत्ररथा नरथभोगा न पन्थानो भवन्ति" इत्यादि रूपा। एवमेव भगवानासुराणां प्राकृत गुणे तमस्येव दुःखात्मके लयं चिकीर्षु स्वस्मिन प्राकृतत्वबुद्धि संपादनाय

तादृशीमिवलीलां दर्शयत्यतो न प्राकृतत्वशङ्कागधोऽप्यत्र । अतएव भगवतोक्तं — ''मामात्मपर देहेषु प्रद्धिषन्तेऽभ्यसूयका ''इत्युपक्रम्य ''ततोयान्त्यधमां गतिम्'' इति । तेषामासुरत्वेन मुक्त्यनधिकारित्वात् तथाकरणमतः सुष्ठूक्तं—संध्यवदुपपत्तेः इति ।

अब बिचारते हैं कि—मोक्षावस्था में तो जीवों की शरीरावस्था प्राकृत शरीर की तरह बतलाई गई है, फिर अप्राकृता कैसे संभव है ? इसका उत्तर देते हैं कि—प्राकृत के समान शरीर के अभाव में उससे संबद्ध लीला का भी अभाव हो जाता है, उस स्थिति में कोई भी प्राकृत धर्म नहीं रहते । यदि प्राकृत धर्म नहीं रहते तो उनका दर्शन कैसे होता है ? इसका उत्तर देते हैं कि जैसे स्वरूप में प्राकृत वस्तुओं का दर्शन होता है उसी प्रकार इसमें भी होता है । स्वाप्न पदार्थ ईश्वर की इच्छावश दृष्टिगत होती है, वैसे ही मुक्तवस्था में ईश्वरेच्छा से होते हैं । वस्तुतः वे प्राकृत नहीं होते । जैसा कि स्वप्नदशा का श्रुति में वर्णन है ''जागृत और सुषुप्ति से अतिरिक्त तीसरा स्वप्न स्थान सन्धि स्थल है, उसमें स्थित जीव, इस लोक और परलोक दोनों को देखता है ''जिस प्रकार परलोक में घटित होता है उस प्रकार के पाप और आनन्द दोनों को देखता है'' ऐसा उपक्रम करके ''स्वयं छोड़कर स्वयं निर्माण कर अपने तेज और अपनी ज्योति से यह पुरुष सोता है, इस स्थिति में पुरुष स्वयं ज्योति होता है, वहाँ न तो रथ, नरथयोग, न पन्थ होता है'' इत्यादि । इसी प्रकार भगवान अन्धकारमय दुःखात्मक प्राकृत गुणों का लय करने की इच्छा से, आसुरी प्रवृत्ति वाले जीवों को अपने में प्राकृतत्व बुद्धि करने के लिये उसी प्रकार की लीला दिखलाते है उसमें प्राकृतत्व शंका की गंध भी नहीं है भगवान स्वयं कहते हैं—''मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः ''ततीयान्त्यधमगितिम् ''इत्यादि । आसुरी भाव वाले मुक्ति के अधिकारी नहीं है अतः ''संध्यवदुपपत्तेः ठीक ही कहा है ।

भावे जाग्रद्वत् ।४।४।१४।।

लौकिकवद् भासमाने लीला पदार्थे यद् दर्शनं भक्तानां तत् तु भावे विषये विद्यमाने सति भवति । अत्र दृष्टान्तमाह—जाग्रद् वत् । यथा मोहाऽभाववतः पुंसः सत एवार्थस्य दर्शनं तथेति । एताभ्यां सूत्राभ्यामेतदुक्तं भवति । ''सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सहब्रह्मणा विपश्चिता'' इति श्रुत्या भक्तकामपूरणाय भगवल्लीलां करोतीति गम्यते । यद्दर्शनश्रवणस्मरणैर्भक्तानां दुःखं भवति

तादृशीमपि तां करोतीति श्रूयते । यथा सौभयुद्धे मोहवचनानि, हस्तादायुधच्युतिः, प्रभासीय लीला च । उक्तरीत्या "सोऽश्नुत" इति श्रुत्या परब्रह्मत्वमवगम्यते । उक्त लालया तद् वैपरीत्यं च । एवं सत्येकस्या वास्तवत्वमन्यस्या अवास्तवत्वं वाच्यम् । "ते तेधामान्युष्मसि विष्णोः कर्माणि पश्यत्, तद्विष्णोः परमं पदम्, तद् विप्रासो विपन्यवः" इत्यादि श्रुतिभिः । "सहस्रशीर्षं देवं विश्वाक्षं विश्व सम्भुवम्," विश्वंनारायणं देवं अक्षरं परमं पदम् "विश्वतः परमन्नित्यं विश्वं नारायणं हरिम्", विश्वमेवेदं पुरुषस्तद्विश्वमुपजीवति, पतिं विश्वस्यात्मेश्वरं शाश्वतं शिवमच्युतम् "इत्यादिभिश्च शुद्ध ब्रह्मणः तद्विपरीतदर्शनेऽवश्यं हेतुर्वाच्यः । स त्वासुरव्यामोहनमेवेति पूर्वसूत्रेणोपपादितः । भक्तेभ्यः स्वरूपानन्ददानाय लोकवत्तुलीला कैवल्यमिति न्यायेन या लीलाः करोति, यया रिङ्गणादि लीला भगवतो नैसर्गिकधर्मरूपानन्दात्मकत्वेन विद्यमानाएव ता भक्ताः पश्यन्तीति द्वितीयसूत्रेणोक्तम् । अतएव लीलाया अनेक रूपत्वात् ब्रह्मणश्च श्रुतौ सैन्धवदृष्टान्तेनैकरसत्वनिरूपणाच्छुद्ध ब्रह्मधर्मत्वं न सम्भवतीति शङ्कानिरासाय कैवल्यमित्युक्तम् । साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्चेत्यादिश्रुतिषु याऽन्यधर्मराहित्यलक्षणा केवलतोक्ता सा लीलात्मिकैव लीलाविशिष्टमेव शुद्धं परं ब्रह्म, न कदाचित् तद्रहितमित्यर्थः पर्यवस्यति । तेनस्वरूपात्मकत्वं लीलायाः पर्यवस्यति । तेन च नित्यत्वम् । एतद् विद्वन्मण्डने प्रपंचितम् । अथवा लीलैव कैवल्यं जीवानां मुक्तिरूपम् । तत्र प्रवेशः परमामुक्तिरिति यावदित्यर्थः ।

लौकिक के समान प्रतीत होने वाले लीला पदार्थों में जो भक्तों की स्थिति देखी जाती है, वह भाव विषय की स्थिति में होती है, जैसे कि मोह रहित पुरुष सत् पदार्थ को देख लेता है वैसे ही इसकी भी स्पष्ट प्रतीति होती है यही बात ऊपर के दोनों सूत्रों में बतलाई गई हैं । "सोऽश्नुते" इत्यादि श्रुति से बतलाया गया है कि—भक्तकाम की पूर्ति के लिए ही लीला करते हैं । जिसके देखने सुनने और स्मरण करने से भक्तों को दुःख होता है, वैसी लीला भी करते हैं । जैसे कि क्षौभ युद्ध में लौकिक जीवों की तरह भगवान का मोह वचन, भगवान के हाथ से शस्त्र का गिरना, प्रभासक्षेत्र की लीला आदि । इस प्रकार "सोऽश्नुते" श्रुते परब्रह्मत्व निश्चित होता है । उक्त लीला से उससे विपरीत भाव भी निश्चित होता है । इनमें एक लीला वास्तविक है दूसरी अवास्तविक है, ऐसा भी निश्चित होता है । "ते ते धामान्युष्मसि"

इत्यादि तथा "सहस्रशीर्ष देवम्" इत्यादि श्रुतियों से शुद्ध ब्रह्म और उससे विपरीत दर्शन में हेतु दिखलाए गए हैं। जो विपरीतता है वह आसुर भाव वालों को कामोहित करने की दृष्टि से ही है, यही पूर्व सूत्र से उपपादन किया गया है भक्तों को स्वरूपानन्द देने के लिए, लोक के समान लीला करते हैं, जैसे कि—बच्चों की तरह पगइयां चलना आदि वह भक्तों को स्वाभाविक आनन्दात्मक रूप से प्रत्यक्ष ही प्रतीत होती है, यह दूसरे सूत्र में बतलाया गया है। इस प्रकार लीला अनेक प्रकार की होती है। श्रुति में सैन्धव के दृष्टान्त से एक रसत्व के निरूपण से जो दिखलाया गया है उससे तो शुद्ध ब्रह्मधर्मत्व संभव नहीं है, इस शंका के निराकरण के लिए श्रुति में 'कैवल्य' पद का प्रयोग किया गया है। "साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च" इत्यादि श्रुति में जो अन्य धर्मों से रहित केवलता बतलाई गई है, वह लीलात्मक ही है, शुद्ध पर-ब्रह्म की लीला विशेष की ही द्योतक है, उन गुण आदि से रहित की द्योतक नहीं है। उस प्रकार के स्वरूप से भी वे लीला करते हैं, इसी अर्थ का द्योतन होता है। इसी से नित्यता भी निश्चित होती है। इसका विवेचन हमने विद्वन्मण्डन ग्रन्थ में किया गया है। यह कहना अत्युक्ति न होगा कि—केवल लीला ही जीवों की मुक्ति है। उस लीला में प्रवेश होना परम मुक्ति है।

४ अधिकरण :—

प्रतीपवदावेशस्तथाहि दर्शयति ।४।४।१५।।

ननु पूर्णज्ञानक्रियाशक्तिमता ब्रह्मणा तुल्यभावेन तत्रापि प्रधानभावं प्राप्य कामभोगकरणमपूर्णज्ञानक्रियावतो भक्तस्यानुपपन्नमित्या शंकायां तत्रोपपत्ति-माह— न हितदा नैसर्गिक ज्ञान क्रियाभ्यां तथा भोक्तु शक्तो भवति, किन्तु भगवांस्तस्मिन्नाविशति यदा तदाऽयमपि तथैव भवतीति सर्वमुपपद्यते। एतदे-वाह—प्रतीपवदिति। यथा प्राचीनः प्रकृष्टो दीपः स्नेह युक्तायां वर्त्यामर्वा-चीनायामाविष्टः स्वसमानकार्यक्षमां तां करोति स्नेहाधीन स्थितिश्च भवति स्वयं तथाऽत्रापीत्यर्थः। अत्र प्रमाणमाह—तथाहि दर्शयति श्रुतिः—"भर्त्ता संभ्रियमाणो विभर्त्ति, एको देवो बहुधा निविष्टः" इति।

पूर्ण ज्ञान क्रिया शक्ति वाले ब्रह्म से तुल्यभाव और उसमें भी प्रधान भाव को प्राप्त कर कामोपभोग करने में, अपूर्ण ज्ञान क्रिया वाला भक्त, कैसे संभव है ? इस शंका का समाधान करते हैं कि—उस स्थिति में भक्त स्वा-

भाविक ज्ञान क्रिया से, उस प्रकार का भोग नहीं कर सकता, अपितु भगवान उसमें प्रविष्ट होते हैं तभी यह जीव भी वैसा उनके समान हो जाता है और सब भोग करता है। जैसे कि प्राचीन घृतपूर्ण जलते हुए दीपक की बत्ती से नया दीप जल जाता है और उसके समान ही हो जाता है उसमें वैसी ही कार्यक्षमता आ जाती है, उसकी भी घृत के अधीन स्थिति हो जाती है वैसे ही भक्त की कार्यक्षमता की बात है। अर्थात् जैसे दीपक दूसरे विशेष दीपक से प्रज्वलित होने के बाद अपने में निहित घृत के आधार पर प्रज्वलित रहता है, वैसे ही भक्त भी भगवान के द्वारा उद्बुद्ध किए जाने पर अपने अन्तस्थ प्रेम के आधार पर भोगानुभव करता रहता है। श्रुति में ऐसा स्पष्ट उल्लेख भी है—"भर्त्ता से बढ़ाया हुआ, सुशोभित होता है, एक ही देव अनेकों बार प्रविष्ट होता है।" इत्यादि।

सर्वान् कामानित्युक्तत्वाद् यस्य कामस्य भोगो यथा निवेशे सति, तत्तथा तदा निवेश इति बहुधा निवेश उक्तः। अयं निवेशो नान्तर्यामित्वेन तस्यैकधैव प्रवेशात्। निसर्गतः सर्वेषां जीवानां भगवान भवत्येव प्रभुर्यद्यपि तथापि यं स्वीयत्वेन वृणुते तस्य विवाहितः पतिरिव भर्त्ता सन् वरणजस्नेहातिशयेन भक्तेनापि भ्रियमाणः सन्, स भक्त इव स्वयमपि तं स्वस्मिन् विभर्त्ति। अत एव स्नेहराहित्येनायोगोलकादिकं विहाय प्रदीपं दृष्टान्तमुक्तवान् व्यासः। अतएव देवपदमुक्तम्। स्वरूपानन्ददानाद् भावोद्दीपनात् पूतनादि मुक्तिदानेन स्वमाहात्म्य द्योतनाद् वैकुण्ठादिस्थितेश्च। तदुक्तं निरुक्तेः दिवोदानाद् वा, दीपनाद् वा, द्योतनाद् वा, द्युस्थानो भवति, इति वा यो देवे इति भक्तानां कामभोजनार्थं क्रीडाकरणात् क्रीडायामेव जयेच्छाकरणाद् भक्तैः सह व्यवहार करणाद् भक्तेषु स्वमाहात्म्येच्छादिद्योतनाद्, "न पारयेहं", "न त्वादृशी प्रणयिनी" इत्यादिभिः स्तुतिकरणाद् भक्त प्रपत्ति दर्शनेन कालीयदमनादौ मोदकरणात् तेष्वेवभक्तिमदकरणात् ते स्वप्नेऽपि प्रियमेव पश्यन्ति इति स्वप्न करणात्तेषां कान्तिकरणादिच्छाकरणाद् वा तन्निकटे गमनादपि देवः। तदुक्तं धातुपाठे—"दिवुक्रीडाविजगीषाव्यवहारद्युतिस्तुतिमोदमदस्वप्नकान्तिगतिषु" इति। एवं सति युक्तमेव तेषां तथात्वमिति हि शब्देनाऽह।

"सर्वान् कामान्" कहने से ज्ञात होता है कि जिस काम का भोग जैसे उचित समझते हैं उस समय वैसे निवेश करते हैं, इसलिए बहुधा निवेश की बात कही गई है। भगवान का यह निवेश अन्तर्यामी रूप से नहीं होता, इस

रूप में तो एक ही बार प्रवेश होता है। सभी जीवों में भगवान स्वभावतः ही रहते हैं, किन्तु जिसे वे अपना मानकर वरण करते हैं उसे विवाहित पति की तरह भर्त्ता होकर, वरणज स्नेहातिशय से भक्त से भी पोषित होकर, उसके भक्त की तरह व्यवहार करते हैं, वह भक्त फिर स्वयं भी अपनी भक्ति से पोषित होता रहता है। इसीलिए व्यास जी स्नेह रहित लोहे के गोले का उदाहरण न देकर प्रदीप का दृष्टान्त देते हैं [लोहे का गोला अग्नि से प्रज्वलित होने पर स्नेह रहित होने से ठंडा हो जाता है] देव पद भी विशेष प्रयोजन से आया है। स्वरूपानन्द के दान से, भावोद्दीपन से, पूतना आदि को मुक्ति देने से, अपने माहात्म्य के द्योतन से और वैकुण्ठ आदि की स्थिति से देव पद चरितार्थ होता है। निरुक्त में इन्हीं अर्थों में इसको स्वीकार किया गया है—"दिव शब्द, दान, दीपन, द्योतन, द्युस्थानीय है।" भक्तों के काम भोग के लिए, क्रीडा करने से, क्रीडा में जय की इच्छा करने से, भक्तों के साथ व्यवहार करने से, भक्तों में अपने माहात्म्य द्योतन करने से, "न पारयेहं" "न त्वादृशी" इत्यादि स्तुति करने से, भक्त प्रपत्ति दर्शन से, कालीयदमन आदि लीलाओं में मोह करने से, उन्हीं लीलाओं में भक्तिमान करने से, वे स्वप्न में भी प्रिय को ही देखते हैं, ऐसे स्वप्न दिखलाने से उनके कान्ति करने इच्छा करने आदि से, उनके निकट गमन से भी देव पद चरितार्थ होता है। धातु पाठ में भी दिव इन्हीं अर्थों का द्योतक कहा गया है—"दिव् धातु क्रीडा, विजगीषा, व्यवहार, द्युति, स्तुति, मोह, मद, स्वप्न, कान्ति, गति अर्थों में प्रयुक्त होती है।" इसलिए उनकी वह सभी लीलाएँ उचित हैं, ऐसा सूत्रस्थ हि शब्द से दिखलाते हैं।

नन्वस्थूलमनण्वह्रस्वमित्याद्यनन्तरं पठ्यते—"नतदश्नोति कंचन न तदश्नोति कंचन" इति उक्त श्रुतौ च ब्रह्मणा सह जीवस्य भोग उच्यते। तथा च सगुणनिर्गुणभेदेन विषयभेदोऽवश्यं वाच्यो, विरोधपरिहाराय इत्यत उत्तरं पठति—

अस्थूल, अनणु, अह्रस्व, इत्यादि के बाद "न तदश्नोति कंचन न तदश्नोति कंचन" पाठ आता है, इस श्रुति में ब्रह्म के साथ जीव का भोग बतलाया गया है। उक्त प्रसंग में सगुण निर्गुण भेद से विषय भेद तो मानना ही पड़ेगा। इस विरोध के परिहार के लिए सूत्र प्रस्तुत करते हैं—

स्वाप्ययसम्पत्योरन्यतरापेक्षमाविष्कृतं हि ।४।४।१६।।

इहायमाशयः । प्रकृतैतावत्वं हि प्रतिषेधतिततोब्रवीति च भूय इत्याद्यधिकरणै "परास्यशक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबल क्रिया च" इत्यादि श्रुतिभिश्च प्राकृताएवधर्मा निषिध्यन्ते ब्रह्मण्यप्राकृता एव बोध्यन्तेऽन्यथा तद्बोधनमेव नस्यान्निषेधक वाक्य एब तद्बोधनमपि न स्यादेतस्यैवाक्षरस्य प्रशासन इत्यादि रूपमतोऽचिन्त्यानन्तशक्तेर्भगवतः का वा कार्माऽक्षमता मया प्राकृतान् गुणानुरी-कुर्यादतो निर्गुणमेव सदा सर्वत्र भगवद् रूपमिति वक्तव्यम् । एवं सति, "यद्य-थापि हिरण्यनिधिनिहितमंक्षेत्रज्ञा उपर्युपरि संचरंतो न विन्दयुरेवमेवेमाः सर्वाः प्रजा अहरहर्गच्छन्त्य एवं ब्रह्मलोकं न विदन्ति" इति छांदोग्य श्रुतेः प्रस्वापद-शायांन कश्चिद् ब्रह्माश्नाति तश्चि न कंचनेति तद्विषयिणी भोगबोधिका सेति न विरोधगन्धोऽपि । एतदेवाह । स्वाप्ययः प्रस्वापः, स्वमपीतोभवति तस्मादेनं स्वपितीत्याचक्षत इति श्रुतेः । सम्पत्तिर्ब्रह्मसम्पत्तिरुक्तरीत्यापुष्टिमार्गीयोमोक्ष एतयोरन्यतरापेक्षमुभयश्रुत्युक्तमित्यर्थः । भगवत्कर्तृक भोगस्य लीलारूपत्वात तस्याश्च, लोकवत्तु लीलाकैवल्यमित्यत्र मुक्तित्वेन निरूपणात् तत्प्राप्तेः सम्पद्-रूपत्वं युक्ततरमिति हि शब्दार्थः ।

"परास्य शक्तिः" इत्यादि श्रुति से प्राकृत धर्मों का ही निषेध किया गया है, ब्रह्म में अप्राकृत धर्म ही बतलाए गए हैं इसके अतिरिक्त उनके स्वरूप बोधन ही संभव नहीं है, "एतस्यैववाक्षरस्य प्रशासने" इत्यादि रूपवान अचिन्त्य अनन्त शक्ति वाले भगवान में किस कार्य की क्षमता नहीं है, क्या में प्राकृत गुणों को स्वीकार नहीं कर सकते वे सब करने में समर्थ हैं, इसलिए उन्हें सदा सर्वत्र निर्गुण ही नहीं मानना चाहिए । "यद्यद्यापिहिरण्यनिधि" इत्यादि छांदोग्य श्रुति में जिस प्रश्वाप दशा का वर्णन किया गया है, उसमें ब्राह्मभोग का निषेध है, इसी का संकेत "न कंचनं" इत्यादि से किया गया है । "न कंचन" आदि श्रुति संषुप्ति अवस्था सम्बन्धी है, इसलिए भोग का निषेध है, अतः विरोध की शंका व्यर्थ है । "स्वमपीतोभवति तस्मादेनस्वपितीत्याचक्षते" यह श्रुति भी उक्त अर्थ का द्योतन कर रही है । पुष्टिमार्गीय जो ब्रह्मसम्पत्ति अर्थात् मोक्ष है । भगवत्कर्तृक भोग लीलारूप है, लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्" सूत्र में उसे मुक्तिरूप से निरूपण किया है अतः उसकी प्राप्ति मुक्तिरूप है ऐसा कहना ठीक ही है ।

५. अधिकरण :—

जगद्व्यापारवर्ज्जं प्रकरणादसंनिहितत्वाच्च ।४।४।१७।।

ब्रह्मणा सह भोगकरणं लौकिक व्यापारयुतमुत नेति संशये, तदयुतमिति पूर्वपक्षस्तथा सति मुक्तित्वभङ्गात् पूवोक्तमनुपपन्नं इति प्राप्ते आह—जगदित्यादि । पूर्वोक्तस्य जगत्संबंधी लौकिको यो व्यापारः कामवाङ्मनसां तद्वज्जं तद्रहितं भोगकरणम् । तत्र हेतु आह प्रकरणादसंनिहितत्वाच्चेति । ब्रह्मविदाप्नोति परमित्युपक्रमेण मुक्तिप्रकरणात् तत्र लौकिक व्यापारोऽसंभावितः । किंच लीलायाः कालमायाद्यतीतत्वेन प्राकृतं जगद् दूरतरमितोऽपि हेतोर्नतत्संभवः। कदाचिल्लोके लीलाप्रकटनेच्छायां तदधिष्ठानत्वयोग्ये मथुरादिदेशेऽति शुद्धे गोलके चक्षुरिन्द्रियमिव स्थापयित्वा लीलां करोति। तदापि लीलामध्यपातिनां न लौकिक व्यापार संभवः। न हि चक्षुरिन्द्रियं गोलककार्यं करोति। न वा तन्नाशेनश्यति। एतत्सर्वं, दिवीव चक्षुराततमिति श्रुतिव्याख्याने विद्वन्मण्डने प्रपंचितम् । किंच छांदोग्ये—"भूमैव सुखं भूमात्वेवविजिज्ञासितव्यः" इत्युक्त्वा भूम्नोलक्षणमाह—"यत्रनान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद् विजानाति स भूमा" इति । अत्र नान्यद्विजानाति एतावतैव चारितार्थ्येऽपि यदिन्द्रियव्यापारो निषिद्धस्तत्राप्यन्यविषयकस्तेन भगवद्विषयकः सः सिद्धो भवतीति जगद्व्यापार-राहित्यं सिद्धम् । तत्रतेन भगवत एव स्वतंत्रं फलत्वमुक्तं भवति । न हि सुखस्यान्यत् प्रयोजनमस्ति ।

संशय होता है कि ब्रह्म के साथ जो जीव का भोग होता है वह जागतिक होता है या नहीं ? कह सकते हैं कि लोकिक होता है, किन्तु लौकिक मानने से उसका मुक्तित्व नष्ट हो जाएगा। पूर्वोक्त बात भी असंगत हो जावेगी। इस पर सिद्धान्त बतलाते हैं कि—पूर्व में जिस लौकिक जगत्संबन्धी व्यापार की चर्चा है, उस कामिक, वाचिक, मानसिक व्यापारों से रहित यह ब्रह्म जीव भोग होता है। "ब्रह्मविदाप्नोति परम्" इत्यादि उपक्रम से जो मुक्ति प्रकरण प्रारम्भ किया गया है, वह लौकिक व्यापार वाला नहीं हो सकता। लीला काल माया आदि से अतीत होती है, प्राकृत जगत् से बहुत दूर होती है। इसलिए भी वह जागतिक नहीं है। जब कभी लोक में भगवान अपनी लीला प्रकट करना चाहते हैं तो लीला करने योग्य अतिशुद्ध मथुरा आदि देशों की स्थापना गोलक में स्थित चक्षु इन्द्रिय के समान करके लीला करते हैं। वहाँ की लीला में लौकिक व्यापार नहीं होता। जैसे कि नेत्रेन्द्रिय गोलक के कार्य नहीं करती और न गोलोक के नाश होने पर वह नष्ट ही होती है, इस सबका हमने "दिवीव चक्षुराततम् श्रुति के व्याख्यान में विद्वन्मण्डन में विस्तार किया है।

छांदोग्य में—"भूया ही सुख है, भूया को ही जानने की चेष्टा करनी चाहिए" ऐसा कहकर—भूमा का लक्षण बतलाते हैं कि—"जिस स्थिति में न दूसरा देखता है, न कुछ और सुनता है, न कुछ और जानता है, वही भूमा है।" इस प्रसंग में "नान्यद् विजानादि" केवल इतना कथन ही इन्द्रिय व्यापार का निषेधक है, वह अन्य विषयक न होकर भगवद् विषयक है, इसलिए इस भोग का जगद् व्यापार राहित्य सिद्ध होता है। इसीलिए, उसकी भगवान से ही स्वतंत्र फलता बतलाई गई है। सुख का इसके अतिरिक्त दूसरा प्रयोजन है भी नहीं।

प्रत्यक्षोपदेशादितिचेन्नाधिकारिकमण्डलस्थोक्तेः ।४।४।१८।।

नन्वेतत प्रकरण एव छांदोग्ये पठ्यते—सर्वं हिपश्यति" इति सर्व विषयक-प्रत्यक्षमुपदिश्यत इत्यन्यविषयव्यापारणहित्यं नोपपद्यत् इत्याशंक्य समाधत्ते। आधिकारिकेत्यादिना। अत्रेदमुच्यते—"सोऽश्नुते" लोकवत्त् लीलाकैवल्य-मित्यादिभिर्नित्यलीलामध्यपातित्वं तस्योच्यते। नान्यत् पश्यतीत्यादिश्रुतिवशा-ज्जगद्व्यापारवर्ज्जं भोगकरणं पूर्वसूत्रेणोक्तम। अत्रेदं विचार्यते—नान्यत्पश्य-तीतिप्रकरण एव "सर्वं ह पश्यति" इति सर्वविषयकं दर्शनमुच्यते तत् कथं पूर्वोक्तं उपपद्यत इति। किंच एकस्मैव भाक्तस्य देशकालभेदेने विक्रमाणाऽनेक लीलासंबंधित्वं भवति। तच्यलीला नित्यतायां न घटते। यतस्तत्तद्देशकाल-संबंधिनी सा नित्या। एवं सत्येकस्मानेकरूपत्वं जीवस्य न संभवतीति तन्नित्यत्व-मपि न सिद्धयति इति तत्रोच्यते श्रुतौ सर्वं पदेन न जगदुच्थते, किन्तु यस्यां यस्यां लीलायां देशकालभेदेन क्रियमाणायामधिकृतो य एको भक्तस्तस्यैव तावन्ति रूपाणि सन्ति तान्याधिकारिकाणीव्युच्यन्ते। तेषांमण्डलसमूहस्तत्र स्थित-वस्तुमात्रमुच्यत इति नानुपपन्नं किंचित्। अतएवाग्रे पठ्यते। "सर्वमाप्नोति सर्वशः" इति "स एकधाभवतित्रिधा भवति पंचधाभवति सप्तधाभवति नवधा चैव पुनश्चैकादशः स्मृतः, शतं च दशचैकस्य सहस्राणि च विंशतिरिति।" यथामण्डलवर्त्तिषु पुंसु नैकस्य प्राथम्येन प्राधान्यं वक्तुं शक्यम्, तथैतेष्वपि रूपेष्विति ज्ञापनाय मण्डल पदमुक्तम्।

छांदोग्य के इसी प्रकरण में "सर्वं ह पश्यति" कहकर स्पष्ट रूप से सर्व विषयकता का उपदेश दिया गया है, इसलिए अन्य विषय व्यापार साहित्य की बात संगत नहीं है। इस आशंका का समाधान करते हैं कि—"सोऽश्नुते" लोक-

वस्तुलीला कैवल्यम्'' इत्यादि से भक्त का नित्यलीला मध्यपातित्व निश्चित होता है। ''नान्यत पश्यति'' इत्यादि श्रुति के आधार पर जीव का जगद्व्यापार रहित भोग पूर्व सूत्र में बतलाया ही गया है। अब विचारना यह है कि— ''नान्यत्पश्यति'' प्रकरण में ही ''सर्वं पश्यति ऐसी सर्वविषयक दर्शन की बात कही गई है तो ''नान्यत्पश्यति'' वाली प्रथम बात कैसे हो सकती है। एक ही भक्त का, देशकाल भेद से की गई अनेक लीलाओं से सम्बन्ध होता है, वे लीलायें नित्य रूप से नहीं होतीं। जिस काल जिस देश में जो लीला होती है उस समय उस स्थान में नित्य होती हैं। जैसे कि एक जीव की अनेक रूपता सम्भव नहीं है वैसे ही उसकी नित्यता भी सिद्ध नहीं होती। कहते हैं कि श्रुति में सर्व पद से जगत् का उल्लेख नहीं है अपितु देश काल के भेद से होने वाली लीलाओं में एक भक्ति के लीलानुसार उतने ही रूप भी होते हैं, उन सबका मण्डल वहाँ रहता है उन सबका वाचक वह सर्व शब्द है। इसी प्रसंग में आगे कहते हैं— ''सर्वमाप्नोति सर्वशः'', ''वह एक तीन पांच सात नौ, ग्यारह, एक सौ ग्यारह, बीस हजार होता है'' इत्यादि। जैसे कि मण्डलाकार रूप से स्थित पुरुषों में किसी एक को पहला कहना शक्य नहीं है, वैसे ही लीला के ये रूप भी हैं, यही बतलाने के लिए मण्डल शब्द का प्रयोग किया गया है।

विकारावर्त्ति च तथाहि स्थिति माह ।४।४।१६।।

नन्वेवं सति ''श्वस्त्वद्गेहमायास्ये'' इति प्रभुणोक्ते तदाशया तत्स्थिति-र्नोपपद्यते। नित्यत्वाल्लीलायास्तस्य कालस्य तदागमनस्य च तदापि वर्त्तमान-त्वात्। तथा प्रभूक्तिरपि नोवपद्यत इत्याशंक्य समाधत्ते। इह भगवल्लीलाप्रकृति-स्तद् विरुद्धोऽर्थो विकार इत्युच्यते। तत्र न वर्त्तते तज्ज्ञानं तादृशं च भवति। यत् स्वरूपं प्रति तथा वदति तस्य स्वगेहे तदाभगवद् स्थितिज्ञानं न भवतीत्यर्थः। उप-लक्षणं चैतदतो यद्देशकालविशिष्टा यादृशी या लीला तस्यास्तादृश्या एव तल्ली-लामध्यपातिनो भक्तस्य ज्ञानं, नान्यविषयकमिति ज्ञेयम्। अतएव द्वितीयस्यापि, मह्यंपूर्वमुक्त आसीत्तेनागत इत्येव ज्ञानंभवति। तदेव हिरसोदयोऽतो रसस्वरूपमध्य-पातित्वाल्लीलाया रसस्य च भगवदात्मकत्वाद् भगवदरूपत्वेन सर्वमुपपद्यते लीला-याम्। अत्र प्रमाणमाह—तथाहि स्थिति माहेति। ''सर्वमाप्नोति सर्वशः'' इति श्रुति रेकस्यैव भक्तस्य सर्वशः सर्वैः प्रकारैः सर्वलीलारसमाप्नोति इति वदन्त्युक्तरीत्यैव लीलायांस्थितिमाहेत्यर्थः। अतो वस्त्वेवेदमलौकिकमीदृशामिति मन्तव्यं वैदिकै-रितिभावः। अलौकिकेऽर्थे लौकिकरीत्यनुसरणं न युक्तं किन्त्वलौकिक रीत्यनुसर-

णमेव युक्तमितिहि शब्देन द्योत्यते । एतेन "रसो वै स" इति श्रुतेर्ल्लीलाविशिष्ट एव प्रभुस्तथेति तादृशएव परगफलमिति ज्ञापितं भवति ।

ऊपर के सूत्र से श्रुति सम्बन्धी विरोध का परिहार कर इस सूत्र से लौकिक विरोध का परिहार करने की दृष्टि से शंका उपस्थित करते हैं कि—जब लीला नित्य है तो "कल तुम्हारे घर आऊँगा" भगवान का यह कथन कैसे संगत होगा, जिस काल में आगमन की बात कही उस समय भी तो उनकी स्थिति होगी। इसका समाधान करते हैं कि भगवान की लीला का ऐसा कुछ नियम है कि— उसकी बिपरीत ही अनुभूति होती है, वैसा वहाँ होता नहीं किन्तु अनुभूति वैसी ही होती है। जिस स्वरूप से भगवान ने भक्त के घर जाने की बात कही थी, उस भक्त को अपने घर में उस भगवत्स्वरूप की स्थिति का ज्ञान नहीं होता। जिस विशिष्ट देशकाल में जो लीला होती है, भक्त को उस लीला में उसी के अनुरूप ज्ञान होता है, अन्य विषयक कुछ भी ज्ञान नहीं रहता। इसी प्रकार द्वितीय लीला में अनुभव होता है कि मैं पूर्ण लीला में वहीं से इसमें आ रहा हूँ। किन्तु रस का उदय रसस्वरूप लीला में उपस्थित होने पर ही होता है, लीला रस भगवदात्मक भगवद रूप ही होता है, अतः भक्त की अपनी स्वतंत्र अनुभूति का प्रश्न ही नहीं उठता। "सर्वं माप्नोति सर्वशः" इत्यादि श्रुति, एक ही भक्त के, सब प्रकार की लीलारस के अस्वाद की बात कहती है इसमें उक्त-रीति से ही लीला में भक्त की स्थिति बतलाई गई है, यह अलौकिक वस्तु है, ऐसा ही मानना चाहिए यही वैदिक ऋषियों के कहने का तात्पर्य है। अलौकिक दृष्टि से विचार करना उचित नहीं है, अपितु अलौकिक रीति से ही विचार करना उचित है। इसी विवेचन मे "रसो वै सः" श्रुति के अनुसार प्रभु की विशिष्ट लीला और तदनुरूप परमफल की बात भी ज्ञात हो जाती है।

दर्शयतश्चैवं प्रत्यक्षानुमाने ।४।४।२०।।

न च लौकिकयुक्ति विरोधोऽत्र बोधकत्वेन मंतव्यः किन्तु साधकत्वेन। यतः प्रत्यक्षानुमाने श्रुतिस्मृती अपि लौकिक युक्ति अप्रसारेणालौकिके भगवत्सम्बन्धि-न्यर्थेऽन्यथाभावनं निषेधति, नैषातर्केण मतिरापनेया। "परास्य शक्तिर्विविधैव-श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च" अलौकिकास्तु ये भावा न तांस्तर्कैणयोज-येत्। श्री भागवते च—"न हि विरोधउभयं भगवत्यपरिगणितगुणगण ईश्वरेऽन-वगाह्यमाहात्म्येऽर्वाचीनविकल्प वितर्क विचारप्रमाणाभास कुतर्कशास्त्र कलिलान्तः

करणाशयदुखग्रहवादिना विवादानवसरः।" इत्यादि—वाक्यै रचिन्त्यानन्तशक्तिमत्वेन भगवत्स्वरूपस्यैव परमफलत्वं प्रदर्श्यते।

लौकिक युक्ति को यहाँ बाधक नहीं मानना चाहिये अपितु साधक ही मानना चाहिये। प्रत्यक्ष और अनुमान स्वरूप श्रुति और स्मृति भी लौकिक युक्ति का जो निराकरण करती हैं वह अलौकिक भगवत् सम्बन्धी विषय में अन्यथाभाव का निषेधमात्र है। "नैषा तर्केणमतिरापनेया" स्वाभाविकी ज्ञान वलक्रियाय" इत्यादि श्रुतियों का भाव है कि जो अलौकिक भाव है, उनमें तर्क नहीं करना चाहिये। श्री भागवत तो स्पष्ट ही कहती है कि—"भगवान में अपरिमित विशेषतायें हैं अतः उनमें दृष्टिगत परस्पर विरुद्धताओं का कोई विरोध सम्भव नहीं है, जिन लोगों ने ईश्वरीय कृपा का अवगाहन नहीं किया है ऐसे नवीव विचार वाले विकल्प वितर्क और कुतर्कों से शास्त्र की आलोचना करके अपने अन्तःकरण को दूषित करते हुए दुराग्रह करते हैं, किन्तु भगवल्लीला में ऐसे कुतर्क और विवादों की कोई गुंजायश नहीं है।" इस वाक्य में अचिन्त्य अनन्त शक्तिमान भगवत्स्वरूप को ही परम फल बतलाया गया है।

किं च—"ता वां वास्तून्युष्मसि गमध्यै यत्र गावो भूरिशृंगार अयासः, अत्राह तदरुगायस्य वृष्णः परमं पदमवभाति भूरि" इति ऋग्वेदे पठ्यते, किंचित्पाठभेदेन यजुः शाखायामपि।" ता तानि वास्तूनि वां गोपी माधवयोः संबंधीनि गमध्यै प्रसादत्वेन प्राप्तमुष्मषिकामयामहे। "तानि कानि इत्याकांक्षायाम् गूढाभिसन्धिमुद्घारयति 'यत्र गोकुले गावो भूरिशृंगा बहुशृंगां रुरुप्रभृतयो वसंति इति शेषः। ग्राम्यारण्यपशूपलक्षणर्यमुभयोरेवग्रहणम्। अत्राह—"भूमावेवतदुरुगायस्य बहुगीयमानस्यवृष्णः"। भक्तेषुकामान् वर्षतीतिवृषातस्यपदं स्थानं वैकुण्ठं ततोऽपि परमधिकं अत्र विचित्रलीलाकरणात्। भूरि यमुनापूलिननिकुञ्जगोवर्द्धनादिरूपत्वेन बहुरूपम्। तथा च तत्रत्यानि तानि कामयामहे, इति वाक्यार्थः सम्पद्यते। एतेनलीलासम्बन्धिवस्तूनां यत्रफलत्वेन बहुरूप प्रार्थनं तत्र तल्लीलाकर्त्तुः परमफलत्वे किं वाच्यमित्याशयो ज्ञाप्यते "अथ ह वा व तव महिमाऽमृत समुद्र विप्रुषा सकृल्लीढया स्वमनसि निष्पन्दमानानवरत सुखेनविस्मारितदृष्टश्रुतसुखलेषाभासाः. परमभागवताः" इति श्री भागवते। एतेनापि कैमुतिकन्यायेन प्रभोरेव स्वतः पुरुषार्थत्वं ज्ञाप्यते फलप्रकरणत्वात्तदेवाचार्यतात्पर्यविषय इतिं ज्ञायते।

"ता बा वास्तून्युष्मसि" इत्यादि ऋग्वेद की ऋचा है इसी से मिलती जुलती "तातानि वास्तूनि वां गोपी माधवयोः" इत्यादि यजुर्वेद की भी एक

ऋचा है। इनमें भगवत्स सम्बन्धी गोलोक धाम की कामना की गई है जहाँ गोकुल में गौएं और अनेक सींगों वाली मृग विहार करते हैं। इस धाम के विषय में—"भूमावेव तदुरुगायस्व इत्यादि में बतलाते हैं कि—यह भक्तों की कामनाओं को पूर्ण करने वाले वैकुण्ठ धाम से भी श्रेष्ठ हैं क्योंकि यहाँ भगवान ने विचित्र लीलायें की हैं। यमुना पुलिन निकुंज गोवर्द्धन आदि बहुरूप लीला स्थल इस गोलोक में है, उन सभी लीलास्थलों की कामना इन मंत्रों में की गई है। इसमें गूढ आशय निहित है कि—जहाँ लीला सम्बन्धी वस्तुओं की फलरूप से प्रार्थना की गई है, फिर लीलाधारी प्रभु के स्वरूप की यदि कामना की जाय तो क्या कहना है। वहाँ के सम्बन्ध में भागवत में स्पष्ट उल्लेख भी है—"आपके महिमा मृत समुद्र में अवगाहन कर एक बार भी जिसने आस्वादन कर लिया है वे भक्त अपने अन्तःकरण में स्पन्दित दिव्य सुख के समक्ष दृष्ट श्रुत समस्त लौकिक सुखों को भूल जाते हैं।" इन वर्णनों से भी कैमुतिक न्याय से प्रभु की ही स्वतः पुरुषार्थता ज्ञात होती है। यह फल प्रकरण है, यही आचार्य का तात्पर्य भी है।

भोगमात्रसाम्यलिंगाच्च ।४।४।२१।।

इतोऽपिहेतोः पुरुषोत्तमस्वरूपमेव परमंफलमिति ज्ञायतेयतः "सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता" इति श्रुतौभक्तसाम्यमुच्यते। तच्चपुरुषोत्तम एव सम्भवति। यतः सख्यं दत्त्वा तत्कृतमात्मनिवेदनमंगीकुर्वन्नतिकरुणः स्वस्वरूपानन्दमनुभावयँस्तं प्रधानीकरोति। अन्यथा भक्तोऽनुभवितुं नशक्नुयात्। युक्तं चैतत्। प्राप्तफलं स्वाधीनं भवत्येवान्यथा फलत्वमेव नस्यात्। तथा चास्माल्लिंगादपि प्रभोरेव परमफलत्वं सिद्धयति। "न तत्समश्चाभ्यधिकं च दृश्यते" इति श्रुतिविरोधपरिहाराय मात्रपदम्। न चात्रकामभोगस्य फलत्वं शंकनीयम्। "आप्नोति परम्।" इत्येतद्व्याकृतिरूपत्वात् स्वरूपानुभवरूपत्वाद् भोगस्य। अनुभूयमानस्ये हि सुखस्य लोके पुरुषार्थत्वोक्तेः।

इसलिये भी पुरुषोत्तम स्वरूप ही परम फल ज्ञात होता है कि—"सोऽश्नुते इत्यादि श्रुति में भक्त साम्य दिखलाया गया यह साम्य पुरुषोत्तम की कृपा से ही संभव है। वे प्रभु सख्य प्रदान कर उसके द्वारा किये गये आत्मनिवेदन को स्वीकार कर उसे स्वरूपानंद का अनुभव करा कर प्रधानता प्रदान करते हैं। अन्यथा भक्त अनुभव नहीं कर सकता। जो फल उसे प्राप्त होता है वह स्वतंत होता है यदि वह स्वतंत्र नहीं है तो उसे फल नहीं कह सकते। इस साम्य से ही प्रभु

का परम फलत्व निश्चित होता है। "न तत्समश्चाभ्यधिकं चदृश्यते" इत्यादि श्रुति, उक्तसाम्य कथन के विरुद्ध है, इस विरुद्धता के परिहार के लिये सूत्रकार मात्र पद का प्रयोग करते हैं', अर्थात् भोग मात्र में साम्यता होती है। आधार पर काम भोग के फलत्व की शंका भी नही करनी चाहिये क्योंकि "आप्नोति-परम" में स्पष्टतः पर प्राप्ति का उल्लेख है, भोग स्वरूपानुभव रूप होता है। अनुभव में आने वाले सुख को ही लोक में पुरुषार्थ कहा जाता है।

एवं भगवतः स्वतः पुरुषार्थ रूपत्वमुक्त्या कर्मफलभोगनन्तरमावृत्तिवदत्रा-प्यावृत्तिर्भविष्यतीति आशंका निरासायोत्तपठति—

भगवान की स्वतः पुरुषार्थ रूपता का निरूपण करने के बाद, कर्मफल भो-गने के बाद जैसे पुनर्जन्म होता है, वैसे ही भगवत्स्वरूपानुभव के बाद भी होता होगा, इस आशंका के निवारण के लिये सूत्र प्रस्तुत करते हैं—

अनावृत्तिः शब्दादनावृत्तिः शब्दात् ।४।४।२२॥

अनावृत्तिर्भक्तनां ज्ञानिनां चोच्यते। तत्रमानं शब्दः। स च—"तयोर्ध्व-मापन्नममृतत्वमेति, न तेषांपुनरावृत्तिरेतेन प्रतिपद्यमाना इत्र मानवमावर्त्तं नावर्तन्ते, ब्रह्मलोकमभि सम्पद्यते, न च पुनरावर्त्तते" इत्यादि रूपस्तु ज्ञानिनां वामाह। न हि भक्तानांनाड्यादिप्रयुक्तममृतत्वम्—"तस्मान्मद् भक्ति युक्तस्य योगिनो वैमदात्मनः, न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयोभरेदिह।" इत्यादि वाक्येभ्यः। किन्तु "यमेवेति" श्रुतेर्वरणमात्रलभ्य पुरुषोत्तमः। एवं सति "ब्रह्म-विदाप्नोति परम्" इति श्रुतेर्विरोध परिहार पूर्वकोक्तव्याख्यानरीत्या भक्तस्य परं ब्रह्म प्राप्तस्य निर्दोषत्वादावृत्ति हेत्वभावात् प्रपंचेऽनावृत्तिः सम्भवति। यादृशंप्रति ईश्वरेच्छपि न तथा भवितुमर्हति। "ये दारागारपुत्राप्तप्राणान् वित्त-मिमंपरम् हित्वा मां शरणं यातां: कथं तास्त्यक्तुमुत्सहे "इति भगवद् वाक्यात् पर प्राप्ति रूपत्वाच्च भोगस्य न नाश संभावना। किंच यत्रैकस्यैव भक्तस्य देश कालभेदेनानेकविधलीला संबन्धित्वेऽपि तत्तल्लीला संबंधित्वमनश्वरमुच्यते तत्र सर्वथा तदभावः कथं वक्तुं शक्यो ब्रह्मणापि।

ज्ञानी और भक्त की अनावृत्ति बतलाई गई है, शब्द ही उसका प्रमाण है। जैसे कि—उस नाडी से ऊपर पहुंच कर अमृत प्राप्त करता है" उसकी पुनरावृत्ति नहीं होती। ब्रह्मलोक की प्राप्ति करते हैं इत्यादि श्रुतियां ज्ञानियों से

सम्बन्धित हैं। भक्तों की नाडी आदि से ही मुक्ति हो ऐसा आवश्यक नहीं है।" मेरी भक्ति में लगे हुये भक्त योगी के लिए ज्ञान वैराग्य कल्याण प्रद नहीं है। "यमेवैतिवृणुते" इत्यादि श्रुति के अनुसार पुरुषोत्तम, वरणमात्र लभ्य हैं। "ब्रह्म विदाप्नोति परम श्रुति, उक्त श्रुति से विरुद्ध ही कुछ कहती है, उक्त विरुद्धता का परिहार करते हुये, उक्त प्रकार की व्याख्यान रीति से पर ब्रह्म प्राप्त भक्त की निर्दोषता बतलाते हैं निर्दोष भक्त की जगत में आवृत्ति हो ही नहीं सकती, उसकी आवृत्ति के लिये ईश्वरेच्छा भी नहीं हो सकती।" भक्त, स्त्री घर पुत्र बन्धु प्राण धन आदि सभी का मोह त्याग कर मेरी शरण में आ जाता है उसे में कैसे छोड़ सकता हूँ" इस भक्तिवास्य से, और पर प्राप्तिरूप मुक्ति प्राप्त कर लेने पर भक्त के भोग के नाश की संभावना ही नही रह जाती। एक ही भक्त काल के भेद से अनेक लीलाओं से सम्बन्धित होते हुये भी, उनकी उन उन लीलाओं मे अनश्वर संबंध कहा गया है तब उसके अभाव की बात ब्रह्मा भी नहीं कह सकते।

अपरंच—काल साध्योहि नश्वरः स्याद् नहि पुरुषोत्तमे कालः प्रभवितुं शक्नोति "न यत्र कालोऽनिमिषां परः प्रभुः "इत्यादि वाक्येभ्यः। तथा च ज्ञानमार्गीय भक्तिमार्गीययोरनावृत्तौ तुल्यत्वेऽपि फलप्राप्तौ वैलक्षण्यात् पूर्ववाक्येन भक्ताना-माहाऽनावृत्ति मुत्तरावाक्येन ज्ञानिनामिति ज्ञायते। न च फल प्रकरणान्तेऽनावृत्युक्ते सारा भाव एव जीवस्य परमं फलमित्याचार्याभिप्रायो ज्ञायत इति वाच्यम्। ब्रह्म विदः पर प्राप्ति फलत्वेनोक्त्वा तत् स्वरूपस्य सर्वकामभोगत्वेन श्रुत्या निरूपणात्। स च स्वस्वाधिकाराऽनुसारेण निवेदितार्थाङ्गी काररूप एवेति ज्ञेयम्। तेन स एवं परमंफलमनावृत्तिस्त्वार्थिकी। परंत्वावृत्तौ संभवंत्यां परमफलत्वं नोपपद्यते ज्ञानदुर्बलशंका निरासायेयमुक्ता। पुष्टिमार्गीय भक्त विशेष प्रवर्त्तक निवर्त्तकवे-णुशब्दाद्भगवन्निकटगतावऽनावृत्तिः पूर्वेणोक्ता मर्यादामार्गीयाणां वेदरूपाच्छब्दात् तदुक्तसाधनादनावृत्ति द्वितीयेनेत्यपि तात्पर्य विषयः श्लिष्टोऽर्थो ज्ञेयः। तथा सति परम फलमग्रे स्वत एव भावीति भाव इत्यलं विस्तरेण।

नश्वरता काल साध्य होती है, पुरुषोत्तम पर काल का प्रभाव पड़ता नहीं, "न यत्र कालोऽनिमिषां परः प्रभुः" इत्यादि वाक्य है। उक्त मत की पुष्टि होती है। ज्ञानमार्गीय और भक्तिमार्गीय दोनों की आवृति समान होते हुए भी फल प्राप्ति दोनों की विलक्षण होती है, इसीलिए पूर्व वाक्य से भक्तों की तथा उत्तर वाक्य से ज्ञानियों की अनावृत्ति कही गई है।

फल प्रकरण के अन्त में अनावृत्ति की चर्चा करने बादरायणाचार्य का अभिप्राय, 'जीव का अस्तित्व समाप्त होना ही परम फल है', ऐसा नहीं कह सकते । ब्रह्मवेत्ता की पर प्राप्ति फलरूप से बतलाकर, उसका स्वरूप सर्व कामभोग श्रुति में निरूपण किया गया है । वह भोग भी अपने-अपने अधिकार के अनुसार भक्तों के द्वारा निवेदित विषयों की स्वीकृति के रूप में होता है । वही परमफल है, इसी से भक्त की अनावृत्ति ज्ञात होतीहै । यदि भक्त की आवृत्ति मानेंगे तो, परमफल की बात असंगत हो जाएगी । भक्ति, ज्ञान से दुर्बल है, इस शंका के निराकरण के लिए सूत्रकार ने सूत्र में दोनों की आवृत्ति का शास्त्रीय दृष्टि से समान उल्लेख किया है । पुष्टिमार्गीय भक्त विशेष प्रेम प्रवर्त्तक मोह को निवृत्ती करने वाले भगवद् वेणु शब्द का श्रवण कर भगवान के निकट पहुँचकर फिर नहीं लौटते, मर्यादामार्गीय वैदिक शब्द का श्रवण कर तदनुरूप उक्त साधना करके मुक्त होकर फिर नहीं लौटते । परमफल प्राप्ति स्नतः ही अनावृत्ति एक स्वाभाविक बात है । अब अपने वक्तव्य का विस्तार नहीं करेंगे ।

जानीत परमं तत्त्वं यशोदोत्संगलालितम् ।
यदन्यदिति ये प्राहुरासुरांस्तानहो बुधाः ।।

यशोदा की गोद में पालित गोपाल ही पर ब्रह्म हैं, उनके अतिरिक्त किसी और को परम तत्त्व बतलाने वालों को आसुरी भावों से मोहित मानना चाहिए ।

नानामतध्वान्त विनाशनक्षमो, वेदान्तहृत्पद्मविकासने पटुः ।
आविष्कृतोऽयं भुविभाष्य भाष्करो, मुधाबुधा धावत नाऽन्यकर्मसु ।।

अनेक मतों के अन्धकार को दूर करने वाला वेदान्तरूपी हृतकमल को विकसित करने में कुशल यह भाष्य रूपी भाष्कर उदित हो गया है, बुद्धिमानों अब इधर-उधर मार्गों पर नहीं दौड़ना चाहिये ।

पुरन्दरमदोद्भवप्रचुरवृष्टिसम्पीडित,
स्वकीयवर गोकुलाऽवन परायणो लीलया ।
स्मितामृत सुवृष्टिभिः परिपुपोष तान्यो गिरिं,
दधार च स एव हिं श्रुतिशिरस्सु संराजते

इन्द्र के मद से होने वाली प्रययंकर वर्षा से पीड़ित प्रिय गोकुल की रक्षा में परायण, स्मितहासरूप अमृत की वर्षा से उनको आप्लावित करते हुए जिन्होंने गोवर्धन को धारण किया वे ही वेदांतों में विराजमान हैं।

श्री कृष्णकृपयैवाऽयं सिद्धान्तो हृदिभासते।
तेनाधिकं वरीवर्त्ति न वक्तव्यं हरेर्नृणाम्॥

श्रीकृष्ण की कृपा से ही यह सिद्धान्त हृदय में भासित हो रहा है। इसके अतिरिक्त भगवान के विषय में पाण्डित्य आदि कि आवश्यकता नहीं देनी चाहिए।

भाष्यपुष्पाञ्जलिः श्रीमदाचार्यचरणाम्बुजे।
निवेदितस्तेन तुष्टा भवन्तु मयि ते सदा॥

यह भाष्यपुष्पाञ्जलि पूर्वाचार्यश्री के चरणों में निवेदित है, वे मेरे ऊपर सदैव प्रसन्न रहें।

●●